प्राचीन भारत

[प्रारम्भ से १२०० ईस्वी तक]

लेखक

सत्यकेतु विद्यालंकार डी. लिट. (पेरिस)

(भूतपूर्व कुलपति, गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार एवं
गोविन्दवल्लभ पन्त पुरस्कार, मोतीलाल नेहरू पुरस्कार
और मङ्गलाप्रसाद पारितोषिक द्वारा सम्मानित)

प्रकाशक

श्री सरस्वती सदन, मसूरी

प्रधान वितरण केन्द्र

ए-१/३२ सफदरजंग एन्क्लेव, नई दिल्ली-१६

[मूल्य २५ रुपये

प्रस्तावना

इस पुस्तक में मैंने प्राचीन भारत के इतिहास को पर्याप्त विशद रूप से पाठकों के सम्मुख उपस्थित करने का प्रयत्न किया है। राजनीतिक घटनाओं के विवरण की अपेक्षा भारतीय सभ्यता और संस्कृति के विकास के निरूपण को मैंने अधिक महत्त्व दिया है। आशा है, इससे न केवल कालिजों और विश्वविद्यालयों के विद्यार्थी ही लाभ उठाएँगे, अपितु सर्वसाधारण पाठक भी इसे पढ़कर प्राचीन भारत के इतिहास के सम्बन्ध मे समुचित जानकारी प्राप्त कर सकेंगे।

प्राचीन भारतीय इतिहास के अनेक विषय अत्यन्त विवादग्रस्त हैं। महाभारत का युद्ध किस समय हुआ, विक्रम संवत् का प्रारम्भ किस राजा द्वारा किया गया, पुराणो मे जिन प्रतापी राजाओं की वंशावलियाँ दी गई हैं उनके राज्यो का क्षेत्र कितना विस्तृत था और उनका शासन-काल कब से कब तक था, विविध यवन राज्य किन प्रदेशों मे स्थित थे, सिकन्दर ने भारत पर आक्रमण करते हुए किस क्रम से विविध जनपदो के साथ युद्ध किए थे, शक पार्थियन और कुशाण राजाओं का पौर्वापर्य क्रम क्या था—ये व कितने ही अन्य विषय ऐसे हैं जिन पर ऐतिहासिकों में बहुत मतभेद है। बहुत-से राजाओ का परिचय हमे केवल उनके शिलालेखों तथा सिक्कों द्वारा ही प्राप्त होता है। यह स्वाभाविक है कि उनके काल तथा पौर्वापर्य के सम्बन्ध में ऐकमत्य न हो। तिथिक्रम की समस्या भी अभी अनिर्णीत ही है। यही कारण है कि प्राचीन भारतीय इतिहास के विविध ग्रन्थों में अनेक मतभेद पाए जाते है। मैंने यत्न किया है कि इन विवादग्रस्त एवं अनिर्णीत विषयों के सम्बन्ध मे ऐसे मन्तव्यों को ही लिया जाए जो बहुसंख्यक विद्वानों द्वारा स्वीकृत है। इन विषयों पर विभिन्न मतों के विवेचन का मैंने प्रयत्न नही किया, यद्यपि प्रसगवश कहीं-कही उनका उल्लेख अवश्य कर दिया है।

प्राचीन भारतीय इतिहास पर मेरी अनेक अन्य पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं। इस पुस्तक मे मैंने उनकी सामग्री का यथेष्ट रूप से उपयोग किया है। ऐसा करना स्वाभाविक भी था। मुझे आशा है कि इतिहास-विषयक मेरे अन्य ग्रन्थो के समान इस पुस्तक को भी उपयोगी एवं सन्तोषजनक पाया जाएगा।

—सत्यकेतु विद्यालंकार

विषय-सूची

विषय		पृष्ठ
पहला अध्याय—भारत और उसके निवासी	...	९
(१) भारत भूमि। (२) भारत के निवासी। (३) भारत की आधारभूत एकता। (४) भौगोलिक दशा का भारतीय इतिहास पर प्रभाव।		
दूसरा अध्याय—प्राचीन भारतीय इतिहास की सामग्री	...	२५
(१) प्राचीन भारत में इतिहास का ज्ञान। (२) प्राचीन वैदिक और संस्कृत साहित्य। (३) बौद्ध साहित्य। (४) जैन साहित्य। (५) ऐतिहासिक व समसामयिक ग्रन्थ। (६) विदेशी यात्रियों के यात्राविवरण। (७) पुरातत्त्व-सम्बन्धी अवशेष।		
तीसरा अध्याय—मानव-सभ्यता का आदिकाल और सिन्धु-सभ्यता	...	४०
(१) पुरातन प्रस्तर-युग। (२) मध्य और नूतन प्रस्तर-युग। (३) धातु-युग का प्रारम्भ। (४) सिन्धु घाटी की सभ्यता।		
चौथा अध्याय—आर्य-जाति और उसका भारत में प्रवेश	...	६२
(१) आर्य-जाति। (२) आर्य-जाति का मूल अभिजन। (३) आर्य-जाति का प्रसार।		
पांचवां अध्याय—भारत में आर्य-राज्यों का विस्तार	...	७१
(१) प्राचीन अनुश्रुति। (२) मानव-वंश। (३) चन्द्र-वंश। (४) भारत वंश। (५) रामचन्द्र और आर्यों का दक्षिण प्रवेश। (६) कौरव-पाण्डव और महाभारत। (७) उपसंहार। (८) तिथिक्रम।		
छठा अध्याय—वैदिक युग की सभ्यता और संस्कृति	...	८७
(१) वैदिक साहित्य। वैदिक युग का राजनैतिक जीवन। (३) सामाजिक जीवन। (४) धर्म। (५) आर्थिक जीवन।		
सातवां अध्याय—उत्तर-वैदिक युग का राजनीतिक इतिहास	...	१०१
(१) कुरुदेश की शक्ति का ह्रास। (२) तत्त्वचिन्तक राजा। (३) गणराज्यों का विकास। (४) काशी और कोशल का उत्कर्ष। (५) मगध का पुनरुत्थान।		
आठवां अध्याय—उत्तर-वैदिक युग और ऐतिहासिक महाकाव्यों का काल	...	१०९
(१) वैदिक साहित्य का विकास। (२) वैदिक और उत्तर-वैदिक युग। (३) धर्म और तत्त्व-चिन्तन। (४) शासन-विधि। (५) वर्णाश्रम व्यवस्था। (६) आर्थिक जीवन। (७) रामायण और महाभारत। (८) सामाजिक दशा।		

नवां अध्याय—बौद्ध और जैन-धर्म ... १३१

(१) बौद्ध-युग। (२) धार्मिक सुधारणा। (३) जैन-धर्म का प्रादुर्भाव। (४) जैनों का धार्मिक साहित्य। (५) जैन-धर्म की शिक्षाएँ। (६) महात्मा बुद्ध। (७) बौद्ध-धर्म की शिक्षाएँ। (८) बौद्ध-संघ। (९) आजीवक सम्प्रदाय। (१०) धार्मिक सुधारणा का प्रभाव। (११) बौद्ध-साहित्य।

दसवां अध्याय—मागध-साम्राज्य का विकास ... १५३

(१) मगध का साम्राज्यवाद। (२) सोलह महाजनपद। (३) मगध का उत्कर्ष। (४) वत्स और अवन्ति। (५) कोशल महाजनपद।

ग्यारहवां अध्याय—बौद्ध-युग के गणराज्य ... १७०

(१) शाक्य-गण। (२) लिच्छवि और विदेह। (३) विहार क्षेत्र के अन्य गणराज्य। (४) पंजाब तथा अन्य प्रदेशों के गणराज्य।

बारहवां अध्याय—बौद्ध-युग की सभ्यता और संस्कृति ... १७८

(१) गणराज्य और उनकी शासन-विधि। (२) राजतन्त्र राज्यों में शासन का स्वरूप। (३) आर्थिक दशा। (४) विवाह तथा स्त्रियों की स्थिति।

तेरहवां अध्याय—विदेशी आक्रमण और नन्द साम्राज्य ... १९९

(१) ईरान में हखामनी-साम्राज्य। (२) सम्राट् महापद्म नन्द। (३) सिकन्दर की दिग्विजय। (४) भारत पर आक्रमण। (५) मैसिडोनियन आक्रमण का भारतीय इतिहास पर प्रभाव।

चौदहवां अध्याय—चन्द्रगुप्त मौर्य, बिन्दुसार और अशोक ... २१९

(१) मोरिय गण का कुमार चन्द्रगुप्त। (२) राज्य की प्राप्ति और उसका विस्तार। (३) सैल्युकस का आक्रमण। (४) सम्राट् बिन्दुसार अमित्रघात। (५) प्रियदर्शी राजा अशोक।

पन्द्रहवां अध्याय—अशोक की धर्मविजय और बौद्ध-धर्म का प्रसार ... २३७

(१) धर्मविजय का उपक्रम। (२) धर्मविजय के साधन। (३) अशोक और बौद्ध धर्म। (४) बौद्ध-धर्म का विकास। (५) विदेशों में धर्म-प्रचार का आयोजन।

सोलहवां अध्याय—अशोक के उत्तराधिकारी मौर्य राजा ... २५५

(१) राजा सुयश कुणाल। (२) राजा बन्धुपालित दशरथ। (३) राजा सम्प्रति (चन्द्रगुप्त मौर्य द्वितीय)। (४) राजा शालिशुक। (५) मौर्य-वंश का अन्त। (६) मौर्य-साम्राज्य के पतन के कारण। (७) धर्म विजय की नीति।

सतरहवां अध्याय—मौर्यकालीन भारत ... २६४

(१) मौर्य युग की कला। (२) मौर्यकाल की शासन-व्यवस्था। (३) मौर्यकाल का आर्थिक जीवन। (४) मौर्यकालीन समाज और सभ्यता। (५) शिक्षणालय।

अठारहवाँ अध्याय—शुंग और कण्व वंश ... २६६

(१) सेनानी पुष्यमित्र शुग। (२) यवन-आक्रमण। (३) कलिंगराज खारवेल। (४) सातवाहन राज्य। (५) गणराज्यों का पुनरुत्थान। (६) पुष्यमित्र के उत्तराधिकारी। (७) कण्व-वंश। (८) उत्तरी भारत के विविध राज्य।

उन्नीसवाँ अध्याय—भारत में पार्थियन और शक-राज्य ... ३१५

(१) शकों का भारत-प्रवेश। (२) भारत के शक-राज्य। (३) भारत के पार्थियन राज्य।

बीसवाँ अध्याय—आन्ध्र-सातवाहन वंश ... ३२२

(१) सातवाहन-वंश का अभ्युदय। (२) सातवाहन-राज्य का उत्कर्ष। (३) अन्य सातवाहन राजा। (४) उज्जैन का शक-कुल।

इक्कीसवाँ अध्याय—कुशाण-साम्राज्य ... ३३२

(१) युइशि-जाति का भारत-प्रवेश। (२) सम्राट् कनिष्क। (३) कनिष्क के उत्तराधिकारी।

बाईसवाँ अध्याय—भारशिव और वाकाटक-वंश ... ३४१

(१) विदेशी शासन और उसके विरुद्ध संघर्ष। (२) कुशाण-साम्राज्य का पतन। (३) भारशिव-वंश। (४) वाकाटक-वंश।

तेईसवाँ अध्याय—शुंग-सातवाहन-शक युग की सभ्यता और संस्कृति ... ३४८

(१) शुग-सातवाहन-शक-युग। (२) विदेशियों का भारतीय बनना। (३) साहित्य। (४) वैदिक धर्म का पुनरुत्थान। (५) बौद्ध धर्म की प्रगति। (६) जैन धर्म की प्रगति। (७) जातिभेद का विकास। (८) विवाह-सम्बन्धी नियम। (९) राज्य-शासन। (१०) आर्थिक जीवन। (११) वास्तु और मूर्ति-कला। (१२) बृहत्तर भारत का विकास।

चौबीसवाँ अध्याय—गुप्त-साम्राज्य ... ३७७

(१) गुप्त-वंश का प्रारम्भ। (२) सम्राट् समुद्रगुप्त (३२८–३७८ ई० प०) (३) सम्राट् चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य (३७८–४१४ ई० प०) (४) सम्राट् कुमारगुप्त प्रथम महेन्द्रादित्य (४१४–४५५ ई० प०)। (५) सम्राट् स्कन्दगुप्त (४५५–४६७ ई० प०) (६) गुप्त साम्राज्य का ह्रास। (७) हूणों के आक्रमण।

पच्चीसवाँ अध्याय—गुप्त-युग का भारत ... ३९३

(१) साहित्य और विज्ञान। (२) दार्शनिक साहित्य। (३) धार्मिक दशा। (४) गुप्त-साम्राज्य की शासन-व्यवस्था। (५) गुप्त-काल के सिक्के। (६) गुप्त-साम्राज्य के प्रधान नगर। (७) चीनी यात्री फाइयान।

छब्बीसवां अध्याय—गुप्त-काल की कृतियां और अवशेष ... ४२०
(१) मूर्तियां और स्तम्भ। (२) प्रस्तर-स्तम्भ। (३) भवन और मन्दिर। (४) चित्र-कला। (५) संगीत।

सत्ताईसवां अध्याय—भारतीय सभ्यता और धर्म का विदेशों में विस्तार ... ४२९
(१) बृहत्तर भारत का विकास। (२) दक्षिण-पूर्वी एशिया का बृहत्तर भारत। (३) उत्तर-पश्चिम का बृहत्तर भारत। (४) हूणों का भारतीय बनना।

अठाईसवां अध्याय—गुप्त-साम्राज्य का क्षय और उत्तरी भारत के विविध राज्य ... ४४६
(१) गुप्त साम्राज्य का क्षय। (२) मौखरि-वंश का अभ्युदय। (३) गुप्तवंश के पिछले राजा। (४) वल्लभी, मालवा और स्थाण्वीश्वर। (५) मागध गुप्तवश और हर्षवर्धन। (६) सम्राट् हर्षवर्धन।

उनतीसवां अध्याय—उत्तरी भारत के विविध राज्य और उनके संघर्ष ... ४५७
(१) अराजकता का काल। (२) कन्नौज और काश्मीर। (३) बंगाल मे पालवश के उत्कर्ष का प्रारम्भ। (४) राजपूत-वशो का प्रादुर्भाव। (५) पाल, गुर्जर-प्रतीहार और राष्ट्रकूट राज्यो मे संघर्ष। (६) गुर्जर-प्रतीहारों का उत्कर्ष। (७) पालवंश के अन्य राजा। (८) मुसलिम आक्रमणों का प्रारम्भ। (९) सिन्ध और उत्तर-पश्चिमी भारत के राज्य। (१०) उत्तरापथ के आठ राज्य। (११) पालवंश का अन्त।

तीसवां अध्याय—बौद्ध-धर्म की प्रगति और ह्रास ... ४९३
(१) महायान और वज्रयान। (२) बौद्ध-धर्म का अन्य देशों मे प्रसार। (३) बौद्ध-धर्म का ह्रास। (४) भारतीय संस्कृति को बौद्ध धर्म की देन।

इकत्तीसवां अध्याय—दक्षिणापथ के विविध राज्य और उनके संघर्ष ... ५०७
(१) वातापी का चालुक्य-वंश। (२) मान्यखेट के राष्ट्रकूट। (३) कल्याणी का चालुक्य-वश। (४) वेङ्गि का चालुक्य-वंश। (५) देवगिरि का यादव वंश। (६) दक्षिणापथ के अन्य राजवंश।

बत्तीसवां अध्याय—सुदूर दक्षिण के विविध राज्य ... ५२६
(१) पल्लव-वश। (२) चोल-साम्राज्य। (३) पाण्ड्य और केरल।

तेतीसवां अध्याय—पूर्व मध्य युग की सभ्यता और संस्कृति ... ५३५
(१) ह्रास का काल। (२) ह्यु एन्-त्सांग। (३) शासन-व्यवस्था। (४) ग्राम-संस्थाएँ। (५) शासन-व्यवस्था का स्वरूप। (६) साहित्य। (७) दर्शनशास्त्र। (८) वैज्ञानिक उन्नति। (९) शिक्षा के केन्द्र। (१०) सामाजिक दशा। (११) धर्म। (१२) मध्ययुग की कला।

प्राचीन भारत

पहला अध्याय

भारत और उसके निवासी

(१) भारत-भूमि

ब्रिटिश शासन से मुक्त होने पर स्वतन्त्रता-प्राप्ति के साथ भारत-भूमि दो भागो मे विभक्त हो गई है। ये भाग है, भारत और पाकिस्तान। राजनीतिक दृष्टि से ये राज्य अब एक-दूसरे से पृथक् हैं, पर ऐतिहासिक और भौगोलिक दृष्टियो से इनकी एकता से इन्कार नही किया जा सकता। इन दोनो राज्यों का अब तक का इतिहास एक रहा है और इनका विकास एक देश के समान और एक ही ढग से हुआ है। इस इतिहास मे हम भारत की उन्ही सीमाओ को दृष्टि मे रखेंगे, जो पाकिस्तान के निर्माण से पूर्व थी। यही नही, ब्रिटिश युग के भारत के अतिरिक्त अन्य भी अनेक ऐसे प्रदेश है, जिनका प्राचीन काल मे भारत के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध था। सम्भवत., यह कहना अधिक उपयुक्त होगा, कि प्राचीन काल मे ये प्रदेश भारत-भूमि के अंग थे। उदाहरणार्थ, वर्तमान अफगानिस्तान के अनेक प्रदेश प्राचीन इतिहास मे भारत के उसी प्रकार से अग थे, जैसे कि काश्मीर और बलोचिस्तान। भारत के प्राचीन इतिहास का अध्ययन करते हुए हमे इस बात को ध्यान मे रखना चाहिये।

भारत का नाम—इस देश का नाम भारत किस कारण पडा, इस सम्बन्ध मे अनेक मत है। जैन-अनुश्रुति के अनुसार भगवान् ऋषभदेव के ज्येष्ठ पुत्र का नाम भरत था, जो अत्यन्त प्रतापी और श्रेष्ठ राजा था। उसी के नाम पर इस देश का नाम भारत पडा। पौराणिक अनुश्रुति के अनुसार पौरव-वंश के प्रसिद्ध राजा दुष्यन्त का पुत्र भरत था, जो चक्रवर्ती राजा हुआ और जिसने अन्य विविध आर्य-राज्यो को जीतकर अपने अधीन किया। भरत के इस चक्रवर्ती साम्राज्य का उल्लेख ब्राह्मण-ग्रन्थो मे भी मिलता है। भरत के कारण उसके वशज 'भारत' कहाये, और उनके शासन में यह देश चिरकाल तक रहा। यही कारण है, कि इस देश का नाम भी भारत हो गया। पुराणो मे इस सम्बन्ध मे एक अन्य महत्त्वपूर्ण अनुश्रुति भी उपलब्ध होती है। विष्णुपुराण मे लिखा है, कि "समुद्र के उत्तर और हिमालय के दक्षिण मे जो देश है, उसका नाम भारतवर्ष है, क्योकि यहाँ भारती-सतति (प्रजा) निवास करती है।" इससे सूचित होता है, कि भारत के निवासियों की एक प्राचीन संज्ञा 'भारती' भी थी। कुछ विद्वानो ने अनुमान किया है, कि यह भारती जनता (प्रजा) उन लोगो को सूचित करती है, जो आर्यों के इस देश मे आने से पूर्व यहाँ निवास करते थे, और जिनकी सभ्यता के अवशेष

सिन्धु-घाटी में (मोहनजोदड़ो और हड़प्पा मे) उपलब्ध हुए हैं। पर अन्य विद्वान् इस मत को स्वीकार नहीं करते। उनका विचार है, कि भारती-सन्तति का अभिप्राय सम्राट् भरत की प्रजा से है, और इससे किसी आर्य-भिन्न जाति का ग्रहण न कर आर्यों की 'भारत' शाखा का ही ग्रहण किया जाना चाहिये।

इस देश का एक अन्य नाम हिन्दुस्तान है। सिन्धु नदी का प्रदेश किसी समय मे आर्य लोगों का एक महत्त्वपूर्ण केन्द्र था। प्राचीन ईरानी लोग 'स' का उच्चारण 'ह' करते थे, और वे सिन्धु नदी तथा उसके तटवर्ती प्रदेशो मे निवास करनेवाले लोगों को 'हिन्दू' कहते थे। ईरान के सम्पर्क मे जो लोग आये, वे भी इस प्रदेश के निवासियों को हिन्दू और इस प्रदेश को हिन्दुस्तान कहने लगे। प्राचीन ग्रीक लोग सिन्धु नदी को इण्डस कहते थे। इसीलिये वे इसके समीपवर्ती प्रदेशों को इण्डिया कहने लगे। भारत के इण्डिया नाम का यही उद्भव है।

भौगोलिक दशा का इतिहास पर प्रभाव—किसी देश की भौगोलिक दशा का उसके इतिहास पर बहुत अधिक प्रभाव पड़ता है। प्राचीन ग्रीस मे जो बहुत-से नगर-राज्यों का विकास हुआ, उसका एक कारण यह था कि पर्वत की शृंखलाओं द्वारा ग्रीस अनेक छोटी-छोटी घाटियों में विभक्त था। प्राचीन समय मे क्रीट और फिनीशिया जो सामुद्रिक व्यापार व सामुद्रिक साम्राज्यो की स्थापना मे समर्थ हुए, उसका कारण उनकी भौगोलिक स्थिति ही थी। वर्तमान समय में ग्रेट ब्रिटेन और जापान ने नाविक क्षेत्र में जो असाधारण उन्नति की, उसका श्रेय भी उनकी भौगोलिक स्थिति को ही दिया जाता है। अनेक विद्वानों का मत है, कि किसी देश की जलवायु और उपज-शक्ति आदि का भी उसके इतिहास पर बहुत प्रभाव पड़ता है। फ्रेंच विद्वान् रूसो के अनुसार ग्रीष्म जलवायु वाले देशो में एकतन्त्र व स्वेच्छाचारी शासन का विकास होता है। प्रसिद्ध अंग्रेज विद्वान् बकले ने यह प्रतिपादित किया था, कि किसी देश के मनुष्यो की क्रियाएँ उनके अपने विचार व चिन्तन पर उतना निर्भर नही करती, जितना कि प्राकृतिक परिस्थितियों पर। बकले के अनुसार नार्वे और स्वीडन के लोगों मे और स्पेन तथा पोर्तुगाल के लोगों में जो भारी अन्तर है, उसका कारण इन देशों की भौगोलिक व प्राकृतिक परिस्थितियाँ ही हैं। मनुष्य जो भोजन करता है, जिस जलवायु में निवास करता है, और जिन परिस्थितियों में रहता है, उनका उसके शरीर, मन और विचारों पर बहुत असर पड़ता है। इन बाह्य प्रभावों द्वारा न केवल मनुष्यो के वैयक्तिक चरित्र का निर्माण होता है, अपितु साथ ही उनके सामूहिक व राष्ट्रीय चरित्र का भी विकास होता है।

मनुष्यों के विचार, राष्ट्रीय चरित्र व संस्थाओ पर भौगोलिक दशाओ के प्रभाव को किस अंश तक स्वीकार किया जाय, इस विषय में मतभेद की गुञ्जाइश है। शासन-व्यवस्था जलवायु और भौगोलिक दशा पर ही निर्भर नहीं होती। जिस समय रूसो यह प्रतिपादित कर रहा था, कि ग्रीष्म जलवायु वाले प्रदेशों में एकतन्त्र स्वेच्छाचारी शासन होते हैं, तभी फ्रास, जर्मनी, आस्ट्रिया, इटली आदि यूरोपियन राज्यों में भी ऐसे निरंकुश राजाओं का शासन था, जो अपनी इच्छा को ही कानून समझते थे। फ्रांस के लुई चौदहवें व स्पेन के फिलिप द्वितीय का शासन जहाँगीर व औरंगजेब के शासन से

स्वेच्छाचारिता में किसी भी प्रकार कम नहीं था। पर यह सत्य है, कि भौगोलिक व प्राकृतिक परिस्थितियों का प्रभाव देश के इतिहास पर पड़ता है। जर्मनी और ग्रेट ब्रिटेन जो व्यावसायिक क्षेत्र में इतना अधिक आगे बढ गये, उसका एक प्रधान कारण वे खनिज पदार्थ है, जो वहाँ बहुतायत से उपलब्ध होते हैं। जिन देशों में अब परमाणु-शक्ति को उत्पन्न करने में सहायक यूरेनियम आदि पदार्थ उपलब्ध हो रहे हैं, उनकी भविष्य में बहुत उन्नति होगी, यह बात पूर्ण भरोसे के साथ कही जा सकती है। भारत के इतिहास पर भी इस देश की भौगोलिक परिस्थितियों का बहुत असर हुआ। अतः यह आवश्यक है, कि हम इस देश की भूमि और अन्य प्राकृतिक दशाओं का संक्षेप के साथ निरूपण करें।

भारत की सीमा—प्राकृतिक दृष्टि से भारत की सीमाएँ अत्यन्त सुन्दर व निर्दोष हैं। इसके उत्तर में हिमालय की ऊँची और दुर्गम पर्वत-शृंखलाएँ है। पूर्व, दक्षिण तथा पश्चिम में यह महासमुद्र द्वारा घिरा हुआ है। इसके उत्तर-पश्चिमी और उत्तर-पूर्वी कोनों पर समुद्र नही है, पर उनकी सीमा निर्धारित करने के लिए हिमालय की पश्चिमी और पूर्वी पर्वत-शृंखलाएँ दक्षिण की ओर मुड़ गई हैं, और समुद्रतट तक चली गई हैं। हिमालय की पश्चिमी पर्वतमाला दक्षिण-पश्चिम की ओर मुड़कर सफेदकोह, सुलेमान और किरथर की पहाडियो के रूप मे अरब-सागर तक चली गई हैं, और भारत की सिन्धु-घाटी को अफगानिस्तान और बलोचिस्तान से पृथक् करती है। उत्तर-पश्चिम की ओर भारत की असली वैज्ञानिक सीमा हिन्दूकुश पर्वत है, जो हिमालय की पर्वत-शृंखला का ही एक अंग है। हिन्दूकुश पर्वत के दोनों ओर का प्रदेश जो अब अफगानिस्तान के अन्तर्गत है, प्राचीन काल मे भारत का ही अंग था। उत्तर-पूर्व मे हिमालय की एक शृखला दक्षिण की ओर झुकती है, और लुशेई, नागा और पतकोई पहाड़ियों के रूप में बगाल की खाडी तक चली जाती है। प्रकृति ने भारत को एक विशाल दुर्ग के समान बनाया है, जो पर्वत-शृंखलाओं और समुद्र से घिरा हुआ है। जैसी सुन्दर और स्वाभाविक सीमा भारत की है, वैसी शायद ही किसी अन्य देश की हो।

भौगोलिक विभाग—भारत की इस स्वाभाविक सीमा के बीच में इस विशाल देश के चार बड़े प्राकृतिक विभाग स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होते है। ये विभाग निम्न-लिखित हैं—(१) सीमान्त के पर्वतप्रधान प्रदेश, (२) उत्तर-भारत का मैदान, (३) विन्ध्य-मेखला और मध्य-भारत का पठार, और (४) दक्षिणी भारत। इनमें से प्रत्येक पर संक्षिप्त रूप से विचार करना उपयोगी है।

सीमान्त के पर्वतप्रधान प्रदेश—पश्चिम से पूर्व तक भारत के उत्तरी सीमान्त पर विद्यमान हिमालय की पर्वत-शृखला लम्बाई में १६०० मील के लगभग और चौड़ाई में १५० मील से २०० मील तक है। हिमालय का यह विस्तृत पार्वत्य-प्रदेश अनेक स्थानों पर आबाद है। इसकी मनोहर घाटियों में अनेक जातियाँ प्राचीन काल से बसती आयी हैं, और इनके अनेक छोटे-बड़े राज्य भी प्राचीन समय में स्वतन्त्र रूप से विद्यमान रहे थे। हिमालय के सबसे अधिक पश्चिमी प्रदेश मे प्राचीन काल में उरशा का राज्य था, जो आजकल के हजारा जिले मे विद्यमान था। उससे पूर्व में जेहलम (वितस्ता) नदी की घाटी में काश्मीर है, जो प्राचीन समय में भारतीय सभ्यता और संस्कृति का

महत्त्वपूर्ण केन्द्र था। काश्मीर मे विद्यमान मार्तण्ड-मन्दिर के भग्नावशेष और अमरनाथ का मन्दिर इस संस्कृति के परिचायक है। काश्मीर के उत्तर मे सिन्धु नदी की घाटी मे दरद देश था, जो अब भी दरदिस्तान कहाता है। काश्मीर-घाटी के दक्षिण में जेहलम और चनाब नदियों के बीच का पार्वत्य-प्रदेश प्राचीन समय मे अभिसार देश कहाता था। इस प्रदेश मे आजकल पुँच्छ, राजौरी और बिम्भर के प्रदेश है। काश्मीर के दक्षिण मे ही रावी और चनाब के बीच का पार्वत्य-प्रदेश प्राचीन समय में दार्व देश कहा जाता था। इसी मे आजकल जम्मू का प्रान्त विद्यमान है।

रावी और व्यास नदियो के बीच का पार्वत्य-प्रदेश अब कांगडा कहाता है। प्राचीन समय मे यह त्रिगर्त देश के अन्तर्गत था। कांगडा के साथ का जो प्रदेश अब कुल्लू कहाता है, उसका प्राचीन नाम कुलूत था। सतलज नदी की घाटी के जिन पार्वत्य प्रदेशो मे ब्रिटिश युग मे बशहर आदि रियासते थी, उसको प्राचीन समय मे किन्नर देश कहते थे। यह किन्नर देश सतलज और यमुना के बीच की पार्वत्यघाटी तक चला गया है। यमुना के पूर्व का पार्वत्य-प्रदेश गढदेश (गढवाल) है, जिसके और अधिक पूर्व मे कूर्माञ्चल (कुमायूँ) का क्षेत्र है। कूर्माञ्चल के पूर्व में क्रमश. नेपाल, सिक्किम और भूटान स्थित है। भूटान के पूर्व में असम का उत्तरी प्रदेश आ जाता है, जिसमे आजकल अका, दफला, मीरी, अबोर और मिश्री जातियों का निवास है। ये विविध जातियाँ हिमालय के सबसे अधिक पूर्वी प्रदेश मे निवास करती है। प्राचीन समय मे इस क्षेत्र मे किसी उन्नत आर्य-राज्य की सत्ता सूचित नही होती।

हिमालय के पश्चिमी सीमान्त पर विद्यमान उरशा (हजारा) देश का उल्लेख हमने ऊपर किया है। सिन्धु नदी के पश्चिम मे स्वात (सुवास्तु), पजकोरा (गौरी) और कुनार नदियाँ काबुल (कुभा) नदी मे मिलती है, और फिर यह कुभा नदी सिन्ध मे आ मिलती है। स्वात, पंजकोरा और कुभा नदियों से सिंचित यह प्रदेश प्राचीन समय का पश्चिमी गान्धार देश है, जिसकी राजधानी पुष्करावती थी। इस पुष्करावती के खण्डहर स्वात और काबुल (कुभा) नदियो के सगम पर उपलब्ध हुए है। पश्चिमी गान्धार से और आगे पश्चिम की ओर चलने पर हिन्दूकुश पर्वत के साथ का प्रदेश प्राचीन समय मे कपिश देश कहाता था। कपिश के पश्चिम-उत्तर मे आजकल जो बदख्शाँ और बलख प्रदेश है, उन्ही को प्राचीन समय मे कम्बोज और बाल्हीक देश कहते थे। ये विविध प्रदेश अब भारत के अन्तर्गत नहीं है। पर प्राचीन समय मे ये भारत के ही अग थे, और इनमे भी भारतीय आर्यो के विविध राज्य विकसित हुए थे। भारत के चक्रवर्ती सम्राटो का यह प्रयत्न रहता था, कि इन सबको जीतकर अपने साम्राज्य मे सम्मिलित करे। चन्द्रगुप्त मौर्य और गुप्तवशी चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य जैसे प्रतापी सम्राट् अपने इस प्रयत्न मे सफल भी हुए थे।

हिमालय की सुविस्तीर्ण पर्वत-शृखलाएँ भारत के लिए सन्तरी का काम करती रही है। विदेशियो के लिए यह सुगम नही है, की वे इन्हे पार कर भारत पर आक्रमण करे। पर इस दुर्गम पर्वतमाला के होते हुए भी भारत का बाहरी दुनिया से सम्बन्ध टूटा नही। कारण यह कि इसमे अनेक ऐसे दर्रे है, जिनसे जहाँ अनेक विदेशी जातियाँ समय-समय पर भारत मे प्रवेश करती रही, वहाँ साथ ही भारत के लोग भी अपनी सभ्यता और धर्म का प्रचार करने या उपनिवेश बसाने के लिए बाहर जाते रहे।

उत्तर-भारत का मैदान—हिमालय के पर्वतप्रधान प्रदेशों के नीचे और विन्ध्य-मेखला के उत्तर मे जो विस्तृत मैदान है, वह लम्बाई में १६०० मील के लगभग है। इस विशाल मैदान को नदियों के दो जाल सींचते हैं, जिनका उद्गम लगभग एक ही जगह से है। नदियों का एक जाल पंजाब मे सिन्धु व उसकी सहायक नदियो का है, और दूसरा गंगा-यमुना व उनकी सहायक नदियों का। पंजाब की नदियाँ दक्षिण-पश्चिम की ओर बहती हैं, और गंगा-यमुना का प्रवाह दक्षिण-पूर्व की तरफ है। इससे स्पष्ट है, कि यमुना और सतलज के बीच का प्रदेश ऊँचा व जल का विभाजक है। इसी प्रदेश मे राजपूताना का रेगिस्तान और अरावली (आडावला) की पर्वतमाला फैली हुई है। सतलज और यमुना के बीच का जलविभाजक ऐतिहासिक दृष्टि से बहुत महत्त्वपूर्ण है। भारत के उत्तरी मैदान मे यही एक ऐसा प्रदेश है, जो शस्य-श्यामल व उपजाऊ नही है। इस प्रदेश के उत्तरी भाग मे कुरुक्षेत्र का बांगर है, और दक्षिणी भाग मे अरावली-पर्वतमाला और राजपूताना का मरुस्थल। सिन्ध और गंगा के क्षेत्रो के बीच मे कुरुक्षेत्र का बागर ही एक ऐसा तंग रास्ता है, जिससे होकर पूर्व से पश्चिम की ओर जाने वाली या पश्चिम से पूर्व की ओर आनेवाली सेनाएँ गुजर सकती है। यही कारण है, कि कुरुक्षेत्र के बागर-प्रदेश मे भारतीय इतिहास की अनेक महत्त्वपूर्ण व भाग्य-निर्णायक लडाइयाँ लडी गई थीं।

मानव-सभ्यता का विकास शुरू मे नदियों की उपजाऊ घाटियो मे ही हुआ था। वहाँ न केवल जल की सुविधा थी, अपितु उनमे कृषि के लिए उपयुक्त जमीन व पशुपालन के लिए उपयुक्त चरागाह भी सुगमता से प्राप्त हो सकते थे। जिस प्रकार पश्चिमी संसार मे दजला और फरात नदियो की घाटी (ईराक) में और नील नदी की घाटी (मिस्र) में मानव-सभ्यता का विकास अति प्राचीन काल में हुआ, वैसे ही भारत मे सिन्ध नदी और गगा की घाटियों में अत्यन्त प्राचीन समय मे सभ्यता का विकास हुआ। आर्य-जाति के प्रवेश मे पूर्व भी अनेक आर्य-भिन्न जातियों ने इन क्षेत्रो मे अपनी विविध बस्तियाँ बसायी थी। जब आर्य लोग यहाँ आकर बसे, तब उन्होंने तो इन प्रदेशों से अपनी सभ्यता का बहुत उन्नत रूप से विकास किया।

भौगलिक दृष्टि मे उत्तर भारत के इस मैदान को पाँच भागो मे विभक्त किया जा सकता है, पंजाब, सिन्ध, राजपूताना, गगा व उसकी सहायक नदियो से सिञ्चित प्रदेश, गगा का मुहाना और ब्रह्मपुत्र नदी की घाटी। सिन्ध नदी की घाटी और गगा की घाटी के बीच के प्रदेश (राजपूताना का मरुस्थल) का इतिहास मे बहुत महत्त्व है। प्राचीन समय मे इसको पार कर सकना किसी भी सेना के लिए सुगम नहीं था। आठवी सदी के अरब आक्रान्ता दक्षिणी बलोचिस्तान के मार्ग मे भारत मे प्रविष्ट हुए थे। सिन्ध को उन्होंने विजय भी कर लिया था, पर राजपूताना की मरुभूमि के कारण उनके लिए यह संभव नही हुआ, कि वे सिन्ध से आगे बढकर उत्तर-भारत के मैदान को अपने अधीन कर सकें। आगे चलकर जब तुर्क आक्रान्ताओं ने भारत पर आक्रमण किया, तो वे उत्तरी मार्ग से भारत में प्रविष्ट हुए। विदेशी आक्रमणो से परेशान होकर पंजाब और गंगाघाटी की अनेक जातियो ने राजपूताना के मरुस्थल में जाकर ही अपनी स्वतंत्रता की रक्षा की थी।

उत्तरी भारत के इस सुविस्तृत मैदान में प्राचीन समय में बहुत-से छोटे-बड़े राज्य विद्यमान थे। आर्य जाति ने भारत में प्रविष्ट होने के बाद इसमें अनेक राज्य कायम किये। आर्यों के मानव (ऐक्ष्वाकव) और ऐल (चन्द्र) वंशों ने बहुत-सी शाखाओं और प्रशाखाओं मे विभक्त होकर इस मैदान मे अपने बहुत-से राज्य स्थापित किये थे। भारत का प्राचीन इतिहास प्रधानतया इसी मैदान का इतिहास है, क्योंकि इसी मे वे चक्रवर्ती सम्राट् हुए, जिन्होने सारे भारत को अपने शासन मे लाने के अनेक सफल प्रयत्न किये।

विन्ध्यमेखला—भारत के ठीक बीच मे विन्ध्याचल की पर्वतमाला है, जो पश्चिम मे अरावली की पर्वत-शृखला से शुरू होकर पूर्व में बंगाल की खाडी के समीप तक चली गई है। विन्ध्याचल से अनेक नदियाँ निकलकर उत्तर की ओर चली गई हैं, और आगे चलकर गंगा नदी मे मिल गई है। चम्बल, सिन्ध (पजाब की सिन्ध नदी नही), बेतवा, केन और सोन नदियाँ इनमे मुख्य हैं। दुर्गम पर्वतों से युक्त विन्ध्याचल का यह प्रदेश उत्तर भारत को दक्षिण भारत से पृथक् करता है। आर्यों के लिए यह तो सुगम था, कि वे उत्तर भारत के मैदान मे शीघ्रता से अपना प्रसार कर सकें। पर विन्ध्यमेखला को पार कर दक्षिण भारत मे प्रवेश कर सकना बहुत अधिक सुगम नही था। यही कारण है, कि दक्षिण मे आर्य-भिन्न जातियाँ बडी संख्या मे निवास करती हैं, और नस्ल, भाषा आदि की दृष्टि से दक्षिण भारत और उत्तर भारत मे बहुत भेद है। विन्ध्याचल का क्षेत्र पर्वतप्रधान होने के कारण उतना अधिक आबाद व समृद्ध नही है, जितना कि उत्तर भारत का मैदान है।

भौगोलिक दृष्टि से विन्ध्यमेखला के इस क्षेत्र को अनेक भागों में विभक्त किया जा सकता है। ये विभाग निम्नलिखित है—(१) दक्षिण राजपूताना, जो चम्बल नदी के पश्चिम मे और अरावली पर्वतमाला के समीप का प्रदेश है। (२) मालवा, जिसमें चम्बल और सिन्ध नदियों की घाटी का प्रदेश, नर्मदा नदी की घाटी का मध्यवर्ती प्रदेश और सातपुडा पर्वतमाला का पूर्वी भाग सम्मिलित है। (३) बुन्देलखड। (४) बघलखंड। (५) झाडखड या छोटा नागपुर। गुजरात के शस्य-श्यामल व उपजाऊ प्रदेश को भी विन्ध्यमेखला के ही अन्तर्गत किया जा सकता है, यद्यपि वह इस पर्वतमाला के एक तरफ बगल मे रह जाता है। गुजरात न दक्षिण भारत मे है, और न उत्तर भारत के मैदान मे। पर विन्ध्यमेखला के साथ लगा होने के कारण उसका उल्लेख भी इसी क्षेत्र मे किया जाना उचित है।

कृषि की दृष्टि से विन्ध्यमेखला का क्षेत्र उत्तर भारत के मैदान का मुकाबला नही कर सकता, पर जंगलों और खानो की दृष्टि से वह बहुत समृद्ध है। प्राचीन काल मे यह प्रदेश बड़े-बड़े जगलो से परिपूर्ण था, और इसमे कृषि की विशेष सुविधा नही थी। यही कारण है, कि इस क्षेत्र मे उत्तर भारत के समान समृद्ध राज्यों व नगरों का विकास नही हो सका। उत्तर और दक्षिण-भारत मे सम्बन्ध जोड़ने वाले विविध मार्ग विन्ध्याचल के प्रदेशो में से होकर ही गये हैं, इस कारण प्राचीन काल मे इस क्षेत्र का सामरिक महत्त्व बहुत अधिक था।

दक्षिण भारत—भारत का दक्षिण भाग आकार मे एक त्रिभुज के समान है,

जिसके दो ओर समुद्र और एक ओर विन्ध्याचल की पर्वतमाला है। विन्ध्याचल की दो भुजाएँ दक्षिण भारत के समुद्रतट के साथ-साथ कुछ अन्तर छोड़कर दक्षिण की ओर चली गई हैं, जो क्रमशः पूर्वी घाट या पश्चिमी घाट कहाती हैं। पश्चिमी घाट को सह्याद्रि पर्वत भी कहते हैं। सह्याद्रि पर्वतमाला और समुद्र के बीच में जो समतल मैदान है, वह चौडाई में बहुत कम है। इसके उत्तरी भाग को कोंकण और दक्षिणी भाग को केरल व मलाबार कहते है। ये दोनों प्रदेश उपज की दृष्टि से बहुत महत्त्वपूर्ण है। प्राचीन काल से अब तक कोंकण और केरल अपनी उपज-शक्ति और समृद्धि के लिए प्रसिद्ध रहे हैं। दक्षिण भारत की सब प्रमुख नदियां पश्चिम से पूर्व की ओर बहती हैं। इसका अभिप्राय यह है, कि उसकी जमीन का ढाल पूर्व की ओर है। पश्चिमी घाट की ऊँची पर्वतमालाएँ पूर्व की ओर ऊँचाई मे कम होती जाती हैं, और इनके कारण कोंकण और केरल से पूर्व की तरफ का दक्षिणी भारत एक पठार के समान है, जिसके उत्तरी भाग को महाराष्ट्र और दक्षिणी भाग को कर्णाटक कहते है। महाराष्ट्र का प्रदेश पर्वतप्रधान है, और उसमे खेती की विशेष सुविधा नही है। इसीलिए वहाँ के निवासियों को अपनी आजीविका के लिए विशेष परिश्रम करने की आवश्यकता रही है, और वे स्वभाव से ही परिश्रमी व कष्टसहन की प्रवृत्ति रखने वाले रहे है। कर्णाटक का पठार ऊँचाई मे महाराष्ट्र से अधिक है, परन्तु उसके दक्षिणी सिरे पर पहाडो का सिलसिला समाप्त होकर मैदान आ जाता है। इस कारण यह प्रदेश बहुत उपजाऊ व समृद्ध है, और प्राचीन समय मे यहाँ भी अनेक उन्नत राज्यो का विकास हुआ था।

पश्चिमी घाट के समान पूर्वी घाट की पर्वतमाला भी समुद्रतट से कुछ हटकर उत्तर से दक्षिण की ओर चली गई है। नदियो के कारण पूर्वी घाट की यह पर्वत-शृंखला बीच-बीच मे टूट जाती है, और पूर्वी समुद्र मे गिरने वाली इन नदियो के मुहानो द्वारा पूर्वी समुद्र के साथ-साथ समतल मैदान का एक अच्छा चौडा क्षेत्र बन गया है। इस क्षेत्र का सबसे उपरला भाग कलिग (उडीसा), बीच का भाग आन्ध्र देश, और निचला भाग चोलमंडल (कोरोमंडल) कहाता है। ये तीनो प्रदेश बहुत उपजाऊ हैं, और इनमे वर्षा भी प्रचुर मात्रा मे होती है। ये प्रदेश न केवल वर्तमान समय में समृद्ध है, अपितु प्राचीन काल में भी इनमे अनेक शक्तिशाली और उन्नत राज्यो का विकास हुआ था। कलिंग के राजा मौर्ययुग मे अत्यन्त शक्तिशाली माने जाते थे, और एक बार तो कलिंग-राज ने पाटलिपुत्र तक को विजय कर लिया था। आन्ध्र और चोल-राज्यों ने भी एक से अधिक बार उत्तर भारत पर आक्रमण कर उसे अपने अधीन किया था।

दक्षिण भारत को जाने वाला एक प्रधान मार्ग बंगाल से कन्याकुमारी तक समुद्रतट के साथ-साथ जाता है। प्राचीन समय मे यह मार्ग बहुत अधिक प्रयुक्त होता था, और उत्तर भारत के अनेक सम्राटों ने इसी का अनुसरण कर दक्षिण भारत मे दिग्विजय की थी।

लंका या सिंहलद्वीप भी दक्षिण भारत का ही एक अंग है, जो रामेश्वरम् के आगे सेतुबन्ध की चट्टान-शृंखला द्वारा दक्षिण भारत से प्रायः जुड़ा हुआ-सा है।

प्राचीन भारतीय इतिहास की दृष्टि से सिंहलद्वीप को भी भारत के ही अन्तर्गत रखना उचित होगा।

समुद्र—ऐतिहासिक दृष्टि से भारत के समुद्र का भी बहुत महत्त्व है। प्राचीन भारतीय लोग समुद्र का जहाँ व्यापार के लिए उपयोग करते थे, वहाँ अपनी सभ्यता का विस्तार करने के लिए भी वे समुद्रमार्ग से दूर-दूर तक जाते थे। पूर्वी एशिया में बृहत्तर भारत का जो विकास हुआ, उसका कारण यह समुद्र ही था, जिसे पार करने के लिए भारतीय लोग अनेक प्रकार की नौकाओं और जहाजों का उपयोग करते थे।

(२) भारत के निवासी

भारत एक अत्यन्त विशाल देश है। इसमें सब प्रकार की जलवायु विद्यमान है। इसमें जहाँ एक ओर हिमालय की ऊँची-ऊँची पर्वत-शृंखलाएँ व घाटियाँ है, जिन पर सदा बरफ जमी रहती है, वहाँ दूसरी ओर ऐसे प्रदेश भी हैं, जो उष्ण कटिबन्ध के अन्तर्गत होने के कारण सदा गरम रहते है। जलवायु और प्राकृतिक दशा की भिन्नता के समान इस देश के निवासियों में भी अनेक प्रकार की विभिन्नताएँ पायी जाती है। इस विभिन्नता के आधार नस्ल और भाषा के भेद है। मनुष्य के शरीर की आकृति, रचना और रंग के आधार पर नृतत्त्व-शास्त्र के विद्वानों ने मनुष्यों को अनेक नस्लों में विभक्त करने का प्रयत्न किया है। साथ ही, भाषा की भिन्नता के आधार पर भी मनुष्यों में अनेक जातियों की भिन्नता प्रदर्शित की गई है। शरीर की रचना या भाषा के भेद के आधार पर इस प्रकार से मनुष्यों की विभिन्न जातियों की कल्पना करना कहाँ तक उचित व युक्तिसंगत है, इस विषय पर विचार करने की यहाँ हमे आवश्यकता नहीं। पर यह स्पष्ट है, कि भारत के वर्तमान निवासियों को दृष्टि में रखकर उन्हें अनेक विभागों या जातियों में बाँटा जा सकता है। भाषा के भेद को सम्मुख रखकर भारत-भूमि के निवासियों को जिन मुख्य विभागों में बाँटा जाता है, वे निम्नलिखित है—

(१) **आर्य**—भारत के निवासियों की बहुसंख्या आर्य जाति की है। भाषा की दृष्टि से भारत में आर्य-भाषाओं को बोलने वालों की संख्या १०० में ७६·४ है। उत्तर भारत की प्राय सभी भाषाएँ आर्य-परिवार की है। उड़िया, हिन्दी, पंजाबी, पश्तो, काश्मीरी, गुजराती, असमी, बंगला, मराठी, सिन्धी और लहदा ये सब आर्यभाषाएँ ही हैं। भारत की आर्य-परिवार की भाषाओं में हिन्दी सबसे मुख्य है। इसे बोलने वालों की संख्या तीस करोड़ के लगभग है। साहित्यिक उपयोग के लिए हिन्दी का जो रूप प्रयुक्त होता है, वह कुरु देश (गंगा-यमुना के दोआब का उत्तरी भाग) में बोली जाने वाली खड़ी बोली का परिष्कृत रूप है। सर्वसाधारण जनता की बोलचाल में हिन्दी भाषा के जो विविध रूप प्रयुक्त होते है, उनमें प्रमुख ये है—खड़ी बोली, ब्रजभाषा, बांगरू, राजस्थानी, पंजाबी, बुन्देली, अवधी, छत्तीसगढ़ी, बघेली, भोजपुरी, मैथिली, मगही, गोरखाली, कुमाउँनी, गढ़वाली और कन्नौजी। पश्चिम में हरियाणा से शुरू कर पूर्व में बिहार तक और उत्तर में हिमालय से लगाकर दक्षिण में विन्ध्याचल तक हिन्दीभाषा का क्षेत्र है। असम, बंगाल, उड़ीसा, महाराष्ट्र, सिन्ध, जम्मू, पंजाब,

सीमाप्रान्त और काश्मीर की विविध भाषाएँ भी आर्य-परिवार की हैं, और इनको बोलने वाले लोग भी आर्य-जाति के माने जाते है। हिन्दी, मराठी और विविध पहाड़ी बोलियाँ (जिन्हे हिन्दी के ही अन्तर्गत समझना चाहिये) देवनागरी लिपि में लिखी जाती हैं। आर्य-परिवार की अन्य भाषाओं की लिपियाँ देवनागरी से कुछ भिन्न है, पर उनकी वर्णमाला देवनागरी के समान ही है। केवल पश्तो और सिन्धी ने मुसलिम प्रभाव के कारण अरबी वर्णमाला और लिपि को अपना लिया है।

यह कह सकना कठिन है, कि आर्य-भाषाओं को बोलने वाले सब लोग जातीय दृष्टि से भी आर्य हैं। बगाल, असम आदि पूर्वी भारत के प्रदेशों मे जो लोग बसते है, उनमे आर्य-भिन्न रक्त भी प्रचुर परिमाण में पाया जाता है। इस प्रकार विन्ध्यमेखला के निवासी आर्य-भाषा-भाषी होते हुए भी नस्ल की दृष्टि से सर्वांश मे आर्य नहीं माने जाते। वस्तुतः, भारत में रक्त का सम्मिश्रण बहुत हुआ है, और यहाँ के बहुसख्यक निवासी नस्ल की दृष्टि से विशुद्ध आर्य जाति के नही समझे जाते।

भारत के जिन प्रदेशो में आजकल आर्य-परिवार की विविध भाषाएँ बोली जाती है, उनमे प्राचीन काल मे भी आर्य भाषाएँ ही प्रचलित थी। सस्कृत, पाली, प्राकृत व उनके अपभ्रंश विविध समयों मे इन प्रदेशो मे बोले जाते थे। वस्तुत, भारत की आधुनिक आर्य-भाषाएँ इन प्राचीन आर्य-भाषाओ से ही विकसित हुई है। जिन प्रदेशो मे आजकल आर्य-भाषाओ का चलन नही है, उनकी भाषाओं पर भी प्राचीन आर्य-भाषा संस्कृत का गहरा प्रभाव है। उनमे सस्कृत के शब्द बहुत बडी सख्या मे विद्यमान है, और उन प्रदेशो के विद्वान् संस्कृत का अध्ययन करना अत्यन्त गौरव की बात समझते है।

(२) **द्रविड़**—भारत के निवासियो मे द्रविड लोगो की सख्या १०० मे २१६ है। ये प्रधानतया दक्षिण भारत मे निवास करते है। वर्तमान समय की द्रविड भाषाओं मे मुख्य निम्नलिखित है—तेलगू, तमिल, मलयालम और कन्नड। ये क्रमशः आन्ध्रप्रदेश, तमिलनाड्, केरल और कर्णाटक मे बोली जाती है। इनके अतिरिक्त कुछ अन्य भाषाएँ भी है, जिन्हें द्रविडवर्ग के अन्तर्गत रखा जाता है। इनमें से अन्यतम ब्राहुई उत्तर भारत के पश्चिमी कोने मे सुदूरवर्ती कलात में बोली जाती है। ब्राहुई भाषा को बोलने वालो की सख्या दो लाख के लगभग है। उत्तर भारत मे बलोचिस्तान मे एक द्रविड भाषा की सत्ता से यह अनुमान किया जाता है, कि आर्यो के समान द्रविड लोग भी पश्चिम की ओर से भारत मे प्रविष्ट हुए थे, और वे भारत के मूल निवासी नही है। अन्य द्रविड भाषाओ मे गोंडी, कुई, कुरुखी और मल्तो बोलियाँ विशेष रूप से उल्लेखनीय है। ये बोलियाँ मध्य भारत के विविध क्षेत्रों मे बोली जाती है, और भाषा-शास्त्र की दृष्टि से इन्हे द्रविड-परिवार की भाषाएँ माना जाता है।

(३) **मुंड या शाबर**—इस शाखा की बोलियाँ विन्ध्यमेखला व उसके पड़ोस के प्रदेशों मे बोली जाती है। इनके बोलनेवालो की कुल संख्या चालीस लाख के लगभग है। मुंड-भाषाभाषी लोग प्रधानतया छोटा नागपुर और संथाल परगनो के जगल प्रधान प्रदेशो मे निवास करते हैं। इनकी भाषा की न कोई लिपि है और न वर्णमाला। इस दशा मे इस भाषा का कोई साहित्य तो हो ही नही सकता। पडोस की अधिक विकसित व सम्पन्न भाषाएँ धीरे-धीरे इन बोलियो को आत्मसात् करती जाती है।

(४) **किरात**—इस शाखा के वास्तविक अभिजन तिब्बत और बरमा हैं। इस जाति के लोग न केवल तिब्बत और बरमा में अपितु चीन और हिन्दचीन में भी छाये हुए हैं। जहाँ तक भारत का सम्बन्ध है, इस देश मे किरात-जाति की तीन शाखाएँ विद्यमान हैं—(१) तिब्बत-हिमालयी, (२) असमोत्तरक और (३) असम-बर्मी या लौहित्य। तिब्बत की सीमा के समीप स्थित भारतीय प्रदेशों में अनेक बोलियाँ बोली जाती है, जो किरातवर्ग की है। इनमें बाल्ती (बाल्तिस्तान की) और लद्दाखी (लद्दाख की) बोलियाँ मुख्य है। असम के उत्तरी प्रदेशो में निवास करने वाली अनेक जातियाँ भी किरात-भाषाएँ बोलती हैं। इसी प्रकार लौहित्य घाटी मे (असम मे) अनेक ऐसी जातियो का निवास है, जिनकी बोलियों को किरातवर्ग के अन्तर्गत किया जाता है।

मुड और किरात-परिवार की जिन भाषाओ का उल्लेख हमने इस प्रकरण में किया है, उन्हें बोलनेवालो की कुल सख्या १०० मे ३ के लगभग है। भारत की कुल जनसंख्या को दृष्टि में रखते हुए इनकी सत्ता नगण्य ही समझी जा सकती है। ये भाषाएँ प्राय: अविकसित दशा मे है, और इनमे साहित्य का सर्वथा अभाव है। वह समय दूर नही है, जबकि इन भाषाओं को बोलनेवाले लोग अपने पडोस मे रहनेवाले आर्यों के सास्कृतिक प्रभाव मे आ जाएँगे।

(३) भारत की आधारभूत एकता

इसमे सन्देह नही, कि भारत मे ऐसे अनेक तत्त्व विद्यमान है, जो इस विशाल देश मे अनेक प्रकार की विभिन्नताओं को उत्पन्न करते है। इस देश की भौगोलिक दशा सर्वत्र एकसदृश नही है। इसके विविध प्रदेशों मे कही समतल मैदान हैं, तो कही पर्वतप्रधान प्रदेश, घाटियाँ व पठार भी विद्यमान है। कही अत्यन्त सूखे रेगिस्तान है, तो कही ऐसे भी प्रदेश है, जहाँ साल मे कई सौ इच वर्षा पडती है। प्राकृतिक दृष्टि से देखने पर पूर्वी बंगाल और राजपूताना में व कूर्माञ्चल और काशी में भारी भेद दृष्टि-गोचर होता है। इस देश मे अनेक नसलो व जातियो के लोगो का निवास है। आर्य, द्रविड़ मुड, किरात आदि कितनी ही जातियो के लोग यहाँ बसते हैं। हिन्दी, गुजराती, मराठी, तेलुगू, तमिल, बँगला आदि कितनी ही भाषाएँ इस देश मे बोली जाती है। यहाँ बारह से अधिक समुन्नत भाषाएँ व सैकडो की सख्या मे बोलियाँ की सत्ता है। धर्म की दृष्टि से भी इस देश मे एकता का अभाव है। हिन्दू, मुसलिम, ईसाई, बौद्ध, जैन, पारसी आदि कितने ही धर्म यहाँ विद्यमान है। विविध धर्मों के अनुयायियो मे, विशेषतया हिन्दुओ और मुसलमानों मे विरोध की भावना भी इस देश मे पर्याप्त प्रबल रही है। देश की विशालता के कारण यहाँ के निवासियो मे भौगोलिक एकता की अनुभूति भी भलीभाँति विद्यमान नही है। पंजाब के निवासी अपने को पंजाबी समझते है, और बंगाल के निवासी बंगाली। ऐतिहासिक दृष्टि से भारत अनेक छोटे-बड़े राज्यों मे विभक्त रहा है। मौर्य, गुप्त आदि कतिपय प्राचीन राजवशों और मुगलों के शासन मे भारत का बडा भाग कुछ समय के लिए चाहे एक शासन के अधीन रहा हो, पर ब्रिटिश शासन से पूर्व हम प्राय: यही देखते हैं, कि इस देश मे अनेक राज्य थे, जो प्राय: आपस मे संघर्ष

करते रहते थे। इस दशा में यदि अनेक विचारक भारत को एक भूखंड मात्र समझें, और उसकी राष्ट्रीय एकता से इन्कार करें, तो यह आश्चर्य की बात नहीं है। इसी कारण यह भी बहुत सुगम नहीं रहता, कि सारे भारत का इतिहास एक साथ लिखा जा सके। वस्तुतः, भारत का राजनीतिक इतिहास विविध राजवंशों के पारस्परिक संघर्ष का ही वृत्तान्त है।

पर अधिक गम्भीर दृष्टि से विचार करने पर अनेक विविधताओं के होते हुए भी भारत की आधारभूत एकता को समझने मे कठिनाई नही होगी। जो तत्त्व भारत मे एक प्रकार की आधारभूत एकता को स्थापित करते हैं, उनका यहाँ संक्षेप से उल्लेख करना उपयोगी है :—

(१) **भौगोलिक एकता**—प्रकृति ने भारत को एक अत्यन्त सुन्दर व स्वाभाविक सीमा प्रदान की है, यह पहले लिखा जा चुका है। भारत की भौगोलिक एकता इस देश के लोगों मे एक प्रचार की एकानुभूति उत्पन्न करती रही है। भारत के निवासी सदा से अपने देश के प्रति एक विशेष प्रकार की ममता का अनुभव करते रहे है। उन्होंने सदा यह माना है कि यह उनकी मातृभूमि और देवभूमि है। सम्पूर्ण भारत में उन्होने एक सिरे से दूसरे सिरे तक तीर्थों और देवस्थानो की स्थापना की थी। यहाँ के निवासी हिन्दू लोग भारत के पर्वतों, जंगलो, नदियो और पुरियो को पवित्र मानते रहे है। गगा, यमुना, गोदावरी, सरस्वती, नर्मदा, सिन्ध और कावेरी—ये सात नदियां भारत के सब हिन्दुओ के लिए पवित्र है। प्रत्येक हिन्दू की यह आकाक्षा रहती है, कि वह इन सातो नदियों मे स्नान कर अपने जीवन को सफल करे। दक्षिण भारत के हिन्दू के लिए गंगा भी उतनी ही पवित्र है, जितनी कि कावेरी। यही दशा उत्तर भारत के हिन्दू की है। महेन्द्र, मलय, सह्य, शुक्तिमान्, ऋक्ष, विन्ध्य और पारियात्र—ये सात पर्वत सब हिन्दुओ के लिए पवित्र है। इसी प्रकार अयोध्या, मथुरा, मायापुरी, काशी, काँची, अवन्तिका और द्वारवती (द्वारिका)—ये सात पुरियाँ हिन्दुओ की दृष्टि मे पवित्र हैं, और इनमे तीर्थयात्रा के लिए जाना सब हिन्दुओ के लिए एक पवित्र कर्त्तव्य है। दक्षिण मे काँची से उत्तर मे मायापुरी तक यात्रा करने वाला हिन्दू इस सारे देश के प्रति एक आदर और पवित्रता की भावना रखता है, इसमे सन्देह नही। हिन्दुओ के विविध तीर्थ उत्तर में अमरनाथ और केदारनाथ से शुरू होकर दक्षिण मे रामेश्वरम् तक फैले हुए है। इसी प्रकार मुसलमानो के भी अनेक पीरो और औलियों की स्मृति भारत के विभिन्न स्थानो के साथ जुड़ी हुई है। भारत के बौद्धिक नेताओ ने भी भारत की इस भौगोलिक एकता को स्पष्ट रूप से स्वीकार किया था। यही कारण है, कि केरल-देश मे उत्पन्न हुए आचार्य शंकराचार्य ने अपने विविध मठों की स्थापना उत्तर, दक्षिण, पूर्व, पश्चिम—सर्वत्र की थी। इस दशा में यदि भारत के विभिन्न निवासी इस देश के प्रति ममता और एकता की भावना रखें, तो स्वाभाविक ही है।

(२) **जातीय एकता**—यह ठीक है, कि भारत मे अनेक नसलो के लोग निवास करते हैं, पर इन विविध नसलो मे सम्मिश्रण भी खूब हुआ है। इस समय भारत की बहुसंख्यक जनता आर्यों और द्रविड़ों का सम्मिश्रण ही है। इस देश में भाषाओ की भिन्नता अवश्य है, पर यहाँ की प्रायः सभी भाषाएँ एक ही सांचे मे ढली हुई हैं। भारत

की अनेक द्रविड़ भाषाओं तक ने आर्यों की वर्णमाला को अपना लिया है। आर्यों और द्रविडों का भारत के इतिहास में इतना अधिक सामंजस्य हो गया है, कि आज प्रायः सारे भारत की एक वर्णमाला है, और एक वाङ्मय है। न केवल वैदिक और संस्कृत साहित्य का सारे भारत मे समान रूप से आदर है, अपितु मध्यकालीन सन्तो और विचारकों के विचार भी सारे भारत को एक समान रूप से प्रभावित किये हुए है। सस्कृत-साहित्य के ग्रंथ दक्षिण भारत के द्रविड-भाषाभाषी लोगों मे भी उसी प्रकार आदर के साथ पढे जाते है, जैसे कि उत्तर-भारत में। नसल और भाषा की विविधता के होते हुए भी प्रायः सम्पूर्ण भारत के निवासी एक प्रकार की सामाजिक रचना रखते है। सर्वत्र वर्णाश्रम-व्यवस्था का एक समान रूप है। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र का भेद दक्षिण-भारत मे भी वैसा ही है, जैसा कि उत्तर-भारत मे। आश्रम-मर्यादा का भी सर्वत्र एक समान रूप से पालन किया जाता है। इस दशा मे सारे भारत में एक प्रकार की जातीय एकता उत्पन्न हो गई है, जो नसल और भाषा के भेद को बहुत महत्त्व का नहीं रहने देती।

(३) **संस्कृति की एकता**—सास्कृतिक एकता भारत की एक भारी विशेषता है। इस देश के न केवल हिन्दू अपितु मुसलमान, पारसी और ईसाई भी एक ही संस्कृति के रग मे रगे हुए है। यह संस्कृति वैदिक, बौद्ध, जैन, हिन्दू, मुस्लिम और आधुनिक सस्कृतियो के सम्मिश्रण से बनी है। भारत के मुसलमान अपने विचारों, रीति-रिवाजो व अभ्यासों की दृष्टि से अरब व तुर्की के मुसलमानो से बहुत भिन्न है। लखनऊ या दिल्ली का मुसलमान कैरो या कोन्स्टेण्टिनोपल मे जाकर अपने को सर्वथा विदेशी अनुभव करेगा। अरबो व तुर्कों के साथ धार्मिक एकता होते हुए भी वह लखनऊ और दिल्ली के हिन्दू के अधिक समीप है। इसका कारण सस्कृति की एकता है। जो रिवाज व सामाजिक आचार-विचार हिन्दू के है, प्राय. वही भारतीय मुसलमान के भी है। भारत के बहुसख्यक मुसलमानो के पूर्वज हिन्दू ही थे। धर्म-परिवर्तन से उनके सस्कारों व परम्परागत विचारो में मौलिक परिवर्तन नहीं हुआ। इसी प्रकार आन्ध्र, तमिलनाड, बगाल, गुजरात आदि मे विभिन्न भाषाभाषी जो जन-समुदाय निवास करते है, वे सब एक सस्कृति के ही अनुयायी हैं। राम और कृष्ण के आदर्श, अर्जुन और भीम की वीर-गाथाएँ व नानक और तुलसी के उपदेश उन्हे समान रूप से प्रभावित करते है। संस्कृति की यह एकता ऐसी है, जो नसल, भाषा आदि के भेद की अपेक्षा अधिक महत्त्व की है। इसी के कारण सम्पूर्ण भारतीय अपने को चीनी, ईरानी, अरब, अग्रेज आदि अन्य राष्ट्रीयताओं से भिन्न समझते है, और अपने को एक मानते है।

(४) **राजनीतिक एकता**—इसमे सन्देह नहीं, कि प्राचीन भारत मे बहुत से छोटे-बडे राज्य विद्यमान थे। पर साथ ही यह बात भी सत्य है कि बहुत प्राचीन समय से इस देश मे यह विचार विद्यमान था, कि यह विशाल देश एक चक्रवर्ती साम्राज्य का उपयुक्त क्षेत्र है, और इसमे एक ही राजनीतिक शक्ति का शासन होना चाहिए। आचार्य चाणक्य ने कितने सुन्दर रूप से यह प्रतिपादित किया था, कि हिमालय से समुद्र-पर्यन्त जो सहस्र योजन विस्तीर्ण प्रदेश है, वह एक चक्रवर्ती शासन का क्षेत्र है। चाणक्य के इस स्वप्न को उसके शिष्य मौर्य चन्द्रगुप्त ने क्रिया में परिणत किया और हिमालय से समुद्र तक मागध-साम्राज्य की स्थापना की। पर चन्द्रगुप्त मौर्य से पूर्व

भी अनेक सम्राटों ने दिग्विजय द्वारा भारत के विविध आर्य-राज्यों में राजनीतिक एकता को प्रादुर्भूत किया था। मान्धाता, भरत आदि कितने ही राजा वैदिक काल में भी ऐसे हुए, जिनका प्रयत्न सम्पूर्ण आर्यावर्त्त मे एक शासन स्थापित करने का था, और जो राजसूय आदि यज्ञों द्वारा चक्रवर्ती, सार्वभौम व सम्राट्-पद को प्राप्त करने में समर्थ हुए थे। प्राचीन समय में भारत चाहे सदा एक शासन मे न रहा हो, पर इस देश मे यह अनुभूति प्रबल रूप से विद्यमान थी, कि यह एक देश है, और इसमे जो धार्मिक, साहित्यिक व सांस्कृतिक एकता है, उसे राजनीतिक क्षेत्र मे भी अभिव्यक्त होना चाहिए। यही कारण है, कि विविध राज्यों और राजवंशों की सत्ता के होते हुए भी इस देश के इतिहास को एक साथ प्रतिपादित किया जा सकता है।

भारत बहुत बडा देश है। प्राचीन समय मे तो ग्रीस, इटली, इगलैण्ड जैसे छोटे-छोटे देशो में भी बहुत-से राज्य विद्यमान थे। ग्रीस में स्पार्टा, ऐथन्स, कोरिन्थ आदि के रूप मे कितने ही छोटे-छोटे नगर-राज्यों की सत्ता थी। यही बात इटली, इंगलैण्ड, मिस्र, ईरान आदि देशों के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है। बहुत-से नगर-राज्यो की सत्ता के होते हुए भी ग्रीस को एक देश समझा जाता था, क्योंकि उसमें संस्कृति की एकता थी, और ग्रीक लोग अपने मे एक प्रकार की एकानुभूति रखते थे। ठीक यही बात भारत के संबंध में भी है। जिस प्रकार मैसिडोन के नेतृत्व मे ग्रीक नगर-राज्य एक राजनीतिक सूत्र मे सगठित हुए, वैसे ही मगध के नेतृत्व मे आगे चल-कर भारत के विविध राज्य एक साम्राज्य के अधीन हुए। यदि केवल विविध राज्यो की सत्ता के कारण भारत की आधारभूत एकता से इन्कार किया जाय, तो यह भी मानना होगा, कि ग्रीस, इटली, इगलैण्ड आदि सभी देश प्राचीन समय मे एकता से शून्य थे। पर किसी देश की एकता के लिए राजनीतिक एकता सबसे महत्त्वपूर्ण तत्त्व नही होती। धर्म, संस्कृति, भूगोल, परम्परा आदि की एकता ने ही आगे चलकर ग्रीस, इटली, इगलैण्ड, जर्मनी आदि को एक सगठन में संगठित किया। इसी प्रकार भारत भी आगे चलकर राजनीतिक दृष्टि से भी एक हो गया। पर जिन तत्त्वो के कारण उसका एक होना सम्भव हुआ, वे प्राचीनकाल मे भी यहाँ विद्यमान थे।

इसमे सन्देह नही, कि भारत मे अनेक प्रकार की विभिन्नताएँ विद्यमान हैं। पर इन विभिन्नताओं के होते हुए भी इस देश मे एक आधारभूत एकता की सत्ता है, इस बात से इन्कार नही किया जा सकता। वस्तुत., इस देश की स्थिति सघात्मक शासन के लिए बहुत उपयुक्त है। भारत-जैसे विशाल देश को विविध खडो मे विभक्त कर यदि उन्हे एक सघ मे सगठित किया जाए, तो यह बात यहाँ के लिए बहुत उपयोगी होगी। विविध खंडो मे इस देश की विभिन्न भाषाओ, साहित्य, पृथक् परम्परा आदि को विकास का पूरा अवसर मिलेगा, और संघ द्वारा वह आधारभूत एकता भली-भाँति अभिव्यक्त हो सकेगी, जो भारत को अन्य सब देशो से पृथक् करती है। स्वतत्र भारत के नये संविधान में इसी सिद्धान्त का अनुसरण किया गया है।

प्राचीन भारत का इतिहास लिखते हुए जहाँ हम उस धर्म, सभ्यता, संस्कृति, साहित्य और सामाजिक संगठन के विकास का वृत्तान्त लिखते है, जो सारे भारत मे समान रूप से विकसित हुए, वहाँ साथ ही हम उस प्रयत्न का भी प्रदर्शन करते है, जो

इस देश में राजनीतिक एकता की स्थापना के लिए निरन्तर जारी रहा। यही कारण है, कि हम इसका इतिहास एक साथ लिखने मे समर्थ होते हैं।

(४) भौगोलिक दशा का भारतीय इतिहास पर प्रभाव

भौगोलिक परिस्थितियों ने भारत के इतिहास को अनेक प्रकार से प्रभावित किया है—

(१) **विविध राज्यों की सत्ता**—भारत के सीमान्त के पर्वतप्रधान प्रदेशों में बहुत-से छोटे-छोटे राज्यों की सत्ता रही है, जो अपनी विकट भौगोलिक परिस्थिति के कारण साम्राज्यवादी विजेताओं की विजयो के प्रभाव से प्रायः बचे रहे है। मगध के बार्हद्रथ, नन्द, मौर्य, गुप्त आदि राजवंशो के प्रतापी सम्राट् उत्तर भारत के सुविस्तृत मैदान को अपनी अधीनता में लाने मे समर्थ हुए। पर काश्मीर, अभिसार, त्रिगर्त, कुलूत, गढदेश, कूर्माञ्चल, नैपाल आदि पार्वत्य-प्रदेशो को वे स्थिर रूप से अपने विशाल साम्राज्यों के अन्तर्गत नही कर सके। विन्ध्यमेखला के कारण उनके लिए यह भी सम्भव नही हुआ, कि वे दक्षिण-भारत पर स्थिर रूप से अपना शासन स्थापित कर सकते। अफगान और मुगल-सम्राट् भी जो सारे भारत को अपनी अधीनता में नही ला सके, उसका मुख्य कारण भी इस देश की भौगोलिक परिस्थितियाँ ही थीं। राजनीतिक दृष्टि से दक्षिण भारत का इतिहास प्रायः उत्तर भारत के इतिहास से पृथक् रहा, क्योकि विन्ध्यमेखला भारत के इन दोनों भागो के मध्य मे एक विशाल दीवार का काम करती रही। दक्षिण भारत मे पश्चिमी घाट और पूर्वी घाट की पर्वतमालाओं के कारण वहाँ उस ढंग के विशाल साम्राज्यों का विकास सम्भव नही हुआ, जैसा कि उत्तर भारत के सुविस्तृत मैदान मे हुआ था। दक्षिण भारत अनेक छोटे-बड़े राज्यो मे विभक्त रहा, जो निरन्तर परस्पर के युद्धों में व्यापृत रहे। शक्तिशाली मुगल सम्राट् भी इस प्रदेश को अविकल रूप से अपनी अधीनता में लाने मे असमर्थ रहे। उत्तर भारत के विस्तृत मैदान मे जो शक्तिशाली विशाल साम्राज्यों का विकास संभव हुआ, उसका कारण वहाँ की भौगोलिक दशा ही थी। इस प्रदेश मे कोई ऐसी प्राकृतिक बाधाएँ नही थी, जो मगध, कन्नौज और दिल्ली के शक्तिशाली सम्राटो की राजनीतिक महत्त्वाकाक्षाओं की पूर्ति मे बाधक हो सकती। इसीलिये सदियों तक भारत का यह भाग एक शासन की अधीनता मे रह सका, और यहाँ एक ऐसी सभ्यता का विकास हुआ, जो इसके सब निवासियों को सास्कृतिक दृष्टि से एक सूत्र में बाँध रखने मे समर्थ रही।

(२) **पृथक् सभ्यता का विकास**—भौगोलिक दृष्टि से अनेक भागों मे विभक्त होते हुए भी भारत संसार के अन्य भूखण्डों से पृथक् व स्वतन्त्र सत्ता रखता है। इस देश को एक ऐसी प्राकृतिक सीमा प्राप्त है, जो अन्य देशों को प्राप्त नहीं है। महासमुद्र और दुर्गम पर्वतशृंखलाओ से घिरा हुआ यह देश एक विशाल दुर्ग के समान है, जिसमें एकता की अनुभूति अत्यन्त प्राचीन काल से विद्यमान रही है। जहाँ एक ओर शक्तिशाली सम्राट् इस देश को राजनीतिक दृष्टि से एक शासन में लाने का प्रयत्न करते रहे, वहाँ दूसरी ओर यहाँ के धर्माचार्य और सन्त-महात्मा इस सम्पूर्ण देश में एक धर्म

और एक संस्कृति की स्थापना के लिए तत्पर रहे। यही कारण है, कि भारत में एक ऐसी सभ्यता और संस्कृति का विकास हुआ जो इस देश की अपनी चीज है, और जिसका पड़ोस के अन्य देशों के साथ विशेष सम्बन्ध नहीं है। यह सच है, कि भारत ने समीपवर्ती अन्य देशों को भी अपनी संस्कृति के प्रभाव मे लाने का प्रयत्न किया। कुछ समय तक अफगानिस्तान, तुर्किस्तान, तिब्बत, बरमा, मलाया, सियाम आदि देश भारतीय संस्कृति के प्रभाव मे भी रहे। पर भौगोलिक परिस्थितियो के कारण ही ये सब देश देर तक भारत के सांस्कृतिक प्रभाव मे नही रह सके, और उनमे अपनी पृथक् संस्कृतियों का विकास हुआ। भारत जो अपनी एक पृथक् व स्वतंत्र सभ्यता और संस्कृति का विकास करने मे समर्थ हुआ, उसका एक महत्त्वपूर्ण कारण यही था, कि भौगोलिक परिस्थितियों ने इसे पृथ्वी के अन्य क्षेत्रों से पृथक् कर रखा था।

(३) **अन्य देशों से सम्बन्ध**—यद्यपि भौगोलिक दृष्टि से भारत की पृथक् व स्वतन्त्र सत्ता है, पर अन्य देशो के साथ उसका सम्पर्क सदा कायम रहा है। इस देश की उत्तर-पश्चिमी सीमा पर विद्यमान दुर्गम पर्वत-माला मे दो ऐसे द्वार है, जो विदेशों के साथ इसका सम्बन्ध निरन्तर बनाये रहे हैं। ये मार्ग खैबर और बोलन के दर्रों के रूप मे है। जहाँ अनेक विदेशी जातियों ने इन मार्गों से प्रवेश कर इस देश को अपनी अधीनता मे लाने का प्रयत्न किया, वहाँ चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य-जैसे प्रतापी विजेता इन मार्गों से ही बाह्लीक देश तक की विजय करने में समर्थ हुए। इन मार्गों से जाकर बहुत-से धर्म-प्रचारको ने भारतीय धर्म और सस्कृति का पश्चिम व उत्तर मे दूर-दूर तक प्रसार किया। केवल इन दो दर्रों से ही नही, अपितु हिमालय पर्वतशृंखला के अन्य अनेक मार्गों द्वारा भी भारत का पड़ोस के देशो के साथ सम्बन्ध कायम रहा। भारत के सुविस्तीर्ण समुद्रतट ने भी विदेशों के साथ सम्पर्क को स्थापित करने में सहायता पहुँचाई। इस देश के व्यापारी जहाँ जलमार्ग से उत्तर-पूर्व मे चीन तक और पश्चिम मे ईरान और अरब तक व्यापार करने में व्यापृत रहे, वहाँ साथ ही इस देश के बहुत-से धर्म-प्रचारक व विद्वान् समुद्र के मार्ग से इण्डोचायना, इण्डोनीसिया आदि सुदूरवर्ती प्रदेशों में भारतीय धर्म व संस्कृति के प्रचार के लिए प्रयत्नशील रहे। इस स्थिति का परिणाम यह हुआ, कि अन्य देशो के साथ भारत का सम्पर्क निरन्तर कायम रहा, और इस देश की विशिष्ट संस्कृति के विकास में इस सम्पर्क ने बहुत सहायता पहुँचाई। यह समझना भूल है, कि भारत ऐतिहासिक दृष्टि से संसार के घटनाप्रवाह से पृथक् रहा है। जहाँ एक ओर भारत के विचारक और धर्म-प्रचारक एशिया के बहुत बडे भाग को अपनी विचारधारा द्वारा प्रभावित करते रहे हैं, वहाँ साथ ही पडोस के विदेशी राज्यों की राजनीतिक व सांस्कृतिक उथल-पुथल भी इस देश के इतिहास पर अपना प्रभाव डालती रही है। यवन, शक, युइशी, हूण, अफगान, मुगल आदि कितने ही विदेशी लोग समय-समय पर भारत में प्रविष्ट हुए, और इन सबने इस देश के इतिहास को प्रभावित किया। यही कारण है, कि भारत की संस्कृति पर अन्य जातियो का प्रभाव भी कम नहीं है। वस्तुतः, भारतीय संस्कृति अनेक संस्कृतियों का सम्मिश्रण है। वैदिक युग में आर्यों की जो संस्कृति थी, उसपर भी द्रविड़ लोगों का प्रभाव था।

बाद मे कितने ही नये लोगों ने इस संस्कृति को प्रभावित किया, यद्यपि आर्यों की सस्कृति की मूलधारा नष्ट नहीं होने पाई।

(४) **एकता और विभिन्नता**--भारत की भौगोलिक परिस्थितियो मे बहुत विभिन्नता है। इस देश के कुछ भाग जहाँ सदा हिम से आच्छादित रहते हैं, तो अन्य भाग मरुस्थल के रूप मे हैं। हरे-भरे मैदान, पहाडियो से परिपूर्ण पठार, रेगिस्तान आदि सब प्रकार के प्रदेश इस विशाल देश मे विद्यमान हैं। भौगोलिक दृष्टि से इतनी विभिन्नताओं के होते हुए भी यह देश प्राकृतिक दृष्टि से अपनी पृथक् व स्वतन्त्र सत्ता रखता है। इस विशिष्ट भौगोलिक परिस्थिति ने भारत के इतिहास और संस्कृति पर बहुत प्रभाव डाला है। यहाँ जो लोग निवास करते है, वे अपने चरित्र, व्यवहार और परम्परा आदि की दृष्टि से एक-दूसरे मे बहुत भिन्न है। पहाडों पर निवास करनेवाले गढवाली, गोरखे व मराठे राजपूताना के रेगिस्तान मे रहनेवाले लोगो से भिन्न प्रकृति रखते हैं, और वे लोग उत्तरी भारत के हरे-भरे उपजाऊ मैदान के निवासियो से बहुत भिन्न हैं। इस देश की विशालता और उसमे विद्यमान विविध प्रकार की जलवायु के कारण इसके निवासियो मे बहुत-सी विभिन्नताओ का विकास हो गया है। पर ये विभिन्नताएँ इस देश की आधारभूत एकता को नष्ट नही कर सकी। जिस प्रकार भौगोलिक परिस्थितियो की विभिन्नता के होते हुए भी यह देश एक है, वैसे ही अनेक प्रकार के लोगो का निवास होने पर भी उन सबमे एक प्रकार की एकानुभूति विद्यमान है, जिसका कारण उनके इतिहास और सस्कृति की एकता है। विभिन्नता के रहते हुए भी एकता की सत्ता इस देश की एक अपनी विशेषता है, और इसमे यहाँ की भौगोलिक दशा बहुत सहायक हुई है।

अनेक ऐतिहासिको का यह विचार है, कि भारत की गरम जलवायु के कारण यहाँ के निवासियों मे परिश्रम और अध्यवसाय का अभाव है। वे जो सुगमता से आक्रमणकारी लोगो की अधीनता मे आ गये और उन्नति की दौड़ मे यूरोप व अमेरिका से पीछे रह गये, उसके लिए यहाँ की भौगोलिक परिस्थितियाँ उत्तरदायी है। पर गम्भीरता मे विचार करने पर यह बात सत्य प्रतीत नही होती। यह सत्य है, कि अनेक विदेशी आक्रान्ता भारत के कतिपय भागो को जीतने मे समर्थ हुए। अनेक सदियो तक भारत विदेशी शासको की अधीनता मे भी रहा। पर यह बात यूरोप के अनेक देशों के सबध मे भी कही जा सकती है। मगोल आक्रान्ता विएना तक यूरोप को जीतने मे समर्थ हुए थे और पूर्वी यूरोप के अनेक देश तो सदियों तक तुर्कों के अधीन रहे थे। उन्नति की दौड मे यदि भारत आधुनिक युग मे पाश्चात्य देशो के मुकाबिले मे पीछे रह गया, तो प्राचीन काल और मध्ययुग मे भारत यूरोप से किसी भी प्रकार कम उन्नत नही था। उन्नति की दौड़ मे तो रूस भी पश्चिमी यूरोप के मुकाबिले मे बहुत पीछे रह गया था। बीसवी सदी के प्रारम्भ तक इगलैण्ड, फ्रास, जर्मनी आदि की अपेक्षा रूस बहुत पिछडा हुआ था। आधुनिक युग मे जो भारत दुर्दशाग्रस्त रहा, उसकी उत्तरदायिता उसकी जलवायु व भौगोलिक परिस्थिति पर नही है। उसके कारण अन्य है। पर इसमे सन्देह नही, कि भारत की भौगोलिक दशा ने अनेक प्रकार से इस देश के इतिहास को प्रभावित किया है।

दूसरा अध्याय

प्राचीन भारतीय इतिहास की सामग्री

(१) प्राचीन भारत में इतिहास का ज्ञान

वर्तमान समय में भारत का प्राचीन इतिहास क्रमबद्ध रूप से उपलब्ध नही होता। भारत का प्राचीन साहित्य बहुत विशाल और समृद्ध है, पर उसमें इतिहास-विषयक ग्रन्थ अधिक संख्या मे उपलब्ध नहीं हुए। इसी कारण मैक्समुइलर, फ्लीट और एल्फिन्स्टन आदि अनेक विद्वानों का यह मत था, कि प्राचीन भारतीय सदा पारलौकिक विषयों के चिन्तन मे ही लगे रहते थे, उनका इहलोक के सुखों तथा उनसे सम्बन्ध रखने वाली विद्याओं की ओर कोई ध्यान नही था, और इसीलिए उन्होंने इतिहास को कोई महत्त्व नही दिया। पर प्राचीन साहित्य के अनुशीलन से हम इस परिणाम पर पहुँचते हैं, कि भारतीय लोग इतिहास-शास्त्र से भली-भाँति परिचित थे, और वे अपनी घटनाओं को उल्लिखित तथा क्रमबद्ध किया करते थे। इतिहास को वे इतना महत्त्व देते थे, कि उसे पाँचवाँ वेद माना जाता था। कौटलीय अर्थशास्त्र (१।३) और छान्दोग्य-उपनिषद् (सप्तम प्रपाठक) मे इतिहास को पाँचवाँ वेद कहा गया है। पुराणो के अनुसार (वायु पु० १।२०१ और पद्म पु० ५।२-५२) वेदों के वास्तविक अभिप्राय को समझने के लिए इतिहास का अनुशीलन आवश्यक है। राजा लोग अपनी दैनिक दिनचर्या मे इतिहास के श्रवण को भी पर्याप्त समय देते थे। प्राचीन विद्याओं मे इतिहास की भी गिनती थी। छान्दोग्य-उपनिषद् मे महर्षि सनत्कुमार और नारद का संवाद आता है, जिसमे सनत्कुमार के पूछने पर नारद ने यह बताया, कि उसने किन-किन विद्याओं का अध्ययन किया है। इनमे वेद, पुराण, ज्योतिष, ब्रह्मविद्या आदि के साथ इतिहास का भी परिगणन किया गया है। इन सब युक्तियो के महत्त्व को अनेक यूरोपियन विद्वानों ने भी स्वीकृत किया है। इसीलिए विल्सन, टाड और स्टाइन आदि अनेक ऐतिहासिको ने प्राचीन भारतीयो मे ऐतिहासिक बुद्धि की और प्राचीन भारतीय साहित्य मे इतिहास की सत्ता को स्वीकार किया है।

प्राचीन भारतीय लोग इतिहास को लेखबद्ध करने के लिए यत्न करते थे या नही, इस विवाद मे पडने की आवश्यकता नही। यह निश्चित है, कि प्राचीन भारत मे महत्त्वपूर्ण राजनीतिक घटनाओं की स्मृति को स्थिर रखने के साधन अवश्य विद्यमान थे। दक्षिणी भारत मे दो चालुक्य-वंशो ने शासन किया। इन दो वंशों में लगभग दो सदी का अन्तर था। पर पिछले चालुक्य-वंश के शिलालेखों मे दो सौ वर्ष पहले हुए चालुक्य-वंश का वृत्तान्त दिया गया है। कल्हण ने राजतरंगिणी नामक काश्मीर का इतिहास लिखते हुए यह कहा है, कि इस ग्रन्थ के लिखने मे ग्यारह प्राचीन इतिहास-ग्रन्थो का उपयोग किया गया है। प्राचीन भारत के अनेक इतिहास-ग्रंथ अब धीरे-धीरे उपलब्ध होने भी लगे हैं, जिनमें मञ्जुश्री-मूल-कल्प का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। पहले गुप्तवंश

के सम्राटों का परिचय केवल शिलालेखों और सिक्कों से ही मिलता था। पर अब इस ग्रन्थ द्वारा इस बंश का लिखित इतिहास भी उपलब्ध हो गया है। पौराणिक अनुश्रुति मे भी आर्यों का प्राचीनतम इतिहास सुरक्षित है।

प्राचीन भारतीयों द्वारा लिखित क्रमबद्ध इतिहास के ग्रंथ यद्यपि इस समय उपलब्ध नही होते, पर ऐसी बहुत-सी सामग्री अवश्य प्राप्त है, जिसका उपयोग कर भारत का प्राचीन इतिहास तैयार किया जा सकता है। पुरातत्ववेत्ताओं के निरन्तर प्रयत्न से बहुत-से उत्कीर्ण लेख, सिक्के, मूर्तियाँ, ताम्रपत्र व अन्य प्राचीन अवशेष इस समय उपलब्ध हो गये हैं, और प्राचीन भारत के ये ठोस अवशेष इतिहास के लिए बहुत सहायक हैं। इनके अतिरिक्त, प्राचीन साहित्य भी इतिहास के लिए कम उपयोगी नहीं है। यद्यपि बहुत समय तक ऐतिहासिकों में इसे उपेक्षा की दृष्टि से देखने की प्रवृत्ति रही है, तथापि अब भारतीय इतिहास के निर्माण के लिए साहित्य की उपयोगिता को स्वीकार कर लिया गया है। पार्जीटर के प्रयत्न से पुराण भी अब 'इतिहास के स्रोत' बन गये है।

प्राचीन भारतीय इतिहास की सामग्री को हम मुख्यतया छः भागों मे बाँट सकते हैं—(१) प्राचीन वैदिक और संस्कृत-साहित्य, (२) बौद्ध (पाली और संस्कृत) साहित्य, (३) जैन (प्राकृत और संस्कृत) साहित्य, (४) ऐतिहासिक ग्रंथ, (५) विदेशी यात्रियों के यात्रा-विवरण, और (६) पुरातत्त्व-संबंधी अवशेष। हम इन पर क्रमशः विचार करेंगे।

(२) प्राचीन वैदिक और संस्कृत साहित्य

भारत के प्राचीनतम साहित्य को दो भागों में बाँटा जा सकता है, धर्मपरक ग्रन्थ और इतिहास-पुराण। धर्मपरक ग्रंथों मे वैदिक संहिता, ब्राह्मणग्रन्थ, आरण्यक व उपनिषद्, वेदान्त, उपांग और सूत्रग्रंथ उल्लेखनीय हैं। इस साहित्य का विशद रूप से विवरण हम अगले अध्यायों में प्रसंगानुसार देंगे। इस साहित्य का प्रयोजन ऐतिहासिक घटनाओं का उल्लेख करना नहीं है। पर प्रसंगवश इसमें कहीं-कहीं ऐतिहासिक घटनाओं के निर्देश आ गये हैं, जो बहुत उपयोगी हैं। वैदिक संहिताओं में वे मन्त्र और सूक्त संगृहीत हैं, जिनका निर्माण (दर्शन) प्राचीन आर्य-ऋषियों ने किया था। इन मंत्रों का प्रयोजन किसी देवता-विशेष की स्तुति है, पर प्रसंगवश कहीं-कहीं इनमें अपने समय की राजनीतिक घटनाओं का भी उल्लेख हो गया है। उदाहरणार्थ, इन्द्र देवता की स्तुति करते हुए दस्यु या दास-जाति के दुर्गों व नगरों का वर्णन और उनके परास्त होने की बात कह दी गई है। राजा सुदास के विरुद्ध हुए विभिन्न राजाओं के संगठन की बात उस समय के लोगों के लिए बहुत महत्त्व की घटना थी। एक वैदिक सूक्त में इस घटना का भी निर्देश कर दिया गया है। भारत के अनेक प्राचीन राजा तत्त्वज्ञान और अध्यात्म-चिन्तन के लिए विशेष प्रयत्नशील थे। उनकी राजसभा में अनेक ऋषि एकत्र होते थे, और गूढ़ आध्यात्मिक विषयों पर विचार किया करते थे। कतिपय उपनिषदों में इन राजाओं की राजसभाओं में हुए अध्यात्मविषयक विवादों का उल्लेख है। इस प्रकार के सन्दर्भों से हमें प्रासंगिक रूप से भारत के अनेक प्राचीन राजवंशों और राजाओं का भी परिचय मिल जाता है। इसके अतिरिक्त धर्मपरक साहित्य के अनुशीलन से उस युग

के सामाजिक, धार्मिक व आर्थिक जीवन पर जो प्रकाश पड़ता है, उसके महत्त्व से कदापि इन्कार नहीं किया जा सकता।

जिस प्रकार वैदिक संहिताओं में भारत के प्राचीन ऋषियों की सूक्तियाँ संगृहीत हैं, वैसे ही पुराणों में प्राचीन आर्य-राजवंशों व राजाओं के चरित, इतिवृत्त व आख्यान संगृहीत हैं। वेदों के समान ये पुराण-ग्रन्थ भी अत्यन्त प्राचीन हैं। पुराण वर्तमान समय में जिस रूप में मिलते हैं, वे चाहे बहुत पुराने न हों, पर उनमें संकलित अनुश्रुति अवश्य ही बहुत प्राचीन है। पुराणों का लक्षण इस प्रकार किया गया है—

सर्गश्च प्रतिसर्गश्च वंशो मन्वन्तराणि च।
वंशानुचरितं चैव पुराणं पञ्च लक्षणम् ॥

सृष्टि की उत्पत्ति किस प्रकार हुई, सृष्टि का प्रलय किस प्रकार होता है, काल के विविध मन्वन्तर (विभाग) कौन-से है, इन विविध मन्वन्तरो मे किन वंशों ने शासन किया और इन वंशों व राजाओं के चरित क्या थे—इन पाँच बातों का वर्णन पुराणों मे किया जाता है। मत्स्य, वायु, विष्णु, ब्रह्माण्ड, भागवत आदि पुराण-ग्रन्थों मे प्राचीन आर्यों के वंशो और उनके चरितों का जो वर्णन संगृहीत है, इतिहास के लिए उसका बहुत अधिक उपयोग है। इसमे सन्देह नही, कि पुराणों की यह अनुश्रुति प्रायः अस्पष्ट है। पर इसका ठीक तरह से अनुशीलन और विवेचन करके हम भारत के प्राचीन राज्यों, उन पर शासन करने वाले राजवंशों और राजाओं के सम्बन्ध में अच्छी जानकारी प्राप्त कर सकते है। वेदो में जो राजाओ का कहीं-कही प्रासंगिक उल्लेख आ जाता है, और जो अनेक गाथाएँ सूत्ररूप मे मिल जाती है, उनको भली-भाँति समझना तभी संभव है, जब-कि पुराणो में उपलब्ध अनुश्रुति को दृष्टि में रखा जाय। इसीलिए महाभारत में कहा गया है—

इतिहासपुराणाभ्यां वेदार्थमुपबृंहयेत्।
बिभेत्यल्पश्रुताद्वेदो मामयं प्रहरिष्यति ॥

इतिहास और पुराण द्वारा वेदों के अर्थ को स्पष्ट करना चाहिए, अल्पश्रुत (अनुश्रुति से अपरिचित) व्यक्ति से वेद डरता है, कि यह मुझपर प्रहार करेगा (मेरे अभिप्राय को ठीक नहीं समझेगा)। सुदास और उसके विरोधी राजाओ के युद्ध का जो उल्लेख सूत्ररूप से वेद में है, उसका ठीक अभिप्राय पौराणिक अनुश्रुति मे विद्यमान सुदास व उसके विरोधी राजाओं की कथा से ही समझा जा सकता है। इसी प्रकार इन्द्र और मित्र, देव और असुर आदि के संग्राम की बात भी पुराणो द्वारा ही स्पष्ट होती है। इसमें सन्देह नही, कि पुराण भारतीय इतिहास के परिचय के लिए बहुत उपयोगी हैं। यह ठीक है, कि पुराणों से तिथिक्रम का सही परिचय नहीं मिलता। उनमें राजवंशों और राजाओं की जो तालिकाएँ दी गई हैं, उनमें किसी निश्चित संवत् का प्रयोग नहीं किया गया। प्राचीन भारतीय काल का विभाग चतुर्युग द्वारा किया करते थे। कृत, त्रेता, द्वापर और कलि—इन चार युगों में उन्होंने भारत के इतिहास को विभक्त किया था। पौराणिक अनुश्रुति से यह बात स्पष्ट हो जाती है, कि कौन-सा राजा कलियुग के शुरू में हुआ, कौन-से राजा द्वापर, त्रेता व कृतयुग के शुरू में हुए और कब कलियुग का अन्त हुआ। प्राचीन आर्य-राजाओं के पौर्वापर्य व समय को निश्चित करने के लिए यह

बात कम महत्त्व की नही है। कठिनाई तब आती है, जबकि हमें कलियुग के प्रारम्भ का समय निश्चित करने की आवश्यकता होती है। पुराणों के निर्माताओं व संकलयिताओं के सम्मुख शायद यह कठिनाई नही थी। पर साहित्यिक आधार पर अब यह भी निश्चित किया जा सका है, कि कलियुग का प्रारम्भ कब हुआ। पौराणिक अनुश्रुति का अनुशीलन करके अब प्राचीन भारतीय इतिहास की रूपरेखा निर्धारित की जा सकती है, तिथिक्रम का प्रश्न यद्यपि अब तक भी ठीक प्रकार से हल नही किया जा सका है।

पुराणो के अतिरिक्त, वाल्मीकीय रामायण और महाभारत संस्कृत-साहित्य के दो ऐसे ग्रन्थ है, जो प्राचीन भारतीय इतिहास के अनुशीलन के लिए बहुत उपयोगी है। रामायण में ऐक्ष्वाकव (सूर्य) बंश के राजा दाशरथि राम का वृत्तान्त बडे विस्तार से दिया गया है। महाभारत में पौरव-वंश की दो शाखाओ (कौरव और पाण्डव) के पारस्परिक संघर्ष का इतिवृत्त संकलित है। पर महाभारत मे भारत के प्राचीन राजवंशों के साथ सम्बन्ध रखनेवाले अन्य भी बहुत-से आख्यान संगृहीत है, और इस विशाल ग्रन्थ के अनुशीलन से प्राचीन भारतीय इतिहास पर बहुत विशदरूप से प्रकाश पड़ता है। नि.सन्देह, महाभारत की रचना एक विशाल विश्वकोश के रूप मे हुई है, जो न केवल प्राचीन आख्यानों, गाथाओ और इतिवृत्त पर प्रकाश डालता है, अपितु साथ ही प्राचीन भारतीय राजनीति, अध्यात्मचिन्तन और ज्ञान का भी प्रतिपादन करता है। रामायण और महाभारत का वर्तमान रूप चाहे वैदिक सहिता के समान अत्यन्त प्राचीन न हो, पर यह निर्विवाद है, कि इनमे प्राचीन भारतीय अनुश्रुति बड़े सुन्दर रूप मे सुरक्षित है। इन्ही ग्रन्थो को प्राचीन समय मे 'इतिहास' कहा जाता था। वस्तुत', ये भारत के प्राचीन आर्यों के इतिहास है। वैदिक और पौराणिक अनुश्रुति के समान महाभारत का कर्त्ता (या संकलयिता) भी मुनि वेदव्यास को ही माना जाता है।

पुराण संख्या मे अठारह है। पर अठारह पुराणों के अतिरिक्त अन्य भी अनेक पुराण पाये जाते है। प्राचीन समय मे भारत मे अनेक सूतवश होते थे, जो राजवशों व राजाओ के इतिवृत्त को अनुश्रुति के रूप में सुरक्षित रखते थे। परम्परा के अनुसार यह कहा जाता है, कि अष्टादश पुराणो का पाठ सूत लोमहर्षण व उसकें पुत्र सौति उग्रश्रवस् ने किया था। धर्म व अध्यात्म के क्षेत्र में जो स्थान ऋषियो का था, वही स्थान 'वशानुचरित' के क्षेत्र मे सूतो का था। भारत के प्राचीन सूतवंशो ने ऐतिहासिक अनुश्रुति की रक्षा के लिए बहुत महत्त्वपूर्ण कार्य किया, यह निर्विवाद है।

ऐतिहासिक दृष्टि से पुराणो मे मत्स्य, वायु, ब्रह्माण्ड, विष्णु, भागवत, गरुड और भविष्य-पुराण अधिक महत्त्वपूर्ण है। कलियुग के बाद के वंशो का वृत्तात पुराणो मे भविष्य-वाणी के रूप मे दिया गया है। इसका कारण यह है, कि अत्यन्त प्राचीन काल से चली आ रही अनुश्रुति का सग्रह महाभारत-युद्ध के पश्चात् वेदव्यास ने किया था। अत. व्यास के समय तक के इतिवृत्त का उल्लेख भूतकाल मे किया गया है। बाद में पीछे के वृत्तान्त भी पुराणो मे जुडते गये। महाभारत युद्ध के बाद का इतिवृत्त भी पुराणो का अंग बनता गया। पर अनुश्रुति के अनुसार पुराणो का सग्रहीता (व्यास) तो कृष्ण द्वैपायन मुनि वेदव्यास ही था, अतः पिछले इतिवृत्त का संकलयिता भी उसे ही होना चाहिए था। इसलिए उसी के द्वारा भविष्य की सब घटनाओं का वर्णन भी

'भविष्यवाणी' के रूप में करवाया गया। पर फिर भी कहीं-कहीं उनमें भूतकाल का प्रयोग हो ही गया है। साधारणतया, पुराणों के निर्माण का काल चौथी सदी ई० पू० से आठवीं सदी ई० प० तक समझा जाता है। पर इसका अभिप्राय इतना ही है, कि इस काल में पुराण अपने वर्तमान रूप में आये।

(३) बौद्ध साहित्य

वैदिक व संस्कृत-साहित्य के समान बौद्ध-साहित्य भी बहुत विशाल है। बौद्ध-धर्म के धर्मग्रन्थ त्रिपिटिक कहाते हैं, जिनके नाम सुत्तपिटक, अभिधम्मपिटक और विनयपिटक है। ये ग्रन्थ धर्मपरक हैं, पर इनसे भी बुद्ध के समय के भारत के सम्बन्ध मे बहुत-सी उपयोगी बाते ज्ञात होती हैं। त्रिपिटको पर जो भाष्य व टीकाएँ विविध आचार्यों ने की, उनमे अनेक प्राचीन आख्यानों व इतिवृत्त का भी समावेश है। विशेषतया, आचार्य बुद्धघोष द्वारा विरचित विनयपिटक की टीका इस दृष्टि से बहुत महत्त्वपूर्ण है। बौद्ध-साहित्य के सम्बन्ध मे अधिक विस्तार से हम आगे चलकर लिखेंगे, पर यहाँ उन ग्रन्थो का उल्लेख आवश्यक है, जो इतिहास के लिए विशेष उपयोगी हैं।

ऐतिहासिक दृष्टि से जातक-कथाओं का बहुत उपयोग है। जातकों मे भगवान् बुद्ध के पूर्वजन्मों की काल्पनिक कथाएँ लिखी गई हैं जो अपने समय के समाज का सुन्दर चित्र हमारे सम्मुख उपस्थित करती हैं। इन कथाओं में उस युग के अनेक राजाओ का इतिवृत्त भी कही-कही प्रसगवश दे दिया गया है। बौद्ध-साहित्य मे सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण इतिहास-ग्रन्थ दीपवंश और महावंश हैं। ये दोनो लंका के प्राचीन क्रमबद्ध इतिहास है। परन्तु क्योकि प्राचीन समय मे लंका का भारत के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है, और बुद्ध तथा उनके वे शिष्य व अनुशिष्य, जिन्होंने बौद्ध-धर्म का लका मे प्रचार किया था, भारत के ही निवासी थे, अत: इन ग्रन्थों मे भारतीय इतिहास की बहुत-सी महत्वपूर्ण बातें उल्लिखित हो गई है। विशेषतया, मौर्य-सम्राट् अशोक तथा उसके वंश के सम्बन्ध मे इन ग्रन्थों से बहुत-सी महत्त्वपूर्ण बातें ज्ञात होती हैं। प्राचीन समय मे लंका में अनुरुद्धपुर नाम का एक प्रसिद्ध नगर था। इसमें महाविहार और उत्तर-विहार नामक दो प्रसिद्ध बौद्ध-मठ थे। ये दोनो विहार बौद्ध अध्ययन के बडे केन्द्र थे। पालि-भाषा मे लिखी हुई अनेक बौद्ध-धर्म-विषयक पुस्तकें पहले-पहल इन्ही मे विकसित हुई। यहाँ इनका निरन्तर अनुशीलन होता रहा। सिहली-भाषा में इनपर टीकाएँ भी लिखी गई। इस प्रकार धीरे-धीरे इन विहारो मे बहुत बडा बौद्ध-साहित्य विकसित हो गया। स्वाभाविक रूप से इस साहित्य में अनेक अश इस प्रकार के भी थे, जिनका लका के इतिहास से सम्बन्ध था। चौथी सदी ई० प० में किसी अज्ञातनामा विद्वान् ने इन भागो को एकत्र करके लंका का एक क्रमबद्ध इतिहास तैयार किया। इसी का नाम दीपवश (द्वीपवंश) पड़ा। यह लका का सबसे प्राचीन इतिहास है। इसमें लंका के प्रारम्भिक इतिहास का वर्णन करते हुए अशोक तथा उसके वश का वृत्तान्त भी दे दिया गया है। दीपवंश के प्राय: १॥ सदी बाद महावश की रचना हुई। इसके लेखक का नाम 'महानाम' था। यह दीपवश की अपेक्षा बहुत अधिक बडा व परिष्कृत ग्रन्थ है। इसे वाल्मीकीय रामायण व महाभारत के समान ऐतिहासिक काव्य (ईपिक)

कह सकते है। साहित्य व काव्य की दृष्टि से जहाँ यह अत्यन्त उत्कृष्ट है, वहाँ ऐतिहासिक दृष्टि से भी इसका महत्त्व बहुत अधिक है। इसमे भी लंका के प्राचीन इतिहास को लिखते हुए अशोक तथा उसके वंशजों और भारतीय बौद्ध-आचार्यों के विषय में भी परिचय दिया गया है।

महावंश और दीपवंश के अतिरिक्त बौद्ध-साहित्य में कुछ अन्य ग्रन्थ हैं, जो ऐतिहासिक दृष्टि से बहुत उपयोगी हैं। 'दिव्यावदान' इनमे विशेष रूप से उल्लेखनीय है। यह महान् ग्रन्थ संस्कृत में लिखा गया है, और नेपाल से उपलब्ध हुआ है। इसका पता सबसे पूर्व हाड्ग्सन ने लगाया था। इसके लेखक का नाम अब तक ज्ञात नहीं हो सका। इसे तीसरा सदी ई० प० मे रचित माना जाता है। दिव्यावदान बहुत ही उत्कृष्ट, सरल व सुललित संस्कृत-भाषा में लिखा गया है। साहित्यिक शैली की दृष्टि से यह ग्रन्थ अपूर्व है। इसमे बहुत-सी प्राचीन बौद्ध-कथाएँ सगृहीत है, जिनमे से अनेक का सम्बन्ध भारत के प्राचीन राजाओं के साथ है। विशेषतया, दिव्यावदान के अन्तर्गत अशोकावदान व कुणालावदान मे मौर्य-युग की ऐतिहासिक अनुश्रुति बहुत शुद्ध रूप में सुरक्षित है। 'ललित विस्तार' 'मिलिन्दप्रश्ना' और 'मंजुश्री-मूलकल्प' नामक अन्य ग्रन्थ भी बौद्ध-साहित्य मे इस प्रकार के है, जो भारतीय इतिहास पर अच्छा प्रकाश डालते हैं।

(४) जैन-साहित्य

बौद्ध-साहित्य के समान जैन-साहित्य भी प्राचीन भारतीय इतिहास के अनुशीलन के लिए अत्यन्त उपयोगी सामग्री उपस्थित करता है। इसमे सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ 'परिशिष्ट-पर्व' है, जिसे आचार्य हेमचन्द्र ने लिखा था। प्राचीन इतिहास के सम्बन्ध मे जो भी आख्यान, गाथाएँ व अन्य वृत्तान्त जैन-साहित्य मे विद्यमान थे, प्राय: उन सब को हेमचन्द्र ने परिशिष्ट-पर्व संगृहीत कर दिया है। जिन महावीर के समय के राजाओं व अन्य जैन-सम्राटो के सम्बन्ध में इस ग्रन्थ से बहुत-सी उपयोगी बातें ज्ञात होती है। जैनों के अनुसार मौर्य चन्द्रगुप्त जैन-धर्म का अनुयायी था। अशोक के पौत्र सम्प्रति (चन्द्रगुप्त द्वितीय) के जैन होने के सम्बन्ध मे तो सन्देह की गुँजाइश ही नहीं है। बौद्ध-इतिहास में जो स्थान अशोक का है, वही जैन-इतिहास में सम्राट् सम्प्रति का है। उसने जैन-धर्म का देश-देशान्तर मे प्रचार करने के लिए भारी प्रयत्न किया था। अत: परिशिष्ट-पर्व व अन्य जैन-ग्रन्थों मे सम्प्रति के विषय मे बड़े विस्तार के साथ लिखा गया है, और प्रसंगानुसार उसके पूर्वजों व वशजों का वृत्तान्त भी दे दिया गया है।

जैन-साहित्य का दूसरा महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक ग्रन्थ 'भद्रबाहु-चरित्र' है। इसमें सम्राट् सम्प्रति के गुरु श्रुतकेवलि आचार्य भद्रबाहु का चरित्र वर्णित है। साथ ही, सम्प्रति व अन्य राजाओ के सम्बन्ध में भी अनेक ज्ञातव्य बातें इसमे उल्लिखित कर दी गई है।

परिशिष्ट-पर्व और भद्रबाहु-चरित्र के अतिरिक्त त्रिलोकप्रज्ञप्ति, कथाकोष, लोक-विभाग, पुण्याश्रवकथाकोष, आराधनाकथाकोष, स्थविरावलि, आवश्यकसूत्र, भगवतीसूत्र, कालिकापुराण आदि कितने ही जैनग्रन्थ इस प्रकार के हैं, जिनका अनुशीलन

प्राचीन भारतीय इतिहास के लिए बहुत उपयोगी है। दुर्भाग्यवश, जैन-साहित्य के बहुत-से ग्रन्थ अभी अप्रकाशित हैं, और भारतीय इतिहास के लिए उनका भली-भाँति उपयोग नहीं किया जा सका है।

(५) ऐतिहासिक व समसामयिक ग्रन्थ

भारत का प्राचीन साहित्य केवल धर्मपरक व अनुश्रुतिपरक ही नही है, उसमें कतिपय ऐसे ग्रन्थ भी उपलब्ध हुए हैं, जिन्हें ऐतिहासिक कहा जा सकता है। इनमें कल्हणकृत राजतरंगिणी का स्थान सर्वोच्च है। इस ग्रन्थ में प्राचीन समय से शुरू कर बारहवीं सदी तक का काश्मीर का इतिहास विशद रूप से लिखा गया है। काश्मीर के राजाओं के साथ भारत के जिन अन्य राजाओं से युद्ध हुए, और जो अन्य प्रकार से काश्मीर के सम्पर्क मे आये, उनका वृत्तान्त भी प्रसंगवश राजतरंगिणी में दे दिया गया है। साहित्यिक शैली और अनेक किंवदन्तियों के मिश्रण के कारण राजतरंगिणी को शुद्ध रूप से ऐतिहासिक ग्रन्थ नही माना जा सकता। पर इसमें सन्देह नहीं, कि संसार के प्राचीन ऐतिहासिक साहित्य मे इस ग्रन्थ का स्थान बहुत ऊँचा है। प्राचीन भारत के अन्य ऐतिहासिक ग्रन्थ मजुश्रीमूलकल्प का उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। गुप्तवंश का क्रमबद्ध वर्णन पहले-पहल इसी से जाना जा सका है।

ऐतिहासिक ग्रन्थों के प्रसग मे ही हमे उन ग्रन्थों का भी उल्लेख करना चाहिये, जो किसी विशिष्ट राजा के जीवन-चरित्र के रूप मे लिखे गए थे। ये ग्रन्थ प्रायः काव्य (पद्य व गद्य) के रूप मे है, और इनमे अपने नायक का चरित्र प्रशस्ति के ढंग से लिखा गया है। पर ऐतिहासिक दृष्टि से ये बहुत ही उपयोगी हैं, और इनके अनुशीलन से प्राचीन भारतीय इतिहास के सम्बन्ध मे बहुत-सी महत्त्वपूर्ण बातें ज्ञात होती हैं। महाकवि बाण का 'हर्षचरित' कान्यकुब्ज के सम्राट् हर्षवर्धन का जीवन-चरित्र है, जो न केवल इस सम्राट् का चरित्र-चित्रण करता है, अपितु सातवी सदी के भारत के राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक व धार्मिक जीवन पर भी प्रकाश डालता है। वाक्पतिराज-कृत प्रसिद्ध काव्य गउडबहो मे राजा यशोवर्मन् की दिग्विजय का विस्तृत रूप से वर्णन किया गया है। पद्मगुप्त परिमल द्वारा विरचित नवसाहसाक-चरित मे परमार-वंश का इतिहास उल्लिखित है। महाकवि बिल्हण के विक्रमांकचरित से कल्याणी के चालुक्य-वंश के इतिवृत्त का परिज्ञान होता है। इसी प्रकार सन्ध्याकर नन्दी का रामचरित, हेमचन्द्र का कुमारपाल-चरित, आनन्दभट्ट का वल्लाल-चरित, जयरथ का पृथ्वीराजविजय, राजराज का अच्युतराजाभ्युदय, जयसिंह सूरि का हम्मीरमदमर्दन, मेरुतुग का प्रबन्धचिन्तामणि आदि कितने ही ग्रन्थ ऐसे है, जो किसी वंश-विशेष या राजा-विशेष के इतिहास पर अच्छा प्रकाश डालते हैं। यद्यपि ये सब ग्रन्थ काव्यात्मक हैं, पर इनमें ऐतिहासिक सामग्री की भी कमी नही है, और ये सब इतिहास के अनुशीलन के लिए अत्यन्त उपयोगी है।

इसी प्रसंग मे हमे संस्कृत के उन अनेक नाटकों व काव्यों का भी उल्लेख करना चाहिये, जिनके साहित्यिक महत्त्व से तो सभी पण्डित परिचित हैं, पर जिनका ऐतिहासिक उपयोग भी है। महाकवि भास के प्रतिज्ञायौगन्धरायण, रत्नावली आदि नाटक

बौद्धकाल के ऐतिहासिक कथानकों को लेकर लिखे गए हैं। कालिदास का मालविकाग्निमित्र शुंगवंशी सम्राट् अग्निमित्र की कथा के आधार पर लिखा गया है। कालिदास के रघुवंश मे रघु की दिग्विजय का जो वर्णन है, उस पर सम्राट् चन्द्रगुप्त की दिग्विजय की छाप स्पष्ट रूप से विद्यमान है। विशाखदत्त का मुद्राराक्षस मौर्य-सम्राट् चन्द्रगुप्त द्वारा नन्दों के पराजय के कथानक को लेकर लिखा गया है।

ऐतिहासिक ग्रन्थों के अतिरिक्त अनेक समसामयिक ग्रन्थ ऐसे हैं, जो प्राचीन भारतीय इतिहास के लिए अत्यधिक उपयोगी हैं। इनमें आचार्य चाणक्य द्वारा विरचित कौटलीय अर्थशास्त्र का स्थान सबसे ऊँचा है। चाणक्य चन्द्रगुप्त मौर्य के पुरोहित व प्रधानमन्त्री थे। उनके अर्थशास्त्र मे मौर्यकालीन भारत की शासनपद्धति, आर्थिक दशा, कानून व सामाजिक जीवन का बड़े विशद रूप से वर्णन है। इस ग्रन्थ को चाणक्य ने नरेन्द्र चन्द्रगुप्त के लिए 'शासन की विधि' के रूप मे लिखा था। शुक्रनीतिसार, कामन्दकनीतिसार, नीतिवाक्यामृत आदि अन्य राजनीतिपरक ग्रन्थ भी अपने-अपने समय के राजनीतिक जीवन को समझने के लिए बहुत उपयोगी हैं। विष्णुशर्मा का पचतन्त्र अपने ढंग का एक निराला ग्रन्थ है। यद्यपि उसकी कहानियो के पात्र सिंह, वृषभ, शृगाल आदि पशु है, पर वस्तुतः उसके कथानको का आधार वास्तविक राजनीतिक घटनाएँ हैं। पंचतन्त्र के 'काकोलूकीयम्' प्रकरण मे अमात्य वत्सकार द्वारा वज्जिसंघ की पराजय की कथा को काक और उलूको के सघर्ष के रूपक द्वारा प्रदर्शित किया गया है। यही बात पंचतन्त्र के अन्य कथानकों के सम्बन्ध मे भी कही जा सकती है। पंचतन्त्र मौर्य-युग व उससे कुछ समय पहले के राजनीतिक व सामाजिक जीवन को समझने के लिए अत्यन्त उपयोगी है।

प्राचीन भारत के अन्य ग्रन्थ भी इतिहास के लिए उपयोग रखते है। पाणिनि की अष्टाध्यायी, पतंजलि का महाभाष्य, यास्काचार्य का निरुक्त, गार्ग्यसहिता आदि बहुत-से ग्रन्थो मे स्थान-स्थान पर ऐसे निर्देश आ गए है, जिनका प्राचीन भारतीय इतिहास के लिए उपयोग किया जा सकता है।

(६) विदेशी यात्रियों के यात्रा-विवरण

प्राचीन भारतीय इतिहास की बहुत-सी महत्त्वपूर्ण सामग्री विदेशी यात्रियों के लेखो व यात्रा-विवरणो द्वारा भी उपलब्ध होती है। भारत का पहला पाश्चात्य विवरण कारिआण्डा के स्काइलैक्स द्वारा लिखा गया है। स्काइलैक्स ने सम्राट् डेरिअस की आज्ञा से सिन्ध नदी तक समुद्र-मार्ग द्वारा यात्रा की थी। अपने साम्राज्य-विस्तार के प्रयत्न मे डेरिअस भारत को भी अपनी अधीनता मे लाना चाहता था। इसीलिए उसने स्काइलैक्स को भारत-यात्रा का आदेश दिया था। स्काइलैक्स के अतिरिक्त, मिलेटस के हिकेरियस ने अपने 'भूगोल' में, और प्रसिद्ध ग्रीक-ऐतिहासिक हीरोडोटस ने अपने 'इतिहास' मे भारत का भी जिक्र किया है। ४०० ई० पू० के लगभग क्टेसियस ने, जो कि ईरानी सम्राट् का राजवैद्य था, भारत पर एक पुस्तक लिखी थी। इस पुस्तक के जो अंश इस समय उपलब्ध हैं, वे बडे मनोरजक और उपयोगी हैं। विशेषतया, भारतीय चिकित्सापद्धति पर उनसे अच्छा प्रकाश पड़ता है। चौथी सदी ई० पू०

में मैसिडोनिया के राजा सिकन्दर ने ग्रीस, ईरान आदि देशों को जीतने के बाद भारत पर भी आक्रमण किया था। सिकन्दर के साथ अनेक विद्वान् और लेखक भी भारत आये थे। इनमे से बहुतो ने अपने स्वामी की विजयों का वृत्तान्त लिखा है, और साथ ही उन प्रदेशों के रीति-रिवाजों, परम्पराओं और संस्थाओं का भी वर्णन किया है, जिन्हें सिकन्दर ने जीतकर अपने अधीन किया था। इन लेखकों मे अरिस्टोबुलस, निआर्कस, चारस, युमेनीस, ओनिसिक्रिटस और टाल्मी के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। ये सब सिकन्दर के साथ भारत आये थे, और इन्होंने अपनी आँखों से जो कुछ देखा या स्वय जो कुछ सुना, उसी को लेखबद्ध कर दिया था। इनके अतिरिक्त एक अन्य ग्रीक लेखक भी है, जो यद्यपि सिकन्दर के साथ भारत नहीं आया था, तथापि जिसने भारत के संबंध मे बहुत कुछ लिखा है। इसका नाम है, क्लिटार्कस। यह सिकन्दर का समकालीन था, और इसने सिकन्दर की विजय-यात्रा का वर्णन विशद रूप से लिखा था।

ग्रीक यात्री— सिकन्दर और सैल्यूकस के आक्रमणों के बाद भारत का पाश्चात्य जगत् से और विशेषतया यूनानी राज्यो से घनिष्ठ संबंध हो गया। इन राज्यों में भारत के राजदूत रहने लगे, और भारत मे सीरिया, मिस्र आदि पाश्चात्य राज्यो के राजदूत निवास करने लगे। सीरियन सम्राट् सैल्यूकस ने मौर्य-सम्राट् चन्द्रगुप्त के दरबार मे मैगस्थनीज को राजदूत बनाकर भेजा था। वह अनेक वर्षों तक मौर्य-साम्राज्य की राजधानी पाटलिपुत्र मे रहा, और भारत मे रहकर उसने यहाँ के भूगोल, इतिहास, रीति-रिवाज, शासन-प्रबन्ध, सैन्य-सचालन आदि का भली-भाँति अनुशीलन किया। इन सबको वह लेखबद्ध करता गया। सैल्यूकस के उत्तराधिकारी एण्टियोकस सार्टर ने मौर्य-वश के द्वितीय सम्राट् बिन्दुमार अमित्रघात के दरबार में डायमेचस को राजदूत बनाकर भेजा था। वह भी अनेक वर्षों तक पाटलिपुत्र मे रहा था। डायमेचस ने भी भारत पर एक पुस्तक लिखी थी। बिन्दुसार के समय मे ही मिस्र के राजा टाल्मी फिलेडेल्फस ने डायोनीसियस को अपना राजदूत बनाकर भारत भेजा था। इसी काल में पैट्रोक्लीज नाम के एक अन्य यूनानी लेखक ने भारत के संबध मे लिखा है। पैट्रोक्लीज सैल्यूकस और उसके बाद एण्टियोकस की ओर से सिन्ध और कैस्पियन सागर के मध्यवर्ती प्रदेशो पर शासन करने के लिए नियुक्त किया गया था। मौर्य-युग के अन्त मे पोलिनिअस नामक एक अन्य ग्रन्थकार हुआ, जिसने अपने 'इतिहास' में सैल्यूकस के वंशज राजाओ के समय की भारतीय दशा पर अच्छा प्रकाश डाला था।

इन ग्रीक लेखकों के विवरण अविकल रूप से वर्तमान समय में उपलब्ध नही होते, पर बाद के ग्रीक लेखकों ने, जिनके समय में इनके ग्रंथ विद्यमान थे, इनका अनेक स्थलो पर उपयोग किया है। इन्ही की कृपा से हमे नियार्कस, मैगस्थनीज, डायमेचस आदि के भारतीय विवरणो का थोडा-बहुत परिचय मिल जाता है। बाद के जिन ग्रीक लेखकों ने पुराने विद्वानों द्वारा लिखित विवरणो के आधार पर या स्वयं प्रत्यक्ष ज्ञान द्वारा अपने ग्रन्थो मे भारत के संबंध में लिखा है, और जिनकी पुस्तकें व लेख इस समय भी उपलब्ध है, उनमें से निम्नलिखित का उल्लेख आवश्यक है—(१) 'पेरिप्लास आफ अरिथ्रीयन सी' का अज्ञात लेखक। पेरिप्लास एक अद्भुत ग्रन्थ है। इससे हमें

भारत के प्राचीन भूगोल, व्यापार आदि के सम्बन्ध में अच्छा परिचय मिलता है। संभवतः, इसके लेखक ने भारत के पश्चिमी समुद्र तट की यात्रा की थी। स्वयं भारत का अवलोकन कर तथा रोम, कोन्स्टेण्टिनोपल और अलेग्जण्ड्रिया आदि में विद्यमान भारतीयों के संसर्ग से इस अज्ञात लेखक ने भारत के सम्बन्ध में बहुत-सी उपयोगी बातें उल्लिखित की हैं। (२) प्लिनी—यह प्रसिद्ध भूगोलवेत्ता था। इसके 'भूगोल' से भारत के मिस्र तथा अन्य पाश्चात्य देशों के साथ व्यापारिक सम्बन्धों का अच्छा परिचय मिलता है। (३) टाल्मी—इसने भारत के भूगोल के संबध मे बहुत-कुछ लिखा है। इसका बनाया हुआ भारत का नक्शा अब तक भी उपलब्ध है। (४) प्रोफिरी और स्टोवियस—इन दो लेखकों ने ब्राह्मण-संन्यासियो और बौद्ध-भिक्षुओं के संबंध में अनेक ज्ञातव्य बातें लिखी हैं। (५) स्ट्रेबो—यह अत्यन्त प्रसिद्ध ग्रन्थकार हुआ है। प्राचीन लेखकों में इसका भूगोल-संबंधी ज्ञान और ऐतिहासिक आलोचना की शक्ति सचमुच आश्चर्यप्रद है। इसके ग्रन्थो से प्राचीन भारत के संबंध मे बहुत-सी ज्ञातव्य बातें ज्ञात होती हैं।

इनके अतिरिक्त एरियन, कर्टियस, जस्टिन, प्लूटार्क आदि अनेक विद्वानों के ग्रथ मिलते हैं, जिनमे मेगस्थनीज आदि पुराने ग्रीक लेखकों के उद्धरण जहाँ-तहाँ दिए गये हैं।

चीनी वृत्तान्त—बौद्ध-धर्म के विस्तार के कारण भारत और चीन का सबध बहुत दृढ हो गया था। तिब्बती-साहित्य के अनुसार सम्राट् अशोक के पुत्र कुस्तन द्वारा सबसे पहले चीनवासियों को बौद्ध-धर्म का परिचय प्राप्त हुआ था। चीनी-साहित्य के अनुसार भी २१७ ई० पू० में अनेक भारतीय प्रचारक चीन में बौद्ध-धर्म का प्रचार करने के लिए गए थे। परन्तु वस्तुतः चीन में बौद्ध-धर्म का स्थिर रूप से प्रचार ६१ ई० पू० मे प्रारंभ हुआ। इस समय चीन मे सम्राट् मिग-टी का शासन था। एक दिन स्वप्न मे उसने भगवान् बुद्ध की मूर्ति का अवलोकन किया। इस नवीन देवता तथा उसके धर्म के सबंध में ज्ञान प्राप्त करने के लिए उसने अनेक राजदूत भारतवर्ष की ओर भेजे। इन्होने भारत में आकर बौद्ध-धर्म की पुस्तकों का अवलोकन किया। लौटते हुए ये मध्यदेश मे रहने वाले काश्यप मतंग नामक आचार्य को अन्य अनेक बौद्ध-भिक्षुओ के साथ चीन ले गए। आचार्य काश्यप मतंग ने चीन मे बौद्ध-धर्म का प्रचार करना प्रारम्भ किया। अनेक बौद्ध-पुस्तकों का चीनी भाषा मे अनुवाद कर चीन की जनता को काश्यप मतग ने बौद्ध धर्म मे दीक्षित किया। इस समय से चीन में बौद्ध-धर्म का विस्तार शुरू हो गया। भारत से निरन्तर प्रचारक वहाँ जाते रहे, और शीघ्र ही चीन में बौद्ध-विहारो, स्तूपो और संघारामों का निर्माण होने लगा। सैकड़ों की संख्या मे भारतीय पुस्तकों का अनुवाद हुआ। पाँचवी सदी ईस्वी में आचार्य कुमारजीव ने बहुत-सी बौद्ध-पुस्तकों का अनुवाद चीनी-भाषा मे कराया। यह अनुवाद की प्रक्रिया बहुत समय तक जारी रही। इसका यह परिणाम हुआ कि आज चीन मे हजारों की संख्या मे इस प्रकार की धर्म-पुस्तकें उपलब्ध होती है, जो संस्कृत-ग्रन्थों के अनुवाद हैं। इनके सिवाय सैकड़ो अनुवाद नष्ट भी हो चुके हैं। भारत में जो ग्रन्थ नही मिलते, उनके अनुवाद चीन मे मिलते हैं। इन ग्रन्थों मे प्राचीन भारतीय इतिहास के संबंध में भी बहुत-सी बातें उल्लिखित हैं। मौर्य सम्राट् अशोक का बौद्ध-धर्म के साथ विशेष संबध था। अतः बौद्ध-साहित्य मे स्थान-स्थान पर उसका वर्णन किया गया। उसके

साथ ही मौर्य-वंश के अन्य सम्राटों से संबंध में भी अनेक ज्ञातव्य बातें उपलब्ध होती हैं। एक चीनी ग्रन्थ फा-युएन-चु-लिन के अनुसार बुद्ध अपने शिष्य आनन्द से कहता है—"तुम्हें जानना चाहिए, कि 'पालिनपुत' (पाटलिपुत्र) नगर मे चन्द्रगुप्त नाम का एक राजा होगा। उसके बिन्दुपाल नाम का एक पुत्र उत्पन्न होगा। इस बिन्दुपाल के सुसीम नाम का पुत्र होगा।" इसके आगे सम्राट् अशोक का सम्पूर्ण विवरण उल्लिखित है। हम जानते हैं, कि सुसीम अशोक का बडा भाई था, और बौद्ध-साहित्य के अनुसार अशोक ने सुसीम को मारकर स्वयं राज्य प्राप्त किया था। मौर्य-इतिहास के संबंध में चीनी साहित्य में अन्यत्र भी इसी तरह अनेक ज्ञातव्य बातें मिलती है। निस्संदेह, मौर्य-इतिहास को तैयार करने में इनका बहुत अधिक उपयोग किया जा सकता है। प्राचीन काल मे भारत और चीन का संबंध इतना अधिक था, कि छठी सदी के प्रारम्भ मे तीन हजार से भी अधिक भारतीय चीन मे विद्यमान थे। ये भारतीय प्रचारक बहुत-सा भारतीय ज्ञान भी अपने साथ चीन ले गए थे। जहाँ धर्म, विज्ञान आदि के सबंध में इन लोगो ने चीन मे भारतीय पुस्तकों का प्रवेश किया, वहाँ भारतीय इतिहास को भी इन्होने भुला नही दिया। चीन ने अपने गुरु भारत के इतिहास को बडे ध्यान से पढा। यही कारण है, कि प्राचीन चीनी-साहित्य से हम भारतीय इतिहास के संबंध मे बहुत-सी बातों का पता लगा सकते हैं।

भारत और चीन का धर्म-संबंध स्थापित होने पर केवल भारतीय लोग ही चीन मे नही गये, अपितु अनेक चीनी यात्री भी भारत मे आये। इन चीनी यात्रियों के भारत आने के अनेक प्रयोजन थे। भगवान् बुद्ध का जन्म भारत में हुआ था। उन्होंने अपनी जीवन-लीला भारत मे ही समाप्त की थी। जिन स्थानो से बुद्ध का विशेष संबंध था, पीछे से वे बौद्धो के पवित्र तीर्थ बन गये। इसका परिणाम यह हुआ कि चीन, जापान, कोरिया, खोतन आदि से बहुत-से यात्री बौद्ध धार्मिक तीर्थों का दर्शन करने के लिए भारत आने लगे। भारत सम्पूर्ण बौद्ध-जगत् की पुण्य-भूमि व धर्म-क्षेत्र बन गया। साथ ही अनेक विदेशी राजाओ ने बुद्ध भगवान् के 'शरीरो' (शरीर के अवशेषो) की प्राप्ति के लिए अपने दूतमडल भारत मे भेजे। बुद्ध के 'शरीरों' की उपासना व उनपर स्तूपनिर्माण की प्रथा बौद्धो मे प्रारम्भ हो चुकी थी। ये 'शरीर' केवल भारत से ही प्राप्त किये जा सकते थे। अतः इन्हे लेने के लिए अनेक विदेशी यात्री भारत आये। दूसरा प्रयोजन बौद्ध पुस्तको की जिज्ञासा थी। असली बौद्ध पुस्तके भारत से ही प्राप्त की जा सकती थीं। इन्हें प्राप्त करने व इनका अभिप्राय समझाने के लिए आचार्यों और विद्वानों को निमत्रित करने के प्रयोजन से अनेक विदेशी और विशेषत: चीनी यात्री भारत मे समय-समय पर आते रहे। प्राचीन तथा मध्यकाल मे भारत मे नालन्दा और विक्रमशिला नाम के दो विश्वविद्यालय बौद्ध-अध्ययन के बड़े केन्द्र थे। बौद्ध-धर्म के संबध मे उच्च-से-उच्च शिक्षा की वहाँ व्यवस्था थी। सम्पूर्ण बौद्ध-जगत् में इनकी कीर्ति फैली हुई थी। जिन्हे बौद्ध-धर्म तथा बौद्ध-साहित्य का उच्चतम अनुशीलन करना होता था, वे इन विश्वविद्यालयों मे आते थे। इनमे अध्ययन करने के लिए बहुत-से विदेशी विद्यार्थी भारत आये। इन प्रयोजनों से चीन से भी बहुत-से यात्री और विद्यार्थी भारत आते रहे। इनमें से बहुतों ने अपने यात्रा-विवरण चीनी-

भाषा मे लिए हैं। ये यात्रा-विवरण भारतीय इतिहास के लिए बहुत अधिक उपयोगी हैं। इनसे तत्कालीन भारत का जीता-जागता चित्र आँखों के सम्मुख आ जाता है।

सम्राट् अशोक ने भारत मे बहुत-से विहारों, स्तूपों और संघारामों का निर्माण कराया था। ये इमारतें इस समय उपलब्ध नही होती। परन्तु इन चीनी यात्रियो के भारत में आने के समय इनमे से बहुत-सी विद्यमान थीं। ऐसी अनेक इमारतों का वर्णन चीनी यात्रियों ने किया है। बौद्ध-धर्म और अशोक का बहुत घनिष्ठ सम्बन्ध होने के कारण अशोक के इतिहास, उसके जीवन-वृत्तान्त तथा कार्यों के संबंध में बहुत-सी ज्ञातव्य बातें इन यात्रियो ने अपने विवरणों में लिखी हैं। भारत में भ्रमण करते हुए इन यात्रियों ने अशोक की कीर्ति के जीते-जागते चिह्नो को देखा था, और उसके इतिहास के विषय मे बहुत-सी बातो को सुना था। इन्हे वे अपने विवरणों मे लिखते गये। उसके पूर्व के इतिहास, वश आदि के सबध में भी जो कुछ उन्हे मालूम हुआ, उन्होने लेखबद्ध कर लिया। इस दृष्टि से प्राचीन इतिहास को तैयार करने मे चीनी यात्रियों के ये विवरण बहुत सहायक है।

हम यहाँ पर सब चीनी यात्रियो का वर्णन नही कर सकते। केवल उन्ही का संक्षेप से उल्लेख करना उपयोगी है, जिनके विवरण प्राचीन भारतीय इतिहास के लिए विशेष उपयोगी हैं—

(१) फ़ाहियान—यह शान-सी नामक प्रदेश मे यु-बू-यांग नामक स्थान पर उत्पन्न हुआ था। छोटी-आयु मे ही इसे बौद्ध-धर्म की दीक्षा देकर श्रमण बना लिया गया, और उस समय की प्रथा के अनुसार यह 'शाक्यपुत्र फ़ाहियान' कहलाया। चीन मे अप्राप्य बौद्ध-पुस्तको को प्राप्त करने की इच्छा से यह ३६६ ई० प० में भारत के लिए चल पडा। १४ वर्ष तक इसने भारत की यात्रा की। इसके यात्रा-विवरण तत्कालीन भारत मे बौद्ध-धर्म की अवस्था को समझने के लिए बहुत उपयोगी है।

(२) सुँग-युन—यह तुग-ह्वा नामक स्थान का रहनेवाला था। इसे ५१८ ई० प० मे उत्तरी वाई-वश की साम्राज्ञी ने महायान-सम्प्रदाय की पुस्तको की खोज के लिए भेजा था। यह भारत से लौटते समय १७० पुस्तके अपने साथ लेता गया। सुँग-युन ५२१ ई० प० मे अपने देश चीन को वापस गया।

(३) ह्यू न-त्साग—चीनी यात्रियो मे ह्यू न-त्साग सबसे प्रसिद्ध है। यह होनान नामक प्रदेश मे चिनल्लिऊ नाम के स्थान पर ६०३ ई० प० मे उत्पन्न हुआ था। १३ साल की आयु मे यह भिक्षु बना। २६ साल की आयु मे ह्यू न-त्साग ने भारत-यात्रा के लिए प्रस्थान किया। उसका उद्देश्य बौद्ध-धर्म का अनुशीलन तथा प्रामाणिक बौद्ध पुस्तकों को एकत्र करना था। चीन की उत्तर-पश्चिमी सीमा को पार कर आक्सस और जेक्सर्टस नदियो की घाटियो का अवलोकन करता हुआ यात्री ह्यू न-त्सांग हिन्दूकुश पर्वत को पार करके भारतवर्ष मे प्रविष्ट हुआ। पश्चिमी भारत का पर्यटन करके वह सम्राट् हर्षवर्धन के राजदरबार मे उपस्थित हुआ। इस प्रसिद्ध चीनी यात्री के यात्रा-वृत्तान्त को उल्लिखित करने की यहाँ कोई आवश्यकता नही। वापसी में पामीर, काशगर और खोतान होता हुआ वह चीन लौट गया। ह्यू न-त्सांग ने ६२९ ई० मे भारत के लिए प्रस्थान किया था, और १६ साल यात्रा में व्यतीत कर ६४५ ई० में

में वह अपने देश को लौटा। वापस जाते हुए वह ६५७ पुस्तकें अपने साथ चीन ले गया था।

प्राचीन भारतीय इतिहास का अध्ययन करने के लिए ह्यू्न-त्सांग का यात्रा-विवरण बड़े महत्त्व का ग्रन्थ है। यह विवरण बड़े विस्तार के साथ लिखा गया है। बौद्ध-इतिहास के सम्बन्ध में बहुत-सी उपयोगी बातें इससे ज्ञात होती हैं। अशोक के विषय में ह्यू्न-त्साग ने बहुत विस्तार के साथ लिखा है। उसकी कृतियो का वर्णन भी उसने बहुत विस्तृत रूप से किया है।

(४) इत्सिग—यह चीनी यात्री सातवी सदी (लगभग ६७३-६५ ई० प०) के अन्त मे भारत आया था। नालन्दा और विक्रमशिला मे यह चिरकाल तक रहा, और इसके यात्रा-विवरण से इन विश्वविद्यालयो के सम्बन्ध में बहुत-सी महत्त्वपूर्ण बाते ज्ञात होती हैं।

इन चार यात्रियों के अतिरिक्त अन्य भी अनेक चीनी यात्री प्राचीन समय मे भारत आये। इनमे से कतिपय के यात्रा-विवरण भी इस समय उपलब्ध होते हैं। प्राचीन भारतीय इतिहास के अनुशीलन के लिए ये सब बहुत उपयोगी है।

अन्य यात्री—मध्यकाल के प्रारम्भ होने पर जब तुर्क लोगो ने भारत पर आक्रमण शुरू किये, तब उनके साथ भी अनेक विद्वान् भारत आये, और उन्होंने अपने यात्रा-विवरणो मे इस देश के सम्बन्ध मे अनेक महत्त्वपूर्ण बातें उल्लिखित की। इनमें सबसे प्रसिद्ध अलबेरूनी है, जो तुर्क आक्रान्ता महमूद गजनवी के साथ भारत आया था। उसका यात्रा-विवरण बहुत विद्वत्तापूर्ण है, और उससे दसवी-ग्यारहवी सदियो के भारत की सामाजिक, आर्थिक व धार्मिक दशा पर बहुत प्रकाश पडता है।

(७) पुरातत्त्व-सम्बन्धी अवशेष

पिछले दिनो मे भारत में जो पुरातत्त्व-सम्बन्धी खोज हुई है, उससे प्राचीन काल के बहुत-से ऐसे अवशेष मिले है, जो ऐतिहासिक दृष्टि से अत्यन्त उपयोगी है। इन अवशेषो को चार भागो में बाँटा जा सकता है— (१) खुदाई द्वारा प्राप्त सामग्री, (२) उत्कीर्ण लेख, (३) सिक्के, और (४) कृतियाँ व स्मारक।

खुदाई मे प्राप्त हुए सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण वे अवशेष हैं, जिनसे हमे भारत की प्राग्-ऐतिहासिक सभ्यता के सम्बन्ध मे परिचय मिलता है। मानव-सभ्यता का विकास पुरातन प्रस्तर-युग से हुआ, और फिर धीरे-धीरे मनुष्य नूतन प्रस्तर-युग की सभ्यता को विकसित करने मे समर्थ हुआ। इन दोनो प्रस्तर-युगो के बहुत-से औजारो, बरतनो आदि के अवशेष खुदाई द्वारा मिले है। बाद मे यहाँ जिस सिन्धु-सभ्यता का विकास हुआ, उसका परिचय भी सिन्धु नदी की घाटी में विद्यमान मोहनजोदडो और हडप्पा के भग्नावशेषो से ही मिला है। खुदाई के अभाव मे इन सभ्यताओं के सम्बन्ध में हमे कुछ भी ज्ञान न हो सकता। भारत के साहित्य आदि मे इन सभ्यताओ का कही भी उल्लेख नही है। सम्भवत:, ये सभ्यताएँ आर्यों के इतिहास के रंगमंच पर प्रगट होने से पहले समय की है, और इसी कारण उनके साहित्य मे इनका कही विवरण नही है। आर्यों के युग की भी बहुत-सी बातें हमें खुदाई द्वारा ज्ञात हुई हैं। हस्तिनापुर, अहिच्छत्र,

कौशाम्बी, पाटलिपुत्र, तक्षशिला आदि के भग्नावशेषों की खुदाई से इनके राजाओं व सामाजिक जीवन का भली-भाँति परिचय प्राप्त हुआ है।

भारत के प्राचीन उत्कीर्ण लेख अनेक प्रकार के हैं। जिन स्थलों पर ये उत्कीर्ण हुए हैं, उन्हें दृष्टि में रखकर इन्हें चार भागों मे बाँटा जा सकता है—गुहा-लेख, शिला-लेख, स्तम्भ-लेख और ताम्रपत्र। प्राचीन भारत के कतिपय लेख गुहाओं में उत्कीर्ण हैं, कुछ छोटे-बड़े शिलाखण्डों पर, कुछ प्रस्तर व धातु के बने स्तम्भों पर और कुछ ताम्रपत्रों पर। लेखों के विषय की दृष्टि से यदि इन उत्कीर्ण लेखों को विभक्त किया जाय, तो उनमें से कुछ राज-शासन, कुछ प्रशस्ति, कुछ दान-पत्र, कुछ समर्पण-पत्र और कुछ स्मारक-रूप हैं। इस प्रकार के सब लेखों की संख्या हजारों मे है, और इनसे प्राचीन भारतीय इतिहास के पुनः निर्माण में बहुत अधिक सहायता मिली है। गुप्तवंश के चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य, समुद्रगुप्त, स्कन्दगुप्त आदि परम प्रतापी सम्राटों का जो पहले-पहल परिचय ऐतिहासिकों को मिला, उसका आधार इन सम्राटो के उत्कीर्ण लेख ही थे। 'देवानां प्रियः प्रियदर्शी' नाम के जिस राजा के बहुत-से शिलालेख भारत के विविध प्रदेशों मे प्राप्त हुए है, उसका प्राचीन संस्कृत-साहित्य मे कही भी उल्लेख नही था। यह प्रियदर्शी राजा बौद्ध-साहित्य का अशोक ही है, इसका परिज्ञान भी एक शिला-लेख द्वारा ही हुआ है। चालुक्य, राष्ट्रकूट आदि कितने ही राजवंशों के प्रतापी राजाओं के सम्बन्ध में हमें जो कुछ ज्ञात है, उसका मुख्य आधार इन राजाओ के शिलालेख व ताम्रपत्र ही हैं। पुरातत्त्व की खोज द्वारा भारत में उत्कीर्ण लेख जिस भारी संख्या में मिले हैं, उसने प्राचीन भारतीय इतिहास को प्रकाश मे लाने के लिए बहुत महत्त्वपूर्ण कार्य किया है। अधिकतर उत्कीर्ण लेख ब्राह्मी और खरोष्ट्री लिपियो मे पाये गए है। इन प्राचीन लिपियों को पढने में पुरातत्त्व-शास्त्र के विद्वानों ने जो सफलता प्राप्त की है, वह निःसन्देह प्रशंसनीय है। सिन्धु-सभ्यता के भग्नावशेषों मे जो अनेक लेख मिले हैं, वे अभी तक पढ़े नहीं जा सके हैं। जब वे भी पढ़ लिए जावेंगे, तो भारत का प्राचीनतम इतिहास और भी अधिक प्रकाश में आ जायेगा।

प्राचीन भारत के जो सिक्के इस समय मिले हैं, वे अनेक प्रकार के हैं। उनकी बड़ी संख्या सोने, चाँदी, ताँबे व मिश्रित धातुओं से बनी है। इनमें से बहुतों पर उन्हें प्रचलित करने वाले राजाओं या गणराज्यों के लेख भी उत्कीर्ण हैं। कतिपय सिक्कों पर तिथि भी दी गई है। इससे प्राचीन राजवंशों के तिथिक्रम को निश्चित करने मे बहुत सहायता मिली है। भारत मे यवन, शक, पार्थव आदि जिन विदेशी राजवंशो ने राज्य किया, उनके विषय में तो इन सिक्को द्वारा ही परिचय मिला है। पुराणों में व अन्य साहित्य में इन यवन व म्लेच्छ राजाओं का कही-कही उल्लेख तो हुआ है, पर ये विदेशी राजा कौन थे, इसका कोई विवरण इन ग्रन्थों से नहीं मिलता। बौद्ध-धर्म में दीक्षित हुए यवन राजा मिलिन्द (मिनान्दर) और कुशाण राजा कनिष्क के अतिरिक्त अन्य किसी विदेशी राजा का स्पष्ट विवरण बौद्ध साहित्य में भी उपलब्ध नहीं होता। पर इन यवन व म्लेच्छ राजाओं के सिक्के भारत में बड़ी संख्या में मिले हैं, और इनके आधार पर भारत में इनके शासन का व इनमें से बहुतों के भारतीय धर्म व संस्कृति को अपना लेने का परिचय सिक्कों द्वारा ही मिला है। गुप्तवंश के सम्राटों के सिक्के न

केवल उनके शासन पर प्रकाश डालते हैं, अपितु साथ ही उनके वैयक्तिक गुणों व उनकी धर्मसम्बन्धी प्रवृत्तियों का भी परिचय देते हैं।

उत्कीर्ण लेखों और मुद्राओं के समान प्राचीन भारत की कृतियों व स्मारकों से भी प्राचीन इतिहास का बहुत परिज्ञान होता है। प्राचीन भारत की बहुत-सी मूर्तियाँ व इमारतें पुरातत्त्व-सम्बन्धी खोज द्वारा उपलब्ध हुई हैं। इन इमारतों में राज-प्रासाद, मठ, चैत्य, विहार, स्तूप, मन्दिर, समाधि व सर्वसाधारण जनता के निवास के भवन अन्तर्गत हैं। तक्षशिला, नालन्दा, पाटलिपुत्र आदि प्राचीन नगरों की खुदाई से इस प्रकार के कितने ही अवशेष इस समय मिले हैं, जो न केवल प्राचीन काल की भवन-निर्माण कला व स्थापत्यकला पर प्रकाश डालते हैं, अपितु उस युग के इतिहास का पुनः निर्माण करने में भी बहुत सहायक हैं।

भारत की सभ्यता और संस्कृति का प्रसार भारत के बाहर भी हुआ था, और प्राचीन समय मे एक बृहत्तर भारत की सत्ता थी, इस तथ्य का परिचय जावा, सुमात्रा, सियाम आदि देशों की पुरातत्त्व-सम्बन्धी खोज द्वारा ही मुख्यतया हुआ है। इसमें सन्देह नहीं कि पुरातत्त्व-सम्बन्धी यह खोज बहुत ही महत्त्व की है। ज्यों-ज्यों भारत और बृहत्तर भारत के विशाल क्षेत्र में यह खोज आगे बढ़ती जायेगी, भारत का प्राचीन इतिहास भी और अधिक स्पष्ट होता जायेगा।

तीसरा अध्याय

सभ्यता का आदिकाल और सिन्धु सभ्यता

(१) पुरातन प्रस्तर-युग

आधुनिक विद्वानो का यह मत है पृथिवी पर जीव-जन्तुओ का विकास धीरे-धीरे हुआ, और वानर जाति के एक प्राणी से विकसित होते-होते मनुष्य की उत्पत्ति हुई। मनुष्य को पृथिवी पर प्रकट हुए अभी कुछ लाख साल से अधिक समय नही हुआ है।

पुरातन प्रस्तर-युग—शुरू मे जब मनुष्य पृथिवी पर प्रकट हुआ, तो उसमें और अन्य चौपायों मे बहुत कम भेद था। अन्य पशुओ के समान वह भी अपनी आवश्यकताओ को पूर्ण करने के लिए आर्थिक उत्पत्ति नही करता था, अपितु प्रकृति द्वारा प्रदान की गई वस्तुओ पर ही निर्भर रहता था। पर अन्य पशुओं की अपेक्षा मनुष्य का दिमाग अधिक बड़ा था। उसके पास बुद्धि नामक एक ऐसी वस्तु थी, जो अन्य जन्तुओ के पास नही थी। इसका परिणाम यह हुआ कि मनुष्य शिकार करते हुए केवल अपने हाथो और पैरो पर ही निर्भर नही रहता था, अपितु अनेक प्रकार के औजार बनाकर उनका भी उपयोग किया करता था।

पुरातन प्रस्तर-युग का मनुष्य पत्थर, हड्डी और लकडी के मोटे व भद्दे औजार बनाता था। पत्थर का टुकडा काटकर उसे आगे से पतला व नुकीला करके उसे वह शिकार करने, मास काटने व इसी तरह के अन्य कामों के लिए प्रयोग मे लाता था। मकान बनाना वह नही जानता था। वह गुफाओं मे रहता था, और वही आग में मास आदि भोजन को भूनकर खाता था। पत्थर को रगडकर आग उत्पन्न करने की कला मनुष्य ने बहुत शुरू में ही जान ली थी। बरतन बनाने का शिल्प अभी उसे ज्ञात नही था। वह प्राय: नदियो व जलाशयों के समीप निवास करता था वह किसी निश्चित स्थान पर बसकर नही रहता था। शिकार की खोज मे वह एक स्थान से दूसरे स्थान पर दूर-दूर तक चला जाता था। कला का भी उसे कुछ-कुछ ज्ञान था। गुफा की दीवारो पर कोयले व रगीन मिट्टी से अनेक प्रकार के चित्र बनाकर अपने मनोभावों को प्रकट करने का भी वह प्रयत्न करता था। नृतत्त्व-शास्त्र (एन्थ्रोपोलोजी) के अनुसार पुरातन प्रस्तर-युग अब से लगभग छ लाख साल पूर्व शुरू होकर अब से प्राय: दस हजार साल पहले तक जारी रहा। इतने लम्बे समय में मनुष्य ने सभ्यता के क्षेत्र में बहुत कम उन्नति की। उसके पत्थर, हड्डी व लकडी के औजारो मे कुछ-न-कुछ उन्नति अवश्य होती गई, पर उसकी आजीविका का साधन शिकार व जगल मे उत्पन्न होनेवाले कन्द, मूल, फल व अन्न का भोजन ही बना रहा। कृषि व पशुपालन द्वारा अपनी आवश्यकताओ को स्वय पूर्ण करने का प्रयत्न इस सुदीर्घ काल मे मनुष्य ने नही किया।

प्रस्तर-युग के अवशेषों के क्षेत्र—भारत के जिन प्रदेशो से पुरातन प्रस्तर-युग के अवशेष उपलब्ध हुए है, वे निम्नलिखित है:–(१) रावलपिंडी जिले का पोठवार-प्रदेश।

(२) काश्मीर मे पुंन्छ का क्षेत्र। (३) उत्तर-पश्चिमी पजाब मे स्थित ख्यूडा की नमक की पहाडियो का प्रदेश। (४) नर्मदा नदी की घाटी। (५) दक्खन का करनूल जिला। (६) गुजरात मे साबरमती नदी की घाटी। (७) मद्रास प्रान्त का समुद्रतटवर्ती प्रदेश। (८) बम्बई के समीप खण्डिव्ली का प्रदेश। (९) उडीसा की मयूरभज रियासत मे कुलियाना का क्षेत्र। (१०) माइसूर रियासत में बेल्लारी का प्रदेश।

भारत मे प्राप्त पुरातन प्रस्तर-युग के अवशेषो मे पोठवार-क्षेत्र के अवशेष सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण हैं। सिन्ध नदी की एक सहायक नदी है, जिसे सोआँ कहते है। यह रावलपिण्डी जिले के पोठवार-प्रदेश से होकर बहती है। इसकी घाटी से आदि-मानव द्वारा प्रयुक्त होने वाले औजार बडी सख्या मे मिले हैं। इसी कारण इन अवशेषो से सूचित होनेवाली सभ्यता को सोआँ-सभ्यता भी कहते हैं।

पुरातन प्रस्तर-युग का जीवन—पुरातन प्रस्तर-युग का मनुष्य शिकार द्वारा अपनी भोजन-सामग्री प्राप्त करता था। पर जगल में रहनेवाले जीव-जन्तुओ का शिकार करने के अतिरिक्त वह मछली पकडना भी जानता था, और इसके लिए उसने अनेक प्रकार के उपकरणो का भी निर्माण किया था। जगल मे जो विविध प्रकार के कन्द, मूल फल आदि प्राकृतिक रूप से उत्पन्न होते हैं, उनमे से कौन-से भक्ष्य हैं, इसका उसे भली-भाँति ज्ञान था। इन कन्दमूलो को खोदकर निकालने के लिए उसने अनेक प्रकार के औजारो का निर्माण किया था। पृथिवी पर जो अनेक प्रकार के अन्न प्राकृतिक रूप से उगते है उनका उपयोग भी उसे ज्ञात था। इन अन्नो को वह एकत्र करता था, इन्हे काटने के लिए एक प्रकार की दराती का भी वह प्रयोग करता था, और एकत्र हुए अन्न को भूनकर व पीसकर प्रयुक्त करने का भी उसे ज्ञान था। अति प्राचीन प्रस्तर-युग का मनुष्य वृक्षो की शाखाओ पर या गुफाओ मे निवास करता था। पर धीरे-धीरे उसने अपने रहने के लिए तम्बुओ या आश्रय-स्थानो का निर्माण शुरू किया। इनके लिए वह पशुओ की खाल का प्रयोग करता था। खालो को जोडने के लिए चमडे को काट-कर तागा बनाने की कला भी उसे ज्ञात थी। सीने के लिए वह सुइयो का निर्माण करता था जो प्राय हड्डी व हाथीदाँत की बनी होती थी। चमडे के तागे से खालो को सीकर वह अपने निवास के लिए तम्बू बना लेता था। उसके वस्त्र भी चमडे के होते थे। प्रारम्भिक मनुष्य प्राय नगा ही रहता था। पर सरदी व धूप से बचने के लिए चमडे के वस्त्र उपयुक्त हो सकते है यह बात उसने पुरातन प्रस्तरकाल मे ही जान ली थी। इसमे सन्देह नहीं, कि पुरातन प्रस्तर-काल का मनुष्य आत्म-निर्भर था, वह अपनी आवश्यकता की सब वस्तुओ को स्वय ही प्राप्त किया करता था। पर इस प्राचीन युग मे भी वस्तुओ के विनिमय और व्यापार का सर्वथा अभाव हो, यह बात नही है। पश्चिम-मध्य फ्रास मे अनेक स्थानो पर इस युग के अन्य अवशेषो के साथ-साथ वे शख और कौडियाँ भी उपलब्ध हुई हैं, जो समुद्रतट पर ही प्राप्त हो सकती थी। फ्रास के मध्य मे निवास करने वाले पुरातन प्रस्तर-युग के इन आदि-मानवो ने इन्हे व्यापार द्वारा ही प्राप्त किया होगा। इसी प्रकार यूरोप के अन्य प्राचीन अवशेषो मे भी ऐसी अनेक वस्तुएँ प्राप्त हुई हैं, जो उन स्थानो पर नही होती, और जिन्हे कही बाहर से ही प्राप्त किया गया होगा। ऐसा प्रतीत होता है, कि इस प्राचीन काल के शिकारी मनुष्य भी

कतिपय अद्भुत व आकर्षक वस्तुओं को विनिमय द्वारा प्राप्त करते थे, और इन विविध वस्तुओं का व्यापार इस प्राचीन काल में भी विद्यमान था।

संगठन—पुरातन प्रस्तर-युग के मनुष्य टोलियाँ बनाकर रहते थे। यह असम्भव नहीं, कि इन टोलियों में एक प्रकार का संगठन भी विद्यमान हो, टोली के सब सदस्य अपने किसी मुखिया का शासन मानते हों, और यह मुखिया टोली का सबसे वृद्ध, अनुभवी या शक्तिशाली व्यक्ति हो। इस मुखिया के नेतृत्व में पुरातन प्रस्तर-युग की टोलियाँ आहार की खोज में एक स्थान से दूसरे स्थान पर भ्रमण करती रहती थीं। वे कहीं स्थिर रूप से बसकर नहीं रहती थी। जहाँ कहीं भी शिकार, कन्द-मूल-फल आदि की सुविधा हो, वे वही चली जाती थी। उस युग में जनसंख्या बहुत कम होती थी। शिकार पर आश्रित रहनेवाले प्राणी तभी अपना निर्वाह कर सकते है, जबकि वे संख्या में अधिक न हों। जनसंख्या की इतनी कमी का ही यह परिणाम है, कि पुरातन प्रस्तर-युग के मनुष्यों के शरीरों के अवशेष बहुत ही कम संख्या मे उपलब्ध हुए हैं।

कला—इस युग के मनुष्य कला से सर्वथा अपरिचित हों, यह बात नही है। मध्य प्रदेश मे सिंगनपुर व अन्यत्र कतिपय ऐसी गुफाएँ मिली हैं, जिनकी दीवारो पर अनेक प्रकार के चित्र चित्रित हैं। इनमें आदि-मानव-सभ्यता के मनुष्य ने अपने मनोभावों को विविध प्रकार के चित्रो द्वारा अभिव्यक्त किया है। ये चित्र प्राय: कोयले व रंगीन मिट्टी द्वारा बनाये गये हैं, और इनमें उन पशुओं को चित्रित किया गया है, जिनका शिकार कर आदि-मानव अपनी भूख को शान्त करता था।

धर्म—पुरातन प्रस्तर-युग का मनुष्य परलोक और धर्म के संबंध मे भी कुछ विचार रखता था। उसका विचार था, कि मृत्यु के साथ मनुष्य का अन्त नही हो जाता। मृत्यु के बाद भी उसे उन वस्तुओं की आवश्यकता रहती है, जिनका वह जीवन-काल में उपयोग करता था। इसीलिए जब वे मृत शरीर को गाडते थे, तो वे विविध औजारों, मांस व अन्य भोजन आदि को भी साथ मे रख देते थे; ताकि मृत व्यक्ति आवश्यकतानुसार उनका उपयोग कर सके। यूरोप मे अनेक ऐसी गुफाएँ मिली है, जिनमें मनुष्य के शरीर के अस्थि-पंजर के साथ-साथ अनेक औजार, आभूषण व आहार के लिए प्रयुक्त होनेवाले मांस की हड्डियाँ भी प्राप्त हुई हैं। इसमे सन्देह नही, कि इस युग के मनुष्य मृत शरीर को गाडा करते थे, और परलोक सम्बन्धी जीवन के विषय में भी उनके अपने विचार थे।

(२) मध्य और नूतन प्रस्तर-युग

पुरातन प्रस्तर-युग में भी मनुष्य सभ्यता के क्षेत्र मे निरन्तर आगे बढ़ रहा था। धीरे-धीरे वह समय आ गया, जबकि वह न केवल पशुओं का शिकार करता था, अपितु उन्हें पालता भी था। उसे यह अधिक उपयोगी प्रतीत होता था, कि वह घोड़ा, हिरन, भेड़ आदि पशुओं को अपने पास पालकर रखे, ताकि आवश्यकता पड़ने पर जहाँ उसे उनका मांस भोजन के लिए उपलब्ध हो, वहाँ साथ ही वह उनके दूध, ऊन आदि का भी उपयोग कर सके। पहले वह जंगल में प्राकृतिक रूप से उत्पन्न होनेवाले कन्द-मूल-फल, अन्न आदि को एकत्र मात्र करता था। अब उसने उन्हें उत्पन्न करना भी शुरू

किया। शिकारी के स्थान पर अब वह पशुपालक और कृषक बनने लगा। उसके औजार भी निरन्तर अधिक-अधिक उन्नत व परिष्कृत होते गये। पत्थर के कुल्हाड़े से वह पहले भी लकड़ी काटता था। पर अब उसने इस लकड़ी का प्रयोग मकान बनाने के लिए भी करना शुरू किया। खेती के लिए यह आवश्यक था, कि मनुष्य किसी एक स्थान पर स्थिर होकर रहे। स्थिरता के साथ बसने के लिए यह उपयोगी था, कि मनुष्य अधिक पक्के किस्म के मकान बनाये। इसीलिए उसने बाकायदा घर बनाने शुरू किये, और जगह-जगह पर उसकी बस्तियों (डेरों व ग्रामों) का विकास होने लगा। पहले मनुष्य केवल पशुओं की खाल ओढ़कर सरदी व गरमी से अपना बचाव करता था। अब उसने ऊन व रेशम के कपड़े भी बनाने शुरू किये। यद्यपि अभी तक भी मनुष्य के औजार केवल पत्थर, हड्डी व लकडी के होते थे, धातु का प्रयोग अभी वह नहीं जानता था, पर इसमे सन्देह नहीं, कि इन औजारो की सहायता से ही वह सभ्यता के क्षेत्र में तेजी के साथ आगे बढ़ रहा था। इस नये युग के मनुष्य को हम 'नूतन प्रस्तर-युग' का कह सकते हैं। यह युग अब से दस या पन्द्रह हजार साल पहले शुरू हो चुका था। पर पुरातन और नूतन प्रस्तर-युगों के बीच मे एक ऐसा भी काल था, जबकि मनुष्य पूरी तरह से कृषक व पशु-पालक न होकर ऐसा जीवन व्यतीत करता था, जिसमें कि वह शिकार के साथ-साथ कुछ खेती भी प्रारम्भ कर चुका था। इस युग को मध्य प्रस्तर-युग कहा जाता है। यूरोप और पश्चिमी एशिया मे इस युग के अनेक अवशेष उपलब्ध हुए है। खेद की बात है कि भारत मे पुरातत्त्व-संबंधी खोज अभी इस दशा मे नही पहुँची है कि मध्य व नूतन प्रस्तर-युगो के पर्याप्त अवशेष ढूंढे जा सके हों।

भारत में मध्य प्रस्तर-युग के अवशेष—मध्य प्रस्तर-युग के औजारो की यह विशेषता है, कि वे पुरातन युग के औजारो की अपेक्षा बहुत अधिक परिष्कृत व उन्नत होते है। इस युग मे मनुष्य उन्नति करता हुआ इस दशा तक पहुँच जाता है, कि वह अपने औजारों को सुडौल बना सके और उसके उपकरण ज्यामिति की दृष्टि से पूर्ण व निर्दोष हो। यही कारण है, कि इस युग के अनेक औजार अर्धचन्द्राकार, त्रिभुजाकार व अन्य प्रकार से ज्यामिति के सिद्धान्तो के अनुरूप होते हैं। साथ ही, इस युग में मनुष्य मिट्टी के बरतनो का निर्माण शुरू कर चुकता है, यद्यपि ये बरतन हाथ से बने होने के कारण बहुत सुन्दर व सुडौल नही होते।

भारत मे इस काल के अवशेष अनेक स्थानों मे मिले है, जिनमें माइसूर, हैदराबाद, गुजरात, काश्मीर, सिन्ध आदि के अनेक स्थानो से उपलब्ध अवशेष उल्लेखनीय हैं।

नूतन प्रस्तर-युग—नूतन प्रस्तर-युग में मनुष्य शिकारी के स्थान पर कृषक और पशुपालक बनकर किसी निश्चित स्थान पर बस जाता है, और धीरे-धीरे ग्रामों और नगरों का विकास प्रारम्भ करता है। वह मकानो में रहने लगता है, और वस्त्र-आभूषणो से सुसज्जित होकर अपना जीवन व्यतीत करता है। पश्चिमी एशिया के अनेक प्रदेशो में इस युग के बहुत-से महत्त्वपूर्ण अवशेष मिले हैं, जिनसे इस काल के मनुष्य की सभ्यता के संबंध में विशद रूप से प्रकाश पड़ता है। पर भारत में अभी नूतन प्रस्तर-युग के जो अवशेष प्राप्त हुए है, वे बहुत महत्त्व के नहीं हैं। फिर भी उन स्थानों का

निर्देश करना आवश्यक है, जहाँ प्राप्त अवशेषों को इस युग का माना जाता है—(१) माइसूर के चित्तलद्रुग जिले में चन्द्रवल्ली और ब्रह्मगिरि, (२) दक्षिणी भारत में बेल्लारी का क्षेत्र, (३) काश्मीर में गान्धरबल के समीप नूनर नामक स्थान, और (४) उत्तरप्रदेश में मिरजापुर जिला, जहा इस युग के अनेक औजार मिले हैं, और साथ ही बहुत-से अस्थिपंजर भी प्राप्त हुए हैं। इनके अतिरिक्त अनेक ऐसे कलश (मिट्टी के बने हुए) भी इस क्षेत्र से मिले हैं, जिनमे मृत शरीरों के भस्म रखे गये थे। मिरजापुर के समीप ही विन्ध्याचल की पर्वतश्रृंखला में कुछ ऐसी गुफाएँ भी मिली है, जिनमे इस युग के मनुष्यों के बनाये हुए चित्र अंकित है।

धातुओं के उपयोग का प्रारम्भ होने से पूर्व भारत में एक ऐसा युग था, जब इस देश के बडे भाग में नूतन प्रस्तर-युग की सभ्यता विस्तृत थी। यद्यपि इस युग के अवशेष भारत में उतनी प्रचुरता से उपलब्ध नही हुए है, जितने कि पश्चिमी एशिया के विविध क्षेत्रों मे मिले हैं, तथापि इस सभ्यता की सत्ता मे कोई सन्देह नही है। अब से कोई दस हजार साल पहले यह सभ्यता भली-भाँति विकसित हो चुकी थी, और बाद मे धातुओं का उपयोग शुरू होने पर यही सभ्यता धातु-युग मे परिवर्तित हो गई। सिन्धु नदी की घाटी में मोहनजोदडो और हड़प्पा में किसी प्राचीन समुन्नत सभ्यता के जो अवशेष मिले है, वे इसी नूतन प्रस्तर-युग की सभ्यता का विकसित रूप है, यद्यपि उस काल मे काँसे और ताम्बे का प्रयोग भली-भाँति शुरू हो गया था।

नूतन प्रस्तर-युग का जीवन—पुरातन प्रस्तर-युग में, जबकि मनुष्य किसी एक स्थान पर स्थिर रूप से निवास नही करता था, सभ्यता के क्षेत्र मे अधिक उन्नति हो सकना संभव नही था। पर जब मनुष्य ने बस्तियाँ बसाकर एक स्थान पर रहना शुरू किया, और शिकार के बजाय कृषि और पशुपालन द्वारा जीवन-निर्वाह करना प्रारम्भ किया, तो सभ्यता के मार्ग पर वह बड़ी तेजी के साथ आगे बढने लगा। यही कारण है, कि नूतन प्रस्तर-युग का मानव-इतिहास में बहुत अधिक महत्त्व है।

नूतन प्रस्तर-युग के मनुष्य की आजीविका के मुख्य साधन कृषि और पशुपालन थे। खेती के लिए वह पत्थर के औजारों का प्रयोग करता था। उसके हल, दरांती, कुल्हाड़े, हथौडे आदि सब उपकरण पत्थर के बने होते थे। शुरू मे वह स्वयं अपने हाथ से खेती किया करत था, पर समयान्तर में उसने यह जान लिया था, कि बैलो व घोडो का प्रयोग हल चलाने के लिए किया जा सकता है। नूतन प्रस्तर-युग के अन्तिम दिनो तक मनुष्य न केवल हल के लिए बैलो व घोडो का प्रयोग करने लगा था, अपितु गाडी चलाने के लिए भी इन पशुओ का उपयोग वह जान गया था। उसकी गाडियाँ लकडी की बनी होती थी। पत्थर के बने औजारों से वह लकडी काटता था, और उन्ही की सहायता से हल, गाड़ी आदि का निर्माण करता था। अब उसके निवासस्थान गुफाएँ व खाल के बने तम्बू न होकर लकडी, पत्थर व मिट्टी के बने मकान हो गये थे। जिन प्रदेशों में लकडी, फूँस आदि की सुविधा थी, वहाँ वह लकड़ी के मकान बनाता था। अन्य स्थानों पर कच्ची मिट्टी या पत्थर मकान बनाने के काम में लाये जाते थे। उसके गाँव छोटे-छोटे होते थे। यूरोप और पश्चिमी एशिया में नूतन प्रस्तर-युग के गाँवों के जो अवशेष मिले हैं, उनका रकबा १ ॥ एकड़ से ५ ॥ एकड़ तक है। इन अवशेषो के

अध्ययन से प्रतीत होता है, कि एक गाँव में प्रायः २५ से लगाकर ३५ तक मकान रहते थे। इन मकानों में अनाज को जमा करने के लिए बड़े-बड़े गोदाम भी बनाये जाते थे। अनाज के ये गोदाम कच्ची मिट्टी के बने होते थे। भारत के वर्तमान गाँवों में भी इस प्रकार के गोदाम विशेष महत्त्व रखते है, और किसानों के घरो मे उनकी सत्ता उपयोगी होती है। पुरातन प्रस्तर-युग के गाँवों में सामूहिक जीवन की भी सत्ता थी। पश्चिमी यूरोप और बालकन प्रायद्वीप में उपलब्ध हुए इस युग के गाँवो के अवशेषों से सूचित होता है, कि बहुत-से गाँवों के चारों ओर खाई और मिट्टी की मोटी दीवार भी बनायी गई थी। इस किलाबंदी का प्रयोजन सभवतः शत्रुओं से अपनी रक्षा करना होता था। वे खाइयाँ, दीवारें और गाँव के बीच की सड़के व गलियाँ किसी एक निर्माण व्यक्ति की सम्पत्ति न होकर सारे गाँव की सम्मिलित सम्पत्ति होती थी, और उनका भी ग्राम-निवासियों के सामूहिक प्रयत्न द्वारा ही किया जाता था। इस दशा में यह सर्वथा स्वाभाविक था, कि गाँव के लोगों मे एक प्रकार का सगठन भी विद्यमान हो। पुरातन प्रस्तर-युग के मनुष्य शिकार के लिए टोलिया बनाकर विचरण करते थे। वे टोलियाँ ही इस नूतन युग में ग्राम के रूप में बस गयी थी। इन टोलियों का सगठन इस युग मे और भी अधिक विकसित हो गया था। शिकारी टोली का मुखिया अब ग्राम का नेता वा 'ग्रामणी' बन गया था। यह ग्रामणी सम्पूर्ण ग्रामवासियो पर एक प्रकार का शासन रखता था, यह सहज में कल्पित किया जा सकता है।

बरतन—मिट्टी के बरतन बनाने की कला मध्य प्रस्तर-युग में ही प्रारम्भ हो चुकी थी। नूतन प्रस्तर-युग मे उसने बहुत उन्नति की। पहले बरतन हाथ से बनाये जाते थे, अब कुम्हार के चाक का आविष्कार हुआ, और चाक (चक्र) का उपयोग कर सुन्दर व सुडौल बरतन बनने लगे। इन बरतनो पर अनेक प्रकार की चित्रकारी भी शुरू की गयी, और बरतनो को सुन्दर रगो द्वारा सुशोभित करने की कला का भी विकास हुआ। ये बरतन आग मे पकाये जाते थे, और इनके बहुत-से अवशेष नूतन प्रस्तर-युग के खडहरो मे उपलब्ध हुए है। सभ्यता के विकास के साथ-साथ नूतन प्रस्तर-युग के मनुष्यो मे श्रम-विभाग का भी प्रारम्भ हुआ। अति प्राचीन युग मे श्रमविभाग का प्राय अभाव था। उस समय यदि कोई श्रम-विभाग था, तो वह पुरुषो और स्त्रियों मे था। पुरुष प्राय. शिकार करते थे, और स्त्रियाँ जंगली अनाज को एकत्र कर उसका उपयोग करती थी। पर अब नूतन प्रस्तर-युग में बढ़ई, कुम्हार आदि के रूप मे ऐसे शिल्पियो की पृथक् श्रेणियाँ विकसित होनी शुरू हुई, जो खेती न करके शिल्प द्वारा ही अपनी आजीविका कमाते थे।

व्यापार—नूतन प्रस्तर-युग मे व्यापार की भी उन्नति हुई। एक ग्राम में रहने वाले लोग अपनी वस्तुओं का परस्पर विनिमय करने लगे। बढई या कुम्हार अपने शिल्प द्वारा तैयार की गयी वस्तु के बदले मे किसान से अनाज प्राप्त करता था। उस युग मे वस्तुओं के विनिमय के लिए मुद्रा (सिक्के) की आवश्यकता नही थी। मुद्रा के अभाव में भी लोग अपनी वस्तुओं का विनिमय करने मे समर्थ होते थे। व्यापार का क्षेत्र केवल ग्राम ही नही था, सुदूरवर्ती ग्राम आपस में भी व्यापार किया करते थे। यूरोप और पश्चिमी एशिया के भग्नावशेषों में अनेक ऐसी वस्तुएँ प्राप्त हुई है, जो उस प्रदेश मे

उत्पन्न ही नही हो सकती थीं, और जिन्हें अवश्य ही किसी सुदूरवर्ती प्रदेश से व्यापार द्वारा प्राप्त किया गया था । यह विदेशी व 'अन्तर्राष्ट्रीय' व्यापार केवल विशिष्ट वस्तुओं के लिए ही होता था । वैसे प्रत्येक गाँव अपनी आवश्यकताओं को स्वयं पूर्ण करने का प्रयत्न करता था । उस युग मे मनुष्य की आवश्यकताएँ बहुत कम थी, और उन्हें अपने प्रदेश से ही पूरा कर सकना सर्वथा संभव था ।

मृतक-संस्कार—नूतन-प्रस्तर-युग के मनुष्य प्रायः अपने मृत शरीरों को जमीन में गाडा करते थे । शवों को गाड़ने के लिए जहाँ बाकायदा कबरिस्तान थे, वहाँ कही-कही यह भी प्रथा थी, कि उन्हें अपने मकान मे या उसके समीप ही गाड दिया जाए । भूमध्य सागर के समीपवर्ती नूतन प्रस्तर-युग के ग्रामो के अवशेषों से यह सूचित होता है, कि उनमे मकान के नीचे गढा खोद कर छोटे पैमाने पर उस मकान का नमूना तैयार किया जाता था, जहाँ कि जीवित दशा मे मृत मनुष्य निवास करता था । मरने के बाद मनुष्य को इस (जमीन के नीचे बने हुए) मकान मे गाड दिया जाता था, और वहाँ उसके उपयोग की वस्तुओ को रख दिया जाता था । इस युग की अनेक बस्तियों मे शव को जलाने की भी प्रथा थी, और राख को मिट्टी के बने हुए कलशो मे रखकर आदर के साथ जमीन में गाड दिया जाता था ।

धर्म—मिस्र, सीरिया, ईरान, दक्षिण-पूर्वी यूरोप आदि मे इस युग की बस्तियों के जो भग्नावशेष मिले है, उनमे मिट्टी या पत्थर की बनी हुई बहुत-सी स्त्री-मूर्तियाँ भी उपलब्ध हुई हैं । नृतत्त्वशास्त्र के विद्वानों का विचार है, कि ये मूर्तियाँ पूजा के काम मे आती थी । नूतन प्रस्तर-युग का मनुष्य 'मातृ-देवता' का उपासक था । प्रकृति मे जो निरन्तर उत्पत्ति होती रहती है, जीव-जन्तु, वृक्ष, वनस्पति, अन्न आदि सबमे निरन्तर वृद्धि व उत्पत्ति जारी रहती है, इसका कारण वह रहस्यमयी शक्ति है, जो सब चराचर के लिए मातृ-स्थानीय है । प्रजनन एक ऐसी प्रक्रिया है, जो इस युग के मनुष्य को बहुत रहस्यमयी प्रतीत होती थी । वह सोचता था, यह मातृशक्ति की देन है । इसीलिए वह स्त्री-रूप मे इस मातृशक्ति या मातृ-देवता की मूर्ति बनाता था, और उन मूर्तियों मे स्त्री की जननेन्द्रियो को प्रमुख रूप से प्रदर्शित करता था । पुरुष की जननेन्द्रिय को वह लिंग-रूप में बनाता था । इस प्रकार के बहुत-से लिंग इंगलैण्ड, अनेतोलिया और बाल्कन प्रायद्वीप के प्राचीन भग्नावशेषो मे उपलब्ध हुए हैं । नूतन प्रस्तर-युग का मनुष्य शायद यह समझता था, कि मातृ-देवता और लिंग की पूजा से अन्न और पशुओ की वृद्धि की जा सकती है । अनेक विद्वानो का मत है, कि देवता को तृप्त करने के लिए बलि या कुर्बानी की प्रथा भी इस युग मे शुरू हो चुकी थी । प्रकृति में हम देखते है, कि बीज को जमीन मे गाडा जाता है । बीज नष्ट होकर पौदे को जन्म देता है । नूतन प्रस्तर-युग का मनुष्य यह समझता था, कि खेती की पैदावार का मूल कारण बीज की 'बलि' है । अत. यदि धरती माता को तृप्त करने के लिए पशु या मनुष्य की बलि दी जाय, तो इससे पैदावार, समृद्धि और सम्पत्ति की वृद्धि होगी ।

जादू-टोने और मन्त्र-प्रयोग का प्रारम्भ पुरातन प्रस्तर-युग मे ही हो चुका था । नूतन प्रस्तर-युग मे उसमे और अधिक वृद्धि हुई । भूमध्यसागर के तटवर्ती प्रदेशों और

मिस्र के इस युग के अवशेषों में पत्थर की बनी हुई छोटी-छोटी कुल्हाड़ियाँ मिली हैं, जिनके बीच में छेद हैं। सम्भवतः, इन कुल्हाड़ियों के बीच में तागा डालकर उन्हें गले मे पहना जाता था और यह विश्वास किया जाता था, कि इनके पहनने से मनुष्य मे शक्ति का सचार होता है। कुल्हाड़ा शक्ति का प्रतीक था, और उसे रक्षा-कवच के रूप मे धारण करना उपयोगी माना जाता था।

वस्त्र-निर्माण—वस्त्र बनाने की कला मे भी इस युग में अच्छी उन्नति हुई। ऊन और रेशम के वस्त्र मध्य प्रस्तर-युग में ही शुरू हो चुके थे। अब उनका निर्माण करने के लिए बाकायदा तकुओं और खड्डियो का प्रारम्भ हुआ। तकुए पर सूत कात कर उसे खड्डी पर बुना जाता था, और नूतन प्रस्तर-युग का मनुष्य सरदी-गरमी से बचने के लिए पशु-चर्म के वस्त्रों पर आश्रित न रहकर ऊन और रेशम के सुन्दर वस्त्रों को धारण करता था। वस्त्र के निर्माण के लिए कपास का उपयोग इस युग मे प्रारम्भ हुआ था या नही, यह विषय अभी विवादग्रस्त है।

युद्ध—नूतन प्रस्तर-युग की विविध बस्तियो मे प्रायः युद्ध भी होते रहते थे। यही कारण है, कि अनेक ग्रामों के चारो ओर परिखा और प्राचीर का निर्माण किया गया था। शुरू मे प्रत्येक मनुष्य आर्थिक उत्पादक होने के साथ-साथ योद्धा भी होता था। वह पत्थर के औजारो को लड़ाई के काम मे लाता था, और उनकी सहायता से शत्रु से अपनी रक्षा करता था।

पुरातन प्रस्तर-युग की अपेक्षा इस काल में जनसंख्या बहुत बढ़ गई थी। इसीलिए पश्चिमी एशिया व यूरोप मे इस युग के मनुष्यों के अस्थि-पजर हजारो की संख्या मे उपलब्ध हुए है। निःसन्देह, इस युग का मनुष्य पत्थर के औजारो का ही उपयोग करता था, पर सभ्यता के क्षेत्र मे वह पुरातन प्रस्तर-युग के मनुष्य की अपेक्षा बहुत अधिक आगे बढ गया था। पत्थर के औजारो की सहायता से ही वह बहुत-कुछ उस दशा मे आ गया था, जिसे हम 'सभ्यता' कहते हैं।

(३) धातु-युग का प्रारम्भ

नूतन प्रस्तर-युग के बाद धातु-युग का प्रारम्भ हुआ। नूतन प्रस्तर-युग का मनुष्य आग का उपयोग करता था, और मिट्टी के बरतन पकाने तथा भोजन बनाने के लिए वह भट्टियों व चूल्हो का निर्माण करता था। ये भट्टियाँ प्रायः पत्थर की बनी होती थी। अनेक पत्थरो मे धातु का अश पर्याप्त मात्रा में होता है। आग के ताप से ये धातुमिश्रित पत्थर पिघल जाते थे, और उनसे चमकीली धातु अलग हो जाती थी। धीरे-धीरे मनुष्य ने यह मालूम किया, कि यह धातु औजार बनाने के लिए अधिक उपयुक्त है, क्योंकि इसे न केवल पिघलाया जा सकता है, अपितु ठोक-पीट कर भी अभीष्ट आकार मे लाया जा सकता है। सम्भवतः, सबसे पहले मनुष्य ने सोने का प्रयोग शुरू किया, क्योंकि अनेक स्थलों पर सोना प्राकृतिक रूप मे भी पाया जाता है। पर सोना इतनी अधिक मात्रा मे नही मिलता था, कि उसका उपयोग औजार बनाने के लिए किया जा सके। सम्भवतः, मनुष्य इस धातु का उपयोग केवल आभूषण बनाने के लिए ही करता था। पर समयान्तर में उसे तांबे, ब्रोंज और लोहे का ज्ञान हुआ,

और इन धातुओं का प्रयोग उसने औजार बनाने के लिए शुरू किया। उत्तरी भारत मे तांबे के और दक्षिणी भारत में लोहे के औजार बनाए जाने लगे। पश्चिमी भारत के कुछ प्रदेशों (सिन्धु और बिलोचिस्तान) में तांबे से पहले ब्रोंज का प्रयोग शुरू हुआ। ब्रोंज एक मिश्रित धातु होती है, जो तांबे और टिन के मिश्रण से बनती है। न केवल सिन्ध और बिलोचिस्तान मे, अपितु पाश्चात्य संसार के भी अनेक देशो में मनुष्य ने तांबे से पहले ब्रोंज का उपयोग शुरू किया था। इसी कारण नूतन प्रस्तर-युग के बाद मानव-सभ्यता का जो युग शुरू हुआ, उसे ब्रोंज-युग कहते हैं। यहाँ यह ध्यान मे रखना चाहिए, कि धातु का उपयोग शुरू होने से मनुष्य की सभ्यता मे कोई आकस्मिक व महान् परिवर्तन नही आ गया। जो काम पहले मनुष्य पत्थर के औजारों से करता था, वही अब धातु के औजारों से होने लगा। इसमें सन्देह नही, कि धातु के बने औजार पत्थर के औजारों की अपेक्षा अधिक सुडौल व उपयोगी होते थे, और मनुष्य उनकी सहायता से कृषि व शिल्प को अधिक अच्छी तरह से कर सकता था। पर नूतन प्रस्तर-युग मे ही मनुष्य ने उस उन्नत सभ्यता का प्रारम्भ कर दिया था, जो धातु-युग में जारी रही। अन्तर केवल इतना आया, कि कृषि, शिल्प आदि का अनुसरण अब मनुष्य के लिए अधिक सुगम हो गया, और धातु के बने उपकरणो से मनुष्य अपना कार्य अधिक अच्छी तरह से करने लगा।

सिन्ध और बिलोचिस्तान के जो प्रदेश आजकल रेगिस्तान व उजाड है, किसी प्राचीन युग मे वे एक अच्छी उन्नत सभ्यता के केन्द्र थे। इन प्रदेशो मे खोज द्वारा ताम्र-युग की सभ्यता के बहुत-से भग्नावशेष उपलब्ध हुए हैं। नूतन प्रस्तर-युग के ग्रामो और वस्तियो के जिस प्रकार के अवशेष पश्चिमी एशिया व यूरोप मे बडी सख्या में मिले हैं, उसी ढग के ताम्र-युग के अवशेष सिन्ध और बिलोचिस्तान के अनेक प्रदेशों मे भी उपलब्ध हुए हैं। इस युग के मनुष्य बस्तियो मे रहते थे, मकानो का निर्माण करते थे, कृषि और पशु-पालन द्वारा अपना निर्वाह करते थे, मिट्टी के बने हुए सुन्दर व सुडौल बरतनों का उपयोग करते थे, और ताम्र के बने सुन्दर औजारों को कृषि, शिल्प व युद्ध के लिए प्रयुक्त करते थे। बरतनो और औजारो की रचना के भेद को दृष्टि मे रखकर इन प्रदेशो में उपलब्ध हुए भग्नावशेषो से अनेक सभ्यताओ की सत्ता सूचित होती है।

क्वेटा-सभ्यता—भारत की ताम्र-युग की सभ्यताओ मे क्वेटा-सभ्यता सबसे अधिक प्राचीन है। बोलान के दर्रे मे क्वेटा के समीप पाँच ऐसे खेडे (गाँव, बस्ती या शहर के खण्डहरो के कारण ऊँचे उठे हुए स्थान) मिले है, जो इस सभ्यता के भग्नावशेषों को सूचित करते हैं। इनमे सबसे बडे खेडे का व्यास २०० गज के लगभग है, और यह खेडा ४५ फीट से ५० फीट तक ऊँचा है। यह एक प्राचीन वस्ती को सूचित करता है। इस बस्ती के मकान मिट्टी या मिट्टी की ईंटों के बने हुए थे। ये ईंटें आग में पकायी गई थी। इन खेडो मे जो बरतन मिले है, वे मिट्टी को पकाकर बनाये गए थे, और उन पर अनेक प्रकार से चित्रकारी की गई थी।

अमरी-नल-सभ्यता—इस सभ्यता के अवशेष सिन्ध और बिलोचिस्तान मे बहुत-से स्थानों पर उपलब्ध हैं। इन अवशेषो के रूप में जो बहुत-से खेड़े इस क्षेत्र में

मिलते है, वे क्वेटा-सभ्यता के खेड़ों की अपेक्षा अधिक बड़े हैं। उदाहरणार्थ, रकशां नामक प्रदेश का एक खेड़ा लम्बाई मे ५३० गज और चौडाई में ३६० गज है। बंधनी नामक स्थान पर विद्यमान एक अन्य खेड़ा ४०० गज लम्बा और २३० गज चौडा है। इससे सूचित होता है, कि अमरी-नल-सभ्यता की कतिपय बस्तियाँ आकार मे बहुत विशाल थी। पर बहुसंख्यक बस्तियाँ क्वेटा-सभ्यता की बस्तियों के सदृश ही छोटी-छोटी थी। इन बस्तियों मे से कुछ के चारों ओर परिखा और दीवार के चिह्न भी मिले हैं। ये दीवारें मिट्टी की ईंटों द्वारा बनायी गई थीं, यद्यपि इनके आधार मे मजबूती के लिए पत्थरो का भी उपयोग किया गया था। इस सभ्यता की एक बस्ती तो ऐसी भी मिली है, जिसके चारों ओर दो दीवारें थी और दोनों दीवारो के बीच मे २५० फीट का अन्तर रखा गया था। इन दीवारों के निर्माण के लिए कच्ची मिट्टी की जिन ईंटों का प्रयोग किया गया था, वे लम्बाई मे २१ इंच, चौडाई मे १० इच और ऊँचाई मे ४ इच है। बस्ती के चारो ओर की प्राचीर के लिए ही नही, अपितु मकानो के निर्माण के लिए भी इसी ढंग की ईटों का प्रयोग किया गया था।

अमरी-नल-सभ्यता के भग्नावशेषों की जो खुदाई हुई है, उससे उन मकानो के सम्बन्ध में भी अनेक महत्त्वपूर्ण बाते ज्ञात होती है, जो इस सभ्यता की बस्तियो मे विद्यमान थे। मकानों का आकार प्रायः ४० फीट लम्बा व ४० फीट चौड़ा होता था। इस मकान के अन्दर अनेक छोटे-बडे कमरे होते थे, जिनमे से कुछ १५ × १५ फीट, कुछ १५ × १० फीट और कुछ ८ × ५ फीट होते थे। मकान के बीच मे सहन भी रखा जाता था। मकान प्रायः कच्ची मिट्टी की ईटो के बने होते थे, यद्यपि किसी-किसी खेडे मे ऐसे मकानो के अवशेष भी मिले है, जिनमे ईंटो के साथ-साथ पत्थर का भी प्रयोग किया गया है। मकानो मे दरवाजे और खिडकियाँ भी होती थी, और इनके भी कतिपय अवशेष खुदाई द्वारा उपलब्ध हुए हैं। एक मकान और दूसरे मकान के बीच मे गली छोड़ दी जाती थी, जिसकी चौडाई २॥ फीट से ८ फीट तक थी। ऐसा प्रतीत होता है, कि अमरी-नल-सभ्यता की बस्तियो मे मकानो का निर्माण बहुत अच्छे ढग से और एक निश्चित योजना के अनुसार किया गया था।

इस सभ्यता के खेडो की खुदाई द्वारा अनेक स्थानो पर कबरिस्तान भी उपलब्ध हुए है। एक खेडे के कबरिस्तान में १०० के लगभग अस्थि-पंजर मिले हैं, जिनसे यह कल्पना सहज में की जा सकती है, कि इस खेडे द्वारा सूचित होने वाली बस्ती मे मनुष्य अच्छी बड़ी संख्या मे निवास करते थे। अमरी-नल-सभ्यता के मनुष्य अपने शवों को जमीन मे गाडते थे, और इसके लिए बाकायदा कबरो का निर्माण करते थे। उनकी कबरें ईटो व पत्थरो द्वारा बनायी जाती थी। कबर में शव को रखने के साथ-साथ उन वस्तुओ को भी रख दिया जाता था, जिनका उपयोग मृत मनुष्य अपने जीवल-काल मे करता था। यही कारण है, कि कबरो मे अस्थिपंजर के साथ मिट्टी के बरतन, आभूषण, औजार व इसी प्रकार की अन्य वस्तुएँ भी प्राप्त हुई हैं। कही-कही बरतनो मे पशुओ की हड्डियाँ भी मिली हैं। संभवतः, शव के साथ बरतन में मांस भी रख दिया गया था, जिसकी हड्डियाँ अब तक सुरक्षित रूप मे विद्यमान हैं। ये हड्डियाँ प्राय. भेड व बकरी की हैं। इन कबरों में जो औजार मिले हैं, वे प्रायः ताम्बे के बने हुए है। इससे सूचित होता

है, कि अमरी-नल-सभ्यता के लोग धातु के प्रयोग से भली-भाँति परिचित हो गये थे। कबरो मे प्राप्त हुए आभूषण मुख्यतया ताम्बे, शंख, कौडी व मिट्टी के बने हुए हैं। इनके अतिरिक्त, मूँगे आदि की बनी हुई मालाएँ भी कहीं-कही इस सभ्यता के कबरिस्तानों में मिली है।

अमरी-नल-सभ्यता के भग्नावशेषो में जो बरतन या उनके टुकडे मिले हैं, वे सुन्दर, सुडौल व परिष्कृत है। उनपर अनेक प्रकार की चित्रकारी की गयी है। बरतनों को चित्रित करने के लिए केवल गोल, अर्धचन्द्राकार व तिरछी रेखाओ का ही प्रयोग नहीं किया गया, अपितु पौदो और पशुओ की आकृतियो को भी प्रयुक्त किया गया है। इनमे बैल, बारासिगा और मछली का प्रयोग विशेष रूप से हुआ है।

कुल्ली सभ्यता—दक्षिणी बिलोचिस्तान के कोलवा-प्रदेश मे इस युग की प्राचीन सभ्यता के जो अनेक भग्नावशेष मिले है, उन्हे कुल्ली-सभ्यता कहते है। इसकी बस्तियों मे भवन-निर्माण के लिए पत्थरों का उपयोग होता था, और पत्थरों को परस्पर जोडने से लिए मिट्टी के गारे का प्रयोग किया जाता था। पत्थर के अतिरिक्त मिट्टी की कच्ची ईटें भी मकान बनाने के लिए प्रयुक्त होती थी, जिनका आकार १६ × १० × ३ इंच होता था। ऐसा प्रतीत होता है, कि कुल्ली-सभ्यता के मकानो मे फरश बनाने के लिए लकडी का भी प्रयोग किया जाता था। ऐसे फरशो के कुछ अवशेष कुल्ली के खेडे मे दृष्टिगोचर हुए हैं। इस सभ्यता के मकानो के कमरे आकार मे कुछ छोटे होते थे। कुल्ली मे कमरो का आकार १२ × ८ और ८ × ६ फीट का था। यहाँ के मकान एक से अधिक मजिल के थे, इसीलिए कही-कही ऊपर की मजिल मे जाने के लिए बनायी गई पत्थर की सीढी के अवशेष भी मिले है।

अमरी-नल-सभ्यता के समान कुल्ली-सभ्यता के बरतन भी सुन्दर और सुडौल होते थे। उनपर चित्रकारी के लिए वनस्पति और पशुओ की आकृतियो का प्रयोग किया जाता था। ककुद् से युक्त बैल इन आकृतियो मे विशेष महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है।

कुल्ली-सभ्यता के अवशेषो मे पशुओं और स्त्रियो की छोटी-छोटी मूर्तियाँ प्रचुर सख्या मे मिली है। ये मूर्तियाँ मिट्टी की बनी हुई है, और बरतनों के समान उन्हे भी आग मे पकाया गया है। इन मूर्तियो के निर्माण का क्या प्रयोजन था, यह निश्चित रूप से नही कहा जा सकता। पशुओ की कतिपय मूर्तियो मे पैरो के नीचे पहिये लगाने के भी निशान पाये जाते हैं। इससे अनुमान किया गया है, कि ये पशु-मूर्तियाँ बच्चो के खिलौनो के रूप मे बनाई गयी होगी। कुछ पक्षी-मूर्तियाँ ऐसी भी मिली है, जिनकी पूँछ मे सीटी बजाने का काम लिया जाता था। कुल्ली-सभ्यता की स्त्री-मूर्तियाँ कुछ अद्भुत प्रकार की हैं। उनमे स्त्री-शरीर केवल कमर तक बनाया गया है, और मुख को बहुत बेडौल कर दिया गया है। पर इन सबमे आभूषणो और केश-कलाप को बहुत स्पष्ट रूप से प्रदर्शित किया गया है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है, कि कुल्ली-सभ्यता की स्त्रियाँ अपने केशो को किस ढंग से सवारती थीं, और किस प्रकार के आभूषणो का प्रयोग करती थी। उनके आभूषणो मे चूडियो की बहुलता होती थी, जिन्हे वे हाथो पर कुहनियो तक व उससे भी ऊपर तक पहना करती थीं।

कुल्ली-सभ्यता के अन्यतम स्थान मही में पत्थर के बने हुए कुछ सुन्दर बरतन मिले है, जो संभवतः शृंगार-प्रसाधन की वस्तुओ को रखने के काम में आते थे। ये बरतन न केवल अत्यन्त परिष्कृत हैं, पर साथ ही इनमें अनेक छोटे-छोटे व सुन्दर खाने भी बनाये गये हैं। इन बरतनों को बाहर की ओर से भी चित्रित किया गया है।

मही मे ही एक कबरिस्तान भी मिला है, जो अनेक दृष्टियो से अत्यन्त महत्त्व का है। यहाँ से ताम्बे के अनेक उपकरण मिले है, जिनमे ताम्बे का बना हुआ दर्पण विशेषरूप से उल्लेखनीय है। यह दर्पण आकार मे वर्तुल है, और इसका व्यास ५ इंच है। दर्पण के हत्थे को स्त्री-आकृति के समान बनाया गया है, जिसके हाथ और छातियाँ बड़े सुन्दर रूप से बनाई गयी हैं। स्त्री-आकृति मे सिर नही रखा गया है। जब कोई महिला इस दर्पण मे अपने मुख को देखती होगी, तो हत्थे की स्त्री-आकृति मे सिर की कमी पूरी हो जाती होगी। इस प्रकार का सुन्दर दर्पण प्राच्य संसार के पुरातन अवशेषो मे अन्यत्र कही भी नही मिला है।

कुल्ली-सभ्यता के बरतनो और पश्चिमी एशिया (ईराक और एलम) के बरतनों तथा उनके चित्रण मे बहुत समता है। कुल्ली के बरतनो पर प्रकृति (वृक्ष, वनस्पति आदि) के बीच मे पशुओं को चित्रित किया गया है। यही शैली ईराक व पश्चिमी ईरान के इस युग के बरतनो को चित्रित करने के लिए अपनायी गई है। कुल्ली-सभ्यता और पश्चिमी एशिया के बरतनो में यह असाधारण समता ध्यान देने योग्य है। इसी प्रकार जिस ढग के पत्थर के सुन्दर व छोटे आकार के बरतन कुल्ली-सभ्यता के अवशेषो मे मिले हैं, ठीक वैसे ही पत्थर के बरतन पश्चिमी एशिया के अनेक भग्नावशेषों में भी उपलब्ध हुए हैं। इन समताओ को दृष्टि में रखकर विद्वानों ने यह अनुमान किया है, कि कुल्ली-सभ्यता और पश्चिमी एशिया की सभ्यताओ मे घनिष्ठ सम्बन्ध था और इनके व्यापारी एक प्रदेश से दूसरे प्रदेश मे व्यापार के लिए आया-जाया करते थे। पश्चिमी एशिया के इस युग के भग्नावशेषो मे भी बिलोचिस्तान के भारतीय व्यापारियो की विद्यमानता के अनेक प्रमाण मिले है।

झोब-सभ्यता—उत्तरी बिलोचिस्तान मे झोब नदी की घाटी मे ताम्र-युग की सभ्यता के अनेक भग्नावशेष मिले हैं, जिनमे रनघुण्डई का खेडा सबसे अधिक प्रसिद्ध है। यह खेडा ४० फीट ऊँचा है, और इसकी विविध सतहों में झोब-सभ्यता के विकास की प्रक्रिया स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होती है। यहाँ यह सम्भव नही है, कि हम रनघुण्डई के खेडे की विविध सतहो में प्राप्त हुई सामग्री का संक्षेप से भी उल्लेख कर सके। यहाँ इतना निर्देश कर देना ही पर्याप्त होगा, कि रनघुण्डई व अन्यत्र प्राप्त झोब-सभ्यता के अवशेषो से सूचित होता है, कि यह सभ्यता भी अमरी-नल और कुल्ली-सभ्यता के समान अच्छी उन्नत थी। इसके मकान मिट्टी की कच्ची ईंटो के बने होते थे, यद्यपि आधार की मजबूत बनाने के लिए पत्थरो का भी प्रयोग किया जाता था। यहाँ की ईंटो का आकार प्रायः १३×६×२½ इंच होता था। कतिपय बस्तियो के चारों ओर परिखा और प्राचीर भी विद्यमान थे।

कुल्ली-सभ्यता के समान झोब-सभ्यता के अवशेषो मे भी पशुओ और स्त्रियो की बहुत-सी मूर्तियाँ उपलब्ध हुई हैं। कुल्ली में जो पशु-मूर्तियाँ मिली है, वे प्रायः गाय-

बैल की है। पर झोब-सभ्यता के अवशेषों में एक स्थान पर घोड़े की भी एक मूर्ति मिली है। झोब-सभ्यता की स्त्री-मूर्तियाँ देखने मे भयंकर हैं। यद्यपि विविध प्रकार के आभूषणो से ये भली-भाँति विभूषित की गयी हैं, पर इनकी मुख-आकृति कंकाल के सदृश बनाई गयी है, और आँखें उस ढंग के छेद द्वारा दिखाई गयी हैं, जैसा कि मानव-कंकाल की खोपड़ी में होता है। सम्भवतः, ये स्त्री-मूर्तियाँ पूजा के काम में आती थीं, और इनके चेहरे की भयंकरता मातृ-देवता के रौद्र-रूप को अभिव्यक्त करती थी।

भारत में अन्यत्र ताम्र-युग के अवशेष—उत्तरी-भारत में अन्यत्र कई स्थानों पर ताबे के बने हुए औजार मिले हैं। पर जिस ढंग से प्राचीन भग्नावशेषों की खुदाई सिन्ध और बिलोचिस्तान में हुई है, वैसी अभी अन्यत्र नहीं हुई। सम्भव है, कि भविष्य मे भारत के अन्य भागो मे भी वैसी ही ताम्र-युग की सभ्यताओ के चिन्ह प्रकाश में आएँ, जैसे कि पश्चिमी भारत में खोज द्वारा प्रकट हुए है।

(४) सिन्धु-घाटी की सभ्यता

सिन्धु-सभ्यता के ग्राम और नगर—अत्यन्त प्राचीन काल मे सिन्ध और बिलोचिस्तान के प्रदेशों में ताम्र-युग की जिस सभ्यता का विकास हुआ था, उसके बाद सिन्ध नदी की घाटी एवं पश्चिमी भारत में एक अन्य उन्नत व समृद्ध सभ्यता का विकास हुआ, जिसके प्रधान नगरों के भग्नावशेष इस समय हड़प्पा और मोहन-जोदडो नामक स्थानो पर उपलब्ध हुए हैं। यह सभ्यता पूर्व मे हरयाणा, राजस्थान तथा गुजरात से शुरू होकर पश्चिम मे मकरान तक विस्तृत थी। उत्तर में इसका विस्तार हिमालय तक था। इसके प्रधान नगर सिन्ध व उसकी सहायक नदियो के समीपवर्ती प्रदेशों मे विद्यमान थे, इसीलिए इसे 'सिन्धु-घाटी की सभ्यता' कहा जाता है। इसकी बस्तियों के भग्नावशेष खेडों के रूप मे विद्यमान है, जिनकी खुदाई करने से इस समृद्ध व उन्नत सभ्यता के बहुत-से महत्त्वपूर्ण अवशेष प्राप्त किये गये हैं। खोज द्वारा जिन बहुत सी बस्तियो का अब तक परिचय मिला है उनमे कुछ ग्राम, कुछ कस्बे, और दो विशाल नगर है। इस सभ्यता के प्रधान नगर हड़प्पा और मोहनजोदड़ो हैं, जिनमे से मोहनजोदडो कराची से २०० मील उत्तर मे सिन्ध नदी के तट पर स्थित है। हड़प्पा पजाब मे लाहौर से १०० मील दक्षिण-पश्चिम मे रावी नदी के तट पर है। हड़प्पा और मोहनजोदडो में ३५० मील का अन्तर है। गत वर्षों मे राजस्थान, हरयाणा और गुजरात में भी इस सभ्यता के कतिपय नगरो के अवशेष मिले है।

सिन्धु-सभ्यता के जिन खेडो मे खुदाई का कार्य अब तक सम्पन्न हुआ है, उन सबके अवशेष एक-दूसरे से असाधारण समता रखते है। उनमे उपलब्ध हुए मिट्टी के बरतन एकसदृश हैं; उनके मकानो का निर्माण करने के लिए जो ईंटे प्रयुक्त हुई है, वे भी एक ही आकार की हैं। उनमे माप और तोल के उपकरण भी एकसमान है, और इन स्थानों से जो उत्कीर्ण लेख मिले हैं, वे भी एक ही तरह के है। हजारो वर्गमील के इस विशाल क्षेत्र मे एकसदृश सभ्यता की सत्ता इस बात को सूचित करती है, कि यह सारा प्रदेश एक व्यवस्था व एक संगठन के अधीन था। यदि इसे एक साम्राज्य कहा जाय, तो अनुचित नही होगा।

नगरों की रचना और भवन-निर्माण—मोहनजोदड़ो और हड़प्पा में जो खुदाई हुई है, उससे ज्ञात होता है कि इन नगरों की रचना एक निश्चित योजना के अनुसार की गयी थी। मोहनजोदड़ो में जो भी सड़कें हैं, वे या तो उत्तर से दक्षिण की ओर सीधी रेखा में जाती हैं, और या पूर्व से पश्चिम में। नगर की प्रधान सडक तेंतीस फीट चौडी है, और यह नगर के ठीक बीच में उत्तर से दक्षिण की ओर चली गयी है। इस प्रधान मार्ग को काटती हुई जो सड़क पूर्व से पश्चिम की ओर गयी है, वह इससे भी अधिक चौडी है, और यह भी शहर के ठीक बीच में है। इन दो सडकों के समानान्तर जो अन्य अनेक सडके हैं, वे भी चौडाई में बहुत पर्याप्त हैं। ये नौ फीट से अठारह फीट तक चौडी है। सड़कों व गलियों के दोनों ओर मकानों का निर्माण किया गया था। इन मकानों की दीवारें अब तक भी भग्न रूप में विद्यमान हैं। खेडों की खुदाई द्वारा सडकों व गलियो के साथ-साथ मकानों की जो दीवारें मिली है, कहीं-कही उनकी ऊँचाई पच्चीस फीट तक पहुँच गयी है। इससे सहज मे अनुमान किया जा सकता है, कि मोहनजोदडो के मकान ऊँचे व विशाल थे।

शहर के गन्दे पानी को नालियो द्वारा बाहर ले जाने का सिन्धु-सभ्यता के इन नगरो में बहुत उत्तम प्रबन्ध था। मकानो के स्नानागारों, रसोइयों और टट्टियो का पानी नालियो द्वारा बाहर आता था, और वह शहर की बडी नाली में मिल जाता था। प्रत्येक गली व सडक के साथ-साथ पानी निकलने के लिए नाली बनी हुई थी। सडकों के साथ की नालियाँ प्रायः नौ इंच चौडी और बारह इंच गहरी होती थी। गलियो के साथ की नालियाँ इनकी अपेक्षा छोटी थी। नालियो का निर्माण पक्की ईंटों से किया गया था। नालियो को ढँकने के लिए ईंटें प्रयुक्त होती थी, जिन्हें ऊपर की सतह से कुछ इच नीचे जमाकर रखा जाता था। अधिक चौडी नालियों को ढँकने के लिए पत्थर की शिलाएँ भी प्रयुक्त की जाती थी। मकानो से बाहर निकलने वाले गन्दे पानी के लिए मिट्टी के पाइप भी प्रयोग मे लाये जाते थे। शहर की कुछ नालियाँ बहुत बड़ी (मनुष्य के बराबर ऊँचाई वाली) भी होती थीं। इन नालियों मे कही-कही सीढियाँ भी बनाई गयी थी, ताकि उनसे उतरकर नाली को भली-भाँति साफ किया जा सके। इसमें सन्देह नही, कि मकानो के गन्दे पानी को शहर के बाहर ले जाने की जो उत्तम व्यवस्था सिन्धु-सभ्यता के इन नगरो में विद्यमान थी, वह प्राचीन संसार के अन्य किसी नगर में नही पाई जाती।

सिन्धु-सभ्यता के इन नगरो मे पानी के लिए कुएँ विद्यमान थे। मोहनजोदडो और हडप्पा के भग्नावशेषो में बहुत-से कुएँ मिले हैं, जो चौडाई मे २ फीट से लगाकर ७ फीट तक हैं। इन कुओं के किनारे पर रस्सी के निशान अब तक विद्यमान हैं। मोहनजोदडो और हड़प्पा की खुदाई द्वारा उन मकानो के सम्बन्ध में भी बहुत-कुछ ज्ञान उपलब्ध होता है, जिनमें सिन्धु-सभ्यता के नागरिक निवास करते थे। इन मकानों के निर्माण के लिए पक्की ईटों का प्रयोग किया गया था। ईंटें अनेक आकारों की होती थी। छोटी ईटो का आकार १०$\frac{1}{2}$ × ५ × २$\frac{1}{2}$ इंच होता था, और बड़ी ईटों का आकार २०$\frac{1}{2}$ × ८$\frac{1}{2}$ × २$\frac{1}{2}$ इंच था। मोहनजोदड़ो और हड़प्पा की ये प्राचीन ईटें बहुत मजबूत, पक्की और रंग में लाल हैं।

मोहनजोदड़ो के छोटे मकानों का आकार प्रायः २६×३० फीट होता था। पर बहुत-से ऐसे मकान भी थे, जो आकार में इसकी अपेक्षा दुगने व और भी अधिक बड़े होते थे। प्रायः मकान दोमजिले होते थे। मोहनजोदडो में उपलब्ध दीवारों की मोटाई इस बात को सूचित करती है, कि वहाँ के मकान कई मंजिल ऊँचे रहे होगे। जो दीवारें २५ फीट के लगभग ऊँची मिली हैं, इनमे अभी तक वे छेद विद्यमान हैं, जिनमे शहतीरें लगाकर दूसरी मजिल का फर्श बनाया गया था। इस युग में छत बनाने की यह पद्धति थी, कि पहले शहतीरें डाली जाती थी, फिर उनपर बल्लियाँ डालकर एक मजबूत चटाई बिछा दी जाती थी। उसके ऊपर मिट्टी बिठाकर उसे भली-भाँति कूटकर पक्का कर दिया जाता था। कमरो के दरवाजे अनेक प्रकार के होते थे। छोटे मकानों मे प्राय दरवाजे की चौडाई ३ फीट ४ इच होती थी। पर कुछ ऐसे दरवाजो के अवशेष भी मिले है, जिनमे से बोझ से लदे हुए पशु, बैलगाडियाँ व रथ भी आ जा सकते थे। कमरो मे दीवारों के साथ आलमारियाँ बनाने की भी प्रथा थी। आलमारी दीवार मे ही बना ली जाती थी। इस युग में खूँटियाँ व चटखनियो आदि का भी प्रयोग होता था। हड्डी और शंख के बने हुए इस प्रकार के अनेक उपकरण मोहनजोदडो के अवशेषों में प्राप्त हुए हैं। मोहनजोदडो की खुदाई से कुछ विशाल इमारतो के अवशेष भी उपलब्ध हुए हैं। शहर के उत्तरी भाग मे एक विशाल इमारत के खडहर विद्यमान हैं, जो लम्बाई मे २४२ फीट और चौडाई में ११२ फीट थी। इस इमारत की बाहरी दीवार मोटाई में ५ फीट है। इस इमारत के समीप ही एक अन्य विशाल प्रासाद के खंडहर मिले है, जो लम्बाई मे २२० फीट और चौडाई मे ११५ फीट था। इसकी बाहरी दीवार ५ फीट से भी अधिक मोटी है। मोहनजोदडो की इमारतो मे सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण एक विशाल जलाशय है, जो ३९½ फीट लम्बा, २३ फीट चौड़ा और ८ फीट गहरा है। यह जलाशय पक्की ईंटो से बना है, और इसकी दीवारें बहुत मजबूत है। इसमें अन्दर जाने के लिए पक्की सीढियाँ बनी हुई है। जलाशय के चारों ओर एक गैलरी बनी है, जो १५ फीट चौडी है। इसके साथ ही जलाशय के दक्षिण-पश्चिम की ओर आठ स्नानागार बने है। सिन्धु-सभ्यता के इन नगरों के चारो ओर की परिखा और प्राचीर के भी अवशेष मिले है। यह स्वाभाविक है, कि इन विशाल नगरों की रक्षा के लिए इन्हे दुर्ग के रूप मे बनाया गया हो। इन नगरो का क्षेत्रफल एक वर्गमील से भी कुछ अधिक है।

धर्म—मोहनजोदड़ो और हड़प्पा के भग्नावशेषों मे कुछ वस्तुएँ ऐसी मिली हैं, जिनके आधार पर हम सिन्धु-सभ्यता के लोगो के धर्म के विषय में कुछ उपयोगी बातें जान सकते हैं। ये वस्तुएँ मुद्राएँ (मोहरे) और धातु, पत्थर व मिट्टी की बनी हुई मूर्तियाँ हैं। पत्थर की बनी मूर्तियो मे सबसे अधिक महत्त्व की वह मूर्ति है, जो कमर के नीचे से टूटी हुई है। यह केवल ७ इंच ऊँची है। अपनी अविकल दशा मे यह मूर्ति अधिक बड़ी होगी, इसमें सन्देह नही। इस मूर्ति में मनुष्य को एक ऐसा चोगा पहने हुए दिखाया गया है, जो बाएँ कधे के ऊपर और दाई भुजा के नीचे से गया है। चोगे के ऊपर तीन हिस्सेवाली पुष्पाकृति बनी है। सम्भवतः, यह पुष्पाकृति धार्मिक चिह्न की द्योतक थी, क्योंकि इस प्रकार का चिह्न मोहनजोदडो और हड़प्पा में बहुलता के साथ

उपलब्ध है। मूर्ति के पुरुष की मूंछें मुँडी हुई है, यद्यपि दाढी विद्यमान है। प्राचीन सुमेरिया में उपलब्ध अनेक दैवी और मानुषी-मूर्तियो में भी इसी प्रकार की मूंछें मुँडी हुई व दाढी पाई जाती है। मूर्ति में आँखें मुदी हुई व ध्यानमग्न दिखाई गयी है। मूर्ति की ध्यानमुद्रा से प्रतीत होता है, कि इसे योगदशा मे बनाया गया है। इस बात से प्राय: सब विद्वान् सहमत है, कि सिन्धु-सभ्यता की यह मूर्ति किसी देवता की है, और इसका सम्बन्ध वहाँ के धर्म के साथ है। पत्थर से बनी इस दैव मूर्ति के अतिरिक्त मोहनजोदड़ो और हडप्पा के भग्नावशेषो में मिट्टी की भी बहुत-सी मूर्तियाँ मिली है। इनमें से एक प्रकार की स्त्री-मूर्ति विशेष रूप से उल्लेखनीय है, क्योंकि ऐसी मूर्तियाँ बहुत बडी संख्या मे वह उपलब्ध हुई है। यह स्त्री-मूर्ति प्राय: नग्न दशा में बनाई गयी है, यद्यपि कमर के नीचे जांघो तक एक प्रकार का कपडा भी प्रदर्शित किया गया है। मूर्ति पर बहुत-से आभूषण अंकित किये गये है, और सिर की टोपी पखे के आकार की बनाई गयी है, जिसके दोनों ओर दो प्याले या दीपक है। ऐसी अनेक स्त्री-मूर्तियो मे दीपक के बीच मे धूम्र के निशान है, जिनसे यह सूचित होता है, कि इनमें तेल या धूप जलाई जाती थी। धूम्र की सत्ता इस बात का प्रमाण है, कि ये स्त्री-मूर्तियाँ पूजा के काम मे आती थी। संसार की प्राय: सभी प्राचीन सभ्यताओं मे मातृ-देवता की पूजा की प्रथा विद्यमान थी। कुल्ली-सभ्यता का उल्लेख करते हुए हम पहले भी मातृ-देवता का जिक्र कर चुके हैं। सिन्धु-सभ्यता मे यदि लोग मातृ-देवता की पूजा करते हो और उसकी मूर्ति के दोनो पार्श्वों मे दीपक जलाते हो, तो यह स्वाभाविक ही है। मातृ-देवता की मूर्तियों के अतिरिक्त मोहनजोदडो और हडप्पा के भग्नावशेषो मे अनेक पुरुष-मूर्तियाँ भी मिली है, जिन्हे नग्न रूप में बनाया गया है। अनेक प्राचीन सभ्यताओ मे लोग त्रिमूर्ति की उपासना किया करते थे। मातृ-देवता, पुरुष और बालक—ये इस त्रिमूर्ति के तीन अग होते थे। सिन्धु-सभ्यता के अवशेषों में बालक देवता की कोई मूर्ति नही मिली है। अतः यह कल्पना तो नही की जा सकती, कि अन्य प्राचीन सभ्यताओ के समान यहाँ भी त्रिमूर्ति की उपासना प्रचलित थी, पर पुरुष-मूर्तियो की सत्ता इस बात को अवश्य सूचित करती है, कि मातृ-देवता के अतिरिक्त वहाँ पुरुष-रूप मे भी दैवी शक्ति की पूजा का भाव विद्यमान था।

सिन्धु-सभ्यता के धर्म के सम्बन्ध मे अनेक ज्ञातव्य बातें उन मुद्राओ से ज्ञात होती हैं, जो मोहनजोदडो और हडप्पा के भग्नावशेषो मे प्रचुर संख्या मे उपलब्ध हुई है। इनमे से एक मुद्रा पर किसी ऐसे नग्न देवता की आकृति अंकित है, जिसके तीन मुख है, और जिसके सिर पर सीग बनाये गये है। इस देव-मूर्ति के चारो ओर अनेक पशु भी बनाये गये हैं। ये पशु हिरण, गेंडा, हाथी, शेर और भैसे हैं। अनेक विद्वानो का विचार है, कि यह आकृति पशुपति शिव की है, जिसकी पूजा आगे चलकर हिन्दू-धर्म मे भी प्रारम्भ हुई। पशुपति शिव की प्रतिमा से अंकित तीन मुद्राएँ अब तक उपलब्ध हुई हैं। यदि इन तीन मुद्राओं मे अंकित प्रतिमा को शिव की मान लिया जाए, तो यह स्वीकार करना होगा, कि शैव-धर्म संसार के प्राचीनतम धर्मों मे से एक है। सिन्धु-सभ्यता के लोग मातृ-देवता की पूजा के साथ-साथ प्रजनन-शक्ति की भी उपासना करते थे। वहाँ ऐसे अनेक प्रस्तर मिले है, जिन्हें विद्वान् लोग योनि और लिंग के प्रतीक मानते

है। आगे चलकर हिन्दू धर्म में योनि और लिंग की पूजा ने बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त किया। शैव-धर्म मे इस प्रकार की पूजा सम्मिलित है, और अनेक शैव-मन्दिरों में योनि और लिंग की प्रतिमा स्थापित की जाती है। कोई आश्चर्य नहीं, कि पशुपति शिव के उपासक सिन्धु-सभ्यता के लोग योनि और लिंग की प्रतिमा बनाकर प्रकृति की प्रजनन-शक्ति की भी पूजा करते हों। मोहनजोदड़ो और हड़प्पा के भग्नावशेषों मे उपलब्ध अनेक मुद्राओं पर पीपल का वृक्ष भी अंकित है। अब तक भी हिन्दू-धर्म में पीपल का वृक्ष पवित्र माना जाता है। बौद्ध-धर्म में भी बोधिवृक्ष के रूप मे पीपल की पूजा विद्यमान है। कोई आश्चर्य नहीं, कि भारत मे पीपल सदृश वृक्षों की पूजा सिन्धु-सभ्यता के युग से चली आती हो, और इसी सभ्यता के लोगों द्वारा इस ढंग की पूजा बाद के हिन्दू-धर्म मे प्रविष्ट हुई हो। अनेक मुद्राओं पर कतिपय पशुओ की प्रतिमाएँ भी अंकित है, और कुछ पशुओ की मूर्तियाँ भी मिली हैं। हिन्दू-धर्म मे विविध देवताओ के वाहन-रूप मे बैल, मूषक आदि पशुओ का जो महत्त्वपूर्ण स्थान है, सम्भवतः उसका प्रारम्भ भी सिन्धु-सभ्यता के युग मे ही हुआ था।

आर्थिक जीवन—मोहनजोदडो और हड़प्पा जैसे विशाल व समृद्ध नगरो की सत्ता इस बात का स्पष्ट प्रमाण है, कि सिन्धु-सभ्यता का आर्थिक जीवन बहुत समृद्ध व उन्नत था। इस सभ्यता के लोगो के आर्थिक जीवन का मुख्य आधार कृषि था। ये लोग खेती द्वारा अनेक प्रकार के अन्नों को उत्पन्न करते थे। इन अन्नों मे गेहूँ और जौ की प्रमुखता थी। इनके कुछ अवशेष भी सिन्धु-सभ्यता के नगरो के भग्नावशेषो मे उपलब्ध हुए है। पर इस सभ्यता के लोग केवल शाकाहारी ही नही थे। वे मास, मछली, अण्डे आदि का भी भोजन के लिए प्रयोग करते थे। मृत शरीरो को गाड़ते हुए मृत मनुष्यो के उपयोग के लिए उन्होंने जो विविध सामग्री साथ मे रक्खी थी, उसमे मास भी सम्मिलित था। यही कारण है, कि मनुष्यो के अस्थिपंजर के साथ-साथ पशुओं की हड्डियाँ भी उपलब्ध हुई हैं। मोहनजोदड़ो और हडप्पा के भग्नावशेषो मे खजूर की गुठलियो की उपलब्धि इस बात को सूचित करती है, कि सिन्धु-सभ्यता के निवासी फलो का भी उपयोग करते थे। मोहरो पर अकित गाय, बैल, भैस आदि की प्रतिमाएँ इस बात का प्रमाण है, कि सिन्धु-सभ्यता मे इन पशुओं का महत्त्वपूर्ण स्थान था। लोग इनके दूध, घी आदि का उपयोग करते होगे, यह कल्पना सहज मे की जा सकती है। गाय, बैल और भैस के अतिरिक्त सिन्धु-सभ्यता के लोग भेड, बकरी, हाथी, सूअर और कुत्ते भी पालते थे। इन सब पशुओ की हड्डियाँ इस सभ्यता के अवशेषों मे प्राप्त हुई हैं। यह आश्चर्य की बात है, कि इन अवशेषों मे ऊँट की सत्ता का कोई प्रमाण नही मिला है। इस युग के मनुष्य कपास भी उत्पन्न करते थे। मोहनजोदड़ो के अवशेषो मे एक सूती कपडा चाँदी के एक कलश के साथ चिपका हुआ मिला है। विशेषज्ञो के मतानुसार यह कपड़ा वर्तमान समय की खादी से मिलता-जुलता है। ऐसा प्रतीत होता है, कि सिन्धु-घाटी के प्रदेश मे सूती कपडा बहुतायत के साथ बनता था। वह सुदूरवर्ती देशो में विक्रय के लिए जाता था, और पश्चिमी संसार में उसकी बहुत कद्र थी। प्राचीन ईराक मे सूती कपडे के लिए 'सिन्धु' शब्द का प्रयोग होता था। यही शब्द और अधिक पश्चिम में जाकर ग्रीक भाषा मे 'सिन्दन' बन गया। सूत को लपेटने के लिए प्रयुक्त होने वाली बहुत-सी तरियाँ

मोहनजोदड़ो के भग्नावशेषों में मिली हैं। इनकी उपलब्धि इस बात का प्रमाण है, कि वहाँ घर-घर में सूत कातने की प्रथा विद्यमान थी। वस्त्र-व्यवसाय के समुन्नत होने के कारण सिन्धु-सभ्यता में कपास की खेती का कितना अधिक महत्त्व होगा, इस बात की कल्पना सहज में की जा सकती है।

शिल्प और व्यवसाय—मिट्टी के बरतन बनाने की कला इस युग में बहुत उन्नत थी। मोहनजोदड़ो और हड़प्पा के भग्नावशेषों में बहुत-से बरतन खण्डित रूप मे उपलब्ध हुए हैं। ये बरतन कुम्हार के चाक पर बनाये गये हैं, और इन्हे अनेक प्रकार के चित्रों व आकृतियों द्वारा विभूषित किया गया है। इस युग के कटोरे-कटोरियाँ, कलश, थालियाँ, रकाबियाँ, सुराहियाँ आदि बहुत बडी संख्या मे उपलब्ध हुई हैं, जो कुम्हार के शिल्प की उत्कृष्टता के प्रत्यक्ष प्रमाण हैं। बहुत-से बरतनो पर उस ढग की चमक पायी जाती है, जैसी कि चीनी मिट्टी के बने बरतनों पर होती है। बरतन न केवल मिट्टी के बनाये जाते थे, अपितु पत्थर और धातु का भी इनके निर्माण के लिए प्रयोग होता था।

सूती कपडो के निर्माण का जिक्र हम ऊपर कर चुके हैं। सिन्धु-घाटी सूती कपडों के लिए प्रसिद्ध थी, और वहाँ के वस्त्र पश्चिमी संसार में दूर-दूर तक बिकने के लिए जाते थे। पर इस सभ्यता के लोग ऊनी और रेशमी वस्त्रो का भी निर्माण करते थे, और तैयार हुए वस्त्रो पर अनेक प्रकार के फूल व अन्य आकृतियाँ भी काढ़ते थे। सम्भवत', कपडे को छापने की कला भी उस युग मे विकसित हो चुकी थी। कुम्हार के सदृश ही तन्तुवाय (जुलाहा) का शिल्प भी इस युग मे अच्छी उन्नत दशा मे था। यद्यपि इस सभ्यता की पुरुष-मूर्तियाँ नग्न रूप मे बनाई गयी है, पर इससे यह नही समझना चाहिए, कि इस काल मे कपडा पहनने की प्रथा का अभाव था। नग्न मूर्तियाँ शारीरिक सौंदर्य को प्रदर्शित करने के लिए बनाई गयी थी, या इन मूर्तियों के दैवी होने के कारण ही इन्हे नग्न रखा गया था। एक पुरुष-मूर्ति का पहले उल्लेख हो चुका है, जिसे वस्त्र पहने हुए बनाया गया है। स्त्री-मूर्तियो पर कमर से जाँघ तक का वस्त्र तो सर्वत्र ही प्रदर्शित किया गया है, पर कुछ स्त्री-मूर्तियाँ ऐसी भी मिली है, जिनमे कमर से ऊपर भी वस्त्र बनाया गया है। इस युग की सभी पुरुष-प्रतिमाएँ नग्न नहीं हैं। हडप्पा मे एक ऐसी पुरुष-प्रतिमा भी उपलब्ध हुई है, जिसकी टाँगो पर चूडीदार पायजामा के ढंग का वस्त्र है। कुछ विद्वानो के मत मे यह कपडा धोती है, जिसे टाँगों के साथ कसकर बाँधा गया था। सिन्धु-सभ्यता के स्त्री-पुरुष आभूषणों के बहुत शौकीन थे। यही कारण है, कि इस युग की जो स्त्री-मूर्तियाँ, पुरुष-मूर्तियाँ और प्रतिमाएँ मिली हैं, उनमे बहुत-से आभूषणो को प्रदर्शित किया गया है। सौभाग्यवश, मोहनजोदड़ो और हड़प्पा के भग्नावशेषों में आभूषण अच्छी बडी संख्या मे उपलब्ध हुए हैं, जिन्हें इस युग के स्त्री-पुरुष धारण किया करते थे। ये आभूषण चाँदी और ताँबे के बरतनो में सभालकर रखे हुए मिले हैं।

धातु का उपयोग—सिन्धु-सभ्यता के आर्थिक जीवन में धातुओं द्वारा बरतन और औजार बनाने का शिल्प भी बहुत उन्नत था। इन धातुओं में ताँबे को प्रचुरता के साथ प्रयुक्त किया जाता था, यद्यपि चाँदी, ब्रोंज और सीसे का उपयोग भी उस युग के धातुकार भली-भाँति जानते थे। ताम्र और ब्रोंज के बरतन वहाँ बहुत बड़ी संख्या

में मिले हैं, और ये अच्छे सुडौल व सुन्दर है। ताम्र का प्रयोग औजारों के लिए विशेष रूप से किया जाता था। मोहनजोदडो और हड़प्पा के खडहरों में मिले कुछ ताँबे के कुल्हाड़े लम्बाई में ११ इंच हैं, और उनका बोझ दो सेर से कुछ अधिक है। इनमें लकडी को फंसाने के लिए छेद भी विद्यमान है। धातु से निर्मित औजारो मे ताँबे की बनी एक आरी भी उपलब्ध हुई है, जिसका हत्था लकडी का था। इस आरी में दाँते भी बने हैं, और यह लम्बाई मे १६॥ इंच है। इस युग मे अस्त्र-शस्त्र भी धातु के बनते थे। सिन्धु-सभ्यता के अवशेषों में परशु, तलवार, कटार, धनुष-बाण, बरछी, भाला, छुरी आदि अनेक प्रकार के हथियार मिले है, जो सब ताँबे या ब्रोज के बने हैं। छोटे-छोटे चाकू भी इन अवशेषो मे मिले हैं, जो घरेलू कार्यों के लिए प्रयुक्त होते होंगे। पत्थर काटने वाली छेनियो की सत्ता इस बात को सूचित करती है, कि पत्थर तराशने का शिल्प भी इस युग मे विकसित था। ब्रोज के बने मछली पकड़ने के काँटे भी इस सभ्यता के अवशेषों मे उपलब्ध हुए है।

तोल और माप के साधन—सिन्धु-सभ्यता की विविध बस्तियो के अवशेषो मे तोल के बहुत-से बट्टे भी उपलब्ध हुए है। ये बट्टे पत्थर के बने हैं, और इन्हे एक निश्चित आकार (चौकोर घन के आकार) मे बनाया गया है। सबसे छोटा बाट तोल मे १३·६४ ग्राम के बराबर है। इस छोटे बाट को अगर इकाई मान लिया जाय, तो १, २, ४, ८, १६, ३२, ६४, १६०, २००, ३२० और ६४० इकाइयों के वजन के बाट उपलब्ध हुए है। यह बात बडे आश्चर्य की है, कि भारत की इस प्राचीन सभ्यता में भी बोझ के विविध अनुपात को सूचित करने के लिए १, ४, ८, १६ की पद्धति का अनुसरण किया जाता था। धातु की बनी एक तराजू के भी अनेक खड इस सभ्यता के अवशेषो में मिले हैं। मोहनजोदडो के खडहरो मे सीपी के बने 'फुटे' का एक टुकडा मिला है, जिसमे ६ एक समान विभाग स्पष्ट रूप से अंकित हैं। ये विभाग ०.२६४ इंच के बराबर है। ऐसा प्रतीत होता है कि यह फुटा अच्छा लम्बा था, और सीपी के जिन टुकड़ो से इसे बनाया गया था, उन्हें परस्पर जोडने के लिए धातु का प्रयोग किया गया था। हडप्पा के अवशेषो मे ब्रोज की एक शलाका मिली है, जिस पर नापने के लिए छोटे-छोटे विभाग अंकित है। ये विभाग लम्बाई मे ०.३६७६ इच है। इन दो 'फुटो' के आधार पर सिन्धु-सभ्यता की ईंटो व कमरो की लम्बाई-चौडाई को माप कर विद्वानो ने यह परिणाम निकाला है, कि इस युग का फुट १३.२ इच लम्बा होता था। इस फुटे के अतिरिक्त माप का एक अन्य मान था, जो लम्बाई में २०.४ इच होता था। सिन्धु सभ्यता मे जो भी मकान बनाये गए थे, और जो भी ईंटे बनायी गई थी, वे इन दो मानो मे से किसी न किसी मान के अनुसार ठीक उतरती है।

व्यापार—तोल और माप के इन निश्चित मानो की सत्ता इस बात की सूचक है, कि इस युग मे व्यापार अच्छी उन्नत दशा मे था। मोहनजोदडो और हडप्पा के अवशेषों मे जो बहुत-सी वस्तुएँ मिली हैं, वे सब उसी प्रदेश की उपज व कृति नही हैं। उनमे से अनेक वस्तुएँ सुदूरवर्ती प्रदेशो से व्यापार द्वारा प्राप्त की गयी थी। सिन्धु नदी की घाटी में ताँबा, चाँदी, सोना आदि धातुएँ प्राप्त नही होती। सम्भवत:, सिन्धु-सभ्यता के लोग चाँदी, टिन, सीसा और सोना अफगानिस्तान व और भी दूर ईरान

से प्राप्त करते थे। अनेक प्रकार के बहुमूल्य पत्थर बदख्शां जैसे सुदूरवर्ती प्रदेशों से आते थे। ताँबे के लिये मुख्यतया राजपूताना पर निर्भर रहना पड़ता था। सीपी, शंख, कौडी आदि का प्रयोग सिन्धु-सभ्यता में प्रचुरता के साथ हुआ है। सम्भवतः, ये सब काठियावाड़ के समुद्र-तट से आती थी। इसी प्रदेश से मूँगा, मोती आदि बहुमूल्य रत्न भी आते थे, जिनका उपयोग आभूषणों के लिये किया जाता था। सिन्धु सभ्यता के भग्नावशेषों में देवदार के शहतीरों के खड भी मिले है। देवदार का वृक्ष केवल पहाड़ो मे होता है। हिमालय से इतनी दूरी पर स्थित सिन्धु-सभ्यता के नगरो मे देवदार की लकड़ी की उपलब्धि इस बात का स्पष्ट प्रमाण है, कि इन नगरो का पार्वत्य प्रदेशो के साथ भी व्यापार था।

यह व्यापार तभी सम्भव था, जबकि व्यापारियों का वर्ग भली-भाँति विकसित हो चुका हो, और आवागमन के साधन भी अच्छे उन्नत हो। व्यापारियों के काफिले (सार्थ) स्थल और जल दोनो मार्गों से दूर-दूर तक व्यापार के लिए आया-जाया करते थे। इस युग मे नौकाओ व छोटे जहाजो का प्रयोग होता था, यह बात असंदिग्ध है। इस सभ्यता के खडहरो मे उपलब्ध हुई एक मोहर पर एक जहाज की आकृति सुन्दर रूप से अंकित की गई है। इसी प्रकार मिट्टी के बरतन के एक टुकडे पर भी जहाज का चित्र बना हुआ मिला है। स्थल-मार्ग द्वारा आवागमन के लिए जहाँ घोडे और गधे जैसे पशु प्रयुक्त होते थे, वहाँ साथ ही बैलगाडियाँ भी उस युग मे विद्यमान थी। मोहनजोदडो और हड़प्पा के भग्नावशेषो मे खिलौने के तौर पर बनाई गयी मिट्टी की छोटी-छोटी गाडियाँ बडी सख्या मे उपलब्ध हुई है। खिलौने के रूप मे गाड़ियों को बनाना ही इस बात का प्रमाण है कि उस युग मे इनका बहुत चलन था। केवल बैलगाडी ही नही, इस युग मे इक्के भी प्रयुक्त होते थे। हड़प्पा के खण्डहरों मे ब्रोंज का बना एक छोटा-सा इक्का मिला है, जिसे सम्भवत उस युग मे प्रयुक्त होने वाले इक्को के नमूने पर बनाया गया था।

इस युग की सिन्धु-सभ्यता मे न केवल अन्तर्देशीय व्यापार अच्छा उन्नत था, अपितु विदेशी व्यापार भी बहुत विकसित दशा मे था। प्राचीन सुमेरिया के अवशेषो मे अनेक ऐसी मुद्राएँ मिली हैं, जो हडप्पा की मुद्राओ से हूबहू मिलती-जुलती है। ये मुद्राएँ सुमेरिया की अपनी मुद्राओ से सर्वथा भिन्न हैं। इनमे से एक मुद्रा पर सूती कपड़े का निशान भी अंकित है, जो सिन्धु-सभ्यता मे बडी मात्रा में तैयार होता था। ऐसा प्रतीत होता है, कि सिन्धु देश के व्यापारी सुमेरिया मे भी बसे हुए थे, और वहाँ वे मुख्यतया कपडे का व्यापार करते थे। इसी प्रकार मोहनजोदडो मे कुछ ऐसी मुद्राएँ मिली हैं, जो ठीक सुमेरियन शैली की हैं। ये मुद्राएँ या तो सुमेरियन व्यापारियो की सिन्धु देश मे सत्ता को सूचित करती है, और या यह भी सम्भव है कि सुमेरिया से घनिष्ठ व्यापारिक सम्बन्ध रखने वाले कुछ सिन्धुदेशीय व्यापारियों ने सुमेरियन शैली पर अपनी मुद्राओ का निर्माण किया हो। सिन्धु-सभ्यता के व्यापारी न केवल सुमेरिया के साथ व्यापार करते थे, अपितु ईरान से भी उनका व्यापारिक सम्बन्ध स्थापित था। ईरान के अनेक प्राचीन भग्नावशेषों मे ऐसी अनेक वस्तुएँ उपलब्ध हुई हैं, जो वहाँ सिन्धु देश से गयी मानी जाती हैं।

सिन्धु-सभ्यता की कला में पत्थर और धातु की बनी हुई मूर्तियाँ विशेष रूप से उल्लेखनीय है। धातु की बनी हुई नर्तकी की एक मूर्ति इतनी सुन्दर है, कि वह बिलकुल सजीव प्रतीत होती है। नर्तकी का शरीर नग्न है, यद्यपि उसपर बहुत-से आभूषण बनाये गये हैं। सिर के केशों का प्रसाधन मूर्ति मे बहुत ही सुन्दर रूप से प्रदर्शित किया गया है। सिन्धु-सभ्यता के लोग संगीत और नृत्य के शौकीन थे, यह बात केवल नर्तकी की मूर्ति द्वारा ही सूचित नही होती, अपितु उन छोटे-छोटे वाद्यों द्वारा भी प्रकट होती है, जो इस युग के भग्नावशेषों में उपलब्ध हुए हैं। पक्षियों की कुछ ऐसी मूर्तियाँ मिली हैं, जिनकी पूंछ से सीटी या बाँसुरी बजाने का उपयोग लिया जा सकता था। तबले और ढोल के चित्र भी कुछ स्थानो पर उत्कीर्ण मिले है। अपने केशों के प्रसाधन के लिये इस युग के लोग दर्पण और कघे का प्रयोग करते थे। तांबे के बने हुए कुछ दर्पण इस सभ्यता के अवशेषों में मिले हैं, और हाथीदांत के बने एक कंघे से यह सूचित होता है, कि इस युग में किस ढंग के कंघे प्रयुक्त होते थे। शृंगार की वस्तुएँ उस समय मे भी उपयोग मे लायी जाती थी। पत्थर के बने हुए छोटे-छोटे ऐसे पात्र मिले है, जो सम्भवतः शृंगार-प्रसाधन की वस्तुओं को रखने के लिये प्रयोग मे लाये जाते थे।

लिपि और लेखन-कला—मोहनजोदडो और हड़प्पा के भग्नावशेषो में जो बहुत-सी मुद्राएँ मिली हैं, उनपर अनेक प्रकार के लेख उत्कीर्ण है। दुःख की बात है, कि सिन्धु-सभ्यता की इस लिपि को अभी तक पढ़ा नहीं जा सका है। अनेक विद्वानों ने इसे पढने का प्रयत्न किया है, और कुछ का यह भी दावा है, कि वे इस लिपि को पढ़ सकने में सफल हो गये हैं। पर अभी तक पुरातत्त्व-शास्त्र के बहुसख्यक विद्वान् यही मानते हैं कि यह लिपि पढी नहीं जा सकी है, और जिन विद्वानो ने इसे पढने का दावा किया है, उनका दावा उन्हें स्वीकार्य नही है। सिन्धु-सभ्यता के ये लेख चित्रलिपि मे है, जिसका प्रत्येक चिह्न किसी विशेष शब्द या भाव को प्रकट करता है। सिन्धु-सभ्यता मे लिखने के लिए स्याही का भी उपयोग होता था, यह बात छन्नू-दड़ो के भग्नावशेषों मे उपलब्ध एक दवात से सूचित होती है। यह दवात मिट्टी की बनी है, और इसकी उपलब्धि से इस बात मे कोई सन्देह नहीं रह जाता, कि सिन्धु-सभ्यता के लोग अपने लेखों को केवल उत्कीर्ण ही नही करते थे, अपितु कलम-दवात से लिखते भी थे।

सिन्धु-सभ्यता के निवासी—मोहनजोदडो और हड़प्पा के भग्नावशेषों मे मनुष्यों के जो अस्थिपंजर मिले हैं, उनका अनुशीलन कर यह निर्णय करने का प्रयत्न किया गया है, कि सिन्धु-सभ्यता के निवासी नसल और जाति की दृष्टि से कौन थे। यह तो स्पष्ट ही है, कि इस सभ्यता के प्रधान नगरों की आबादी मिश्रित थी। व्यापार, नौकरी व अन्य आकर्षणो से आकृष्ट होकर अनेक नसलो और जातियों के लोग इन नगरों में आकर निवास करते थे। यही कारण है, कि इनसे उपलब्ध हुए मानव अस्थिपंजर विविध प्रकार के लोगों की सत्ता को सूचित करते हैं। कर्नल स्यूअल और डा० गुहा के मतानुसार इन नगरों में उपलब्ध हुए अस्थिपंजरों से यह परिणाम निकाला जा सकता है, कि इनके निवासी चार विभिन्न नसलों के थे। ये नसलें

निम्नलिखित हैं—आस्ट्रेलोग्रड, भूमध्यसागरीय, मंगोलियन और अल्पाइन। इनमें से मंगोलियन और अल्पाइन नसल के लोगों की केवल एक-एक खोपड़ी सिन्धु-सभ्यता के अवशेषों में प्राप्त हुई है। इससे सूचित होता है, कि इन नसलो के लोग सिन्धु देश के क्षेत्र में बहुत कम संख्या में निवास करते थे। सिन्धु देश के बहुसंख्यक निवासी आस्ट्रेलोग्रड और भूमध्यसागरीय नसलों के थे। इनमें भी भूमध्यसागरीय नसल का प्राधान्य था। आर्य जाति के इतिहास के रंगमंच पर प्रकट होने से पूर्व पृथिवी के अनेक प्रदेशो पर (विशेषतया भूमध्यसागर के तटवर्ती क्षेत्रों में और पश्चिमी एशिया मे) जिन लोगो ने मानव-सभ्यता का विकास किया था, उन्हें सामूहिक रूप से भूमध्यसागरीय नसल का कहा जाता है। संसार की प्राचीनतम सभ्यता का विकास इसी नसल के लोगो ने किया, भारत के द्रविड लोग भी इसी आइबीरियन नसल की एक शाखा माने जाते हैं, और अनेक विद्वानो का मत है कि सिन्धु-सभ्यता का विकास इन्हीं द्रविड-आइबीरियन लोगो द्वारा हुआ था पर सिन्धु-सभ्यता के निवासियों का द्रविड होना अभी सब विद्वानों ने स्वीकार नही किया है।

पर इसमें सन्देह नही, कि सिन्धु-सभ्यता का विनाश बाह्य आक्रमणो द्वारा हुआ था। २००० ई० पू० के लगभग ससार की प्राचीन सभ्यताओं के ऊपर बाह्य शत्रुओं के हमले शुरू हो गए थे। इसी समय के लगभग एशिया माइनर के प्रदेश पर हत्ती या खत्ती (हित्ताईत) जाति ने आक्रमण किया था, और वहाँ की पुरातन सभ्यताओ का विनाश कर अपने राज्य की स्थापना की थी। ये खत्ती लोग उस आर्य-जाति की एक शाखा थे, जो इस समय अपने पुराने अभिजन को छोडकर भूमध्य-सागरीय या आइबीरियन जातियो द्वारा विकसित सभ्यताओं के ध्वंस में तत्पर थी। इसी आर्य जाति की अन्य शाखाओं ने ईराक, ईरान आदि पश्चिमी एशिया की अन्य प्राचीन सभ्यताओ को विनष्ट किया। २००० ई० पू० के कुछ समय बाद आर्यजाति की ही एक शाखा ने भारत पर आक्रमण कर उन सभ्यताओ को नष्ट किया, जो उस समय इस देश मे विद्यमान थी। सिन्धु-सभ्यता का विनाश भी आर्य लोगों द्वारा हुआ। आर्यों ने इनके दुर्गों व पुरो का ध्वंश किया। आर्य लोग इन्हें 'दस्यु' या 'दास' कहते थे। सिन्धु-सभ्यता के लोगो का अन्य कोई नाम हमे ज्ञात नही है, अतः यदि हम भी उन्हे दस्यु या दास संज्ञा दें, तो अनुचित नही होगा। ये दोनो शब्द संस्कृत मे डाकू और गुलाम अर्थ मे भी प्रयुक्त होते हैं। आर्यों ने जिन लोगों को नष्ट किया, उनके नाम को यदि वे इन हीन अर्थों मे प्रयुक्त करने लगे हो, तो यह अस्वाभाविक नहीं है।

सिन्धु-सभ्यता २००० ई० पू० के लगभग तक कायम रही। इससे पूर्व वह अनेक सदियो तक फलती-फूलती दशा मे थी, यह बात निर्विवाद है।

चौथा अध्याय

आर्य जाति और उसका भारत में प्रवेश

(१) आर्य-जाति

अठाहरवी सदी के उत्तरार्ध मे जब कतिपय यूरोपियन विद्वानो ने भारत के सम्पर्क मे आकर सस्कृत-भाषा का अध्ययन शुरू किया, तो उन्हे यह देखकर बडा आश्चर्य हुआ, कि संस्कृत की लेटिन और ग्रीक भाषाओ के साथ बहुत समता है। यह समता केवल शब्दकोष में ही नही है, अपितु व्याकरण मे भी है। भाषा-विज्ञान के क्षेत्र मे यह 'आविष्कार' बहुत महत्त्वपूर्ण था। इसे प्रकट करने वाले प्रथम विद्वान केअरदू थे, जिन्होने १७६७ ई० मे ग्रीक और लेटिन की संस्कृत के साथ समता का प्रतिपादन किया। केअरदू फ्रेंच थे, और इसी कारण ब्रिटिश विद्वानो ने उनके आविष्कार पर अधिक ध्यान नही दिया। उनके कुछ समय बाद सर विलियम जोन्स नामक अंग्रेज विद्वान् ने १७८६ ई० मे इसी तथ्य को प्रकट किया, और उन्होने यह प्रतिपादित किया कि सस्कृत, लेटिन, ग्रीक, जर्मन और केल्टिक भाषाएँ एक ही भाषा-परिवार की हैं, और इनका मूल एक ही है। जोन्स की इस स्थापना से यूरोप के विद्वानो मे एक तहलका-सा मच गया। हीगल ने तो यहाँ तक लिख दिया, कि जोन्स का यह आविष्कार एक नई दुनिया के आविष्कार के समान है। इस समय से उस नये विज्ञान का प्रारम्भ हुआ, जिसे हम तुलनात्मक भाषाविज्ञान कहते है। संसार की वर्तमान और प्राचीन भाषाओ का अध्ययन कर विद्वान् लोग शब्दकोष और व्याकरण की दृष्टि से उनकी तुलना करने लगे, और उन्हे विविध भाषा-परिवारो मे विभक्त करने लगे। इस विवेचना से विद्वानों ने यह परिणाम निकाला, कि इटालियन, फ्रेंच, स्पेनिश, ग्रीक, केल्टिक, जर्मन, इगलिश, ट्यूटानिक, स्लावोनिक, लिथुएनियन, लेटिन, अल्बेनियन आदि यूरोपियन भाषाएँ, उत्तरी भारत की हिन्दी, पंजाबी, मराठी, गुजराती, बंगाली, उडिया आदि भाषाएँ और पश्चिमी एशिया की जेन्द, पर्शियन, पश्तो, बलूची, कुर्द और आर्मीनियन भाषाएँ एक ही विशाल भाषा-परिवार की अग हैं। यूरोप और एशिया की इन सब भाषाओ मे शब्दकोष और व्याकरण की जो आश्चर्यजनक समता है, वह आकस्मिक नही हो सकती। इस समता का कारण यही हो सकता है, कि इन विविध भाषाओ को बोलने वाले लोगो के पूर्वज किसी अत्यन्त प्राचीन काल मे एक स्थान पर निवास करते थे और एक भाषा बोलते थे। बाद में जब वे अनेक शाखा-प्रशाखाओं मे विभक्त होकर विविध प्रदेशो मे बस गये, तो उनकी भाषा भी पृथक् रूप से विकसित होती गयी। पर उसमे वह समता कायम रही, जो हमें इस समय आश्चर्यजनक प्रतीत होती है। जिस प्रकार गुजराती, मराठी, बंगाली, हिन्दी आदि विविध भारतीय भाषाओं का उद्गम प्राचीन सस्कृत भाषा से हुआ, वैसे

ही यूरोप और एशिया की इन भाषाओं का स्रोत कोई एक प्राचीन भाषा थी, जिसका स्वरूप हमें अज्ञात है। यदि यह बात सत्य है, कि अटलांटिक महासागर के समुद्र-तट से भारत तक विस्तृत इस विशाल क्षेत्र मे (पश्चिमी एशिया की सेमेटिक और तुर्क भाषाओं तथा यूरोप की मगयार और फिन भाषाओं के क्षेत्रो को छोड़कर) जो भाषाएँ अब बोली जाती हैं, उनका उद्गम एक है, तो साथ ही यह भी स्वीकार करना होगा, कि इनको बोलने वाले लोग एक ही विशाल जाति के अंग हैं, और किसी प्राचीन काल में वे एक ही स्थान पर निवास करते थे। अनेक विद्वानों ने शरीर की रचना और आकृति के आधार पर भी इस मन्तव्य की पुष्टि की और यह बात सर्वमान्य-सी हो गयी, कि यूरोप, ईरान और भारत के बहुसख्यक निवासी जाति की दृष्टि से एक हैं. और उनके रंग, रूप और भाषा आदि में जो भेद इस समय दिखायी देता है, उसका कारण जलवायु की भिन्नता और चिरकाल तक एक-दूसरे से पृथक् रहना ही है।

इस जाति का नाम क्या हो, इस सम्बन्ध मे विद्वानों में ऐकमत्य नही है। इसके लिए विविध विद्वानो ने 'इण्डो-जर्मन', 'इण्डो-यूरोपियन', 'इण्डो-ईरानियन', 'आर्यन्' आदि विविध नामो का उपयोग किया है, और कुछ ने 'वीराः' या 'वीरोस्' शब्द चुना है, क्योंकि इस भाषा-परिवार की अनेक प्राचीन भाषाओ में मनुष्य के लिए 'वीर' या इससे मिलते-जुलते शब्द विद्यमान है। पर अधिक प्रचलित शब्द 'आर्यन्' या 'आर्य' है, और हमने भी इसी को उपयुक्त समझा है। संस्कृत और प्राचीन ईरानियन भाषा में आर्य शब्द अपनी जाति के लिए प्रयुक्त होता था। भारत के आर्य लोग तो अपने को आर्य कहते ही थे, ईरानी लोग भी इसी शब्द का उपयोग करते थे। ईरान शब्द स्वयं आर्य का अपभ्रंश है, और इस शब्द की स्मृति आयरलैंड के 'आयर' में भी विद्यमान है। इन्ही दृष्टियो से बहुसख्यक विद्वान् इस विशाल जाति के लिए आर्य सज्ञा का उपयोग करना उपयुक्त समझते है।

(२) आर्य जाति का मूल अभिजन

जो विशाल आर्य जाति इस समय अटलाण्टिक महासागर से भारत तक फैली हुई है, उसका मूल अभिजन (निवास-स्थान) कौन-सा था, इस सम्बन्ध मे विद्वानों ने अनेक मत प्रतिपादित किये है, । इनमे से कतिपय प्रमुख मतों पर हम यहाँ संक्षेप से प्रकाश डालेंगे—

(१) **मध्य एशिया**—आर्य जाति का मूल अभिजन मध्य एशिया (ईरान के उत्तर और कैस्पियन सागर के पूर्व) मे था, इस मत को सबसे पूर्व १८२० ई० में जे० जी० र्‌होड ने प्रतिपादित किया था। ईरान की प्राचीन अनुश्रुति को दृष्टि मे रखकर र्‌होड ने यह मत स्थिर किया, कि आर्य लोग शुरू मे बैक्ट्रिया मे निवास करते थे, और वहाँ से वे दक्षिण, पूर्व और पश्चिम दिशाओ मे फैले। श्लीगल और पॉट ने र्‌होड के मत का समर्थन किया। पॉट का कथन था, कि बाद के इतिहास में हम देखते हैं कि कितनी ही जातियाँ मध्य एशिया के क्षेत्र से पूर्व और पश्चिम की तरफ फैली। जो प्रक्रिया बाद के इतिहास मे हुई, वही प्राचीन युग मे भी हुई थी, और आर्य लोग इसी क्षेत्र से अन्य प्रदेशों मे जाकर बसे थे। सन् १८५६ मे प्रोफेसर

मैक्समूलर के मध्य एशिया के आर्यों का मूल निवास स्थान होने के मत की प्रबलता के साथ पुष्टि की। आर्य लोग पहले मध्य एशिया मे निवास करते थे। उनकी एक शाखा दक्षिण-पूर्व की तरफ चली गयी। इसी की बाद में ईरानी और भारतीय आर्यो के रूप मे दो उप-शाखाएँ हो गयी। ईरानी और भारतीय आर्य चिरकाल तक एक साथ रहे थे। यही कारण है, कि उनमें परस्पर बहुत अधिक समता पायी जाती है। आर्य-जाति की अन्य शाखाएँ पश्चिम व दक्षिण-पश्चिम की ओर बढ़ती गयी और धीरे-धीरे सारे यूरोप मे फैल गयी। सन् १८७४ मे प्रोफेसर सेअ्स ने तुलनात्मक भाषा-विज्ञान के आधार पर मध्य एशिया में आर्यों के मूल अभिजन होने के मत की पुष्टि की। उन्होंने कहा कि वेद और जेन्दाबस्ता के अनुशीलन से यह सूचित होता है, कि आर्य लोग पहले ऐसे स्थान पर रहते थे, जहाँ शीत की अधिकता थी। ऋग्वेद मे वर्ष को सूचित करने के लिए 'हिम' का प्रयोग किया गया है। वहाँ एक मन्त्र (ऋग्वेद ५, ५४, १५) में 'तरेम तरसा शत हिमा:' यह पद आया है, जिसका अर्थ है कि हम शत हिम (सौ साल) जीएँ। वेद और अवस्ता मे घोड़े और गौवों का जिक्र आता है, नाव चलाने का भी उल्लेख है, और वृक्षों में पीपल का वर्णन है। अत: आर्यों का मूल अभिजन कोई ऐसा प्रदेश होना चाहिए जहाँ खूब सरदी पड़ती हो, पीपल बहुत होता हो, नाव चलाने की सुविधा हो, और घोड़ों व गौवों की प्रचुरता हो। ऐसा प्रदेश मध्य-एशिया का है। कैस्पियन सागर के समीप होने के कारण वहाँ नाव की सुविधा है, और अन्य सब वनस्पति व जन्तु भी वहाँ उपलब्ध है। क्योकि जेन्दाबस्ता मे इस बात का निर्देश भी मिलता है, कि आर्य लोग पहले बैक्ट्रिया के प्रदेश मे निवास करते थे, अत: कैस्पियन सागर के पूर्ववर्ती इस प्रदेश को ही आर्यों का मूल स्थान मानना चाहिए।

(२) **उत्तरी ध्रुव**—भारत के प्रसिद्ध विद्वान् लोकमान्य बालगंगाधर तिलक ने आर्यों के मूल अभिजन के सम्बन्ध मे यह मत प्रतिपादित किया, कि शुरू मे आर्य लोग उत्तरी ध्रुव के क्षेत्र मे रहते थे। जलवायु की स्थिति मे परिवर्तन होने के कारण बाद मे वे अन्य स्थानो मे जाने के लिए विवश हुए। तिलक ने इस मत को प्रधानतया वैदिक संहिताओं के आधार पर प्रतिपादित किया था। इसमे सन्देह नही, कि ऋग्वेद के निर्माण के समय आर्य लोग सप्तसैन्धव (पंजाब व समीपवर्ती प्रदेश) देश में आ चुके थे। पर उस युग की स्मृति अभी उनमे विद्यमान थी, जब कि वे उत्तरी ध्रुव के क्षेत्र में निवास करते थे। ऋग्वेद के अनेक सूक्तो मे छ: मास के दिन का वर्णन आता है। एक सूक्त मे उषा की स्तुति की गयी है। यह वैदिक उषा भारत की उषा नही है, जो कुछ मिनटो तक ही रहती है। यह एक अत्यन्य सुदीर्घकाल तक रहने वाली उषा है, जो समाप्त ही नहीं होती। ऐसी उषा उत्तरी ध्रुव के प्रदेश मे ही होती है, मध्य एशिया या भारत मे नही। महाभारत मे सुमेरु पर्वत का वर्णन आता है, जहाँ देव लोगो का निवास है। सुमेरु के क्षेत्र मे एक साल का अहोरात्र होता है। इस पर्वत पर बहुत-सी वनस्पतियाँ व ओषधियाँ भी उत्पन्न होती हैं। जिस पर्वत पर एक साल का अहोरात्र होता हो, वह केवल उत्तरी ध्रुव के क्षेत्र मे ही हो सकता है। ऐसा प्रतीत होता है, कि महाभारत के इस वर्णन में उस समय की स्मृति सुरक्षित है, जबकि आर्य लोग उत्तरी ध्रुव मे निवास करते थे, और जब कि हिमप्रलय-पूर्ववर्ती समय मे वह प्रदेश वनस्पति आदि से परिपूर्ण होने के

कारण मनुष्यों के निवास के योग्य था। आर्य लोग वहाँ से चले आये थे, पर अपने प्राचीन अभिजन को आदर की दृष्टि से देखते थे, और यह कल्पना करते थे कि देव लोग अब तक भी वहाँ निवास करते हैं।

प्राचीन ईरानियो के धर्मग्रन्थ जेन्दावस्ता की प्रथम पुस्तक वेन्दिदाद मे भी कतिपय ऐसे निर्देश मिलते हैं, जो आर्यों के मूल अभिजन पर प्रकाश डालते हैं। उनके अनुसार अहुरमज्द ने पहले-पहल 'ऐर्य्यन वेइजो' (आर्यों का बीज या मूल) का निर्माण किया। इस प्रदेश में सरदी के दस महीने और गर्मी के दो महीने होते थे। ऐर्य्यन वेइजो के बाद अहुरमज्द ने सुग्ध और फिर मोउर का निर्माण किया। अनेक विद्वानों के अनुसार यह ऐर्य्यन वेइजो देश उत्तरी ध्रुव के समीप ही कही स्थित था। जेन्दा-बस्ता मे अहुरमज्द द्वारा निर्मित विविध देशो का जो क्रम लिखा गया है, अनेक विचारको के अनुसार वह आर्यों के विस्तार को सूचित करता है। पर ऐर्य्यन वेइजो उत्तरी ध्रुव के क्षेत्र मे ही कही था, इस बात से सब विद्वान् सहमत नही हैं। कतिपय विद्वान् इस प्रदेश को ईरान के उत्तर मे स्थित मानते हैं।

(३) **सप्तसैन्धव देश**—भारत के ही कुछ अन्य विद्वानों ने यह मत प्रतिपादित किया, कि आर्य लोगो का मूल अभिजन सप्तसैन्धव देश था। सरस्वती, शतद्रु, विपाशा, परुष्णी, असिकनी, वितस्ता और सिन्धु—इन सात नदियों द्वारा सिंचित प्रदेश का प्राचीन नाम सप्तसैन्धव देश था। आर्य लोगो का यही प्राचीन अभिजन था, और यही से वे सारे भारत में और पश्चिम मे यूरोप तक फैले। इस मत के प्रधान समर्थक श्री अविनाशचन्द्र दास है। उन्होने बडे विस्तार से यह प्रतिपादित किया है कि ऋग्वेद के अनुशीलन से ज्ञात होता है कि प्रारम्भ मे आर्य लोग इन सात नदियो के प्रदेश मे निवास करते थे। तब वर्तमान राजपूताना और पूर्वी उत्तर-प्रदेश, बिहार और बंगाल के प्रदेशों मे समुद्र था। इन्ही को वैदिक आर्य दक्षिणी और पूर्वी समुद्र कहते थे। ऋग्वेद के आधार पर ही श्रीयुत दास ने यह प्रदर्शित किया, कि आर्यों की एक शाखा अहुरमज्द (असुर महत्) की उपासिका होने के कारण अन्य आर्यों के साथ संघर्ष मे व्यापृत हुई, और उनसे परास्त होकर पश्चिम की ओर चली गयी और ईरान में जा बसी। वैदिक आर्य देवो के उपासक थे, और ईरान मे बसने वाले आर्य असुरो के। पहले ये एक साथ सप्तसैन्धव देश मे निवास करते थे। पर धार्मिक मतभेद के कारण इनमे घोर सग्राम हुआ, जिसे वैदिक साहित्य मे देवासुर-सग्राम कहा गया है। इसमे असुर लोग परास्त हुए, और अपना मूल अभिजन छोडकर पश्चिम मे ईरान के प्रदेश मे बस जाने के लिए विवश हुए। सप्तसैन्धव के क्षेत्र में निवास करने वाली एक अन्य आर्य जाति, जिसे 'पणि' कहते थे, व्यापार में विशेष कुशल थी। वह पश्चिम की ओर जाकर बस गयी, और आगे चलकर प्यूनिक व फिनीशियन जाति कहाई। पश्चिमी एशिया के सेमेटिक लोगो पर इस पणि जाति का बहुत प्रभाव पड़ा। आर्य जाति की अन्य शाखाएँ सप्तसैन्धव देश से यूरोप में भी गयी, और यूरोप की भाषाओं मे और संस्कृत व प्राचीन ईरानी भाषाओं मे जो समता दृष्टिगोचर होती है, उसका कारण आर्य जातियों का यह विस्तार ही है।

श्रीयुत दास ने लोकमान्य तिलक की उन युक्तियों की भी विस्तृत रूप से

आलोचना की, जिनके आधार पर उन्होंने उत्तरी ध्रुव को आर्यों का मूल अभिजन प्रतिपादित किया था। यह तो स्पष्ट ही है, कि ऋग्वेद के समय आर्य सप्तसैन्धव देश में निवास करते थे। उत्तरी ध्रुव में सुदीर्घ उषा और छ: मास के दिन व रात का जो वर्णन कहीं-कहीं वैदिक सूक्तों में आ गया है, उसका कारण यह भी हो सकता है, कि वैदिक युग के आर्यों को सप्तसैन्धव देश से बाहर के देशों का भी ज्ञान था।

(४) **डैन्यूब नदी की घाटी**—तुलनात्मक भाषा-विज्ञान के आधार पर अनेक विद्वानों ने इस मत का प्रतिपादन किया है, कि आर्यों का मूल अभिजन हंगरी या डैन्यूब नदी की घाटी का क्षेत्र था। प्राचीन समय की विविध आर्य-भाषाओं में से एक-सम शब्दों को चुनकर भाषा-विज्ञान के इन पण्डितों ने इस आर्य या 'वीरा:' जाति की सभ्यता का चित्र खींचने का प्रयत्न किया; और इस जाति को जिन पशुओं, वनस्पतियों व वृक्षों का परिचय था, उनकी उत्पत्ति के लिए सबसे अधिक अनुकूल स्थान डैन्यूब नदी की घाटी ही हो सकती थी, इस मत की स्थापना की। इस मत के प्रधान प्रतिपादक श्री गाइल्स थे। कैम्ब्रिज यूनिवर्सिटी द्वारा प्रकाशित भारत का प्राचीन इतिहास (प्रथम भाग) में इसी मत को स्वीकृत किया गया है।

(५) **दक्षिणी रूस**—कैस्पियन सागर के पूर्व में रूस के दक्षिणी भाग में आर्यों का मूल अभिजन था, इस मत का प्रतिपादन पहले-पहल प्रोफेसर मायर्स ने किया था। प्रो० मायर्स की स्थापना का आधार तुलनात्मक भाषा-विज्ञान था। पर बाद में प्रोफेसर चाइल्ड ने पुरातत्व-सम्बन्धी अवशेषों के आधार पर भी इस मत का समर्थन किया, और आजकल के यूरोपियन विद्वानों का झुकाव मुख्यतया इसी मत को स्वीकृत करने की ओर है। इस क्षेत्र में एक प्राचीन सभ्यता के अनेक अवशेष मिले हैं, जो ईसा से तीन सहस्राब्दी के लगभग पहले के माने जाते हैं। इस सभ्यता के लोग पशुपालक दशा से ऊपर उठकर खेती का प्रारम्भ कर चुके थे। उनकी स्थिर बस्तियाँ भी विद्यमान थीं। पत्थर के अतिरिक्त वे अपने औजारों व अन्य उपकरणों के लिए धातु का भी प्रयोग करने लगे थे। सोने और चाँदी से भी वे भली-भाँति परिचित थे। पशुओं में वे भेड़, बकरी, गाय और घोड़े का पालन करते थे। उनमें एक प्रकार का राजनीतिक संगठन भी विकसित हो चुका था, और उनके सरदार व ग्रामणी सर्वसाधारण लोगों की अपेक्षा अधिक वैभव के साथ जीवन व्यतीत करते थे। ये लोग अपने मृतकों को गाड़ते थे, और उनके लिए समाधियों का निर्माण करते थे। प्रोफेसर चाइल्ड और अन्य अनेक विद्वानों का मत है, कि कैस्पियन सागर के पूर्व के दक्षिणी रूस के प्रदेश में विविध स्थानों पर जो अनेक छोटी-बड़ी समाधियाँ मिली हैं, वे आर्य जाति के लोगों की ही हैं। अति प्राचीन काल में आर्य लोग इस प्रदेश में बसते थे, और वहीं से उनकी शाखाएँ अन्य स्थानों पर फैलीं।

विवेचना—आर्य जाति का मूल अभिजन कौन-सा था, इस सम्बन्ध में विद्वानों के जो प्रमुख मत हैं, उनका हमने संक्षेप में उल्लेख कर दिया है। यह निश्चित कर सकना बहुत कठिन है, कि इनमें से कौन-सा मत सही व स्वीकार्य है। वस्तुतः, अभी तक कोई ऐसा प्रमाण व आधार नहीं मिला है, जिससे आर्य जाति के मूल निवास-स्थान का अन्तिम रूप से निश्चय किया जा सके। ऐसे विद्वान् भी हैं, जो मोहनजोदड़ो और हड़प्पा

के भग्नावशेषो द्वारा सूचित होने वाली सिन्धु-सभ्यता को मूल आर्य-सभ्यता के रूप मे स्वीकार करते हैं। कुछ विद्वानो ने दजला और फरात (युफ्रेटस और टिग्रिस) नदियों की घाटी में विद्यमान सुमेर सभ्यता को ही मूल आर्य-सभ्यता माना है। प्रोफेसर वाडेल के अनुसार सुमेर के भग्नावशेषों मे जो विविध मोहरें (मुद्राएँ व छापें) मिली है, उन पर उत्कीर्ण राजाओ के नाम भारत की पौराणिक अनुश्रुति के राजाओ के नामों से बहुत मिलते-जुलते हैं। उन्होंने तो यहाँ तक लिखा है, कि पौरव, ऐक्ष्वाकव आदि प्राचीन भारतीय राजवंशो के राजा दजला और फरात की घाटी मे ही शासन करते थे, और बाद में जब उनके वंशज भारत मे आये, तो इन प्राचीन राजाओं की स्मृति को भी वे अपने साथ लेते आये। भारत में कही रघु, दिलीप व दशरथ के समय के अवशेष उपलब्ध नही हुए। इसका कारण यही है, कि ये राजा भारत के निवासी नही थे। इनके अवशेष प्राचीन ईराक मे मिलते है। प्रो० वाडेल के मत को यहाँ प्रदर्शित करने का अभिप्राय यह दिखाने का है, कि इस अत्यन्त प्राचीन युग के इतिहास के सम्बन्ध मे विद्वानों मे भारी मतभेद है, और उनकी बहुत-सी स्थापनाएँ अटकल, अनुमान या कल्पना पर ही निर्भर है। वैज्ञानिक ढंग से अभी इस विषय का प्रतिपादन नही हुआ है।

पर यहाँ यह लिख देना आवश्यक है, कि प्राचीन इतिहास के विद्वानोका झुकाव इस ओर नही है, कि वे सप्तसैन्धव देश या सिन्धु-घाटी मे आर्यों के मूल निवास-स्थान होने की बात स्वीकृत करे। यद्यपि भारत के बहुसंख्यक विद्वान् वैदिक साहित्य के आधार पर यही प्रतिपादित करते है, कि आर्य लोग भारत से अन्य देशो मे गये, पर यूरोपियन विद्वानो का मत इसके विपरीत है। उनका कथन है, कि आर्यो के प्रवेश से पूर्व भारत मे जो द्रविड सभ्यता विद्यमान थी, वह ईराक और भूमध्यसागर के तट पर विद्यमान प्राचीन-सभ्यता या यूरोप की आइबीरियन सभ्यता के समकक्ष थी। इसे हम ससार की मूलभूत सभ्यता कह सकते है। आर्य लोग इस सभ्यता के साथ आक्रान्ता के रूप मे सम्पर्क मे आये। जिस प्रकार यूरोप मे ग्रीक, लैटिन आदि प्राचीन आर्य जातियो ने आक्रमण कर आइबीरियन सभ्यता का ध्वस किया, और जैसे हत्ती (या हित्ताइत), मित्तनी आदि जातियो ने पश्चिमी एशिया की मूल सभ्यता का विनाश किया, वैसे ही भारत मे आर्य आक्रान्ताओ ने द्रविड सभ्यता को परास्त किया। ये ग्रीक, लैटिन, हत्ती, मित्तनी, भारतीय आर्य आदि सब एक विशाल आर्य जाति की ही विविध शाखाएँ थी, जो अनेक धाराओ मे प्राचीनतम सभ्यताओ के क्षेत्रो मे प्रविष्ट हुई। यूरोप मे ग्रीक व लैटिन लोगो से पहले भी कैल्टिक जाति के रूप में आर्य-जाति की एक धारा प्रवेश कर चुकी थी। भारत मे भी आर्यों का प्रवेश अनेक धाराओ मे हुआ। डा० हार्नली के अनुसार आर्य लोग भारत मे दो धाराओ मे आये। पहली धारा उत्तर-पश्चिम की ओर से प्रविष्ट होकर भारत के मध्य देश (गगा-यमुना का क्षेत्र) तक चली गयी। आर्यो की दूसरी धारा ने मध्य हिमालय (किन्नर देश, गढवाल और कूर्माञ्चल) के रास्ते से भारत मे प्रवेश किया, और अपने से पहले बसे हुए आर्यों को पूर्व, पश्चिम और दक्षिण की तरफ धकेल दिया। पहले आने वाले आर्य मानव-वश के थे, और दूसरे ऐल-वंश के।

भारत में आर्यों का प्रवेश चाहे दो धाराओं में हुआ हो या अधिक धाराओं मे, पर बहुसंख्यक विद्वानो का यही मत है, कि वे बाहर से आकर ही इस देश में आबाद हुए थे। वर्तमान समय मे विद्वानो का झुकाव इस मत की ओर है, कि आर्य लोगों का मूल अभिजन कैस्पियन सागर के पूर्व से लगाकर वंक्षु (आक्सस) नदी तक के प्रदेश में कहीं पर था।

(३) आर्य-जाति का प्रसार

आर्य-जाति का मूल निवास-स्थान चाहे सप्तसैन्धव देश मे हो, चाहे कैस्पियन सागर के पूर्ववर्ती प्रदेश मे, यह निश्चित है कि उसकी विविध शाखाएँ अनेक धाराओं में एशिया और यूरोप के विविध प्रदेशों में जाकर आबाद हुई। इनमे से कतिपय शाखाओं के सम्बन्ध में कुछ प्रमाण पुरातत्त्व-सम्बन्धी खोज द्वारा भी उपलब्ध हुए हैं। दजला और फरात नदियों की घाटी में जिस प्राचीन (आर्यों से पूर्ववर्ती) सभ्यता का विकास हुआ था, उसका उल्लेख हम पहले कर चुके हैं। सोलहवीं सदी ई० पू० मे ईराक के इस प्रदेश पर उत्तर-पश्चिम की ओर से आक्रमण शुरू हुए। कस्साइत् नामक एक जाति ने बैबिलोन को जीत कर वहाँ अपना शासन स्थापित कर लिया। ये कस्साइत् लोग आर्य जाति के थे। इनके राजाओं के नाम आर्य-राजाओं के नामो के सदृश हैं। कस्साइत् राजवंश की राजधानी बेबिलोन थी, और ईराक के प्रदेश में स्थित इस प्राचीन नगरी में सम्भवतः यह आर्य-जाति का प्रथम राजवंश था। कस्साइत् (या कस्शु) लोगो के प्रधान देवता सूर्यस् (सूर्य) और मरुत (मरुत्) थे। इनकी भाषा भी आर्य-परिवार की थी। इनके जो लेख मिले है, उनके अनुशीलन से इस बात में कोई सन्देह नही रह जाता, कि ये लोग विशाल आर्य-जाति की ही अन्यतम शाखा थे।

पन्द्रहवी सदी ई० पू० के लगभग मितन्नी नामक एक अन्य जाति ने कस्साइत् लोगों के राज्य के उत्तर-पश्चिम मे अपने राज्य की स्थापना की। मित्तनी लोग भी आर्य-जाति के थे। इनके पश्चिम मे एक अन्य आर्य-जाति ने अपने राज्य की स्थापना की, जिसे खत्ती, हत्ती या हिताइत कहते है। मित्तनी और खत्ती जातियो के राज्य एक दूसरे के पडोस मे थे, अतः उनमे प्रायः संघर्ष होता रहता था। १३८० ई० पू० के लगभग इन दोनो राज्यो मे परस्पर सन्धि हो गयी। इस सन्धि की शर्तें विशद रूप से उत्कीर्ण हुई बोगजकोई नामक स्थान के भग्नावशेषों में उपलब्ध हुई है। बोगज कोई मित्तनी राज्य की राजधानी के प्राचीन स्थान को सूचित करता है, और एशिया माइनर मे स्थित है। यह सन्धि मितन्नी के राजा (दशरथ के पुत्र) मतिउज और खत्ती के राजा शुबिलुलिम के बीच में हुई थी। इस सन्धि के साक्षी रूप कुछ देवताओं के नाम लिखे गये थे। ये देवता है, मित्र, वरुण, इन्द्र और नासत्यौ। बोगजकोई के इस लेख में इन देवताओ के नाम इस रूप में दिये गये है—मि-इत्-अस्, ब-अर-रु-उण-अस् इन्-द-र, न-स-अति-इअ। वैदिक पदो को इस रूप में लिखने की प्रथा की व्यवस्था भारत मे भी थी। मित्र, वरुण, इन्द्र और नासत्यौ (अश्विनीकुमार) देवताओं के नामों की एशिया माइनर मे सत्ता इस बात का स्पष्ट प्रमाण है, कि मितन्नी और खत्ती दोनों

आर्य जातियाँ थीं, और दोनों उन आर्य-देवताओं की पूजा करती थी, जिनका परिज्ञान हमें ऋग्वेद से होता है। इससे यह भी सूचित होता है, कि जिस युग मे सब आर्य जातियाँ एक प्रदेश में निवास करती थी, तब भी उनमें इन देवताओ की पूजा प्रचलित थी। बोगजकोई मे ही एक पुस्तक भी प्राप्त हुई है, जो कि मिट्टी की तख्तियो पर उत्कीर्ण की हुई है। इस पुस्तक का विषय रथचालन है। इसका लेखक किक्कुली नामक एक व्यक्ति था, जो मितन्नी जाति का था। रथ के घूमने के लिए इस पुस्तक मे 'आवर्त्तन्न' शब्द का प्रयोग किया गया है, और एक, तीन, पाँच व सात चक्करो के लिए क्रमश: ऐकवर्त्तन्न, तेरवर्त्तन्न, पंचवर्त्तन्न और सत्तवर्त्तन्न शब्दो का उपयोग किया गया है। आवर्त्तन्न शब्द संस्कृत भाषा के आवर्त्तन शब्द से मिलता है, और इससे सूचित होता है, कि मितन्नी लोगो की भाषा संस्कृत से बहुत मिलती-जुलती थी। मितन्नी राजाओ द्वारा भेजे गये कतिपय पत्र मिस्र मे एल-अमरना नामक स्थान पर भी उपलब्ध हुए हैं। ये पत्र भी मिट्टी की तख्तियों पर उत्कीर्ण हैं। इन पत्रो में मितन्नी-राजाओ के अर्ततम, दशरत्त आदि जो नाम मिले हैं, वे भी संस्कृत शब्दो के बहुत समीप हैं। इसी प्रकार खत्ती राजाओ के अन्यतम नाम मर्यतस् और सूर्यस् स्पष्टतया संस्कृत नामों से मिलते-जुलते हैं। इन प्रमाणों को दृष्टि मे रखने से इस बात मे कोई सन्देह नही रह जाता, कि कस्साइत, खत्ती और मितन्नी के रूप मे जो जातियाँ पश्चिमी एशिया के रंगमंच पर प्रकट हुई थी, वे आर्य-जाति की ही शाखाएँ थीं। अपने मूल अभिजन से निकलकर जब आर्य-जातियो के प्रसार का प्रारम्भ हुआ, तो उसकी कुछ शाखाएँ इस क्षेत्र मे जा बसी, बोगजकोई आदि के अवशेष इसके स्पष्ट प्रमाण है।

पूर्व की ओर जो आर्य लोग गये, उनकी दो प्रधान शाखाएँ थी, ईरानी और भारतीय। जिस प्रकार भारतीय आर्यों का प्रमुख ग्रन्थ ऋग्वेद है, वैसे ही ईरानी आर्यों का प्रमुख ग्रन्थ जेन्दावस्ता है। जेन्दावस्ता की भाषा वैदिक भाषा से बहुत मिलती है। उनमे न केवल तत्सम शब्दों की प्रचुरता है, अपितु साथ ही व्याकरण, धातु आदि भी एक-दूसरे के सदृश है। प्राचीन ईरानी लोगो का धर्म भी वैदिक धर्म के बहुत समीप था। मित्र, वरुण, अग्नि आदि वैदिक देवताओं की पूजा प्राचीन ईरानी लोग भी करते थे। ऐसा प्रतीत होता है, कि पूर्व की ओर जाने वाली ये दोनो आर्य-जातियाँ बहुत समय तक एक-दूसरे के साथ रहीं, और उनके धर्म का साथ-साथ विकास हुआ। देर तक साथ रहने से उनकी भाषा भी एक-दूसरे के अधिक समान रही।

पर बाद मे आर्यों की ईरानी और भारतीय शाखाओं मे विरोध हो गया। इस विरोध ने एक उग्र सग्राम का रूप धारण किया। अन्त मे ईरानी लोग परास्त हुए, और वे अपने साथियों से पृथक् होकर उस देश मे बस गये, जिसे आजकल ईरान कहा जाता है, और जिसका यह नाम आर्य-जाति के नाम पर ही पड़ा था। वैदिक संहिताओ और जेन्दावस्ता के अनुशीलन से इस सघर्ष पर बहुत प्रकाश पड़ता है। इसी को देवासुर-संग्राम भी कहा जाता है।

संस्कृत-भाषा में देव शब्द उत्तम अर्थ में और असुर बुरे अर्थों मे प्रयुक्त होता है। देव का अभिप्राय है, दिव्य गुणयुक्त। असुर का अर्थ है, दानव या दैत्य। इसके विपरीत प्राचीन जेन्द भाषा में असुर शब्द अच्छे अर्थों मे और देव शब्द घृणित अर्थों

मे आता है। प्राचीन ईरानी असुर के उपासक थे। उनका प्रधान देवता (उपास्य देव) अहुरमज्द (असुर महत्) था। किसी अत्यन्त प्राचीन काल में वैदिक आर्य भी असुर शब्द का प्रयोग अच्छे अर्थों में करते थे, और अपने देवताओं को असुर (प्रतापशाली) कहते थे। पर ऐसा प्रतीत होता है, कि बाद में आर्यों मे मतभेद हो गया। उनका एक भाग देव का उपासक हो गया, और दूसरा असुर का। इस विरोध का कारण सम्भवतः धार्मिक था। जेन्दावस्ता मे मित्र, वरुण, अग्नि आदि वैदिक देवताओं की तो सत्ता है, पर इन्द्र को कही उपास्य नही माना गया। इसके विपरीत वेदो में इन्द्र की महिमा बहुत विशद रूप से वर्णित है।

भारत में आर्यों का प्रवेश—आर्यो की जो शाखा भारत मे प्रविष्ट हुई, उसे इस देश मे अनेक आर्य-भिन्न जातियों के साथ युद्ध करने पडे। जिस प्रकार पश्चिमी एशिया में बसने वाली कस्साइत्, खत्ती और मितन्नी जातियों ने अपने से पूर्ववर्ती सभ्यताओं को परास्त कर वहाँ अपनी सत्ता स्थापित की, वैसे ही भारतीय आर्यो ने इस देश में विकसित हुई पूर्ववर्ती सभ्यताओं को विनष्ट कर अपनी सत्ता की स्थापना की। आर्यों के पहले के ये आर्य-भिन्न लोग कौन थे, इस विषय मे वैदिक साहित्य से ही कतिपय उपयोगी निर्देश मिलते है। वेदो मे इन्हें 'दस्यु' और 'दास' कहा गया है। वैदिक सूक्तों से यह भी ज्ञात होता है, कि ये दस्यु लोग कृष्णवर्ण के थे, और इनकी नाक छोटी होती थी। इसीलिए इन्हे 'अनास' (नासिकाहीन) भी कहा गया है। पर ये लोग अच्छे बडे पुरों में निवास करते थे, और इनके अनेक सुदृढ दुर्ग भी बने हुए थे। इन्हे परास्त करने के लिए आर्यों को घनघोर युद्ध करने पडे और एक युद्ध मे तो पचास हजार के लगभग 'दासों' के मारे जाने का निर्देश ऋग्वेद मे दिया गया है। संस्कृत भाषा मे दस्यु शब्द का प्रयोग डाकू के अर्थ मे होता है, और दास शब्द का गुलाम अर्थ मे। प्रतीत होता है, कि आर्यों के प्रवेश से पूर्व जो जाति इस देश मे निवास करती थी, उसकी सज्ञा दस्यु या दास थी। आर्यो ने उसे परास्त किया, और उसकी बड़ी संख्या को अपने पास गुलाम के रूप मे रहने के लिए विवश किया। ये गुलाम दास-जाति के थे, अत. दास शब्द का अर्थ ही गुलाम हो गया। इसी प्रकार आर्य लोग दस्यु शब्द का प्रयोग घृणा के रूप मे करते थे, और बाद मे इसका अर्थ डाकू हो गया। पर प्राचीन संस्कृत मे ऐसे निर्देशो की कमी नही है, जिनसे दस्यु का अभिप्राय डाकू न होकर एक जाति विशेष प्रतीत होता है। महाभारत में एक दस्यु की कथा आती है, जिसे परम धर्मात्मा कहा गया है। आर्यों ने इन दस्युओ व दासो को परास्त करके ही भारत मे अपनी सत्ता स्थापित की। पिछले अध्याय में हम सिन्धु घाटी की समुन्नत सभ्यता का विवरण दे चुके है, जिसके अनेक नगर विद्यमान थे, और जिसके अनेक नगर दुर्गरूप मे थे। अत यह कल्पना की जाती है, कि वैदिक आर्यों ने जिन दस्युओ को परास्त किया, वे सिन्धु घाटी मे निवास करते थे, और उन्ही की सभ्यता के भग्नावशेष पंजाब में रावी नदी के और सिन्ध मे सिन्धु नदी के तट पर पाये गए है।

भारत में आकर आर्यो ने जो सभ्यता विकसित की, उसे ही 'वैदिक सभ्यता' कहा जाता है, क्योंकि इसका परिज्ञान हमें वैदिक साहित्य द्वारा होता है।

पाँचवाँ अध्याय

भारत में आर्य-राज्यों का विस्तार

(१) प्राचीन अनुश्रुति

भारत के प्राचीन साहित्य मे पुराण-सहिता नाम से जो अनेक ग्रन्थ विद्यमान हैं, उनमें आर्य-जाति की प्राचीन ऐतिहासिक अनुश्रुति सगृहीत हैं। जो पुरातन वृत्तान्त अथवा ख्यात परम्परागत रूप से चले आते हैं, उन्हे अनुश्रुति कहा जाता है। पुराणो मे विद्यमान अनुश्रुति का इतिहास निर्माण के लिए कोई उपयोग है या नही, इस विषय पर विद्वानो मे मतभेद रहा है। उन्नीसवी सदी मे भारतीय इतिहास की खोज करने वाले विद्वान् पौराणिक इतिवृत्त को ऐतिहासिक दृष्टि से सर्वथा निरर्थक समझते रहे। उस युग के विद्वान् भारत के प्राचीन शिलालेखो, ताम्रपत्रों और सिक्को की खोज मे तत्पर थे। पुरातत्त्व-सम्बन्धी इन अवशेषो से उन्हे जो कुछ ऐतिहासिक ज्ञान प्राप्त होता था, उसकी उनकी दृष्टि मे बहुत कीमत थी। उसके मुकाबले मे उन्हे पौराणिक अनुश्रुति सर्वथा निरर्थक और अनुपयोगी प्रतीत होती थी। इसी समय मे विद्वानों का ध्यान पालीभाषा के ऐतिहासिक ग्रन्थ महावश और दीपवश की ओर आकृष्ट हुआ। बौद्ध-अनुश्रुति के इन ग्रन्थों मे और पौराणिक अनुश्रुति मे अनेक स्थलो पर मतभेद था। इसका परिणाम यह हुआ कि विद्वानों की दृष्टि में पुराणो का मूल्य और भी कम हो गया, और वे यह मानने लगे कि पौराणिक अनुश्रुति मे जिन प्राचीन राजाओ व राजवंशो का वर्णन है, उनकी ऐतिहासिक सत्ता तक को स्वीकार कर सकना सम्भव नही है। इसीलिए इस युग के ऐतिहासिक भारत के राजनीतिक इतिहास का प्रारम्भ सातवो सदी ई० पू० से किया करते थे।

बीसवी सदी के प्रारम्भ मे इस प्रवृत्ति ने पलटा खाया। श्री पार्जीटर ने पुराण-संहिताओ का गम्भीर व विशद रूप से अनुशीलन करके यह परिणाम निकाला, कि इन ग्रन्थो का ऐतिहासिक दृष्टि से उपयोग किया जा सकता है, और इनमे जो अनुश्रुति सगृहीत है, उसकी उपेक्षा नही की जा सकती। पार्जीटर ने 'पुराण टेक्स्ट्स आफ दी डाइनेस्टीज आफ दि कलि एज' और 'एन्शिएण्ट इंडियन हिस्टोरिकल ट्रेडिशन' नामक दो ग्रन्थ लिखे, जिनमे उन्होने पुराणो मे विद्यमान ऐतिहासिक अनुश्रुति का विशदरूप से प्रतिपादन और अनुशीलन किया। पार्जीटर के अनुसार प्राचीन भारतीय अनुश्रुति दो भागो मे विभक्त की जा सकती है। धर्म-विषयक अनुश्रुति वैदिक साहित्य में संगृहीत है, और राजवंशों तथा राजाओ के सम्बन्ध की अनुश्रुति पुराणो मे पायी जाती है। प्राचीन भारत मे जो सूत और चारण लोग थे, वे राजाओं और उनके कृत्यों का आख्यान करते थे, और इन सूत-वंशों में ये प्राचीन आख्यान या ख्यात स्थिर रहते

थे। बाद में इन्ही ख्यातों को पौराणिक साहित्य मे संगृहीत कर दिया गया। यह सही है, कि पुराणों में पायी जाने वाली अनुश्रुति को अविकलरूप से स्वीकृत नही किया जा सकता। पर यदि उसकी वैज्ञानिक रूप से विवेचना की जाए, तो उसके आधार पर प्राचीन आर्य-राजाओं, राजवंशो और उनके कृत्यो के सम्बन्ध मे बहुत-सी उपयोगी बातो का पता किया जा सकता है। पुराणो में वर्णित इन राजाओं का उल्लेख कही-कही वैदिक-साहित्य मे भी आ जाता है, और इससे पौराणिक अनुश्रुति की सत्यता को सिद्ध करने के लिए पुष्ट प्रमाण मिल जाता है।

पार्जीटर के समान श्री काशीप्रसाद जायसवाल और जर्मन विद्वान् किर्फेल ने भी पौराणिक अनुश्रुति की ऐतिहासिक उपयोगिता को स्वीकार किया, और प्राचीन भारतीय इतिहास सम्बन्धी अनेक तथ्य पुराणों के आधार पर प्रकट किए। बाद मे महामहोपाध्याय श्री हरप्रसाद शास्त्री, डा० प्रधान, डा० हेमचन्द्र रायचौधरी आदि अनेक विद्वानों ने पौराणिक अनुश्रुति का उपयोग कर विभिन्न ग्रन्थ लिखे। सम्भवत:, अब प्राय: सभी विद्वान् यह स्वीकार करने लगे हैं, कि पुराणो के आधार पर आर्यों के प्राचीन इतिहास की रूपरेखा तैयार की जा सकती है।

(२) मानव-वंश

राज्य-संस्था का प्रारम्भ—पौराणिक अनुश्रुति के अनुसार पहला आर्य-राजा वैवस्वत मनु था। उससे पहले इस देश मे अराजक दशा थी। इससे परेशान होकर लोगों ने मनु को अपना राजा चुना, और उसके आदेशो का पालन स्वीकार किया। मनु आर्थिक दृष्टि से सर्वथा निश्चिन्त होकर राज्य-व्यवस्था में अपना सब समय लगा सके, इसके लिए प्रजा ने उन्हे अपनी पैदावार का छठा भाग देना स्वीकार किया। वैवस्वत मनु के इस प्रकार पहले पहल राजा बनने की बात न केवल पुराणो मे, अपितु महाभारत, कौटलीय अर्थशास्त्र आदि ग्रन्थों मे भी विद्यमान है। इस अनुश्रुति का अभिप्राय शायद इतना ही है, कि अराजक दशा से जब पहले-पहल राज्य-संस्था का विकास हुआ, तो मनु सर्वप्रथम राजा के पद पर अधिष्ठित हुए।

मानव-वंश का विस्तार—राज्य-संस्था के प्रादुर्भूत हो जाने के बाद मनु आर्यों का पहला राजा बना। उसकी एक कन्या और आठ पुत्र थे। मनु ने अपने राज्य को अपने पुत्रो में बाँट दिया। उसके सबसे बडे पुत्र का नाम इक्ष्वाकु था। वह मध्यदेश का राजा बना, जिसकी राजधानी अयोध्या थी। इक्ष्वाकु द्वारा उस राजवंश का प्रारम्भ हुआ, जो भारतीय इतिहास मे ऐक्ष्वाकव, मानव या सूर्यवंश के नाम से विख्यात है। इसी वंश मे आगे चलकर राजा दिलीप, रघु, दशरथ और राम हुए। मनु के एक अन्य पुत्र नेदिष्ट को पूर्व की ओर तिरहुत का राज्य मिला। इस वंश मे आगे चलकर राजा विशाल हुआ, जिसने वैशाली नाम की नगरी बसायी। बौद्ध-युग मे इस वैशाली की बहुत प्रसिद्धि हुई, और यह लिच्छवि नाम के प्रसिद्ध क्षत्रियों की राजधानी बनी। इस नगरी के अवशेष उत्तरी बिहार के मुजफ्फरपुर जिले के बसाढ नामक ग्राम में पाए गए हैं। मनु के एक अन्य पुत्र का नाम करूष था। उसके नाम से कारूष राज्य की स्थापना हुई, जो इस समय के बघेलखण्ड के क्षेत्र मे विद्यमान था। मनु के एक अन्य

पुत्र शर्याति ने दक्षिण में आधुनिक गुजरात की ओर अपने राज्य की स्थापना की। शर्याति के पुत्र का नाम आनर्त था। यह बहुत प्रतापी राजा था, इसी के नाम से उस देश का नाम ही आनर्त पड गया। आनर्त देश की राजधानी कुशस्थली या द्वारिका थी। वैवस्वत मनु के ये चार पुत्र—इक्ष्वाकु, नेदिष्ट, शर्याति और करूष चार बडे और शक्तिशाली राज्यो के संस्थापक हुए। मनु के अन्य चार पुत्रो ने भी अपने पृथक् राज्य स्थापित किए, पर वे अधिक प्रसिद्ध नही है।

सूर्य-वश के संस्थापक इक्ष्वाकु के भी अनेक पुत्र थे, और उन्होंने भी अपने पृथक् राज्य स्थापित किए। उसका बडा लडका विकुक्षि अयोध्या की राजगद्दी पर बैठा। इक्ष्वाकु के छोटे पुत्र निमि ने अयोध्या और वैशाली के बीच मे एक अन्य राज्य की स्थापना की, जिसकी राजधानी मिथिला थी। इस नगरी का मिथिला नाम निमि के वशज मिथि के नाम पर पडा था। आगे चलकर मिथिला के इसी वंश के राजा 'जनक' कहाने लगे थे।

पौराणिक अनुश्रुति के अनुसार मनु के पुत्रो व वंशजो ने भारत के विविध प्रदेशो मे अपने विविध राज्य स्थापित किए थे। पुत्र का अभिप्राय शायद वंशज से है। यह मान सकना तो कठिन है, कि मनु के पुत्रो के समय मे आर्य-राज्यो का पूर्व मे वैशाली तक और दक्षिण मे द्वारिका तक विस्तार हो गया था। पौराणिक अनुश्रुति का अभिप्राय शायद यह है, कि मनु के वंशजो द्वारा इन सुदूरवर्ती प्रदेशों तक आर्य जाति के प्रभुत्व की स्थापना हुई थी। ऊपर दी गयी अनुश्रुति मे आर्य जाति की विजयों व विस्तार की वह स्मृति सुरक्षित है, जिसके कारण भारत के आदि-निवासियो या आइबीरियन (व द्रविड) लोगो को परास्त कर आर्य जाति ने अपना प्रभुत्व कायम किया था। सम्भवत, वैवस्वत मनु उन आर्यों का नेता था, जिन्होने भारत मे प्रवेश कर इस देश मे अपनी सत्ता को स्थापित किया था। इक्ष्वाकु, नेदिष्ट, शर्याति और करूष मनु के बाद मे हुए, और उनके नेतृत्व मे आर्यों का विस्तार सुदूरवर्ती प्रदेशो मे हुआ। ये विजयी आर्य-नेता भी मनु के वशज थे।

अयोध्या का सूर्य (ऐक्ष्वाकव) वंश—वैवस्वत मनु के वशज या पुत्र इक्ष्वाकु ने अयोध्या मे अपने स्वतन्त्र राज्य की स्थापना की थी। इसके उन्नीस पीढी बाद उसके वश मे एक अत्यन्त प्रतापी राजा हुआ, जिसका नाम मान्धाता था। उसे पुराणो मे 'चक्रवर्ती और सम्राट्' कहा गया है। उसने पडोस के अन्य आर्य-राज्यो को जीतकर दिग्विजय किया। उसके सम्बन्ध मे पौराणिक अनुश्रुति मे कहा गया है, कि सूर्य जहाँ से उगता है और जहाँ अस्त होता है, वह सम्पूर्ण प्रदेश मान्धाता के शासन मे था। जिन आर्य-राज्यो को जीतकर मान्धाता ने अपने अधीन किया, उनमे पौरव, आनव, द्रुह्यु और हैहय राज्यो के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। मान्धाता के बारह पीढी बाद राजा हरिश्चन्द्र अयोध्या की राजगद्दी पर आरूढ हुआ। उसकी कथा भारत मे बहुत प्रसिद्ध है। अपना सर्वस्व दान करके वह एक चाण्डाल के घर दास बनकर रहा था। अयोध्या के ऐक्ष्वाकव-वंश मे आगे चलकर राजा दिलीप और भगीरथ हुए। वे भी मान्धाता के समान ही चक्रवर्ती सम्राट् थे। गगा नदी को हिमालय से उतारकर मैदान में लाने का श्रेय राजा भगीरथ को ही दिया जाता है। इसी के नाम पर गंगा की एक

शाखा भागीरथी कहाती है। दिलीप का पोता रघु और भी अधिक प्रतापी हुआ। उसके दिग्विजय का विशद वर्णन महाकवि कालिदास ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक रघुवश में किया है। रघु के नाम से प्राचीन ऐक्ष्वाकव-वश रघु-वंश भी कहाने लगा। रघु का पुत्र अज था, और अज का पुत्र दशरथ। दशरथ का पुत्र राम था, जिसकी कथा भारत के बच्चे-बच्चे को ज्ञात है। राज रामचन्द्र ऐक्ष्वाकव-वश की ६५ वी पीढी मे हुए। उनकी कथा को लेकर भारत के प्राचीन और अर्वाचीन साहित्य मे जितने अधिक काव्य व ग्रन्थ बने हैं, उतने शायद अन्य किसी कथा को लेकर नही बने।

(३) चन्द्र-वंश

ऐल-वंश—भारत के प्राचीन इतिहास मे जिस प्रकार अयोध्या का सूर्य-वंश अत्यन्त प्रसिद्ध है, वैसे ही चन्द्र या ऐल-वश भी है। इस वश का सस्थापक पुरुरवा ऐल था। यह वश मानव-वंश से पृथक् था। पर कतिपय अनुश्रुतियो के अनुसार इसका भी वैवस्वत मनु के साथ सम्बन्ध था, और इसकी उत्पत्ति मनु की कन्या इला द्वारा हुई थी। हम ऊपर लिख चुके हैं, कि वैवस्वत मनु के आठ पुत्र और एक कन्या थी। इला इसी कन्या का नाम था। ऐल-वश की राजधानी प्रतिष्ठान थी, जिसके भग्नावशेष प्रयाग के सामने झूसी के समीप विद्यमान है। ऐसा प्रतीत होता है, कि जब भारत मे आर्य-जाति ने प्रवेश किया, तो वह अनेक धाराओ मे होकर इस देश मे प्रविष्ट हुई। मानव-वंश आर्य-जाति की एक धारा को सूचित करता है, और ऐल-वश दूसरी धारा को। मानव-आर्यों ने अयोध्या को अपना प्रधान केन्द्र बनाया और ऐल-आर्यों ने प्रतिष्ठान को। मानववंश के समान ऐल-वंश की भी अनेक शाखाएँ थी। पुरुरवा के अन्यतम पुत्र अमावसु ने कान्यकुब्ज मे अपना पृथक् राज्य स्थापित किया।

प्रतिष्ठान का ऐल-वश भारत की प्राचीन अनुश्रुति मे बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। पुरुरवा का पोता नहुष था। नहुष के अन्यतम पुत्र ने वाराणसी मे अपना एक स्वतन्त्र राज्य स्थापित किया। नहुष का बडा लडका ययाति था, जो अपने पिता की मृत्यु के बाद प्रतिष्ठान का राजा बना। ययाति बहुत प्रतापी और दिग्विजयी था। पुराणो मे उसे चक्रवर्ती कहा गया है। उसका राज्य पश्चिम मे सरस्वती नदी तक विस्तृत था। ययाति के पाँच पुत्र थे—यदु, तुर्वसु, द्रुह्यु, अनु और पुरु। ये पाँचों पौराणिक अनुश्रुति में बहुत प्रसिद्ध है। इनमे से पुरु प्रतिष्ठान का राजा बना, और उसी के नाम पर प्रतिष्ठान का ऐल-वंश अब पौरव कहाने लगा। प्रतिष्ठान के दक्षिण-पूर्व के प्रदेश पर तुर्वसु ने अपना स्वतन्त्र राज्य स्थापित किया। यदु का राज्य पश्चिम में केन, बेतवा और चम्बल नदियो के प्रदेश मे स्थापित हुआ। इसके वंशज यादव कहाए। अयोध्या के पश्चिम मे अनु का राज्य कायम हुआ, और द्रुह्यु ने यमुना और सरस्वती के बीच का प्रदेश प्राप्त किया। ययाति का चक्रवर्ती साम्राज्य पश्चिम मे सरस्वती से शुरू होकर पूर्व मे प्रतिष्ठान से आगे तक विस्तृत था। उसके बाद यह विशाल साम्राज्य उसके पुत्रो मे बँट गया। पर यहाँ यह ध्यान मे रखना चाहिए कि अयोध्या का मानव (ऐक्ष्वाकव) राज्य इस साम्राज्य के अन्तर्गत नहीं था। अयोध्या के इसी ऐक्ष्वाकव-वंश मे आगे चलकर

राजा मान्धाता हुआ था, जिसने कि प्रतिष्ठान के पौरव-वश, कान्यकुब्ज के ऐल-वश (अमावसु द्वारा स्थापित वंश), द्रुह्यु-वश और आनव वश आदि के प्रदेशो को जीतकर अपने अधीन किया था। मान्धाता की इन विजयों का एक परिणाम बहुत महत्त्वपूर्ण हुआ। राजा अनु और राजा द्रुह्यु के जो वंशज अयोध्या के पश्चिम से शुरू कर सरस्वती नदी तक के प्रदेशो पर शासन करते थे, वे मान्धाता से परास्त होकर और अधिक पश्चिम की ओर चले जाने के लिए विवश हुए। द्रुह्यु का एक वशज गान्धार था, जो सम्भवत: मान्धाता का समकालीन था, या उसके कुछ समय बाद हुआ था। उसने उत्तर-पश्चिमी पंजाब मे (रावलपिण्डी से भी आगे) अपना नया स्वतन्त्र राज्य स्थापित किया। राजा गान्धार के नाम से ही यह प्रदेश 'गान्धार' कहाया।

सम्राट् मान्धाता द्वारा परास्त हो जाने के कारण राजा अनु (ययाति का अन्यतम पुत्र) के वशज भी अपने प्रदेश को छोडकर पश्चिम की ओर चले गए। वहाँ उन्होने पंजाब मे अपने अनेक राज्य स्थापित किए। आनव (अनु के वशज) लोगो द्वारा स्थापित इन नये राज्यो में यौधेय, केकय, शिवि, मद्र, अम्बष्ठ और सौवीर विशेष रूप से उल्लेखनीय है। ये सब राज्य पंजाब मे विद्यमान थे। बाद के इतिहास मे इन सब राज्यो मे गणशासनों की स्थापना हुई, और इन्होने भारत के इतिहास मे बहुत महत्त्व-पूर्ण भाग लिया।

साम्राट् मान्धाता से परास्त होने के कारण आनव (ऐल-वंश की एक शाखा) लोग पश्चिम मे चले गए थे, और वहाँ पजाब मे उन्होने अपने अनेक राज्य स्थापित किए थे। पर इसी समय आनवो की एक शाखा सुदूर-पूर्व की ओर भी गयी। इसका नेता तितिक्षु था। इसने पूर्व की ओर जाकर वर्तमान समय के बिहार मे अपना राज्य स्थापित किया।

ययाति के पुत्र यदु ने यादव-वश की स्थापना की थी। आगे चलकर इस वंश की शाखाएँ दक्षिण की ओर फैलने लगी। यादवो की एक शाखा हैहय थी, जिसका अन्यतम राजा महिष्मन्त पौराणिक अनुश्रुति मे बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। इसने हैहयो की शक्ति का बहुत विस्तार किया, और अपने नाम से माहिष्मती नगरी की स्थापना की। अयोध्या के ऐक्ष्वाकव-वशी सम्राट् मान्धाता ने अन्य आर्य-राज्यो को जीतकर जो विशाल साम्राज्य बनाया था, वह देर तक स्थिर नही रह सका था। अयोध्या की शक्ति के निर्बल होने पर हैहयो को अपने विस्तार का अवसर मिला, और उन्होने उत्तरी भारत पर भी अनेक आक्रमण किए। महिष्मन्त के उत्तराधिकारी हैहय-राजा भद्रश्रेण्य ने पूर्व की ओर आगे बढ़कर वाराणसी को भी विजय कर लिया था। इस शक्तिशाली हैहय-वश मे ही आगे चलकर (महिष्मन्त के लगभग आठ पीढी बाद) राजा कृतवीर्य हुआ। उसका पुत्र अर्जुन (कार्तवीर्य अर्जुन) महान् विजेता था। अनुश्रुति के अनुसार उसने दक्षिण मे नर्मदा नदी से लेकर उत्तर मे हिमालय तक विजय की थी। सुदूर दक्षिण का राक्षस-राजा 'रावण' भी उसके हाथ से परास्त हुआ था, और कुछ समय के लिए माहिष्मती के दुर्ग मे कैद रहा था। सम्भवतः, रावण राक्षस-जाति के राजाओं की वंशक्रमानुगत उपाधि थी। कार्तवीर्य अर्जुन के सम्बन्ध मे अन्य भी अनेक महत्त्वपूर्ण बातें पौराणिक अनुश्रुति मे पायी जाती हैं। उन दिनों नर्मदा के तट पर

भृगु-गोत्र के कतिपय ब्राह्मण रहते थे, जो हैहय-राजाओं के पुरोहित होते थे । कार्तवीर्य अर्जुन ने उनके प्रति उत्तम व्यवहार नहीं किया । परिणाम यह हुआ, कि इन ब्राह्मणों का नेता ऋषि ऋचीक और्व नर्मदा के तट को छोडकर कान्यकुब्ज चला आया । वहाँ आकर उसने कान्यकुब्ज के राजा गाधि की कन्या सत्यवती के साथ विवाह किया । इसी ऋषि ऋचीक और्व का पौत्र प्रसिद्ध योद्धा परशुराम था, जिसके विषय में यह प्रसिद्ध है, कि उसने अनेक बार क्षत्रियों का सहार किया था । कार्तवीर्य अर्जुन के पौत्र तालजघ के शासन-काल मे हैहयो के उत्कर्ष का पुन प्रारम्भ हुआ । तालजघ अयोध्या के राजा रोहित (हरिश्चन्द्र का पुत्र) का समकालीन था । उसने अपने पितामह के समान बहुत-से राज्यो को जीतकर अपने अधीन किया ।

माहिष्मती का हैहय-वश यादव-वश की अन्यतम शाखा थी । जिस प्रकार हैहय क्षत्रिय अपनी शक्ति को बढा रहे थे, वैसे ही यादव-वश की अन्य शाखाएँ भी अपने प्रसार मे लगी थी । इसी वश के अन्यतम राजा विदर्भ ने अपने नाम से उस राज्य की स्थापना की, जिसे आजकल बरार कहते है, और जिसका पुराना नाम विदर्भ था । राजा विदर्भ का पौत्र चेदि था । उसने चम्बल और केन नदियों के बीच मे अपने स्वतन्त्र राज्य की स्थापना की, जो उसके नाम से 'चेदि' कहाया ।

अब आर्यों की शक्ति उत्तर-पश्चिम मे गान्धार से शुरू कर पूर्व मे गया तक और उत्तर मे हिमालय से लेकर दक्षिण मे नर्मदा नदी व बरार के प्रदेश तक विस्तृत हो चुकी थी । इस सुविस्तृत भूखण्ड पर आर्यों के बहुत-से छोटे-बडे राज्य विद्यमान थे, जो प्राय आपस मे युद्ध भी करते रहते थे । कभी अयोध्या के राजा प्रबल हो जाते थे, कभी प्रतिष्ठान के, और कभी माहिष्मती के । पर भारत के ये प्राचीन सम्राट् दिग्विजय करते हुए पराजित राजाओं का मूलोच्छेद नही कर देते थे । वे उनसे अधीनतामात्र स्वीकृत कराके सतुष्ट हो जाते थे । इस प्रकार एक चक्रवर्ती सम्राट् के रहते हुए भी विविध राज्यो की सत्ता कायम रहती थी ।

(४) भारत-वंश

प्रतिष्ठान के पौरव वंश का उल्लेख हम पहले कर चुके है । इसी वश मे आगे चलकर राजा दुष्यन्त हुए, भारत की प्राचीन ऐतिहासिक अनुश्रुति मे जिनका बडा महत्त्व है । महाकवि कालिदास ने अपना प्रसिद्ध नाटक 'अभिज्ञानशाकुन्तलम्' इसी दुष्यन्त के कथानक को लेकर लिखा है । दुष्यन्त ने अपने राज्य के लिए एक नया क्षेत्र चुना, जो गगा-यमुना के दोआब मे विद्यमान था ।

प्राचीन अनुश्रुति के अनुसार राजा दुष्यन्त एक बार शिकार खेलने के लिए जंगल मे गया । उन दिनो गंगा नदी के पूर्व मे हिमालय की तराई मे घनघोर जगल थे । इस जगल के बीच मे मालिनी नदी बहती थी, और उसके तट पर ऋषि कण्व का आश्रम था । मालिनी नदी गढवाल के पहाडो से निकलकर नजीबाबाद (बिजनौर जिला) के पश्चिम ओर से बहती हुई आगे चलकर गगा मे मिल जाती है । उसके किनारे किनक सोत नाम का एक स्थान अबतक विद्यमान है, जिसे ऋषि कण्व के प्राचीन आश्रम का स्थान कहा जाता है । ऋषि-आश्रम को देखकर दुष्यन्त ने अपने

साथियों को बाहर छोड दिया, और स्वय आश्रम मे प्रवेश किया। वहाँ उसकी भेंट शकुन्तला नामक एक सुन्दरी युवती से हुई, जो ऋषि कण्व की कन्या थी। शकुन्तला और दुष्यन्त मे प्रेम हो गया, और उनके सम्बन्ध से जिस बालक का जन्म हुआ, वही इतिहास मे भरत नाम से प्रसिद्ध है। भरत बड़ा प्रतापी राजा था, उसके नाम पर प्राचीन 'पौरववश अब 'भारत-वश' कहाने लगा। अनेक विद्वानो का मत है, कि हमारे देश का भारत नाम भी इस भरत के नाम पर ही पडा। इसमे सन्देह नही कि भरत चक्रवर्ती सार्वभौम सम्राट् था, और कुछ समय के लिए इस देश के बहुत-से आर्य-राज्य उसकी अधीनता को स्वीकार करने लगे थे। पश्चिम मे सरस्वती नदी से शुरू कर पूर्व मे अयोध्या के समीप तक का सब प्रदेश सीधा भरत के शासन मे था।

सम्राट् भरत के वश मे राजा हस्ती हुआ। अनुश्रुति के अनुसार इसी के नाम पर कुरुदेश की राजधानी हस्तिनापुर का नाम पड़ा। सम्भवतः, यह नगर पहले से विद्यमान था। राजा हस्ती ने इसे बहुत बढाया, और उसी के नाम से इस नगर का नाम हस्तिनापुर पड गया। हस्ती का पुत्र अजमीढ था। उसके समय मे भारत-वंश की अनेक शाखाएँ हो गयी। मुख्य भारत-शाखा हस्तिनापुर मे राज्य करती रही। अन्य शाखाओ ने पञ्चालदेश मे अपने पृथक् शासन स्थापित किए। कुरुदेश के साथ लगा हुआ गगा के पूर्व का जो प्रदेश है, उसी का प्राचीन नाम पचाल देश था। पञ्चाल के दो भाग थे, उत्तर-पञ्चाल और दक्षिण-पञ्चाल। उत्तर-पञ्चाल की राजधानी अहिच्छत्र थी, जिसके भग्नावशेष इस समय के बरेली जिले मे विद्यमान हैं। दक्षिण-पचाल की राजधानी काम्पिल्य थी, जो वर्तमान समय के फर्रुखाबाद मे स्थित थी। इन दो पचाल-राज्यों मे भारत-वंश की दो शाखाओ का शासन था।

हस्तिनापुर, अहिच्छत्र और काम्पिल्य मे जो विविध भारत-वशी राज्य स्थापित हुए थे, उनमे आगे चलकर परस्पर युद्ध शुरू हो गए। हस्तिनापुर के राजा अजमीढ के प्राय दस पीढी बाद कुरुदेश का राजा सवरण हुआ। उसका समकालीन अहिच्छत्र (उत्तर-पचाल) का राजा सुदास था। सवरण और सुदास मे अनेक युद्ध हुए। अन्त मे सुदास ने सवरण को उसकी राजधानी हस्तिनापुर मे बुरी तरह से परास्त किया। गगा पार कर सुदास कुरुदेश मे बहुत आगे बढ गया, और यमुना तक के प्रदेश को जीतकर उसने अपने अधीन कर लिया। सुदास ने उत्तर-पचाल के पडोस मे विद्यमान अन्य राज्यो पर भी आक्रमण किए। उसकी विजयों से परेशान होकर सवरण के नेतृत्व मे बहुत-से राजा उसके विरुद्ध उठ खडे हुए। सुदास के विरोधी इस गुट मे कुरु, मत्स्य, तुर्वसु, द्रुह्यु, शिवि आदि अनेक राजवशो के राजा सम्मिलित हुए। ऋग्वेद के एक सूक्त (ऋग्वेद ७, १८) मे सुदास के साथ लडे गए इस युद्ध की स्मृति सुरक्षित है। इस युग मे तुर्वसु, द्रुह्यु, शिवि आदि राजवश पजाब व उससे भी परे के पश्चिमी प्रदेशो मे शासन करते थे। राजा सुदास गंगा को पार कर जिस प्रकार पश्चिम की ओर आगे बढ़ रहा था, उसी से भयभीत होकर इन विविध पाश्चात्य राजाओ ने मिलकर परस्पर सघ बनाया था। इस युद्ध मे भी राजा सुदास की विजय हुई, और हस्तिनापुर के राजा संवरण ने भागकर सिन्धु नदी के तट पर स्थित एक दुर्ग मे शरण ली। सुदास और संवरण का यह युद्ध परुष्णी (रावी) नदी के तट पर लडा गया था। पर उत्तर-

पंचाल की यह असाधारण शक्ति देर तक कायम नही रह सकी। सुदास के वंशज सहदेव और सोमक उसके समान वीर नही थे। उनके समय मे संवरण ने कुरुदेश की शक्ति का पुनरुद्धार किया। संवरण ने न केवल कुरुदेश को फिर से प्राप्त किया, अपितु उत्तर-पंचाल को भी विजय कर लिया। निःसन्देह, संवरण बहुत प्रतापी और बलवान् राजा था। संवरण का पुत्र राजा कुरु हुआ। अपने पिता के समान कुरु भी वीर और प्रतापी था। उत्तर-पंचाल का विजय सवरण कर चुका था, अब कुरु ने दक्षिण पंचाल को भी जीतकर अपने अधिकार मे कर लिया। राजा कुरु के राज्य मे सरस्वती नदी से प्रयाग तक का सुविस्तृत प्रदेश शामिल था। कुरु के नाम पर ही हस्तिनापुर का प्राचीन भारत-वश अब 'कौरव-वंश' कहाने लगा। भारत-वश के हस्तिनापुर के राज्य को हम कुरुदेश कहते आये है। इस राज्य का कुरुदेश नाम भी राजा कुरु के पर ही पडा था। कुरु के वश मे आगे चलकर राजा वसु हुआ। वह बडा प्रतापी और वंशकर राजा था। उसने चेदिदेश को जीतकर अपने अधीन किया, और इसीलिए वह चैद्योपरिचर (चैद्य उपरिचर—चैद्यो के ऊपर चलने वाला) की उपाधि से विभूषित हुआ। उसने पूर्व मे चेदि से भी आगे बढकर मगध तक के प्रदेश को विजय किया, और शुक्तिमती (केन) नदी के तट पर स्थित शुक्तिमती नगरी को अपनी राजधानी बनाया। कुरुदेश मे मगध देश तक उसका अबाधित शासन था। इसी कारण वह चक्रवर्ती सम्राट् कहाता था। वसु के पहले भी मगध आर्यो के अधीन हो चुका था। पर पूर्वी भारत के इस क्षेत्र मे पहला स्थिर आर्य-राज्य वसु द्वारा ही स्थापित हुआ।

बार्हद्रथ-वश का प्रारम्भ—वसु के पाँच पुत्र थे—बृहद्रथ, प्रत्यग्रह, कुश, यदु और मावेल्ल। वसु ने अपने प्रताप से जिस विशाल साम्राज्य की स्थापना की थी, उसे उसने पाँच भागो मे विभक्त कर उनका शासन करने के लिए अपने पाँचो पुत्रो को नियत किया। वसु के साम्राज्य के ये पाँच भाग निम्नलिखित थे—मगध, कौशाम्बी, कारूष, चेदि और मत्स्य। मगध का शासक बृहद्रथ को नियत किया गया। उसी से उस बार्हद्रथ-वश की स्थापना हुई, जो आगे चलकर भारतीय इतिहास मे बहुत प्रसिद्ध हुआ। बार्हद्रथ राजाओ की राजधानी गिरिव्रज थी। पाटलिपुत्र और राजगृह की स्थापना से पूर्व अनेक सदियों तक मगध की राजधानी गिरिव्रज रही। राजगृह की स्थापना गिरिव्रज के समीप बाद मे हुई। वस्तुत, गिरिव्रज के खण्डहरो पर ही राजगृह का निर्माण हुआ था। गिरिव्रज के संस्थापक कौरव सम्राट् वसु और उसका पुत्र बृहद्रथ ही थे।

(५) रामचन्द्र और आर्यों का दक्षिण में प्रवेश

अयोध्या के ऐक्ष्वाकव वश के राजाओ मे सब से प्रसिद्ध राजा रामचन्द्र थे, जिनकी कथा भारत का बच्चा-बच्चा जानता है, और जिनकी स्मृति मे आजतक अनेक त्यौहार मनाये जाते है। राम की कथा को यहाँ लिखने को आवश्यकता नही।

यह कथा विस्तृत रूप मे रामायण मे वर्णित है। अनुश्रुति के अनुसार रामायण के रचयिता वाल्मीकि मुनि थे। उन्हे संस्कृत का आदिकवि माना जाता है। उनसे पहले अनेक ऋषियो ने पद्य-रूप मे वैदिक ऋचाओ की तो रचना की थी, पर ऐसा प्रतीत होता है कि लौकिक उपाख्यानमयी कविता का प्रारम्भ सबसे पूर्व वाल्मीकि ने

ही किया था। वाल्मीकि द्वारा विरचित इस रामायण में २४,००० श्लोक हैं, जो कविता की दृष्टि से अत्यन्त सुन्दर और उत्कृष्ट हैं। अनेक विद्वानों की सम्मति मे सम्पूर्ण रामायण किसी एक कवि की रचना नहीं है। प्रारम्भ मे वाल्मीकि ने राम की कथा का जो पद्यमय उपाख्यान किया था, बाद मे उसमे अनेक अंश जुडते गये। रामायण जिस रूप मे अब उपलब्ध होती है, सम्भवतः, वह ईसवी सन् से पाँच सदी के लगभग पूर्व बनी थी।

पर इसमे सन्देह नहीं, कि वाल्मीकि राम के समकालीन थे। उनका अपना आश्रम था, और अनुश्रुति के अनुसार सीता कुछ समय तक उनके आश्रम मे रही थी। राम के दोनो पुत्र कुश और लव बाल्मीकि मुनि के आश्रम मे ही उत्पन्न हुए थे। अनेक विद्वानो के अनुसार मुनि वाल्मीकि भार्गव-वंश के थे। अन्य विद्वान् उन्हे किसी आर्य-भिन्न जाति का मानते है। वर्तमान समय की भंगी जाति के लोग वाल्मीकि की पूजा करते हैं, और अपने को वाल्मीकि-जाति का कहते हैं। ऐसे बहुत-से मन्दिर भी भारत मे विद्यमान है, जिनमे वाल्मीकि की मूर्ति स्थापित है। इन मन्दिरो के पुरोहित भंगी-जाति के होते है, और भगी लोग ही इनमे पूजा के लिये जाते है। भंगियो मे विद्यमान अनुश्रुति को यदि कोई महत्व दिया जाय, तो यह स्वीकार करना होगा कि वाल्मीकि ब्राह्मण न होकर किसी आर्यभिन्न जाति के थे, जिसके वर्तमान प्रतिनिधि भगी-जाति के लोग है। वर्तमान समय मे यह बात बडे आश्चर्य की है, कि होली आदि अनेक अवसरो पर भगी लोग ब्राह्मणो के समान दान ग्रहण करते है, और अपने 'यजमानो' को आशीर्वाद भी देते है। असम्भव नहीं, कि ये लोग किसी आर्यभिन्न जाति के पुरोहित-स्थानीय रहे हो, और बाद मे आर्यों की प्रभुता होने पर समाज मे अत्यन्त हीन स्थति पर पहुँचने के लिए विवश हो गये हों।

आर्यों का दक्षिण-प्रवेश—रामायण की कथा का एक ऐतिहासिक महत्व है, जिसका यहाँ विशेष रूप से उल्लेख करना आवश्यक है। राम से पूर्व आर्य लोग उत्तरी भारत मे अपने बहुत-से राज्य स्थापित कर चुके थे। दक्षिण मे विन्ध्याचल और नर्मदा तक भी उनका प्रवेश हो चुका था। पर सुदूर दक्षिण मे अभी तक आर्यभिन्न जातियो का ही निवास था। इन आर्यभिन्न जातियो मे राक्षस जाति सर्वप्रधान थी। वहाँ उनका अपना स्वतन्त्र राज्य था, और उनकी दो प्रधान बस्तियाँ लका और जनस्थान थीं। राक्षस लोगो का धर्म आर्यो के धर्म से भिन्न था। राक्षस आर्यो के यज्ञो और विधि-विधानो मे विश्वास नही रखते थे। इसीलिए जो आर्य ऋषि दक्षिण की ओर जंगलो मे अपने आश्रम बनाते थे, राक्षस उन्हे परेशान करते रहते थे। फिर भी राक्षसो और आर्यों मे परस्पर सम्बन्ध विद्यमान था। लका का राजा रावण पुलस्त्य-वश का था, और पुलस्त्य का विवाह वैशाली के सूर्यवंशी राजा तृणबिन्दु की कन्या इलविला के साथ हुआ था। वाराणसी से पूर्व की ओर बसे हुए आर्य लोग अपनी रक्तशुद्धता को कायम नही रख सके, क्योकि उस प्रदेश मे आर्यभिन्न जातियो की प्रभुता थी।

राक्षसों के समान वानर और ऋक्ष जातियाँ भी आर्यभिन्न जातियाँ थी, जो दक्षिणी भारत मे निवास करती थी। सभ्यता की प्रारम्भिक दशा मे मनुष्य अनेक पशु-पक्षी व वनस्पति आदि की पूजा करता रहा है। इन प्रारम्भिक जातियो के अपने

पृथक् देवता (पशु आदि के रूप मे) होते थे, और उनके चित्र से ये लोग अपने शरीर को अंकित व विभूषित करते थे। अमेरिका के आदिनिवासियो मे यह प्रथा अब तक विद्यमान है। सम्भवत:, राम के काल मे जिन जातियों को वानर व ऋक्ष आदि नामों से कहा गया है, वे इन पशुओ की दैव-रूप मे पूजा करती थी, और इसी कारण उनका परिचय इन पशुओं के नाम द्वारा ही दिया जाता था। अमेरिका के मूल निवासियो की विविध जातियो के अपने-अपने जो पृथक् चिह्न है, जिनका आधार उनके उपास्य जीव-जन्तु है, उन्हे टोटम कहते है। वानर, ऋक्ष, नाग आदि प्राचीन भारतीय जातियो के भी ये जन्तु सम्भवत: टोटम ही थे। यह असम्भव नही है, कि किष्किन्धा के वानरो का लका के राक्षसो के साथ विरोध व विद्वेष हो, और इसीलिए वे राक्षसो के विरुद्ध राम की सहायता करने के लिये सुगमता के साथ तैयार हो गये हो।

(६) कौरव-पाण्डव और महाभारत युद्ध

हस्तिनापुर के पौरव-वश के विषय मे ऊपर लिखा जा चुका है। इसी वश मे आगे चलकर राजा प्रतीप हुआ, जो बहुत प्रतापी था। उसने हस्तिनापुर के राज्य को बहुत उन्नत किया। प्रतीप के बाद उसका पुत्र शन्तनु हस्तिनापुर का राजा बना। शन्तनु के पौत्र धृतराष्ट्र और पाण्डु थे। धृतराष्ट्र के दुर्योधन आदि सौ पुत्र थे, जो महाभारत की कथा मे कौरव नाम से विख्यात है। पाण्डु के युधिष्ठिर, भीम, अर्जुन, नकुल और सहदेव—ये पाच पुत्र थे, जो पाण्डव कहाते थे।

कौरवो या धार्तराष्ट्रो और पाण्डवो मे परस्पर मेल नही था। पाण्डवो ने चाहा, कि हस्तिनापुर के कुरु-राज्य मे उन्हे भी अपना हिस्सा मिले। पर दुर्योधन इसके विरुद्ध था। सघर्ष के बाद अन्त मे यह तय हुआ, कि यमुना के पश्चिम मे एक प्रदेश पाण्डवो को प्रदान कर दिया जाए। यमुना के पश्चिम का यह प्रदेश उन दिनो मे एक घना जगल था, जिसे खाण्डव वन कहते थे। खाण्डव वन को पाण्डवो ने आबाद किया, और वहाँ इन्द्रप्रस्थ नगर बसाया। नई दिल्ली के क्षेत्र मे जो पुराना किला है, उसमे एक गाँव था, जिसका नाम इन्दरपत था। यह इन्दरपत शायद इन्द्रप्रस्थ के भग्नावशेषो पर आबाद था। पाण्डवो के प्रयत्न से इन्द्रप्रस्थ की बहुत उन्नति हुई। उनकी इच्छा थी, कि वे प्राचीन आर्य-मर्यादा का अनुसरण कर दिग्विजय के लिये निकले, और अन्य राजाओ को परास्त कर चक्रवर्ती पद को प्राप्त करे। पर उनकी इस महत्वाकाक्षा मे जहाँ हस्तिनापुर के कौरव बाधक थे, वहाँ उनका सबसे बडा शत्रु जरासन्ध था, जो मगध मे अपनी शक्ति को बढाकर भारत का 'एकराट्' बनने के लिये प्रयत्नशील था।

बार्हद्रथ जरासन्ध—पौरव-वश के राजा वसु के पुत्र बृहद्रथ ने मगध मे किस प्रकार अपने राज्य की स्थापना की, और उससे बार्हद्रथ-वश का प्रारम्भ हुआ, यह हम पहले लिख चुके है। कौरवो और पाण्डवो का समकालीन मगध का राजा जरासन्ध था, महाभारत के अनुसार जिस ने सब क्षत्रिय-राजवशो की राज्यश्री का अन्त कर सब राजाओ मे प्रधान स्थान प्राप्त कर लिया था। सारा ससार उसके 'एकवश' मे था, और सर्वत्र उसका साम्राज्य था। चेदि का राजा शिशुपाल जरासन्ध की अधीनता स्वीकार करता था, और मागध साम्राज्य के प्रधान सेनापति-पद पर नियुक्त था। कारुष

देश का राजा वक्र उसका शिष्य-सा बना हुआ था। वक्र बडा प्रतापी राजा था और मायायुद्ध मे बडा प्रवीण था। ऐसे ही करभ का राजा मेघवाहन, जिसकी ख्याति एक दिव्यमणि के कारण सर्वत्र विस्तृत थी, जरासन्ध के अधीन हो गया था। प्राग्ज्योतिष का राजा भगदत्त, जिसके अधीन मुरु और नरक नाम के दो राजा थे और जो अनन्त बलशाली भूपति था, न केवल वाणी से अपितु कर्म से भी जरासन्ध के अधीन था। युधिष्ठिर का मामा पुरुजित् भी मगधराज की अधीनता स्वीकृत करता था। बग, पुण्ड्र और किरात का राजा वासुदेव भी जरासन्ध के अधीन था। इसी प्रकार अन्य भी अनेक राजा मागध-साम्राज्य की अधीनता स्वीकार करते थे।

जरासन्ध ने बहुत-से राजाओ को पकडकर कारागार मे भी डलवा दिया था। महाभारत की अनुश्रुति के अनुसार 'जिस प्रकार सिंह महाहस्तियो को पकडकर गिरिराज की कन्दरा मे बन्द कर देता है, उसी प्रकार जरासन्ध ने राजाओ को परास्त कर गिरिव्रज मे कैद कर लिया था। राजाओ के द्वारा यज्ञ करने की इच्छा से (राजाओ का यज्ञ मे बलिदान करने की इच्छा से) उस जरासन्ध ने अत्यन्त कठोर तप करके उमापति महादेव को सन्तुष्ट किया है, और राजाओ को एक-एक करके परास्त कर अपने पास कैद कर लिया है।'

पाण्डव तभी राजसूय यज्ञ द्वारा चक्रवर्ती पद प्राप्त कर सकते थे, जब जरासन्ध उनके मार्ग मे बाधक न हो। पाण्डवों की कृष्ण से बहुत मैत्री थी, और कृष्ण को जरासन्ध से विशेष विरोध व द्वेष था। वे अन्धकवृष्णि-सघ के 'सघमुख्य' व नेता थे। जरासन्ध के आक्रमणो से विवश होकर इस अन्धकवृष्णि-सघ को अपने प्रदेश शूरसेन को छोड़कर सुदूर पश्चिम मे द्वारिका मे जा बसने के लिये विवश होना पडा था।

कृष्ण—शूरसेन-प्रदेश मे यादव लोगो के दो राज्य थे—अन्धक और वृष्णि। अन्धक-यादवो का नेता कस था, जोकि जरासन्ध का दामाद था। जरासन्ध मगध का 'एकराट्' था। कस अन्धक-यादवो मे 'समानो मे ज्येष्ठ' था, एकराट् नहीं। पर अपने श्वसुर जरासन्ध का सहारा पाकर कस ने भी अन्धक-यादव कुलो के अन्य 'वृद्धो' व नेताओ को दबाना शुरू किया, और एकराट् बन गया। पर अन्धक-यादवो को यह बात पसन्द नही आयी। उन्होने अपने पडोसी दूसरे यादव-राज्य वृष्णिगण से सहायता माँगी। वृष्णि-यादवो का नेता कृष्ण था। उस ने कस का घात कर दिया। यह सुनते ही जरासन्ध का कोप कृष्ण और यादवो पर उमड़ पडा। उसने सत्रह बार यादवो पर आक्रमण किये। अन्धक-वृष्णियो ने खूब डटकर मगधराज जरासन्ध का मुकाबला किया। हस और डिम्भक नामक दो सेनापति इन युद्धो मे काम आये। आखिर अठारहवी बार जरासन्ध ने एक शक्तिशाली सेना लेकर यादवो पर आक्रमण किया। इस बार अन्धक-वृष्णि परास्त हुए और कृष्ण की सलाह से वे शूरसेन देश को छोडकर द्वारिका मे जा बसे। वहाँ अन्धक और वृष्णि गणो ने परस्पर मिलकर एक सघराज्य बना लिया, और कृष्ण उसके 'सघमुख्य' नियत हुए। द्वारिका मगध से बहुत दूर थी। वहाँ जरासन्ध के आक्रमणो का कोई भय नही था। पर कृष्ण अपने परम शत्रु मागध-सम्राट् से बदला उतारने के लिए उत्सुक थे। अकेला यादवसघ मगध का कुछ नही बिगाड़ सकता था। इसलिये उन्होने इन्द्रप्रस्थ के पाण्डव-राजा युधिष्ठिर को अपना मित्र

बनाया। कृष्ण ने उन्हें समझाया, कि जरासन्ध को मारे बिना वे अपनी आकांक्षाओं की पूर्ति नही कर सकते। उसने कहा—"इस समय एक महान् सम्राट् मगधराज जरासन्ध पहले से विद्यमान है। वह अपने बल-पराक्रम से सम्राट्-पद पर पहुँचा है। ऐल तथा ऐक्ष्वाकव-वंश की इस समय एक सौ शाखाएँ हैं। शक्ति से चाहे जरासन्ध ने इन्हे अपने अधीन कर लिया हो, परन्तु दिल से उसे वे नही चाहते। वह बल से ही उनपर शासन करता है। ८६ राजा तो उसने कैद ही कर रखे हैं, और साथ ही यह घोषणा की हुई है, कि जब इन कैदी राजाओ की सख्या पूरी सौ हो जायगी, तो महादेव जी के आगे इनकी बलि चढा दी जायगी। यह बिल्कुल अनहोनी बात है, कि किसी राज्य के विधिपूर्वक अभिषिक्त राजा को कोई सम्राट् पकड रखे। क्षत्रिय का धर्म लड़ाई में मरना है, पशु के समान यज्ञ मे बलि चढना नही। मगधराज का हमें मिलकर मुकाबला करना चाहिये। जो अब जरासन्ध के मुकाबले मे खडा होगा, वही उज्ज्वल कीर्ति प्राप्त कर सकेगा। जरासन्ध को जो परास्त करेगा, वही इस समय सम्राट्-पद का अधिकारी होगा।"

जरासन्ध की पराजय—कृष्ण की प्रेरणा से पाण्डव लोग जरासन्ध का मुकाबला करने के लिए तैयार हो गये। पर उन्होंने सम्मुख युद्ध मे जरासन्ध का सामना करना उचित नही समझा। अर्जुन और भीम वेश बदलकर कृष्ण के साथ मगध की राजधानी गिरिव्रज मे गये, और वहाँ जरासन्ध को द्वन्द्व-युद्ध के लिये ललकारा। कृष्ण ने युद्ध के लिए आह्वान करते हुए जरासन्ध से कहा—"हम तुझे द्वन्द्व-युद्ध के लिए आह्वान करते हैं। या तो कारागार मे डाले हुए सब राजाओ को छोड दो, या मृत्यु के लिए तैयार हो जाओ।" जरासन्ध जैसा उद्भट वीर द्वन्द्व-युद्ध से इनकार नही कर सकता था। द्वन्द्व युद्ध मे भीम की विजय हुई, और जरासन्ध मारा गया। कृष्ण भली-भाँति जानता था, कि जरासन्ध के मरते ही मगध मे क्रान्ति हो जायगी, क्योंकि मगध का साम्राज्य 'एकराट्' की वैयक्तिक शक्ति पर निर्भर था।

जरासन्ध के मारे जाते ही कृष्ण ने पहला कार्य यह किया, कि कैद मे पडे हुए राजाओ को मुक्त कर दिया। इन सब राजाओ ने प्रसन्नतापूर्वक पाण्डवो की अधीनता स्वीकार की, और ये सब युधिष्ठिर के राजसूय-यज्ञ मे सम्मिलित होने के लिए सहर्ष तैयार हो गये। मगध का साम्राज्य इन सब राजाओ का समूल उच्छेद करने मे तत्पर था। पर युधिष्ठिर का साम्राज्यवाद प्राचीन आर्य-परम्परा के अनुकूल था। अन्य राजाओ से अधीनता स्वीकृत कराना ही उसका उद्देश्य था। मूर्धाभिषिक्त राजाओ को कैद करना या मारना प्राचीन आर्य-परम्परा के सर्वथा विपरीत था।

जरासन्ध की मृत्यु के बाद उसका लड़का सहदेव मगध के राजसिंहासन पर आरूढ हुआ। एकराट् राजाओं की शक्ति बहुत कुछ उनके व्यक्तित्व पर निर्भर रहती है। जरासन्ध के मरते ही उसका शक्तिशाली साम्राज्य छिन्न-भिन्न हो गया। इन्द्रप्रस्थ के राजा युधिष्ठिर का साहाय्य पाकर विविध अधीनस्थ राजा फिर से स्वतन्त्र हो गये। अनेक गणराज्य भी निर्भय होकर फिर से अपने जनपदो मे वापस लौट आये।

महाभारत का युद्ध—जरासन्ध की पराजय और मृत्यु के बाद मगध की राजनीतिक शक्ति निर्बल पड गयी थी। इस समय भारत के आर्य-राज्यो मे सबसे अधिक

शक्तिशाली पाण्डवों का राज्य था, जिनकी राजधानी इन्द्रप्रस्थ थी। पाण्डवों के इस उत्कर्ष से दुर्योधन को बहुत चिढ थी। युद्ध द्वारा पाण्डवों को परास्त कर सकना सुगम नहीं था, अतः दुर्योधन ने एक अन्य उपाय का आश्रय लिया। प्राचीन युग मे आर्यों को द्यूत का बड़ा व्यसन था। जिस प्रकार युद्ध मे पीठ दिखाना घृणित माना जाता था, वैसे ही द्यूत के लिए आह्वान होने पर उसे स्वीकार न करना भी बहुत बुरा समझा जाता था। गान्धार देश का राजा शकुनि दुर्योधन का मामा था। वह द्यूत मे अत्यन्त प्रवीण था। उसके भरोसे पर दुर्योधन ने पाण्डवो को द्यूत खेलने का निमन्त्रण दिया। पाण्डव लोग द्यूत मे अपना सारा राज्य हार गये। द्यूत की शर्त के अनुसार पाण्डवों को बारह वर्ष बनवास और तेरहवें वर्ष अज्ञातवास करना पड़ा।

इस बीच मे हस्तिनापुर के कौरवो ने अपनी शक्ति बहुत बढा ली। द्यूत मे हार जाने के कारण तेरह वर्ष के लिए इन्द्रप्रस्थ के राज्य पर भी कौरवो का अधिकार हो गया था। बनवास और अज्ञातवास की अवधि समाप्त हो जाने पर पाण्डवो ने दुर्योधन से अपना राज्य वापस माँगा। द्यूत की शर्तों के अनुसार अब इन्द्रप्रस्थ का राज्य पाण्डवो को वापस मिल जाना चाहिए था। पर दुर्योधन ने उत्तर दिया, कि युद्ध के बिना मैं सुई की नोक के बराबर भी जमीन नही दूंगा। उसे भरोसा था, कि असहाय पाण्डव कौरवों से अपना राज्य नही ले सकेंगे। पर पाण्डवों के साथ सहानुभूति रखनेवाले राजाओ की भी कमी नही थी। वृष्णिसघ के नेता कृष्ण पाण्डवों के सखा थे। अन्य भी अनेक राजाओ ने उसका साथ दिया। कौरवो और पाण्डवो मे जो लडाई इस समय हुई, उसे ही महाभारत युद्ध कहते है।

आर्यावर्त्त के प्रायः सभी राज्य इस युद्ध मे सम्मिलित हुए। मगध का राजा सहदेव इस युद्ध मे पाण्डवो के पक्ष मे था। किन्तु प्राच्य भारत के अन्य अनेक राज्य विदेह, अग, बग, कलिग आदि कर्ण की मध्यक्षता मे कौरवो के पक्ष मे थे। भारत की उत्तर-पूर्वी सीमा पर स्थित असम देश का राजा भगदत्त भी इस युद्ध में कौरवो की ओर था। इस प्रकार प्रायः सारा प्राच्य भारत कौरवो का पक्षपाती था। प्राच्य राज्यो के समान उत्तर-पश्चिमी भारत और पजाब के राज्य भी महाभारत युद्ध मे कौरवो के पक्ष मे सम्मिलित हुए। केकय, शिवि, सिन्धु-सौवीर, गान्धार, त्रिगर्त, मद्र, क्षुद्रक, मालव, अम्बष्ठ और काम्बोज आदि पश्चिमी भारत के सब राज्य कौरवो की ओर थे। सिन्धु-सौवीर का राजा जयद्रथ था, जो दुर्योधन का बहनोई था। वह इस क्षेत्र मे एक अत्यन्त शक्तिशाली राजा था, और उत्तर-पश्चिमी भारत के अन्य राजा उसके प्रभाव मे थे। वह कौरवों की ओर से लडाई मे शामिल हुआ। मद्र देश का राजा शल्य पाण्डवो का मामा था, पर उसने भी कौरवो का पक्ष लिया। कोशल, वत्स, विदर्भ आदि के राजाओ ने भी इस युद्ध मे कौरवों का साथ दिया।

पाण्डवो के पक्ष मे वे अनेक राजा थे, जिन्हे जरासन्ध के पराभव के कारण स्वतन्त्रता प्राप्त हुई थी। काशी, पूर्वी कोशल, पञ्चाल, मत्स्य, चेदि, कारूष और मगध के राजाओ का पाण्डवों के पक्षपातियो में प्रमुख स्थान था। वृष्णि-राज्य के अधिपति कृष्ण पाण्डवो के प्रधान सहायक थे, पर सम्भवतः वह वृष्णि लोगो को पाण्डवो के पक्ष में युद्ध के लिए तैयार नही कर सके। परिणाम यह हुआ कि अकेले कृष्ण सारथि या

परामर्शदाता के रूप में पाण्डवो के पक्ष मे सम्मिलित हुए। यादवों के जो अनेक छोटे-बडे राज्य इस समय विद्यमान थे, वे कौरव और पाण्डव दोनों पक्षो मे बँटे हुए थे।

महाभारत मे उन राज्यों व राजाओ का अविकल रूप से उल्लेख किया गया है, जो इस महायुद्ध मे दोनो पक्षो की ओर से लडे थे। इनकी सूची को पढकर यह स्पष्ट हो जाता है, कि उस समय का भारत बहुत-से छोटे-बडे राज्यों मे विभक्त था, और इन राज्यो की संख्या सैकडों में थी। इसमे सन्देह नही, कि उस युग मे अनेक राजाओं का यह प्रयत्न रहता था, कि वे अपने साम्राज्य का विस्तार करें, और अन्य राज्यो को जीतकर अपने अधीन कर लें। पर आर्यजाति की परम्परा के अनुसार ये महत्त्वाकाक्षी चक्रवर्ती सम्राट् विजित राज्यो और उनके राजाओ का मूलोच्छेद नही करते थे, और अधीनस्थ रूप मे उनकी पृथक् सत्ता कायम रहती थी। यही कारण है, कि महाभारत-युद्ध मे सम्मिलित राजाओ की सख्या सैकडो मे पहुँच गयी थी।

कौरवो और पाण्डवों के पक्षों मे शामिल हुए राज्यो की सूची को ध्यान से देखने पर ज्ञात होता है, कि उत्तर-पश्चिमी भारत, पूर्वी-भारत और पश्चिमी विन्ध्य के राज्य कौरवो के पक्ष मे थे, और मध्यभारत, आर्यावर्त्त और गुजरात के राज्य पाण्डवो के। इसका कोई मूलभूत राजनीतिक कारण था या नही, यह कह सकना बहुत कठिन है।

पाण्डव-पक्ष की सेनाएँ मत्स्य देश (अलवर व उसका समीपवर्ती प्रदेश) मे और कौरवो की सेनाएँ हस्तिनापुर से यमुना तक के प्रदेश मे एकत्र हुई। अन्त मे कुरुक्षेत्र के मैदान मे दोनो पक्षो की सेनाओ मे घनघोर युद्ध हुआ। प्राचीन अनुश्रुति के अनुसार अठारह दिन की लडाई के बाद युद्ध का निपटारा हो गया। पाण्डवों का पक्ष विजयी हुआ। दुर्योधन और उसके भाई युद्ध मे मारे गए और पाण्डवबन्धु कुरु देश के शासन को हस्तगत करने मे समर्थ हुए। अब इन्द्रप्रस्थ के पाण्डव राजा न केवल कुरुक्षेत्र के अधिपति थे, अपितु भारत मे उनकी शक्ति का मुकाबला करने वाला अन्य कोई नही था।

महाभारत के इस युद्ध मे योद्धाओं का बहुत बडी सख्या मे संहार हुआ। इस युद्ध मे शामिल होने के लिए जो सेनाएँ एकत्र हुई थी, महाभारत ग्रन्थ मे उनकी सख्या अतिशयोक्ति के साथ दी गई है। इसके अनुसार युद्ध मे शामिल हुए पदाति योद्धाओ की ही सख्या बीस लाख के लगभग थी। पदातियो के अतिरिक्त हाथी, घोडे और रथ भी लाखो की सख्या मे लडाई के लिए लाए गए थे। महाभारत की इस सख्या पर विश्वास कर सकना तो सम्भव नही है, पर यह विश्वासपूर्वक कहा जा सकता है, कि महाभारत की यह लडाई भारतीय इतिहास मे अद्वितीय थी। इतनी बडी सख्या मे विविध आर्य राजा इससे पहले कभी युद्ध मे शामिल नही हुए थे। भीष्म, द्रोण, कर्ण आदि कितने ही वीर पुरुष इस युद्ध मे काम आए। महाभारत मे इस बात का बडे मार्मिक शब्दो मे वर्णन किया गया है, कि जब विजयी पाण्डव कुरुदेश की राजधानी हस्तिनापुर मे पहुँचे, तो उन्हे अनाथो और विधवाओ के रुदन के अतिरिक्त वहाँ कुछ नही मिला। अपने देश की इस दुर्दशा को देखकर उनके हृदय मे अत्यन्त ग्लानि उत्पन्न हुई, और उनका चित्त राज्य-शासन मे नही लगा। अनुश्रुति के अनुसार पाण्डव कुछ

समय बाद ही हस्तिनापुर छोडकर हिमालय की ओर चले गए, और वहाँ तपस्या द्वारा उन्होने अपने जीवन का अन्त किया। पाण्डवो के बाद अर्जुन का पोता परीक्षित कुरुदेश का राजा हुआ।

कृष्ण और यादव—इस प्रकरण मे हमने अनेक बार कृष्ण का जिक्र किया है, जो महाभारत-युद्ध में पाण्डवो के परम सहायक थे। कृष्ण वृष्णि गण के 'राजा' या 'गणमुख्य' थे। सम्भवत:, इस युग मे वृष्णियों में वंशपरम्परागत राजसत्ता का अन्त होकर गणतन्त्र-शासन की स्थापना हो चुकी थी, और कृष्ण वंश-क्रमानुगत राजा न होकर वृष्णिगण के 'मुख्य' मात्र थे। वे केवल राजनीतिज्ञ और गणमुख्य ही नही थे, अपितु उत्कृष्ट विचारक, दार्शनिक और तत्त्ववेत्ता भी थे। श्रीमद्भगवद्गीता मे उपदिष्ट कर्मयोग का प्रवचन उन्होंने ही किया था। अनेक ऐतिहासिकों के अनुसार कृष्ण ही उस भागवत धर्म के प्रवर्त्तक थे, जो आगे चलकर भारत का एक प्रमुख धर्म बन गया। कृष्ण और भागवत-धर्म पर हम एक अगले अध्याय मे विशद रूप से प्रकाश डालेंगे।

(७) उपसंहार

पौराणिक अनुश्रुति मे वैवस्वत मनु से शुरू कर महाभारत-युद्ध तक का इतिवृत्त जिस ढंग से दिया गया है, उसे हमने ऊपर के छ प्रकरणो मे अत्यन्त सक्षेप के साथ लिखा है। इसमे सन्देह नही, कि पुराणो का यह इतिवृत्त अस्पष्ट और अपूर्ण है। ऐक्ष्वाकव, पौरव आदि वशो के राजाओ की जो सूचियाँ वहाँ दी गयी है, वे पूर्ण नही है। अनेक राजाओं के नाम उसमे छूट गए है। पर विविध विद्वानो ने पौराणिक अनुश्रुति का गम्भीर अध्ययन कर जिस ढग से इस प्राचीन काल के विभिन्न आर्य-राज्यो और उनके राजाओ का वृत्तान्त सकलित किया है, उससे कतिपय बातें स्पष्ट हो जाती है—

(१) पुराणो मे विद्यमान यह अनुश्रुति ऐतिहासिक दृष्टि से असत्य व कपोल-कल्पित नही समझी जा सकती। उन्नीसवी सदी के अनेक विद्वान् रामायण और महा-भारत तक की कथाओ को कवि की कल्पनामात्र समझते थे। उनका विचार था, कि राम वस्तुत कोई राजा नही हुए। जिस प्रकार वेदो मे इन्द्र और वृत्र के युद्ध का या देवताओं और असुरो के सघर्ष का वर्णन आता है, और यह सघर्ष कतिपय विचारको के अनुसार मनुष्य की दैवी और आसुरी प्रवृत्तियो का संघर्ष है, इसी प्रकार राम और रावण का युद्ध भी एक रूपकमात्र है। उन्नीसवीं सदी के ये विद्वान् किसी राजा की ऐतिहासिक सत्ता को स्वीकृत करने के लिए यह आवश्यक समझते थे, कि उसके समय के कोई उत्कीर्ण लेख, सिक्के, मूर्ति आदि ठोस सामग्री उपलब्ध हो। केवल साहित्यिक आधार पर वे किसी राजवश या राजा की सत्ता को स्वीकृत करना 'वैज्ञानिक' नही समझते थे। पर पार्जीटर और उनके अनुयायियो के प्रयत्नो से अब वह समय आ गया है, जबकि पौराणिक अनुश्रुति की भी ऐतिहासिकता स्वीकृत की जाने लगी है। वैदिक साहित्य मे इन राजाओं मे से कतिपय का प्रसंगवश कही-कही उल्लेख आ गया है। पर वहाँ इनका विशद रूप से वर्णन नही किया गया। इसका कारण केवल यह है, कि वेद, ब्राह्मण, उपनिषद् आदि ग्रन्थ प्रधानतया धर्मपरक है। राजवशो व राजाओ का

वर्णन करना उनके विषय व क्षेत्र से बाहर की बात है। फिर भी वैदिक साहित्य में कहीं-कहीं जो अनेक राजाओं व उनसे सम्बद्ध घटनाओं का उल्लेख हो गया है, वह पौराणिक अनुश्रुति मे वर्णित वंशावलियो व इतिवृत्तो की प्रामाणिकता को पुष्ट करता है। उदाहरणार्थ, पञ्चाल राज्य के राजा सुदास की विजयो के कारण अन्य राजाओ ने उनके विरुद्ध जो अपना संघ बनाया, और परुष्णी नदी के तट पर सुदास ने उन्हे जो पराजित किया, उसका उल्लेख ऋग्वेद के एक सूक्त (७, १८) मे मिलता है।

(२) भारत मे आर्यों ने अनेक धाराओ मे प्रवेश किया। आर्यों से पूर्व यहाँ जो आर्यभिन्न (राक्षस आदि) जातियाँ निवास करती थी, उनके साथ उनके बहुत-से युद्ध हुए। धीरे-धीरे आर्य लोग पूर्व और दक्षिण की ओर फैलते गए। पूर्व और दक्षिण मे आर्यभिन्न जातियो का वे सर्वथा उन्मूलन नही कर सके। यही कारण है, कि भारत के इन क्षेत्रो मे आर्यभिन्न नसल के लोग अच्छी बडी सख्या मे अबतक विद्यमान हैं।

(३) आर्य-जाति का भारत मे यह विस्तार उन साहसी राजपुत्रो के नेतृत्व मे हुआ, जिन्हे प्राचीन अनुश्रुति मे 'वंशकर' (नये राजवंश का प्रारम्भ करने वाला) कहा गया है। राजा का ज्येष्ठ पुत्र तो अपने पिता की राजगद्दी को सँभालता था, पर उसके अन्य साहसी पुत्र अपने साहसी साथियो के साथ नए प्रदेशो मे आर्य-जाति का प्रभुत्व स्थापित करने के लिए निकल जाते थे। मानव और ऐल-वंशो की विविध शाखाएँ व प्रशाखाएँ इसी ढंग से भारत मे विस्तृत होती गयी, और बहुत-से छोटे-बड़े आर्य-राज्य इस देश मे स्थापित हुए।

(४) इन विविध आर्य-राजाओ की यह महत्त्वाकाक्षा होती थी, कि वे चक्रवर्ती, सार्वभौम व सम्राट् पद को प्राप्त करे। इस उद्देश्य से वे दिग्विजय के लिए निकलते थे। पर आर्य-राजा जिन राज्यो को जीतते थे, उनके राजवंश का मूलोच्छेद नही करते थे। वे उनसे अधीनता स्वीकृत कराके ही सन्तुष्ट हो जाते थे। यही कारण है, कि किसी चक्रवर्ती सार्वभौम सम्राट् की विद्यमानता मे भी अन्य राज्य व राजवंश कायम रहते थे।

(८) तिथिक्रम

प्राचीन अनुश्रुति के अनुसार प्रारम्भिक आर्यों का जो राजनीतिक इतिहास हमने ऊपर दिया है, उसमे कही किसी तिथि का उल्लेख नही किया गया। वस्तुत., भारत के इतिहास मे तिथिक्रम का विषय अत्यन्त जटिल व विवादग्रस्त है। इस सम्बन्ध मे विद्वानो मे बहुत मतभेद है। भारत के प्राचीन विद्वानो ने तिथिक्रम की सर्वथा उपेक्षा की हो, यह बात नही है। उन्होने अपने इतिहास को चार युगो मे विभक्त किया था। इन युगो के नाम है, कृतयुग, त्रेतायुग, द्वापर युग और कलियुग। भारत के कतिपय प्राचीन ग्रन्थो मे इन युगो की अवधि लाखो वर्षों की बताई गयी है। पर अधिक गम्भीरता से इस विषय का अनुशीलन करने से ज्ञात होता है, कि जिस कलियुग का प्रारम्भ महाभारत युद्ध के अन्त व कृष्ण की मृत्यु से हुआ था, वह महापद्म नन्द के राज्यारूढ होने पर समाप्त हो गया था। महापद्म नन्द सिकन्दर का समकालीन था। काशीप्रसाद जायसवाल ने विष्णुपुराण, भागवतपुराण और गार्गीसंहिता के आधार

पर यह प्रतिपादित किया है, कि जब भारत पर यवनो का शासन स्थापित होने लगा, तो भारत की काल-गणना के अनुसार कलियुग की समाप्ति का समय था। यवनों (यूनानियों या ग्रीकों) का यह शासन भारत मे सिकन्दर के आक्रमण-काल मे शुरू हुआ था। पाण्डवों के वंशज परीक्षित के बाद की वंशावलियाँ पौराणिक अनुश्रुति मे अधिक अविकल रूप से विद्यमान है। इन वंशावलियो मे किस राजा ने कितने समय तक शासन किया, यह भी दिया गया है। यदि इन राजाओं के शासन काल की अवधि के आधार पर महाभारत-युद्ध के काल को निश्चित किया जाय, तो वह ३००० ई० पू० के लगभग बैठता है। पर संसार के विविध राजवंशों के राजाओं के शासन की अवधि का अनुशीलन कर विद्वानों ने यह औसत निकाली है, कि एक राजा का शासन-काल सोलह वर्ष के लगभग निश्चित करना उचित है। इसके अनुसार यदि परीक्षित से महापद्मनन्द तक के राजाओं का शासनकाल औसतन अठारह वर्ष भी माना जाय, तो महाभारत-युद्ध को १४२४ ई० पू० मे रखना होगा, और कलियुग की अवधि १००० साल माननी होगी। एक सहस्र वर्ष का एक युग मानना वैसे भी अधिक युक्तिसगत प्रतीत होता है।

यदि हम महाभारत-काल को १४२४ ई० पू० के लगभग स्वीकृत करें, तो उससे पहले के राजाओं का काल निश्चित करने मे अधिक कठिनाई नही होगी। पाण्डवों का समकालीन कोशल (अयोध्या) का राजा बृहद्बल था। बृहद्बल और राम में २९ पीढी का अन्तर है। इन २९ पीढियो के लिए ५०० साल का समय निश्चित किया जा सकता है। इस प्रकार रामचन्द्र महाभारत-युद्ध से ५०० वर्ष के लगभग (१९२४ ई० पू०) पहले हुए। इक्ष्वाकु और रामचन्द्र मे ६४ पीढियो का अन्तर है। इनके लिए यदि १००० वर्ष का समय रख लिया जाए, तो सूर्यवंश के प्रवर्त्तक इक्ष्वाकु का समय ३००० ई० पू० के लगभग माना जा सकता है। इस प्रकार आर्यों के जिस राजनीतिक इतिहास का उल्लेख हमने इस अध्याय मे किया है, उसका प्रारम्भ ३००० ई० पू० के लगभग हुआ था। इसमे सन्देह नही, कि यह तिथिक्रम सर्वथा निर्विवाद व सर्वसम्मत नही है। मोहनजोदड़ो और हड़प्पा के भग्नावशेषों से सूचित होने वाली जिस सिन्धु-सभ्यता का हमने पहले वर्णन किया है, उसका काल भी ३००० ई० पू० के लगभग था। उस सभ्यता को नष्ट कर भारत मे आर्य-राज्यो को स्थापित करने वाले आर्यों का इतिहास इसी काल से शुरू होता है।

छठा अध्याय

वैदिक युग की सभ्यता और संस्कृति

(१) वैदिक साहित्य

वैदिक युग—भारतीय आर्यों के इतिहास के प्राचीनतम युग को वैदिक युग कहते हैं। इसका कारण यह है कि वेद आर्यों के प्राचीनतम ग्रन्थ है, और उनके अनुशीलन से हम इन आर्यों की सभ्यता, सस्कृति और धर्म के सम्बन्ध मे बहुत कुछ जानकारी प्राप्त कर सकते है, क्योकि वैदिक सूक्तो मे आर्य ऋषियों के विचार और कथन अविकल रूप से उनकी अपनी भाषा में विद्यमान है। जिस प्रकार पौराणिक अनुश्रुति प्राचीन आर्यों के राजनीतिक वृत्तान्त को सूचित करती है, वैसे ही वैदिक संहिताएँ उनके धर्म व सभ्यता का परिचय देती है। वैवस्वत मनु से महाभारत तक के काल को हम वैदिक युग कह सकते हैं। क्योंकि इस सुदीर्घ (१५०० वर्ष के लगभग के) काल मे वैदिक सूक्तो का निरन्तर निर्माण होता रहा, और वेदो के अनुशीलन से जिस सभ्यता और सस्कृति का परिचय मिलता है, वह इसी युग की है।

वैदिक संहिता—आर्य जाति का सबसे प्राचीन साहित्य वेद है। वेद का अर्थ है, ज्ञान। वेद मुख्यतया पद्य मे है, यद्यपि उनमे गद्य भाग भी विद्यमान है। वैदिक पद्य को ऋग् या ऋचा कहते है, वैदिक गद्य को यजुष् कहा जाता है, और वेदों मे जो गीतात्मक (छन्द रूप) पद्य है, उन्हे साम कहते है। ऋचाओ व सामो के एक समूह का नाम सूक्त होता है, जिसका अर्थ है, उत्कृष्ट उक्ति या सुभाषित। वेद मे इस प्रकार के हजारो सूक्त विद्यमान है। प्राचीन समय मे वेदो को 'त्रयी' भी कहते थे। ऋचा, यजुष् और साम—इन तीन प्रकार के पदो मे होने के कारण ही वेद की 'त्रयी' सज्ञा भी थी।

पर वैदिक मन्त्रो का सकलन जिस रूप मे आजकल उपलब्ध होता है, उसे 'सहिता' कहते है। विविध ऋषि-वशो मे जो मन्त्र श्रुति द्वारा चले आते थे, बाद मे उनका सकलन व सग्रह किया गया। पहले वेद मन्त्रों को लेखबद्ध करने की परिपाटी शायद नही थी। गुरु-शिष्य परम्परा व पिता-पुत्र परम्परा द्वारा ये मन्त्र ऋषि-वशो मे स्थिर रहते थे, और उन्हे श्रुति (श्रवण) द्वारा शिष्य गुरु से या पुत्र पिता से जानता था। इसी कारण उन्हे श्रुति भी कहा जाता था। विविध ऋषि वशो मे जो विविध सूक्त श्रुति द्वारा चले आते थे, धीरे-धीरे बाद मे उनको सकलित किया जाने लगा। इस कार्य का प्रधान श्रेय मुनि वेदव्यास को है। ये महाभारत युद्ध के समकालीन थे, और असाधारण रूप से प्रतिभाशाली विद्वान् थे। वेदव्यास ने वैदिक सूक्तो का सहिता रूप मे सग्रह किया। उसके द्वारा संकलित वैदिक सहिताएँ चार है—ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद।

चार वेद—ऋग्वेद मे कुल मिलाकर १०१७ सूक्त हैं। यदि ११ बालखिल्य सूक्तो को भी इनमे अन्तर्गत कर लिया जाय, तो ऋग्वेद के कुल सूक्तो की संख्या १०२८ हो जाती है। ये १०१७ या १०२८ सूक्त १० मण्डलो मे विभक्त हैं। वेद के प्रत्येक सूक्त व ऋचा (मन्त्र) के साथ उसके 'ऋषि' और 'देवता' का नाम दिया गया है। ऋषि का अर्थ है, मन्त्रद्रष्टा या मन्त्र का दर्शन करने वाला। जो लोग वेदो को ईश्वरीय ज्ञान मानते है, उनके अनुसार वेदो का निर्माण तो ईश्वर द्वारा हुआ था, पर इस वैदिक ज्ञान को अभिव्यक्त करने वाले ये ऋषि ही थे। पर आधुनिक विद्वान् वैदिक ऋषियो का अभिप्राय यह समझते है कि ये ऋषि मन्त्रो के निर्माता थे। वैदिक देवता का अभिप्राय उस देवता से है, जिसकी उस मन्त्र मे स्तुति की गयी है, या जिसके सम्बन्ध मे मन्त्र मे प्रतिपादन किया गया है।

ऋग्वेद के ऋषियो मे सर्वप्रथम गृत्समद, विश्वामित्र, वामदेव, अत्रि, भारद्वाज, और वशिष्ठ हैं। इन छः ऋषियो और इनके वंशजो ने ऋग्वेद के दूसरे, तीसरे, चौथे, पाँचवें, छठे और सातवें मण्डलो का दर्शन या निर्माण किया था। आठवें मण्डल के ऋषि कण्व और आगिरस वश के है। प्रथम मण्डल के पचास सूक्त भी कण्व-वंश के ऋषियो द्वारा निर्मित हुए। अन्य मण्डलों और प्रथम मण्डल के अन्य सूक्तों का निर्माण अन्य विविध ऋषियो द्वारा हुआ, जिन सबके नाम इन सूक्तो के साथ में मिलते हैं। इन ऋषियो मे वैवस्वत मनु, शिवि और औशीनर, प्रतर्दन, मधुछन्दा और देवापि के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। ऋग्वेद के इन ऋषियो मे कतिपय स्त्रियाँ भी हैं, जिनमे लोपामुद्रा प्रमुख है। लोपामुद्रा राजकुल मे उत्पन्न हुई थी। वह विदर्भ-राज की कन्या थी, और अगस्त्य ऋषि की पत्नी थी।

यजुर्वेद के दो प्रधान रूप इस समय मिलते है, शुक्ल यजुर्वेद और कृष्ण-यजुर्वेद। शुक्ल यजुर्वेद को वाजसनेयी संहिता भी कहते है, जिसकी दो शाखाएँ उपलब्ध है—काण्व और माध्यन्दिनीय। कृष्ण यजुर्वेद की चार शाखाएँ प्राप्त होती हैं, काठक संहिता कपिष्ठल संहिता, मैत्रेयी सहिता और तैत्तिरीय सहिता। विविध ऋषि-वंशों व सम्प्रदायो मे श्रुति द्वारा चले आने के कारण वेदमन्त्रों के मूल पाठ मे भेद का हो जाना असम्भव नहीं था। सम्भवत, इसी कारण यजुर्वेद की ये विविध शाखाएँ बनी। इन शाखाओ मे अनेक स्थानो पर मन्त्रो मे पाठभेद पाया जाता है। इनमे यजुर्वेद की वाजसनेयी सहिता सवसे महत्त्वपूर्ण है, और बहुत से विद्वान् उसे ही असली यजुर्वेद मानते है। यह चालीस अध्यायो मे विभक्त है। इनमे उन मन्त्रों का पृथक्-पृथक् रूप से सग्रह किया गया है, जो विविध याज्ञिक अनुष्ठानो मे प्रयुक्त किये जाते थे। यजुर्वेद का अन्तिम अध्याय ईशोपनिषद् है, जिसका सम्बन्ध याज्ञिक अनुष्ठानो के साथ न होकर अध्यात्म-चिन्तन के साथ मे है।

सामवेद की तीन शाखाएँ इस समय मिलती हैं, कौथुम शाखा, राणायनीय शाखा और जैमिनीय शाखा। इनका आधार भी पाठभेद हैं। सामवेद के दो भाग है पूर्वाचिक और उत्तराचिक। दोनो की मंत्र-संख्या १८१० है। अथर्ववेद की दो शाखाएँ इस समय मिलती है, शौनक और पिप्पलाद। इनमे शौनक शाखा अधिक प्रसिद्ध है, और उसे ही प्रामाणिक रूप से स्वीकार किया जाता है। अथर्ववेद मे कुल

मिलाकर २० काण्ड और ७३२ सूक्त है। सूक्तो के अन्तर्गत मन्त्रो की संख्या ६००० के लगभग है।

ब्राह्मण-ग्रन्थ—वैदिक साहित्य मे चार वैदिक संहिताओं के अतिरिक्त ब्राह्मण-ग्रन्थो को भी सम्मिलित किया जाता है। इन ब्राह्मण-ग्रन्थो मे उन अनुष्ठानो का विशद रूप से वर्णन है, जिनमे वैदिक मन्त्रो को प्रयुक्त किया जाता है। अनुष्ठानों के अतिरिक्त इनमे वेदमन्त्रों के अभिप्राय व विनियोग की विधि का भी वर्णन है। प्रत्येक ब्राह्मण-ग्रन्थ का किसी वेद के साथ सम्बन्ध है, और उसे उसी वेद का ब्राह्मण माना जाता है। यहाँ यह आवश्यक है कि हम प्रत्येक वेद के साथ सम्बन्ध रखने वाले ब्राह्मण-ग्रन्थो का सक्षेप के साथ उल्लेख करे, क्योकि ब्राह्मण-ग्रन्थो का परिचय दिये बिना वैदिक-साहित्य का वर्णन पूरा नही हो सकता।

ऋग्वेद का प्रधान ब्राह्मण-ग्रन्थ ऐतरेय है। अनुश्रुति के अनुसार ऐतरेय ब्राह्मण का रचयिता महीदास ऐतरेय था। ऋग्वेद का दूसरा ब्राह्मण ग्रन्थ कौशीतकी या सांख्यायन-ब्राह्मण है। कृष्ण यजुर्वेद का ब्राह्मण तैत्तिरीय है। शुक्ल और कृष्ण यजुर्वेद मे मुख्य भेद यह है, कि जहाँ शुक्ल यजुर्वेद मे केवल मन्त्र भाग है, वहाँ कृष्ण यजुर्वेद मे ब्राह्मण-भाग भी अन्तर्गत है। उसमे मन्त्रो के साथ-साथ विधि-विधान व याज्ञिक अनुष्ठान के साथ सम्बन्ध रखने वाले ब्राह्मण भाग को भी दे दिया गया है। अत तैत्तिरीय ब्राह्मण रचना की दृष्टि से कृष्ण यजुर्वेद से बहुत भिन्न नही है। शुक्ल यजुर्वेद का ब्राह्मण शतपथ है, जो अत्यन्त विशाल ग्रन्थ है। इसमे कुल मिलाकर सौ अध्याय है, जिन्हे चौदह काण्डों मे विभक्त किया गया है। शतपथ ब्राह्मण मे न केवल याज्ञिक अनुष्ठानो का बड़े विशद रूप मे वर्णन किया गया है, पर साथ ही इस बात पर भी विचार किया गया है, कि इन विविध अनुष्ठानो का क्या प्रयोजन है, और इन्हे क्यो यज्ञ का अंग बनाया गया है। शतपथ ब्राह्मण का रचयिता याज्ञवल्क्य ऋषि माना जाता है। सामवेद के तीन ब्राह्मण है, ताण्ड्य महाब्राह्मण, षड्विंश ब्राह्मण और जैमिनीय ब्राह्मण। अनेक विद्वानो के अनुसार ये तीनों ब्राह्मण अन्य ब्राह्मण-ग्रन्थो की अपेक्षा अधिक प्राचीन है। अथर्ववेद का ब्राह्मण गोपथ है। अनेक विद्वानो की सम्मति मे यह बहुत प्राचीन नही है, और इसमे उस ढग से याज्ञिक अनुष्ठानो का भी वर्णन नही है, जैसे कि अन्य ब्राह्मण-ग्रन्थो मे पाया जाता है।

आरण्यक तथा उपनिषद्—इसमे सन्देह नही कि भारत के प्राचीन आर्यो के धर्म मे यज्ञो की प्रधानता थी। यज्ञ के विधि-विधानो मे अनुष्ठानो को वे बहुत महत्त्व देते थे। इसीलिये याज्ञिक अनुष्ठानो के प्रतिपादन व उनमे वैदिक मन्त्रो के विनियोग को प्रदर्शित करने के लिए उन्होने ब्राह्मण-ग्रन्थो की रचना की थी। पर साथ ही, वैदिक ऋषि अध्यात्मिक, दार्शनिक व पारलौकिक विषयो का भी चिन्तन किया करते थे। आत्मा क्या है, सृष्टि की उत्पत्ति किस प्रकार हुई, सृष्टि किन तत्त्वो से बनी है, इस सृष्टि का कर्त्ता व नियामक कौन है, जड़ प्रकृति से भिन्न जो चेतन सत्ता है उसका क्या स्वरूप है—इस प्रकार के प्रश्नो पर भी वे विचार किया करते थे। इन गूढ विषयो का चिन्तन करने वाले ऋषि व विचारक प्राय. जंगलो व अरण्यो में निवास करते थे, जहाँ

वे आश्रम बनाकर रहते थे। वही उस साहित्य की सृष्टि हुई, जिसे आरण्यक तथा उपनिषद् कहते है। अनेक आरण्यक ब्राह्मण-ग्रन्थो के ही भाग है। ऋषियो ने अरण्य मे स्थापित आश्रमो मे जिन उपनिषदो का विकास किया, उनकी सख्या दो सौ से भी ऊपर है। पर प्रमुख उपनिषदें निम्नलिखित है—

(१) ऐतरेय उपनिषद्—यह ऋग्वेद के ऐतरेय ब्राह्मण का एक भाग है। ऋग्वेद के दूसरे ब्राह्मण ग्रन्थ कौशीतकी ब्राह्मण के अन्त मे भी आरण्यक भाग है, जिसे कौशीतक आरण्यक या कौशीतकी उपनिषद् कहते हैं। (२) यजुर्वेद का अन्तिम अध्याय ईशोपनिषद् के रूप मे है। शुक्ल यजुर्वेद के ब्राह्मण-ग्रन्थ शतपथ ब्राह्मण का अन्तिम भाग भी आरण्यक रूप से है, जिसे बृहदारण्यकोपनिषद् कहते है। कृष्ण यजुर्वेद के ब्राह्मण-ग्रन्थो के अन्तर्गत कठ उपनिषद, श्वेताश्वतरोपनिषद्, तैत्तिरीय उपनिषद् और मैत्रायणीय उपनिषद् है। (३) सामवेद के ब्राह्मण-ग्रन्थो के साथ सम्बन्ध रखने वाली उपनिषदे केन और छान्दोग्य है। (४) अथर्ववेद के साथ मुण्डक उपनिषद् और माण्डूक्य उपनिषद् का सम्बन्ध है।

(२) वैदिक युग का राजनीतिक जीवन

वैदिक सहिता, ब्राह्मण-ग्रन्थ और उपनिषदो के अध्ययन से वैदिक युग के आर्यो की सभ्यता, राजनीतिक सगठन, धर्म, आर्थिक दशा और सस्कृति आदि के सम्बन्ध मे बहुत-सी महत्त्वपूर्ण बातें ज्ञात होती है। उनका सक्षिप्त रूप से उल्लेख करना उपयोगी होगा।

राजनीतिक सगठन—जब आर्यों ने पहले-पहल भारत मे प्रवेश किया, तो वे सभ्यता के क्षेत्र मे अच्छी उन्नति कर चुके थे। वे शिकारी की दशा से आगे बढकर पशुपालक और कृषक की दशा को पहुँच चुके थे। राजनीतिक दृष्टि से वे 'जनों' मे सगठित थे। जन को हम कबीला या ट्राइब समझ सकते हैं। जन का सगठन एक बडे परिवार के समान था, जिसमे यह विचार विद्यमान था कि उसके सब व्यक्ति एक आदि पुरुष की सन्तान है, और एक ही परिवार के अग है। जिस प्रकार एक परिवार मे सबमे वृद्ध व्यक्ति शासन करता है, उसी प्रकार जन रूपी बडे परिवार में भी एक पिता या मुखिया का शासन होता था। इस मुखिया को राजा कहते थे, और इसकी नियुक्ति परम्परागत प्रथा के अनुसार या निर्वाचन द्वारा होती थी। प्रत्येक जन की सम्पूर्ण 'विश (जनता) इस राजा का वरण करती थी। यह समझा जाता था, कि जनता राजा के साथ एक सविदा (इकरार) करती है, जिसके अनुसार राजा यह जिम्मा लेता है कि कि वह अपनी प्रजा की सब बाह्य और आभ्यन्तर शत्रुओ से रक्षा करेगा और उसका न्यायपूर्वक पालन करेगा। इसी कार्य के लिए प्रजा को राजा 'बलि' (कर) प्रदान करती थी। राज्याभिषेक के अवसर पर राजा धर्मपूर्वक प्रजापालन की प्रतिज्ञा करता था। यदि वह इस प्रतिज्ञा को तोडे, तो प्रजा को अधिकार था कि वह उसे पदच्युत कर सके। राजा किसी दैवी अधिकार से शासन करता है, यह विचार वैदिक सहिताओं मे कही नही पाया जाता। इसके विपरीत, वहाँ यह विचार स्पष्ट रूप से विद्यमान है कि 'विश' राजा को शासन कार्य के लिए वरण करती है। वरण द्वारा जब कोई व्यक्ति

राजा के पद पर नियत होता था, तो उससे यह आशा की जाती थी कि वह जीवन-पर्यन्त अपने पद पर ध्रुव (स्थिर) रहेगा। अथर्ववेद में लिखा है, कि यह द्यौ. और पृथ्वी सब ध्रुव है। यह सारा विश्व ध्रुव है, ये पर्वत ध्रुव है। इसी प्रकार विशः का यह राजा भी ध्रुव रहे। सब 'विशः' इसको चाहे, और यह राष्ट्र मे अपने पद से कभी च्युत न हो।

राजा को वरण करने का कार्य 'विश.' के जिन प्रमुख व्यक्तियो के सुपुर्द था, उन्हें 'राजकृतः, (राजा को नियत करने वाले) कहते थे। 'राजकृत' स्वयं भी राजा कहाते थे, और राजा के पद पर वरण किया गया व्यक्ति इन 'राजान राजकृत' का मुखियामात्र माना जाता था। ये 'राजकृत' कौन होते थे, वेदो से यह स्पष्ट नही होता। ब्राह्मण-ग्रन्थों मे 'रत्नियों' का उल्लेख आया है, जो राज्याभिषेक के समय पर राजा से हवि ग्रहण करते थे। इन रत्नियो के सम्बन्ध मे हम उत्तर-वैदिक काल (प्राग्-बौद्धकाल) की सभ्यता का विवरण करते हुए अधिक विस्तार के साथ लिखेगे। सम्भवत, ब्राह्मण-ग्रन्थो मे जिन्हे 'रत्नी' कहा गया है, वैदिक काल मे वे ही 'राजकृत राजानः' कहे जाते थे, क्योकि वैदिक युग के ये राजकृत. राज्याभिषेक के अवसर पर राजा को एक 'पर्णमणि' प्रदान करते थे, जो राजत्व का चिह्न समझी जाती थी। सम्भवत, यह पर्णमणि (पर्णों द्वारा निर्मित रत्न) पलाश वृक्ष की शाखा होती थी। पलाश को पवित्र मानने की कल्पना वैदिक काल मे भी विद्यमान थी। 'राजकृत राजन' के अतिरिक्त सूत, ग्रामणी, रथकार, कर्मार आदि जनता के विविध व्यक्ति भी राज्याभिषेक मे हाथ बँटाते थे, और 'विश' की ओर से राजा का वरण किया करते थे।

समिति और सभा—जनता द्वारा वरण किये जा चुकने पर राजा अकेला शासन-कार्य का सचालन करता हो, यह बात नही थी। वैदिक युग मे समिति और सभा नामक दो सस्थाएँ भी थी, जो न केवल राजकार्य मे राजा की सहायता करती थी, अपितु उस पर नियन्त्रण भी रखती थी। अथर्ववेद के जिस सूक्त मे राजा के ध्रुव रहने की प्रार्थना की गयी है, उसी मे यह भी कहा गया है कि राजा की समिति भी ध्रुव रहे। समिति के सदस्य कौन होते थे, यह निश्चित रूप से नही कहा जा सकता। सम्भवत, वह सम्पूर्ण विश की सस्था थी, और उसमे 'जन' के सब लोग एकत्र होते थे। यह भी सम्भव है कि वैदिक युग के जनपदो मे जनसख्या के बढने के साथ-साथ सब लोग इस समिति मे एकत्र न होते हो, और कतिपय प्रमुख व्यक्ति ही इसमे सम्मिलित होने का अधिकार रखते हो। प्राचीन ग्रीक नगर-राज्यों की लोकसभाओ (यथा एथेन्स की एक्लीजिया) मे सब नागरिक सदस्य रूप से सम्मिलित होते थे। जब नगर-राज्यों की जनसंख्या लाखो मे हो गयी थी, तब भी प्रत्येक नागरिक को यह अधिकार था कि वह अपने राज्य की लोक-सभा मे उपस्थित होकर विचार मे हाथ बटा सके, और अपनी सम्मति दे सके। सम्भवत., वैदिक युग के आर्य जनपदो (जिनका स्वरूप नगर-राज्य के समान ही था) की समिति का भी यही रूप था। उसमे जनपद की सम्पूर्ण 'विश' एकत्र हो सकती थी। वहाँ एकत्र हुए व्यक्ति सब विचारणीय विषयो पर वाद-विवाद करते थे। विवाद व भाषण मे प्रवीणता प्राप्त करना एक अत्यन्त महत्त्व की बात समझी जाती थी। अथर्ववेद के एक सूक्त मे एक व्यक्ति यह प्रार्थना करता है, कि वह बहुत कुशल वक्ता बने, अपनी युक्तियों,

ज्ञान और भाषण कला द्वारा सबको वशीभूत कर ले। वाद-विवाद मे अपने प्रतिपक्षियों को परास्त करने और भाषण द्वारा सबको अपने पक्ष मे कर सकने की शक्ति प्राप्त करने के लिए अनेक प्रार्थनाएँ वेदो में विद्यमान है। नि:सन्देह, समिति मे विविध विषयो पर खुला विवाद होता था, और विविध व्यक्ति वहाँ अपनी वक्तृत्वशक्ति का चमत्कार प्रदर्शित किया करते थे। समिति मे केवल राजनीतिक विषयो पर ही विवाद नही होता था, अपितु साथ ही आध्यात्मिक व गूढ विषयों पर भी उनमे विचार हुआ करता था। छान्दोग्य और वृहदारण्यक उपनिषदो मे 'समिति' मे ब्रह्म-विद्या-विषयक विचारो का उल्लेख आया हैं। श्वेतकेतु पाचाल जनपद की इसी प्रकार की समिति मे उपस्थित हुआ था, और वहाँ उसने अध्यात्म-विषयक विचार मे हाथ बटाया था। समिति का अपना अध्यक्ष होता था, जिसे 'ईशान्' कहते थे। ईशान् के सभापतित्व मे ही समिति का कार्य चलता था। पर राजा भी विविध अवसरो पर समिति मे उपस्थित होता था। जब श्वेतकेतु पाचाल-जनपद की समिति मे गया, तो वहाँ का राजा प्रवाहण जाबालि उसमे उपस्थित था।

समिति के समान सभा की वैदिक युग के जनपदो की एक महत्त्वपूर्ण सस्था थी। वेदो मे समिति और सभा को प्रजापति की 'दुहिता' कहा गया है, और यह प्रार्थना की गयी है, कि दोनो राजा की रक्षा मे सदा तत्पर रहे। सभा और समिति के सगठन मे क्या भेद था, यह वैदिक सहिताओ द्वारा भली-भाँति स्पष्ट नही होता। ऐसा प्रतीत होता है, कि सभा समिति की अपेक्षा छोटी संस्था थी, उसके सदस्य केवल बडे लोग (पितर व वृद्ध) ही होते थे, और उसका प्रधान कार्य न्याय करना था। अथर्ववेद मे सभा को 'नरिष्ट' कहा गया है। सायणाचार्य ने नरिष्ट शब्द के अभिप्राय को स्पष्ट करते हुए लिखा है कि "बहुत-से लोग एक साथ मिलकर जो एक बात कहे उसका दूसरो को उल्लघन नही करना चाहिये। क्योकि बहुतो की बात का उल्लघन नही किया जा सकता, अत सभा को 'नरिष्ट' कहते है।" नरिष्ट का शब्दार्थ है, अनुल्लघनीय। बहुमत से जो कुछ सभाओ मे निर्णीत होता था, उसे अनुल्लघनीय माना जाता था, और इसी कारण सभा को नरिष्ट कहते थे। प्रतीत होता है, कि वैदिक युग की सभा मे भी विविध विषयो पर विवाद होता था और विविध वक्ता सभासदो को अपने पक्ष मे करने के लिए विशेष रूप मे प्रयत्नशील रहते थे। इसीलिए अथर्ववेद मे प्रार्थना की गयी है— "हे सभा! हम तेरे मे भली-भाँति परिचित है, तेरा नाम नरिष्ट (अनुल्लघनीय) भी है। तेरे जो भी सभासद् है, वे मेरे साथ 'सवाचस्' (मेरे कथन के साथ सहमति रखने वाले) हो। यहाँ (सभा मे) जो लोग बैठे है, मै उन सबके नेत्र और ज्ञान को ग्रहण करता हूँ (सबको अपने पीछे चलाता हूँ)। हे इन्द्र! मुझे इस प्रयत्न मे सफल बनाओ। तुम लोगो (सभासदो) का जो मन किसी और पक्ष मे गया हुआ है, या किसी पक्ष के साथ इधर-उधर बध गया है, उसे मैं लौटाता हूँ, तुम सबका मन मेरे पक्ष मे हो।" सभा मे उपस्थित सभासदो को अपने पक्ष मे करने, उन सबको वशीभूत करने और अपने पीछे चलने की यह प्रार्थना कितनी सुन्दर है, और अत्यन्त उत्तम रीति से उस युग की सभा पर प्रकाश डालती है। सभा के सदस्यो को 'सभासद' कहा जाता था। वेदो में इन्हें 'पितर' भी कहा गया है। बाद के साहित्य मे इनके लिए 'वृद्ध' शब्द का उपयोग

किया गया है। इससे ज्ञात होता है कि सभा में सम्पूर्ण 'विशः' एकत्र नहीं होती थी, अपितु उसके कतिपय प्रतिष्ठित व वृद्ध (बड़े) लोग ही उसमें सम्मिलित होते थे।

सभा का एक मुख्य कार्य न्याय करना था। न्याय के लिए अभियुक्त रूप में जिस व्यक्ति को सभा के सम्मुख पेश किया जाता था, उसे 'सभाचर' कहते थे। यजुर्वेद में सभाचर का उल्लेख पुरुषमेध के प्रकरण में किया गया है। आलंकारिक रूप से विचार करने पर अभियुक्त व्यक्ति को 'मेध्य' (बलि योग्य) समझ सकना कठिन नहीं है। यजुर्वेद के ही एक अन्य मन्त्र में सभा में किये गये पाप के प्रायश्चित्त का उल्लेख किया गया है। न्याय कार्य को करते हुए सभासद लोगों से अनजाने में या जान-बूझकर जो भूल हो जाती थी, उसे यजुर्वेद में पाप कहा गया है, और उससे छूटने के लिए प्रार्थना की गयी है। सूत्रग्रन्थों और धर्मशास्त्रों के समय में भी 'सभा' न्याय का कार्य करती थी। "या तो सभा में जाये नहीं, जाये तो वहाँ सोच-समझकर अपनी बात कहनी चाहिए, सभा में जाकर जो अपनी सम्मति नहीं कहता या गलत बात कहता है, वह पापी होता है," यह धर्मशास्त्रों का वचन जिस सभा के विषय में है, वह सम्भवत न्याय का भी कार्य करती थी।

(३) सामाजिक जीवन

पंच जन—वैदिक युग के भारतीय आर्य अनेक जनों (कबीलों या ट्राइब) में विभक्त थे। ऋग्वेद में अनेक स्थलों पर 'पंचजना' और 'पंचकृष्टय.' का उल्लेख आता है, जो निःसन्देह उस युग के आर्यों की पाँच प्रमुख जातियों (कबीलों) को सूचित करते हैं। ये पंचजन अणु, द्रुह्यु, यदु, तुर्वशु और पुरु थे। पर इनके अतिरिक्त भरत, त्रित्सु, सृंजय आदि अन्य भी अनेक जनों का उल्लेख वेदों में आया है, जिनसे इस बात में कोई सन्देह नहीं रह जाता, कि ज्यों-ज्यों आर्य लोग भारत में फैलते गये, उनमें विविध जनों का विकास होता गया। आर्य जाति के प्रत्येक जन में सब व्यक्तियों की सामाजिक स्थिति एक समान होती थी, और सबको एक ही 'विश' (जनता) का अंग माना जाता था।

आर्य और दास—आर्यों के भारत में प्रवेश से पूर्व यहाँ जिन लोगों का निवास था, वेदों में उन्हें 'दास' या 'दस्यु' कहा गया है। इनकी अनेक समृद्ध बस्तियाँ भारत में विद्यमान थीं। आर्यों ने इन्हें जीतकर अपने अधीन किया, और ये आर्यभिन्न लोग आर्य-जनपदों में आर्य-राजाओं की अधीनता में रहने लगे। यह स्वाभाविक था कि इन दासों व दस्युओं की सामाजिक स्थिति आर्यों की अपेक्षा हीन रहे। आर्य लोग इनसे घृणा करते थे, इन्हें अपने से हीन समझते थे, और इन्हें अपने समान स्थिति देने को उद्यत नहीं थे। इसी दशा का यह परिणाम हुआ, कि आर्य-जनपदों में निवास करने वाली जनता दो भागों में विभक्त हो गई—(१) आर्य, और (२) दास। दास-जाति की हीन स्थिति के कारण इस शब्द का अभिप्राय ही संस्कृत भाषा में गुलाम हो गया, यह हम पहले लिख चुके हैं। दास जाति के ये लोग शिल्प में अत्यन्त चतुर थे। ये अच्छे विशाल घरों का निर्माण करते थे, शहरों में रहते थे, और अनेक प्रकार के व्यवसायों में दक्ष थे। आर्यों द्वारा विजित हो जाने के बाद भी शिल्प और व्यवसाय

मे इनकी निपुणता नष्ट नही हो गई । ये अपने इन कार्यों में तत्पर रहे। विजेता आर्य योद्धा थे। वे याज्ञिक अनुष्ठानो को गौरव की बात समझते थे, और भूमि के स्वामी बनकर खेती, पशुपालन आदि द्वारा जीवन का निर्वाह करते थे। विविध प्रकार के शिल्प दास-जाति के लोगो के हाथ मे ही रहे। इसका परिणाम यह हुआ, कि भारत मे प्राचीन काल से ही शिल्पियो को कुछ हीन समझने की प्रवृत्ति रही। आर्यों और दासो मे परस्पर सामाजिक सम्बन्ध का सर्वथा अभाव हो, यह बात नही थी। प्राच्य भारत मे जहाँ आर्यों की अपेक्षा आर्यभिन्न जातियो के लोग अधिक संख्या मे थे, उनमे परस्पर विवाह सम्बन्ध होता रहता था। उन प्रदेशो मे ऐसे लोगों की संख्या निरन्तर बढ़ती गई, जो शुद्ध आर्य या दास न होकर वर्णसकर थे। ऐसे वर्णसंकर लोगो को ही सम्भवतः व्रात्य कहा जाता था। अथर्ववेद मे व्रात्य जातियो का अनेक स्थानो पर उल्लेख हुआ है। बाद मे व्रात्य-स्तोम-यज्ञ का विधान कर इन व्रात्यो को आर्य जाति में सम्मिलित करने की भी व्यवस्था की गई। पर इसमे सन्देह नही, कि वैदिक युग में आर्यों और दासों का भेद बहुत स्पष्ट था, और उस काल के आर्य-जनपदो मे ये दो वर्ण ही स्पष्ट रूप से विद्यमान थे।

वर्ण-व्यवस्था—आर्य-विश के सब व्यक्तियो की सामाजिक स्थिति एक समान थी। पर धीरे-धीरे उसमे भी भेद प्रादुर्भूत होने लगा। दास-जातियो के साथ निरन्तर युद्ध मे व्यापृत रहने के कारण सर्वसाधारण आर्य जनता मे कतिपय ऐसे वीर सैनिको (रथी, महारथी आदि) की सत्ता आवश्यक हो गई, जो युद्ध-कला मे विशेष निपुणता रखते हो। इनका कार्य ही यह समझा जाता था कि ये शत्रुओ से जनता की रक्षा करे। क्षत (हानि) मे त्राण करने वाले होने के कारण इन्हे 'क्षत्रिय' कहा जाता था। यद्यपि ये क्षत्रिय आर्य विश के ही अग थे, पर तो भी इन्हे विश के सर्वसाधारण लोगो (वैश्यो) मे अधिक सम्मानित व ऊँचा समझा जाता था। क्षत्रिय सैनिको के विशिष्ट कुल 'राजन्य' कहाते थे। सम्भवत, ये राजन्य ही वे 'राजकृत राजान' थे, जो अपने मे से एक को राजा के पद के लिए वरण करते थे। जिस प्रकार क्षत्रियों की सर्वसाधारण आर्य विश में एक विशिष्ट स्थिति थी, वैसे ही उन चतुर व्यक्तियो की भी थी, जो याज्ञिक कर्मकाण्ड में विशेष रूप से दक्ष थे। जब आर्य लोग भारत मे स्थिर रूप से बस गये, तो उनके विधि-विधानो व अनुष्ठानो मे भी बहुत वृद्धि हुई। प्राचीन समय का सरल धर्म निरन्तर अधिक-अधिक जटिल होता गया। इस दशा मे यह स्वाभाविक था कि कुछ लोग जटिल याज्ञिक कर्मकाण्ड मे विशेष निपुणता प्राप्त करें, और याज्ञिको की इस श्रेणी को सर्वसाधारण आर्य-विश. द्वारा क्षत्रियो के समान ही विशेष आदर की दृष्टि से देखा जाए। इस प्रकार वैदिक युग मे उस चातुर्वर्ण्य का विकास प्रारम्भ हो गया था, जो आगे चलकर भारत मे बहुत अधिक विकसित हुआ और जो बाद के हिन्दू व भारतीय समाज की एक महत्त्वपूर्ण विशेषता बन गया। पर वैदिक युग मे यह भावना होने पर भी कि ब्राह्मण और क्षत्रिय सर्वसाधारण विश: (वैश्य जनता) से उत्कृष्ट व भिन्न हैं, जातिभेद या श्रेणीभेद का अभाव था। कोई व्यक्ति ब्राह्मण या क्षत्रिय है, इसका आधार उसकी योग्यता या अपने कार्य मे निपुणता ही थी। कोई भी व्यक्ति अपनी निपुणता, तप व विद्वत्ता के कारण ब्राह्मण पद को

प्राप्त कर सकता था। इसी प्रकार आर्य जन का कोई भी मनुष्य अपनी वीरता के कारण क्षत्रिय व राजन्य बन सकता था। वैदिक ऋषियो ने समाज की कल्पना एक मानव-शरीर के समान की थी, जिसके शीर्ष-स्थानीय ब्राह्मण थे, बाहुरूप क्षत्रिय थे, पेट व जंघाओ के सदृश स्थिति वैश्यो की थी, और शूद्र पैरो के समान थे। आर्य-भिन्न दास लोग ही शूद्र वर्ण के अन्तर्गत माने जाते थे।

पारिवारिक जीवन—वैदिक युग के सामाजिक जीवन का आधार परिवार था। महाभारत मे सकलित प्राचीन अनुश्रुति के अनुसार एक ऐसा समय था, जब विवाह-संस्था विकसित नहीं हुई थी, जब स्त्रियाँ 'अनावृत्त', 'स्वतन्त्र' और 'कामाचार-विहारिणी' होती थी। पर यदि सचमुच कोई ऐसा समय आर्यो में रहा था, तो वह वैदिक युग से अवश्य ही पहले का होगा, क्योकि वेदो के अनुशीलन से यह स्पष्ट प्रतीत होता है, कि विवाह-सस्था उस समय भली-भाँति विकसित हो चुकी थी, और वैदिक युग के आर्य वैवाहिक बधन मे बधकर गृहस्थ-जीवन व्यतीत करते थे। साधारणतया, एकपत्नीव्रत का अनुसरण किया जाता था, यद्यपि बहुपत्नीत्व की प्रथा भी कही-कही प्रचलित थी। सभवत:, ये प्रथाएँ आर्यभिन्न जातियो मे थी, आर्यो मे नही। बहिन और भाई मे विवाह निषिद्ध था। विवाह बाल्यावस्था मे नही होते थे। लडकियाँ भी लडको के समान ब्रह्मचर्य-व्रत का पालन करती थी, और युवावस्था मे विवाह करती थी। स्त्रियो को अशिक्षित नही रखा जाता था। 'स्त्रियों और शूद्रों को शिक्षा नही देनी चाहिये', यह विचार वैदिक युग मे विद्यमान नही था। अनेक स्त्रियाँ इतनी विदुषी थी, कि उनके बनाये हुए मत्रो को वैदिक सहिताओ मे भी सकलित किया गया है। लोपामुद्रा, अपालात्रेयी आदि अनेक स्त्रियाँ वैदिक सूक्तो की ऋषि हैं। गोधा, घोषा, विश्ववारा, अदिति, सरमा, आदि कितनी ही ब्रह्मवादिनी महिलाओं (ऋषियों) का उल्लेख प्राचीन साहित्य मे आया है। गार्गी, मैत्रेयी आदि तत्त्वचिन्तक स्त्रियो का उपनिषदो मे भी जिक्र किया गया है। ब्रह्मचर्यपूर्वक विद्याध्ययन कर जो स्त्रियाँ गृहस्थाश्रम मे प्रवेश करती थी, वे परदे मे नही रह सकती थी। उन्हे पारिवारिक जीवन मे पति की सहधर्मिणी माना जाता था। विवाह-सम्बन्ध स्वय वरण करने से ही निर्धारित होता था। स्त्रिया स्वय अपने पति का वरण करती थी। राजकुमारियो के अनेक स्वयवर-विवाहो का विशद वर्णन प्राचीन साहित्य मे उपलब्ध होता है। न केवल राजकुमारियाँ ही, अपितु सर्वसाधारण आर्य-कन्याएँ भी अपने पति का स्वयमेव वरण किया करती थी और वैदिक युगके समाज मे उन्हे इसके लिये पूर्ण अवसर मिलता था।

(४) धर्म

वैदिक वाङ्मय प्रधानतया धर्मपरक है, अत: इस युग के धार्मिक विश्वासो के सम्बन्ध मे हमे बहुत विशद रूप से परिचय मिलता है। वैदिक युग के आर्य विविध देवताओ की पूजा करते थे। इन्द्र, मित्र, वरुण, अग्नि, यम आदि उनके अनेक देवता थे, जिन्हे तृप्त व सन्तुष्ट करने के लिए वे अनेक विधि-विधानो का अनुसरण करते थे। ससार का स्रष्टा, पालक व सहर्ता एक ईश्वर है, यह विचार वैदिक आर्यो मे भली-भाँति विद्यमान था। उनका कथन था कि इन्द्र, मित्र, वरुण, अग्नि, सुपर्ण, गरुत्मान्,

मातरिश्वा, यम आदि सब एक ही सत्ता के विविध नाम है, और उस एक सत्ता को ही विद्वान् लोग इन्द्र, मित्र आदि विविध नामों से पुकारते है। सम्भवतः, एक ईश्वर की यह कल्पना बाद में विकसित हुई, और प्रारम्भ मे आर्य लोग प्रकृति की विविध शक्तियो को देवता के रूप मे मानकर उन्ही की उपासना किया करते थे। प्रकृति मे हम अनेक शक्तियो को देखते है। वर्षा, धूप, सरदी, गरमी सब एक नियम से होती है। इन प्राकृतिक शक्तियों के कोई अधिष्ठातृ-देवता भी होने चाहिए और इन देवताओं की पूजा द्वारा मनुष्य अपनी सुख-समृद्धि मे वृद्धि कर सकता है, यह विचार प्राचीन आर्यों मे विद्यमान था। प्राकृतिक दशा को सम्मुख रखकर वैदिक देवताओं को तीन भागों मे बाँटा जा सकता है—(१) द्युलोक के देवता यथा सूर्य, सविता, मित्र, पूषा, विष्णु वरुण और मित्र। (२) अन्तरिक्षस्थानीय देवता, यथा इन्द्र, वायु, मरुत् और पर्जन्य। (३) पृथिवीस्थानीय देवता, यथा अग्नि, सोम और पृथिवी। द्युलोक, अन्तरिक्षलोक और पृथिवीलोक के विभिन्न क्षेत्रों मे प्रकृति की जो शक्तियाँ दृष्टिगोचर होती हैं, उन सबको देवतारूप मे मानकर वैदिक आर्यो ने उनकी स्तुति मे विविध सूक्तो व मन्त्रों का निर्माण किया। अदिति, उषा, सरस्वती आदि के रूप मे वेदो मे अनेक देवियो का भी उल्लेख है, और उनके स्तवन मे भी अनेक मन्त्रों का निर्माण किया गया है। यद्यपि बहुसंख्यक वैदिक देवी-देवता प्राकृतिक शक्तियो व सत्ताओ के मूर्त्तरूप हैं, पर कतिपय देवता ऐसे भी हैं, जिन्हे भाव-रूप समझा जा सकता है। मनुष्यों मे श्रद्धा, मन्यु (क्रोध) आदि की जो विविध भावनाएँ है, उन्हे भी वेदो मे दैवी रूप प्रदान किया गया है।

इन विविध देवताओ की पूजा के लिए वैदिक आर्य अनेकविध यज्ञो का अनुष्ठान करते थे। यज्ञकुण्ड मे अग्नि का आधान कर दूध, घी, अन्न, सोम आदि विविध सामग्री की आहुतियाँ दी जाती थी। यह समझा जाता था, कि अग्नि मे दी हुई आहुति देवताओ तक पहुँच जाती है, और अग्नि इस आहुति के लिए वाहन का कार्य करती है। वैदिक युग मे यज्ञो मे माँस की आहुति दी जाती थी या नही, इस सम्बन्ध मे मतभेद है। महाभारत मे सकलित एक प्राचीन अनुश्रुति के अनुसार पहले यज्ञो मे पशुबलि दी जाती थी। बाद मे राजा वसु चैद्योपरिचर के समय मे इस प्रथा के विरुद्ध आन्दोलन प्रबल हुआ। इस बात मे तो सन्देह की कोई गुञ्जाइश नही है, कि बौद्ध-युग से पूर्व भारत मे एक ऐसा समय अवश्य था, जब यज्ञो मे पशुहिंसा का रिवाज था। पर वेदो के समय मे भी यह प्रथा विद्यमान थी, यह बात सदिग्ध है। वेदो मे स्थान-स्थान पर घृत, अन्न व सोम द्वारा यज्ञो मे आहुति देने का उल्लेख है, पर अश्व, अजा आदि पशुओ की बलि का स्पष्ट वर्णन प्राय: वैदिक सहिताओ मे नहीं मिलता।

आर्यो ने दास, दस्यु आदि जिन आर्यभिन्न जातियो को विजय कर अपनी सत्ता की स्थापना की, उनके धर्म का भी उनपर प्रभाव पडा। ऋग्वेद के एक मत्र मे यह प्रार्थना की गयी है, कि 'शिश्नदेव' हमारे यज्ञ को न बिगाडे। हम पहले लिख चुके हैं, कि सिन्धु-घाटी की प्राचीन सभ्यता के निवासियो मे शिश्न (लिंग) की पूजा प्रचलित थी। मोहनजोदडो और हड़प्पा के भग्नावशषो मे ऐसे अनेक शिश्न (जो पत्थर के बने है) उपलब्ध भी हुए है। ऋग्वेद में ही एक अन्य स्थान पर शिश्नदेवो के पुर के विजय का भी उल्लेख है। वैदिक युग के आर्य लिंग के रूप मे प्रकृति की प्रजनन-शक्ति के

उपासकों से घृणा करते थे। पर बाद में आर्य-जाति ने पूजा की इस विधि को भी अपना लिया, और शिवलिंग के रूप में शिश्नदेव की पूजा आर्यों में भी प्रचलित हो गयी। इसी प्रकार अथर्ववेद में अनेक जादू-टोने पाये जाते हैं, जो आर्य-भिन्न जातियों से ग्रहण किये गए थे। साँप का विष उतारने के मन्त्रों में तैमात, आलिगी, विलिगी, उरुगुला आदि अनेक शब्द आये हैं। अनेक विद्वानों के मत में ये शब्द वैदिक भाषा के न होकर कैल्डियन भाषा के हैं। कैल्डियन लोग ईराक के क्षेत्र में निवास करते थे, और भारतीय आर्यों से भिन्न थे। सिन्धु-सभ्यता के लोगों का पश्चिमी एशिया के विविध प्रदेशों से व्यापारिक सम्बन्ध था, यह हम पहले लिख चुके हैं। कोई आश्चर्य नहीं, कि तैमात आदि ये शब्द पश्चिमी एशिया से सिन्धु सभ्यता में आये हों, और बाद में आर्यों ने इन्हें सिन्धु-सभ्यता के दास व दस्यु लोगों से ग्रहण किया हो।

यहाँ हमारे लिये यह सम्भव नहीं है, कि हम वैदिक देवताओं के स्वरूप का विशद रूप से वर्णन कर सकें। पर इतना लिख देना आवश्यक है, कि देवताओं के रूप में प्राचीन आर्य प्रकृति की विविध शक्तियों की पूजा करते थे, और यह विचार उनमें भली-भाँति विद्यमान था कि ये सब देवता एक ही सत्ता की विविध अभिव्यक्तियाँ हैं। वैदिक आर्य केवल देवताओं की पूजा और याज्ञिक अनुष्ठान में ही तत्पर नहीं थे, अपितु वे उस तत्त्व-चिन्तन में भी लगे थे, जिसने आगे चलकर उपनिषदों और दर्शन-शास्त्रों को जन्म दिया। यह सृष्टि कैसे उत्पन्न हुई, सृष्टि में पहले क्या दशा थी, जब सृष्टि नहीं रहेगी तो क्या अवस्था होगी—इस प्रकार के प्रश्नों पर भी वैदिक युग में विचार किया जाता था। वैदिक संहिताओं में ऐसे अनेक सूक्त आते हैं, जिनमें इस प्रकार के प्रश्नों पर बहुत सुन्दर व गम्भीर विचार किया गया है। यह सृष्टि जिससे उत्पन्न हुई है, जो इसका धारण करता है, जो इसका अन्त कर प्रलय करता है, जो इस सम्पूर्ण विश्व का स्वामी व पालनकर्त्ता है, हे प्रिय मनुष्य ! तू उसको जान, अन्य किसी को जानने का प्रयत्न न कर। इस विश्व में पहले केवल तम (अन्धकार) था, *अत्यन्त गूढ तम था। तब सृष्टि विकसित नहीं हुई थी, सर्वत्र प्रकृति अपने आदि रूप* में विद्यमान थी। उस सर्वोच्च सत्ता ने अपनी तप शक्ति द्वारा तब इस सृष्टि को उत्पन्न किया। भूत, वर्तमान और भविष्य में जो कुछ भी इस संसार में है, वह सब उसी 'पुरुष' में से उत्पन्न होता है—इस प्रकार के कितने ही विचार वैदिक मन्त्रों में उपलब्ध होते हैं और उस तत्त्व-चिन्तन को सूचित करते हैं, जिसमें वैदिक युग के अनेक ऋषि व विचारक संलग्न थे।

क्योंकि वैदिक युग के देवता प्राकृतिक शक्तियों के रूप थे, अतः उनकी मूर्ति बनाने और इन मूर्तियों की पूजा करने की पद्धति सम्भवतः वैदिक युग में विद्यमान नहीं थी। वैदिक आर्य देवताओं की पूजा के लिए ऐसे मन्दिरों का निर्माण नहीं करते थे, जिनमें मूर्तियाँ प्रतिष्ठित हों। वैदिक युग में देवताओं की पूजा का ढंग प्रधानतया याज्ञिक अनुष्ठान ही था।

(५) आर्थिक जीवन

वैदिक युग के आर्थिक जीवन के मुख्य आधार कृषि और पशुपालन थे। पशुओ मे गाय, बैल, घोड़ा, भेड, बकरी, कुत्ते और गधे विशेष रूप से पाले जाते थे। आर्यों के आर्थिक जीवन मे गाय का इतना अधिक महत्त्व था, कि उसे अघ्न्या (न मारने योग्य) समझा जाता था। आर्य लोग इन पशुओ को बडी संख्या मे पालते थे, और इनसे उनकी आर्थिक समृद्धि मे बहुत सहायता मिलती थी। इस युग मे आर्य लोग कतिपय निश्चित प्रदेशो पर बस गये थे, और कृषि के क्षेत्र मे उन्होने अच्छी उन्नति कर ली थी। जमीन को जोतने के लिए बैलों का प्रयोग किया जाता था। खेतो की उपज बढाने के लिए खाद भी प्रयुक्त होता था। सिचाई के लिए झील, जलाशय, नदी और कुएँ का जल काम मे लाया जाता था। खेतो मे पानी देने के लिए छोटी-छोटी नहरें व नालियां बनाई जाती थी। भारत के ग्रामो मे जिस ढग से आज-कल किसान लोग खेती करते है, जिस प्रकार वे अब लकडी और धातु के बने हलो को बैलो से चलाते है, जिस तरह से वे खेती को सीचते, नलाते व काटते है, प्रायः उसी ढग से वैदिक युग के आर्य भी करते थे। खेतो मे उत्पन्न होने वाले अनाजों मे जौ, गेहूँ, धान, माष व तिल प्रमुख थे। यद्यपि वैदिक आर्यो की आजीविका का मुख्य साधन कृषि था, पर धीरे-धीरे अनेक प्रकार के शिल्पो और व्यवसायो का भी विकास हो रहा था। तक्ष्मन् (बढई), हिरण्यकार (सुनार) कर्मार (धातु-शिल्पी), चर्मकार (मोची), वाय (तन्तुवाय या जुलाहा) आदि अनेक व्यवसायियो का उल्लेख वेदो मे आया है। उस युग मे आर्य लोग रथो का बहुत उपयोग करते थे। ये रथ न केवल सवारी और माल ढोने के काम मे आते थे, अपितु युद्ध के लिए भी इनका बहुत उपयोग था। आर्य-भिन्न दास लोग तो विविध शिल्पो का अनुसरण करते ही थे, पर आर्य लोगो ने भी कारु (शिल्पी), भिषक् (चिकित्सक) आदि अनेक प्रकार के व्यवसायो का सचालन प्रारम्भ कर दिया था। दास-शिल्पियों को अपनी नौकरी मे या गुलाम रूप मे रखकर आर्य गृहपति अनेक प्रकार के व्यवसायों का भी सचालन करने लग गये थे।

वैदिक युग के आर्य अनेक धातुओ का प्रयोग जानते थे। सभ्यता के क्षेत्र मे वे प्रस्तर युग से बहुत आगे बढ चुके थे। सुवर्ण और रजत का प्रयोग वे आभूषणो और पात्रों के लिए करते थे, पर 'अयस्' नामक एक धातु को वे अपने औजार बनाने के लिए काम मे लाते थे। सस्कृत भाषा मे 'अयस्' का अर्थ लोहा है, पर अनेक विद्वानो का यह विचार है, कि वेदो मे जिस अयस् का उल्लेख है, वह लोहा न होकर ताँबा ताँबा है। अयस् का अभिप्राय चाहे लोहे से हो और चाहे ताँबे से, इसमे सन्देह नही कि वैदिक युग के आर्य इस उपयोगी धातु के प्रयोग को भली-भाँति जानते थे, और कर्मार लोग अनेक प्रकार के उपकरणो के निर्माण के लिए इसका उपयोग करते थे।

आर्य लोग अपने निवास के लिए सुन्दर शालाओ का निर्माण करते थे। वेद मे एक शालासूक्त है, जिसमें शाला (मकान या घर) का बडा उत्तम वर्णन किया गया है। सम्भवत, इन शालाओ के निर्माण के लिये लकडी का प्रयोग प्रधान रूप से किया जाता था।

वस्त्र-निर्माण का शिल्प भी इस युग मे अच्छा उन्नत था। ऊन और रेशम कपडे बनाने के लिए विशेष रूप से प्रयुक्त होते थे। यह सहज में अनुमान किया जा सकता है, कि रुई से भी आर्य लोग भली-भाँति परिचित थे। सिन्धु-सभ्यता के आर्थिक जीवन का विवरण देते हुए हमने उन प्रमाणो का उल्लेख किया है, जिनसे उस सभ्यता के लोगों का रुई से परिचय सिद्ध होता है। आर्य लोगो के लिए यह बहुत सुगम था कि वे अपने से पूर्ववर्ती सिन्धु-सभ्यता के लोगो से रुई की खेती और उपयोग को भली-भाँति सीख सकें। सूत कातने और उससे अनेक प्रकार के वस्त्र बनाने के व्यवसाय मे आर्य लोग अच्छे कुशल थे। वे सिर पर उष्णीय (पगडी) धारण करते थे, नीचे एक अधोवस्त्र (धोती या साड़ी) पहनते थे, और ऊपर के लिए उत्तरीय (चादर) का प्रयोग करते थे। स्त्री और पुरुष दोनो आभूषण पहनने का शौक रखते थे। कुण्डल, केयूर, निष्कग्रीव आदि अनेक प्रकार के आभूषण इस युग के लोग प्रयोग मे लाते थे।

व्यापार के लिए इस युग मे वस्तुविनिमय (बार्टर) का प्रयोग होता था। पर बहुधा वस्तुओ के मूल्य का अकन गौओ द्वारा करके और गौ को मूल्य की इकाई मान कर विनिमय का काम चलाया जाता था। धातु द्वारा निर्मित किसी सिक्के का चलन इस युग मे था या नही, यह बात सदिग्ध है। निष्क नामक एक सुवर्ण मुद्रा का उल्लेख वैदिक साहित्य मे आया है। पर सम्भवत:, उसका उपयोग मुद्रा की अपेक्षा आभूषण के रूप मे अधिक था। वैदिक सहिताओ मे नौकाओ का भी अनेक स्थलो पर वर्णन आया है। इनमे से कतिपय नौकाएँ बहुत विशाल भी है। सम्भवत., वैदिक युग के लोग स्थल और जल मार्गों द्वारा दूर-दूर तक व्यापार के लिए आते-जाते थे। सिन्धु-सभ्यता के काल मे भी सामुद्रिक व्यापार का प्रारम्भ हो चुका था। इस युग मे यह और भी अधिक विकसित हुआ।

वैदिक साहित्य मे अनेक स्थानो पर 'पणि' नामक व्यापारियों का उल्लेख आया है, जिन्हें असुर कहा गया है। सम्भवत, ये पणि फिनीशियन लोग थे, जिन्हें लैटिन भाषा मे 'पूनि' कहा जाता था। फिनीशियन लोगो की बस्ती पैलेस्टाइन के समुद्रतट पर थी, जहाँ से वे सुदूर देशो मे व्यापार के लिए आया जाया करते थे। भारत के आर्यों का इनसे परिचय था। सम्भवत:, वैदिक युग मे भारत का पैलेस्टाइन के फिनीशियन (पूनि या पणि) लोगो के साथ भी व्यापारिक सम्बन्ध स्थापित था।

सातवाँ अध्याय

उत्तर-वैदिक युग का राजनीतिक इतिहास

(१) कुरुदेश की शक्ति का ह्रास

महाभारत के संग्राम मे पाण्डव विजयी हुए थे, और भारत की सर्वप्रधान राजनीतिक और शक्ति बन गए थे। पर कुरु देश की यह स्थिति देर तक कायम नही रही।

पाण्डव अर्जुन का पुत्र अभिमन्यु था, जो महाभारत की लड़ाई मे ही मारा गया था। अभिमन्यु का पुत्र परीक्षित था, जो पाण्डवो के बाद कुरुदेश (राजधानी—हस्तिनापुर) का राजा बना। उसके समय मे कुरुदेश इतना निर्बल हो गया था, कि उत्तर-पश्चिमी भारत मे निवास करने वाली नाग-जाति ने हस्तिनापुर पर आक्रमण किया, और उससे लडते हुए राजा परीक्षित मारा गया। ये नाग गान्धार देश के निवासी थे। तक्षशिला पर अधिकार जमाकर इन्होने पहले पजाब के विविध आर्य-राज्यो को अपने अधीन किया, और फिर कुरुदेश पर भी कब्जा कर लिया। नागो के राजा का नाम तक्षक था। नाग एक आर्य-भिन्न जाति थी। बाद मे यह जाति मध्य भारत मे फैल गयी, और इसके अनेक राजवंशो ने भारत के विविध राज्यो का शासन किया।

परीक्षित की मृत्यु के बाद उसका पुत्र जनमेजय कुरुदेश का राजा बना। वह एक वीर और शक्तिशाली राजा था। उसके शासन-काल मे कुरुदेश ने फिर एक बार अपने को सँभाला। जनमेजय ने नागो द्वारा हुई अपने पिता की हत्या का बदला लेने का निश्चय किया। उसका यह भी प्रयत्न था, कि हस्तिनापुर की शक्ति का पुनरुद्धार किया जाए। इसके लिए उसने अश्वमेध यज्ञ का आयोजन किया। प्राचीन समय मे भारत के आर्य-राजा जब अपनी शक्ति का विस्तार करने के लिए दिग्विजय करते थे, तो उसके बाद वे अश्वमेध यज्ञ किया करते थे। पुराणो मे आलंकारिक रूप से लिखा है, कि यज्ञ के प्रभाव से सर्प या नाग निरन्तर अग्निकुण्ड मे गिरकर भस्म होने लगे। नागराज तक्षक ने यज्ञ के प्रभाव से बचने का बहुत उद्योग किया। पर वह सफल नहीं हो सका, और अन्त मे स्वय भी यज्ञकुण्ड की अग्नि द्वारा भस्म हो गया। आलकारिक रूप से वर्णित इस पौराणिक अनुश्रुति का अभिप्राय यही है, कि राजा जनमेजय ने नाग-जाति को परास्त कर कुरुदेश की शक्ति का पुनरुद्धार किया। पुराणों के अनुसार जनमेजय ने पंजाब में नाग-जाति को परास्त कर तक्षशिला पर भी आक्रमण किया, और वहाँ नागराज तक्षक का विनाश किया। तक्षशिला पर जनमेजय का अधिकार हो गया, और कुछ समय के लिए तक्षशिला हस्तिनापुर के कौरव राजाओं की दूसरी राजधानी बन गयी। पुराणों में जनमेजय को 'परपुरंजय' (दूसरों के नगरो को विजय

करने वाला) की उपाधि दी गयी है। इसमे सन्देह नही, कि वह एक महान् विजेता था, और उसके शासन-काल मे कुरुदेश के प्राचीन कौरव का पुनरुद्धार हो गया था।

राजा जनमेजय के बाद शतानीक, अश्वमेधदत्त, अधिसीम कृष्ण और निचक्षु हस्तिनापुर के राजा बने। निचक्षु के समय मे गंगा मे भयकर बाढ आयी, और उसके कारण हस्तिनापुर नगर बह गया। अब कौरव वश के लिए यह सम्भव नही रहा, कि वह हस्तिनापुर में शासन कर सके। राजा निचक्षु कुरुदेश को छोडकर वत्सदेश मे चला गया, और वहाँ कौशाम्बी नगरी को राजधानी बनाकर शासन करने लगा।

छान्दोग्य उपनिषद् मे एक कथा आती है, जिसके अनुसार कुरुदेश पर टिड्डी दल में बहुत भयंकरता के साथ आक्रमण किया था, और उसके कारण कुरुदेश की फसलें एकदम नष्ट हो गयी थी। वहाँ भीख प्राप्त कर सकना भी सम्भव नही रहा था, और इस कारण वह देश बिलकुल उजड गया था। सम्भवतः, यह घटना भी राजा निचक्षु के समय की है, क्योंकि उपनिषदों की अनेक कथाओ का सम्बन्ध इसी युग के राजाओ के साथ है। ऐसा प्रतीत होता है कि टिड्डी-दल के आक्रमण और गंगा की भयंकर बाढ के कारण कुरुदेश पर इस समय बहुत घोर विपत्ति आयी थी, और राजा निचक्षु अपने पूर्वजो के देश को छोडकर वत्सदेश चले जाने के लिए विवश हुआ था। कौशाम्बी का यह वत्स-राज्य बाद के इतिहास मे बहुत प्रसिद्ध हुआ, और इसके उदयन आदि अनेक राजा बहुत प्रतापी हुए। सम्भवत', निचक्षु के कौशाम्बी चले जाने के बाद कुरुदेश में कौरव वंश की एक अन्य शाखा राज्य करती रही। बाद मे वहाँ राजतन्त्र-शासन का अन्त होकर गणतन्त्र-शासन की स्थापना हो गयी। मौर्य-वश के विकास से पूर्व कुरुदेश में गण-शासन विद्यमान था। आचार्य चाणक्य ने अपने 'अर्थशास्त्र' मे कुरुदेश का एक गण के रूप मे उल्लेख किया है।

(२) तत्त्वचिन्तक राजा

महाभारत-युद्ध के बाद विविध आर्य राजवशो के राजनीतिक इतिहास के सम्बन्ध से कोई क्रमबद्ध वृत्तान्त नही मिलता। पुराणो मे इन राजवशो के राजाओ की नामावलियाँ अवश्य दी गयी है, पर इनके सम्बन्ध मे कोई महत्त्वपूर्ण बात उल्लिखित नही की गयी। फिर भी भारत के अन्य प्राचीन साहित्य द्वारा इन राजाओ मे से कतिपय के विषय मे कुछ महत्त्व की बातें ज्ञात होती है। इस युग के कुछ राजा बडे तत्त्वज्ञानी और अध्यात्म का चिन्तन करने वाले थे।

विदेह के जनक—विदेह के राजवंश का उल्लेख इस ग्रन्थ मे पहले किया जा चुका है। ऐक्ष्वाकव-वंश के राजा रामचन्द्र का विवाह विदेहराज जनक सीरध्वज की पुत्री सीता के साथ हुआ था। कुरुदेश के राजा निचक्षु के समय से विदेह में अनेक ऐसे राजा (जनकी क्रमागत उपाधि 'जनक' होती थी) हुए, जो अध्यात्मज्ञान के लिए बहुत प्रसिद्ध हैं। इनमें जनक जनदेव, जनकधर्मध्वज और जनक आयस्थूण के नाम विशेषरूप से उल्लेखनीय हैं। ये तीनो निचक्षु के समय के बाद क्रमशः विदेह के राजा बने। ये विद्वानो और तत्त्ववेताओ के बडे आश्रयदाता थे, और इनके साथ सम्बन्ध रखने वाली अनेक कथाएँ उपनिषदों में सग्रहीत है। विशेषतया, वृहदारण्यक उपनिषद्

में राजा जनक की सभा में एकत्र ब्राह्मणों और मुनियों की कथा का उल्लेख है, जिसमें याज्ञवल्क्य द्वारा अन्य विद्वानों के परास्त किए जाने का वर्णन है।

केकय के अश्वपति—विदेह के जनकों के समान केकयदेश के राजा अश्वपति भी बड़े तत्त्वज्ञानी होते थे। विदेह के सदृश केकय राज्य भी बहुत प्राचीन है। उसकी एक राजकुमारी का विवाह ऐक्ष्वाकव-वंश के राजा दशरथ के साथ हुआ था, और केकय राज्य की होने के कारण ही वह कैकेयी कहाती थी। कुरुदेश के राजा जनमेजय का समकालीन केकयदेश (उत्तर-पश्चिम पंजाब के शाहपुर, गुजरात और जेहलम जिले) का राजा अश्वपति था। छान्दोग्य उपनिषद् मे लिखा है, कि उद्दालक आरुणि नाम का एक बडा विद्वान् अपने अन्य साथियों के साथ केकय देश के राजा अश्वपति के पास गया, और अध्यात्मज्ञान-सम्बन्धी अपनी अनेक शंकाओं का समाधान उसने अश्वपति द्वारा कराया। केकयराज अश्वपति न केवल उत्कृष्ट तत्त्वज्ञानी था, अपितु बडा कुशल शासक भी था। उसकी यह गर्वोक्ति छान्दोग्य उपनिषद् मे विद्यमान है, कि "मेरे जनपद मे न कोई चोर है, न कोई शराबी है, न कोई अपढ़ है, और न कोई ऐसा व्यक्ति है, जो यज्ञ न करता हो। मेरे जनपद मे कोई भी व्यभिचारी पुरुष नही है, इस दशा मे व्यभिचारिणी स्त्री तो कहाँ से होगी।"

पंचाल का राजा प्रवाहण जाबालि—कुरुदेश के राजा अश्वमेधदत्त का समकालीन पंचाल का राजा प्रवाहण जाबालि था, जो केकयराज अश्वपति या विदेहराज जनकों के समान ही तत्त्वदर्शी और विद्वान् था। इसके सम्बन्ध मे भी उपनिषदों मे उल्लेख आता है।

विविध राजाओं के संरक्षण व नेतृत्व मे तत्त्वचिन्तन की जो लहर महाभारत-युद्ध के बाद भारत में शुरू हुई, आगे के एक प्रकरण मे हम उस पर अधिक विस्तार से प्रकाश डालेंगे।

(३) गण-राज्यों का विकास

प्राचीन गण-राज्य—वैदिक युग मे भारतीय आर्यों के विविध राज्यों मे राजतन्त्रशासन विद्यमान थे। पर कतिपय राज्य या जनपद ऐसे भी थे, जिनमे वंशक्रमानुगत राजाओं का शासन नहीं था। ऐसे राज्यों को गण-राज्य कहा जाता है। वैदिक साहित्य के अनुशीलन से कुछ ऐसे निर्देश मिलते हैं, जिनसे वैदिक काल मे भी गण-राज्यों की सत्ता सूचित होती है। वीतहोत्र जन यादवों की एक शाखा थी, और अनेक विद्वानों के मत मे वहाँ गण-शासन विद्यमान था। यादवों की ही अन्यतम शाखा अन्धक और वृष्णि थे। महाभारत के अनुसार इनमे भी गण-शासन था। एक प्राचीन इतिहास का उल्लेख महाभारत में किया गया है, जिसमे नारद और कृष्ण (वृष्णिगण के मुख्य) का संवाद है। इस संवाद मे वासुदेव कृष्ण ने मुनि नारद के सम्मुख वे कठिनाइयाँ उपस्थित की है, जो गणशासन के मुख्य (प्रधान व अध्यक्ष) के रूप मे उन्हे अनुभव हुआ करती थी। नारद ने इन कठिनाइयों पर विजय पाने के उपायों का उपदेश दिया है। नारद के अनुसार कृष्ण की कठिनाइयाँ आभ्यन्तर आपदों के कारण थी। और इन पर काबू पाने के उपाय थे—मृदुवाणी और गण-राज्य के निवासियों व

नेताओं का यथायोग्य सत्कार। इस सत्कार के अंगरूप अन्नदान (भोजन आदि द्वारा सम्मान) का भी नारद ने उपदेश दिया है। नारद ने यह भी कहा है, कि गणराज्यों का विनाश परस्पर फूट द्वारा होता है, और उनके मुख्यो को ऐसा उपाय करना चाहिए, जिससे उनमें फूट न पैदा हो। ऐसा प्रतीत होता है, कि महाभारत के समय में अन्धक, वृष्णि भोज आदि विविध यादव जनों मे गण-राज्य स्थापित थे, और इन गणों का एक संघ भी संगठित था। महाभारत युद्ध मे किस पक्ष मे सम्मिलित हुआ जाय, इस विषय पर इस संघ के अन्तर्गत विविध राज्य परस्पर सहमत नही हो सके थे। महाभारत-युद्ध की समाप्ति के बाद भी यादवो का यह आन्तरिक मतभेद व विरोध कायम रहा था, और उनमे परस्पर संघर्ष भी हुए थे। इन लड़ाइयो के कारण यादवो की शक्ति बहुत क्षीण हो गयी थी, और कृष्ण का अन्तिम जीवन निराशा मे व्यतीत हुआ था। मगध के सम्राट् जरासन्ध की हत्या कराके कृष्ण पाण्डवो के उत्कर्ष मे तो सहायक हुए थे, पर अपने यादव-संघ की शक्ति व एकता को कायम रखने मे उन्हे सफलता प्राप्त नही हो सकी थी।

विदेह में गणतन्त्र की स्थापना—बौद्ध-युग मे भारत के बहुत-से जनपदो में गणतन्त्र शासन भी विद्यमान थे। वैदिक काल के अनेक ऐसे जनपद, जिनमे पहले वंशक्रमानुगत राजाओ का शासन था, बौद्ध-युग तक गणतन्त्र हो चुके थे। कुरु, पचाल, विदेह आदि कितने ही ऐसे गणराज्य बौद्धकाल मे मौर्य-वंश से पूर्व विद्यमान थे, जिनमे पहले वंशक्रमानुगत राजा राज्य करते थे। राजतन्त्र से गणतन्त्र का यह परिवर्तन कैसे हुआ, इस सम्बन्ध मे कोई निश्चित विवरण प्राचीन साहित्य मे उपलब्ध नही होता। प्राचीन ग्रीक-राज्यो मे भी इसी प्रकार के परिवर्तन हुए थे। इनमे से कुछ का इतिहास हमे ज्ञात भी है। इसी कारण प्राचीन ग्रीक इतिहास बहुत महत्त्वपूर्ण व मनोरजक है। भारत के इन प्राचीन राज्यो के सम्बन्ध मे भी यदि राजतन्त्र से गणतन्त्र मे परिवर्तित होने का वृत्तान्त उपलब्ध हो सकता, तो प्राचीन भारतीय इतिहास का महत्त्व बहुत बढ जाता।

पर विदेह-राज्य के सम्बन्ध मे इस प्रकार के कुछ निर्देश मिलते है। महाभारत के शान्तिपर्व मे यह कथा आती है, कि विदेह का राजा जनक तत्त्वचिन्तन और ब्रह्म-ज्ञान मे इतना अधिक लीन हो गया था, कि उसे राज्य की कोई भी परवाह नही रही थी। वह ऐसा निर्द्वन्द्व व विमुक्त हो गया था, कि मोक्ष उसे नजर-सा आने लगा था। इसीलिए वह कहा करता था—"जब मेरे पास कोई धन न हो, तभी मेरे पास अनन्त धन होगा। अगर मिथिला अग्नि द्वारा भस्म भी हो जाए, तो भी मेरा क्या बिगडता है?" जिस राजा की यह मनोवृत्ति हो, वह व्यक्तिगत रूप से चाहे कितना ही ऊँचा और महात्मा क्यो न हो, पर अपने शासन-कार्य को वह कभी कुशलतापूर्वक नही चला सकता। जनक की यह मनोवृत्ति होने पर उसकी धर्मपत्नी ने उसे बहुत समझाया। उसने उसे उस प्रतिज्ञा का स्मरण कराया, जो राज्याभिषेक के समय पर उसने की थी। उसने कहा—तुम्हारी प्रतिज्ञा और थी, पर तुम्हारे कर्म बिलकुल दूसरी तरह के हैं। उसने यह भी समझाया, कि तुम धर्म का सच्चे अर्थो मे पालन राजधर्म का अनुसरण करते हुए ही भलीभाँति कर सकते हो। पर अपनी पत्नी की कोई बात जनक की

समझ में नहीं आयी। इसीलिए महाभारत में लिखा है—"इस संसार मे राजा जनक कितना तत्त्वज्ञानी प्रसिद्ध है, पर वह भी मूर्खता के जाल मे फँस गया था।" संसार के इतिहास मे कितने ही राजाओं को अपने राजसिंहासन का परित्याग इसलिए करना पडा, क्योंकि वे अपने राजधर्म की उपेक्षा कर प्रजा पर अत्याचार करते थे। पर जनक ने ब्रह्मज्ञान मे लीन होकर अपने राजधर्म की उपेक्षा की थी। "मिथिला अगर अग्नि द्वारा भस्म हो जाए, तो भी मेरा क्या बिगडता है?" यह मनोवृत्ति एक वीतराग योगी के लिए चाहे उचित हो, पर एक राजा के लिए इसे कभी सहन नही किया जा सकता। राजा के लिए यह मनोवृत्ति ठीक वैसी ही है, जैसी कि रोमन-सम्राट् नीरो की थी, जो कि रोम में आग लगने पर स्वयं बाँसुरी बजाता हुआ उस दृश्य का आनन्द ले रहा था। महाभारत मे उल्लिखित राजा जनक की मनोवृत्ति के कारण जनता मे उसके विरुद्ध कितना असन्तोष उत्पन्न हुआ होगा, इसकी कल्पना सहज मे की जा सकती है।

जनता के इसी असन्तोष का परिणाम शायद यह हुआ कि जब विदेह के एक अन्य राजा ने प्रजा के प्रति अनुचित व्यवहार किया, तो जनता उसके विरुद्ध उठ खडी हुई, और बन्धु-बान्धवो सहित उसका विनाश कर दिया। कौटलीय अर्थशास्त्र मे लिखा है, कि दाण्डक्य नामक भोज (राजा) ने काम के वश होकर जब एक ब्राह्मण-कन्या के साथ बलात्कार किया, तो बान्धवो के साथ उसका विनाश हो गया। यही बात वैदेह (विदेह-वंश के) कराल के साथ हुई। सम्भवत., राजा कराल विदेह का अन्तिम 'जनक' (राजा) था, और काम के वशीभूत होने के कारण जब वह प्रजा पर अत्याचार करने लगा, तो जनता उसके विरुद्ध रूठ खडी हुई, और उसके शासन का अन्त कर दिया। विदेह के पहले राजा ब्रह्मज्ञान मे लीन रहने के कारण राजधर्म की उपेक्षा करते थे, और जब उनमे से एक की वृत्ति कामलोलुप होने के कारण बहुत विकृत हो गयी, तो वहाँ के जनक राजाओं का शासन स्थिर रह सकना सम्भव नहीं रहा।

अन्य राज्यों में गणतन्त्र की स्थापना—आचार्य चाणक्य के अर्थशास्त्र मे ही कतिपय अन्य ऐसे निर्देश मिलते हैं, जिनमे राजाओ के विरुद्ध विद्रोह और इस प्रकार उनके नष्ट होने का उल्लेख किया गया है। भोजवंशी दाण्डक्य और विदेहवंशी कराल के काम के वशीभूत होने के कारण विनाश का जिक्र हमने अभी किया है। अर्थशास्त्र के अनुसार सौवीर अजबिन्दु और राजा ऐल का विनाश इसलिए हुआ, क्योंकि वे अत्यन्त लोभी थे, और उन्होने चारों वर्णों पर अत्यधिक कर लगाया था। कुरुदेश और पचाल देश के राजा ऐल-वंश के थे। इन दोनो मे वशक्रमानुगत राजाओं का अन्त होकर बाद मे गणतन्त्र-शासन की स्थापना हो गयी थी। अर्थशास्त्र मे लोभवश 'ऐल' के विनष्ट होने की जो बात लिखी गयी है, कोई आश्चर्य नही कि वह कुरु और पंचाल के ऐल-वशी राजाओं के साथ सम्बन्ध रखती हो। इसी प्रकार के अन्य अनेक उदाहरण देकर अन्त में आचार्य चाणक्य ने लिखा है—ये और अन्य बहुत-से राजा कर्ण, त्वक्, आँख, जीभ और नासिका—इन पाँच इन्द्रियो पर विजय न करने के कारण न केवल अपने बान्धवो के साथ स्वयं नष्ट हो गए, अपितु अपने राष्ट्रों से भी हाथ धो बैठे। इसमे सन्देह नही, कि आचार्य चाणक्य के समय मे उन राजाओं का इतिवृत्त विद्यमान

था, जिनके विरुद्ध जनता ने विद्रोह किया था, और जिन्हें नष्ट कर जनता ने गणतन्त्र शासनो की स्थापना की थी।

(४) काशी और कोशल का उत्कर्ष

महाभारत-युद्ध के समय में भारत के आर्य-राज्यों मे कुरु सर्वप्रधान था। पर बाद में काशी और कोशल का महत्त्व बढ़ने लगा। नागो के आक्रमण, गगा की बाढ़ और टिड्डी दल के उत्पात के कारण कुरुदेश की शक्ति का किस प्रकार ह्रास हुआ, यह पहले लिखा जा चुका है। अब उत्तरी भारत में आर्य-राज्यो का नेतृत्व काशी और कोशल के हाथों मे आया, और महाभारत-युद्ध और बौद्ध-युग के मध्यवर्ती काल मे ये दोनों राज्य बहुत शक्तिशाली तथा समृद्ध हो गए।

उपनिषदो के समय मे जब कि केकय के अश्वपति, विदेह के जनक और पंचाल के प्रवाहण जाबालि तत्त्वज्ञान मे निरत विद्वानों के आश्रयदाता व संरक्षक थे, तब काशी का राजा अजातशत्रु था जिसका उल्लेख उपनिषदो मे आता है। यह भी अध्यात्म-चिन्तक व ब्रह्मज्ञानियो का संरक्षक था। जातक कथाओं मे काशी के राजाओ को 'ब्रह्मदत्त' कहा गया है, जो उनकी वंशक्रमानुगत उपाधि थी। ये ब्रह्मदत्त राजा बड़े प्रतापी और समृद्ध थे। अनेक बार वे कौशल देश को भी अपनी अधीनता मे लाने मे सफल हुए थे। कुछ समय के लिए तो अश्मक-राज्य भी काशी के अधीन हो गया था। अश्मक की राजधानी पोतन या पौदन्य थी। अश्मक को जीत लेने के कारण दक्षिण मे गोदावरी तक का प्रदेश काशी के साम्राज्य मे सम्मिलित हो गया था, और कुछ समय के लिए वह उत्तरी भारत की प्रधान राजनीतिक-शक्ति बन गया था।

कोशल की राजधानी अयोध्या थी, और उसके राजा प्राचीन ऐक्ष्वाकव-वंश के थे। काशी-राज्य की शक्ति के कारण कुछ समय तक कोशल उन्नति के मार्ग पर अग्रसर नही रह सका। पर बाद मे उसकी बहुत उन्नति हुई। भगवान् बुद्ध के समय तक काशी का उत्कर्ष समाप्त हो गया था, और कौशल के राजाओं ने काशी को भी अपने अधीन कर लिया था। जातक साहित्य के अनुसार काशी को जीतकर अपने अधीन करने वाले राजा का नाम बंक था। बौद्ध-युग मे कौशल की राजधानी श्रावस्ती हो गयी थी, यद्यपि अयोध्या का महत्त्व कम नही हुआ था।

(५) मगध का पुनरुत्थान

महाभारत युद्ध की घटनाओं के साथ मगध के तीन राजाओ का सम्बन्ध था, जरासन्ध, सहदेव और सोमाधि। मगध के बार्हद्रव-वंश का विवरण पहले दिया जा चुका है। कृष्ण की सहायता से पाण्डवों ने जरासन्ध की हत्या की, और अपनी दिग्विजय के लिए मार्ग साफ किया। जरासन्ध का पुत्र सहदेव महाभारत-युद्ध मे पाण्डवों के पक्ष मे सम्मिलित हुआ था, और द्रोणाचार्य द्वारा लडाई मे मारा गया था। सहदेव के बाद सोमाधि मगध का राजा बना। सोमाधि के उत्तराधिकारी बार्हद्रथ-राजाओं की तालिका पौराणिक अनुश्रुति मे दी गयी है। पर इन राजाओं के सम्बन्ध में किसी महत्त्वपूर्ण घटना का उल्लेख नहीं किया गया। जरासन्ध के बाद मगध की शक्ति बहुत क्षीण हो

गयी थी। पर बाद में इस शक्ति का पुनरुत्थान शुरू हुआ। सोमाधि के बाद आठवीं पीढ़ी में श्रुतञ्जय नाम का राजा हुआ, जिसे पुराणों मे बहाबल, महाबाहु और महा-बुद्धि-पराक्रम—इन उपाधियों से विभूषित किया गया है। प्रतीत होता है, कि श्रुतञ्जय के समय मे मागध-शक्ति का पुनरुत्थान शुरू हो गया था, और इस राजा के बल तथा बुद्धि-पराक्रम की स्मृति उसके बाद भी देर तक कायम रही थी।

बार्हद्रथ-वंश के विरुद्ध क्रान्ति—बार्हद्रथ-वंश का अन्तिम राजा रिपुंजय था। उसके अमात्य का नाम पुलिक था। पुलिक ने अपने स्वामी के विरुद्ध विद्रोह करके उसे मार डाला, और अपने पुत्र को मगध के राजसिंहासन पर बिठाया। सम्भवतः, पुलिक जाति से आर्य क्षत्रिय नही था। इसीलिए पुराणों मे लिखा है, कि सब क्षत्रिय देखते ही रह गये, और पुलिक ने अपने पुत्र को राजगद्दी पर बिठा दिया। हम पहले लिख चुके हैं, कि मगध मे आर्यभिन्न लोगों की बहुसंख्या थी। वहाँ की सेना मे भृत और श्रेणियो मे संगठित सैनिको की प्रधानता थी। प्रतीत होता है, कि पुलिक ने ऐसी ही अनार्य-सेना की सहायता से रिपुञ्जय के विरुद्ध विद्रोह कर उसे मार दिया था। पुराणो मे पुलिक और उसके पुत्र को 'प्रणतसामन्त' और 'नयवर्जित' कहा गया है। जिन सामन्तों के सिर उठाने के कारण पिछले बार्हद्रथ-राजा कमजोर हो गये थे, उन्हे उसने भली-भाँति काबू मे कर लिया था। साथ ही वह नयवर्जित भी था। आर्य-राजाओ की जो पुरानी रीति चली आती थी, उसकी उपेक्षा कर वह अपनी स्वेच्छा से राज्य करता था। पर इस प्रकार के स्वेच्छाचारी एकराट् होने के लिए यह आवश्यक था, कि वह नरश्रेष्ठ हो। पुराणों मे उसे 'नरोत्तम' भी कहा गया है। वैयक्तिक गुणों के अभाव में यह कैसे सम्भव था, कि सब क्षत्रिय देखते ही रह जाते, और वह मगध के राजसिंहासन पर अपना अधिकार कर लेता।

पर यह पुलिक था कौन ? इस सम्बन्ध में विविध ऐतिहासिकों के जो बहुत-से मत हैं, उनकी हम यहाँ विवेचना नही करेंगे। पुलिक मागध-सम्राट् रिपुञ्जय का अमात्य और अवन्ति का शासक था। प्रतीत होता है, कि पिछले दिनो मे अवन्ति मगध के अधीन हो गया था, और वहाँ के स्वतन्त्र वीतिहोत्र-गण का अन्त हो गया था। महाभारत के युद्ध के बाद अवन्ति मे वीतिहोत्र-गण का शासन था। वीतिहोत्र यादव-वंश की एक शाखा थे। पिछले किसी बार्हद्रथ-राजा ने अवन्ति को जीतकर मागध-साम्राज्य मे सम्मिलित कर लिया था। पुलिक रिपञ्जय की ओर से अवन्ति पर शासन के लिए नियुक्त था। उस के दो पुत्र थे, बालक और प्रद्योत। रिपुञ्जय को मारकर पुलिक ने बालक को मगध का राजा बनाया और प्रद्योत को अवन्ति का। पुलिक की इस राज्य क्रांति से मगध और अवन्ति दोनो देशो से बार्हद्रथ वंश के शासन का अन्त हो गया।

मगध में फिर राज्य-क्रान्ति—पर मगध में पुलिक के वंश का शासन भी देर तक कायम नही रह सका। भट्टिय नाम के एक वीर महत्त्वाकांक्षी व्यक्ति ने पुलिक के पुत्र बालक के विरुद्ध विद्रोह किया, और उसे मारकर स्वय मगध के राजसिंहासन पर अधिकार कर लिया। भट्टिय को प्राचीन अनुश्रुति मे 'श्रेणिय' कहा गया है। मगध की सैन्य-शक्ति में 'श्रेणीबल' का बड़ा महत्त्व था। उस काल में सैनिकों की अनेक

श्रेणियाँ (Guilds) थी, जिनका सगठन स्वतन्त्र होता था। श्रेणियों मे संगठित इन सैनिको को पेशा ही युद्ध करना था। राजा लोग इन सैनिक श्रेणियों को अपने अनुकूल बनाने व उनकी सहायता प्राप्त करने के लिए सदा उत्सुक रहते थे। प्रतीत होता है, कि भट्टिय इसी प्रकार की एक शक्तिशाली सैनिक श्रेणी का नेता था, इसीलिए उसे 'श्रेणिय' कहा गया है। सम्भवत, पुलिक द्वारा प्रारम्भ की गयी क्रान्ति से जो अव्य-वस्था मगध मे उत्पन्न हो गयी थी, उससे लाभ उठाकर भट्टिय ने अपनी शक्ति को बढा लिया और अवसर पाते ही नयवर्जित राजा बालक को राज्यच्युत कर स्वयं राज्यशक्ति को प्राप्त कर लिया हो। भट्टिय स्वयं राजगद्दी पर नही बैठा। पुलिक द्वारा स्थापित परम्परा का अनुसरण करते हुए उसने अपने लडके बिम्बिसार को राजगद्दी पर बिठाया। उस समय बिम्बिसार की आयु केवल पन्द्रह वर्ष की थी। भट्टिय के बाद बिम्बिसार 'श्रेणिय' बना। उसकी शक्ति का आधार वही सैनिक श्रेणी थी, जिसके बल पर भट्टिय ने मगध-राज बालक के विरुद्ध विद्रोह किया था।

मगध के शासन मे इस समय सैनिको का जोर था। प्राचीन आर्य-परम्परा को मगध के राजा देर से छोड चुके थे। साम्राज्य-विस्तार की नीति को सफल बनाने के लिए वे वेतन के लालच से भरती हुए व पेशे के तौर पर लडने वाले सैनिको को निरन्तर अधिकाधिक महत्त्व देते रहे। इसी नीति का परिणाम ये दो क्रान्तियाँ हुई। आधी सदी से भी कम समय मे मगध के राजसिंहासन पर पुराने आर्य-वश की जगह दो भिन्न-भिन्न सैनिक नेताओ ने अधिकार किया। ये सैनिक सम्राट् पूर्णतया स्वेच्छाचारी थे।

अवन्ति के राजा प्रद्योत को यह सहन नही हुआ, कि मगध का राज्य इस प्रकार अपने कुल के हाथ से निकल जाए। इसी लिए उसने मगध पर आक्रमण करने की योजना बनायी। बौद्ध-ग्रन्थ मज्झिमनिकाय के अनुसार बिम्बिसार के उत्तराधिकारी अजातशत्रु ने प्रद्योत के आक्रमण से मगध की रक्षा करने के लिए राजधानी राजगृह की किलाबन्दी की थी। अवन्ति और मगध के इस सघर्ष मे मगध के राजाओं को ही सफलता मिली। भृत और श्रेणीबल के कारण मगध की सैनिक शक्ति इतनी बढी-चढी थी, कि अन्य राज्य उसके सम्मुख टिक नही सकते थे। बिम्बिसार के बाद मगध के सिंहासन पर ऐसे शक्तिशाली राजा आसीन रहे, जो इस सैनिक शक्ति को भली-भाँति अपने काबू मे रख सके थे। इसी का परिणाम यह हुआ, कि धीरे-धीरे सम्पूर्ण भारत मे मगध का साम्राज्य विस्तृत हो गया।

आठवाँ अध्याय

उत्तर-वैदिक युग और ऐतिहासिक महाकाव्यों का काल

(१) वैदिक साहित्य का विकास

महाभारत-युद्ध के बाद महात्मा बुद्ध के समय तक का राजनीतिक इतिहास बहुत अस्पष्ट है। पर इस काल की सभ्यता, धर्म, जीवन तथा संस्कृति के सम्बन्ध मे परिचय प्राप्त करने की सामग्री की कमी नही है, कारण यह कि इस समय मे साहित्य का निरन्तर विकास होता रहा। यद्यपि इस युग के साहित्य का बड़ा भाग आजकल उपलब्ध नही होता, तथापि जो ग्रन्थ अब प्राप्तव्य है, उन्ही के आधार पर हम इस काल के आर्यों के जीवन के सम्बन्ध मे बहुत-सी महत्त्वपूर्ण बातें जान सकते हैं।

वेदांग—वैदिक साहित्य के अगभूत वैदिक सहिता, ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषद् ग्रन्थों का विवरण पहले दिया जा चुका है। बाद मे वेद-सम्बन्धी जिस साहित्य का विकास हुआ, उसे वेदाग कहते है। ये वेदाग छः है—शिक्षा, छन्द, व्याकरण, निरुक्त, ज्योतिष और कल्प। शिक्षा का अभिप्राय उस शास्त्र से है, जिसमे वर्णों व शब्दो का सही उच्चारण प्रतिपादित किया जाता है। इस शास्त्र के प्राचीन ग्रन्थ प्रातिशाख्य कहाते हैं। विभिन्न वैदिक सहिताओ के प्रातिशाख्य निम्नलिखित है—(१) शौनक द्वारा रचित ऋग्वेद-प्रातिशाख्य, (२) तैत्तिरीय प्रातिशाख्य-सूत्र, (३) कात्यायन द्वारा विचरित वाजसनेयी प्रातिशाख्य-सूत्र, और (४) अथर्ववेद प्रातिशाख्य-सूत्र। इन चार मुख्य प्रातिशाख्यो के अतिरिक्त भारद्वाज, वशिष्ठ, व्यास, याज्ञवल्क्य आदि ऋषियो द्वारा रचित अन्य प्रातिशाख्य-ग्रन्थ भी थे। छन्द-शास्त्र मे वैदिक छन्दो का निरूपण किया जाता है। छन्द का यह विषय प्रातिशाख्यों मे भी आता है, पर इस शास्त्र का सबसे महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ छन्दसूत्र है, जिसे आचार्य पिगल ने बनाया था। पिंगल का छन्दसूत्र जिस रूप मे आजकल मिलता है, वह शायद बहुत प्राचीन नही है। पर इसमे सन्देह नही, कि यह प्राचीन छन्द-शास्त्र के आधार पर लिखा गया है।

वेदों को भले प्रकार से समझने के लिये व्याकरण-शास्त्र बहुत उपयोगी है। संस्कृत-भाषा का सबसे प्रसिद्ध व्याकरण ग्रन्थ पाणिनीय अष्टाध्यायी है, जिसे पाणिनि मुनि ने बनाया था। किन्तु पाणिनि की अष्टाध्यायी वेदाग के अन्तर्गत नही है, क्योकि उसमें प्रधानतया लौकिक संस्कृत-भाषा का व्याकरण दिया गया है। भाषा के नियम उसमें अपवादरूप से ही दिये गये है। पर अष्टाध्यायी के रूप मे संस्कृत-व्याकरण अपने विकास व पूर्णता की चरम सीमा को पहुँच गया था। पाणिनि का काल अन्तिम रूप से निश्चित नही हुआ है, पर बहुसंख्यक विद्वान् उन्हें पाँचवी सदी ई० पू० का मानते हैं। उनसे पूर्व अन्य भी अनेक वैयाकरण हो चुके थे, जिनके प्रयत्नों के

कारण ही संस्कृत का व्याकरण इतनी पूर्ण दशा को प्राप्त हुआ था। चन्द्र, इन्द्र आदि अनेक प्राचीन वैयाकरणों के ग्रन्थो की सत्ता के प्रमाण प्राचीन साहित्य में मिलते हैं। यास्क के निरुक्त में शाकपूणि नामक एक आचार्य का उल्लेख आता है, जो व्याकणशास्त्र का बडा विद्वान था। निरुक्त-शास्त्र भी एक वेदाग है, जिसमे शब्दों की व्युत्पत्ति या निरुक्ति का प्रतिपादन किया गया है। यास्काचार्य का निरुक्त इस शास्त्र का प्रसिद्ध ग्रन्थ है। यास्क से पूर्व इस शास्त्र के ग्रन्थ भी अनेक आचार्य हुए, जिनके मतों का उल्लेख यास्क ने अनेक बार अपने निरुक्त में किया है। पर इनमें से किसी भी आचार्य का ग्रन्थ वर्तमान समय में उपलब्ध नही होता। ज्योतिष-शास्त्र भी छः वेदांगों में से एक है। बाद में इस शास्त्र का भारत में बहुत विकास हुआ, और आर्यभट्ट, वराहमिहिर आदि अनेक ऐसे आचार्य हुए, जिन्होने इस विद्या को बहुत उन्नत किया। पर प्राचीन युग का केवल एक ग्रन्थ इस समय मिलता है जिसका नाम 'ज्योतिषवेदाग' है। इसमे केवल ४० श्लोक हैं, और सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र आदि का वर्णन है। पर प्राचीन काल मे ज्योतिष भली-भाँति विकसित था, और वैदिक सहिताओ और ब्राह्मण ग्रन्थो में भी ज्योतिष सम्बन्धी अनेक तथ्य पाये जाते है।

आर्यों के वैयक्तिक, पारिवारिक और सामाजिक जीवन के क्या नियम हो, वे किन संस्कारो व कर्तव्यों का अनुष्ठान करे, इस महत्वपूर्ण विषय का प्रतिपादन कल्प-वेदाग मे किया गया है। कल्प के तीन भाग है—श्रौत, गृह्य और धर्म। ब्राह्मण-ग्रन्थो मे याज्ञिक कर्मकाण्ड का बहुत विशद रूप से प्रतिपादन था। प्रत्येक याज्ञिक व अन्य विधि का इतने विस्तार के साथ वर्णन उनमे किया गया था, कि सर्वसाधारण जीवन व व्यवहार मे उनका सुगमता के साथ उपयोग सम्भव नही था। अत यह आवश्यकता अनुभव की गयी, कि वैदिक अनुष्ठानों को संक्षेप के साथ प्रतिपादित किया जाय। श्रौत-सूत्रों की रचना इसी दृष्टि से की गयी। इन्हे ब्राह्मण-ग्रन्थो का सार कहा जा सकता है, यद्यपि वैदिक विधियों मे कुछ परिवर्तन व संशोधन भी इनसे सूचित होता है। गृह्य-सूत्रों में आर्य गृहस्थ के उन विधि-विधानो का वर्णन है, जो उसे आवश्यक रूप से करने चाहिएँ। जन्म से मृत्यु पर्यन्त आर्य गृहस्थ को अनेक धर्मों का पालन करना होता है, अनेक संस्कार करने होते हैं, व अनेक अनुष्ठानो का सम्पादन करना होता है। इन सबका प्रतिपादन गृह्य-सूत्रों में किया गया है। एक व्यक्ति के दूसके व्यक्ति के प्रति या समाज के प्रति जो कर्त्तव्य हैं, व दूसरो के साथ बरतते हुए उसे जिन नियमो का पालन करना चाहिये, उनका विवरण धर्मसूत्रो मे दिया गया है।

वर्तमान समय मे जो सूत्र-ग्रन्थ उपलब्ध होते है, उनमें अधिक महत्वपूर्ण निम्नलिखित हैं—गौतम धर्मसूत्र, बौधायनसूत्र, आपस्तम्बसूत्र, मानवसूत्र, काठकसूत्र, कात्यायन श्रौतसूत्र, पारस्कर गृह्यसूत्र, आश्वलायन श्रौतसूत्र, आश्वलायन गृह्यसूत्र, सांख्यायन श्रौतसूत्र, सांख्यायन गृह्यसूत्र, लाट्यायन श्रोतमूत्र, गोभिलगृह्यसूत्र कौशिक-सूत्र और वैतान श्रौतसूत्र। इन विविध सूत्र ग्रन्थों के नामों से ही यह बात सूचित होती है, कि इनका निर्माण विविध प्रदेशो में और विविध सम्प्रदायों में हुआ था। प्राचीन भारत मे विविध आचार्यों द्वारा ज्ञान व चिन्तन के पृथक्-पृथक् सम्प्रदायों का विकास हुआ था, और इन सम्प्रदायों में विधि-विधान, विचार व ज्ञान की अपनी-अपनी

परम्पराएँ जारी रहती थी। भारतीय आर्यों के प्राचीन जीवन को भली-भाँति समझने के लिये इन सूत्र-ग्रन्थों का अनुशीलन बहुत उपयोगी है।

उपवेद—छ: वेदांगो के अतिरिक्त इस युग में चार उपवेदों का भी विकास हुआ। ये उपवेद निम्नलिखित है—आयुर्वेद, धनुर्वेद, शिल्पवेद और गान्धर्ववेद। चिकित्सा-सम्बन्धी ज्ञान आयुर्वेद के अन्तर्गत है। चरक, सुश्रुत आदि आचार्यों ने चिकित्साशास्त्र-सम्बन्धी जो ग्रन्थ लिखे थे, वे आजकल उपलब्ध हैं। पर ये आचार्य बौद्धकाल में व उसके बाद हुए थे। प्राग्बौद्ध-काल का आयुर्वेद-सम्बन्धी कोई ग्रन्थ इस समय उपलब्ध नही होता। पर चरक, सुश्रुत आदि ग्रन्थो के अनुशीलन से यह ज्ञात होता है, कि उनसे पूर्व बहुत-से आचार्य ऐसे हो चुके थे, जिन्होंने आयुर्वेद का विकास किया था। उपनिषदो मे श्वेतकेतु नामक आचार्य का उल्लेख आया है, जो उद्दालक आरुणि का पुत्र था। यह श्वेतकेतु केवल ब्रह्मज्ञानी ही नहीं था, अपितु साथ ही प्रजनन-शास्त्र और कामशास्त्र का भी पण्डित था। ये शास्त्र आयुर्वेद के अन्तर्गत थे। धनुर्वेद, शिल्पवेद और गान्धर्ववेद पर बाद के समय मे बने हुए अनेक ग्रन्थ इस समय उपलब्ध होते हैं। पर अभी तक कोई ऐसी पुस्तक इन विषयों पर नही मिली है, जिसे निश्चित-रूप से प्राग्बौद्ध-काल का कहा जा सके। पर इन विद्याओ का उपवेद समझा जाना ही इस बात का स्पष्ट प्रमाण है, कि प्राचीन आर्य केवल याज्ञिक अनुष्ठान और ब्रह्मविद्या का चिन्तन ही नहीं करते थे, अपितु चिकित्सा, युद्ध-विद्या, शिल्प और संगीत आदि लौकिक विषयो का भी अनुशीलन करते थे।

अन्य विद्याएँ—वैदिक संहिताओ और उनसे सम्बद्ध विषयों के अतिरिक्त अन्य किन विद्याओ का अनुशीलन इस युग के आर्य करते थे, इस विषय में छान्दोग्य उपनिषद् का एक सन्दर्भ बहुत महत्त्व का है। इस उपनिषद् के सप्तम प्रपाठक में महर्षि सनत्कुमार और नारद का संवाद आता है, जिसमे सनत्कुमार के यह पूछने पर कि नारद ने किन-किन विषयो का अध्ययन किया है, नारद ने इस प्रकार उत्तर दिया—'हे भगवन्! मैंने ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद का अध्ययन किया है, मैंने पंचमवेद इतिहास-पुराण को पढा है, मैंने पितृविद्या, राशिविद्या (गणित), दैवविद्या, निधि-विद्या (खान सम्बन्धी विद्या), वाक्योवाक्य (तर्कशास्त्र), एकायन (नीति-शास्त्र), देव-विद्या, ब्रह्मविद्या (आत्म-शास्त्र), भूतविद्या, क्षत्र-विद्या (युद्ध-शास्त्र), नक्षत्र-विद्या (ज्योतिष) सर्प-विद्या और देवजन-विद्या को पढा है। छान्दोग्य उपनिषद् का यह सन्दर्भ इस विषय में कोई सन्देह नही रहने देता, कि महाभारत के बाद इस देश में अनेक लौकिक विद्याओं का भली-भाँति विकास हो गया था, और नारद जैसे विद्वान् इन विविध विषयो के अनुशीलन मे निरन्तर तत्पर रहते थे।

अर्थशास्त्र या दण्डनीति—अन्य अनेक लौकिक विद्याओ के समान इस युग में दण्डनीति या अर्थशास्त्र का भी भली-भाँति विकास हुआ। महाभारत का शान्तिपर्व राजधर्मशास्त्र का अत्यन्त उत्कृष्ट व विशद ग्रन्थ है। उससे इस युग की राजनीति व राजनीतिक विचारो पर बहुत सुन्दर प्रकाश पड़ता है। कौटलीय अर्थशास्त्र की रचना बौद्ध-काल के बाद मे हुई। पर उसमें अनेक प्राचीन आचार्यों का उल्लेख मिलता है, जिनकी सम्मति को बार-बार आचार्य चाणक्य ने उद्धृत किया है। इनमे से कतिपय

के नाम निम्नलिखित है—भारद्वाज, विशालाक्ष, पाराशर, पिशुन, कौणपदन्त, वातव्याधि और बाहुदन्तीपुत्र। इन आचार्यों के अतिरिक्त चाणक्य ने मानव, बार्हस्पत्य, औशनस आदि अनेक सम्प्रदायों का भी उल्लेख किया है, जिनमे दण्डनीति व राजनीतिशास्त्र-सम्बन्धी विविध विचारधाराओं का विकास हुआ था। कौटलीय अर्थशास्त्र में इनके मतो का उल्लेख कर उनपर अपनी सम्मति भी दी गयी है। यह इस बात का प्रमाण है, कि प्राग्बौद्ध-काल मे राजनीति-शास्त्र का बहुत विकास हुआ था। यदि इन आचार्यों और सम्प्रदायों के दण्डनीति-सम्बन्धी ग्रन्थ इस समय उपलब्ध होते, तो हम इस युग के राजनीतिक जीवन के सम्बन्ध में बहुत-कुछ ज्ञान प्राप्त कर सकते थे। शुक्रनीतिसार नाम से राजनीति-शास्त्र-सम्बन्धी जो ग्रन्थ इस समय मिलता है, वह औशनस सम्प्रदाय का है। शुक्र राजनीति के बहुत बडे आचार्य थे। उनकी सम्मति मे दण्डनीति ही एकमात्र ऐसी विद्या थी, जिसे 'विद्या' कहा जा सकता था। शुक्राचार्य की सम्मति में अन्य सब विद्याएँ दण्डनीति के ही अन्तर्गत हो जाती है। शुक्रनीतिसार का वर्तमान रूप चाहे बाद के समय मे बना हो, पर इसमे सन्देह नही कि उसमे शुक्राचार्य या औशनस सम्प्रदाय के परम्परागत विचार सकलित हैं।

दर्शन-शास्त्र का विकास—भारत की प्राचीन परम्परा के अनुसार छ. आस्तिक दर्शन है—साख्य, योग, न्याय, वैशेषिक, मीमासा और वेदान्त। ये छ दर्शन आस्तिक और वेदसम्मत माने जाते है। इनके अतिरिक्त कतिपय अन्य दर्शनो का विकास भी प्राचीन समय मे हुआ था, जिन्हे नास्तिक व लोकायत कहा जाता था। दर्शन-शास्त्रो द्वारा प्राचीन आर्य विद्वान् सृष्टि के मूल-तत्वो का परिचय प्राप्त करने का उद्योग करते थे। ब्राह्मण-ग्रन्थो और सूत्रों का विषय याज्ञिक कर्मकाण्ड व विधि-विधान का प्रतिपादन करना है। आरण्यको व उपनिषदो में ब्रह्म-विद्या या आध्यात्मशास्त्र का विवेचन किया गया है। पर दर्शन-ग्रन्थो मे वैज्ञानिक (दार्शनिक) पद्धति से यह जानने का यत्न किया गया है, कि इस सृष्टि के मूल-तत्व क्या है, यह किस तत्व से या किन तत्वों से और किस प्रकार निर्मित हुई, और इसका कोई स्रष्टा है या नही। इस प्रकार के विवेचन को 'दर्शन' कहा जाता था। भारत का सबसे पहला दार्शनिक शायद कपिल मुनि था, जो महाभारत-युद्ध के बाद उपनिषदो के निर्माण काल मे हुआ था। जिस प्रकार वाल्मीकि को भारत का आदि-कवि माना जाता है, वैसे ही कपिल भारत का प्रथम दार्शनिक था। उसने साख्य-दर्शन का प्रतिपादन किया। जड और चेतन—दोनो प्रकार की सत्ताओं को निश्चित सख्याओ मे विभक्त कर कपिल ने प्रकृति सम्बन्धी विवेचन के लिये एक वैज्ञानिक पद्धति का अनुसरण किया। बाद के विद्वानो ने कपिल की शैली का अनुसरण कर साख्य-दर्शन की बहुत उन्नति की। शकराचार्य के समय तक साख्य का भारतीय दर्शनो मे प्रमुख स्थान था। कपिल मुनि ने सृष्टि के निर्माण के लिये किसी कर्त्ता या स्रष्टा की आवश्यकता अनुभव नही की। प्रकृति पहले अव्यक्त रूप मे विद्यमान थी, इस दशा मे उसे 'प्रधान' कहते थे। यह प्रधान ही बाद मे 'व्यक्त' होकर प्रकृति के रूप मे आया।

कपिल के समान अन्य भी अनेक विचारक इस युग मे हुए, जिन्होने प्रकृति के मूल-तत्वों के सम्बन्ध में मौलिक विचार अभिव्यक्त किये। कणाद वैशेषिक दर्शन का

प्रवर्तक था। सृष्टि की उत्पत्ति परमाणुओं द्वारा हुई, इस मत का प्रतिपादन कणाद ने किया। न्याय-दर्शन का प्रवर्तक गौतम था, जिसने पञ्चभूत के सिद्धान्त का प्रारम्भ किया। वेदान्त के मत में सृष्टि की उत्पत्ति ब्रह्म द्वारा हुई। ब्रह्म चेतन सत्ता है, जो अपने को सृष्टि के रूप में अभिव्यक्त करती है। वेदान्त दर्शन का प्रवर्तक मुनि वेदव्यास को माना जाता है। यह निश्चित नही किया जा सका है, कि ये सब दार्शनिक मुनि किस समय में हुए थे। षड्दर्शनों के जो ग्रन्थ इस समय मे मिलते हैं, वे बाद के समय के बने हुए हैं। पर इन ग्रन्थों मे जो विचार व सिद्धान्त प्रतिपादित हैं, उन्हे विकसित होने मे बहुत समय लगा होगा। यह सहज मे माना जा सकता है, कि प्राग्-बौद्ध काल मे जब अनेक ब्रह्मवादी ऋषि उपनिषद् के विचारो का विकास कर रहे थे, तभी अन्य मुनि या विचारक लोग दार्शनिक पद्धति द्वारा सृष्टि के मूल-तत्वों के चिन्तन मे तत्पर थे। दर्शन-शास्त्र को ही 'आन्वीक्षकी' विद्या भी कहते थे। आन्वीक्षकी शब्द अन्वीक्षण से बना है, जिसका अर्थ है दर्शन। आचार्य चाणक्य के समय (मौर्य-युग) तक सांख्य, योग और लोकायत—इन तीन दार्शनिक पद्धतियो का भली-भाँति विकास हो चुका था। लोकायत का अभिप्राय चार्वाक-दर्शन से है। चार्वाक सम्प्रदाय के लोग न केवल ईश्वर को नही मानते थे, अपितु वेद में भी विश्वास नही रखते थे। प्राचीन वैदिक श्रुति का आदर भारत के सब आचार्यों मे था, पर धीरे-धीरे ऐसे विचारक भी उत्पन्न होने लगे थे, जो वेद तक के प्रामाण्य से इनकार करते थे। वस्तुतः, यह युग ज्ञान-पिपासा, स्वतन्त्र विचार और दार्शनिक चिन्तन का था।

(२) वैदिक और उत्तर-वैदिक युग

भारत के प्राचीन आर्य ऋषियों ने जिन सूक्तो (सुभाषितो) का निर्माण किया, वे वैदिक सहिताओ में संगृहीत है। अपने पूर्वज ऋषियो की इन कृतियो का आर्य-जाति की दृष्टि मे बहुत महत्व था। ये सूक्त मुख्यतया विविध देवताओ की स्तुति मे कहे गये थे। बाद मे इन वैदिक सूक्तो की व्याख्या के लिये व याज्ञिक अनुष्ठानो मे इनके विनियोग के लिये ब्राह्मण-ग्रन्थो की रचना हुई। उपनिषदो व आरण्यक ग्रन्थो में वे विचार संकलित किये गये, जो अध्यात्मचिन्तन के सम्बन्ध मे थे। सहिता, ब्राह्मण और आरण्यक—ये तीनो वैदिक साहित्य के अन्तर्गत माने जाते है, यद्यपि आर्य-जाति की दृष्टि में जो आदर मूल सहिताओ का है, वह ब्राह्मण-ग्रन्थो और आरण्यको का नही है। इसमे सन्देह नही, कि ब्राह्मण और आरण्यक वैदिक संहिताओ की अपेक्षा बाद के समय के है। वेदों का बडा भाग महाभारत-युद्ध से पहले अपने वर्तमान रूप मे आ चुका था। पर ब्राह्मणग्रन्थों, आरण्यको व उपनिषदो का निर्माण प्रधानतया महाभारत-युद्ध के बाद में हुआ। इसीलिये इतिहास मे हम वैदिक संहिताओ के युग को या महाभारत-युद्ध से पहले के काल को वैदिक युग कहते हैं, और ब्राह्मणो व उपनिषदों के काल को उत्तर-वैदिक युग। उत्तर-वैदिक युग के अन्तर्गत ही वह समय भी आ जाता है, जब कि सूत्र-ग्रन्थो तथा अन्य वेदागों का विकास हुआ। रामायण, महाभारत और पुराण (जिन्हे प्राचीन परम्परा के अनुसार 'इतिहास-पुराण' कहा जाता है) भी इसी युग के लगभग के हैं। अपने वर्तमान रूप में तो ये बौद्ध-काल के भी बाद मे आये, पर

उनमें जो अनुश्रुति संगृहीत है, उसका सम्बन्ध वैदिक और उत्तर-वैदिक काल के साथ ही है।

वैदिक संहिताओं के आधार पर प्राचीन आर्यों के जीवन, सभ्यता और संस्कृति पर हम पहले प्रकाश डाल चुके हैं। अब हम ब्राह्मण-ग्रन्थो, उपनिषदो, सूत्र-ग्रन्थों व अन्य वेदांगो के आधार पर आर्यों की सभ्यता के विकास की विवेचना करेंगे, क्योंकि इन ग्रन्थों के अनेक अंश उत्तर-वैदिक या प्राग्-बौद्ध काल मे विकसित हो चुके थे।

इस प्रसंग मे हमे यह भी स्पष्ट करना है, कि प्राचीन भारत के अनेक ग्रन्थ किसी एक व्यक्ति की कृति न होकर एक 'सम्प्रदाय' की कृति है। हमने पिछले प्रकरण में मानव, औशनस, बार्हस्पत्य आदि सम्प्रदायो का उल्लेख किया है। प्राचीन भारत में जब कोई प्रतिभाशाली मुनि व आचार्य किसी नये विचार व सिद्धान्त का प्रतिपादन करता था, तो उसकी शिक्षा वह अपने शिष्यो को देता था। मुनि द्वारा प्रतिपादित नया विचार गुरु-शिष्य-परम्परा द्वारा निरन्तर विकसित होता था, और इस प्रकार एक नये सम्प्रदाय (विचार-सम्प्रदाय) का विकास हो जाता था। बृहस्पति, उशना (शुक्र), मनु आदि इसी प्रकार के विचारक थे, जिनकी शिष्य-परम्परा मे बार्हस्पत्य, औशनस, मानव आदि सम्प्रदायों का विकास हुआ। कपिल, कणाद, गौतम आदि मुनियो की शिष्य-परम्परा ने साख्य, वैशेषिक, न्याय आदि दार्शनिक सम्प्रदायो का विकास किया। वैदिक मन्त्रों के विनियोग और याज्ञिक अनुष्ठान के भी अनेक सम्प्रदाय बने, और यह प्रक्रिया ज्ञान व चिन्तन के प्रत्येक क्षेत्र मे जारी रही। इसी का यह परिणाम हुआ, कि दर्शन, दण्डनीति, कला (श्रौत, गृह्य और धर्म) आदि विषयक जो ग्रन्थ इस समय हमे मिलते हैं, वे सम्प्रदायो की ही कृति हैं। उन सबका विकास धीरे-धीरे अपने-अपने सम्प्रदायों मे हुआ। उनका वर्तमान रूप चाहे बाद का हो, पर उनमे संकलित विचारों का प्रारम्भ उत्तर-वैदिक युग मे ही हो चुका था।

(३) धर्म और तत्त्वचिन्तन

याज्ञिक विधि-विधान—वैदिक युग मे आर्य-धर्म का क्या स्वरूप था, इसपर हम पिछले एक अध्याय मे प्रकाश डाल चुके है। वेदो के देवता प्राकृतिक शक्तियो के मूर्तरूप थे। ससार की मूलशक्ति प्रकृति के जिन विविध रूपो मे अभिव्यक्त होती है, उनमे वैदिक आर्यों ने अनेक देवताओ की कल्पना की थी। आर्य लोग इन देवताओ के रूप मे विश्व की मूलभूत अधिष्टात्री शक्ति की उपासना करते थे। इन देवताओ की पूजा और तृप्ति के लिये वे यज्ञो का अनुष्ठान करते थे। प्रारम्भ मे इन यज्ञो का रूप बहुत सरल था। यज्ञकुण्ड में अग्नि का आधान कर उसमें आहुति दी जाती थी, और इस प्रकार देवताओं को तृप्त किया जाता था। पर धीरे-धीरे इन यज्ञो का रूप जटिल होता गया। उत्तर-वैदिक काल मे यज्ञो की जटिलता अपने चरम उत्कर्ष को पहुँच गई थी। आर्य-जनता के एक भाग का यही कार्य था, कि वह यज्ञिक विधि-विधानो मे प्रवीणता प्राप्त करे और उसकी प्रत्येक विधि का सही तरीके-से अनुष्ठान करे। इन लोगो को 'ब्राह्मण' कहते थे। यज्ञ के लिये वेदी की रचना किस प्रकार की जाय, वेदी में अग्नि कैसे प्रज्वलित की जाय, किस प्रकार आहुतियाँ दी जाएँ, यज्ञ करते हुए यजमान

ऋत्विक्, अध्वर्यु आदि कहाँ और किस प्रकार बैठें, वे अपने विविध अंगों को किस प्रकार उठाएँ, किस प्रकार मन्त्रोच्चारण करें, कैसे ज्ञात हो कि अब देवता यज्ञ की आहुति का ग्रहण करने के लिये पधार गये हैं, किन पदार्थों की आहुति दी जाय—इस प्रकार के विविध विषयों का बड़े विस्तार के साथ ब्राह्मण-ग्रन्थों में विवेचन किया गया है। किस याज्ञिक विधि का क्या प्रयोजन है, यह विषय भी उनमें विशद रूप से वर्णित है। जन्म से मृत्युपर्यन्त प्रत्येक गृहस्थ को अनेक प्रकार के यज्ञ करने होते थे। मनुष्य के वैयक्तिक जीवन के साथ सम्बन्ध रखनेवाले सस्कारो का स्वरूप भी यज्ञ का था। यज्ञ-प्रधान इस प्राचीन धर्म को स्पष्ट करने के लिये यहाँ हम इन संस्कारो व यज्ञों का संक्षेप से उल्लेख करते है—

(१) गर्भाधान-संस्कार—सन्तानोत्पत्ति के लिए। (२) पुंसवन-संस्कार—पुरुष-सन्तान की प्राप्ति के लिए। (३) सीमन्तोन्नयन-सस्कार—गर्भ की रक्षा के लिए। (४) जातकर्म-संस्कार—सन्तान के उत्पन्न होने पर। (५) नामकरण-संस्कार—सन्तान का नाम रखने के लिए। (६) अन्नप्राशन-संस्कार—सन्तान को अन्न देना प्रारम्भ करने के समय। (७) चूडाकर्म-संस्कार—सन्तान के बाल काटने के समय। (८) उपनयन-संस्कार—यज्ञपवीत धारण कराने के लिए। (९) समावर्तन-संस्कार—शिक्षा की समाप्ति पर। (१०) विवाह-संस्कार—गृहस्थाश्रम में प्रवेश करने के लिए। (११) देव-यज्ञ—प्रतिदिन किया जाने वाला अग्निहोत्र। (१२) पितृयज्ञ—पितरों का श्राद्ध या गुरुजनों की सेवा। (१३) भूतयज्ञ—पशु, पक्षी, कृमि आदि को अर्पित की जाने-वाली बलि। (१४) अतिथि-यज्ञ—अतिथियो की सेवा। (१५) ब्रह्म-यज्ञ—विद्वानों व प्रतिष्ठित व्यक्तियो की सेवा। देव, पितृ, भूत, अतिथि और ब्रह्म-यत्र—ये पाँच महायज्ञ कहे गए है, जिन्हें सम्पादित करना प्रत्येक गृहस्थ का धर्म था। गृहस्थ का यह कर्त्तव्य माना जाता था, कि वह प्रतिदिन इन पाँचों यज्ञो को करे। (१६) अष्टका-यज्ञ—कार्तिक मास से माघ मास तक, चार महीनो मे कृष्णपक्ष की अष्टमी को यह यज्ञ किया जाता था। (१७) श्रावणी—श्रावण मास की पूर्णिमा को किया जाने वाला यज्ञ। (१८) आग्रहायणी—आग्रहायण मास की पूर्णिमा को किया जाने वाला यज्ञ। (१९) चैत्री—चैत्र मास की पूर्णिमा को किया जाने वाला यज्ञ। (२०) आश्वयुजी—आश्विन मास की पूर्णिमा को किया जाने वाला यज्ञ। (२१) दर्शपूर्णमास्य—पूर्णमासी और प्रतिपदा के दिन किए जाने वाले यज्ञ। (२२) चातुर्मास्य—शीत, ग्रीष्म और वर्षा—इन तीन ऋतुओ के प्रारम्भ में किए जाने वाले यज्ञ। (२३) सौत्रामणी—अश्विनी देवताओं की पूजा के लिए यज्ञ। (२४) अग्निष्टोम—सोमपान के लिए किया जाने वाला यज्ञ। (२५) व्रात्यस्तोम—आर्य-भिन्न व्रात्य आदि जातियों को आर्य-जाति मे सम्मिलित करने के लिए किया जाने वाला यज्ञ। (२६) राजसूय—नये राजा के राज्या-भिषेक से पूर्व यह यज्ञ किया जाता था। राज्य की जनता के विविध प्रतिनिधि इस अवसर पर राजा का अभिषेक करते थे। (२७) अश्वमेध—जब कोई राजा दिग्विजय करके अपनी शक्ति का विस्तार करता था, तो इस विजय-यात्रा के उपलक्ष में यह यज्ञ किया जाता था।

यज्ञो की जो तालिका हमने यहाँ दी है, वह पूर्ण नही है। यहाँ हमने केवल अधिक महत्त्व के संस्कारो और यज्ञो का उल्लेख किया है। इनके अतिरिक्त अन्य भी अनेक यज्ञ थे, जिनका प्राचीन भारत में अनुष्ठान किया जाता था। इन सब यज्ञों की विस्तृत विधि ब्राह्मण-ग्रन्थों और कल्प ग्रन्थो (श्रौत और गृह्यसूत्रो) में वर्णित है। प्राचीनतम काल मे इन यज्ञो मे पशुओं की बलि दी जाती थी या नही, इस विषय पर मतभेद है। पर उत्तर-वैदिक काल मे अजा, अश्व आदि की पशु-बलि प्रारम्भ हो गई थी, यह बात निश्चय के साथ कही जा सकती है। उत्तर-वैदिक युग के आर्य यह भी मानने लगे थे, कि यज्ञो के विधिपूर्वक अनुष्ठान से मनुष्य यथाभिलषित फल प्राप्त कर सकता है, और सुख, समृद्धि, तथा स्वर्ग की प्राप्ति के लिए ये अनुष्ठान ही एकमात्र उपाय हैं।

तत्त्वचिन्तन की लहर—पर इस युग के आर्य केवल याज्ञिक अनुष्ठानों मे ही व्यापृत नही थे, उनका ध्यान ब्रह्मविद्या तथा तत्त्वचिन्तन की ओर भी गया था। यज्ञो से इहलोक और परलोक दोनों में सुख प्राप्त होता है, यह मानते हुए भी वे इस प्रकार के विषयों के चिन्तन मे तत्पर थे, कि मनुष्य क्या है? जिसे हम आत्मा कहते हैं, उसका क्या स्वरूप है? शरीर और आत्मा भिन्न हैं या एक ही हैं? मरने के बाद मनुष्य कहाँ जाता है? इस सृष्टि का कर्त्ता कौन है? इसका नियमन किस शक्ति द्वारा होता है? इसी प्रकार के प्रश्नो की जिज्ञासा थी, जो अनेक मनुष्यो को इस बात के लिए प्रेरित करती थी, कि वे गृहस्थ-जीवन से विरत होकर या सासारिक सुख-समृद्धि की उपेक्षा कर एकनिष्ठ हो तत्त्व-ज्ञान को प्राप्त करे। उस युग के ग्रामों और नगरो के बाहर जंगल के प्रदेशो मे अनेक विचारको ने अपने आश्रम बनाए थे, जहाँ ब्रह्मविद्या या तत्त्वज्ञान की प्राप्ति के लिए आतुर हुए लोग एकत्र होते थे, और तप व स्वाध्याय द्वारा ज्ञान की अपनी प्यास को बुझाते थे। इस युग मे अनेक राजा भी ऐसे हुए, जो इस प्रकार के विचारों में तत्पर थे। विदेह के जनक, केकय के अश्वपति, काशी के अजातशत्रु और पचालदेश के प्रवाहण जाबालि का उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। ये सब राजा न केवल स्वय तत्त्वचिन्तक थे, अपितु इसी प्रकार का चिन्तन करने वाले मुनियो व विचारकों के आश्रयदाता भी थे। उनकी राजसभा मे भारत के विभिन्न प्रदेशो से मुनि एकत्र होते थे, और अध्यात्मविषयक प्रश्नो पर विचार करते थे। राजा भी इस विचार विमर्श मे हिस्सा लेते थे, और विविध विचारकों मे जिसका पक्ष प्रबल होता था, उसकी धन आदि से पूजा भी करते थे।

बृहदारण्यक उपनिषद् मे कथा आती है, कि जनक वैदेह ने एक बडे यज्ञ का आयोजन किया, जिसमे कुरु और पचाल देशों के ब्राह्मण लोग एकत्र हुए। जनक ने निश्चित किया, कि जो ब्राह्मण सबसे अधिक विद्वान् होगा, उसे हजार गौवे दी जायेंगी, और इन गौओ के सीगो के साथ दस-दस स्वर्ण-मुद्राएँ बधी होगी। इस पर ब्राह्मणों में परस्पर विवाद होने लगा। अन्त मे याज्ञवल्क्य की विजय हुई। उसने अन्य सब ब्राह्मणों को शास्त्रार्थ मे परास्त किया, और हजार गौओ को विजयोपहार के रूप मे प्राप्त किया। याज्ञवल्क्य के साथ इस शास्त्रार्थ का विषय अध्यात्म-सम्बन्धी था, और उससे परास्त होने वाले विद्वानो मे केवल कुरु-पचाल के ही ब्राह्मण नही थे, अपितु मद्रदेश

और शाकल नगरी के विद्वान् भी थे। इसी प्रकार की कथाएँ इस युग के अन्य राजाओं के सम्बन्ध में भी उपनिषदों में पायी जाती हैं।

याज्ञिक कर्मकाण्ड की जटिलता से आरण्यक आश्रमों में चिन्तन करने वाले ये विद्वान् सहमत नहीं थे। वे अनुभव करते थे, कि यज्ञो द्वारा मनुष्य यथेष्ट फल नहीं प्राप्त कर सकता। इसीलिये उनका कथन था कि यज्ञरूपी ये नौकाएँ अदृढ हैं, ससार-सागर से तरने के लिए इनपर भरोसा नही किया जा सकता। यज्ञ के स्थान पर इन विचारकों ने तप, स्वाध्याय और सदाचरण पर जोर दिया। ये कहते थे, कि मानव-जीवन की उन्नति और परमपद की प्राप्ति के लिए यह आवश्यक है, कि मनुष्य अपनी इन्द्रियो को वश में करे, वाणी और मन पर नियन्त्रण रखे, तप और ब्रह्मचर्य का सेवन करे, दृढ सकल्प हो कर आत्मा और ब्रह्म का ज्ञान प्राप्त करे और ईश्वर मे ध्यान लगाए। शरीर से भिन्न जो आत्मा हैं, जिसके कारण शरीर को शक्ति प्राप्त होती है, उसको जानने और उसपर ध्यान देने से ही मनुष्य उन्नति के मार्ग पर अग्रसर हो सकता है, यह इन तत्त्वचिन्तकों का उपदेश था। इनका कथन था, यह आत्मा बलहीन मनुष्य को नही मिल सकती, तप के अभाव मे प्रमादी मनुष्य इसे कदापि प्राप्त नही कर सकता।

इन्ही विचारो से प्रेरित होकर इस युग के अनेक मनुष्यो की प्रवृत्ति यज्ञों से विमुख हो गई, और भारत मे तत्त्वचिन्तन की उस लहर का प्रारम्भ हुआ, जिसने इस देश मे बहुत से मुनि, योगी व तपस्वी उत्पन्न किए। ये लोग सासारिक सुखों को हेय समझते थे, सन्तान, धन और यश की अभिलाषा से ऊपर उठते थे, और ज्ञान की प्राप्ति को ही अपना ध्येय मानते थे। इनके चिन्तन के कारण भारत मे जो नया ज्ञान विकसित हुआ, वही उपनिषदो और दर्शन-ग्रन्थों मे सगृहीत है। निःसन्देह, ये अपने विषय के अत्यन्त उत्कृष्ट और गम्भीर ग्रन्थ है।

भागवत धर्म—यज्ञो के जटिल कर्मकाण्ड के विरुद्ध जो प्रतिक्रिया तत्त्वचिन्तक मुनियो द्वारा शुरू हुई थी, उसका एक महत्त्वपूर्ण परिणाम भागवत धर्म का प्रारम्भ होना था। बौद्ध-युग के बाद यह धर्म भारत का सबसे प्रमुख धर्म बन गया और गुप्त-सम्राटों के समय मे इस धर्म ने न केवल भारत मे अपितु भारत से बाहर भी बहुत उन्नति की। पर इस धर्म का प्रारम्भ महाभारत-युद्ध के समय मे व उससे कुछ पूर्व ही हो गया था। एक प्राचीन अनुश्रुति के अनुसार राजा वसु चैद्योपरिचर के समय मे याज्ञिक अनुष्ठानों के सम्बन्ध मे एक भारी विवाद उठ खडा हुआ था। कुछ ऋषि यज्ञो मे पशुओ की बलि देने के विरुद्ध थे, और कुछ पुरानी परम्परा का अनुसरण करना चाहते थे। राजा वसु ने अपने यज्ञो मे पशुबलि देने के विरुद्ध परिपाटी का अनुसरण किया, और स्वयं हरि (भगवान्) उससे सतुष्ट हुए। यद्यपि पुरानी प्रथा के अनुयायी अनेक ऋषि इस बात से वसु से बहुत नाराज थे, पर क्योंकि वसु भगवान् का सच्चा भक्त था, अतः भगवान् ने उसे अपनाया और उसके समय से भगवत्-पूजा की एक नई पद्धति का प्रारम्भ हुआ। वसु के बाद सात्वत लोग इस नई पद्धति के अनुयायी हुए। सात्वत लोग यादव वंश की एक शाखा थे, और मथुरा के समीपवर्ती प्रदेश मे आबाद थे। मथुरा के क्षेत्र के अन्धक-वृष्णि गणो के निवासी लोग सात्वत ही थे। सात्वत लोगों का यह

विश्वास था, कि हरि सब देवों का देव है, और अन्य सब देवता उसकी विविध शक्तियों के प्रतीकमात्र हैं। इस देवों के देव हरि की पूजा के लिए न याज्ञिक कर्मकाण्ड का उपयोग है, और न ही जंगल में बैठकर तपस्या करने का। इसकी पूजा का सर्वोत्तम उपाय भक्ति है, और हरि की भक्ति के साथ-साथ अपने कर्त्तव्यों को कुशलता के साथ करते रहने में ही मनुष्य का कल्याण है। सात्वत लोग यज्ञों के विरोधी नहीं थे, और न ही वे तपस्या को निरुपयोगी ही समझते थे। पर उनका विचार था, कि ये सब बातें उतने महत्त्व की नहीं हैं, जितना कि हरिभक्ति और कर्त्तव्यपालन। सात्वत यादवों में वासुदेव कृष्ण, कृष्ण के भाई संकर्षण और संकर्षण के वशज प्रद्युम्न और अनिरुद्ध ने इस नए विचार को अपनाया और सात्वत लोगो मे इस विचार का विशेषरूप से प्रचार हुआ। वासुदेव कृष्ण और उनके अनुयायी सात्वत योग यज्ञो में पशुहिंसा के विरोधी थे और भगवान् की भक्ति व निष्काम-कर्म के सिद्धान्त पर बहुत जोर देते थे। वसु चैद्यो-परिचर के समय मे जिस नई विचारधारा का सूत्र-रूप मे प्रारम्भ हुआ था, वासुदेव कृष्ण द्वारा वह बहुत विकसित की गई। इसी को भागवत व एकान्तिक धर्म कहते हैं। इसके प्रधान प्रवर्त्तक वासुदेव कृष्ण ही थे, जो वृष्णि (सात्वत) संघ के 'मुख्य' थे, और जिनकी सहायता से पाण्डवो ने मगधराज जरासन्ध को परास्त किया था। कृष्ण न केवल उत्कृष्ट राजनीतिज्ञ थे, अपितु भागवत सम्प्रदाय के महान् आचार्य भी थे। कुरुक्षेत्र के मैदान में अर्जुन को आत्मा की अमरता और निष्काम-कर्म का जो उपदेश उन्होंने दिया था, भगवद्गीता में उसी का विशदरूप से वर्णन है। गीता भागवत-धर्म का प्रधान ग्रन्थ है। इसे उपनिषदों का सार कहा जाता है। प्राचीन मुनियो और विचारको द्वारा भारत मे तत्त्वचिन्तन की जो लहर चली थी, उसके कारण यज्ञप्रधान वैदिक धर्म में बहुत परिवर्तन हो गया था। उपनिषदों के तत्त्व-चिन्तन के परिणाम-स्वरूप जिस भागवत-धर्म का प्रादुर्भाव हुआ, उसमें याज्ञिक अनुष्ठानों का विरोध नहीं किया गया था। यज्ञो की उपयोगिता को स्वीकार करते हुए उसमें एक सर्वोपरि शक्ति की सत्ता, आत्मा की अमरता, कर्म-योग की उत्कृष्टता और हरिभक्ति की महिमा का प्रतिपादन किया गया था। पुराने भारतीय धर्म मे सुधार करने के लिए बौद्ध और जैन आदि जो नये धर्म बाद मे विकसित हुए, वे वैदिक श्रुति में विश्वास नही करते थे। प्राचीन वैदिक धर्म के साथ अनेक अंशों मे उनका विरोध था। पर वासुदेव कृष्ण के भागवत-धर्म का उद्देश्य वैदिक मर्यादा, प्राचीन परम्परा और याज्ञिक अनुष्ठानों को कायम रखते हुए धर्म के एक ऐसे स्वरूप का प्रतिपादन करना था, जो नये चिन्तन के अनुकूल था। बौद्ध-युग के बाद इस धर्म का जिस ढंग से उत्कर्ष हुआ, उसपर हम आगे चलकर विचार करेंगे।

(४) शासन-विधि

जनपदों का विकास—वैदिक युग के आर्य-राज्यों का स्वरूप 'जानराज्य' का था, क्योंकि उनका आधार 'जन' होता था। एक जन के सब व्यक्ति प्रायः 'सजात' होते थे। कुरु, पंचाल, शिवि, मद्र, केकय, गान्धार आदि जो राज्य वैदिक युग में विद्यमान थे, वे सब जानराज्य ही थे। जिस स्थान या प्रदेश पर यह जन बसा होता था, उसे

जनपद व राष्ट्र करते थे। धीरे-धीरे इन जनपदों में अन्य लोग (जो सजात नहीं थे) भी बसने शुरू हुए, और वे सब उसके अंग या प्रजा बन गए। इन जनपदों में किसी कबीले या जन के प्रति भक्ति की अपेक्षा उस प्रदेश के प्रति भक्ति अधिक महत्त्व की बात हो गई। विविध जनपदों के परस्पर संघर्ष के कारण महाजनपदो का विकास शुरू हुआ। काशी, कोशल, मगध आदि जो जनपद या राज्य बौद्ध-काल में थे, उत्तर-वैदिक काल के साहित्य में उन्हें महाजनपद कहा गया है।

शासन के भेद—इन सब जनपदों के शासन का प्रकार एक-सा नही था। कुछ राज्यों में राजतन्त्र शासन था, तो कुछ मे गणतन्त्र। ऐतरेय ब्राह्मण की अष्टम पंजिका मे एक सन्दर्भ आता है, जिसमें उस युग के विविध शासन-प्रकारों का परिगणन किया गया है। इस सन्दर्भ के अनुसार प्राची दिशा (मगध, कलिंग, वंग आदि) के जो राजा हैं, उनका 'साम्राज्य' के लिए अभिषेक होता है, और वे सम्राट् कहाते है। दक्षिण दिशा मे जो सात्वत (यादव) राज्य हैं, वहाँ का शासन 'भोज्य' हैं, और उनके शासक भोज कहे जाते हैं। प्रतीची दिशा (सुराष्ट्र, कच्छ, सौवीर आदि) का शासन-प्रकार 'स्वाराज्य' है, और उसके शासक 'स्वराट्' कहाते है। उत्तर-दिशा में हिमालय के क्षेत्र में (उत्तर-कुरु, उत्तर-मद्र आदि जनपद) जो राज्य हैं, वहाँ 'वैराज्य' प्रणाली हैं, और वहाँ के शासक 'विराट्' कहाते है। मध्यदेश (कुरु, पंचाल, कोशल आदि) के राज्यों के शासक 'राजा' कहे जाते है। इस प्रकार ऐतरेय ब्राह्मण में साम्राज्य, भोज्य, स्वाराज्य, वैराज्य और राज्य—इन पाँच प्रकार की शासन विविधों का उल्लेख है। ये प्रणालियाँ किस किस क्षेत्र मे प्रचलित थी, इसका निर्देश भी ऐतरेय ब्राह्मण मे कर दिया गया है। सम्राट् वे शासक थे, जो वंशक्रमानुगत होते हुए अपनी शक्ति के विस्तार के लिए अन्य राज्यों का मूलोच्छेद करने के लिए तत्पर रहते थे। जरासन्ध आदि मगध के सम्राट् इसी प्रकार के थे। सम्भवतः, भोज उन राजाओं की संज्ञा थी, जो वंशक्रमानुगत न होकर कुछ निश्चित समय के लिए अपने पद पर नियुक्त होते थे। सात्वत यादवों (अन्धक, वृष्णि आदि) में यह प्रथा विद्यमान थी, और हम यह जानते हैं कि वासुदेव कृष्ण इसी प्रकार के भोज, या 'संघ-मुख्य' थे। स्वराट् वे शासक थे, जिनकी स्थिति 'समानों में ज्येष्ठ' की होती थी। इन स्वाराज्यो में कतिपय कुलीन श्रेणियो का शासन होता था, और सब कुलों की स्थिति एक समान मानी जाती थी। समानों मे ज्येष्ठ व्यक्ति को ही स्वराट् नियत किया जाता था। सम्भवतः, वैराज्य जनपद वे थे, जिनमें कोई राजा नही होता था, जहाँ जनता अपना शासन स्वयं करती थी। कुरु, पंचाल आदि मध्यदेश के जनपद 'राज्य' कहाते थे, और वहाँ प्राचीन काल की परम्परागत शासन-प्रणाली विद्यमान थी।

राजा का राज्याभिषेक—ब्राह्मण-ग्रन्थों मे राजा की राज्याभिषेक-विधि का विशदरूप से वर्णन किया गया है, और इस वर्णन से उस युग के राजाओं तथा शासन-प्रकार पर अच्छा प्रकाश पड़ता है। जब किसी व्यक्ति को राजा के पद पर अधिष्ठित करना होता था, तो राजसूय-यज्ञ का अनुष्ठान किया जाता था। राजसूय-यज्ञ के बिना कोई व्यक्ति राजा नहीं बन सकता था। राजसूय से पूर्व राजा के पद पर अधिष्ठित होने वाला व्यक्ति 'रत्नियों' को हवि प्रदान करता था वा उनकी पूजा करता था।

वैदिक युग मे कतिपय लोग 'राजकृतः' (राजा को बनाने वाले) होते थे, जो उसे राजचिह्न के रूप मे 'मणि' (रत्न) प्रदान किया करते थे। इस युग में राजकृत. का स्थान रत्नियों ने ले लिया था। ये रत्नी निम्नलिखित होते थे—(१) सेनानी, (२) पुरोहित, (३) राजन्य या स्वयं राजा, (४) राजमहिषी, (५) सूत, (६) ग्रामणी, (७) क्षत्ता, (८) संगृहीता, (९) भागदुघ्, (१०) अक्षवाप, (११) गोविकर्त्ता और (१२) पालागल। इन बारह रत्नियों में से कतिपय नामो को स्पष्ट करने की आवश्यकता है। सूत राज्य-विषयक इतिवृत्त का संकलन करते थे। प्रत्येक ग्राम का एक ग्रामणी होता था, यह पहले लिख चुके हैं। बारह रत्नियो में जो ग्रामणी था, वह या तो राज्य के अन्तर्गत विविध ग्रामो के ग्रामणियो का प्रमुख था और या राज्य के मुख्य ग्राम (पुर या नगर) का ग्रामणी। राजकीय कुटुम्ब के प्रबन्धकर्त्ता को क्षत्ता कहते थे। राज्यकोष के नियन्ता की संगृहीता संज्ञा की। राज्य-कर को वसूल करने वाले प्रधान अधिकारी को भागदुघ् कहा जाता था। आय-व्यय का हिसाब रखनेवाले प्रधान अधिकारी को अक्षवाप कहते थे। जंगल-विभाग का प्रधान गोविकर्त्ता कहाता था। पालागल का कार्य राजकीय सन्देशो को पहुँचाना होता था। मैत्रायणी संहिता मे पालागल के स्थान पर तक्षा व रथकार का अन्यतम रत्नी के रूप मे उल्लेख किया गया है। इसमे सन्देह नही, कि ब्राह्मण-युग के ये बारहो रत्नी राज्य की जनता के प्रधान व्यक्ति होते थे, और राज्याभिषेक से पूर्व राजा इन सबको हवि प्रदान करके उनके प्रति प्रतिष्ठा की भावना को प्रदर्शित करता था। क्योकि राजा स्वय भी राज्य का एक महत्त्वपूर्ण अग था, अत. उसे भी रत्नियों के अन्तर्गत किया गया है।

रत्नियों द्वारा हवि प्रदान करने के अनन्तर राजसूय-यज्ञ के जो विविध अनुष्ठान होते थे, उनका यहाँ विवरण देने की आवश्यकता नही। पर दो बातो का उल्लेख करना आवश्यक है—(१) राजा को एक प्रतिज्ञा करनी होती थी, एक शपथ लेनी होती थी, जिसमे वह कहता था कि यदि मै प्रजा के साथ किसी भी तरह से द्रोह करूँ, उस पर अत्याचार करूँ, तो मेरा वह सब इष्टापूर्त (शुभ कर्म) नष्ट हो जाए, जो मैं जन्म से मृत्यु पर्यन्त करता हूँ। राजा के लिए यह आवश्यक था, कि वह 'धृत-व्रत' और 'सत्यधर्मा' हो, अभिषेक के समय की हुई प्रतिज्ञा का उल्लघन न करे। (२) प्रतिज्ञा के बाद राजा की पीठ पर दण्ड से हलका-हलका आघात किया जाता था, जिसका प्रयोजन यह था कि राजा अपने को दण्ड (व्यवस्था या कानून) से ऊपर न समझे, और उसे यह मालूम रहे कि वह जहाँ दूसरो को दण्ड दे सकता है, वहाँ उसे भी दण्ड दिया जा सकता है।

कल्प-वेदाग के अन्तर्गत धर्मसूत्रो से भी इस युग के राजा और कानून आदि के सम्बन्ध मे अनेक महत्त्वपूर्ण बातें ज्ञात होती है। राजा का एक मुख्य कर्त्तव्य यह था, कि वह अपराधियो को दण्ड दे। आपस्तम्ब-धर्मसूत्र मे लिखा है, कि 'यदि राजा एक दण्डनीय अपराध के लिए दण्ड नही देता, तो उसे भी अपराधी समझना चाहिए।' गौतम-धर्मसूत्र के अनुसार जो राजा न्यायपूर्वक दण्ड देकर अपने कर्त्तव्य का पालन नही करता, उसे प्रायश्चित्त करना चाहिये। बौधायन-सूत्र के अनुसार 'यदि राजा चोर को दण्ड नहीं देता, तो चोरी का पाप राजा को लगता है।' सूत्र-ग्रन्थों के अनुसार व्यवहार या कानून का स्रोत राजा नही है, राजा अपनी इच्छा के अनुसार कानून नही बनाता।

वेद, पुराण आदि में जो नियम प्रतिपादित हैं, विविध जनपदों के जो परम्परागत चरित्र हैं, कृषकों, शिल्पियों, व्यापारियों आदि के जो व्यवहार हैं, वे ही कानून के आधार हैं। राजा को उन्हीं के अनुसार शासन करना चाहिए, और उन्हीं का पालन कराना राजा का कर्त्तव्य है। कानून का उल्लंघन करने वालों को दण्ड देने के लिए न्यायाधीशों की नियुक्ति की जाती थी। आपस्तम्ब-धर्मसूत्र के अनुसार "पूर्ण विद्वान्, पवित्र-कुलोत्पन्न, वृद्ध, तर्क में निपुण और अपने कर्त्तव्यों के पालन में सावधान व्यक्ति को ही अभियोगों के निर्णय के लिए न्यायाधीश बनाना चाहिए।" कानून सब लोगों के लिए एक समान था, पर दण्ड देते हुए अपराधी की स्थिति को दृष्टि में रखा जाता था। गौतम-धर्मसूत्र के अनुसार यदि कोई शूद्र किसी वस्तु को चुरा ले, तो उसे उस वस्तु का आठ गुना मूल्य दण्ड के रूप मे देना होगा। पर यदि कोई ब्राह्मण, क्षत्रिय व वैश्य कोई वस्तु चुराये, तो उसे उस वस्तु का सोलहगुना मूल्य दण्ड के रूप मे देना होगा। यदि कोई महाविद्वान् चोरी करे, तो उससे और भी अधिक जुरमाना वसूल किया जाना चाहिए। अन्य प्रकार के अपराधो के लिए भी दण्ड-व्यवस्था का विशद वर्णन धर्मसूत्रों मे किया गया है, पर यहाँ उसका उल्लेख कर सकना सम्भव नही है।

उत्तर-वैदिक काल के शासन-कार्य मे राजा को परामर्श देने के लिए और राजकीय कानूनो के निर्माण के लिए किसी राजसभा की सत्ता थी या नही, इस सम्बन्ध में कोई निश्चित निर्देश उपलब्ध नहीं होते। पर ऐसा प्रतीत होता है, कि वैदिक युग की सभा और समिति नामक सस्थाएँ किसी अन्य रूप मे इस समय भी विद्यमान थी। वाशिष्ठ-धर्मसूत्रो के अनुसार राजा को जहाँ मन्त्रियो के साथ परामर्श करना चाहिए, वहाँ साथ ही नागरो की भी सम्मति लेनी चाहिए। रामायण में पौर-जानपद नामक जिन सस्थाओं का उल्लेख है, उनमे से पौरसंस्था को ही शायद वाशिष्ठ-धर्मसूत्र मे नागर कहा गया है।

(५) वर्णाश्रम व्यवस्था

वर्णभेद—वैदिक युग के आर्यों मे वर्णभेद का विकास नही हुआ था, यह हम पहले प्रदर्शित कर चुके है। पर प्राग्-बौद्धकाल मे ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र का भेद पर्याप्त स्पष्टरूप से विकसित हो गया था। वैदिक युग के रथेष्ठ (रथी) और राजन्य (राजपरिवार के व्यक्ति) लोगो से मिलकर क्षत्रिय वर्ग का निर्माण हुआ। यह स्वाभाविक था, कि सर्वसाधारण विश: से इसे अधिक ऊँचा माना जाय। यज्ञो के विधि-विधान जब अधिक जटिल हो गये, तो एक ऐसी पृथक् श्रेणी का विकास हुआ, जो इन अनुष्ठानों मे विशेष निपुणता रखती थी। ऋत्विग्, अध्वर्यु, ब्रह्मा आदि के रूप मे याज्ञिक विधियो के विशेषज्ञ जनता मे अधिक ऊँचा स्थान स्थान प्राप्त करने लगे। अरण्यों व आश्रमों मे निवास करने वाले ब्रह्मवादियों और तत्त्वचिन्तकों को भी इसी विशिष्ट वर्ग मे गिना जाने लगा, और इस प्रकार याज्ञिको और मुनियो द्वारा एक नये वर्ग का प्रादुर्भाव हुआ, जिसे ब्राह्मण कहा जाता था। ब्राह्मण और क्षत्रियों के अतिरिक्त जो सर्वसाधारण आर्य जनता थी, उसे पहले की तरह ही विश: या वैश्य कहा जाता था। इसमे सब प्रकार के शिल्पी, पशुपालक, वणिक्, कृषक् आदि सम्मिलित थे। शूद्र वर्ण आर्यविश:

से वैदिक युग मे भी पृथक् था। इस प्रकार अब ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र—ये चारो वर्ण आर्य जनता मे विकसित हो गये थे। जो लोग अध्ययन-अध्यापन, याज्ञिक अनुष्ठान व तत्त्वचिन्तन मे लगे रहते थे, वे ब्राह्मण कहाते थे। बाह्य और आभ्यन्तर शत्रुओं से देश की रक्षा करना और शासन-कार्य मे हाथ बटाना क्षत्रियो का कार्य था। सर्वसाधारण जनता वैश्य कहाती थी। समाज मे जो सबसे निम्न वर्ग था, और जो अन्य वर्णों की सेवा द्वारा अपना निर्वाह करता था, उसे शूद्र कहते थे। विद्या की प्राप्ति ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य वर्ण के लोग ही करते थे, इसीलिए उन्हें 'द्विज' भी कहते थे। विद्या द्वारा मनुष्य दूसरा जन्म प्राप्त करता है, यह विचार उस काल मे विद्यमान था। विद्यारम्भ के समय पर द्विज लोग यज्ञोपवीत धारण करते थे, और यह सूत्र उनके द्विजत्व का चिह्न होता था।

पर यहाँ यह ध्यान मे रखना चाहिए, कि अभी वर्णभेद बहुत दृढ नही हुआ था। वर्णभेद का मुख्य आधार जन्म न होकर कर्म था। सारी आर्य जनता एक है, यह भावना अभी विद्यमान थी। याज्ञिक अनुष्ठान व सैनिक वृत्ति आदि की विशिष्टता के कारण ही ब्राह्मण और क्षत्रिय लोग अन्य आर्यविशः की अपेक्षा अधिक ऊँची स्थिति रखते थे। पर अभी यह दशा नही आई थी, कि ब्राह्मण और क्षत्रिय-कुल मे उत्पन्न हुए बिना कोई व्यक्ति इन वर्णों मे न जा सके। आपस्तम्ब-धर्मसूत्र के अनुसार "धर्माचरण द्वारा निकृष्ट वर्ण का व्यक्ति अपने से उत्तम वर्ण को प्राप्त करता है, और अधर्म का आचरण करने से उत्कृष्ट वर्ण का व्यक्ति अपने से निचले वर्ण मे चला जाता है।" आपस्तम्ब की यह उक्ति उस युग की वास्तविक स्थिति को सूचित करती है। राजा शन्तनु के भाई देवापि ने याज्ञिक अनुष्ठान में दक्षता प्राप्त करके ब्राह्मण-पद प्राप्त किया था, और राजन्य शन्तनु के यज्ञ कराए थे। इसी प्रकार के कितने ही उदाहरण प्राचीन अनुश्रुति मे प्राप्त होते हैं। विविध वर्णों मे विवाह-सम्बन्ध भी सम्भव था। महर्षि च्यवन ने राजन्य शर्याति की कन्या के साथ विवाह किया था। अनुलोम-विवाहो (अपने से निचले वर्ण की कन्या के साथ विवाह) की प्रथा भी प्रचलित थी। शूद्र कन्याओ को अनेक सम्पन्न पुरुष 'रामा' (रमणार्थ) के रूप मे भी अपने घरो में रखते थे। शूद्र वर्ण आर्यविशः से पृथक् था, पर फिर भी यदि कोई शूद्र विशिष्ट रूप से धार्मिक, विद्वान् व दक्ष हो, तो समाज मे उसका आदर होता था। ऐतरेय ब्राह्मण मे कथा आती है, कि ऋषि लोग सरस्वती नदी के तट पर यज्ञ कर रहे थे, उस समय ऐलूष कवष नाम का व्यक्ति उनके बीच मे आ बैठा। तब ऋषियो ने कहा, यह दासी का पुत्र अब्राह्मण है, हमारे बीच मे कैसे बैठ सकता है। बाद मे ऋषियो ने कहा, यह तो परम विद्वान् है, देवता लोग भी इसे जानते और मानते हैं।

चार आश्रम—प्राचीन आर्यों के सामाजिक जीवन मे आश्रमो का बहुत महत्त्व था। ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास—ये चार आश्रम थे। इन आश्रमो की कल्पना का आधार यह विचार था, कि प्रत्येक मनुष्य देवताओ, ऋषियो, पितरो और अन्य मनुष्यो के प्रति ऋणी होता है। सूर्य, वरुण, अग्नि आदि देवताओ का मनुष्य ऋणी होता है, क्योकि इन्ही की कृपा से वह प्रकाश, जल, उष्णता आदि प्राप्त करता है। इनके बिना वह अपना जीवन-निर्वाह नहीं कर सकता। अतः मनुष्य का कर्त्तव्य है, कि

वह देवताओं की पूजा करे, यज्ञ आदि द्वारा उनके ऋण को अदा करे। अपने साथ के अन्य मनुष्यो के ऋण को अदा करने के लिए अतिथि-यज्ञ का विधान था। ऋषियों के प्रति मनुष्य का जो ऋण है, उसे चुकाने का यही उपाय था, कि मनुष्य उस ज्ञान को कायम रखे और उसमे वृद्धि करे, जो उसे पूर्वकाल के ऋषियों की कृपा से प्राप्त हुआ था। इसके लिए मनुष्य को ब्रह्मचर्य-आश्रम मे रहकर ज्ञान उपार्जन करना चाहिए, और बाद मे वानप्रस्थ-आश्रम मे प्रवेश करके अपने ज्ञान को ब्रह्मचारियों व अन्तेवासियो को प्रदान करना चाहिए। अपने माता-पिता (पितर) के प्रति मनुष्य का जो ऋण है, उसे गृहस्थाश्रम मे प्रवेश करके ही अदा किया जा सकता है। गृहस्थ-धर्म से सन्तानोत्पत्ति करके अपने पितरो के वंश को जारी रखना, वंशतन्तु का उच्छेद न होने देना प्रत्येक मनुष्य का कर्त्तव्य माना जाता था। संन्यास-आश्रम मे प्रवेश करके मनुष्य अपने साथी मनुष्यो का उपकार करने मे ही अपने सारे समय को व्यतीत करता था, और इस प्रकार वह मनुष्य-ऋण को भी अदा करता था। पर हर कोई मनुष्य सन्यासी नही हो सकता था। जो व्यक्ति विशेष रूप से ज्ञानवान् हो, सब प्राणियों में आत्मभावना रखने की सामर्थ्य जिसमें हो, वही संन्यासी बनकर भैक्षचर्या (भिक्षा-वृत्ति) द्वारा जीवन निर्वाह करने का अधिकारी था। सन्यासी किसी एक स्थान पर स्थिर होकर निवास नही कर सकता था। उसका कर्त्तव्य था, कि वह सर्वत्र भ्रमण करता हुआ लोगो का उपकार करे। इसीलिए उसे 'परिव्राजक' भी कहते थे। वानप्रस्थ लोग शहर या ग्राम से बाहर आश्रम बनाकर रहते थे, और वहाँ ब्रह्मचारियों को विद्यादान करते थे। ब्रह्मचारी अपने घर से अलग होकर वानप्रस्थी गुरुओं के आश्रमो मे निवास करते थे, और गुरुसेवा करते हुए ज्ञान का उपार्जन करते थे। गृहस्थाश्रम को बहुत ऊँची दृष्टि से देखा जाता था। वशिष्ठ-सूत्र मे लिखा हैं, कि जिस प्रकार सब बड़ी और छोटी नदियाँ समुद्र मे जाकर विश्राम पाती हैं, उसी प्रकार सब आश्रमो के मनुष्य गृहस्थ पर ही आश्रित रहते है। जैसे बच्चे अपनी माता की रक्षा मे ही रक्षित रहते हैं, वैसे ही सब भिक्षुक व सन्यासी गृहस्थो की ही रक्षा मे रहते है। गृहस्थ-आश्रम को नीचा समझने और सन्यास व भिक्षुधर्म को उत्कृष्ट समझने की जो प्रवृत्ति बौद्धयुग मे विद्यमान थी, वह इस प्राचीन युग मे नही पाई जाती। बड़े-बड़े ऋषि, मुनि और याज्ञिक अपने तत्त्वचिन्तन व याज्ञिक अनुष्ठानो के लिए गृहस्थ-धर्म से विमुख होने की आवश्यकता इस युग मे नहीं समझते थे।

स्त्रियों की स्थिति—उत्तर-वैदिक काल मे स्त्रियाँ भी पुरुषो के समान ब्रह्मचर्य-व्रत का पालन कर विद्याध्ययन करती थी। 'ब्रह्मचर्येण कन्या युवानं विन्दते पतिम्' इस प्राचीन श्रुति से इस बात में कोई सन्देह नही रह जाता, कि युवा पति को प्राप्त करने के लिए कन्याएँ भी ब्रह्मचर्यपूर्वक जीवन बिताती थी, और इस समय का उपयोग ज्ञानोपार्जन के लिए करती थी। गोभिल-गृह्यसूत्र के अनुसार जब कोई कुमारी विवाह के लिए मण्डप मे आती थी, तो वह न केवल वस्त्रों से भली-भाँति आच्छादित होती थी, पर साथ ही यज्ञोपवीत को भी धारण किये होती थी। यज्ञोपवीत विद्याध्ययन का चिह्न था। स्त्रियाँ भी शिक्षा प्राप्त करती थी, इसी का यह परिणाम था, कि अनेक स्त्रियाँ परम विदुषी बन सकी थी, और उनके ज्ञान व विद्या की उत्कृष्टता का

परिचय हमे उपनिषदो द्वारा होता है। वैदेह जनक की राजसभा मे 'ब्रह्मवादिनी' स्त्रियों का भी एक दल था, जिसमे प्रमुख गार्गी थी। जनक की राजसभा में गार्गी ने याज्ञवल्क्य के साथ शास्त्रार्थ किया था। ऐतरेय ब्राह्मण मे कुमारी गन्धर्वगृहीता का उल्लेख आता है, जो परम विदुषी और वक्तृता में अत्यन्त चतुर थी। पर इसमे सन्देह नही, कि कतिपय अपवादो को छोड़ सर्वसाधारण स्त्रियाँ विवाह द्वारा गृहस्थ-धर्म के निर्वाह में तत्पर रहती थीं। इस युग मे माता के पद को बहुत ऊँचा और पवित्र समझा जाता था। वशिष्ठ-सूत्र में लिखा है, कि उपाध्याय की अपेक्षा दशगुण अधिक प्रतिष्ठित आचार्य है, आचार्य से सौ गुना अधिक प्रतिष्ठित पिता है, और पिता से सहस्रगुण अधिक प्रतिष्ठा-योग्य माता है। माता के पद के प्रति यह आदर की भावना इस युग की संस्कृति को एक महत्त्वपूर्ण विशेषता है।

प्राचीन भारतीय इतिहास के अनेक विद्वानो ने मध्ययुग के भारत में स्त्रियों की हीन स्थिति को दृष्टि मे रखकर यह कल्पना की है, कि प्राचीन युग में भी उनकी सामाजिक स्थिति हीन थी। पर इस युग के साहित्य के अनुशीलन से इस मन्तव्य की पुष्टि नही होती। वैदिक और उत्तर-वैदिक युग मे जहाँ स्त्रियाँ ऋषि व ब्रह्मवादिनी हो सकती थी, वहाँ सर्वसाधारण आर्य स्त्रियाँ 'उपनीत' होकर विद्याध्ययन करती थी और फिर गृहस्थाश्रम मे प्रवेश करके माता के गौरवमय पद को प्राप्त करती थी। वैवाहिक जीवन मे स्त्री को पुरुष की 'सहधर्मिणी' माना जाता था। विवाह के अवसर पर पति और पत्नी दोनो ही कतिपय प्रतिज्ञाएँ करते थे, जिनका प्रयोजन एक दूसरे के प्रति कर्त्तव्यो का पालन करते रहने का निश्चय करना होता था। पति या पत्नी बिना किसी असाधारण कारण के अपने जीवनसाथी का परित्याग नही कर सकते थे। आपस्तम्ब-सूत्र में लिखा है, कि जिस पति ने अन्याय से पत्नी का परित्याग किया हो, वह गधे का चमड़ा ओढ़कर प्रतिदिन सात गृहो मे यह कहते हुए भिक्षा माँगे, कि उस पुरुष को भिक्षा प्रदान करो, जिसने अपनी पत्नी तो त्याग दिया है। इसी प्रकार की भिक्षा से वह पुरुष छः मास तक अपना निर्वाह करे। निःसन्देह यह एक भयकर दण्ड था, जो इस युग मे पत्नी के साथ अन्याय करने वाले पुरुष को दिया जाता था।

(६) आर्थिक जीवन

वैदिक युग के समान प्राग्-बौद्ध युग मे भी आर्यों के आर्थिक जीवन का मुख्य आधार कृषि था। आर्य विशः का बडा भाग अब भी कृषि द्वारा अपना निर्वाह करता था। जमीन को जोतने के लिए हलों का प्रयोग होता था, जिन्हें खीचने के लिए बैल काम में लाये जाते थे। खेती द्वारा उत्पन्न किए जाने वाली फसलों में जौ, गेहूँ, चावल, दाल और तिल प्रमुख थे। इस युग में आर्यों का विस्तार सिन्धु नदी और गंगा नदी की घाटियो मे भली-भाँति हो चुका था, और सिन्धु, गंगा तथा उनकी सहायक नदियों के उपजाऊ प्रदेश मे बसे हुए आर्य लोग कृषि द्वारा अच्छी समृद्ध दशा में आ गये थे। पशुपालन को भी इस युग में बहुत महत्त्व दिया जाता था। वैदेह जनक ने अपनी राज-सभा में एकत्र विद्वानों में से सर्वश्रेष्ठ विद्वान् को पुरस्कृत करने के लिए सहस्र गौओं को ही चुना था। इस युग के समृद्ध लोग गौओं को बहुत बड़ी संख्या में अपने पास रखते

थे। दूध-घी के लिए जहाँ उनका उपयोग था, वहां साथ ही खेती की दृष्टि से भी उनका बहुत महत्त्व था। खेती के अतिरिक्त अनेक शिल्पों का भी इस युग में विकास हुआ। जुलाहे, रंगरेज, रज्जुकार, रजक, सुवर्णकार रथकार, गोप, व्याध, कुम्हार, लोहार, नर्तक, गायक, पाचक आदि कितने ही प्रकार के शिल्पी इस युग में अपने-अपने शिल्प व व्यवसाय के विकास में तत्पर थे। धातुओं के ज्ञान की वृद्धि के कारण इस काल में औद्योगिक जीवन भली-भाँति उन्नति कर गया था। वैदिक काल के आर्यों को प्रधानतया सुवर्ण और अयस् का ज्ञान था, पर इस युग के आर्य त्रपु (टिन), ताम्र, लौह, रजत, हिरण्य और सीसे का भी प्रयोग करते थे, यह बात असंदिग्ध है। सुवर्ण और रजत का प्रयोग मुख्यतया आभूषणों और बरतनों के लिए होता था, पर अन्य धातुएँ उपकरण बनाने के काम में आती थी। सम्भवतः, इस युग में वस्तुओं के विनिमय के लिए सिक्के का भी प्रयोग होने लगा था। अथर्ववेद में सुवर्ण निर्मित जिस निष्क का उल्लेख है, वह आभूषण था या सिक्का—इस सम्बन्ध मे मतभेद हो सकता है। पर उत्तर-वैदिक काल मे निष्क का प्रचलन सिक्के के रूप में अवश्य था। शायद इसी को शत-मान कहते थे। वैदेह जनक ने याज्ञवल्क्य ऋषि को जो एक हजार गौवें पुरस्कार के रूप में दी थी, उनके सीगों के साथ दस-दस स्वर्णपाद बधे हुए थे। ये 'पाद' निष्क सिक्के का चौथाई भाग ही था। इसमें सन्देह नहीं कि इस युग में वस्तु-विनिमय (बार्टर) का स्थान सिक्के द्वारा विनिमय ने ले लिया था, और सुवर्ण का सिक्के के निर्माण के लिए प्रयोग होने लगा था।

ऐसा प्रतीत होता है कि इस युग के व्यापारी, कृषक, शिल्पी आदि अनेक प्रकार की श्रेणियो (गिल्ड) मे भी संगठित होने लगे थे। बौद्ध-साहित्य के अन्तर्गत जो जातक-कथाएँ मिलती है, उनसे 'श्रेणी' संस्था का भली-भाँति परिचय मिलता है। स्मृति-ग्रन्थों और धर्म-शास्त्रो में भी श्रेणियो का उल्लेख आता है। इन श्रेणियो के विकसित होने में अवश्य समय लगा होगा, और इनका विकास उत्तर-वैदिक युग में ही प्रारम्भ हो गया होगा।

उत्तर-वैदिक युग का साहित्य प्रधानतया धर्मपरक है। इसीलिए उसके आधार पर इस युग के आर्थिक जीवन के सम्बन्ध मे अधिक परिचय हमे प्राप्त नही होता। बौद्ध-युग के शुरू होने पर भारत की जो आर्थिक दशा थी, उसपर हम अधिक विस्तार से प्रकाश डालेंगे, क्योकि बाद के साहित्य में इस सम्बन्ध मे पर्याप्त सामग्री उपलब्ध है।

(७) रामायण और महाभारत

जिस प्रकार प्राचीन आर्यों की धार्मिक अनुश्रुति और परम्परा वेदों, ब्राह्मण-ग्रन्थो और उपनिषदो में संगृहीत है, वैसे ही उनकी ऐतिहासिक गाथाएँ, आख्यान और अनुश्रुति रामायण, महाभारत और पुराणों मे संगृहीत हैं। इन ग्रन्थों की रचना किसी एक समय मे या किसी एक लेखक द्वारा नहीं हुई। वस्तुतः, ये एक सुदीर्घ काल तक निरन्तर विकसित होते रहे। वैदिक युग के ऋषियों ने जो सूक्तियाँ कही, वे गुरु-शिष्य-परम्परा द्वारा 'श्रुति' के रूप मे कायम रही। बाद में महर्षि वेदव्यास ने उन सबको संगृहीत कर 'संहिता' के रूप में संकलित कर दिया। इसी प्रकार प्राचीन आर्यों

के विविध राजाओं, विजेताओं, वीर पुरुषो और अन्य नेताओं के वीर कृत्यों व आख्यानों का गान उस काल के सूत और मागध लोग निरन्तर करते रहे। ये आख्यान भी विविध सूत व मागध-परिवारों में पिता-पुत्र-परम्परा द्वारा कायम रहे। बाद में इन सबको भी एकत्र कर लिया गया। वैदिक संहिताओं के समान पुराणों और महाभारत का कर्त्ता व संकलयिता भी वेदव्यास को माना जाता है। वस्तुत:, वेदव्यास इनके कर्त्ता व रचयिता नही थे। उन्होने जैसे वैदिक श्रुति का संकलन किया, वैसे ही प्राचीन आख्यानों और राजकुलसम्बन्धी अनुश्रुति का भी सकलन किया था। महाभारत का वर्तमान रूप तो सम्भवत: ईसवी सन् के प्रारम्भ होने से कुछ समय पहले का ही है, पर उसमें जो गाथाएँ व आख्यान सकलित हैं, वे बहुत प्राचीन हैं। सम्भवत:, वे वैदिक युग से ही परम्परागतरूप से चले आते थे। इसीलिए उनसे भी भारत के प्राचीन राजवंशों और उनके समय के सामाजिक जीवन के सम्बन्ध मे बहुत कुछ सही चित्र हमारे सम्मुख उपस्थित हो जाता है।

महाभारत—वेदव्यास द्वारा संकलित व प्रोक्त महाभारत बहुत विशाल ग्रन्थ है। इसे काव्य न कहकर ऐतिहासिक गाथाओं का संग्रह कहना अधिक उपयुक्त होगा। इस समय महाभारत नाम से जो ग्रन्थ उपलब्ध होता है, इसके श्लोको की संख्या एक लाख के लगभग है। इसीलिए उसे 'शतसाहस्री संहिता' भी कहते हैं। पर महाभारत का मूल ग्रन्थ इतना विशाल नही था। समय-समय पर उसमे नए आख्यानो का समावेश होता रहा। प्रारम्भ मे महर्षि व्यास ने अपने शिष्य वैशम्पायन के सम्मुख इस कथा का प्रवचन किया था। व्यास के इस मूलग्रन्थ का नाम 'जय' था। वैशम्पायन ने पाण्डव अर्जुन के पोते जनमेजय के सम्मुख जिस महाभारत का प्रवचन किया, उसकी श्लोक सख्या २४,००० थी। इसे 'चतुर्विशति-साहस्री भारत-सहिता' कहते थे। महाभारत का तीसरा संस्करण भार्गववंशी कुलपति शौनक के समय मे हुआ। उस समय उसमें बहुत-से नए आख्यान व उपाख्यान जोड दिए गए। साथ ही, शिव, विष्णु, सूर्य, देवी आदि के प्रति भक्ति के भी अनेक प्रकरण उसमे सम्मिलित कर लिए गए। अध्यात्म-धर्म और राजनीति-विषयक अनेक संवाद भी उसमे शामिल हुए। इन सबके कारण महाभारत का कलेवर बहुत बढ गया, और वह 'चतुर्विशति-साहस्री-भारतसहिता' न रहकर 'शतसाहस्री सहिता' बन गयी। ईसवी सन् के प्रारम्भ होने से कुछ समय पूर्व ही महाभारत ग्रन्थ अपने वर्तमान रूप को प्राप्त कर चुका था।

महाभारत मे कुल अठारह पर्व है। यद्यपि इस महाकाव्य का प्रधान विषय कौरवो और पाण्डवों के उस महायुद्ध का वर्णन करना है, जो कुरुक्षेत्र के रणक्षेत्र मे लडा गया था, और जिसमें भारतवर्ष के सैकडो राजा अपनी सेनाओं के साथ सम्मिलित हुए थे। तथापि प्रसंगवश उसमे भारत की प्राचीन ऐतिहासिक अनुश्रुति, तत्त्वज्ञान, धर्मशास्त्र, राजधर्म और मोक्षशास्त्र का भी इतने विशद रूप से समावेश है, कि उसे प्राचीन भारतीय ज्ञान का विश्वकोष समझना अधिक उपयुक्त होगा।

महाभारत का शान्तिपर्व भारतीय राजधर्मशास्त्र और मोक्षशास्त्र का अपूर्व ग्रन्थ है। शरशय्या पर पडे हुए भीष्म विविध विषयो पर प्रवचन करते है। उनके

शिष्य, भक्त और अनुयायी उनसे विविध प्रकार के प्रश्न उनसे पूछते हैं, और तत्त्वज्ञानी भीष्म उनका उत्तर देते हैं।

भगवान् कृष्ण की 'भगवद्गीता' भी महाभारत का ही एक अंग है। कुरुक्षेत्र के मैदान मे कौरवों और पाण्डवों की सेनाएँ जब युद्ध के लिए एकत्र थी, तो पाण्डवों के सेनापति अर्जुन के हृदय मे वैराग्य उत्पन्न होने लगा। अर्जुन ने देखा कि उसके गुरुजन, निकट सम्बन्धी और मित्र शत्रुरूप से उसके सम्मुख उपस्थित हैं। उसने विचार किया कि इन गुरुजनो व प्रियजनो पर हथियार चलाना कितना अनुचित है। इस दशा में श्रीकृष्ण ने अर्जुन को कर्त्तव्य और अकर्त्तव्य के सम्बन्ध मे जो उपदेश दिया, वही 'गीता' के रूप मे संगृहीत है। तत्त्वज्ञान और धर्म की दृष्टि से गीता संसार की सबसे उत्कृष्ट और अद्भुत पुस्तक है। वैदिक युग से भारत मे ज्ञान और तत्त्वचिन्तन की जो लहर प्रारम्भ हुई थी, श्रीकृष्ण ने उसे चरम सीमा तक पहुँचा दिया था। गीता मे कृष्ण का यही तत्त्वज्ञान संगृहीत है, और किंकर्तव्यविमूढ अर्जुन के सदृश वर्तमान युग के भी करोडो नर-नारी उससे कर्तव्य और अकर्तव्य में विवेक कर सकते हैं।

रामायण—इक्ष्वाकुवंश के राजा रामचन्द्र का वृत्तान्त रामायण मे बडे विस्तार के साथ वर्णित है। इसकी रचना महर्षि वाल्मीकि ने की थी। वाल्मीकि संस्कृत-भाषा के आदिकवि माने जाते हैं, और उनके इस काव्य को संस्कृत का आदिकाव्य कहा गया है। रामायण की कथा को लेकर संस्कृत, प्राकृत, हिन्दी आदि भाषाओं मे हजारों पुस्तकें लिखी गई है। शायद ही कोई ऐसा भारतीय हो, जो राम की कथा से अपरिचित हो। राम का चरित्र ही ऐसा था, कि आर्य-जाति उसे कभी भुला नही सकती। राम आदर्श पुत्र, आदर्श भाई और आदर्श पति थे। रामायण का प्रत्येक चरित्र आदर्श है। कौशल्या-जैसी माता, लक्ष्मण-जैसा भाई, सीता-जैसी पत्नी, हनुमान-जैसा सेवक और राम-जैसा प्रजापालक राजा ससार के साहित्य मे अन्यत्र ढूँढ सकना कठिन है।

रामायण-महाकाव्य जिस रूप से आजकल उपलब्ध होता है, वह अविकल रूप से महर्षि वाल्मीकि की रचना नही है। इसमे सन्देह नहीं, कि प्रारम्भ मे वाल्मीकि ने राम के चरित्र को काव्यरूप मे लिखा था। बाद मे उसी के आधार पर रामायण की रचना हुई। सम्भवत, रामायण का काव्य ५०० ई० पू० के लगभग मे बना था। वह महात्मा बुद्ध के प्रादुर्भाव से पूर्व निर्मित हो चुका था, और उसमें आर्यों के जिस जीवन व सस्कृति का वर्णन है, वह प्राग्-बौद्धकालीन भारत के साथ सम्बन्ध रखती है। पाँचवी सदी ई० पू० के बाद भी वाल्मीकि-रामायण मे अनेक नए आख्यान जुडते गए, और यह महाकाव्य जिस रूप मे आजकल उपलब्ध होता है, उसे उसने दूसरी सदी ई० पू० तक ग्रहण कर लिया था। पर इसमे सन्देह नही, कि महाभारत के समान रामायण भी बुद्ध के प्रादुर्भाव से पूर्व के युग की सभ्यता और सस्कृति पर प्रकाश डालती है।

रामायण और महाभारत का काल एक नही है, और न ही ये दोनो महाकाव्य किसी एक युग की कथा को उल्लिखित करते हैं। इनकी प्रधान कथाओं के काल मे कई सदियो का अन्तर है। पर ये दोनो ग्रन्थ उस युग की दशा पर प्रकाश डालते हैं, जबकि आर्य लोग भारत मे भली-भाँति बस चुके थे, और जब कि उनके धर्म, सभ्यता

श्रौर समाज ने एक स्थिर रूप धारण कर लिया था। वैदिक युग के बाद की श्रौर बौद्ध-युग के पूर्व की भारतीय संस्कृति के स्वरूप को समझने के लिए इन दो महाकाव्यों से बढ़कर कोई अन्य साधन हमारे पास नही है। पर इस प्रसंग में यह ध्यान में रखना चाहिए, कि इन ऐतिहासिक महाकाव्यों श्रौर विशेषतया महाभारत के अनुशीलन द्वारा सम्यता श्रौर संस्कृति का जो चित्र उपस्थित होता है, वह किसी एक समाज को चित्रित नहीं करता। इस युग तक भारत मे बहुत-से छोटे-बड़े राज्य स्थापित हो चुके थे। वैदिक युग के श्रार्य भारत के विविध प्रदेशों मे बस गए थे, श्रौर इस देश के श्रादि-निवासियों के सम्पर्क मे श्राकर उनकी विविध शाखाश्रों ने अपनी पृथक्-पृथक् सामाजिक दशाश्रों व संस्कृतियों का विकास प्रारम्भ कर दिया था। यही कारण है, कि महाभारत जैसे विशाल महाकाव्य के विविध प्रसंगों में विविध प्रकार के जीवन व विचारों की उपलब्धि होती है।

(८) सामाजिक दशा

स्त्रियों की स्थिति—रामायण श्रौर महाभारत के श्रध्ययन से स्त्रियों की स्थिति के विषय में श्रनेक प्रकार के विचार उपलब्ध होते हैं। ऐक्ष्वाकव-राजा दशरथ का तीन स्त्रियो से विवाह करना सूचित करता है, कि इस युग मे बहु-विवाह की प्रथा प्रचलित थी। महाभारत की कथा में द्रौपदी के पाँच पति थे। युधिष्ठिर, भीम, अर्जुन, नकुल श्रौर सहदेव—इन पांचो पाण्डवो ने द्रौपदी के साथ विवाह किया था। इससे सूचित होता है, कि उस समय बहुपति-विवाह की प्रथा भी कुछ वंशों व जातियो मे विद्यमान थी। भीम श्रौर श्रर्जुन ने द्रौपदी के श्रतिरिक्त अन्य भी श्रनेक स्त्रियो से विवाह किया हुश्रा था। इससे प्रगट है, कि भारत के पारिवारिक जीवन मे इस समय बहुत अन्तर श्रा गया था। रामचन्द्र का वनवास श्रन्तःपुर के षड्यन्त्र का परिणाम था। जनता की इच्छा के विपरीत कैकेयी इस बात मे सफल हुई, कि लोकप्रिय युवराज रामचन्द्र को राजगद्दी से दूर रख सके। पाण्डवों का वनवास द्यूत-क्रीडा का परिणाम था। जूए के दाव पर पाण्डव लोग न केवल अपनी राज्य-सम्पत्ति को ही हार गए, श्रपितु अपनी पत्नी द्रौपदी को भी जूए के दाँव पर रखने मे उन्हे संकोच नही हुश्रा। कौरवो ने द्रौपदी का राजसभा मे खुले तौर पर श्रपमान किया, उसका चीर-हरण तक किया। इससे प्रगट है, कि इस युग के भारतीय समाज मे स्त्रियो की वह उच्च स्थिति नही रह गयी थी, जो कि वैदिक काल में थी। यही कारण है, कि जब कतिपय महिलाश्रो ने महात्मा बुद्ध की शिष्या बनकर भिक्षुव्रत ग्रहण करने की इच्छा प्रकट की, तो उन्होने उसे स्वीकार करने मे संकोच श्रनुभव किया। यह बुद्ध की प्रतिभा श्रौर सुधारवृत्ति का परिणाम था, जो उन्होने स्त्रियो को भिक्षुणी बनाना स्वीकार कर उनके लिए एक पृथक् संघ की व्यवस्था की।

विवाह के विविध प्रकार—महाभारत व उत्तर-वैदिक युग के अन्य साहित्य मे श्राठ प्रकार के विवाहो का उल्लेख श्राता है—(१) ब्राह्मविवाह—जब पिता श्रपनी कन्या को वस्त्र श्रौर श्राभूषणो से सुसज्जित कर किसी योग्य वर को प्रदान करे, तो इस प्रकार के विवाह को 'ब्राह्म' कहा जाता था। (२) प्राजापत्य-विवाह—जब वर

और कन्या का विवाह प्राजापत्य-धर्म की वृद्धि (सन्तानोत्पत्ति) के लिए किया जाए, और पिता इसी उद्देश्य में किसी योग्य वर को अपनी कन्या प्रदान करे, तो उसे 'प्राजापत्य' विवाह कहते थे। (३) आर्ष-विवाह—इसमें वर की ओर से कन्या की गौ आदि भेंट में देनी होती थी। वधू की प्राप्ति के लिए वर कन्या-पक्ष को दक्षिणा देता था। (४) दैव यज्ञ में ऋत्विक् का कर्म करते हुए जामाता को अलंकार आदि से विभूषित कन्या प्रदान करके जो विवाह किया जाता था, उसे 'दैव' कहते थे। (५) आसुर—कन्यापक्ष को भरपूर धन देकर सन्तुष्ट कर कन्या प्राप्त करके जो विवाह होता था, वह 'आसुर' कहाता था। (६) गान्धर्व—परस्पर स्वच्छन्द प्रेम के कारण वर और कन्या अपनी इच्छा से जो विवाह करते थे, उसे 'गान्धर्व' कहते थे। (७) राक्षस—कन्या का जबर्दस्ती अपहरण कर जो विवाह होता था, वह 'राक्षस' कहाता था। (८) पैशाच—मद्य आदि के सेवन से मस्त हुई कन्या से विवाह सम्बन्ध स्थापित कर लेने पर ऐसे विवाह को 'पैशाच' कहते थे।

इन आठ प्रकार के विवाहों में से पहले चार विवाह धर्मानुकूल माने जाते थे। पिछले चार विवाह आर्य-मर्यादा के विरुद्ध थे, पर क्योंकि उनका भी इस युग मे प्रचलन हो गया था, अतः उन्हें कानून की दृष्टि से स्वीकार्य मान लिया गया था।

बाल-विवाह—महाभारत के काल में भारत मे बाल-विवाह की प्रथा का भी प्रारम्भ हो गया था। अर्जुन के पुत्र अभिमन्यु का विवाह सोलह वर्ष की आयु में हुआ था। अनुशासन पर्व मे भीष्म ने व्यवस्था दी है, कि ३० वर्ष की आयु का पुरुष १० वर्ष की कन्या से विवाह कर सकता है, और २१ वर्ष का पुरुष ७ वर्ष की बालिका के साथ विवाह कर सकता है। (अनु० ४४।१२)

नियोग—इस काल में नियोग की प्रथा भी प्रचलित थी। नियोग के विषय मे महाभारत में कहा गया है, कि "पति के मर जाने पर स्त्री देवर के साथ नियोग करके सन्तानोत्पत्ति कर सकती है।" (अनुशासन पर्व ४४।५०, ५१)। महाभारत मे नियोग के अनेक दृष्टान्त भी उपलब्ध होते हैं। यदि पति जीवित हो, तो भी स्त्री पति की अनुमति से नियोग कर सकती थी। पाण्डवों की माता कुन्ती ने युधिष्ठिर आदि जो पुत्र उत्पन्न किए थे, वे नियोग द्वारा ही उत्पन्न हुए थे।

परदे की प्रथा—वैदिक युग में परदे की प्रथा नहीं थी। पर महाभारत के काल मे इसका भी सूत्रपात हो गया था। महाभारत के स्त्रीपर्व में पति पुत्र आदि की मृत्यु के शोक में युद्ध-भूमि में रोती हुई स्त्रियों के सम्बन्ध में लिखा है, कि "जिन स्त्रियो को पहले देवता भी नही देख सकते थे, वे आज सब लोगों के सम्मुख रोती हुई दीख पड़ रही हैं।" इसी प्रकार महाभारत के शल्यपर्व (२६।७४) में दुर्योधन की स्त्रियो को 'असूर्यम्पश्या' (जिन्हे सूर्य तक भी न देख सके) कहा गया है।

जाति-भेद—इस युग में जातिभेद भी पहले की अपेक्षा अधिक विकसित हो गया था। ब्राह्मण और क्षत्रियवर्ग सर्वसाधारण जनता (विशः) से स्पष्ट रूप से पृथक् हो गए थे। ब्राह्मणों की उत्कृष्टता और पवित्रता की भावना सर्वसम्मत रूप से स्वीकृत कर ली गई थी। समाज को चार वर्णों (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र) मे विभक्त करके उनके सम्बन्ध में यह विचार विकसित हो गया था, कि विविध वर्णों

के लोगों को अपने-अपने 'स्वधर्म' मे स्थिर रहना चाहिए। समाज का कल्याण इसी बात मे है, कि सब लोग अपने धर्म (कार्य) पर स्थिर रहें, और परधर्म का अनुसरण करने का यत्न न करें। 'स्वधर्म' के पालन से ही मनुष्य स्वर्ग और मोक्ष को प्राप्त कर सकता है—यह विचार इस युग मे भली-भाँति विकसित हो गया था। शूद्र का कार्य अन्य तीन वर्णों की सेवा करना है। यदि वह पूरी तरह लगन के साथ अन्य वर्णों के लोगो की सेवा करता रहे, तो 'स्वधर्म' के पालन द्वारा वह भी अपने जीवन के परम लक्ष्य (स्वर्ग और मोक्ष) को प्राप्त कर सकता है, यह विचार इस युग मे बहुत बल पकड चुका था।

पर वर्णों का यह विभाग पूर्णतया जन्म पर भी आश्रित था, यह बात सही नही है। महाभारत मे यह विचार भी उपलब्ध होता है, कि चारो वर्णो की सृष्टि गुण और कर्म के अनुसार ही की गई है। उसी व्यक्ति को ब्राह्मण समझा जाता था, जिसने काम, क्रोध आदि को वश मे करके इन्द्रियो पर विजय प्राप्त कर ली हो, और जो यज्ञ-कर्म व पठन-पाठन मे रत हो। यद्यपि ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि वर्णो के सम्बन्ध मे गुणकर्म का विचार अब तक भी विद्यमान था, पर कतिपय लोग ऐसे भी थे, जो अपने वर्ण के कर्म से विमुख होने पर भी ब्राह्मण-सदृश उच्च स्थिति को प्राप्त किये हुए थे। वर्ण-व्यवस्था का जो विकृत रूप बाद के इतिहास मे दृष्टिगोचर होता है, उसका सूत्रपात इस युग मे हो गया था। ब्राह्मण के लिए यह आदर्श माना जाता था, कि वह धन का दास न हो, त्याग और अकिंचनता को ही अपना ध्येय समझे। पर महाभारत में द्रोणाचार्य और कृपाचार्य जैसे ब्राह्मणो के मुख से यह कहलवाया गया है, कि "धन मनुष्य का दास नही है, अपितु मनुष्य ही धन का दास है। यही बात सत्य है। कौरवो ने धन द्वारा ही हमे बाँध लिया है।" (आदि पर्व ४३।५७)। द्रोणाचार्य जैसे ब्राह्मणों का धन का दास होना इस युग मे सम्भव हो गया था, यद्यपि यह बात पुराने वैदिक युग के सम्बन्ध मे नही कही जा सकती।

दास-प्रथा—महाभारत मे अनेक स्थानो पर दास-दासियो का भी उल्लेख आता है। विशेषतया, स्त्रियो को दासी के रूप मे रखने और उन्हे दूसरो को दान मे दे देने की प्रथा उस समय भली-भाँति विकसित हो चुकी थी। ब्राह्मणों को दान-दक्षिणा देते हुए दासियों के प्रदान का महाभारत मे अनेक स्थानो पर वर्णन है।

नवाँ अध्याय

बौद्ध और जैन धर्म

(१) बौद्ध युग

महाभारत के युद्ध के बाद सातवी और छठी ईस्वी पूर्व के भारतीय इतिहास की दो बातें विशेष महत्त्व की हैं :—

(१) **मागध साम्राज्य का विकास**—प्राचीन समय में भारत में जो बहुत से छोटे-बड़े राज्य विद्यमान थे, उनका स्थान अब मगध के शक्तिशाली व सुविस्तृत साम्राज्य ने लेना शुरू कर दिया था। मागध साम्राज्य का विकास इस युग की सबसे महत्त्वपूर्ण घटना है। प्राचीन भारत के ऐक्ष्वाकव, ऐल, पौरव, यादव आदि विविध आर्यवंशो द्वारा स्थापित राज्यो को जीतकर मगध के राजा अपना विशाल चक्रवर्ती साम्राज्य स्थापित करने में समर्थ हुए। महापद्म नन्द, चन्द्रगुप्त मौर्य और प्रियदर्शी अशोक जैसे सम्राट् जो भारत के बहुत बडे भाग को एक चक्रवर्ती-क्षेत्र बनाने मे समर्थ हुए, उसके लिए इसी समय (सातवी और छठी सदी ई० पू०) मे प्रयत्न आरम्भ हो गया था। मगध के इन सम्राटों को 'शूद्र' 'शूद्रप्राय', नयवर्जित' आदि कहा गया है। इसमे सन्देह नही कि इनका साम्राज्यवाद प्राचीन आर्य-मर्यादा के अनुकूल नही था। मगध के बार्हद्रथ, नन्द आदि राजवशो के राजा न केवल 'नयवर्जित' थे, अपितु स्वेच्छाचारी और निरंकुश भी थे। उनके राजपुत्र भी 'नय' और 'अनय' का विचार छोड़कर अपने पिता के विरुद्ध विद्रोह कर राजसिहासन की प्राप्ति के लिए यत्नशील रहते थे।

(२) **धार्मिक सुधारणा**—बौद्ध, जैन, आजीवक आदि सम्प्रदायो के रूप में अनेक नये धार्मिक आन्दोलन इस युग में शुरू हुए। यज्ञप्रधान प्राचीन वैदिक धर्म के विरुद्ध प्रतिक्रिया की प्रवृत्ति शुरू हुई, और बहुत-से भारतीय वैदिक सहिताओ के प्रामाण्य से इन्कार कर बुद्धि और तर्क पर आश्रित नये धर्मों के अनुसरण मे प्रवृत्त हुए। बौद्ध, जैन आदि नये सम्प्रदायो का प्रचार न केवल भारत में हुआ, अपितु भारत के बाहर भी दूर-दूर तक इन धर्मों का प्रसार हुआ। जिस प्रकार इस युग के राजा सार्वभौम चक्रवर्ती साम्राज्यो के निर्माण के लिए तत्पर थे, वैसे ही अनेक धार्मिक नेता 'धर्म-चक्र' के 'प्रवर्तन' द्वारा धर्म-चक्रवर्ती बनने के उद्योग मे लगे थे। बौद्ध धर्म को अपना 'धर्म-साम्राज्य' स्थापित करने में विशेष रूप से सफलता मिली। भारत में बौद्धो का 'धर्म साम्राज्य' अनेक सदियो तक कायम रहा। गुप्तवश के शासन काल से पूर्व ही भारत मे बौद्ध-धर्म के विरुद्ध प्रतिक्रिया प्रारम्भ हो गई थी। पर मौर्य वंश के शासन-काल के अन्त तक भारत मे बौद्ध-धर्म का स्थान बहुत महत्त्व का रहा। जिस समय मे बौद्ध-धर्म के प्रचारक भारत मे अपने मत के प्रसार के लिए सफलतापूर्वक यत्न कर रहे थे, उसे भारतीय इतिहास में 'बौद्ध-युग' कहा जाता है। इस युग के इतिहास पर बौद्ध-साहित्य द्वारा बहुत प्रकाश पड़ता है।

(२) धार्मिक सुधारणा

उत्तरी बिहार में प्राचीन समय में जो अनेक गणराज्य थे, इन नये धार्मिक आन्दोलनों का प्रारम्भ उन्हीं से हुआ। महात्मा बुद्ध शाक्य गण में उत्पन्न हुए थे, और वर्धमान महावीर ज्ञातृक गण में। मगध के साम्राज्यवाद ने बाद में इन गणराज्यों का अन्त कर दिया था। राजनीतिक और सैनिक क्षेत्र में ये मगध से परास्त हो गए थे। पर धार्मिक क्षेत्र में शाक्य गण और वज्जि संघ के भिक्षुओं के सम्मुख मगध ने सिर झुका दिया। जब मगध की राजगद्दी के लिए विविध सैनिक नेता एक दूसरे के साथ संघर्ष कर रहे थे, और राजपुत्र कर्कट के समान अपने जनक (पिता) के प्रति व्यवहार करने में तत्पर थे, उसी समय ये भिक्षु लोग शान्ति, प्रेम और सेवा द्वारा एक नये प्रकार के चातुरन्त साम्राज्य की स्थापना में संलग्न थे।

भारत बहुत बड़ा देश है। आर्य जाति की विविध शाखाओं ने भारत के विविध प्रदेशों में बस कर अनेक जनपदों को स्थापित किया था। शुरू मे इनमे एक ही प्रकार का धर्म प्रचलित था। प्राचीन आर्य ईश्वर के रूप में एक सर्वोच्च शक्ति की पूजा किया करते थे। प्रकृति की भिन्न-भिन्न शक्तियों मे ईश्वर के विभिन्न रूपों की कल्पना कर वे देवताओं के रूप में उनकी भी उपासना करते थे। यज्ञ इन देवताओं की पूजा का क्रियात्मक रूप था। धीरे-धीरे यज्ञों का कर्मकाण्ड अधिकाधिक जटिल होता गया। याज्ञिक लोग विधि-विधानो और कर्मकाण्ड को ही स्वर्ग व मोक्ष की प्राप्ति का एक-मात्र साधन समझने लगे। प्राचीन काल मे यज्ञों का स्वरूप बहुत सरल था। बाद में बहुत बड़ी संख्या में पशुओं की बलि भी अग्निकुण्ड मे दी जाने लगी। पशुओ की बलि पाकर अग्नि व अन्य देवता प्रसन्न व सन्तुष्ट होते हैं, और उससे मनुष्य स्वर्गलोक को प्राप्त कर सकता है, यह विश्वास प्रबल हो गया। इसके विरुद्ध अनेक विचारकों ने आवाज उठाई। यज्ञ एक ऐसी नौका के समान है, जो अदृढ है और जिसपर भरोसा नहीं किया जा सकता, यह विचार जोर पकड़ने लगा। शूरसेन देश के सात्वत लोगों मे जो भागवत-सम्प्रदाय महाभारत के समय से प्रचलित था, वह यज्ञो को विशेष महत्त्व नही देता था। वासुदेव कृष्ण इस मत के अन्यतम आचार्य थे। इस सम्बन्ध मे हम पहले लिख चुके हैं। भागवत लोग वैदिक मर्यादाओ मे विश्वास रखते थे, और यज्ञो को सर्वथा हेय नहीं मानते थे। पर याज्ञिक अनुष्ठानो का जो विकृत व जटिल रूप भारत के बहुसंख्यक जनपदो में प्रचलित था, उसके विरुद्ध अधिक उग्र आन्दोलन का प्रारम्भ होना सर्वथा स्वाभाविक था। आर्यों मे स्वतन्त्र विचार की प्रवृत्ति विद्यमान थी, और इसी का यह परिणाम हुआ, कि छठी सदी ई० पू० मे उत्तरी बिहार के गणराज्यों में अनेक ऐसे सुधारक उत्पन्न हुए, जिन्होने यज्ञप्रधान वैदिक धर्म के विरुद्ध अधिक बल के साथ आन्दोलन किया, और धर्म का एक नया स्वरूप जनता के सम्मुख उपस्थित किया।

इन सुधारको ने केवल याज्ञिक अनुष्ठानो के खिलाफ ही आवाज नही उठाई, अपितु वर्ण-भेद का भी विरोध किया, जो छठी ई० पू० तक आर्यों मे भली-भाँति विकसित हो गया था। आर्य-भिन्न जातियो के सम्पर्क में आने से आर्यों ने अपनी रक्तशुद्धता

को कायम रखने के लिए जो अनेक व्यवस्थाएँ की थी, उनके कारण आर्य और दास (शूद्र) का भेद तो वैदिक युग से ही विद्यमान था। धीरे-धीरे आर्यों में भी वर्ण या जाति-भेद का विकास हो गया था। याज्ञिक अनुष्ठानों के विशेषज्ञ होने के कारण ब्राह्मण लोग सर्वसाधारण 'आर्यं विशः' से अपने को ऊँचा समझने लगे थे। निरन्तर युद्धो में व्यापृत रहने के कारण क्षत्रिय सैनिकों का भी एक ऐसा वर्ग विकसित हो गया था, जो अपने को सर्वसाधारण जनता से पृथक् समझता था। ब्राह्मण और क्षत्रिय न केवल अन्य आर्यों से ऊँचे माने जाते थे, अपितु उन दोनो मे भी कौन अधिक ऊँचा है, इस सम्बन्ध मे भी उनमे मतभेद था। इस दशा में छठी सदी ई० पू० के इन सुधारको ने जाति-भेद और सामाजिक ऊँच-नीच के विरुद्ध भी आवाज उठाई, और यह प्रतिपादित किया कि कोई भी व्यक्ति अपने गुणो व कर्मों के कारण ही ऊँचा व सम्मानयोग्य होता है, किसी कुलविशेष मे उत्पन्न होने के कारण नहीं।

यहाँ यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि उत्तरी बिहार के जिन गणराज्यों में इस धार्मिक सुधार का प्रारम्भ हुआ, उनके निवासियो में आर्यभिन्न जातियों के लोग बड़ी संख्या मे विद्यमान थे। वहाँ के क्षत्रिय भी शुद्ध आर्य-रक्त के न होकर व्रात्य क्षत्रिय थे। सम्भवत:, छठी सदी ई० पू० से पहले भी उनमे वैदिक मर्यादा का सर्वांश में पालन नही होता था। ज्ञातृक गण मे उत्पन्न हुए वर्धमान महावीर ने जिस जैन धर्म का प्रतिपादन किया, उनसे पूर्व भी इस धर्म के अनेक तीर्थंकर व आचार्य हो चुके थे। इन जैन तीर्थंकरों के धर्म मे न याज्ञिक अनुष्ठानों का स्थान था, और न ही वेदों के प्रामाण्य का। वसु चैद्योपरिचर के समय मे प्राच्य भारत मे याज्ञिक कर्मकाण्ड के सम्बन्ध में स्वतन्त्र विचार की जो प्रवृत्ति शुरू हुई थी, शायद उसी के कारण उत्तरी बिहार के इस धर्म ने वैदिक मर्यादा की सर्वथा उपेक्षा कर दी थी।

(३) जैन-धर्म का प्रादुर्भाव

छठी सदी ई० पू० के लगभग भारत मे जो नये धार्मिक आन्दोलन प्रारम्भ हुए, उनमे दो प्रधान हैं—(१) जैन धर्म, और (२) बौद्ध धर्म। जैन लोगों के अनुसार उनके धर्म का प्रारम्भ बौद्ध-काल मे महावीर स्वामी द्वारा नही हुआ था। वे अपने धर्म को सृष्टि के समान ही अनादि मानते हैं। उनके मतानुसार वर्धमान महावीर जैन धर्म को अन्तिम तीर्थङ्कर थे। उनसे पहले २३ अन्य तीर्थङ्कर हो चुके थे। पहला तीर्थंकर राजा ऋषभ था। वह जम्बूद्वीप का प्रथम चक्रवर्ती सम्राट् था, और वृद्धावस्था में अपने पुत्र भरत को राज्य देकर स्वयं तीर्थङ्कर हो गया था। यह सम्भव नही है, कि हम सब तीर्थङ्करो के सम्बन्ध मे लिख सकें, यद्यपि जैन ग्रन्थो मे उनके विषय मे अनेक कथाएँ उल्लिखित हैं। पर तेईसवें तीर्थङ्कर पार्श्व का कुछ विवरण इस इतिहास के लिए उपयोगी होगा।

तीर्थङ्कर पार्श्व—महावीर स्वामी के प्रादुर्भाव से २५० वर्ष पूर्व तीर्थङ्कर पार्श्व का समय है। वह वाराणसी के राजा अश्वसेन के पुत्र थे। उनका प्रारम्भिक जीवन एक राजकुमार के रूप मे व्यतीत हुआ। युवावस्था में उनका विवाह कुशस्थल देश की राजकुमारी प्रभावती के साथ हुआ। तीस वर्ष की आयु में राजा पार्श्वनाथ को वैराग्य

हुआ, और राजपाट छोडकर उन्होने तापस का जीवन स्वीकृत किया। तिरासी दिन तक वह घोर तपस्या करते रहे। चौरासीवें दिन पार्श्वनाथ को ज्ञान प्राप्त हुआ, और उन्होंने अपने ज्ञान का प्रचार करना प्रारम्भ किया। उनकी माता और धर्मपत्नी सबसे पहले उनके धर्म मे दीक्षित हुई। सत्तर वर्ष तक पार्श्वनाथ निरंतर अपने धर्म का प्रचार करते रहे। अन्त मे पूरे सौ साल की आयु मे एक पर्वत की चोटी पर, जो कि अब पार्श्वनाथ-पर्वत के नाम से प्रसिद्ध है, उन्होने मोक्षपद को प्राप्त किया।

तीर्थंकर पार्श्वनाथ के अनुयायी बौद्ध-काल की धार्मिक सुधारणा में विद्यमान थे। उसकी तथा महावीर स्वामी की शिक्षाओं मे क्या भेद था, इसका परिचय जैन-धर्म के प्रसिद्ध ग्रन्थ उत्तराध्ययन-सूत्र के एक संवाद द्वारा प्राप्त होता है।

पार्श्व के अनुसार जैन भिक्षु के लिए निम्नलिखित चार व्रत लेने आवश्यक थे—(१) मैं जीवित प्राणियों की हिंसा नही करूँगा। (२) मैं सदा सत्य भाषण करूँगा। (३) मैं चोरी नहीं करूँगा। (४) मैं कोई सम्पत्ति नहीं रखूंगा।

पार्श्व द्वारा प्रतिपादित इन चार व्रतो के साथ महावीर ने एक और व्रत बढा दिया, जो यह था कि—"मैं ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करूँगा।" इसके अतिरिक्त महावीर ने भिक्षुओं के लिए यह व्यवस्था भी की थी, कि वे कोई वस्त्र धारण न करे, जबकि पार्श्व के अनुसार भिक्षु लोग वस्त्र धारण कर सकते थे।

वर्धमान महावीर—वज्जिराज्य-संघ के अन्तर्गत ज्ञातृक गण मे महावीर उत्पन्न हुए थे। ज्ञातृक लोगो के प्रमुख राजा का नाम सिद्धार्थ था। सिद्धार्थ का विवाह वैशालिक राजकुमारी त्रिशला के साथ हुआ था। त्रिशला लिच्छवि राजकुमारी थी, और लिच्छवियों के प्रमुख राजा चेटक की बहन थी। ज्ञातृक राजा सिद्धार्थ और लिच्छवि कुमारी त्रिशला के तीन सन्तानें हुई, एक कन्या और दो पुत्र। छोटे लड़के का नाम वर्धमान रखा गया। यही आगे चलकर महावीर बना। बालक का जन्म-नाम वर्धमान था। वीर, महावीर, जिन, अर्हत्, भगवत् आदि भी उसके नाम के रूप मे जैन-ग्रन्थो मे आते है, पर ये उसके विशेषण मात्र है। वर्धमान का बाल्य-जीवन राजकुमारों की तरह व्यतीत हुआ। वह एक समृद्ध क्षत्रिय सरदार का पुत्र था। वज्जि राज्य-संघ मे कोई वंशक्रमानुगत राजा नही होता था, वहाँ गणतन्त्र शासन प्रचलित था। परन्तु विविध क्षत्रिय घरानों के बड़े-बडे कुलीन सरदारों का—जो कि 'राजा' कहलाते थे—स्वाभाविक रूप से इस गणराज्य मे प्रभुत्व था। वर्धमान का पिता सिद्धार्थ भी इन्ही 'राजाओं' मे से एक था। वर्धमान को छोटी आयु से ही शिक्षा देनी प्रारम्भ की गई। शीघ्र ही वह सब विद्याओं और शिल्पो मे निपुण हो गया। उचित आयु मे वर्धमान का विवाह यशोदा नामक कुमारी के साथ किया गया। उनके एक कन्या भी उत्पन्न हुई। आगे चलकर जमालि नामक क्षत्रिय के साथ इसका विवाह हुआ, जो कि वर्धमान महावीर के प्रधान शिष्यो में से एक था।

यद्यपि वर्धमान का प्रारम्भिक जीवन साधारण गृहस्थ के समान व्यतीत हुआ, पर उसकी प्रवृत्ति सांसारिक जीवन की ओर नही थीं। वह 'प्रेय' मार्ग को छोड़कर 'श्रेय' मार्ग की ओर जाना चाहते थे। उन्होंने सासारिक जीवन को त्यागकर भिक्षु बनना निश्चित किया। निकट सम्बन्धियो से अनुमति ले वर्धमान ने घर का परित्याग कर

दिया। उनके परिवार के लोग पहले से ही पार्श्वनाथ द्वारा प्रतिपादित जैन धर्म के अनुयायी थे, अतः वर्धमान स्वाभाविक रूप से जैन भिक्षु बने जैन-भिक्षुओ की तरह उन्होने अपने केशश्मश्रु का परित्याग कर तपस्या करनी आरम्भ कर दी। बारह वर्ष तक घोर तपस्या के बाद तेरहवें वर्ष में वर्धमान महावीर को अपनी तपस्या का फल प्राप्त हुआ। उन्हे पूर्ण सत्य-ज्ञान की उपलब्धि हुई, और उन्होंने 'केवलिन्' पद प्राप्त कर लिया। जिस समय मनुष्य संसार के संसर्ग से सर्वथा मुक्त हो जाता है, सुख-दुःख के अनुभव से वह ऊपर उठ जाता है, वह अपने को अन्य सब वस्तुओ से पृथक् 'केवलरूप' समझने लगता है, तब यह 'केवलिन्' की दशा आती है। वर्धमान महावीर ने इस दशा को पहुँचकर बारह वर्ष के तपस्याकाल में जो सत्य-ज्ञान प्राप्त किया था, उसका प्रचार करना प्रारम्भ किया। महावीर की ख्याति शीघ्र ही दूर-दूर तक पहुँच गई। अनेक लोग उनके शिष्य होने लगे। महावीर ने इस समय जिस सम्प्रदाय की स्थापना की, उसे 'निर्ग्रन्थ' नाम से कहा जाता है, जिसका अभिप्राय 'बन्धनो से मुक्त' लोगो के सम्प्रदाय से है। महावीर के शिष्य भिक्षु व मुनि 'निर्ग्रन्थ' या 'निगन्थ' कहलाते थे। इन्हे 'जैन' भी कहा जाता था, क्योकि ये 'जिन' (वर्धमान को केवलिन्-पद प्राप्त करने के पश्चात् वीर, महावीर, जिन, अर्हत् आदि सम्मानसूचक शब्दो से सम्बोधित किया जाता था) के अनुयायी होते थे।

वर्धमान महावीर ने किस प्रकार अपने धर्म का प्रचार किया, इस सम्बन्ध मे भी अनेक बातें प्राचीन जैन-ग्रन्थो से ज्ञात होती है। महावीर का शिष्य गौतम इन्द्रभूति था। जैन-धर्म के इतिहास मे इस गौतम इन्द्रभूति का भी बडा महत्त्व है। आगे चलकर इसने भी 'केवलिन्' पद को प्राप्त किया। महावीर का यह ढग था, कि वह किसी एक स्थान को केन्द्र बनाकर अपना कार्य नही करते थे, अपितु अपनी शिष्य-मंडली के साथ एक स्थान से दूसरे स्थान पर भ्रमण करते हुए अपने धर्म-सन्देश को जनता तक पहुँचाने का उद्योग करते थे। स्वाभाविक रूप से सबसे पूर्व उन्होने अपनी जाति के लोगों—ज्ञातृक क्षत्रियों मे ही अपनी शिक्षाओं का प्रचार किया। वे शीघ्र ही उनके अनुयायी हो गए। उसके बाद लिच्छवि तथा विदेह-राज्यों मे प्रचार कर महावीर ने राजगृह (मगध की राजधानी) की ओर प्रस्थान किया। वहाँ उस समय प्रसिद्ध सम्राट् श्रेणिक राज्य करता था। जैन-ग्रन्थो के अनुसार श्रेणिक महावीर के उपदेशों से बहुत प्रभावित हुआ, और उसने अपनी सम्पूर्ण सेना के साथ महावीर का बड़े समारोह से स्वागत किया।

अपनी आयु के ७२ वें वर्ष मे महावीर स्वामी की मृत्यु हुई। मृत्यु के समय महावीर राजगृह के समीप पावा नामक नगर मे विराजमान थे। यह स्थान इस समय भी जैन लोगों का बड़ा तीर्थ है। वर्तमान समय में इसका दूसरा नाम पोखरपुर है, और यह स्थान बिहार शरीफ स्टेशन से ६ मील की दूरी पर स्थित है।

(४) जैनों का धार्मिक साहित्य

जैन लोगों के धार्मिक साहित्य को हम प्रधानतया छः भागों में विभक्त कर सकते हैं—(१) द्वादश अंग, (२) द्वादश उपांग, (३) दस प्रकीर्ण, (४) षट् छेदसूत्र, (५) चार मूल सूत्र, और (६) विविध।

१. द्वादश अंग—(१) पहला अंग आयारंग सुत्त (आचारांग सूत्र) है। इसमें उन नियमों का वर्णन है, जिन्हें जैन-भिक्षुओं को अनुसरण करना चाहिए। जैन-भिक्षु को किस प्रकार तपस्या करनी चाहिए, किस प्रकार जीव-रक्षा के लिए तत्पर रहना चाहिए—इत्यादि विविध बातों का इसमे विशद रूप से उल्लेख है। अन्य अंग सूत्रकृदंग, स्थानांग, समवायांग, भगवती सूत्र, ज्ञान धर्म कथा, उवासगदसाओ, अन्तकृद्दशाः, अनुत्तरोपपातिक दशाः, प्रश्न-व्याकरण, विपाकश्रुतम् और दृष्टिवाद हैं।

२. द्वादश उपांग—प्रत्येक अंग का एक-एक उपांग है। इनके नाम निम्नलिखित हैं—(१) औपपातिक, (२) राजप्रश्नीय, (३) जीवाभिगम, (४) प्रज्ञापना, (५) जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति, (६) चन्द्रप्रज्ञप्ति, (७) सूर्यप्रज्ञप्ति, (८) निरयावली, (९) कल्पावतंसिका, (१०) पुष्पिका, (११) पुष्पचूलिका, और (१२) वृष्णिदशा.।

३. दस प्रकीर्ण—इनमें जैन धर्म सम्बन्धी विविध विषयों का वर्णन है। इनके नाम निम्नलिखित हैं—(१) चतुःशरण, (२) संस्तारक, (३) आतुरप्रत्याख्यानम्, (४) भक्तापरिज्ञा, (५) तन्दुलवैचारिका, (६) चन्द्रवैध्यक (७) गणिविद्या, (८) देवेन्द्रस्तव (९) वीरस्तव, और (१०) महाप्रख्यान।

४. षट् छेदसूत्र—इन सूत्रों में जैन-भिक्षु और भिक्षुणियों के लिए विविध नियमों का वर्णन कर उन्हें दृष्टातो द्वारा प्रदर्शित किया गया है। छेदसूत्र के नाम निम्नलिखित हैं—(१) व्यवसाय सूत्र, (२) बृहत्कल्प सूत्र, (३) दशाश्रुतस्कन्ध सूत्र, (४) निशीथ सूत्र, (५) महानिशीथ सूत्र, और (६) जितकल्प सूत्र।

५. चार मूलसूत्र—इनके नाम निम्नलिखित है—(१) उत्तराध्ययन सूत्र, (२) दशवैकालिक सूत्र, (३) आवश्यक सूत्र, और (४) ओकनिर्युति सूत्र।

६. विविध—इस वर्ग मे बहुत से ग्रन्थ अन्तर्गत हैं, परन्तु उनमें सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण नन्दिसूत्र और अनुयोगद्वार हैं। इनमे बहुत प्रकार के विषयो का समावेश है। जैन-भिक्षुओ को जिन भी विषयों का परिज्ञान था, वे प्रायः सभी इनमे आ गए हैं। ये विश्वकोश के ढंग के ग्रन्थ है। इन धर्म-ग्रन्थो पर बहुत-सी टीकाएँ भी है। सबसे पुरानी टीकाएँ निर्युक्ति कहलाती हैं। इनका समय भद्रबाहु श्रुतिकेवली का कहा जाता है। जैन टीकाकारो मे सबसे प्रसिद्ध हरिभद्रस्वामी हुए हैं। इन्होने बहुत-से धर्म-ग्रन्थो पर टीकाएँ लिखी हैं। इनके अतिरिक्त शान्तिसूरी, देवेन्द्रगणी और अभयदेव नाम के टीकाकारो ने भी बड़े महत्त्वपूर्ण भाष्य और टीकायें लिखी हैं। इन टीकाओं का भी जैन-धर्म मे बहुत महत्त्व है। प्रायः सभी जैन धर्म-ग्रन्थ प्राकृत-भाषा मे हैं।

जैनों के जिस धार्मिक साहित्य का हमने वर्णन किया है, वह श्वेताम्बर सम्प्रदाय का है। जैनो में दो मुख्य सम्प्रदाय हैं—दिगम्बर और श्वेताम्बर। दिगम्बर सम्प्रदाय के जैन इस धार्मिक साहित्य को नही मानते। उनके धार्मिक ग्रन्थ भिन्न हैं।

(५) जैन-धर्म की शिक्षाएँ

जैन-धर्म के अनुसार मानव जीवन का उद्देश्य मोक्ष प्राप्त करना है। मोक्ष प्राप्ति के लिए मनुष्य क्या प्रयत्न करे, इसके लिए साधारण गृहस्थों और भिक्षुओं (मुनियों) में भेद किया गया है। जिन नियमों का पालन एक मुनि कर सकता है, साधारण गृहस्थ (श्रावक) उनका पालन नहीं कर सकेगा। इसीलिए जीवन की इन दोनों स्थितियों में मुमुक्षु के लिए जो भिन्न-भिन्न धर्म हैं, उनका पृथक् रूप से प्रतिपादन करना आवश्यक है।

पांच अणुव्रत—पहले सामान्य गृहस्थ (श्रावक) के धर्म को लीजिए। गृहस्थ के लिए पांच अणुव्रतों का पालन करना आवश्यक है। गृहस्थों के लिए यह सम्भव नहीं, कि वे समस्त पापों का त्याग कर सकें। संसार के कृत्यों में फंसे रहने से उन्हें कुछ-न-कुछ अनुचित कृत्य करने ही पड़ेंगे, अतः उनके लिए अणुव्रतों का विधान किया गया है। अणुव्रत निम्नलिखित हैं—(१) अहिंसाणुव्रत—जैन-धर्म के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति के लिए यह आवश्यक है, कि वह अहिंसाव्रत का पालन करे। मन, वचन और शरीर से किसी भी प्रकार की हिंसा करना अत्यन्त अनुचित है। परन्तु सांसारिकमनुष्यों के लिए पूर्ण अहिंसाव्रत धारण कर सकना कठिन है। अतः श्रावकों के लिए 'स्थूल अहिंसा' का विधान किया गया है। 'स्थूल अहिंसा' का अभिप्राय यह है, कि निरपराधियों की हिंसा न की जाए। जैन-ग्रन्थों के अनुसार अनेक राजा लोग अहिंसाणुव्रत का पालन करते हुए भी अपराधियों को दंड देते रहे हैं, और अहिंसक जन्तुओं का घात करते रहे है, अतः इस व्रत को स्थूल अर्थों मे ही लेना चाहिए। (२) सत्याणुव्रत—मनुष्यों में असत्य भाषण करने की प्रवृत्ति अनेक कारणों से होती है। द्वेष, स्नेह तथा मोह का उद्वेग इसमे प्रधान कारण है। इन सब प्रवृत्तियो को दबाकर सर्वदा सत्य बोलना सत्याणुव्रत कहाता है। (३) अचौर्याणुव्रत या अस्तेय—किसी भी प्रकार से दूसरों की सम्पत्ति की चोरी न करना, और गिरी हुई, पड़ी हुई, व रक्खी हुई वस्तु को स्वयं ग्रहण न कर उसके स्वामी को दे देना अचौर्याणुव्रत कहाता है। (४) ब्रह्मचर्याणुव्रत—मन, वचन तथा कर्म द्वारा पर-स्त्री का समागम न कर अपनी पत्नी से ही सन्तोष तथा स्त्री के लिए मन, वचन व कर्म द्वारा पर-पुरुष का समागम न कर अपने पति से ही सन्तोष रखना ब्रह्मचर्याणुव्रत कहाता है। (५) परिग्रह-परिमाण-अणुव्रत—आवश्यकता के बिना बहुत-से धन-धान्य को संग्रह न करना 'परिग्रह-परिमाण-अणुव्रत' कहाता है। गृहस्थों के लिए यह तो आवश्यक है, कि वे धन-उपार्जन करें, पर उसी मे लिप्त हो जाना और अर्थ-संग्रह के पीछे भागना पाप है।

तीन गुणव्रत—इन अणुव्रतों का पालन तो गृहस्थों को सदा करना ही चाहिए। पर इनके अतिरिक्त समय-समय पर अधिक कठोर व्रतों का ग्रहण करना भी उपयोगी है। सामान्य सांसारिक जीवन व्यतीत करते हुए गृहस्थों को चाहिए कि वे कभी-कभी अधिक कठोर व्रतों की भी दीक्षा लें। ये कठोर व्रत जैन-धर्म-ग्रन्थों में 'गुणव्रत' के नाम से कहे गये हैं। इनका संक्षिप्त रूप से प्रदर्शन करना उपयोगी है—(१) दिग्विरति—गृहस्थ को चाहिए कि कभी-कभी यह व्रत ले ले, कि मैं इस दिशा में इससे अधिक दूर

नहीं जाऊँगा। (२) अनर्थ दण्ड विरति—मनुष्य बहुत-से ऐसे कार्य करता है, जिनसे उस का कोई सम्बन्ध नहीं होता। ऐसे कार्यों से सर्वथा बचना चाहिए। (३) उपभोग-परिभोग परिमाण—गृहस्थी को यह व्रत ले लेना चाहिए कि मैं परिमाण में इतना भोजन करूँगा, भोजन में इतने से अधिक वस्तुएँ नहीं खाऊँगा, और इससे अधिक भोग नहीं करूँगा इत्यादि।

इन तीन गुणव्रतों के अतिरिक्त चार शिक्षाव्रत हैं, जिनका पालन भी गृहस्थों को करना चाहिए। (१) देशविरति—एक देश व क्षेत्र निश्चित कर लेना, जिससे आगे गृहस्थ न जाए, और न अपना कोई व्यवहार करे। (२) सामयिक व्रत—निश्चित समय पर (यह निश्चित समय जैन-धर्म के अनुसार प्रातः, सायं और मध्याह्न, ये तीन संध्याकाल हैं) सब सांसारिक कृत्यों से विरत होकर, सब राग-द्वेष छोड़ साम्य भाव धारणकर शुद्ध आत्म-स्वरूप मे लीन होने की क्रिया को सामयिक व्रत कहते है। (३) पौषधोपवास-व्रत—प्रत्येक अष्टमी व चतुर्दशी के दिन सांसारिक कार्यों का परित्याग कर 'मुनियों' के समान जीवन व्यतीत करने के प्रयत्न को 'पौषधोपवासव्रत' कहते है। इस दिन गृहस्थ को सब प्रकार का भोजन त्यागकर धर्मकथा श्रवण मे ही अपना समय व्यतीत करना चाहिए। (४) अतिथि-संविभाग-व्रत—विद्वान् अतिथियों का और विशेषतया मुनि लोगो का सम्मानपूर्वक स्वागत करना अतिथि-संविभाग-व्रत कहलाता है।

इन गुणव्रतों और शिक्षाव्रतों का पालन गृहस्थों के लिए बहुत लाभदायक है। वे इनसे अपना जीवन उन्नत कर सकते है, और 'मुनि' बनने के लिए उचित तैयारी कर सकते हैं। प्रत्येक मनुष्य मुनि' नही बन सकता। ससार का व्यवहार चलाने के लिए गृहस्थ धर्म का पालन करना भी आवश्यक है। अत. जैन-धर्म के अनुसार गृहस्थ-जीवन बिताना कोई बुरी बात नही है। पर गृहस्थ होते हुए भी मनुष्य को अपना जीवन इस ढंग से व्यतीत करना चाहिए, कि पाप में लिप्त न हो और मोक्ष साधन में तत्पर रहे।

पांच महाव्रत—जैन मुनियों के लिए आवश्यक है, कि वे पांच महाव्रतो का पूर्णरूप से पालन करें। सर्वसाधारण गृहस्थ लोगो के लिए यह सम्भव नही होता कि वे पापों से सर्वथा मुक्त हो सकें। इस कारण उनके लिए अणुव्रतो का विधान किया गया है। पर मुनि लोगों के लिए, जो कि मोक्ष-पद को प्राप्त करने के लिए ही संसार त्यागकर साधना में तत्पर हुए है, पापों का सर्वथा परित्याग अनिवार्य है। इसलिए उन्हें निम्नलिखित पांच महाव्रतों का पालन करना चाहिए।

(१) अहिंसा महाव्रत—जैन मुनि के लिए अहिंसाव्रत बहुत महत्त्व रखता है। किसी भी प्रकार से जानबूझकर या बिना जाने-बूझे प्राणी की हिंसा करना महापाप है। अहिंसाव्रत का सम्यक् प्रकार से पालन करने के लिए निम्नलिखित व्रत उपयोगी माने गये हैं—१. ईर्यासमिति—चलते हुए इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि कहीं हिंसा न हो जाए। इसके लिए उन्हीं स्थानों पर चलना चाहिए, जहाँ भली-भाँति अच्छे मार्ग बने हुए हों, क्योंकि वहाँ जीव-जन्तुओं के पैर से कुचले जाने की सम्भावना बहुत कम होगी। २. भाषा-समिति—भाषण करते हुए सदा मधुर तथा प्रिय भाषा बोलनी

चाहिए। कठोर वाणी से वाचिक हिंसा होती है, और साथ ही इस बात की भी सम्भावना रहती है कि शाब्दिक लड़ाई प्रारम्भ न हो जाए। ३. एषणासमिति—भिक्षा ग्रहण करते हुए मुनि को यह ध्यान में रखना चाहिए कि भोजन में किसी प्राणी की हिंसा तो नहीं की गई है, अथवा भोजन में किसी प्रकार के कृमि तो नही है। ४. आदान-क्षेपणा-समिति—मुनि को अपने धार्मिक कर्त्तव्यों का पालन करने के लिए जिन वस्तुओं का अपने पास रखना आवश्यक है, उनमें यह निरन्तर देखते रहना चाहिए कि कहीं कीड़े तो नहीं हैं। ५. व्युत्सर्ग-समिति—पेशाब और मल त्याग करते समय भी यह ध्यान में रखना चाहिए कि जिस स्थान पर वे ये कार्य कर रहे हैं, वहाँ कोई जीव-जन्तु तो नही है।

जैन-मुनि के लिए अहिंसा का व्रत पालन करना अत्यन्त आवश्यक है। प्रमाद व अज्ञान से तुच्छ से तुच्छ जीव का वध भी उसके लिए पाप का कारण बनता है। इसीलिए इस व्रत का पालन करने के लिए इतनी सावधानी से कार्य करने का उपदेश दिया गया है।

(२) असत्य-त्याग-महाव्रत—सत्य परन्तु प्रिय भाषण करना 'असत्य-त्याग महाव्रत' कहलाता है। यदि कोई बात सत्य भी हो, परन्तु कटु हो, तो उसे नही बोलना चाहिए। इस व्रत के पालन में पाँच भावनाएँ बहुत उपयोगी हैं—१. अनुबिम-भाषी-भली-भाति विचार किये बिना भाषण नही करना चाहिए। २. कोहं परिजानाति—जब क्रोध व अहकार का वेग हो, तो भाषण नही करना चाहिए। ३. लोभी परिजानाति—लोभ का भाव जब प्रबल हो, तो भाषण नही करना चाहिए। ४. भय परिजानाति—डर के कारण असत्य भाषण नही करना चाहिए। ५. हासं परिजानाति—हसी मे भी असत्य भाषण नही करना चाहिए।

सत्य का पालन करने के लिए सम्यक् प्रकार से विचार करके भाषण करना, तथा लोभ, मोह, भय, हास व अहंकार से असत्य भाषण न करना अत्यन्त आवश्यक है।

(३) अस्तेय महाव्रत—किसी दूसरे की किसी भी वस्तु को उसकी अनुमति के बिना ग्रहण न करना तथा जो वस्तु अपने को नहीं दी गई है, उसको ग्रहण न करना तथा ग्रहण करने की इच्छा भी न करना अस्तेय महाव्रत कहाता है।

इस महाव्रत का पालन करने के लिए मुनि लोगों को निम्नलिखित बातों का ध्यान रखना चाहिए—१. जैन मुनि को किसी घर में तब तक प्रवेश नही करना चाहिए, जब तक कि गृहपति की अनुमति अन्दर आने के लिए न ले ली जाए। २. भिक्षा मे जो कुछ भी भोजन प्राप्त हो, उसे तब तक ग्रहण न करे, जब तक कि गुरु को दिखलाकर उससे अनुमति न ले ली जाए। ३. जब मुनि को किसी घर मे निवास करने की आवश्यकता हो, तो पहले गृहपति से अनुमति प्राप्त कर ले और यह निश्चित रूप से पूछ ले कि घर के कितने हिस्से मे और कितने समय तक वह रह सकता है। ४. गृहपति की अनुमति के बिना घर में विद्यमान किसी आसन, शय्या व अन्य वस्तु का उपयोग न करे। ५. जब कोई मुनि किसी घर मे निवास कर रहा हो, तो दूसरा मुनि भी उस घर में गृहपति की अनुमति के बिना निवास न कर सके।

(४) ब्रह्मचर्य महाव्रत—जैन मुनियों के लिए ब्रह्मचर्य-व्रत का भी महत्त्व है।

अपने विपरीत लिंग के व्यक्ति से किसी प्रकार का संसर्ग रखना मुनियों के लिए निषिद्ध है। ब्रह्मचर्य-व्रत का पालन करने के लिए निम्नलिखित भावनाओं का विधान किया गया है —१. किसी भी स्त्री से वार्त्तालाप न किया जाए। २. किसी स्त्री की तरफ दृष्टिपात भी न किया जाए। ३. गृहस्थ-जीवन मे स्त्री-संसर्ग से जो सुख प्राप्त होता था, उसका मन मे चिन्तन भी न किया जाए। ४. अधिक भोजन न किया जाए। मसाले, तिक्त पदार्थ आदि ब्रह्मचर्य-नाशक भोजनों का परित्याग किया जाए। जिस घर में कोई स्त्री रहती हो, वहाँ निवास न किया जाए।

साधुनियों के लिए नियम इनसे सर्वथा विपरीत हैं। किसी पुरुष के साथ बातचीत करना, पुरुष का अवलोकन करना और पुरुष का चिन्तन करना—उनके लिए निषिद्ध है।

(५) अपरिग्रह महाव्रत—किसी भी वस्तु, रस व व्यक्ति के साथ अपना सम्बन्ध न रखना तथा सबसे निर्लिप्त रहकर जीवन व्यतीत करना 'अपरिग्रह-व्रत' का पालन कहाता है। जैन मुनियो के लिए 'अपरिग्रह-व्रत' का अभिप्राय बहुत विस्तृत तथा गम्भीर है। सम्पत्ति का सचय न करना तो साधारण बात है, पर किसी भी वस्तु के साथ किसी भी प्रकार का ममत्व न रखना जैन-मुनियों के लिए आवश्यक है। मनुष्य इन्द्रियों द्वारा रूप, रस, गन्ध, स्पर्श तथा शब्द का जो अनुभव प्राप्त करता है—उस सबसे विरत हो जाना 'अपरिग्रह-व्रत' के पालन के लिए परमावश्यक है। इस व्रत के सम्यक् प्रकार पालन से मनुष्य अपने जीवन के चरम उद्देश्य मोक्ष को प्राप्त करने के योग्य बनता है, और सब विषयों तथा वस्तुओ से निर्लिप्त तथा विरक्त होकर वह इस जीवन मे ही सिद्ध अथवा 'केवली' बन जाता है।

(६) महात्मा बुद्ध

उत्तरी बिहार मे एक जनपद था, जिसका नाम शाक्य गण था। इसकी राजधानी कपिलवस्तु थी। वहाँ के गणराजा का नाम शुद्धोधन था। इन्ही के घर कुमार सिद्धार्थ का जन्म हुआ, जो आगे चलकर महात्मा बुद्ध के नाम से प्रसिद्ध हुए। शाक्य कुमारो की शिक्षा में उस समय शारीरिक उन्नति की ओर अधिक ध्यान दिया जाता था। सिद्धार्थ को भी इसी प्रकार की शिक्षा दी गई। तीरन्दाजी, घुडसवारी और मल्लविद्या में उसे बहुत प्रवीण बनाया गया। सिद्धार्थ का बाल्यकाल बड़े सुख और ऐश्वर्य से व्यतीत हुआ। सरदी, गरमी और वर्षा इन ऋतुओ में उसके निवास के लिए अलग-अलग महल बने हुए थे। इनमें ऋतु के अनुसार ऐश्वर्य तथा भोग-विलास के सब सामान एकत्र किए गए थे। सिद्धार्थ एक सम्पन्न शाक्य राजा का पुत्र था। उसके पिता की इच्छा थी, कि सिद्धार्थ भी शाक्यगण में खूब प्रतिष्ठित तथा उन्नत स्थान प्राप्त करे। युवा होने पर सिद्धार्थ का विवाह यशोधरा नाम की कुमारी के साथ किया गया। विवाह के अनन्तर सिद्धार्थ का जीवन बड़े आनन्द के साथ व्यतीत होने लगा। सुख-ऐश्वर्य की उन्हें कमी ही क्या थी? कुछ समय बाद उन्हें एक पुत्र उत्पन्न हुआ, जिसका नाम राहुल रखा गया।

एक बार की बात है कि कुमार सिद्धार्थ कपिलवस्तु का अवलोकन करने के लिए निकले। उस दिन नगर को खूब सजाया गया था। कुमार सिद्धार्थ नगर की शोभा को देखता हुआ चला जा रहा था, कि उसका ध्यान सडक के एक ओर लेटकर अन्तिम श्वास लेते हुए एक बीमार की ओर गया। सारथि ने पूछने पर बताया कि यह एक बीमार है, जो कष्ट के कारण भूमि पर पडा हुआ तडप रहा है, और थोड़ी देर मे इसका देहान्त हो जाएगा। ऐसी घटना सभी देखते हैं, पर सिद्धार्थ पर इसका गहरा प्रभाव पड़ा। इसके बाद उसे क्रमशः लाठी टेककर जाता हुआ एक बूढा, श्मशान की ओर जाती हुई एक अरथी और एक शान्तमुख संन्यासी दिखाई दिए। पहले तीनो दृश्यों को देखकर सिद्धार्थ का दबा हुआ वैराग्य एकदम प्रबल हो गया। उसे भोग-विलासमय जीवन अत्यन्त तुच्छ और क्षणिक जान पड़ने लगा। संन्यासी को देखकर उसे उमंग आई, कि मैं भी इसी प्रकार संसार से विरक्त हो जाऊँ। उसने ससार का परित्याग कर संन्यास ले लेने का दृढ़ संकल्प कर लिया।

एक दिन अंधेरी रात को कुमार सिद्धार्थ घर से निकल गया। शयनागार से बाहर आकर जब वह सदा के लिए अपने छोटे से परिवार से विदा होने लगा, तो उसे अपने प्रिय अबोध बालक राहुल और प्रियतमा यशोधरा की स्मृति सताने लगी। वह पुनः अपने शयनागार में प्रविष्ट हुआ। यशोधरा सुख की नींद सो रही थी। राहुल माता की छाती से सटा सो रहा था। कुछ देर तक सिद्धार्थ इस अनुपम दृश्य को एकटक देखता रहा। उसके हृदय पर दुर्बलता प्रभाव करने लगी। पर अगले ही क्षण अपने हृदय के निर्बल भावो को एक साथ परे ढकेलकर वह बाहर चला गया। गृह-त्याग के समय उसकी आयु २६ वर्ष की थी।

इसके बाद लगभग सात साल तक सिद्धार्थ ज्ञान और सत्य की खोज में इधर-उधर भटकता रहा। शुरू-शुरू में उसने दो तपस्वियों को अपना गुरु धारण किया। इन्होंने उसे मोक्ष प्राप्ति के लिए खूब तपस्या करवाई। शरीर की सब क्रियाओं को बन्द कर घोर तपस्या करना ही इनकी दृष्टि में मोक्ष का उपाय था। सिद्धार्थ ने घोर तपस्याएँ कीं। शरीर को तरह-तरह से कष्ट दिए। पर इन साधनों से उसे आत्मिक शान्ति नही मिली। उसने यह मार्ग छोड़ दिया।

मगध का भ्रमण करता हुआ सिद्धार्थ उरुवेला पहुँचा। यहाँ के मनोहर प्राकृतिक दृश्यों ने उसके हृदय पर बडा प्रभाव डाला। इस प्रदेश के निस्तब्ध और सुन्दर जंगलों और मधुर शब्द करने वाले स्वच्छ जल के झरनों को देखकर उसका चित्त बहुत प्रसन्न हुआ। उरुवेला के इन जंगलों में सिद्धार्थ ने फिर तपस्या प्रारम्भ की। यहाँ पाँच अन्य तपस्वियों से भी उसकी भेंट हुई। ये भी कठोर तप द्वारा मोक्ष प्राप्ति मे विश्वास रखते थे। सिद्धार्थ लगातार पद्मासन लगाकर बैठा रहता। भोजन तथा जल का उसने सर्वथा परित्याग कर दिया। इस कठोर तपस्या से उसका शरीर निर्जीव-सा हो गया। पर फिर भी उसे सन्तोष नही हुआ। उसने अनुभव किया कि उसकी आत्मा वही पर है, जहाँ पहले थी। इतनी घोर तपस्या के बाद भी उसे आत्मिक उन्नति के कोई चिह्न दिखाई नही दिये। उसे विश्वास हो गया, कि शरीर को जान-बूझकर कष्ट देने से मोक्ष प्राप्त नहीं हो सकता। सिद्धार्थ ने तपस्या के मार्ग का परित्याग कर फिर से

अन्न ग्रहण करना प्रारम्भ कर दिया। उसके साथी तपस्वियों ने समझा, कि सिद्धार्थ मार्ग-भ्रष्ट हो गया है, और अपने उद्देश्य से च्युत हो गया है। उन्होंने उसका साथ छोड़ दिया और अब सिद्धार्थ फिर अकेला ही रह गया। तपस्या के मार्ग से निराश होकर सिद्धार्थ उस स्थान पर पहुँचा, जहाँ वर्तमान समय मे बोधगया है। वहाँ एक विशाल पीपल का वृक्ष था। थक कर सिद्धार्थ उसकी छाया मे बैठ गया। इतने दिनों तक वह सत्य को ढूँढने के लिए अनेक मार्गों का ग्रहण कर चुका था। अब उसने अपने अनुभवों पर विचार करना प्रारम्भ किया। सात दिन और सात रात वह एक ही जगह पर ध्यानमग्न दशा में बैठा रहा। अन्त मे उसे बोध हुआ। उसे अपने हृदय मे एक प्रकार का प्रकाश-सा जान पडा। उसकी आत्मा मे एक दिव्य ज्योति का आविर्भाव हुआ। उसकी साधना सफल हुई। वह अज्ञान से ज्ञान की दशा को प्राप्त हो गया। इस बोध या सत्य ज्ञान के कारण वह सिद्धार्थ से 'बुद्ध' बन गया। बौद्धो की दृष्टि मे इस पीपल के वृक्ष का बडा महत्त्व है। यही बोधिवृक्ष कहाता है। इसी के कारण समीपवर्ती नगरी गया भी 'बोधगया' कहाती है। इस वृक्ष के नीचे ध्यानमग्न दशा मे जो बोध कुमार सिद्धार्थ को हुआ था, वही 'बौद्ध-धर्म' है। महात्मा बुद्ध उसे आर्यमार्ग तथा मध्यमार्ग कहते थे। इसके बाद सिद्धार्थ अथवा बुद्ध ने अपना सम्पूर्ण जीवन इसी आर्यमार्ग का प्रचार करने मे लगा दिया।

महात्मा बुद्ध को जो बोध हुआ था, उसके अनुसार मनुष्यमात्र का कल्याण करना और सब प्राणियो का हित सम्पादन करना उनका परम लक्ष्य था। इसीलिए बुद्ध होकर वे शान्त होकर नही बैठ गए। उन्होंने सब जगह घूम-घूमकर अपना सन्देश जनता तक पहुँचाना प्रारम्भ कर दिया।

बुद्ध का प्रचार-कार्य—गया से महात्मा बुद्ध काशी की ओर चले। काशी के समीप, जहाँ आजकल सारनाथ है, उन्हे वे पाँचो तपस्वी मिले, जिनसे उनकी उरुवेला मे भेट हुई थी। जब इन तपस्वियो ने बुद्ध को दूर से आते देखा, तब उन्होंने सोचा, यह वही सिद्धार्थ है, जिसने अपनी तपस्या बीच मे ही भग कर दी थी। वह अपने प्रयत्न में असफल हो निराश होकर फिर यहाँ आ रहा है। हम उसका स्वागत व सम्मान नहीं करेंगे। परन्तु जब महात्मा बुद्ध और समीप आए तो उनके चेहरे पर एक अनुपम ज्योति देखकर ये तपस्वी आश्चर्य मे आ गए, और उन्होने खडे होकर उनका स्वागत किया। बुद्ध ने उन्हे उपदेश दिया। गया मे बोधि वृक्ष के नीचे ध्यानमग्न होकर जो सत्यज्ञान उन्होने प्राप्त किया था, उसका सबसे पहले उपदेश इन तपस्वियों को ही दिया गया। ये पाँचो बुद्ध के शिष्य हो गए। बौद्धधर्म मे सारनाथ के इस उपदेश का बहुत महत्त्व है। इसी के कारण बौद्ध-ससार मे बोध गया के बाद सारनाथ का तीर्थ-स्थान के रूप मे सबसे अधिक माहात्म्य है।

सारनाथ से बुद्ध उरुवेला गए। यह स्थान उस समय याज्ञिक कर्मकाण्ड मे व्यस्त ब्राह्मण पुरोहितो का गढ़ था। वहाँ एक हजार ब्राह्मण इस प्रकार के रहते थे, जो हर समय अग्निकुण्ड में अग्नि को प्रदीप्त रखकर वेदमन्त्रों द्वारा आहुतियाँ देने मे व्यस्त रहते थे। बुद्ध के उपदेशो से वे उनके अनुयायी हो गए। कश्यप इनका नेता था। आगे चलकर वह बुद्ध के प्रधान शिष्यों में गिना जाने लगा। कश्यप के बौद्ध

धर्म में दीक्षित हो जाने के कारण बुद्ध की ख्याति दूर-दूर तक फैल गई। उरुवेला से वह अपने शिष्यों के साथ राजगृह गए। उन्होंने नगर के बाहर एक उपवन में डेरा लगाया। उन दिनों मगध के राजसिंहासन पर श्रेणिय बिम्बिसार विराजमान थे। उन्होंने बहुत-से अनुचरों के साथ बुद्ध के दर्शन किए, और उनके उपदेशों का श्रवण किया। राजगृह मे बुद्ध को दो ऐसे शिष्य प्राप्त हुए, जो आगे चलकर बौद्ध धर्म के बड़े स्तम्भ साबित हुए। इनके नाम सारिपुत्त और मोग्गलान हैं। ये दोनों प्रतिभाशाली ब्राह्मण कुमार एक दूसरे के अभिन्न मित्र थे, और सदा एक साथ रहते थे। एक बार जब वे मार्ग के समीप बैठे हुए किसी विषय की चर्चा कर रहे थे, तो एक बौद्ध-भिक्षु भिक्षापात्र हाथ में लिए वहाँ से गुजरा। इन ब्राह्मण कुमारो की दृष्टि उस पर पड गई। उसकी चाल, वस्त्र, मुखमुद्रा और शान्त तथा वैराग्यपूर्ण दृष्टि से ये दोनों इतने प्रभावित हुए कि उसके सम्बन्ध मे जानकारी प्राप्त करने के लिए व्याकुल हो उठे। जब वह बौद्ध-भिक्षु भिक्षाकार्य समाप्त कर वापस लौट रहा था, तो ये उसके साथ महात्मा बुद्ध के दर्शन के लिए गए। इनको देखते ही बुद्ध समझ गए, कि ये दोनों ब्राह्मण कुमार उनके प्रधान शिष्य बनने योग्य हैं। बुद्ध का उपदेश सुनकर सारिपुत्त और मोग्गलान भी भिक्षु-वर्ग मे सम्मिलित हो गए। बाद मे ये दोनों बड़े प्रसिद्ध हुए, और बौद्ध धर्म के प्रसार के लिए इन्होने बहुत कार्य किया।

जब मगध के बहुत-से कुलीन लोग बडी संख्या मे भिक्षु बनने लगे, तो जनता मे असन्तोष बढने लगा। लोगो ने कहना शुरू किया—यह साधु प्रजा की संख्या घटाने, स्त्रियो को विधवाओं के सदृश बनाने और कुलो का विनाश करने के लिए आया है, इससे बचो। बुद्ध के शिष्यो ने जाकर उनसे कहा, कि आजकल मगध की जनता इस भाव के गीत बनाकर गा रही है—सैर करता हुआ एक साधु मगध की राजधानी मे आया है, और पहाड की चोटी पर डेरा डाले बैठा है। उसने संजय के सब शिष्यो को अपना चेला बना लिया है। आज न जाने वह किसे अपने पीछे लगाएगा। इसपर बुद्ध ने उत्तर दिया—इस बात से घबराओ नहीं। यह असन्तोष क्षणिक है। जब तुमसे लोग पूछें, कि बुद्ध आज किसे अपने पीछे लगाएगा, तो तुम यह उत्तर दिया करो—वीर और विवेकशाली पुरुष उसके अनुयायी बनेंगे। वह तो सत्य के बल पर ही अपने अनुयायी बनाता है।

महात्मा बुद्ध का प्रधान कार्यक्षेत्र मगध था। वे कई बार मगध गए, और सर्वत्र घूम-घूमकर उन्होंने अपने धर्म का प्रचार किया। बिम्बिसार और अजातशत्रु उनके समकालीन थे। इन मागध सम्राटों के हृदय में बुद्ध के प्रति अपार श्रद्धा थी। बुद्ध अपने बहुत-से शिष्यो को साथ लेकर भ्रमण किया करते थे। उनकी मण्डली में कई सौ भिक्षु एक साथ रहते थे। वे जिस शहर मे पहुँचते, शहर के बाहर किसी उपवन में डेरा डाल देते। लोग बडी संख्या मे उनके दर्शनों के लिए आते, और उपदेश श्रवण करते। नगर के श्रद्धालु लोग उन्हे भोजन के लिए आमन्त्रित किया करते थे। भोजन के अनन्तर बुद्ध अपने यजमान को उपदेश भी देते थे।

मगध के अतिरिक्त महात्मा बुद्ध काशी, कोशल और वज्जि जनपदों मे गए। अवन्ति जैसे दूरवर्ती जनपदों के लोगों ने उन्हें अनेक बार आमन्त्रित किया, पर इच्छा

होते हुए भी वे स्वयं वहाँ नहीं जा सके। उन्होंने अपने कुछ शिष्यों की टोली को वहाँ भेज दिया था, और अवन्ति की जनता ने बड़े प्रेम और उत्साह से उनका स्वागत किया था। भिक्षुओं की इस प्रकार की टोलियाँ अन्यत्र भी बहुत-से स्थानों पर आर्य-मार्ग का प्रचार करने के लिए भेजी गई थी। इन प्रचारक-मण्डलों का ही यह परिणाम हुआ, कि बुद्ध के जीवनकाल में ही उनका सन्देश प्रायः सम्पूर्ण उत्तरी भारत में फैल गया था।

महापरिनिर्वाण—महात्मा बुद्ध ने चालीस वर्ष के लगभग आर्यमार्ग का प्रचार किया। जब वे अस्सी वर्ष की आयु के थे, तो उन्होंने राजगृह से कुशीनगर के लिए एक लम्बी यात्रा प्रारम्भ की। इस यात्रा में वैशाली के समीप वेणुवन में उनका स्वास्थ्य बहुत गिर गया। कुछ दिन वहाँ विश्राम करके उन्होंने स्वास्थ्य लाभ किया। पर वे बहुत निर्बल हो चुके थे। वैशाली से कुशीनगर जाते हुए वे फिर बीमार पड़े। बीमारी की दशा मे ही वे कुशीनगर पहुँचे, और हिरण्यवती नदी के तट पर अपना डेरा डाला। यहाँ उनकी दशा और बिगड़ गई। बुद्ध की बीमारी की खबर कुशीनगर में वायुवेग से फैल गई। नगर के कुलीन मल्ल (कुशीनगर में मल्लगण की स्थिति थी) क्षत्रिय बडे-बड़े झुण्ड बनाकर हिरण्यवती के तट पर महात्मा बुद्ध के अन्तिम दर्शन के लिए आने लगे।

महात्मा बुद्ध की अन्तिम दशा की कल्पना कर भिक्खु लोग बहुत चिन्तित हुए। उन्हें उदास देखकर बुद्ध ने कहा—तुम सोचते होगे, तुम्हारा आचार्य तुम से जुदा हो रहा है। पर ऐसा मत सोचो। जो सिद्धान्त और नियम मैने तुम्हें बताये हैं, जिनका मैंने प्रचार किया है, वही तुम्हारे आचार्य रहेंगे और वे सदा जीवित रहेंगे। फिर उन्होंने सब भिक्षुओं को सम्बोधन करके कहा—'पुत्रो! सुनो, मैं तुमसे कहता हूँ, जो आता है, वह जाता भी अवश्य है। बिना रुके प्रयत्न किये जाओ।' महात्मा बुद्ध के ये ही अन्तिम शब्द थे। इसके बाद उनका देह प्राण-शून्य हो गया। कुशीनगर के समीप उस स्थान पर जहाँ महात्मा बुद्ध का परिनिर्वाण हुआ था, अब भी उनकी एक विशाल मूर्ति विद्यमान है।

(७) बुद्ध की शिक्षाएँ

बुद्ध सच्चे अर्थों में सुधारक थे। प्राचीन आर्य-धर्म में जो बहुत-सी खराबियाँ आ गई थीं, उन्हे दूर कर उन्होंने सच्चे आर्य-धर्म का पुनरुद्धार करने का प्रयत्न किया। अपने मन्तव्यों और सिद्धान्तों के विषय में उन्होंने बार-बार कहा है—'एष धम्मो सनातनो', यही सनातन धर्म है। वे यह दावा नही करते थे, कि वे किसी नये धर्म का प्रतिपादन कर रहे है। उनका यही कथन था, कि मैं सनातन काल से चले आ रहे धर्म का ही स्थापन कर रहा हूँ।

मध्य-मार्ग—बुद्ध ने अपने धर्म को मध्य-मार्ग कहा है। वे उपदेश करते थे—भिक्षुओ! इन दो चरम कोटियों (अतियों) का सेवन नही करना चाहिए, भोग-विलास में लिप्त रहना और शरीर को व्यर्थ कष्ट देना। इन दो अतियों का त्याग कर मैंने

मध्यमार्ग निकाला है, जो कि आँख देने वाला, ज्ञान कराने वाला और शान्ति प्रदान करने वाला है।

अष्टांगिक आर्य-मार्ग—इस मध्य-मार्ग के आठ आर्य (श्रेष्ठ) अंग थे—(१) सम्यक् दृष्टि, (२) सम्यक् संकल्प, (३) सम्यक् वचन, (४) सम्यक् कर्म, (५) सम्यक् आजीविका, (६) सम्यक् प्रयत्न, (७) सम्यक् विचार, और (८) सम्यक् ध्यान या समाधि। अत्यन्त भोग-विलास और अत्यन्त तप—दोनों को हेय मानकर बुद्ध ने जिस मध्य मार्ग (मध्यमा प्रतिपदा) का उपदेश किया था, ये आठ बातें ही उसके अन्तर्गत थीं। संयम और सदाचारमय जीवन ही इस धर्म का सार है।

चार आर्य सत्य—बुद्ध के अनुसार चार आर्य सत्य हैं—(१) दुःख, (२) दुःख-समुदय या दुःख का हेतु, (३) दुःख निरोध, और (४) दुःख-निरोध-गामिनी प्रतिपदा अर्थात् दुःख को दूर करने का मार्ग। दुःख सत्य की व्याख्या करते हुए बुद्ध ने कहा—जन्म भी दुःख है, बुढ़ापा भी दुःख है, मरण-शोक-रुदन और मन की खिन्नता भी दुःख हैं। अप्रिय से संयोग और प्रिय से वियोग भी दुःख है। दुःख के रूप को इस प्रकार स्पष्ट कर बुद्ध ने प्रतिपादित किया, कि दुःख का समुदय या हेतु तृष्णा है। इन्द्रियों के जितने प्रिय विषय हैं, उनके साथ सम्पर्क तृष्णा को उत्पन्न करता है। राजा राजाओं से लड़ते हैं, ब्राह्मण ब्राह्मणों से, गृहपति गृहपति से, पुत्र पिता से, पिता पुत्र से, भाई भाई से जो लड़ते हैं, उसका कारण यह तृष्णा ही है। इस तृष्णा का त्याग कर देने से, इसका विनाश कर देने से दुःख का निरोध हो जाता है। जब तृष्णा छूट जाती है, तभी दुःख का निरोध सम्भव है। इस दुःख-निरोध का उपाय अष्टांगिक आर्य-मार्ग ही है। इसी मार्ग का अनुसरण कर मनुष्य अपने जीवन की साधना इस ढंग से कर सकता है, कि वह तृष्णा से मुक्त होकर दुःखों से बच सके।

मनुष्यमात्र की समानता—महात्मा बुद्ध समाज में ऊँच-नीच के कट्टर विरोधी थे। उनकी दृष्टि में कोई मनुष्य नीच व अछूत नहीं था। उनके शिष्यों में ब्राह्मण, क्षत्रिय, श्रेष्ठी, शूद्र, वेश्या, नीच समझी जाने वाली जातियों के मनुष्य—सब एक समान स्थान रखते थे। बौद्ध साहित्य में कथा आती है, कि वासत्थ और भारद्वाज नामक दो ब्राह्मण बुद्ध के पास आये, और उनसे पूछा—हम दोनों मे इस प्रश्न पर विवाद हो गया है कि कोई व्यक्ति जन्म से ब्राह्मण होता है या कर्म से। इसपर बुद्ध ने उत्तर दिया—हे वासत्थ! मनुष्यों में जो गौवें चराता है, उसे हम चरवाहा कहेंगे, ब्राह्मण नही। जो मनुष्य कला-सम्बन्धी बातो से अपनी आजीविका चलाता है, उसे हम कलाजीवी कहेंगे, ब्राह्मण नहीं। जो आदमी व्यापार करता है, उसे हम व्यापारी कहेंगे, ब्राह्मण नही। जो आदमी दूसरों की नौकरी करता है, वह अनुचर कहलायगा, ब्राह्मण नहीं। जो चोरी करता है, वह चोर कहलायेगा, ब्राह्मण नहीं। जो आदमी शस्त्र धारण करके अपना निर्वाह करता है, उसे हम सैनिक कहेंगे, ब्राह्मण नही। किसी विशेष माता के पेट से जन्म होने के कारण मैं किसी को ब्राह्मण नही कहूँगा। वह व्यक्ति जिसका किसी भी वस्तु पर ममत्त्व नही है, जिसके पास कुछ भी नही है, मैं तो उसी को ब्राह्मण कहूँगा। जिसने अपने सब बन्धन काट दिये हैं, अपने को सब लगावों से पृथक् करके भी जो विचलित नही होता, मैं तो उसी को ब्राह्मण कहूँगा। जो भी क्रोधरहित है,

अच्छे काम करता है, सत्याभिलाषी है, जिसने अपनी इच्छाओं का दमन कर लिया है, मैं तो उसी को ब्राह्मण कहूँगा। वास्तव मे न कोई ब्राह्मण के घर में जन्म लेने से ब्राह्मण होता है, और न कोई ब्राह्मण के घर जन्म न लेने से अब्राह्मण होता है, अपने कर्मों से ही एक आदमी ब्राह्मण बन जाता है और दूसरा अब्राह्मण। अपने काम से ही कोई किसान है, कोई शिल्पी है, कोई व्यापारी है, और कोई सेवक है।

अहिंसा और यज्ञ—महात्मा बुद्ध पशुहिंसा के घोर विरोधी थे। अहिंसा उनके सिद्धान्तों में प्रमुख है। वे न केवल यज्ञों मे पशुबलि के विरोधी थे, पर जीवों को मारना व किसी प्रकार से कष्ट देना भी वे अनुचित समझते थे। उस समय भारत में यज्ञों का कर्मकाण्ड बडा जटिल रूप धारण कर चुका था। लोगो का विश्वास था, कि यज्ञ द्वारा स्वर्ग की प्राप्ति होती है। ईश्वर के ज्ञान के लिए, मोक्ष की साधना के लिए और अभीष्ट फल की प्राप्ति के लिए ब्राह्मण लोग यज्ञ का अनुष्ठान किया करते थे। पर महात्मा बुद्ध का यज्ञों मे विश्वास नही था। एक जगह उन्होंने उपदेश करते हुए कहा है—वासत्थ ! एक उदाहरण लो। कल्पना करो, कि यह अचिरावती नदी किनारे तक भरकर जा रही है। इसके दूसरे किनारे पर एक मनुष्य आता है, और वह किसी आवश्यक कार्य से नदी के इस पार आना चाहता है। वह मनुष्य उसी किनारे पर खडा हुआ यह प्रार्थना करना आरम्भ करे, कि ओ दूसरे किनारे इस पार आ जाओ। क्या उसके इस प्रकार स्तुति करने से यह किनारा उसके पास चला जायगा ? हे वासत्थ ! ठीक इसी प्रकार त्रयी विद्या में निष्णात कोई ब्राह्मण यदि उन गुणों को क्रियान्वित नही करता जो किसी मनुष्य को ब्राह्मण बनाते है, अब्राह्मणो का आचरण करता है, पर मुख से प्रार्थना करता है—मै इन्द्र को बुलाता हूँ, मै वरुण को बुलाता हूँ, मैं प्रजापति, ब्रह्मा, महेश और यम को बुलाता हूँ, तो क्या ये उसके पास चले आएँगे ? क्या इनकी प्रार्थना करने से कोई लाभ होगा ?

अभिप्राय यह है, कि महात्मा बुद्ध केवल वेदपाठ और यज्ञो के अनुष्ठानो को सर्वथा निरर्थक समझते थे। उनका विचार था, कि जब तक चरित्र शुद्ध नही होगा, धन की इच्छा दूर नही होगी, काम, क्रोध, मोह आदि पर विजय नही की जायगी, तब तक यज्ञो के अनुष्ठानमात्र से कोई लाभ नही होगा।

निर्वाण—बुद्ध के अनुसार जीवन का लक्ष्य निर्वाण पद को प्राप्त करना है। निर्वाण किसी पृथक् लोक का नाम नही है, न ही निर्वाण कोई ऐसा पद है जिसे मनुष्य मृत्यु के बाद प्राप्त करता है। बुद्ध के अनुसार निर्वाण उस अवस्था का नाम है जिसमे ज्ञान द्वारा अविद्या-रूपी अन्धकार दूर हो जाता है। यह अवस्था इसी जन्म मे, इसी लोक मे प्राप्त की जा सकती है। सत्य बोध के अनन्तर महात्मा बुद्ध ने निर्वाण की यह दशा इसी जन्म मे प्राप्त कर ली थी। एक स्थान पर बुद्ध ने कहा है—जो धर्मात्मा लोग किसी की हिंसा नही करते, शरीर की प्रवृत्तियो का संयम कर पापो से बचे रहते हैं, वे उस अच्युत निर्वाण पद को प्राप्त करते हैं, जहां शोक और सन्ताप का नाम भी नही होता।

महात्मा बुद्ध ने अपने उपदेशों में सूक्ष्म और जटिल दार्शनिक विचारों को अधिक स्थान नही दिया। इन विवादों की उन्होने उपेक्षा की। जीव का क्या स्वरूप

है, सृष्टि की उत्पत्ति ब्रह्मा से हुई है, या किसी अन्य सत्ता से, अनादि तत्त्व कितने और कौन-से हैं, सृष्टि का कर्त्ता कोई ईश्वर है या नहीं—इस प्रकार के दार्शनिक विवादों से वे सदा बचे रहे। उनका विचार था, कि जीवन की पवित्रता और आत्मकल्याण के लिए इन सब प्रश्नों पर विचार करना विशेष लाभकारी नहीं है। पर मनुष्यों में इन प्रश्नों के लिए एक स्वाभाविक जिज्ञासा होती है। यही कारण है, कि आगे चलकर बौद्धों में बहुत-से दार्शनिक सम्प्रदायों का विकास हुआ। इन सम्प्रदायों के सिद्धान्त एक-दूसरे से बहुत भिन्न है। पर बुद्ध के उपदेशों व सम्वादो से इन दार्शनिक तत्त्वों पर विशेष प्रकाश नही डाला गया।

(८) बौद्ध-संघ

महात्मा बुद्ध ने अपने धर्म का प्रचार करने के लिए संघ की स्थापना की। जो लोग सामान्य गृहस्थ जीवन का परित्याग कर धर्म-प्रचार और मनुष्य-मात्र की सेवा में ही अपने जीवन को खपा देना चाहते थे, वे भिक्षुव्रत लेकर संघ मे सम्मिलित होते थे।

महात्मा बुद्ध का जन्म एक गणराज्य मे हुआ था। अपनी आयु के २६ वर्ष उन्होंने गणो के वातावरण मे ही व्यतीत किये थे। वे गणों व संघों की कार्य-प्रणाली से भली-भाँति परिचित थे। यही कारण है कि जब उन्होंने अपने नवीन धार्मिक सम्प्रदाय का संगठन किया, तो उसे भिक्षु संघ नाम दिया। अपने धार्मिक सघ की स्थापना करते हुए स्वाभाविक रूप से उन्होंने अपने समय के सघराज्यों का अनुकरण किया और उन्हीके नियमो तथा कार्यविधि को अपनाया। सब जगह भिक्षुओं के अलग-अलग संघ थे। प्रत्येक स्थान का सघ अपने-आपमें एक पृथक् व स्वतन्त्र सत्ता रखता था। भिक्षु लोग सघसभा मे एकत्र होकर अपने कार्य का सम्पादन करते थे। वज्जिसंघ को जिस प्रकार के सात अपरिहार्य धर्मो का महात्मा बुद्ध ने उपदेश किया था, वैसे ही सात अपरिहार्य धर्म बौद्धसघ के लिए भी उपदिष्ट किये गए थे—

(१) एक साथ एकत्र होकर बहुधा अपनी सभाएँ करते रहना।

(२) एक हो बैठक करना, एक हो उत्थान करना, और एक हो संघ के सब कार्यों को सम्पादित करना।

(३) जो संघ द्वारा विहित है, उसका कभी उल्लंघन नहीं करना। जो संघ मे विहित नहीं है, उसका अनुसरण नहीं करना। जो भिक्षुओ के पुराने नियम चले आ रहे है, उनका सदा पालन करना।

(४) जो अपने मे बड़े, धर्मानुरागी, चिरप्रव्रजित, संघ के पिता, संघ के नायक स्थविर भिक्षु हैं, उनका सत्कार करना, उन्हें बड़ा मानकर उनका पूजन करना, उनकी बात को सुनने तथा ध्यान देने योग्य समझना।

(५) पुनः पुनः उत्पन्न होने वाली तृष्णा के वश मे नही आना।

(६) वन की कुटियो मे निवास करना।

(७) सदा यह स्मरण रखना कि भविष्य में केवल ब्रह्मचारी ही संघ मे सम्मिलित हो, और सम्मिलित हुए लोग पूर्ण ब्रह्मचर्य के साथ रहे।

संघ-सभा मे जब भिक्षु लोग एकत्रित होते थे, तो प्रत्येक भिक्षु के बैठने के लिए

ग्रासन नियत होते थे। ग्रासनों की व्यवस्था करने के लिए एक पृथक् कर्मचारी होता था, जिसे ग्रासनप्रज्ञापक कहते थे। संघ में जिस विषय पर विचार होना होता था, उसे पहले प्रस्ताव के रूप में पेश किया जाता था। प्रत्येक प्रस्ताव तीन बार दोहराया जाता था, उसपर बहस होती थी, ग्रौर निर्णय के लिए मत (वोट) लिए जाते थे। संघ के लिए कोरम का भी नियम था। संघ की बैठक के लिए कम से कम बीस भिक्षुग्रों की उपस्थिति ग्रावश्यक होती थी। यदि कोई निर्णय पूरे कोरम के ग्रभाव में किया गया हो, तो उसे मान्य नहीं समझा ज.ता था।

प्रत्येक भिक्षु के लिए यह ग्रावश्यक था, कि वह संघ के सब नियमों का पालन करे, संघ के प्रति भक्ति रखे। इसलिए भिक्षु बनते समय जो तीन प्रतिज्ञाएँ लेनी होती थीं, उनके ग्रनुसार प्रत्येक भिक्षु को बुद्ध, धर्म ग्रौर संघ की शरण मे ग्राने का वचन लेना होता था। संघ मे शामिल हुए भिक्षु कठोर संयम का जीवन व्यतीत करते थे। मनुष्य-मात्र के कल्याण के लिए ग्रौर सब प्राणियों के हित के लिए ही भिक्षु संघ की स्थापना हुई थी। यह कार्य सम्पादित करने के लिए भिक्षुग्रो से वैयक्तिक जीवन की पवित्रता ग्रौर त्याग की भावना की पूरी ग्राशा रखी जाती थी।

बौद्ध-धर्म के ग्रपूर्व संघटन ने बुद्ध के ग्रार्यमार्ग के सर्वत्र प्रचारित होने में बडी सहायता दी। जिस समय मगध के साम्राज्यवाद ने प्राचीन संघराज्यों का ग्रन्त कर दिया, तब भी बौद्ध संघों के रूप मे भारत की प्राचीन जनतन्त्र-प्रणाली जीवित रही। राजनीतिक शक्ति यदि मागध-सम्राटो के हाथ में थी, तो धार्मिक ग्रौर सामाजिक शक्ति संघों में निहित थी। सघों में एकत्र होकर हजारों-लाखो भिक्खु लोग पुरातन गण-प्रणाली से उन विषयो का निर्णय किया करते थे, जिनका मनुष्यों के दैनिक जीवन से ग्रधिक घनिष्ठ सम्बन्ध था। बौद्ध संघ की इस विशेष स्थिति का यह परिणाम हुग्रा, कि भारत में समानान्तर रूप से दो प्रबल शक्तियाँ कायम रहीं, एक मागध साम्राज्य ग्रौर दूसरा चातुरन्त संघ। एक समय ऐसा भी ग्राया, जब इन दोनों शक्तियों मे परस्पर संघर्ष का भी सूत्रपात हो गया।

(९) आजीवक सम्प्रदाय

भारतीय इतिहास में वर्तमान महावीर ग्रौर गौतम बुद्ध का समय एक महत्त्वपूर्ण धार्मिक सुधारणा का काल था। इस समय मे ग्रनेक नवीन धार्मिक सम्प्रदायों का प्रादुर्भाव हुग्रा था। इनमे बौद्ध ग्रौर जैन धर्मों के नाम तो सब कोई जानते हैं, पर जो ग्रन्य सम्प्रदाय इस समय में प्रारम्भ हुए थे, उनका परिचय प्रायः लोगो को नहीं है। इसी प्रकार का एक सम्प्रदाय ग्राजीवक था। इसका प्रवर्त्तक मक्खलिपुत्त गोसाल था। ग्राजीवकों के कोई ग्रपने ग्रन्थ इस समय उपलब्ध नही होते। उनके सम्बन्ध में जो कुछ भी परिचय मिलता है, वह बौद्ध ग्रौर जैन साहित्य पर ही ग्राश्रित है। मक्खलिपुत्त गोसाल छोटी ग्रायु मे ही भिक्खु हो गया था। शीघ्र ही वर्धमान महावीर से उसका परिचय हुग्रा, जो 'केवलिन्' पद पाकर ग्रपने विचारों का जनता में प्रसार करने में सलग्न थे। महावीर ग्रौर गोसाल साथ-साथ रहने लगे। पर इन दोनों की तबियत, स्वभाव, ग्राचार-विचार ग्रौर चरित्र एक-दूसरे से इतने भिन्न थे, कि छः साल बाद

उनका साथ छूट गया, और गोसाल ने महावीर से अलग होकर अपने पृथक् सम्प्रदाय की स्थापना की, जो आगे चलकर आजीवक नाम से विख्यात हुआ। गोसाल ने अपने कार्य का मुख्य केन्द्र श्रावस्ती को बनाया। श्रावस्ती के बाहर एक कुम्भकार स्त्री का अतिथि होकर उसने निवास प्रारम्भ किया, और धीरे-धीरे बहुत-से लोग उसके अनुयायी हो गये।

आजीवक सम्प्रदाय के मन्तव्यों के सम्बन्ध में जो कुछ भी हमें ज्ञात है, उसका आधार उसका विरोधी साहित्य ही है। पर उसके कुछ मन्तव्यो के विषय मे निश्चित रूप से कहा जा सकता है। आजीवक लोग मानते थे, कि संसार में सब बातें पहले से ही नियत हैं। "जो नही होना है, वह नही होगा। जो होना है, वह कोशिश के बिना भी हो जाएगा। अगर भाग्य न हो, तो आयी हुई चीज भी नष्ट हो जाती है। नियति के बल से जो कुछ होना है, वह चाहे शुभ हो या अशुभ, अवश्य होकर रहेगा। मनुष्य चाहे कितना भी यत्न करे, पर जो होनहार है, उसे वह बदल नही सकता।" इसीलिए आजीवक लोग पौरुष, कर्म और उत्थान की अपेक्षा भाग्य या नियति को अधिक बलवान् मानते थे। आजीवको के अनुसार वस्तुओ मे जो विकार व परिवर्तन होते हैं, उनका कोई कारण नही होता। संसार मे कोई कार्य-कारण भाव काम कर रहा हो, सो बात नही है। पर जो कुछ हो रहा है या होना है, वह सब नियत है। मनुष्य अपने पुरुषार्थ से उसे बदल सके, यह सम्भव नही।

वर्धमान महावीर के साथ गोसाल का जिन बातों पर मतभेद हुआ, उनमें मुख्य निम्नलिखित थी—(१) शीतल जल का उपयोग करना, (२) अपने लिए विशेष रूप से तैयार किये गए अन्न व भोजन को ग्रहण करना, और (३) स्त्रियों के साथ सहवास करना। मक्खलिपुत्त गोसाल की प्रवृत्ति भोग की ओर अधिक थी। वह आराम से जीवन व्यतीत करने के पक्ष में था। महावीर का घोर तपस्यामय जीवन उसे पसन्द नही था। यही कारण है, कि महात्मा बुद्ध ने भी एक स्थल पर आजीवको को ऐसे सम्प्रदायो में गिना है, जो ब्रह्मचर्य को महत्त्व नही देते।

पर आजीवक भिक्खु का जीवन बडा सादा होता था। वे प्रायः हथेली पर रखकर भोजन किया करते थे। मास मछली और मदिरा का सेवन उनके लिए वर्जित था। वे दिन मे केवल एक बार भिक्षा मांगकर भोजन करते थे।

आजीवक सम्प्रदाय का भी पर्याप्त विस्तार हुआ। सम्राट् अशोक के शिलालेखो मे उल्लेख आता है, कि उसने अनेक गुहा-निवास आजीविकों को प्रदान किये थे। अशोक के पौत्र सम्राट् दशरथ ने भी गया के समीप नागार्जुनी पहाडियो में अनेक गुहाएँ आजीवकों के निवास के लिए दान मे दी थी, और इस दान को सूचित करने वाले शिलालेख अब तक उपलब्ध होते हैं। अशोक ने विविध धार्मिक सम्प्रदायों मे अविरोध उत्पन्न करने के लिए जो 'धर्ममहामात्र' नियत किये थे, उन्हें जिन अनेक सम्प्रदायों पर दृष्टि रखने का आदेश दिया गया था, उनमें बौद्ध, ब्राह्मण और निर्ग्रन्थ (जैन) सम्प्रदायों के साथ आजीविकों का भी उल्लेख है। इससे प्रतीत होता है, कि धीरे-धीरे आजीविकों ने भी पर्याप्त महत्त्व प्राप्त कर लिया था, और यह सम्प्रदाय भी कई सदियों तक जीवित रहा था। इस समय इसके कोई अनुयायी शेष नहीं हैं।

(१०) धार्मिक सुधारणा का प्रभाव

वर्धमान महावीर और गौतम बुद्ध के नेतृत्व में प्राचीन भारत की इस धार्मिक सुधारणा ने जनता के हृदय और दैनिक जीवन पर बड़ा प्रभाव डाला। लोगों ने अपने प्राचीन धार्मिक विश्वासों को छोडकर किसी नये धर्म की दीक्षा ले ली हो, यह नहीं हुआ। पहले धर्म का नेतृत्व ब्राह्मणों के हाथ में था, जो कर्मकाण्ड, विधि-विधान और विविध अनुष्ठानो द्वारा जनता को धर्म-मार्ग का प्रदर्शन करते थे। सर्वसाधारण गृहस्थ जनता सासारिक धन्धो मे सलग्न थी। वह कृषि, शिल्प, व्यापार आदि द्वारा धन उपार्जन करती थी और ब्राह्मणो द्वारा बताये धर्म-मार्ग पर चलकर इहलोक और परलोक मे सुख प्राप्त करने का प्रयत्न करती थी। अब ब्राह्मणों का स्थान श्रमणो, मुनियों और भिक्खुओ ने ले लिया। इन श्रमणो मे ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र—सभी वर्णों और जातियों के लोग सम्मिलित थे। अपने गुणो के कारण ही समाज मे इनकी प्रतिष्ठा थी। धर्म का नेतृत्व ब्राह्मण जाति के हाथ से निकलकर अब ऐसे लोगों के समुदायो के हाथ में आ गया था, जो घर-गृहस्थी को छोडकर मनुष्य-मात्र की सेवा का व्रत ग्रहण करते थे। निःसन्देह, यह एक बहुत बड़ी सामाजिक क्रान्ति थी।

भारत के सर्वसाधारण गृहस्थ सदा से अपने कुलक्रमानुगत धर्म का पालन करते रहे है। प्रत्येक कुल के अपने देवता, रीति-रिवाज और अपनी परम्पराएँ थीं, जिनका अनुसरण सब लोग मर्यादा के अनुसार करते थे। ब्राह्मणों का वे आदर करते थे, उनका उपदेश सुनते थे, और उनके बताये कर्मकाण्ड का अनुष्ठान करते थे। ब्राह्मण एक ऐसी श्रेणी थी, जो सांसारिक धन्धो से पृथक् रहकर धर्म-कार्यों मे संलग्न रहती थी। पर समय की गति से इस समय बहुत से ब्राह्मण त्याग, तपस्या और निरीह जीवन का त्याग कर चुके थे। अब उनके मुकाबिले मे श्रमणो की जो नई श्रेणी संगठित हो गई थी, वह त्याग और तपस्या का जीवन व्यतीत करती थी, और मनुष्य-मात्र का कल्याण करने मे रत रहती थी। जनता ने ब्राह्मणो की जगह अब इनको आदर देना और इनके उपदेशों के अनुसार जीवन व्यतीत करना शुरू किया। बौद्ध धर्म के प्रचार का यही अभिप्राय है। जनता ने पुराने धर्म का सर्वथा परित्याग कर कोई सर्वथा नया धर्म अपना लिया हो, सो बात भारत के इतिहास मे नही हुई।

बिम्बिसार, अजातशत्रु, उदायी, महापद्मनन्द और चन्द्रगुप्त मौर्य जैसे मागध सम्राट् जैन-मुनियो, बौद्ध-भिक्खुओं और ब्राह्मणो का समान रूप से आदर करते थे। जैन-साहित्य के अनुसार ये जैन थे, इन्होने जैन मुनियो का आदर किया और उन्हें बहुत-सा दान दिया। बौद्ध-ग्रन्थो के अनुसार ये बौद्ध थे, भिक्षुओं का ये बहुत आदर करते थे, और इनकी सहायता पाकर बौद्ध-सघ ने बड़ी उन्नति की थी। बौद्ध और जैन साहित्य इन सम्राटो के साथ सम्बन्ध रखने वाली कथाओं से भरे पड़े हैं, और इन सम्राटों का उल्लेख उसी प्रसंग में किया गया है, जब इन्होने जैन या बौद्ध-धर्म का आदर किया और उनसे शिक्षा ग्रहण की। पौराणिक साहित्य में इनका अनेक ब्राह्मणों के सम्पर्क में उल्लेख किया गया है। वास्तविक बात यह है, कि इन राजाओं ने किसी एक धर्म को निश्चित रूप से स्वीकार कर लिया हो, किसी का विशेष रूप से पक्ष लिया

हो, यह बात नहीं थी। प्राचीन भारतीय परम्परा के अनुसार ये ब्राह्मणों, श्रमणों और मुनियों का समान रूप से आदर करते थे। क्योंकि इस काल मे भिक्खु लोग अधिक संगठित और क्रियाशील थे, इसलिए उनका महत्त्व अधिक था। जो वृत्ति राजाओं की थी, वही जनता की भी थी।

इस धार्मिक सुधारणा का एक अन्य महत्त्वपूर्ण परिणाम यह हुआ, कि भारत में यज्ञों के कर्मकाण्ड का जोर कम हो गया। यज्ञों का महत्त्व घटने के साथ पशुबलि की प्रथा कम होने लगी। यज्ञों द्वारा स्वर्ग-प्राप्ति की आकाक्षा के निर्बल हो जाने से राजा और गृहस्थ लोग श्रावक या उपासक के रूप में भिक्षुओं द्वारा बताये गए मार्ग का अनुसरण करने लगे, और उनमें जो अधिक श्रद्धालु थे, वे मुनियों और श्रमणो का-सादा व तपस्यामय जीवन व्यतीत करने के लिए तत्पर हुए।

बौद्ध और जैन-सम्प्रदायो से भारत मे एक नई धार्मिक चेतना उत्पन्न हो गई थी। शक्तिशाली संघो मे संगठित होने के कारण इनके पास धन, मनुष्य व अन्य साधन प्रचुर परिणाम मे विद्यमान थे। परिणाम यह यह हुआ, कि मगध के साम्राज्य-विस्तार के साथ-साथ संघ की चातुरन्त सत्ता की स्थापना का विचार भी बल पकडने लगा। इसीलिए आगे चलकर भारतीय धर्म व संस्कृति का न केवल भारत के सुदूरवर्ती प्रदेशो मे ही, अपितु भारत से बाहर भी दूर-दूर तक प्रसार हुआ।

(११) बौद्ध साहित्य

जिस प्रकार प्राचीन वैदिक साहित्य में तीन संहिताएँ हैं, वैसे ही बौद्ध-साहित्य में तीन पिटक (त्रिपिटक) है। ये त्रिपिटक निम्नलिखित है—(१) विनय पिटक, (२) सुत्तपिटक, और (३) अभिधम्म पिटक। इन तीन पिटको के अन्तर्गत जो बहुत-से ग्रन्थ है, उन पर संक्षेप से प्रकाश डालना उपयोगी है।

विनय पिटक—इस पिटक मे आचार-सम्बन्धी वे नियम प्रतिपादित है, जिनका पालन प्रत्येक बौद्ध भिक्खु के लिए आवश्यक है। विनय पिटक के तीन भाग हैं—(१) सुत्त विभग, (२) खन्धक, और (३) परिवार। सुत्तविभंग दो भागों मे विभक्त है, भिक्खुविभंग और भिक्खुनीविभंग। इनमे वे नियम विशद रूप से प्रतिपादित है, जिनका पालन प्रत्येक भिक्खु और भिक्खुनी को आवश्यक रूप से करना चाहिए। खन्धक मे दो ग्रन्थ अन्तर्गत है—महावग्ग और चुल्लवग्ग। इन ग्रन्थों मे भिक्षुसंघ के साथ सम्बन्ध रखने वाली प्रत्येक बात विस्तृत रूप से प्रतिपादित है। संघ में प्रवेश किस प्रकार हो, विविध समयों पर कौन-कौन से व्रत रखे जाएँ, चातुर्मास किस प्रकार व्यतीत किया जाए, भिक्षु लोग कैसे कपडे पहनें, भोजन के लिए किन नियमों का अनुसरण करें, किस प्रकार की शैया प्रयुक्त करें, संघ में किसी प्रश्न के निर्णय करने का क्या ढंग हो, इस प्रकार की सब बातो का महावग्ग और चुल्लवग्ग में प्रतिपादन है। इन ग्रन्थों की प्रतिपादन शैली कथात्मक है। भगवान् बुद्ध जब उस अवसर पर और उस स्थान पर थे, तब एक समस्या उत्पन्न हुई, और तब उन्होंने यह नियम बनाया—इस ढंग से भिक्षुओं के लिए उपयुक्त नियमों व धर्मों का उपदेश किया गया है। ऐतिहासिक दृष्टि से

विनय-पिटक के ये अंश बहुत महत्त्व के हैं। विनय पिटक का सार 'परिवार' है, और उसमें प्रश्नोत्तर के रूप से बौद्ध-भिक्खुओं के नियम व कर्त्तव्य दिये गए हैं।

सुत्त-पिटक—इस पिटक के अन्तर्गत पांच निकाय हैं—(१) दीघनिकाय, (२) मज्झिमनिकाय, (३) अंगुत्तरनिकाय, (४) संयुक्तनिकाय और (५) खुद्दकनिकाय। दीघनिकाय के तीन खण्ड हैं, और उसमें कुल मिलाकर ३४ दीर्घाकार सुत्त या सूक्त हैं। इनमें सबसे बड़ा महापरिनिब्बानसुत्त है। दीघनिकाय के प्रत्येक सुत्त में महात्मा बुद्ध के संवाद संकलित हैं। मज्झिमनिकाय मे कुल मिलाकर मध्य आकार के १२५ सुत्त हैं। ये सुत्त दीघनिकाय के सुत्तों की अपेक्षा छोटे आकार के है, यद्यपि इनके प्रतिपाद्य विषय प्रायः वे ही हैं, जो दीघनिकाय के सुत्तो के हैं। अंगत्तुरनिकाय के कुल सुत्तों की संख्या २३०० है, जिन्हें ११ खण्डों में विभक्त किया गया है। संयुक्त निकाय में ५६ सुत्त हैं, जिन्हें पाँच (वग्गो) वर्गों में बाँटा गया है। एक विषय के साथ सम्बन्ध रखने वाले सुत्त एक वग्ग (वर्ग) मे एकत्र करके रखे गये हैं। खुद्दक निकाय के अन्तर्गत १५ विविध पुस्तकें हैं, जिनके नाम निम्नलिखित हैं—खुद्दक पाठ, धम्मपद, उदान, इतिवुतक, सुत्तनिपात, विमानवत्थु, थेरगाथा, थेरीगाथा, जातक, निद्देस, पहिसंमिदा, अपदान, बुद्धवंस, और चरियापिटक। खुद्दक निकाय नाम से ऐसा सूचित है, कि इसके अन्तर्गत सुत्त छोटे आकार के हैं, पर वस्तुतः इस निकाय की सब पुस्तकें अपने-आपमें स्वतन्त्र व पृथक् ग्रन्थो के समान है, जिनमे धम्मपद और सुत्तनिपात सबसे प्रसिद्ध हैं। बौद्ध-साहित्य में धम्मपद का प्रायः वही स्थान है, जो कि हिन्दू-साहित्य मे गीता का है। ऐतिहासिक दृष्टि से जातक-ग्रन्थ विशेष रूप से उपयोगी है। इनमे ५५० के लगभग कथाएँ दी गई हैं, जिन्हें महात्मा बुद्ध के पूर्वजन्मो की कथाओ के रूप मे लिखा गया है। बौद्ध-धर्म के अनुसार निर्वाण पद की प्राप्ति के लिए यह आवश्यक है कि मनुष्य सत्कर्मों का निरन्तर अनुष्ठान करें, निरन्तर सदाचरण करें। भगवान् बुद्ध को भी बुद्ध-पद प्राप्त करने से पूर्व बहुत-सी योनियो में से गुजरना पडा था। इन योनियों में रहते हुए उन्होंने निरन्तर सत्कर्म किये थे, इसीलिए अन्त में उन्हें बुद्ध-पद प्राप्त हो सका था। जातकों मे गौतम-बुद्ध के इन्हीं पूर्वजन्मों की कथाएँ संकलित है।

अभिधम्म पिटक—इस पिटक मे बौद्ध धर्म का दार्शनिक विवेचन और अध्यात्म-चिन्तन सम्मिलित है। इसके अन्तर्गत सात ग्रन्थ हैं—(१) धम्म संगनि (२) विभग, (३) धातु कथा, (४) पुल पंञति, (५) कथावत्थु, (६) यमक, और (७) पट्ठान। इस पिटक के प्रतिपाद्य विषय सुत्तपिटक के विषयो से बहुत भिन्न नही हैं, पर इनमें उनका विवेचन गम्भीर दार्शनिक पद्धति से किया गया है।

संस्कृत त्रिपिटक—बौद्ध-धर्म के जिस साहित्य का हमने ऊपर परिचय दिया है, वह पालि भाषा मे है। बौद्ध-धर्म के अनेक सम्प्रदाय हैं, जिनमे थेरवाद बहुत महत्त्वपूर्ण है। लंका और बरमा में इस थेरवाद का ही प्रचार है, और इस सम्प्रदाय का त्रिपिटक पालि भाषा में है। पर बौद्ध-धर्म के अन्य अनेक 'सम्प्रदायों (यथा महायान, सर्वास्तिवाद आदि) का त्रिपिटक पालि भाषा में न होकर संस्कृत भाषा में है। खेद है कि संस्कृत का त्रिपिटक अविकल रूप मे इस समय उपलब्ध नही है।

दसवाँ अध्याय

मागध-साम्राज्य का विकास

(१) मागध का साम्राज्यवाद

बौद्ध-युग की जिन दो प्रमुख ऐतिहासिक घटनाओं का हमने पिछले अध्याय में उल्लेख किया है, उनमे मागध-साम्राज्य का विकास बहुत महत्त्वपूर्ण है।

साम्राज्यवाद की प्रवृत्ति--भारत के विविध आर्य-जनपदो मे अन्यतम मगध था। उसकी प्राचीन राजधानी राजगृह थी। बाद मे राजा उदायीभद्र ने पाटलिपुत्र (वर्तमान पटना) को इसकी राजधानी नियत किया था। मगध के इस आर्य-जनपद मे आर्य-भिन्न निवासियों की संख्या बहुत अधिक थी। यही कारण है, कि बहुत प्राचीन काल से इसमें एक नये प्रकार के साम्राज्यवाद का विकास हो रहा था। अन्य आर्य राजाओं के समान मगध के राजा अपने प्रतिद्वन्द्वी राजाओं को परास्त कर उनसे अधीनता स्वीकार कराके ही सन्तुष्ट नही हो जाते थे। वे उनका मूलोच्छेद कर, उनके प्रदेशो को अपने साम्राज्य मे सम्मिलित करने के लिए प्रयत्नशील रहते थे। ऐतरेय ब्राह्मण मे प्राची दिशा के राज्यों के सम्बन्ध मे लिखा है, कि वहाँ के जो राजा है वे सम्राट् कहाते है, उनका साम्राज्य के लिए 'सम्राट्' के रूप मे ही अभिषेक होता है। प्राच्य जनपदों मे मगध सर्वप्रमुख था।

जरासन्ध का साम्राज्य-विस्तार--बहुत प्राचीन काल से मगध में साम्राज्यवाद की प्रवृत्ति का विकास हो रहा था। ऐतरेय ब्राह्मण की इस बात की पुष्टि इतिहास द्वारा भी होती है। महाभारत के समय मे मगध का राजा जरासन्ध था। उसने चारो ओर दिग्विजय करके अपने साम्राज्य का बड़ा विस्तार किया। जरासन्ध का साम्राज्यवाद भारत के प्राचीन चक्रवर्ती राजाओं के साम्राज्यवाद से बहुत भिन्न था। जरासन्ध पराजित राजाओ का मूलोच्छेद करने का प्रयत्न करता था। इसी कारण महाभारत में लिखा है, कि उसके कारागार मे बहुत-से राजा कैद थे और जरासन्ध उनकी बलि देने की तैयारी कर रहा था।

मगध के अन्य सम्राट्—मगध के अन्य भी बहुत-से राजाओं ने इसी प्रकार के साम्राज्यवाद का अनुसरण किया। बिम्बिसार, अजातशत्रु, उदायीभद्र, नागदासक और महापद्मनन्द के नाम इस प्रसंग मे उल्लेखनीय है। पुराणों मे महापद्मनन्द को 'एकराट्' 'एकच्छत्र', 'अतिबल' और 'सर्वक्षत्रान्तक' आदि उपाधियों से विभूषित किया गया है। मगध के इन्ही राजाओं ने धीरे-धीरे भारत के अन्य सब राजतन्त्र व गणतन्त्र जनपदों को परास्त कर सम्पूर्ण देश में अपना एकच्छत्र 'अनुल्लंघित शासन' स्थापित कर लिया।

मगध की सैन्यशक्ति—आर्य लोग भारत में पश्चिम से पूर्व की तरफ फैले थे। वर्तमान समय के पंजाब व उत्तर-प्रदेश में उनके जो जनपद स्थापित हुए, उनके निवासी

मुख्यतया आर्य जाति के थे। पर पूर्व के राज्यो मे 'आर्य-भिन्न' लोगों की संख्या अधिक थी। इनमें थोड़े-से आर्य बहुसंख्यक विजातीय लोगों पर शासन करते थे। इन जनपदों में राजा 'समानों में ज्येष्ठ' न होकर 'एकराट्' होता था। इन एकराटो की शक्ति का आधार आर्य लोगो की शक्ति उतनी नही होती थी, जितनी कि भरती की हुई सेनाओं की शक्ति। उनकी सेनाओ मे भी आर्यतत्व के अतिरिक्त 'भृत' (वेतन पर एकत्र किए हुए या मर्सिनरी) सैनिको की प्रचुरता रहती थी। कौटलीय अर्थशास्त्र में निम्नलिखित प्रकार की सेनाओं का उल्लेख है—(१) मौल—जो राजा व शासक आर्यवर्ग की अपनी जाति के लोगो की सेना हो। इसमे शुद्ध आर्य सैनिक ही सम्मिलित होते थे। (२) भृत—वेतन के लिए भरती हुए लोगों की सेना। क्योंकि मगध व अन्य पूर्वी जनपदो मे आर्य-भिन्न जातियो के निवासी बहुत अधिक थे, अतः उन्हें वेतन देकर बडी सख्या मे सेना मे भरती किया जा सकता था। मगध की सेना मे भृत सैनिको को भरती करने की जो सुविधा थी, वह कुरु, पाचाल, कोशल, मालव आदि पश्चिम के जनपदो मे नही थी। (३) श्रेणी—प्राचीन काल मे जिस प्रकार शिल्पियो व कारीगरो की श्रेणियाँ (guilds) थी, उसी प्रकार सैनिको की भी थीं। ये श्रेणियाँ एक प्रकार के स्वतन्त्र संगठन थे, जिनके अपने कानून और अपने परम्परागत नियम होते थे। आर्यों ने जिन आर्य-भिन्न जातियों को जीतकर अपने अधीन किया था, उनमें बहुत-से लोग बडे वीर होते थे। इन्होंने अपनी स्वतन्त्र सैनिक श्रेणियाँ संगठित कर ली थी, और राजा लोग अपनी साम्राज्य-सम्बन्धी महत्त्वाकांक्षा को पूर्ण करने के लिए इन सैनिक श्रेणियो का भली-भाँति उपयोग कर सकते थे। वेतन, उपहार व अन्य प्रलोभनो द्वारा इन सैनिक श्रेणियो के पेशेवर सैनिक मगध के सम्राटो की सहायता के लिए सदा तत्पर रहते थे। (४) मित्र—जो पडोसी राजा अपने मित्र हो, उनकी सेना को 'मित्रबल' कहते थे। चेदिराज शिशुपाल मागध-सम्राट् जरासन्ध का मित्र था। वह जरासन्ध का प्रधान सेनापति भी था। चेदि की सेना मगध की सहायता के लिए सदा तत्पर रहती थी। इस प्रकार की सेना को मित्रबल कहते थे। (५) अटवि-बल—प्राचीन काल मे भारत का बहुत-सा भाग जगलों से आच्छन्न था। विशेषतया, पूर्वी भारत मे उस समय बहुत घने व विशाल जंगल थे। वर्तमान समय का छोटा नागपुर व सन्थाल परगना के जगलप्रधान प्रदेश इन्ही 'महाकान्तारो' के अवशेष हैं। इन अटवियो (जंगलो) मे उस समय बहुत-सी योद्धा जातियाँ निवास करती थी, जिन्हे आर्य लोग पूरी तरह अपनी अधीनता मे लाने मे सफल नही हुए थे। ये आटविक लोग बडे वीर योद्धा होते थे। मगध के सम्राटों ने इनकी शक्ति का अपने उत्कर्ष के लिये प्रयोग किया। अटवि के निवासियों की सेना का उन्होंने पृथक् रूप से संगठन किया। इसके लिए उन्होने एक पृथक् अमात्य की भी नियुक्ति की।

ऊपर पाँच प्रकार की जिन सेनाओ का वर्णन किया गया है, उन्हें संगठित करने की जो सुविधा मगध को थी, वह भारत के अन्य राज्यो को नही थी। भृत और आटविक सेनाओं के साथ-साथ मगध के राजनीतिज्ञो ने साम्राज्य के विस्तार के लिए अद्भुत प्रकार की कूटनीति का भी विकास किया था।

(२) सोलह महाजनपद

बुद्ध के समकालीन मगध के राजा बिम्बिसार थे। उनके समय में और उनके बाद मगध की बहुत उन्नति हुई। धीरे-धीरे वह उत्तरी भारत की सबसे बड़ी राजनीतिक शक्ति बन गया। मगध के इस उत्कर्ष को भली-भाँति समझने के लिए यह आवश्यक है, कि हम इस समय के अन्य विविध राज्यों पर प्रकाश डालें। हम पहले लिख चुके है, कि प्राचीन भारत में बहुत-से छोटे-छोटे राज्य थे, जिन्हे 'जनपद' कहते थे। धीरे-धीरे कुछ जनपद अधिक शक्तिशाली होते गए। उन्होने समीपवर्ती जनपदों पर अधिकार करना प्रारम्भ किया, और अपने मूल जनपद मे नए प्रदेश सम्मिलित कर 'महाजनपद' का रूप प्राप्त कर लिया। बौद्ध-साहित्य मे जगह-जगह पर सोलह 'महाजनपदो' का उल्लेख आता है। प्रतीत होता है, कि महात्मा बुद्ध के समय मे ये सोलह जनपद बहुत महत्त्वपूर्ण हो गए थे, और उन्हे महाजनपद कहा जाने लगा था। ये सोलह महाजनपद निम्नलिखित थे—

(१) **अंग**—यह मगध के ठीक पूर्व में था। मगध और अग के बीच में चम्पा नदी बहती थी, जो इन दोनो महाजनपदो को एक-दूसरे से पृथक् करती थी। अग की राजधानी का नाम भी चम्पा था। बौद्ध काल मे चम्पा को भारत के सबसे बड़े छः नगरो मे गिना जाता था। अन्य पाँच नगर राजगृह, श्रावस्ती, साकेत, कौशाम्बी और वाराणसी थे। चम्पा पूर्वी व्यापार का बहुत बडा केन्द्र थी। अग और मगध मे निरन्तर सघर्ष चलता रहता था। महात्मा बुद्ध के समय मे अग मगध के अधीन हो चुका था। (२) **मगध**—इसकी राजधानी गिरिव्रज या राजगृह थी। बार्हद्रथ और पुलक के वशों का अन्त होने पर बुद्ध के समय मे श्रेणिय बिम्बिसार मगध के राजा थे (३) **काशी**—इसकी राजधानी वाराणसी थी। एक ग्रन्थ के अनुसार इसका विस्तार बारह योजन था। (४) **कोशल**—इसकी राजधानी श्रावस्ती थी, जो अचिरावती (राप्ती) नदी के तट पर स्थित थी। कोशल देश की दूसरी प्रसिद्ध नगरी साकेत (अयोध्या) थी। कोशल-जनपद के पश्चिम में पंचाल-जनपद, पूर्व मे सदानीरा (गण्डक) नदी, उत्तर मे नैपाल की पर्वतमाला और दक्षिण मे स्यन्दिका नदी थी। आधुनिक समय का अवध प्रान्त प्राय. वही है, जो प्राचीन समय मे कोशल था। इसमें ऐक्ष्वाकव-वश के क्षत्रिय राजा राज्य करते थे। महात्मा बुद्ध के समय मे कौशल की राजगद्दी पर राजा विरुद्धक (विडूडभ) विराजमान थे। (५) **वृजि या वज्जि**—यह एक संघ का नाम था, जिसमे आठ गणराज्य सम्मिलित थे। इन आठ गणो में विदेह, लिच्छवि और ज्ञातृकगण मुख्य थे। सारे वज्जि-संघ की राजधानी वैशाली थी। वर्तमान समय के बिहार प्रान्त मे गंगा के उत्तर तथा हिमाचल के दक्षिण मे जो उत्तरी बिहार का प्रदेश है, उसे तिरहुत कहते हैं। वज्जि-संघ की स्थिति वही पर थी। वज्जि-सघ मे सम्मिलित आठो गण पृथक्-पृथक् जनपद थे। विदेह की राजधानी मिथिला थी, ज्ञातृकगण की राजधानी कुण्ड-ग्राम थी, और लिच्छवि गण की राजधानी वैशाली थी। यह वैशाली सम्पूर्ण वज्जि-सघ की भी राजधानी थी। महात्मा बुद्ध के समय में यह वज्जि-संघ अत्यन्त शक्तिशाली और समृद्ध था। (६) **मल्ल**—यह महाजनपद भी एक संघ के रूप मे था, जिसमे दो

गण सम्मिलित थे, कुशीनारा के मल्ल और पावा के मल्ल। यह संघ वज्जि-संघ के पश्चिम में था। (७) **वत्स**—इसकी राजधानी कौशाम्बी थी। इस नगरी के अवशेष इलाहाबाद जिले में यमुना के किनारे कोसम गाँव में उपलब्ध हुए हैं। बौद्ध-काल में वत्स बहुत ही शक्तिशाली राज्य था। वहाँ का राजा उदयन अपने समय का सबसे प्रतापी व प्रसिद्ध राजा था। संस्कृत-साहित्य उसकी कथाओं से परिपूर्ण है। (८) **चेदि**—वर्तमान समय का बुन्देलखण्ड प्राचीन चेदि राज्य को सूचित करता है। इसकी राजधानी शुक्तिमती नगरी थी। (९) **पंचाल**—यह कोशल और वत्स के पश्चिम तथा चेदि के उत्तर में स्थित था। प्राचीन समय में पंचाल दो राज्यों में विभक्त था—उत्तर पंचाल और दक्षिण-पचाल। वर्तमान समय का रुहेलखण्ड उत्तर-पंचाल को तथा कानपुर व फर्रुखाबाद के प्रदेश दक्षिण-पंचाल को सूचित करते हैं। उत्तर-पंचाल की राजधानी अहिच्छत्र और दक्षिण-पंचाल राजधानी काम्पिल्य थी। (१०) **कुरु**—इस महाजनपद की राजधानी इन्द्रप्रस्थ थी। यह नगर वर्तमान दिल्ली के समीप यमुना के तट पर स्थित था। हस्तिनापुर, मेरठ और दिल्ली के प्रदेश इस जनपद के अन्तर्गत थे। (११) **मत्स्य**—इसकी राजधानी विराट् नगर या वैराट थी, जो वर्तमान समय के जयपुर क्षेत्र में है। मत्स्य-महाजनपद यमुना के पश्चिम तथा कुरु के दक्षिण में स्थित था। (१२) **शूरसेन**—इसकी राजधानी मथुरा थी। महाभारत के समय का प्रसिद्ध अन्धक-वृष्णिसंघ इसी प्रदेश में स्थित था। (१३) **अश्मक**—यह राज्य गोदावरी नदी के समीपवर्ती प्रदेश में था। इसकी राजधानी पोतन या पोतलि नगरी थी। (१४) **अवन्ति**—चेदि के दक्षिण-पश्चिम में जहाँ अब मालवा का प्रदेश है, प्राचीन समय में अवन्ति का महाजनपद स्थित था। इसकी राजधानी उज्जैन थी। बौद्धकाल में यह राज्य बहुत शक्तिशाली था। महात्मा बुद्ध के समय में अवन्ति का राजा चण्ड प्रद्योत था, जो वत्सराज उदयन को जीतकर अपना साम्राज्य बनाने में तत्पर था, और जिसके भय से ही मगधराज अजातशत्रु ने राजगृह की किलाबन्दी की थी। (१५) **गान्धार**—इसकी राजधानी तक्षशिला थी, जो उस समय भारत में विद्या का सबसे बडा केन्द्र थी। रावलपिण्डी, पेशावर, काश्मीर तथा हिन्दूकुश पर्वतमाला तक फैले हुए पश्चिमोत्तर भारत के प्रदेश इस महाजनपद में सम्मिलित थे। महात्मा बुद्ध के समय में इसका राजा पुक्कसाती था, जिसने मगधराज बिम्बिसार के पास एक दूतमण्डल भी भेजा था। (१६) **कम्बोज**—गान्धार के परे उत्तर में पामीर का प्रदेश तथा उससे भी परे बदख्शां का प्रदेश कम्बोज महाजनपद कहलाता था। कम्बोज में इस काल में भी गणतन्त्र-शासन स्थापित था।

अन्य जनपद—इन सोलह महाजनपदों के अतिरिक्त उस समय भारत में अन्य भी बहुत-से जनपद स्वतन्त्र रूप से विद्यमान थे। कोशल के उत्तर और मल्ल के पश्चिमोत्तर (आधुनिक नेपाल की तराई) में शाक्य-जनपद था, जिसकी राजधानी कपिलवस्तु थी। यहीं पर महात्मा बुद्ध का प्रादुर्भाव हुआ था। शाक्यगण के पड़ोस में ही कोलियगण (राजधानी—रामग्राम), मोरियगण (राजधानी—पिप्पलिवन), बुलिगण (राजधानी—अल्लकप्प), भग्गगण (राजधानी—सुंसुमार) और कालामगण (राजधानी—केसपुत्त) की स्थिति थी। गान्धार, कुरु तथा मत्स्य के बीच केकय, मद्रक,

त्रिगर्त और यौधेय जनपद थे, और अधिक दक्षिण मे सिन्धु, शिबि अम्बष्ठ और सौवीर आदि जनपदों की स्थिति थी। पर बौद्ध-साहित्य में सोलह महाजनपदों का जिस प्रकार बार-बार उल्लेख आता है, उससे प्रतीत होता है, कि उस समय में ये सब अन्य जनपद अपने पड़ोसी शक्तिशाली महाजनपदो की किसी-न-किसी रूप में अधीनता स्वीकार करते थे। वस्तुतः, उस समय में इन सोलह जनपदों में भी मगध, वत्स, कोशल और अवन्ति—ये चार सबसे अधिक शक्तिशाली थे। ये जहाँ अपने समीपवर्ती राज्यों को जीतकर अपने अधीन करने की कोशिश मे थे, वहाँ आपस मे भी इनमें घनघोर संघर्ष का प्रारम्भ हो चुका था।

(३) मगध का उत्कर्ष

श्रेणिय बिम्बिसार—श्रेणिबल के सेनानी भट्टिय ने राजा बालक के विरुद्ध षड्यन्त्र कर उसे मार डाला, और अपने पुत्र बिम्बिसार को मगध की राजगद्दी पर बिठाया, यह पहले लिखा जा चुका है। सम्भवतः, इसी राजा बालक का दूसरा नाम कुमारसेन भी था। महाकवि बाणभट्ट ने हर्षचरित में इस षड्यन्त्र का निर्देश किया है। वहाँ लिखा है, कि महाकाल के मेले मे महामांस की बिक्री के कारण जो झगड़ा उठ खड़ा हुआ था, उससे लाभ उठाकर श्रेणिय भट्टिय की प्रेरणा से तालजंघ नाम के एक वेताल सैनिक ने राजा कुमारसेन पर अचानक हमला कर दिया और उसे मौत के घाट उतार दिया। बाणभट्ट ने कुमारसेन को 'जघन्यज' लिखा है। यह स्पष्ट है, कि पुलिक या पुनिक के वंशज शुद्ध आर्यकुल के न होकर नीच व आर्य-भिन्न कुल के थे। इस समय मगध मे आर्य-भिन्न सैनिक श्रेणियो की प्रबलता थी और उनके साहसी नेता मगध के सिंहासन को गेंद की तरह उछाल रहे थे। बार्हद्रथ रिपुञ्जय को 'जघन्यज' पुलिक ने मारा, और उसके पुत्र बालक या कुमारसेन को भट्टिय ने मरवा दिया।

बिम्बिसार बहुत शक्तिशाली तथा महत्वाकांक्षी राजा था। उसका विवाह कोशल देश की राजकुमारी कोशलदेवी के साथ हुआ था। इसी विवाह के दहेज में 'नहानचुन्न मूल्य' के रूप मे काशी जनपद का एक प्रदेश, जिसकी आमदनी एक लाख वार्षिक थी, बिम्बिसार को प्राप्त हुआ था। कोशल के साथ वैवाहिक सम्बन्ध के स्थापित हो जाने से मगध को पश्चिम के इस शक्तिशाली राज्य से कोई भय नही रह गया था, और वह निश्चिन्त रूप से पूर्व की तरफ साम्राज्य-विस्तार के लिए प्रयत्न कर सकता था। राजा बिम्बिसार ने अंग-महाजनपद के राजा ब्रह्मदत्त के ऊपर आक्रमण किया और उसे जीतकर अपने अधीन कर लिया। इस समय से कुछ पहले वत्स महाजनपद का राजा शतानीक (उदयन का पिता) अंग देश को अपनी अधीनता मे ला चुका था। ऐसा प्रतीत होता है, कि वत्स-जनपद अंग को देर तक अपने अधीन नहीं रख सका और अवसर पाते ही अंग स्वाधीन हो गया। पर उसकी स्वतन्त्रता देर तक कायम नही रही, और अब वह मगध के साम्राज्यवाद का शिकार हो गया। राजा बिम्बिसार अंगराज से अधीनता स्वीकृत कराके ही सन्तुष्ट नही हुआ, अपितु उसने वहाँ के राजा ब्रह्मदत्त को मारकर अंग को पूर्णतया मागध-साम्राज्य के अन्तर्गत कर लिया। काशी का कुछ प्रदेश उसे पहले ही प्राप्त हो चुका था। अब अंग को अधिगत कर लेने

से वह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण राज्य बन गया, और साम्राज्य-विस्तार के लिए उस संघर्ष में प्रवृत्त हुआ, जिसका उग्ररूप हम अजातशत्रु के शासन में देखेंगे।

मगध की पुरानी राजधानी गिरिव्रज थी। पर यह नगर गंगा के उत्तर में विद्यमान वज्जिसंघ के आक्रमणो से सुरक्षित नही था। इसपर निरन्तर वज्जियों के आक्रमण होते रहते थे। इन्ही के कारण गिरिव्रज में एक बार भारी आग लग गयी थी। बिम्बिसार ने गिरिव्रज के उत्तर मे एक नए नगर की स्थापना की, जिसका नाम राजगृह था। उसे एक दुर्ग के रूप में बनाया गया था, ताकि वज्जियो के आक्रमणों का वहाँ से भली-भाँति मुकाबिला किया जा सके। जिस उद्देश्य से राजगृह की स्थापना की गयी थी, वह सफल हुआ। कुछ समय के लिए वज्जियो के आक्रमण बन्द हो गए, और वज्जिसंघ तथा मगध की सन्धि को स्थिर करने के लिए उनमे वैवाहिक सम्बन्ध भी स्थापित किया गया। वज्जिकुमारी चेलना का विवाह बिम्बिसार के साथ कर दिया गया। बिम्बिसार बडा शक्तिशाली राजा था। बौद्ध-ग्रन्थ महावग्ग मे लिखा है, कि उसकी अधीनता मे ८०,००० ग्राम थे।

महात्मा बुद्ध राजा बिम्बिसार के समकालीन थे। अपने धर्मचक्र का प्रवर्तन करते हुए महात्मा बुद्ध कई बार मगध आए और बिम्बिसार से उनकी भेंट हुई। बिम्बिसार के हृदय मे बुद्ध के लिए बहुत आदर था। प्रसिद्ध चिकित्सक जीवक भी राजा बिम्बिसार के समय मे ही हुआ। यह शालवती नाम की वेश्या का पुत्र था और पैदा होते ही माता ने इसका परित्याग कर दिया था। कुमार अभय (बिम्बिसार के अन्यतम पुत्र) ने उसे अपना लिया और पाल-पोसकर बडा किया। जीवक को अत्यन्त उच्च शिक्षा दी गयी और उसे पढने के लिए तक्षशिला भेज दिया गया। तक्षशिला मे जीवक ने आयुर्वेद-शास्त्र की कौमारभृत्य शाखा मे विशेष निपुणता प्राप्त की। विद्याध्ययन समाप्त कर जीवक मगध वापिस लौटा और आगे चलकर बहुत प्रसिद्ध वैद्य बना। जीवक के चिकित्सा-सम्बन्धी चमत्कारो का उल्लेख बौद्ध-साहित्य मे अनेक स्थानो पर किया गया है।

बिम्बिसार १५ वर्ष की आयु मे मगध का राजा बना था। ६७ वर्ष की आयु तक कुल ५२ वर्ष उसने राज्य किया। बिम्बिसार के बाद मगध के राजसिंहासन पर अजातशत्रु आरूढ हुआ। उसने अपने पिता को बन्दीगृह मे डाल दिया था, जहाँ भूख प्यास से तडप-तडप कर उसकी मृत्यु हो गई थी।

अजातशत्रु—राजगद्दी पर अधिकार कर लेने के पश्चात् अजातशत्रु का अन्य राज्यो के साथ युद्धो का प्रारम्भ हुआ। पहला युद्ध कोशल-महाजनपद के साथ हुआ। वहाँ इस समय राजा प्रसेनजित् का शासन था, जो अजातशत्रु का मामा था। राजा बिम्बिसार ने कोशल राज्य की कुमारी के साथ विवाह कर 'नहान चुन्न मूल्य' के रूप में काशी का जो प्रदेश दहेज मे प्राप्त किया था, उसपर अब कोशल के राजा ने फिर अपना अधिकार कर लिया था। अपने पति के वियोग में रानी कोशल देवी का भी स्वर्गवास हो चुका था। अतः प्रसेनजित् चाहता था, कि काशी जनपद का वह प्रदेश पितृघाती अजातशत्रु के पास न रहने पाए। इसी प्रश्न पर मगध और कोशल मे युद्ध का प्रारम्भ हुआ।

यद्यपि अंत में प्रसेनजित् अजातशत्रु को परास्त करने में समर्थ हुआ, पर मगध की शक्ति का उसे भली-भाँति परिज्ञान हो गया था। उसने यही उचित समझा कि अजातशत्रु के साथ सन्धि कर ली जाय और इस सन्धि को स्थिर रखने के लिए अपनी कन्या वजिरा का विवाह उसके साथ कर दिया जाय। जिस प्रकार कोशलदेवी को बिम्बिसार के साथ विवाह के समय काशी राज्य का एक लाख वार्षिक आमदनी का प्रदेश दहेज मे 'नहान-चुन्न-मूल्य' के रूप में प्रदान किया गया था, वैसे ही अब वजिरा के विवाह में वही प्रदेश उसी रूप में फिर दे दिया गया। इस प्रकार काशी का वह प्रदेश मागध-साम्राज्य में ही शामिल रहा।

वज्जिसंघ की पराजय—कोशल के साथ सन्धि हो जाने के अनन्तर अजातशत्रु ने गंगा के उत्तर मे विद्यमान वज्जिसंघ पर आक्रमण करने का विचार किया। वज्जि-संघ मे आठ गण सम्मिलित थे। उसे परास्त करने के लिए अजातशत्रु ने भेद और प्रदान की नीति का आश्रय लिया, और अपने प्रधानमन्त्री वर्षकार की कूटनीति द्वारा वज्जि-संघ को परास्त करने मे सफलता प्राप्त की। साथ ही, वज्जिसंघ के समीपवर्ती मल्ल-गण को भी जीतकर उसने मागध साम्राज्य मे सम्मिलित कर लिया।

अजातशत्रु ने ३२ वर्ष तक राज्य किया। जिस समय महात्मा बुद्ध का निर्वाण हुआ, अजातशत्रु को शासन करते हुए आठ वर्ष व्यतीत हो चुके थे। महात्मा बुद्ध का निर्वाणकाल ४८० ईस्वी पूर्व के लगभग है। अतः अजातशत्रु ४८८ ईस्वी पूर्व में राजगद्दी पर बैठे, और ४५६ ईस्वी पूर्व मे उनके शासन का अन्त हुआ।

राजा उदायीभद्र—प्रसिद्ध बौद्ध ऐतिहासिक ग्रन्थ महावंश के अनुसार उदायी-भद्र ने भी अपने पिता अजातशत्रु को मारकर मगध का राजसिंहासन प्राप्त किया था। अजातशत्रु ने अपने पिता बिम्बिसार का घात किया था, और उदायी ने अजात-शत्रु का। एकराट् बनने के इच्छुक ये मागध-सम्राट् सचमुच ही 'नयवर्जित' थे। शायद इन्हीं को दृष्टि मे रखकर आचार्य चाणक्य ने अर्थशास्त्र मे लिखा है, कि राजपुत्र कर्कट (केंकडे) के समान होते है, जो अपने पिता को ही खा जाते हैं।

पाटलिपुत्र की स्थापना उदायी ने ही की। अजातशत्रु के समय मे मगध की राजधानी राजगृह थी। काशी, मल्ल, और वज्जि महाजनपदो को जीत लेने के बाद मागध-साम्राज्य इतना विस्तृत हो गया था, कि राजगृह साम्राज्य के केन्द्र से बहुत दूर पडता था। शक्तिशाली वज्जिसंघ को भली-भाँति काबू मे रखने के लिए भी एक ऐसी राजधानी की आवश्यकता थी, जो वज्जि-जनपद से अधिक दूर न हो। पाटलिपुत्र इसके लिए बहुत ही उपयुक्त नगर था।

उदायी बहुत ही महत्त्वाकाक्षी तथा वीर राजा था। पडोस के सब राजा उसके निरन्तर आक्रमणो से तग थे। वे समझते थे, कि जब तक उदायी जीवित रहेगा, तब तक दूसरे राजा चैन से राज्य-सुख का उपभोग नही कर सकेंगे। पर उदायी ने किस-किस राजा को जीतकर अपने अधीन किया, इसका वृत्तान्त भारत की प्राचीन अनुश्रुति से ज्ञात नही होता। जैन-ग्रन्थो मे उदायी के विषय मे एक अत्यन्त उपयोगी कथा पायी जाती है। हेमचन्द्रकृत 'स्थविरावलिचरित्र' के अनुसार उदायी ने किसी समीपवर्ती राजा पर आक्रमण कर उसके राज्य को छीन लिया और वह राजा भी युद्ध में मारा

गया। परन्तु उस राजा के पुत्र ने अवन्ति के राजा के पास जाकर आश्रय लिया और उसने उदायी के विरुद्ध युद्ध करने के लिए सहायता की याचना की। अवन्ति के राजा ने इस राजकुमार को सहायता देना स्वीकृत कर लिया। पर उदायी को युद्ध द्वारा परास्त कर सकना सुगम बात न थी। अतः एक चाल चली गई। उदायी जैन-धर्म में श्रद्धा रखता था। जैन साधु उसके पास आते-जाते रहते थे। इस राज्यच्युत राजकुमार ने जैन-साधु का वेश बनाया और पाटलिपुत्र जा पहुँचा। जो जैन-गुरु उदायी के राजप्रासाद में आते-जाते थे, उनमें से एक का शिष्य बनकर वह स्वयं भी महलों में आने-जाने लगा। एक दिन अवसर पाकर, जब राजा सो रहा था, इसने उसपर आक्रमण किया और उसके सिर को धड से अलग कर दिया। इस प्रकार पितृहन्ता तथा पाटलिपुत्र के संस्थापक राजा उदायीभद्र का अन्त हुआ। उदायी का शासनकाल कुल सोलह वर्ष था। उदायी के बाद अनुरुद्ध और फिर मुण्ड मगध की राजगद्दी पर बैठे। इन दोनों का शासन-काल आठ वर्ष था। इनके साथ सम्बन्ध रखने वाली किसी भी महत्त्वपूर्ण घटना का ज्ञान हमे नही है।

शिशुनाग नन्दिवर्धन---मुण्ड के बाद मगध का राजा नागदासक बना। उसका प्रधान अमात्य शिशुनाग था। नागदासक नाम को ही राजा था, असली राजशक्ति शिशुनाग के हाथ मे थी। शिशुनाग ने उसी मार्ग का आलम्बन किया, जिसपर अन्तिम बार्हद्रथ राजा रिपुञ्जय का प्रधानामात्य पुलिक चला था। मगध मे फिर एक बार क्रान्ति हुई। नागदासक को राजसिंहासन से उतार कर उसका अमात्य शिशुनाग सम्राट् बन गया। बौद्ध-साहित्य के अनुसार पाटलिपुत्र के पौरों, मन्त्रियों और अमात्यों ने नागदासक को राजगद्दी से च्युत् कर 'साधु-सम्मत अमात्य शिशुनाग' को राजपद पर अभिषिक्त किया। शिशुनाग कहाँ तक साधुसम्मत था, यह कह सकना सुगम नही है। पर इसमे सन्देह नही कि वह बड़ा प्रतापी और महत्त्वाकाक्षी था। उसने कुल ४२ वर्ष तक मगध का शासन किया, २४ वर्ष नागदासक के अमात्यरूप में और १८ वर्ष राजा के रूप मे। शिशुनाग का ही दूसरा नाम नन्दिवर्धन था।

अवन्ति की पराजय---शिशुनाग के शासन-काल मे मगध के साम्राज्य का और भी अधिक विस्तार हुआ। इसके समय की सबसे बडी घटना अवन्ति-महाजनपद का मागध-साम्राज्य मे सम्मिलित होना है। पुलिक के लडके प्रद्योत ने अवन्ति मे जिस नये वंश का प्रारम्भ किया था, अब उसका अन्त हो गया। प्रद्योत बडा शक्तिशाली राजा था, इसी लिये प्राचीन अनुश्रुति मे उसे 'चण्ड' विशेषण से विभूषित किया गया है। वत्स-राज्य के साथ उसके बहुत-से युद्ध हुए थे। प्रद्योत ने अपने समय में मगध पर भी आक्रमण करने की तैयारी की थी। उसीका मुकाबला करने के लिए अजातशत्रु ने राजगृह की किलाबन्दी कराई थी। प्रद्योत के बाद अवन्ति की राजगद्दी के लिए गृह-कलह शुरू हो गया था, और बाद के राजा प्रद्योत के समान वीर तथा शक्तिशाली नहीं थे। शिशुनाग ने उनपर आक्रमण किया और अवन्ति महाजनपद के अन्तिम राजा अवन्तिवर्धन को मारकर इस शक्तिशाली महाजनपद को भी मागध-साम्राज्य मे सम्मिलित कर लिया। अवन्ति के परास्त होने के साथ ही वत्स देश पर भी शिशुनाग ने अधिकार कर लिया।

काकवर्ण महानन्दी—शिशुनाग का पुत्र काकवर्ण महानन्दी था। कुछ ग्रन्थों में इसे ही कालाशोक के नाम से लिखा गया है। इसने कुल २८ वर्ष तक राज्य किया। इसके शासन-काल के दसवें वर्ष मे महात्मा बुद्ध का निर्वाण हुए १०० वर्ष पूर्ण हो चुके थे। इस अवसर पर बौद्ध-धर्म की एक महासभा वैशाली में संगठित की गई। राजा महानन्दी इस महासभा का संरक्षक था। इसका आयोजन वैशाली के कुसुमपुरी विहार में किया गया था, जहाँ बौद्ध-संसार के सर्वप्रसिद्ध ७०० भिक्षु एकत्र हुए थे। बौद्ध-धर्म के संगठन में इस महासभा ने बड़ा कार्य किया।

महानन्दी का अन्त भी एक षड़यन्त्र द्वारा हुआ। महाकवि बाणभट्ट ने हर्षचरित में लिखा है, कि नगर के बाहर गले मे छुरी भोंक देने से उसकी मृत्यु हुई। प्राचीन आर्य-मर्यादा को छोड़कर मगध के सम्राटो ने जिस मार्ग का अनुसरण किया था, उससे यदि इन राजाओं का अन्त षड्यन्त्रों द्वारा हो, तो आश्चर्य की क्या बात है? जिस षड्यन्त्र द्वारा राजा महानन्दी की हत्या हुई, उसका नेता महापद्म नन्द था। यह जाति का शूद्र था, और प्रारम्भिक जीवन मे बडी कठिनता से अपना पेट पालता था। परन्तु देखने मे वह बड़ा सुन्दर था। धीरे-धीरे महानन्दी की रानी को उसने काबू मे कर लिया और रानी द्वारा राजा भी बहुत-कुछ उसके प्रभाव मे आ गए। अवसर पाकर महापद्म ने महानन्दी को कत्ल कर दिया और उसके पुत्रों के नाम पर स्वय राज्य-कार्य का सचालन करने लगा। महानन्दी के दस लडके थे। प्रतीत होता है, कि पिता की हत्या के समय ये सभी आयु मे कम थे। वही कारण है, कि राजमाता का कृपापात्र होने से सारी शासन-शक्ति महापद्म नन्द के हाथ मे आ गयी थी। इस महापद्म नन्द ने बाद में महानन्दी के पुत्रो का भी घात करा दिया, और स्वयं मगध का सम्राट् बन गया। इस महापद्म नन्द के सम्बन्ध मे हम आगे चलकर अधिक विस्तार से लिखेंगे।

(४) वत्स और अवन्ति

मगध ने किस प्रकार अन्य महाजनपदों को जीतकर अपने विशाल साम्राज्य का निर्माण किया, इसका उल्लेख हमने ऊपर किया है। सम्राट् शिशुनाग नन्दिवर्धन ने अवन्ति महाजनपद को जीतकर मागध-साम्राज्य के अन्तर्गत कर लिया था। वत्स महा-जनपद भी अवन्ति के समान मागध-साम्राज्यवाद का शिकार हुआ। पर मागध-साम्राज्य के अन्तर्गत होने से पूर्व कुछ समय के लिए वत्स और अवन्ति—दोनों ने ही अच्छी उन्नति की थी। दोनों महाजनपद जहाँ अपने पडोसी प्रदेशो को जीतने मे लगे थे, वहाँ साथ ही उनमे परस्पर भी संघर्ष चल रहा था। कुछ समय के लिये काशी का प्राचीन शक्तिशाली राज्य भी वत्स के अधीन रहा था। अवन्ति के साम्राज्य-विस्तार सम्बन्धी प्रयत्नो के विषय मे हमें बहुत कुछ परिचय कथा-सरित्सागर, भास के नाटको और बौद्ध-साहित्य द्वारा प्राप्त होता है।

अवन्ति और वत्स का संघर्ष—बुद्ध के समय मे अवन्ति देश का राजा पज्जोत था। उसकी राजधानी उज्जयिनी था। पुराणो मे पज्जोत के लिए 'प्रद्योत' शब्द आया है। महाकवि भास ने उसे 'महासेन' लिखा है। अनेक ग्रन्थों मे उसके लिए 'चण्ड' विशे-षण का भी प्रयोग किया गया है। बुद्ध का समकालीन वत्स देश का राजा उदयन था।

अवन्ति और वत्स की सीमाएँ एक-दूसरे से मिलती थी। अतः उनमे परस्पर संघर्ष का होना स्वाभाविक था। अवन्ति का राजा प्रद्योत वत्स को जीतकर अपनी अधीनता मे लाना चाहता था। पर वत्स की शक्ति भी कम न थी। अतः प्रद्योत ने छल का आश्रय लिया। किन उपायों से प्रद्योत ने उदयन को जीतने का प्रयत्न किया, इसका वर्णन बौद्ध-ग्रन्थ महावग्ग और महाकबि भास के नाटक प्रतिज्ञा-यौगन्धरायण में विस्तार के साथ किया गया है। भास का वर्णन ऐतिहासिकता के अधिक समीप है, अतः उसे हम यहाँ संक्षेप के साथ उद्धृत करते हैं।

अवन्ति देश का राजा प्रद्योत अत्यन्त महत्त्वाकाक्षी था। उसने अनेक राजाओं को जीतकर अपने अधीन कर लिया था। पर वत्सराज उदयन उसकी अधीनता स्वीकृत करने को उद्यत नही था। उदयन को वश मे लाने के उसने अनेक प्रयत्न किये, पर सफलता नही हुई। सेनाओ द्वारा उदयन को वशीभूत न कर सकने का कारण भास ने यह लिखा है, कि प्रद्योत की सेना उसके प्रति अनुरक्त नही थी। उदयन को हाथी पकडने का बहुत शौक था। वह हस्तिबिद्या मे अत्यन्त प्रवीण था। इसलिए प्रद्योत ने एक नकली हाथी बनवाया, और उसमे सैनिक छिपा दिये गए। इस नकली हाथी को वत्स और अवन्ति के सीमावर्ती जगल मे रख दिया गया। इस समय उदयन शिकार खेलने के लिए नर्मदा नदी को पार कर अपनी सेना के साथ वेणुवन मे आया हुआ था। जब उसे एक नये हाथी के आने का समाचार मिला, तो वह उसे पकडने के लिए तैयार हो गया। 'घोषवती' नामक वीणा को, जो हाथियो को वश मे करने के लिए काम मे आती थी, साथ ले वह अकेला ही उस नकली हाथी की ओर चल पडा। इस बीच मे प्रद्योत के सैनिक उस नकली हाथी के बाहर निकल आये और उन्होने उदयन पर आक्रमण कर दिया। उदयन अकेला था, वह पकड लिया गया। प्रद्योत के मन्त्री सालकायन ने उसे कैदखाने मे डाल दिया और उसकी घोषवती वीणा अवन्तिराज की कन्या वासवदत्ता को दे दी गयी। इस प्रकार प्रद्योत अपने छल मे सफल हुआ।

उदयन का एक मन्त्री था, जिसका नाम 'यौगन्धरायण' था। वह बहुत ही नीति-निपुण तथा चाणाक्ष व्यक्ति था। जब उसे ज्ञात हुआ, कि वत्सराज प्रद्योत द्वारा कैद कर लिया गया है, तब उसने उसे मुक्त कराने की प्रतिज्ञा की। उज्जयिनी मे रहते हुए उदयन का प्रद्योत की कन्या वासवदत्ता से स्नेह-सम्बन्ध स्थापित हो गया था। उसने उज्जयिनी मे अपने चर भेजने प्रारम्भ कर दिये। विविध प्रकार के व्यक्तियो के भेस बना यौगन्धरायण के गुप्तचर बहुत बडी संख्या में उज्जयिनी पहुँच गये। इसके बाद उदयन को छुडाने के लिए षड्यन्त्र की रचना की गयी, जिस मे वासवदत्ता को भी सम्मिलित किया गया। एक दिन बहुत सवेरे वासवदत्ता और उदयन 'भद्रवती' नामक हथिनी पर चढ-कर भाग खडे हुए। यौगन्धरायण के आदमी तो पहले से ही तैयार थे। उन्होने उज्जयिनी के द्वाररक्षकों पर आक्रमण कर उनका घात कर दिया। उदयन और वासवदत्ता को भाग निकलने का अच्छा अवसर मिल गया। जब यह समाचार प्रद्योत ने सुना, तो उसने अपने पुत्र 'पालक' की सेना के साथ उदयन और वासवदत्ता का पीछा करने के लिए भेजा। पर यौगन्धरायण ने इसका भी उपाय पहले से ही किया हुआ था। उसके

गुप्तचरों ने उज्जयिनी में विद्रोह शुरू कर दिया। जगह-जगह पर लूट-मार प्रारम्भ हो गई। प्रद्योत की सेना इस विद्रोह को शान्त करने मे लग गयी। यौगन्धरायण के आदमियों को परास्त कर सकना प्रद्योत जैसे शक्तिशाली राजा के लिए कठिन नही था। विद्रोह शान्त कर दिया गया। यौगन्धरायण स्वयं भी पकड लिया गया। पर उसका उद्देश्य पूर्ण हो चुका था। उदयन और वासवदत्ता उज्जयिनी से भाग कर वत्स राज्य की सीमा मे पहुँच गये थे। प्रद्योत जितना वीर तथा शक्तिशाली था, उतना ही उदार-हृदय भी था। उसने यौगन्धरायण की नीतिकुशलता से प्रसन्न होकर उसे मुक्त कर दिया और वासवदत्ता का विवाह उदयन के साथ करना स्वीकार कर लिया।

वत्सराज उदयन—बुद्ध के समय मे वत्स-महाजनपद का राजा उदयन था। उसकी राजधानी कौशाम्बी थी। अवन्ति का राजा प्रद्योत वत्सराज उदयन को परास्त करने में किस प्रकार असफल हुआ, इसका उल्लेख हमने अभी किया है। प्रद्योत की कन्या वासवदत्ता से विवाह कर राजा उदयन उसके प्रेम मे इतना लीन हो गया था, कि राज्यकार्य की ओर ध्यान नही देता था। राज्य का संचालन यौगन्धरायण करता था जो अत्यन्त कुशल और चाणाक्ष मन्त्री था। उसका प्रयत्न था, कि वत्स-महाजनपद उन्नति की चरमसीमा तक पहुँच जाय। अवन्ति देश से सन्धि हो ही चुकी थी। अब यौगन्धरायण ने वत्स की उन्नति के लिए समीपवर्ती काशी और मगध के राज्यों को अधीनता मे लाने के लिए प्रयत्न प्रारम्भ किया। युद्ध की तुलना मे उसने कूटनीति का आश्रय लेना उपयुक्त समझा, और जिस ढग से मगधराज दर्शक की बहन पद्मावती से उदयन का विवाह कराके इस नीतिज्ञ महामन्त्री ने मगध को भी अपना सहायक व मित्र बना लिया, इसका मनोरंजक और हृदयग्राही वर्णन महाकवि भास ने अपने प्रसिद्ध नाटक 'स्वप्न-वासवदत्ता' मे किया है। इसी प्रकार की कथा बृहत्कथामञ्जरी और कथासरित्सागर मे भी आती है। मगधराज दर्शक के साथ सन्धि हो जाने के अनन्तर उदयन की स्थिति बहुत सुरक्षित तथा शक्तियुक्त हो गयी थी। अवन्ति और मगध जैसे शक्तिशाली राज्यों की सहायता उसे प्राप्त थी। अब वत्सराज की साम्राज्य-विस्तार सम्बन्धी महत्त्वाकाक्षाओ को पूर्ण करने का सुवर्णावसर उपस्थित हुआ। साम्राज्य-विस्तार के लिए प्रस्थान करने से पूर्व उदयन ने अपने राज्य मे शान्ति तथा सुशासन के लिए व्यवस्था की। कथासरित्सागर मे लिखा है, कि गोपाल को विदेह देश का शासक नियुक्त किया गया, और पद्मावती के भाई सिंहवर्मा को चेदि का शासन सौंपा गया। विदेह और चेदि के स्वतन्त्र राज्य—ये बौद्धकाल के षोडश महा-जनपदो मे सम्मिलित है—किस समय वत्स के अधीन हुए थे, इस सम्बन्ध मे कोई निर्देश प्राचीन साहित्य मे नही मिलता। अपने राज्य की रक्षा का प्रबन्ध हो चुकने पर अन्य देशों पर आक्रमण की तैयारी प्रारम्भ हुई। जो राजा अपने मित्र थे, उनकी सहायता प्राप्त की गई। सबसे पूर्व काशी पर आक्रमण किया गया। वहाँ का राजा 'ब्रह्मदत्त' था। सम्भवतः, इसी को भास ने आरुणि और तिब्बती-साहित्य ने आरनेमि लिखा है। यौगन्धरायण ने उसको जीतने के लिए भी नीति का आश्रय लिया; और वह काशी राज्य को भी वत्सराज की अधीनता में ले आ सकने मे समर्थ हो गया। ब्रह्मदत्त ने उदयन की अधीनता स्वीकार कर ली।

काशीराज से अपनी अधीनता स्वीकृत कराने के अनन्तर उदयन की सेनाओं ने पूर्व दिशा की ओर प्रस्थान किया। मगध के साथ तो पहले ही सन्धि हो चुकी थी। अतः अन्य छोटे-छोटे राजाओं को जीतते हुए उन्होंने बंग-देश की विजय की, और समुद्र के तट पर उदयन के जयस्तम्भ की स्थापना की। इसके बाद कलिंग पर आक्रमण किया गया। कलिंगराज ने युद्ध के बिना ही अधीनता स्वीकृत कर ली। इस प्रकार सम्पूर्ण प्राच्य भारत ने वत्सराज उदयन को अपना अधिपति मान लिया। अब विन्ध्याचल पार कर दक्षिण की ओर आक्रमण किया गया। महेन्द्र पर्वत-माला के प्रदेशों मे निवास करने वाले पाण्डुर लोगों को जीतकर उदयन ने कावेरी नदी को पार किया, और चोल-सम्राट् से अधीनता स्वीकार करायी। चोल देश को जीतकर उदयन ने 'मुरल' राज्य पर आक्रमण किया। सम्भवतः, मुरल केरल का ही नाम है, या कथासरित्सागर ने गलती से केरल को मुरल लिख दिया है। चोल और केरल राज्यो को जीतकर उदयन ने दक्षिणी भारत के पश्चिमी तट से होते हुए उत्तर की तरफ प्रस्थान किया। गोदावरी होता हुआ रेवा नदी को पार कर वह उज्जयिनी पहुँचा। उज्जयिनी के राजा ने उसका स्वागत किया। कुछ समय तक उदयन ने अपनी सेनाओं सहित उज्जयिनी मे विश्राम किया। यहाँ पर उसकी मुख्य रानी वासवदत्ता का बाल्य-काल व्यतीत हुआ था। यह स्थान उदयन को बहुत प्रिय था। इसलिये उसने यहाँ पर्याप्त समय तक विश्राम किया। इसके बाद उदयन ने अवन्ति के महासेन प्रद्योत की सेना को भी सहायतार्थ साथ लेकर पश्चिम दिशा की ओर प्रस्थान किया। पश्चिम दिशा मे पहले लाट देश पर आक्रमण किया गया। मही और ताप्ती नदियो के मध्यवर्ती प्रदेश (दक्षिणी गुजरात) का प्राचीन नाम 'लाट' था। लाट को जीतकर फिर सिन्धु देश या वर्तमान सिन्ध पर आक्रमण किया गया। सिन्ध जीतने के अनन्तर उदयन के म्लेच्छो और तुरुष्को के साथ भी युद्ध हुए। पश्चिमी-भारत को विजय करते हुए पारसीक-राजा के साथ भी उसका युद्ध हुआ और कथासरित्सागर के अनुसार उदयन ने पारसीकाधिपति का संहार किया। इसी विजय के प्रसंग में हूणों का भी जिक्र किया गया है, जिन्हे उदयन ने जीतकर अपने अधीन किया था। इस प्रकार पश्चिमी भारत को विजय कर उदयन ने मगधराज की राजधानी में प्रवेश किया। मगध का राजा उदयन की पत्नी पद्मावती का भाई था। मगध मे उदयन का खूब स्वागत हुआ। इस विजय-यात्रा से उदयन भारत का सबसे शक्तिशाली राजा बन गया था।

भारत के अन्य विविध प्रदेशों को जीतते हुए उदयन ने कोशल और गान्धार देशो को जीतने का उद्योग नही किया। कोशल में उन दिनों राजा 'प्रसेनजित्' का शासन था। गान्धार का राजा 'कलिंगदत्त' था, जिसकी राजधानी तक्षशिला थी। उदयन ने कलिंगदत्त के साथ भी वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित करने का प्रयत्न किया था। कथासरित्सागर के अनुसार कलिंगदत्त की कन्या का नाम 'कलिंगसेना' था। वह चाहता था, कि अपनी कन्या का विवाह कोशलराज प्रसेनजित् के साथ करे। पर कलिंगसेना उदयन पर अनुरक्त थी। उदयन भी उससे विवाह करने को इच्छुक था। उदयन की दृष्टि में इस विवाह का राजनीतिक उद्देश्य भी था। वह समझता था, कि कलिंगसेना के साथ विवाह हो जाने से गान्धार की सहायता भी उसे प्राप्त हो जायगी।

उदयन के साम्राज्य-विस्तार का यह वृत्तान्त कथासरित्सागर में उल्लिखित है। यह कह सकना कठिन है, कि यह वृत्तान्त कहाँ तक सत्य है। पर इसे पढ़कर इस बात में कोई सन्देह नहीं रह जाता, कि उदयन एक अत्यन्त शक्तिशाली और महत्त्वाकांक्षी राजा था।

भारत के प्राचीन इतिहास में वत्सराज उदयन का बहुत महत्त्व है। प्राचीन साहित्य के अनेक ग्रन्थो में उदयन-सम्बन्धी घटनाओं का उल्लेख है। बौद्ध, जैन और संस्कृत—सभी प्रकार के साहित्य में उदयनविषयक कथाएँ उपलब्ध होती हैं। उदयन की मृत्यु के बहुत समय पश्चात् तक उसकी कथाएँ सर्वसाधारण जनता मे प्रचलित रहीं। कालिदास ने अपने मेघदूत में मेघ से कहा है, कि जब अवन्ति पहुँचना, तो वहाँ उन ग्राम-वृद्धो से मिलना, जो उदयन-सम्बन्धी कथाओं को खूब अच्छी तरह जानते हैं। हमारी सम्मति में भारतीय इतिहास के आधुनिक लेखकों ने उदयन के साथ न्याय नही किया है। यदि प्राचीन साहित्य में विद्यमान ऐतिहासिक अनुश्रुति की दृष्टि से देखा जाय, तो उदयन का मुकाबिला बहुत कम राजा कर सकेंगे। पर इस दिग्विजयी साम्राज्य-निर्माता के ऐतिहासिक महत्त्व को अब लोग प्रायः भूल गये हैं। उदयन की विजयों का उल्लेख केवल कथासरित्सागर में ही नही मिलता है, अपितु श्रीहर्षकृत प्रियदर्शिका में भी यह लिखा है, कि उसने कलिंग देश को विजय किया था। उदयन के साथ सम्बन्ध रखने वाली विविध घटनाओं को लेकर स्वप्नवासवदत्ता, प्रतिज्ञायौगन्ध-रायण, प्रियदर्शिका, रत्नावली आदि विविध नाटको का रचा जाना इस बात को सिद्ध करता है, कि पुरातन समय मे इस राजा की बहुत ही अधिक प्रसिद्धि थी।

उदयन के उत्तराधिकारी—उदयन के उत्तराधिकारियो के सम्बन्ध मे ऐतिहासिक वृत्तान्त लिख सकना सुगम कार्य नही है। पुराणो के अनुसार उदयन का उत्तराधिकारी वहीनर था। कथासरित्सागर और बृहत्कथामंजरी के अनुसार उदयन के पुत्र का नाम नरवाहनदत्त था। बौद्ध-ग्रन्थो मे उदयन के पुत्र का नाम बोधि लिखा है। बौद्ध-ग्रन्थों और पुराणो से उदयन के उत्तराधिकारी के सम्बन्ध मे कोई उल्लेखनीय घटना ज्ञात नही होती, पर कथासरित्सागर मे नरवाहनदत्त के सम्बन्ध मे अनेक कथाएँ लिखी गयी है। इन कथाओ को सक्षिप्त रूप से उद्धृत कर सकना भी सम्भव नही है। ये अत्यन्त विस्तृत, असम्भव तथा अद्‌भुत बातो से परिपूर्ण है। पर इनका सार यह है, कि नरवाहनदत्त ने अपने पिता उदयन के जीवनकाल में ही हिमालय के पार्वत्य प्रदेशों मे अनेक युद्ध किये थे, और कई पहाड़ी राज्यो को जीतकर अपने अधीन किया था। पर्वतीय प्रदेशो से विद्यमान आषाढ़पुर का राजा मानसवेग नरवाहनदत्त की स्त्री मदनमंचुका को हरकर ले गया था। इसी बात पर आषाढ़पुर के साथ उसका संघर्ष प्रारम्भ हो गया और इस संघर्ष मे न केवल आषाढ़पुर अपितु अन्य भी अनेक पहाड़ी राज्य नरवाहनदत्त की अधीनता में आ गये।

पुराणों के अनुसार उदयन के उत्तराधिकारी निम्नलिखित थे—वहीनर, दण्ड-पाणी, निरामित्र और क्षेमक। क्षेमक के साथ प्राचीन पौरव-वंश, जिसमे उदयन उत्पन्न हुआ था, की समाप्ति हो गयी। उदयन के पश्चात् मगध की साम्राज्यवाद की प्रवृत्ति

विशेष रूप से उत्कर्ष को प्राप्त हो रही थी, और पौरव-वंश का यह वत्सराज्य भी मागध साम्राज्यवाद का शिकार बन गया था।

प्रद्योत के उत्तराधिकारी—अवन्ति के राजा प्रद्योत का वृत्तान्त ऊपर दिया जा चुका है। प्रद्योत ने २३ वर्ष राज्य किया। उसकी मृत्यु के अनन्तर उसका पुत्र 'पालक' अवन्ति के राजसिंहासन पर आरूढ़ हुआ। परन्तु प्रद्योत का एक अन्य पुत्र भी था, जिसका नाम 'गोपाल' था। वह अपनी बहिन वासवदत्ता के साथ वत्सराज उदयन की राजधानी कौशाम्बी मे निवास करता था। जिस समय प्रद्योत की मृत्यु का समाचार कौशाम्बी पहुँचा, तो वत्सराज उदयन ने गोपाल से कहा, कि तुम उज्जयिनी जाकर अपने पिता का राज्य संभाल लो। पर गोपाल ने राजा होना स्वीकृत नही किया। गोपाल प्रद्योत का बडा लडका था, अत. राज्य पर उसी का अधिकार था। उसके स्वयं राजगद्दी पर अपने अधिकार का परित्याग कर देने पर पालक को अवन्ति का राज्य प्राप्त हुआ। वत्सराज उदयन के अपने सेनापति 'रुमण्वान्' को उज्जयिनी भेजकर पालक को राज्य प्राप्त कराया।

ऐसा प्रतीत होता है, कि पालक के विरुद्ध एक अन्य दल उज्जयिनी मे विद्यमान था, जिस का नेता गोपाल का पुत्र 'आर्यक' था। गोपाल बहुत दिनो से अपनी बहिन के साथ कौशाम्बी मे रह रहा था। उसे राजकाज मे रुचि नही थी। पर उसका पुत्र आर्यक महत्त्वाकाक्षी व्यक्ति था। वह यह नही सहन कर सकता था, कि उसके रहते हुए पालक का राज्य पर अधिकार हो। ऐसा प्रतीत होता है, कि उसने पालक का विरोध किया और उसी के दल के विरुद्ध पालक की सहायता करने के लिए वत्सराज उदयन ने अपने सेनापति रुमण्वान् को उज्जयिनी भेजा था। आर्यक कैद कर लिया गया। पर कैद हो जाने पर भी उसकी शक्ति कम नही हुई। पालक का विरोधी दल अपना प्रयत्न करता रहा। अब उस दल का नेतृत्व 'शर्विलक' ने ग्रहण किया। अन्त मे शर्विलक आर्यक को पालक के हाथ से छुडवाने मे समर्थ हुआ। पालक और आर्यक के गृह-कलह मे अन्ततोगत्वा आर्यक की विजय हुई। पालक मारा गया और उसके स्थान पर अवन्ति का राजसिंहासन आर्यक को प्राप्त हुआ। आर्यक ने २४ वर्ष तक राज्य किया। पुराणो मे आर्यक का नाम 'अजक' लिखा गया है। यह 'अजक' आर्यक ही है, इसमे कोई सन्देह नही। कही-कही आर्यक के स्थान पर 'सूर्यक' पाठ भी आता है, पर वह सही प्रतीत नही होता।

पुराणो में पालक और आर्यक के बीच मे विशाखयूप नाम के राजा का उल्लेख है, जिसका शासन-काल ५० वर्ष लिखा गया है। पर पुराणो के अतिरिक्त अन्य प्राचीन साहित्य मे पालक और आर्यक के बीच मे अन्य किसी राजा का उल्लेख नही है। पालक और आर्यक के गृह-कलह के होते हुए यह सम्भव भी कैसे है, कि उनके बीच मे एक अन्य राजा शासन करे और वह भी ऐसा जिसका शासनकाल ५० वर्ष हो। ऐसा प्रतीत होता है, कि पालक और आर्यक के गृह-कलह का लाभ उठाकर अवन्ति-राज्य के किसी प्रदेश मे विशाखयूप ने अपना स्वतन्त्र राज्य स्थापित कर लिया था और वह पालक तथा आर्यक दोनो के शासन-काल में स्वतन्त्रतापूर्वक राज्य करने में समर्थ हुआ था।

आर्यक के बाद अवन्तिवर्धन अवन्ति का राजा बना। यह आर्यक का पुत्र था। पर कथा-सरित्सागर के अनुसार यह आर्यक का पुत्र न होकर पालक का पुत्र था। कहीं-कहीं उसका नाम नन्दिवर्धन और वर्तिवर्धन भी लिखा गया है।

अवन्तिवर्धन अवन्ति का अन्तिम स्वतन्त्र राजा था। उसके पश्चात् यह राज्य मगध के साम्राज्यवाद का शिकार हो गया। अवन्ति की स्वतन्त्र सत्ता लुप्त हो गयी, और वह मागध-साम्राज्य के अन्तर्गत हो गया।

(५) कोशल महाजनपद

प्रसेनजित्—महात्मा बुद्ध का समकालीन कोशल का राजा पसेनदी या प्रसेनजित् था। पुराणों के अनुसार कोशल के राजा प्राचीन ऐक्ष्वाकव वंश के थे। मगध, वत्स और अवन्ति के समान कोशल देश के राजा भी बड़े प्रतापी और साम्राज्य-विस्तार के लिए उत्सुक थे। बहुत पुराने समय से उनका काशी-महाजनपद के साथ संघर्ष चला आता था। काशी और कोशल के संघर्ष में पहले काशी अधिक प्रबल रहा। परन्तु बाद में कोशल का पक्ष प्रबल होने लगा और धीरे-धीरे काशी का राज्य कोशल के अधीन हो गया। घटजातक में लिखा है कि कोशल के राजा वंक ने काशी पर आक्रमण किया, और वहाँ के राजा ब्रह्मदत्त को पराजित कर अपने अधीन कर लिया। ऐसा प्रतीत होता है कि वंक के पश्चात् काशी देश का कुछ-न-कुछ प्रदेश अवश्य ही कोशल के अधीन हो गया था, क्योंकि प्रसेनजित् के पिता महाकोशल ने जब अपनी कन्या का विवाह मगध के राजा बिम्बिसार के साथ किया, तो दहेज में स्नान और अलंकार का खर्च चलाने के लिए काशी का एक प्रदेश उसे प्रदान किया था।

कोशलराज्य की राजधानी श्रावस्ती थी। बौद्ध-ग्रन्थों में इसे सावट्ठी लिखा गया है। सावट्ठी के अतिरिक्त अन्य भी अनेक नगर कोशल में विद्यमान थे। इनमें अयोध्या, साकेत, सेतव्य और उकट्ठ के नाम उल्लेखनीय है। महाकोशल के बाद कोशल की राजगद्दी पर प्रसेनजित् बैठा। उस का प्रधान मन्त्री दीर्घचारायण था। सम्भवतः, यह वही दीर्घचारायण है, जिसका उल्लेख कौटलीय अर्थशास्त्र में नीतिशास्त्र के अन्यतम आचार्य के रूप में आया है। तिब्बती अनुश्रुति में कोशलराज प्रसेनजित की मन्त्रि-परिषद् का उल्लेख है, जिसके सदस्यों की संख्या ५०० थी। इस युग के अन्य महाजन-पदों के समान कोशल भी साम्राज्य-विस्तार के लिए प्रयत्नशील था। इस कारण मगध के साथ उसका जो संघर्ष हुआ, उसका उल्लेख इसी अध्याय में ऊपर किया जा चुका है। अन्त में इन राज्यों में परस्पर संधि हो गई थी, और उनके राजकुल वैवाहिक सम्बन्ध में भी बंध गए थे।

विरुद्धक—प्रसेनजित् का पुत्र विरुद्धक था, जिसने अपने पिता के विरुद्ध षड्-यन्त्र कर राजसिंहासन पर अधिकार कर लिया था। विरुद्धक के शासनकाल की मुख्य घटना शाक्य गण की विजय है। उसकी माता का नाम वासवखत्तिया था, जो शाक्य कुल के एक राजा की दासी की पुत्री थी। प्रसेनजित् शाक्यों के साथ वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित करना चाहता था। इसलिए उसने अपना एक दूत शाक्यों के पास यह सन्देश लेकर भेजा था, कि वे एक शाक्य-राजकुमारी को विवाह के लिए प्रदान करें। पर शाक्य

लोग अपनी किसी कुमारी का विवाह प्रसेनजित् के साथ करने में अपना अपमान समझते थे। पर उनके लिए निषेध कर सकना भी कठिन था, क्योंकि इससे प्रसेनजित् के क्रोध का ठिकाना न रहता और वह आक्रमण कर उनका विनाश कर देता। अतः महानाम नाम के एक शाक्य के सुझाव पर उन्होने एक दासी-पुत्री को प्रसेनजित् के साथ विवाह के लिए भेज दिया। इस दासीपुत्री का नाम वासवखत्तिया था और इसी के 'विरुद्धक' व 'विडूडभ' का जन्म हुआ था।

जब विरुद्धक बडा हुआ, तो उसे अपनी माता के रहस्य का परिज्ञान हुआ, और उसने अपने राजकुल के अपमान का शाक्यों से बदला लेने का निश्चय किया। अपने मन्त्री अम्बरीश के परामर्श मे उसने शाक्यों पर आक्रमण करने के लिए धूमधाम के साथ तैयारी की। जब महात्मा बुद्ध को पता लगा कि विरुद्धक शाक्यो पर आक्रमण करने लगा है, तो उन्हें बहुत दुःख हुआ। वे स्वयं शाक्य थे। अतः उन्होंने कपिलवस्तु की ओर प्रस्थान किया, और मार्ग के एक छायाशून्य 'शकोतक' वृक्ष के नीचे आसन जमाया। महात्मा बुद्ध को इस दशा मे देख विरुद्धक ने समझा कि बुद्ध शाक्यों के विनाश की सम्भावना से बहुत चिन्तित हैं। अतः उसने कपिलवस्तु पर आक्रमण करने का विचार छोड दिया। उसके हृदय मे भी महात्मा बुद्ध के प्रति अपार श्रद्धा थी और वह उन्हें दुखी नही करना चाहता था। परन्तु अम्बरीश कट्टर साम्राज्यवादी था। उसने विरुद्धक को शाक्यो पर आक्रमण करने के लिए प्रोत्साहित किया। महामौद्गल्यायन के नेतृत्व मे शाक्यो ने अपनी राजधानी कपिलवस्तु की रक्षा के लिए तैयारी की, और विरुद्धक शाक्यों को पराजित नही कर सका। वह स्वयं निराश होकर अपनी राजधानी श्रावस्ती को लौट गया। पर अम्बरीश निराश नही हुआ। उसने फिर कोशल-राज को शाक्यो पर आक्रमण करने के लिए प्रेरित किया। एक बार फिर विरुद्धक ने कपिलवस्तु पर आक्रमण किया। पर उसे इस बार भी सफलता प्राप्त नहीं हुई। थोडे-से युद्ध के पश्चात् निराश होकर वह अपने राज्य को लौट आया।

अम्बरीश ने देखा कि शस्त्र-युद्ध मे शाक्यो को परास्त करना सम्भव नहीं है, अतः उसने भेदनीति का आश्रय लिया। उसने शाक्यो के पास निम्नलिखित सन्देश भेजा—"यद्यपि मैं आप लोगो के प्रति विशेष स्नेह-भाव नही रखता हूँ, पर मुझे आपसे कोई विशेष द्वेष भी नही है। अब सब मामला खतम हो गया है, अत. कृपा करके अपने दुर्ग के द्वारों को खोल दीजिए।" विरुद्धक के इस सन्देश पर विचार करने के लिए शाक्य लोग अपने सन्थागार मे एकत्रित हुए। उनमें इस प्रश्न पर बहुत मतभेद था। कुछ लोग कहते थे, कि हमें अपने द्वार खोल देने चाहिएँ। दूसरे इसका विरोध करते थे। अम्बरीश की भेदनीति कार्य कर रही थी। आखिर, उन्होंने बहुमत से यही निर्णय किया कि कपिलवस्तु के द्वार खोल दिये जाएँ। द्वारो का खुलना था, कि विरुद्धक की सेनाएँ कपिलवस्तु में प्रवेश पा गई। शाक्य लोगो का बुरी तरह से संहार किया गया। कुल मिलाकर ७७,००० शाक्य विरुद्धक की सेनाओ के हाथो से मारे गये। कुछ शाक्य लोग अपनी जान बचाकर भागने में भी समर्थ हुए। उन्होने सुदूर पार्वत्य देशों में जाकर नवीन राज्यो की स्थापना की। इस प्रकार विरुद्धक ने शाक्यों के महिमामय गणराज्य का अन्त किया। इसमें सन्देह नही, कि इससे पूर्व भी शाक्यगण कोशल की अधीनता

स्वीकृत करता था। महाकोशल और अग्निदत्त प्रसेनजित् के राज्य में शाक्यों का प्रदेश भी अन्तर्गत था। पर इन राजाओं ने शाक्यगण की स्वाधीनता को नष्ट किया था। इनके समय में शाक्य गण की स्वतन्त्र व पृथक् सत्ता कायम थी। पर अब विरुद्धक ने इसका पूर्णतया विनाश किया। अम्बरीश की साम्राज्यवाद की नीति अपना कार्य कर रही थी। शाक्यों का स्वतन्त्र गणराज्य इस नीति का शिकार हो गया।

विरुद्धक के किसी अन्य आक्रमण व विजय का हमें परिज्ञान नहीं हैं। बौद्ध साहित्य मे लिखा है, कि महात्मा बुद्ध ने भविष्यवाणी की थी कि सात दिन मे विरुद्धक और अम्बरीश का विनाश हो जाएगा और ऐसा ही हुआ। श्रीहर्षकृत रत्नावली से ज्ञात होता है, कि वत्सराज उदयन के सेनापति रुमण्वान् ने न केवल कोशलराज को परास्त ही किया था, अपितु उसका संहार भी किया था। सम्भव है, कि यह कोशलराज विरुद्धक ही हो।

ग्यारहवाँ अध्याय

बौद्ध-युग के गणराज्य

(१) शाक्य-गण

पिछले अध्याय में जिन सोलह महाजनपदों का हमने उल्लेख किया है, उनमें से कुछ गणतन्त्र भी थे। इनमे वज्जि, मल्ल और शूरसेन का गणतन्त्र होना निश्चित माना जा सकता है। इनके अतिरिक्त अन्य भी अनेक गणराज्यों का उल्लेख बौद्ध-साहित्य मे हुआ है, यथा कपिलवस्तु के शाक्य, रामग्राम के कोलिय, पिप्पलिवन के मोरिय, अल्ल-कप्प के बुलि, सुंसुमार पर्वत के भग्ग, और केसपुत्त के कालाम। मिथिला का विदेहगण और वैशाली का लिच्छवि गण वज्जि संघ मे सम्मिलित थे।

बौद्ध-साहित्य मे कपिलवस्तु के शाक्य गण का बहुत महत्त्व है। महात्मा बुद्ध इसी गणराज्य में उत्पन्न हुए थे। बुद्ध का निर्वाण होने पर उनके भस्मावशेषो के लिए शाक्य लोगों ने इस आधार पर दावा किया था, कि बुद्ध हमारी ही जाति के थे। बौद्ध-ग्रन्थों मे शाक्यो को राजा ओक्काक या इक्ष्वाकु का वंशज बताया गया है। विष्णु-पुराण मे भी इसी मत की पुष्टि होती है। शाक्य-गणराज्य की राजधानी कपिलवस्तु थी। महावस्तु के अनुसार यह सात दीवारो से घिरा हुआ था। कपिलवस्तु के अतिरिक्त शाक्यराज्य के अन्य भी अनेक नगरो का उल्लेख बौद्ध-साहित्य मे मिलता है। इनके नाम सामगाम, उलुम्पा, देवदह, चातुमा, सक्वर, सीलावती और खोमपुस्स है।

सामाजिक दशा—बौद्ध-साहित्य के अध्ययन के शाक्य लोगो के सम्बन्ध मे अनेक महत्त्वपूर्ण बातें ज्ञात होती हैं। शाक्य लोग एकपत्नीव्रत होते थे। उनमे बहु-विवाह की प्रथा नही थी। शाक्य लोग अपनी स्त्रियो और कन्याओ को बहुत सम्मान की दृष्टि से देखते थे। इसी कारण वे विवाह के समय इस बात का ध्यान रखते थे, कि वर वस्तुत: योग्य हो। केवल धन को देखकर विवाह करना वे अपनी मान-मर्यादा के प्रतिकूल समझते थे। जिस समय राजा शुद्धोदन ने अपने कुमार सिद्धार्थ के विवाह के लिए कुमारी गोपा के पिता दण्डपाणी के पास सन्देश भेजा, तो उसने उत्तर दिया—"माननीय राजकुमार का पालन-पोषण घर मे बहुत भोग-विलास के बीच हुआ है। हमारे घर की मर्यादा है, कि अपनी कन्या उसी को दी जाए, जो सम्पूर्ण शिल्पो मे निष्णात हो। राजकुमार को शिल्पों का कोई ज्ञान नही है। उसे तलवार, धनुष व अन्य शस्त्रो से युद्ध करने का भी ज्ञान नही है। इस दशा मे कुमार के साथ मैं अपनी कन्या का विवाह कैसे कर सकता हूँ ?" जिस समय कुमार सिद्धार्थ ने पाँच सौ कुमारो के मुकाबिले मे यह सिद्ध कर दिया, कि वस्तुतः वह सम्पूर्ण शिल्पों और युद्ध-विद्या मे निष्णात है, तभी उसका विवाह शाक्य-कुमारी के साथ हो सका।

शाक्य लोग अपनी जाति से बाहर विवाह-सम्बन्ध करना अनुचित समझते थे। उन्हें अपनी जाति और वंश का इतना अभिमान था, कि अपने से बाहर के बड़े शक्तिशाली राजाओं के साथ भी विवाह-सम्बन्ध करना उन्हे अपने लिए अपमानजनक प्रतीत होता था। बौद्ध-साहित्य मे कथा आती है, कि कोशल महाजनपद के राजा प्रसेनजित् ने शाक्य-जाति के साथ विवाह-सम्बन्ध स्थापित करने की इच्छा से एक राजदूत कपिलवस्तु भेजा। उस समय शाक्य-गण की राजसभा का अधिवेशन हो रहा था। इस राजसभा के सम्मुख राजदूत ने राजा प्रसेनजित् का सन्देश पहुँचा दिया। सन्देश यह था—'मैं आपके परिवार के साथ सम्बन्ध जोडना चाहता हूँ, अतः अपनी एक कुमारी का मेरे साथ विवाह कर दीजिए।' राजा प्रसेनजित् का यह सन्देश सुनकर शाक्य लोग बहुत चिन्तित हुए। वे सोचने लगे—राजा प्रसेनजित् का राज्य हमारे बहुत समीप है। यदि हमने उसे अपनी कुमारी देने से इन्कार किया, तब वह बहुत क्रुद्ध होगा और हमपर आक्रमण किए बिना न रहेगा। पर यदि हम अपनी कुमारी का विवाह उसके साथ कर देते है, तो हमारी कुल-मर्यादा टूटती है। इस दुविधा की दशा मे महानाम नाम के शाक्य ने एक उपाय निर्दिष्ट किया। उसने कहा—"इस विषय में विशेष चिन्ता की आवश्यकता नही। मेरी एक कन्या है, जिसका नाम वासवखत्तिया है। वह एक दासी की पुत्री है। देखने मे वह अत्यन्त सुन्दर है। उसकी आयु भी सोलह वर्ष की है। पिता की दृष्टि से वह शाक्यकुल की भी है। हम उसे प्रसेनजित् के साथ विवाह के लिए भेज देगे।" इस कथा से स्पष्ट है, कि शाक्य लोग अपनी कन्याओ का विवाह जाति से बाहर करना उचित नहीं समझते थे।

शिक्षा—दीघनिकाय की टीका मे एक शिल्प-विद्यालय का उल्लेख आया है, जो कपिलवस्तु के आम्रोद्यान मे स्थित था, और जिसके विशाल भवन मे विविध शिल्पो की शिक्षा दी जाती थी। शाक्यकुमारो के लिए शिक्षा का महत्त्व बहुत ही अधिक था, क्योंकि शिक्षा के बिना उन्हे विवाह के लिए कन्या का मिल सकना असम्भव था। युद्ध-विद्या मे प्रवीणता प्राप्त कराने के लिए कपिलवस्तु मे एक पृथक् विद्यालय भी था, जिसमे धनुर्विद्या, खड्गसंचालन आदि की शिक्षा दी जाती थी।

शाक्य लोगो मे स्त्रियो की दशा बहुत उन्नत थी। उनकी दशा का अनुमान इसी बात से किया जा सकता है, कि बौद्ध सघ मे प्रविष्ट होनेके लिए सबसे पूर्व शाक्य स्त्रियां ही तैयारी हुई थी, और उन्होंने ही महात्मा बुद्ध को इस बात के लिए विवश किया था कि वे स्त्रियो के लिए पृथक् भिक्षुणी-सघ की व्यवस्था करे। जिस महिला ने सबसे पूर्व अपने घर और सांसारिक सुखो का परित्याग पर भिक्षु-जीवन को स्वीकृत किया, उसका नाम महाप्रजापति गौतमी था और वह शाक्यकुल की ही महिला थी।

(२) लिच्छवि और विदेह

जिस प्रकार महात्मा बुद्ध के कारण कपिलवस्तु के शाक्यों का महत्त्व है, उसी प्रकार वर्धमान महावीर के कारण वैशाली के लिच्छवि भी विशेष महत्त्व रखते है। जैन-धर्म के संस्थापक तीर्थङ्कर महावीर का प्रादुर्भाव वैशाली के राज्यसंघ मे हुआ था। महावीर स्वयं लिच्छवि नही थे। वैशाली के शक्तिशाली राज्यसंघ मे सम्मिलित

ज्ञातृकगण में उनका जन्म हुआ था। यही कारण है, कि जैनों का धार्मिक साहित्य इस संघ पर विशेष प्रकाश डालता है। बौद्ध-साहित्य से भी इसके विषय में बहुत-सी ज्ञातव्य बातें ज्ञात होती हैं।

शाक्यों की तरह लिच्छवि भी क्षत्रिय थे। महात्मा बुद्ध के निर्वाण के पश्चात् उनके भस्मावशेषों के एक अंश के लिए लिच्छवि लोगों ने भी इस आधार पर दावा किया था कि भगवान् क्षत्रिय थे, हम भी क्षत्रिय हैं, इसलिए हमें भी उनके भस्मावशेषों का भाग मिलना चाहिए, ताकि हम उनके सम्मान के लिए स्तूपों का निर्माण कर सकें। जैन-साहित्य के अनुसार भी लिच्छवि लोग क्षत्रिय वर्ण के थे।

राजधानी वैशाली—लिच्छवि-राज्य की राजधानी वैशाली थी। प्राचीन भारतीय नगरों में वैशाली का बहुत महत्त्व था। इसी कारण प्राचीन ग्रन्थों में इसकी स्थापना के सम्बन्ध मे अनेक कथाएँ उपलब्ध होती हैं। वाल्मीकि-रामायण के अनुसार इसका संस्थापक राजा इक्ष्वाकु का पुत्र विशाल था, जिसके नाम पर इसका नाम वैशाली पड़ा था। विष्णुपुराण के अनुसार वैशाली का संस्थापक कुमार विशाल इक्ष्वाकु-वंश के राजा तृणबिन्दु का पुत्र था। वैशाली का संस्थापक चाहे कोई हो, पर इसमें कोई सन्देह नहीं कि यह नगरी बहुत प्राचीन थी और प्राचीन नगरो मे इसका महत्त्व बहुत अधिक था।

वैशाली का वर्णन अनेक प्राचीन ग्रन्थों में उपलब्ध होता है। रामायण में वैशाली नगरी को रम्य, दिव्य और स्वर्गोपम विशेषणो से विभूषित किया गया है। जातक-ग्रन्थो के अनुसार महात्मा बुद्ध के समय मे वैशाली नगरी तीन प्राचीरो से, जो एक-दूसरे से एक गव्यूति की दूरी पर स्थित थे, घिरी हुई थी और इन प्राचीरों में तीन बड़े प्रवेश-द्वार थे, जो ऊँचे तोरणों व बुर्जों से सुशोभित थे। तिब्बती अनुश्रुति में वैशाली का वर्णन निम्न प्रकार से किया गया है—'वैशाली तीन भागों में विभक्त थी। प्रथम भाग में सात हजार मकान थे, जिनके बुर्ज सोने के बने हुए थे। दूसरे भाग में चौदह हज़ार मकान थे, जिनके बुर्ज चाँदी के बने हुए थे। तृतीय भाग में इक्कीस हजार मकान थे, जिनके बुर्ज ताम्बे के बने हुए थे। तीनों भागो में उच्च, मध्य और निम्न श्रेणियों के लोग अपनी स्थिति के अनुसार निवास करते थे (राकहिल—लाइफ आफ बुद्ध, पृ० ६२)। ह्य,एनत्सांग ने भी वैशाली का वर्णन किया है। वह लिखता है, कि "प्राचीन वैशाली नगर की परिधि साठ या सत्तर ली थी। पर प्रासादो से पूर्ण नगर के भाग की परिधि चार या पाँच ली थी।" ललितविस्तार में वैशाली का वर्णन करते हुए उसे अत्यन्त समृद्ध, वैभवशाली, धनधान्य से भरपूर, अत्यन्त रमणीक, विविध प्रकार के मनुष्यों से पूर्ण, विविध प्रकार की इमारतो से सुसज्जित और बाग, पार्क, उद्यान आदि से समलंकृत लिखा गया है।

इसी प्रकार अन्य प्राचीन ग्रन्थों में भी वैशाली का बहुत समृद्ध तथा वैभवशाली नगर के रूप में वर्णन किया गया है। लिच्छवि-गण की राजधानी होने के अतिरिक्त वह वज्जिराज्यसंघ—जिसमे कुल मिलाकर आठ गणराज्य सम्मिलित थे—की भी राजधानी थी। आचार्य महावीर और महात्मा बुद्ध अपने धर्मों का प्रचार करते हुए अनेक बार वहाँ गये थे। यही कारण है, कि इन धर्मों के साहित्य में वैशाली का अनेक

बार उल्लेख आया है। वर्तमान समय में बिहार प्रान्त के मुजफ्फरपुर जिले में बसाढ़ नामक एक गाँव है, जो गण्डक नदी के बाएँ तट पर स्थित है। इसी स्थान पर प्राचीन समय में प्रसिद्ध वैशाली नगरी विद्यमान थी। पिछले दिनों यहाँ जो खुदाई हुई है, उससे प्राचीन वैशाली नगरी के बहुत-से महत्वपूर्ण अवशेष उपलब्ध हुए हैं, जिनसे इसकी समृद्धि का आभास मिलता है।

सामाजिक जीवन—लिच्छवि लोगों का सामाजिक जीवन बहुत उन्नत था। वे एक-दूसरे के साथ बहुत सहानुभूति रखते थे। जब कोई लिच्छवि बीमार पडता था, तो अन्य उसका हालचाल पूछने के लिए आना अपना कर्त्तव्य समझते थे। यदि किसी के घर में कोई सस्कार या उत्सव हो, तो दूसरे लोग उसमें उत्साह के साथ सम्मिलित होते थे।

लिच्छवि लोगो को सौन्दर्य से बहुत प्रेम था। वे अपनी वेशभूषा तथा बाह्य आकृति पर विशेष ध्यान देते थे। जिस समय महात्मा बुद्ध अन्तिम बार वैशाली पधारे, तो लिच्छवि लोगों ने उनका किस प्रकार स्वागत किया, इसका वर्णन उल्लेखनीय है। हम उसे यहाँ उद्धृत करते है—

"उन्होंने अपने शानदार और भव्य रथों को तैयार करने का आदेश दिया और उनपर चढ़कर वैशाली से बाहर निकले। उनमे से कुछ नीले रंग के थे। उन्होंने कपड़े भी नीले पहने हुए थे, और उनके आभूषण भी नीले रंग के थे। कुछ श्वेत रंग के थे, और उनके वस्त्र तथा आभूषण भी श्वेत रंग के थे। कुछ लाल रंग के थे, उनके वस्त्र और आभूषण भी लाल रंग के थे। कुछ पीले रग के थे, उनके वस्त्र और आभूषण भी पीले रग के थे।" यह उद्धरण महापरिनिर्वाणसूत्र से लिया गया है, परन्तु इसी प्रकार का वर्णन अगुत्तरनिकाय मे भी उपलब्ध होता है। महावस्तु मे लिच्छवियों के इन्हीं रंगों का और भी विशद रूप से वर्णन किया गया है—"कुछ लिच्छवि ऐसे हैं, जिनके घोड़े नीले रंग के हैं। उनके रथ, रश्मियाँ, चाबुक, दण्ड, वस्त्र, आभूषण, पगड़ी, छतरी, तलवार, रत्न, जूता आदि प्रत्येक वस्तु नीले रग की है।" इसी प्रकार पीत, मञ्जिष्ठ, लाल, श्वेत, हरे और रंग-बिरंगे लिच्छवियों का वर्णन महावस्तु मे पाया जाता है। कई विद्वानो ने कल्पना की है; कि लिच्छवियों का इन विविध रगो के वस्त्र, आभूषण आदि पहनना उनके आन्तरिक श्रेणिभेद को सूचित करता है। पर यह भी सम्भव है, कि उन्होंने केवल रंगों के प्रेम के कारण ही इस प्रकार विविध रंगों को अपनाया हो।

तपस्यामय जीवन—लिच्छवि लोगो का जीवन बहुत तपस्यामय होता था। मगध के प्रधानमन्त्री वत्सकार ने जब उनपर आक्रमण के उपाय के सम्बन्ध में महात्मा बुद्ध से पूछा, तो उन्होंने उत्तर देते हुए कहा—हे भिक्खुओ, इधर इन लिच्छवियों की ओर देखो। ये कितने मेहनती और कष्ट सहन करने वाले हैं। इनका जीवन कितना कठोर है, ये सोते समय लकडी के टुकड़ों को ही तकिये के स्थान पर प्रयोग मे लाते हैं। धनुर्विद्या मे ये कितने उत्साही हैं। मगधराज वैदेहीपुत्र अजातशत्रु उनमे कोई दोष नही पा सकता। परन्तु, हे भिक्खुओ, यदि भविष्य में लिच्छवि लोग नाजुक हो जाएँ, उनके हाथ और पैर कोमल हो जाएँ, वे सूर्य के उदय होने तक रुई के नरम-नरम गदेलों पर सोने लग जाएँ, तब इसमें सन्देह नहीं कि वैदेहीपुत्र अजातशत्रु को उनमें दोष नजर आ

जाएँगे और उसे उनपर आक्रमण करने के लिए अवसर प्राप्त हो जाएगा।" निस्सन्देह, महात्मा बुद्ध के समय मे लिच्छवि लोग बहुत तपस्यामय तथा कठोर जीवन व्यतीत करते थे। यही कारण है, कि उनपर आक्रमण करने का साहस कोई पड़ोसी राज्य नहीं करता था।

यद्यपि लिच्छवि लोग पूर्णतया निरामिषभोजी नही थे, पर मांसभक्षण को उन्होंने मर्यादित अवश्य किया हुआ था। वे चान्द्रमास की अष्टमी, चतुर्दशी, अमावस्या और पूर्णमासी के अतिरिक्त अन्य तिथियों में पशुहिंसा करना पाप समझते थे।

शिक्षा—लिच्छवि लोगों को शिक्षा से बहुत प्रेम था। वे विद्याध्ययन के लिए दूर-दूर देशो मे जाया करते थे। महालि नाम का एक लिच्छविकुमार विविध विद्याओं और शिल्पो का अध्ययन करने के लिए तक्षशिला गया था। उसने तक्षशिला मे सम्पूर्ण विद्याओं और शिल्पो में प्रवीणता प्राप्त कर वैशाली मे एक शिक्षणालय की स्थापना की और पाँच सौ कुमारो को शिक्षित किया। इन पाँच सौ कुमारो ने भी विद्यादान का क्रम जारी रखा। इस प्रकार बहुत शीघ्र ही सम्पूर्ण लिच्छवि-राज्य मे शिक्षा का विस्तार हो गया।

विवाह मर्यादा—शाक्यों की तरह लिच्छवि लोग भी अपने वंश की शुद्धता और कुलीनता को बहुत महत्त्व देते थे। यही कारण है, कि वे अपनी कन्याओं का लिच्छविभिन्न कुमारो के साथ विवाह नहीं करते थे। लिच्छवियो मे भी परस्पर-विवाह में अनेक रुकावटें थी। तिब्बती अनुश्रुति के अनुशीलन से ज्ञात होता है, कि वैशाली के लोगो मे यह नियम था, कि प्रथम भाग की कन्या का विवाह प्रथम भाग मे ही हो सके, द्वितीय व तृतीय भाग मे नही। द्वितीय भाग मे उत्पन्न कन्या का विवाह प्रथम और द्वितीय भाग मे हो सके, पर तृतीय मे नही। तृतीय विभाग में उत्पन्न कन्या का विवाह तीनो भागो मे हो सके। पर वैशाली से बाहर किसी कन्या का विवाह सम्भव नहीं था।" तिब्बती अनुश्रुति के इस उद्धरण से यह कल्पना कर सकना सर्वथा स्वाभाविक है, कि वैशाली के इन तीन भागो का अभिप्राय तीन वर्णों से है। प्राचीन भारतीय मर्यादा के अनुसार ब्राह्मण-कन्या का विवाह केवल ब्राह्मणकुमार से ही हो सकता था। पर क्षत्रिय-कन्या का विवाह ब्राह्मण और क्षत्रिय दोनो वर्णो मे हो सकता था। इसी प्रकार वैश्य-कन्या का विवाह ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य--इन तीनो वर्णों में हो सकता था। इसी को अनुलोम-विवाह कहा जाता था।

लिच्छवि लोग स्त्रियो का बडा आदर करते थे। उनमें स्त्रियो का सतीत्व पूर्णतया सुरक्षित रहता था। यही कारण है, कि महात्मा बुद्ध ने उनके सम्बन्ध मे कहा था—"लिच्छवि-जाति की कोई भी महिला या कन्या बलात्कार द्वारा प्रतिरुद्ध व अपहृत नही की जा सकती।"

मृतक संस्कार—लिच्छवि लोगों में मृतक-संस्कार का ढंग बहुत अद्भुत था। प्राचीन भारतवर्ष मे प्रायः मृतक शरीरो को जलाने की प्रथा विद्यमान थी। पर लिच्छवि लोग जलाने के अतिरिक्त अपने मुर्दों को जमीन मे गाड़ते भी थे। इतना ही नहीं, वर्तमान समय के पारसियो की तरह उनमे यह भी प्रथा थी कि वे अपने मृत शरीरों को खुला छोड़ देते थे, ताकि पक्षी-पशु उनका स्वच्छन्द रूप से भक्षण कर सकें।

उत्सव—लिच्छवि लोग स्वभाव से ही बड़े विनोदी और मौजी थे। यही कारण है, कि अपने उत्सवों को वे बड़ी धूमधाम के साथ मनाते थे। बौद्ध-साहित्य में लिच्छवियो के एक उत्सव का वर्णन आता है, जिसे 'सब्बरत्तिचारो' लिखा गया है। इसमें खूब नाचना और गाना होता था, बाजे बजते थे, और तुरही, ढोल तथा अन्य बाजे प्रयोग में लाये जाते थे।

विदेह—मिथिला का विदेह-राज्य भारतीय इतिहास में बहुत प्रचीन है। ब्राह्मण-ग्रन्थों और उपनिषदों में भी इसका उल्लेख है। इस देश के राजा जनक वैदिक साहित्य और अध्यात्मविद्या के बहुत भारी पण्डित होते थे। बृहदारण्यक उपनिषद् में विदेह के राजा जनक की परिषद् मे अध्यात्मविद्या-सम्बन्धी विवादो का उल्लेख बड़े विस्तार के साथ किया गया है। रामायण, महाभारत और पुराणो मे भी विदेह के राजाओ का वर्णन आता है। बौद्ध-साहित्य मे भी विदेह-राज्य के अनेक राजाओ का वर्णन मिलता है। इन सब प्रमाणो से ज्ञात होता है, कि विदेह-राज्य मे पहले राजतन्त्र-शासन विद्यमान था। पर बौद्ध-काल मे वहाँ राजतन्त्र-शासन का अन्त हो गणतन्त्र-शासन की स्थापना हो चुकी थी। भारत के विविध राज्यो मे भी भिन्न-भिन्न समयो मे शासन-विधान मे परिवर्तन होते रहे है, यह बात ध्यान देने योग्य है। कुरु, पाञ्चाल आदि राज्यो मे प्राचीन समय मे वंशक्रमानुगत राजाओ का शासन था, पर कौटलीय अर्थशास्त्र के समय मे उनमे गणशासन स्थापित हो चुका था। यही विदेह-राज्य में भी हुआ।

विदेह-राज्य भी वज्जि-राज्यसंघ मे सम्मिलित था। जिस समय मगध-राज अजातशत्रु ने अपने साम्राज्य का विस्तार करते हुए उसपर आक्रमण किया, तभी उसकी स्वतन्त्रता का अन्त हुआ।

वज्जि-राज्यसंघ—लिच्छवि, विदेह और अन्य छः गणराज्यो से मिलकर एक संघ बना हुआ था, जिसे वज्जि-राज्यसंघ कहते थे। लिच्छवि और विदेह के अतिरिक्त इस सघ मे जो राज्य सम्मिलित थे, उनमें कुण्डग्राम के ज्ञातृक-गण के सम्बन्ध मे हमें जैन-साहित्य से विशेष परिचय मिलता है। जैन-धर्म के संस्थापक वर्धमान महावीर ज्ञातृक-जाति के क्षत्रिय थे और ज्ञातृक-गण मे उत्पन्न हुए थे। ज्ञातृकराज्य के शासन के सम्बन्ध मे डा० हार्नले ने जैन-साहित्य के आधार पर इस प्रकार लिखा है—"वहाँ का शासन एक सभा (सीनेट) द्वारा होता था, जिसमे क्षत्रिय-परिवारो के मुख्य नेता सम्मिलित होते थे। इस सभा के अध्यक्ष को राजा कहते थे, जो उपराजा और सेनापति की सहायता से शासन का संचालन करता था।"

ज्ञातृक-राज्य के निवासी आचार्य पार्श्वनाथ के अनुयायी थे। उनका जीवन बहुत पवित्र था। वे किसी प्राणी की हिंसा नही करते थे। वे मांस भी नही खाते थे।

(३) बिहार क्षेत्र के अन्य गणराज्य

मल्ल—महात्मा बुद्ध के समय मे मल्ल-जाति के क्षत्रियो के दो राज्य विद्यमान थे—कुशीनारा का मल्ल-राज्य और पावा का मल्ल-राज्य। बौद्ध-काल में मल्ल-राज्य के महत्त्व का अनुमान इसी बात से किया जा सकता है, कि इसकी गणना षोडश

महाजनपदों में की गयी है। मल्ल-राज्य बहुत प्राचीन हैं। महाभारत में भी इनका जिकर आता है। जिस समय पाण्डवो ने दिग्विजय की थी, तो भीमसेन पूर्व दिशा की विजय करते हुए मल्ल-राज्य भी गया था और उसके साथ भी उसका युद्ध हुआ था।

कुशीनारा का महत्त्व इसलिये बहुत अधिक है, क्योंकि महात्मा बुद्ध का स्वर्गवास (महापरिनिर्वाण) इसी नगरी में हुआ था। ऐसा प्रतीत होता है, कि महात्मा बुद्ध को इस नगर से विशेष स्नेह था और वे वहीं पर मरना चाहते थे। वे पावा मे बीमार पड़े थे। पर अपनी अन्तिम लीला कुशीनारा मे समाप्त करने की इच्छा से वे वहाँ पर चले आये थे। उन्होंने अपने प्रधान शिष्य आनन्द को विशेष रूप से मल्लो के पास यह सूचना देने के लिए भेजा था, कि महात्मा बुद्ध का परिनिर्वाण होने वाला है, अतः मल्ल लोग उनसे मिल जाएँ।

"आनन्द ! कुशीनारा में जाकर कुशीनारावासी मल्लों को कहो—हे वाशिष्ठो, आज रात के पिछले पहर तथागत का परिनिर्वाण होगा। चलो वाशिष्ठो, चलो वाशिष्ठो, पीछे अफसोस मत करना कि हमारे ग्रामक्षेत्र मे तथागत का परिनिर्वाण हुआ, लेकिन हम अन्तिम काल मे तथागत का दर्शन न कर पाए।"

आनन्द ने कहा—"अच्छा भगवन्।"

"आयुष्मान् आनन्द चीवर पहिनकर, पात्रचीवर ले, अकेले ही कुशीनारा में प्रविष्ट हुए। उस समय कुशीनारा के मल्ल किसी कार्य से सन्थागार (सभाभवन) मे जमा हुए थे। तब आयुष्मान् आनन्द जहाँ कुशीनारा के मल्लो का सन्थागार था, वहाँ गए। जाकर उन्होने मल्लों को महात्मा बुद्ध का सन्देश सुना दिया।"

कुशीनारा वर्तमान समय में गोरखपुर जिले मे जहाँ कसिया नामक गाँव है, वहाँ स्थित था। कसिया गोरखपुर से ३७ मील पूर्व में है। इस विषय पर ऐतिहासिकों में विवाद रहा है, कि कसिया ही कुशीनारा था या नहीं। विन्सेण्ट ए० स्मिथ के अनुसार कुशीनारा नैपाल-राज्य की तराई मे स्थित था। पर अब यह बात भली-भाँति सिद्ध हो गयी है, कि कसिया ही प्राचीन कुशीनारा है। कारण यह है, कि पुरातत्व-विभाग के अन्वेषणों से कसिया के समीप विद्यमान एक प्राचीन स्तूप के अन्दर एक ताम्रपत्र उपलब्ध हुआ है, जिसपर निम्नलिखित वाक्य उत्कीर्ण है—('परिनि) र्वाण—चैत्य—ताम्रपट्ट'—इस लेख के प्राप्त होने के पश्चात् कसिया को ही प्राचीन कुशीनारा स्वीकृत कर लिया गया है।

मल्लों का दूसरा राज्य पावा मे था। कनिंघम ने पावा को गोरखपुर जिले के पडरौना के साथ मिलाया है, जो गण्डक नदी के तीर पर कुशीनारा से १२ मील उत्तर-पूर्व मे स्थित है। महापरिनिब्बानसुत्त के अनुसार महात्मा बुद्ध ने अपने जीवन का अन्तिम भोजन इसी स्थान पर किया था, और यही वे बीमार पड़ गए थे। बीमारी की दशा में ही वे एक दिन मे पावा से कुशीनारा आ गए थे। कसिया और पडौरना में अन्तर केवल १२ मील है। इसलिए सम्भव है, कि पडरौना के समीप ही कहीं प्राचीन पावा नगरी स्थित हो। कुशीनारा और पावा के अतिरिक्त मल्लों के अन्य भी अनेक नगर थे। चुल्लवग्ग में मल्लों के एक अन्य नगर का जिकर आता है, जिसका नाम अनूपिया था। कुछ समय के लिए महात्मा बुद्ध इस नगर के विहार में भी रहे

थे। अंगुत्तरनिकाय मे एक अन्य मल्ल नगर का उल्लेख आता है, जिसे उरुवेलकप्प कहते थे। यहाँ भी महात्मा बुद्ध ने कुछ समय निवास किया था। अनूपिया व उरुवेलकप्प कोई पृथक् राज्य नही थे। ये मल्लराज्यो के अन्तर्गत नगरमात्र थे।

इन प्रमुख गणराज्यों के अतिरिक्त कुछ अन्य गण भी है, बौद्ध साहित्य में जिनका उल्लेख आया है—(१) अल्लकप्प के बुली, (२) देवदह और रामगाम के कोलिय, (३) पिप्पलिवन के मोरिय, (४) सुसुमार पर्वत के भग्ग, और (५) केसपुत्र के कालाम। महात्मा बुद्ध के महापरिनिब्बान के पश्चात् इन गणराज्यों की ओर से भी यह माँग पेश की गयी थी, कि हमें भी भगवान् के भस्मावशेषों का अंश मिलना चाहिए, ताकि हम भी उसके उचित सम्मान के लिए स्तूप आदि का निर्माण कर सकें। पिप्पलिवन के मोरियों के अतिरिक्त अन्य राज्यो की माँग पूर्ण भी हो गयी थी। पर मोरिय लोग बहुत पीछे पहुँचे थे, तब तक बुद्ध के शरीर के भग्नावशेष बाँटे जा चुके थे। उन्हें राख के अगारों को लेकर ही सन्तुष्ट होना पड़ा था।

(४) पंजाब तथा अन्य प्रदेशों के गणराज्य

बौद्ध साहित्य द्वारा बिहार-क्षेत्र के गणराज्यो का परिचय मिलता है। पर उनके अतिरिक्त अन्य भी बहुत-से गणराज्य थे, जो बौद्ध युग में भारत के अन्य प्रदेशों मे विद्यमान थे। पाणिनि की अष्टाध्यायी, कौटलीय अर्थशास्त्र तथा ग्रीक विवरणो से इनके सम्बन्ध मे पर्याप्त जानकारी प्राप्त की जा सकती है। चौथी सदी ईस्वी पूर्व में जब सिकन्दर ने भारत पर आक्रमण किया था, तो पंजाब तथा उत्तर-पश्चिमी भारत के अनेक गणराज्यो के साथ उसके युद्ध हुए थे। इनमे मुख्य कठ, अरिष्ट, सौभूति, शिवि, मालव, क्षुद्रक, आग्रेय, अम्बष्ठ, मद्र, क्षत्रिय, वसाति, मुचुकर्ण और ब्राह्मणक जनपद थे, जिनमे उस समय गणतन्त्र शासनों की सत्ता थी। सिकन्दर के आक्रमण का वृत्तान्त लिखते हुए इन गणराज्यों के सम्बन्ध मे अधिक प्रकाश डाला जाएगा।

पाणिनि की अष्टाध्यायी मे भी क्षुद्रक, मालव, यौधेय, सत्वत, अन्धक, वृष्णि, मद्र, वृजि, वसाति, आर्जुनायन, शिवि, कुरु, मुरु आदि जनपदो का उल्लेख है। इनमे भी पाणिनि के समय (जो ५०० ईस्वी पूर्व के लगभग माना जाता है) में गणतन्त्र शासन विद्यमान थे। अष्टाध्यायी में उल्लिखित कुछ गणराज्य (यथा वृजि) बिहार के क्षेत्र मे थे, कुछ (यथा सत्वत, अन्धक और वृष्णि) व्रजभूमि के क्षेत्र मे थे और अन्य (यथा शिवि, मालव और क्षुद्रक) पंजाब के क्षेत्र मे। कौटलीय अर्थशास्त्र में दो प्रकार के गणराज्यों का उल्लेख किया गया है, वार्ताशस्त्रोपजीवी और राजशब्दोपजीवी। कम्बोज, क्षत्रिय, श्रेणि आदि पश्चिमी भारत के गण वार्ताशस्त्रोपजीवी थे, और लिच्छवि, वृजि, मल्ल आदि बिहार क्षेत्र के गण राजशब्दोपजीवी। वस्तुतः, बौद्ध युग मे भारत के अनेक प्रदेशों मे गणराज्य विद्यमान थे, जिनमे से कुछ मगध और कोशल के महत्त्वाकांक्षी राजाओ द्वारा पराभूत किए गए और कुछ सिकन्दर जैसे विदेशी आक्रान्ता द्वारा।

बारहवाँ अध्याय

बौद्ध युग की सभ्यता और संस्कृति

(१) गणराज्य और उनकी शासनविधि

बौद्ध युग के शक्तिशाली राजाओ ने अपने साम्राज्यो का विस्तार करते हुए जिन बहुत-से जनपदो को विजय किया था, उनमे अनेक ऐसे भी थे जिनका शासन गणतन्त्र था। इन गणराज्यों के तीन प्रमुख क्षेत्र थे—(१) उत्तरी बिहार, जहाँ वज्जि, शाक्य, मल्ल आदि जनपद विद्यमान थे। (२) गंगा-यमुना का क्षेत्र, जहाँ सत्वत, अन्धक, वृष्णि, कुरु, पंचाल आदि गणो की सत्ता थी। (३) पजाब और उत्तर-पश्चिमी भारत, जिसमे शिवि, मालव, क्षुद्रक, कठ, आग्रेय, यौधेय, मद्र आदि गण स्थित थे। चौथी सदी ईस्वी पूर्व मे भारत के ये विविध गणराज्य अपनी राजनीतिक स्वतन्त्रता से हाथ धो चुके थे और मागध साम्राज्य की अधीनता मे आ गए थे। पर उससे पूर्व बौद्ध युग मे इनकी पृथक् व स्वतन्त्र सत्ता थी। कुरु, पंचाल, विदेह आदि अनेक राज्यों मे उत्तर-वैदिक काल तक वंशक्रमानुगत राजाओ का शासन था, पर बौद्ध युग मे वहाँ गणतन्त्र शासन स्थापित हो गए थे। इन गणराज्यो के राजनीतिक इतिहास के सम्बन्ध मे अभी तक कोई भी महत्त्वपूर्ण तथ्य ज्ञात नही हो सके है, पर उनकी शासन-पद्धति, कार्यविधि आदि के विषय मे बौद्ध साहित्य, ग्रीक विवरणो, कौटलीय अर्थशास्त्र और पाणिनि की अष्टाध्यायी से बहुत-कुछ परिचय प्राप्त किया जा सकता है।

कपिलवस्तु के शाक्यगण मे कोई वंशक्रमानुगत राजा नही होता था। गण के मुख्य (राष्ट्रपति) को ही वहाँ 'राजा' कहा जाता था। बुद्ध के पिता शुद्धोदन शाक्य गण के वंशक्रमानुगत राजा नही थे, अपितु कुछ समय के लिए ही 'राजा' निर्वाचित किए गए थे। यही कारण है, कि बौद्ध साहित्य मे अनेक स्थलो पर उनके नाम के साथ 'राजा' विशेषण का प्रयोग किया गया है, पर अन्यत्र उनके जीवन काल मे ही उनके भतीजे भद्दिय को 'राजा' कहा गया है और उन्हे केवल 'शाक्य शुद्धोदन' लिखा गया है। शाक्य गण के समान लिच्छवि गण मे भी कोई वंशक्रमानुगत राजा नही होता था, पर वहाँ प्रत्येक नागरिक को 'राजा' कहते थे। बौद्ध-ग्रन्थ ललितविस्तर के अनुसार वैशाली (लिच्छवि गण की राजधानी) के निवासियो मे उच्च, मध्य, वृद्ध, ज्येष्ठ आदि के भेद का विचार नही किया जाता। वहाँ सब कोई यही समझते हैं कि 'मैं राजा हूँ, मैं राजा हूँ।' कोई किसी से छोटा होना स्वीकार नही करता। इन गणराज्यों मे शासन कार्य के लिए परिषद् होती थी, जिसके अधिवेशन सन्थागार (सभाभवन) में हुआ करते थे। शाक्य गण की परिषद के सदस्यों की सख्या बौद्ध ग्रन्थो मे ५०० लिखी गई है। शासन-विषयक सब महत्त्वपूर्ण विषय परिषद् के सम्मुख प्रस्तुत किए जाते थे,

और वही उनका निर्णय करती थी। लिच्छवि गण की परिषद् के सदस्यों की संख्या बहुत अधिक थी। एकपण्ण जातक के अनुसार वैशाली मे राज्य करने वाले 'राजाओं' की संख्या ७७०७ थी, और इतने ही उपराजा, सेनापति तथा भाण्डागारिक भी वहाँ थे। बौद्ध साहित्य के अन्य भी अनेक ग्रन्थों में लिच्छवियो के ७७०७ राजाओं, उपराजाओ आदि का उल्लेख है। सम्भवतः, गणराज्यो की इन परिषदो का निर्माण उन कुलो के मुखियाओं (कुलमुख्यों) द्वारा होता था, जो गण के अंगभूत थे। परिषद् के सदस्यों की नियुक्ति चुनाव द्वारा नहीं होती थी। प्रत्येक कुल का ज्येष्ठ पुरुष, जिसके लिए पाणिनि की अष्टाध्यायी में 'गोत्रापत्य' संज्ञा का प्रयोग किया गया है, परिषद् का सदस्य माना जाता था।

गणराज्यो की न्याय व्यवस्था के सम्बन्ध मे भी कुछ निर्देश बौद्ध साहित्य से प्राप्त होते हैं। लिच्छविगण मे यह व्यवस्था थी कि अभियुक्त को पहले 'विनिश्चय-महामात्र' के सम्मुख उपस्थित किया जाए। वह अपराध की जाँच करता था, और निरपराधी पाने पर अभियुक्त को छोड देता था। विनिश्चय-महामात्र द्वारा अभियुक्त के अपराधी पाए जाने पर उसे 'व्यावहारिक' के सम्मुख पेश किया जाता था। वह उसे छोड तो सकता था, पर दण्ड नही दे सकता था। यदि व्यावहारिक भी अभियुक्त को अपराधी पाए, तो उसे 'सूत्रधर' के सम्मुख पेश किया जाता था। यदि वह भी उसे अपराधी पाए, तो उसे क्रमशः अट्ठकुलक, सेनापति, उपराजा और राजा के सम्मुख उपस्थित किया जाता था। पर राजा को भी स्वयं दण्ड देने का अधिकार नहीं था। यदि वह भी अभियुक्त को अपराधी पाए, तो उसे 'पवेणिपोत्थक' संज्ञक राजपदाधिकारी के सम्मुख पेश किया जाता था, जिसे दण्ड देने का अधिकार था। इस प्रकार अपराधी को छूट सकने के अवसर तो बहुत थे, पर उसे दण्ड तभी मिल सकता था, जब उसका अपराध भली-भाँति सिद्ध हो जाए।

ग्रीक विवरणो के अनुसार क्षुद्रक, मालव आदि जनपदो मे उस ढंग के शासन विद्यमान थे, जिन्हें ग्रीस मे लोकतन्त्र (डेमोक्रेटिक) कहते थे। डायोडोरस ने लिखा है, कि बहुत-सी पीढ़ियाँ बीत गई थी, जबकि इनमे राजाओं की सत्ता का अन्त होकर लोकतन्त्र शासन स्थापित हो गए थे। ग्रीक विवरणो मे कतिपय जनपदो के शासन को श्रेणितन्त्र (अरिस्टोक्रेटिक) भी लिखा गया है। इस युग मे ग्रीस मे बहुत-से जनपद थे, जिनमे प्रायः लोकतन्त्र और कुलतन्त्र शासनो की सत्ता थी। एथन्स सदृश लोकतन्त्र गणराज्य की राजसभा मे सब वयस्क नागरिक सम्मिलित हुआ करते थे, और उन द्वारा किए जाने वाले निर्णयों का आधार बहुमत होता था। निर्वाचित प्रतिनिधियों द्वारा निर्मित सभाएँ उस काल मे नही होती थी। ग्रीक लेखक अपने देश की विविध शासन पद्धतियो से भली-भाँति परिचित थे। लोकतन्त्र और श्रेणितन्त्र के भेद को वे भली-भाँति जानते थे। अतः क्षुद्रक और मालव आदि जिन राज्यो के शासन को उन्होने लोकतन्त्र रहा है, उनमे प्रायः वही शासन पद्धति थी, जो एथन्स सदृश ग्रीक गणराज्यो मे थी। श्रेणितन्त्र गणराज्यो मे शासन शक्ति कुलमुख्यो के हाथो मे रहती थी, सब नागरिकों के नही।

कौटलीय अर्थशास्त्र मे दो प्रकार के गणराज्यों व संघो का उल्लेख है—राजशब्दोपजीवी और वार्त्ताशस्त्रोपजीवी। लिच्छविगण राजशब्दोपजीवी राज्यों का उत्तम उदाहरण है। वहाँ सब नागरिक राजा कहाते थे, और कोई भी अपने को किसी अन्य से हीन नहीं समझता था। वार्त्ताशस्त्रोपजीवी गणों के नागरिक जहाँ कृषि, पशुपालन और वणिज्या द्वारा अपना निर्वाह करते थे, वहाँ साथ ही उत्कृष्ट सैनिक भी होते थे। पाश्चात्य जगत् मे फिनीशिया इसी प्रकार का गणराज्य था, और भारत मे यमुना के पश्चिम में विद्यमान आग्रेय, यौधेय, क्षत्रिय, श्रेणि आदि इसी प्रकार के गण थे। इन्हीं को पाणिनि की अष्टाध्यायी में 'आयुधजीवी' सघ कहा गया है।

बौद्ध युग के गणराज्यों की शासन पद्धति तथा कार्यविधि के सम्बन्ध में बौद्ध साहित्य से कतिपय अन्य भी महत्त्वपूर्ण बातें ज्ञात होती है। जब मगध के राजा अजातशत्रु ने वज्जि सघ की विजय का विचार किया, तो उसने अपने मन्त्री वर्षकार (वस्सकार) को महात्मा बुद्ध की सेवा मे परामर्श के लिए भेजा। अजातशत्रु के विचार को सुनकर बुद्ध ने कहा—'जब तक वज्जि लोग एक हो बैठक करते रहेगे और एक हो राज्यकार्य की देखभाल करते रहेंगे, तब तक उनकी वृद्धि ही समझना हानि नहीं!' इसी प्रकार, जब तक वज्जि लोग अपने राज्य मे जो विहित है उसका उल्लंघन नही करेंगे, जो पुराने समय से उनके नियम चले आ रहे हैं उनका पालन करते रहेंगे; और जब तक वज्जियो में जो महल्लक (वृद्ध नेता) हो, वज्जि लोग उनका सत्कार करते रहेंगे, उन्हे बड़ा मान कर उनकी वे पूजा करते रहेगे, उनकी बात को सुनने तथा ध्यान देने योग्य समझते रहेगे, तब तक उनकी वृद्धि ही होगी, हानि नही। बुद्ध के इस कथन से इस बात मे कोई सन्देह नहीं रह जाता कि वज्जि-संघ मे शासन के प्रयोजन से नागरिको द्वारा परस्पर मिलकर बैठकें की जाती थी, परम्परागत तथा विहित नियमों व कानूनो का पालन किया जाता था, और राज्य के महल्लकों (जिन्हे अष्टाध्यायी में 'वृद्ध' कहा गया है) के वचनो व सम्मति का समुचित आदर किया जाता था।

गण या सघ राज्यों की सभाओं में कार्य की क्या विधि थी, इसका परिज्ञान बौद्ध संघ की कार्यविधि से प्राप्त किया जा सकता है। बुद्ध का जन्म एक गण व संघ-राज्य में हुआ था, और उनके जीवन का बडा भाग संघो के वातावरण मे ही व्यतीत हुआ था। उनके लिए यह स्वाभाविक था कि वह अपने नए धार्मिक सम्प्रदाय को सघ की संज्ञा देते और उसकी कार्य-विधि के लिए अपने समय के राजनैतिक संघों का अनुसरण करते। इसी कारण बौद्ध भिक्षुसंघ की कार्यविधि से उस युग के सघ राज्यों की कार्यविधि का अनुमान किया जा सकता है।

भिक्षु-सघ मे सदस्यों के बैठने के लिए पृथक्-पृथक् आसन होते थे। आसनों की व्यवस्था करने के लिए एक पृथक् कर्मचारी होता था, जिसे 'आसनप्रज्ञापक' कहते थे।

संघ में जिस विषय पर विचार होना हो, उसे पहले प्रस्ताव के रूप मे पेश किया जाता था। पर प्रस्ताव को उपस्थित करने से पूर्व पहले उसकी सूचना देनी होती थी। इस सूचना को 'ज्ञप्ति' कहते थे। ज्ञप्ति के बाद प्रस्ताव को बाकायदा उपस्थित किया जाता था। प्रस्ताव के लिए बौद्ध-साहित्य मे पारिभाषिक शब्द 'प्रतिज्ञा'

है। जो प्रस्ताव (प्रतिज्ञा) के पक्ष में होते थे, वे चुप रहते थे। जो विरोध में होते थे, वे अपना विरोध प्रगट करते थे। यदि प्रस्ताव उपस्थित होने पर संघ चुप रहे, तो उसे तीन बार पेश किया जाता था। तीनों बार संघ के चुप रहने पर उस प्रस्ताव को स्वीकृत मान लिया जाता था। विरोध होने पर बहुसम्मति द्वारा निर्णय करने की प्रथा थी।

भिक्षु-संघ के लिए 'कोरम' (quorum) का भी नियम था। संघ की बैठक के लिए कम-से-कम बीस भिक्षुओं की उपस्थिति आवश्यक थी। यदि कोई कार्य पूरे कोरम के बिना किया जाए, तो उसे मान्य नही समझा जाता था। गणपूरक नाम के एक भिक्षुकर्मचारी का कार्य ही यह होता था, कि वह कोरम को पूरा करने का प्रयत्न करे। यह संघ के अधिवेशन के लिए जितने भिक्षुओं की आवश्यकता हो, उन्हे एकत्रित करता था। आजकल की व्यवस्थापिका-सभाओं में जो कार्य ह्विप (Whip) करते हैं, यह गणपूरक पुराने भिक्षुसंघों में वही कार्य किया करता था। जिन प्रस्तावों पर किसी को विप्रतिपत्ति नही होती थी, वे सर्वसम्मति से स्वीकृत मान लिए जाते थे। उनपर वोट लेने की कोई आवश्यकता नही समझी जाती थी। उनपर विवाद भी नहीं होता था। परन्तु यदि किसी प्रश्न पर मतभेद हो, तब उसके पक्ष और विपक्ष में भाषण होते थे और बहुसम्मति द्वारा उसका निर्णय किया जाता था। बहुसम्मति द्वारा निर्णय होने को 'ये भूयस्मिकम्' या 'ये भूयसीयम्' कहते थे। बौद्ध-ग्रन्थों में वोट के लिए 'छन्द' शब्द है। छन्द का दूसरा अर्थ स्वतन्त्र होता है। इससे यह ध्वनि निकलती है, कि वोट के लिए स्वतन्त्रता को बहुत महत्त्व दिया जाता था। वोट के लिए प्रयोग में आने वाली पर्चियों को 'शलाका' कहते थे। वोट लेने के लिए एक भिक्षु कर्मचारी होता था, जिसे 'शलाकाग्राहक' कहते थे। यह 'शलाका-ग्रहण' (वोट एकत्रित करना) का काम किया करता था।

वोट लेने के तीन ढंग थे—गूढक, सकर्णजल्पक और विवृतक।

(१) गूढक—शलाकाग्राहक जितने पक्ष हो उतने रंगों की शलाकाएँ बनाता था। क्रम से भिक्षु उसके पास वोट देने के लिए आते थे। प्रत्येक भिक्षु को शलाकाग्राहक बताता था, कि इस रंग की शलाका इस पक्ष की है, उन्हें जो पक्ष अभिमत हो, उसकी शलाका उठा लो।

(२) सकर्णजल्पक—जब वोट देने वाला भिक्षु शलाका-ग्राहक के कान मे कहकर अपने मत को प्रगट करे, तो उसे 'सकर्णजल्पक' विधि कहा जाता था।

(३) विवृतक—जब वोट खुले रूप से लिए जाएँ, तो विवृतक विधि होती थी।

जिन प्रश्नों पर भिक्षुसंघ मे मतभेद होता था, उनपर अनेक बार बहुत गरमा-गरम बहस हो जाती थी और निर्णय पर पहुँच सकना कठिन हो जाता था। उस दशा मे संघ की एक उपसमिति बना दी जाती थी, जिसे 'उद्वाहिका' या 'उब्बहिका' कहते थे। यह 'उद्वाहिका' विवादग्रस्त विषय पर भली-भाँति विचार कर उसका निर्णय करने में समर्थ होती थी। पर यदि इससे भी परस्पर-विरोध शान्त न हो, तो 'ये भूयसीयम्' के अतिरिक्त निर्णय का अन्य कोई उपाय नहीं रहता था।

संघ की वक्तृताओं तथा अन्य कार्यों को उल्लिखित करने के लिए लेखक भी

हुआ करते थे। महागोविन्द सुत्तान्त (दीर्घ निकाय) के अनुसार "तार्तविंशदेव सुधम्मसभा में एकत्रित हुए, और अपने-अपने आसनो पर विराजमान हो गए। वहाँ उस सभा में चार महाराज इस कार्य के लिए विराजमान थे, कि भाषणों तथा प्रस्तावों को उल्लिखित करें।"

यदि कोई वक्ता संघ में भाषण करते हुए वक्तृता के नियमों का ठीक प्रकार से पालन न करे, परस्पर-विरोधी बात बोले, पहले कही हुई बात को दोहराये, कटु भाषण करे या इसी प्रकार कोई अन्य अनुचित कार्य करे, तो उसे दोषी समझा जाता था और इसके लिए उसे उत्तरदायी होना पडता था। जो भिक्षु संघ के अधिवेशन मे किसी कारण उपस्थित न हो सकें, उनकी सम्मति लिखित रूप से मँगा ली जाती थी। यह आवश्यक नही होता था, कि इन अनुपस्थित भिक्षुओ की सम्मति का निर्णय के लिए परिगणन अवश्य किया जाए, पर उनकी सम्मति मँगा लेना आवश्यक समझा जाता था। उनकी सम्मति से उपस्थित भिक्षुओं को अपनी सम्मति बनाने मे सहायता मिल सके, इसीलिए यह व्यवस्था की गयी थी।

(२) राजतन्त्र राज्यों में शासन का स्वरूप

बौद्ध-युग के सब राज्यो मे एक ही प्रकार का शासन नही था। विविध राजतन्त्र-राज्यो मे राजा की स्थिति भिन्न-भिन्न प्रकार की थी। यही कारण है, कि बौद्ध-ग्रन्थों मे इस विषय में विविध तथा परस्पर-विरोधी विचार उपलब्ध होते हैं।

राजा की स्थिति—बौद्ध-साहित्य के अनुसार राजा को राज्य का स्वामी नही माना जाता था, उसका कार्य केवल प्रजा का पालन तथा अपराधियो को दण्ड देना ही समझा जाता था। वह व्यक्तियो पर कोई अधिकार नही रखता था। एक जातक-कथा के अनुसार एक बार एक राजा की प्रिय रानी ने अपने पति से यह वर माँगा कि मुझे राज्य पर अमर्यादित अधिकार प्रदान कर दिया जाए। इसपर राजा ने अपनी प्रिय रानी से कहा—'भद्रे ! राष्ट्र के सम्पूर्ण निवासियो पर मेरा कोई भी अधिकार नही है, मैं उनका स्वामी नही हूँ। मैं तो केवल उनका स्वामी हूँ, जो राजकीय नियमो का उल्लघन कर अकर्त्तव्य कार्य को करते हैं। अतः मैं तुम्हे राष्ट्र के सम्पूर्ण निवासियो का स्वामित्व प्रदान करने मे असमर्थ हूँ।' इससे स्पष्ट है, कि बौद्ध-युग मे राजा जनता पर अबाधितरूप से शासन नही कर सकते थे। राज्य व राजा की उत्पत्ति के सम्बन्ध में जो मन्तव्य बौद्ध-साहित्य मे पाए जाते है, वे भी इसी विचार की पुष्टि करने वाले है। बौद्ध-साहित्य के अनुसार पहले राज्य-सस्था नही थी, अराजक दशा थी। जब लोगो मे लोभ और मोह उत्पन्न हो जाने के कारण 'धर्म' नष्ट हो गया, तो उन्हे राज्य-संस्था के निर्माण की आवश्यकता अनुभव हुई। इसके लिए वे एक स्थान पर एकत्रित हुए और अपने मे जो सबसे अधिक योग्य, बलवान्, बुद्धिमान् और सुन्दर व्यक्ति था, उसे राजा बनाया गया। उस योग्यतम व्यक्ति को राजा बनाकर सबने उसके साथ निम्न प्रकार से 'समय' (सविदा या करार) किया—"अबसे तुम उस व्यक्ति को दण्ड दिया करो, जो दण्ड देने योग्य हो और उसे पुरस्कृत किया करो, जो पुरस्कृत होने योग्य हो। इसके बदले में हम तुम्हें अपने क्षेत्रो की उपज का एक भाग प्रदान किया करेंगे।"

इसके आगे लिखा गया है—"क्योंकि यह व्यक्ति सब द्वारा सम्मत होकर अपने पद पर अधिष्ठित होता है, इसलिए इसे 'महासम्मत' कहते हैं। क्योंकि यह क्षेत्रों का रक्षक है, और क्षति से जनता की रक्षा करता है, अतः 'क्षत्रिय' कहाता है। क्योंकि यह प्रजा का रञ्जन करता है, इस कारण इसे 'राजा' कहा जाता है।" राजा के सम्बन्ध में ये विचार बहुत महत्त्वपूर्ण हैं। इसी ढंग के विचार महाभारत, शुक्रनीति आदि प्राचीन नीति-ग्रन्थों में भी उपलब्ध होते हैं।

पर बौद्ध-काल के सभी राजा शासन मे इन उदात्त सिद्धान्तो का अनुसरण नहीं करते थे। जातक-कथाओं में अनेक इस प्रकार के राजाओं का भी उल्लेख आया है, जो अत्याचारी, क्रूर और प्रजापीडक थे। महापिंगल-जातक में एक राजा का उल्लेख आया है, जिसका नाम महापिंगल था। वह अधर्म से प्रजा का शासन करता था; दण्ड, कर आदि द्वारा वह जनता को इस प्रकार पीसता था, जैसे कोल्हू मे गन्ना पीसा जाता है। वह बडा क्रूर, अत्याचारी और भयंकर राजा था। दूसरो के प्रति उसके हृदय मे दया का लवलेश भी न था। अपने कुटुम्ब मे भी वह अपनी धर्मपत्नी, सन्तान आदि पर तरह-तरह के अत्याचार करता रहता था। इसी प्रकार केशिशील-जातक मे वाराणसी के राजा ब्रह्मदत्त का वर्णन करते हुए लिखा है, कि वह बडा स्वेच्छाचारी तथा क्रूर राजा था। उसे पुरानी वस्तुओं से बड़ा द्वेष था। वह न केवल पुरानी चीजों को ही नष्ट करने मे व्यापृत रहता था, पर साथ ही वृद्ध-स्त्री पुरुषो को तरह-तरह के कष्ट देकर उन्हे मारने मे उसे बड़ा आनन्द अनुभव होता था। जब वह किसी बूढी स्त्री को देखता, तो उसे बुलाकर पिटवाता था। बूढे पुरुषो को वह इस ढंग से जमीन पर लुढकाता था, मानो वे धातु के बरतन हो।

पर यह ध्यान मे रखना चाहिए, कि बहुसंख्यक राजा धार्मिक और प्रजा-पालक होते थे। वे प्राय. अपनी 'प्रतिज्ञा' पर दृढ रहने वाले होते थे। जो राजा प्रजा पर अत्याचार करते थे, उनके विरुद्ध विद्रोह भी होते रहते थे। सच्चंकिर जातक में एक राजा की कथा आती है, जो बड़ा क्रूर और अत्याचारी था। आखिर, लोग उसके शासन से तग आ गए और ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा अन्य सब देशवासियों ने मिलकर निश्चय किया कि इस राजा के विरुद्ध विद्रोह कर दिया जाए। इसी के अनुसार एक बार जब वह अत्याचारी राजा हाथी पर जा रहा था, उसपर आक्रमण किया गया और उसे वही कतल कर दिया गया। राजा को मारकर जनता ने स्वयं बोधिसत्व को राजा निर्वाचित किया। इसी प्रकार पदकुशलमाणव-जातक में एक अत्याचारी राजा के विरुद्ध जनता के विद्रोह का वर्णन आया है। इस राजा के विरुद्ध भडकाते हुए जनता को निम्नलिखित बात कही गयी थी—'जनपद और निगम मे एकत्रित जनता मेरी बात पर ध्यान दे। जल मे अग्नि प्रज्वलित हो उठी है। जहाँ से हमारी रक्षा होनी चाहिए, वहीं से अब रक्षा के स्थान पर भय हो गया है। राजा और उसका ब्राह्मण पुरोहित राष्ट्र पर अत्याचार कर रहे हैं। अब तुम लोग अपनी रक्षा स्वयं करो। जहाँ तुम्हें शरण मिलनी चाहिए, वही स्थान अब भयंकर हो गया है।'

बौद्ध-काल के राजतन्त्र राज्यो में राजा प्रायः वंशक्रमानुगत होते थे। पर राजसिंहासन पर विराजमान होने के लिए उन्हें यह सिद्ध करना आवश्यक होता था,

कि वे राज्यकार्य का संचालन करने के लिए उपयुक्त योग्यता रखते हैं। गामणिचण्ड जातक में कथा आती है, कि जब वाराणसी के राजा जनसन्ध की मृत्यु हो गयी, तो अमात्यों ने विचार किया कि राजकुमार की आयु बहुत कम है, अतः उसे राजा नहीं बनाना चाहिए। फिर विचार के अनन्तर उन्होंने यह निर्णय किया कि राजगद्दी पर बिठाने से पूर्व कुमार की परीक्षा करना आवश्यक है। कुमार को न्यायालय (विनिश्चय-स्थान) में ले जाया गया, और वहाँ उसकी अनेक प्रकार से परीक्षा ली गयी। जब उसने यह सिद्ध कर दिया, कि राजा के लिए आवश्यक सब गुण उसमें विद्यमान हैं, तभी उसे वह पद दिया गया। यह सही है कि सामान्य दशा में राजा का लड़का ही राजगद्दी पर बैठता था। पर यदि वह योग्य न हो, या उसकी योग्यता के सम्बन्ध में विवाद हो, तो अमात्य लोग उसकी परीक्षा लेते थे और परीक्षा में अनुत्तीर्ण होने पर किसी अन्य को राज्य प्रदान कर सकते थे।

शासन करने की योग्यता के अतिरिक्त कुछ अन्य बातें भी राजा के लिए ध्यान में रखी जाती थी। अन्धे व विकलांग व्यक्ति को राजा नहीं बनाया जाता था। शिवि-जातक में अरिट्ठपुर के राजा शिवि की कथा आती है, जो बड़ा दानी था। उसके दान की कीर्ति सब ओर फैली हुई थी। एक बार एक अन्धे भिक्षुक ब्राह्मण ने उससे आँखों की भिक्षा माँगी। राजा शिवि तैयार हो गया और उसने अपनी आँखे उस भिक्षुक को प्रदान कर दी। स्वयं अन्धा हो जाने पर राजा शिवि ने सोचा, कि अन्धे आदमी के राजसिंहासन पर बैठने से क्या लाभ है। वह अपने अमात्यो के हाथ में राज्य को सुपुर्द कर स्वयं वन में चला गया, और वहाँ तापस के रूप मे जीवन व्यतीत करने लगा। इसी प्रकार सम्बुल जातक मे बनारस के राजकुमार सोट्ठसेन की कथा आती है, जो कोढ़ से पीडित था और इसी रोग से ग्रस्त होने के कारण राजप्रासाद को छोडकर जंगल में चला गया था। वह तब तक अपने राज्य मे वापस नही लौटा, जब तक कि उसकी धर्मपत्नी सम्बुला की सेवा से उसका रोग पूर्णतया दूर नही हो गया। कोढ़ से पीडित होने के कारण वह अपने को राजसिंहासन के योग्य नहीं समझता था।

बौद्ध-काल के अनेक राज्यों में राजकुमार लोग अपने पिता के जीवित होते हुए भी स्वयं राज्य प्राप्त करने के लिए प्रयत्न प्रारम्भ कर देते थे। मगध के अनेक सम्राट् पितृघाती थे। उन्होने अपने पिता को मारकर राज्य प्राप्त किया था। प्रसिद्ध सम्राट् अजातशत्रु ने राज्य प्राप्त करने के लिए अपने पिता बिम्बिसार का घात किया था। जातक-कथाओं मे भी अनेक कुमारों का उल्लेख है, जिन्होने अपने पिता के जीवन-काल में ही स्वयं राज्य प्राप्त करने का प्रयत्न किया। संकिञ्च-जातक के अनुसार वाराणसी के राजा का नाम ब्रह्मदत्त था। उसका एक लडका था, उसका नाम भी ब्रह्मदत्त रखा गया। जब कुमार ब्रह्मदत्त तक्षशिला से अपनी शिक्षा समाप्त कर वापस आया, तो उसने सोचा—'मेरे पिता की आयु अभी बहुत कम है, वह तो मेरे बडे भाई के समान है। यदि मैं उसकी मृत्यु तक राज्य के लिए प्रतीक्षा करूँगा, तो राजा बनने तक मैं बूढा हो जाऊँगा। बूढा होकर राजा बनने से क्या लाभ होगा? मैं अपने पिता का घात कर दूंगा और इस प्रकार राजगद्दी पर अधिकार प्राप्त कर लूंगा।" उसने यही किया और एक षड्यन्त्र द्वारा अपने पिता को मारकर स्वयं राजा बन गया।

बौद्ध-साहित्य में राजा के दस धर्मों का स्थान-स्थान पर उल्लेख किया गया है। ये दस धर्म निम्नलिखित हैं—दान, शील, परित्याग, आर्जव, मार्दव, तप, अक्रोध, अविहिंसा, शान्ति और अविरोधन। राजाओं में इन गुणों की सत्ता बहुत आवश्यक और लाभकर मानी जाती थी। इस काल में राजाओं से दानशीलता की आशा बहुत अधिक की जाती थी। जातक-साहित्य मे अनेक राजाओं की दानशक्ति का बड़े विस्तार के साथ वर्णन किया गया है। चुल्लपद्म जातक में वाराणसी के राजा पद्म की कथा आती है, जो अत्यन्त दानी था। उसने वहाँ छः दानगृह बनवाये हुए थे। चार दानगृह वाराणसी के चारों द्वारो पर बने हुए थे, एक नगर के ठीक बीच में और छठा राजप्रासाद के सामने। इन दानगृहों से प्रतिदिन छः लाख मुद्राएँ दान दी जाती थीं। इसी प्रकार का वर्णन अन्य अनेक राजाओं के सम्बन्ध में भी आया है।

बौद्ध-काल के राजा बड़े वैभव और शान-शौकत के साथ निवास करते थे। जातक-ग्रन्थों में अनेक स्थानों पर उनके जुलूसों, सवारियों तथा राजप्रासादों का वर्णन किया गया है। राजा लोग तमाशों, खेलों और संगीत आदि का भी बहुत शौक रखते थे। शिकार उनके आमोद-प्रमोद का महत्त्वपूर्ण साधन होता था। राजाओं के अन्तःपुर भी बहुत बडे होते थे। अन्तःपुर में प्रचुर संख्या मे स्त्रियों को रखना एक शान की बात समझी जाती थी। सुरुचि जातक के अनुसार बनारस के राजा ने निश्चय किया, कि वह अपनी कन्या का विवाह ऐसे कुमार के साथ करेगा, जो एकपत्नीव्रत रहने का प्रण करे। मिथिला के कुमार सुरुचि के साथ उस कुमारी, जिसका नाम सुमेधा था, के विवाह की बात चल रही थी। मिथिला के राजदूतों ने एकपत्नीव्रत होने की शर्त को सुना, तो वे कहने लगे—"हमारा राज्य बहुत बड़ा है। मिथिला नगरी का सात योजन विस्तार है। हमारे राज्य का विस्तार ३०० योजन है। ऐसे राज्य के राजा के अन्तःपुर मे कम-से-कम सोलह हजार रानियाँ अवश्य होनी चाहिएँ।" जातक-कथाओ मे बहुत-से ऐसे राजाओ का वर्णन आया भी है, जिनके अन्तःपुर मे हजारों स्त्रियाँ रहती थी।

राजा के अमात्य—राजतन्त्र-राज्यो के शासन में अमात्यों का महत्त्वपूर्ण स्थान था। जातक-साहित्य मे स्थान-स्थान पर अमात्यों का जिक्र आता है। ये अमात्य संख्या मे बहुत होते थे, और राजा को शासन-सम्बन्धी सब विषयो मे परामर्श देने का कार्य करते थे। अमात्यो के लिए सब विद्याओ व शिल्पो मे निष्णात होना आवश्यक माना जाता था। राजा की मृत्यु हो जाने पर राज्य का संचालन अमात्य लोग ही करते थे। सात दिन के पश्चात् जब स्वर्गीय राजा की और्ध्वदेहिक क्रियाएँ समाप्त हो जाती थी, तब वे ही इस बात का निश्चय करते थे, कि राजगद्दी पर कौन विराजमान हो। राजा की अनुपस्थिति या शासन-कार्य में असमर्थता की दशा मे भी वे शासन-सूत्र को अपने हाथों में ले लेते थे। प्राचीन भारत में राजतन्त्र-राज्यों में मन्त्रि-परिषद् का बड़ा महत्त्व था। ऐसा प्रतीत होता है, कि जातक-कथाओं में जिन 'अमात्यों' का उल्लेख आया है, वे इसी प्राचीन मन्त्रिपरिषद् को सूचित करते हैं। अमात्यो में सबसे प्रधान स्थान पुरोहित का था। वह राजा के 'धर्म और अर्थ' दोनों का अनुशासक होता था। पुरोहित का पद प्रायः वंशक्रमानुगत रहता था। पर राजा की तरह पुरोहित का पद भी पूर्ण रूप से एक वंश में नही रह पाता था। अनेक बार पुरोहित की नियुक्ति

पर वाद-विवाद भी उठ खड़े होते थे, और नए व्यक्तियों को इस पद पर नियत कर दिया जाता था।

पुरोहित के अतिरिक्त अन्य भी अनेक अमात्यों के नाम जातक-साहित्य में उपलब्ध होते हैं। इनमें सेनापति, भाण्डागारिक, विनिश्चयामात्य और रज्जुक के नाम विशेषतया उल्लेखनीय हैं। सेनापति का कार्य जहाँ सैन्य का संचालन करना होता था, वहाँ साथ ही वह एक मन्त्री के रूप में भी कार्य करता था। एक कथा से यह भी सूचित होता है, कि वह मुकदमों के निर्णय का भी कार्य करता था। विनिश्चयामात्य न्यायमन्त्री को कहते थे। यह जहाँ मुकदमों का फैसला करता था, वहाँ राजा को धर्म तथा कानून-सम्बन्धी मामलों में परामर्श भी देता था। भाण्डागारिक कोषाध्यक्ष को कहते थे। भाण्डागारिक प्रायः किसी अत्यन्त सम्पत्तिशाली व्यक्ति को ही बनाया जाता था। एक भाण्डागारिक की सम्पत्ति ८० करोड लिखी गयी है। रज्जुक सम्भवतः भूमि की पैमाइश आदि करके मालगुजारी वसूल करने वाले अमात्य को कहते थे। इनके अतिरिक्त द्रोणमापक, हिरण्यक, सारथी, दौवारिक आदि अन्य अनेक राजकर्मचारियों के नाम भी जातक-साहित्य में उपलब्ध होते हैं।

बौद्ध-काल में शहर के कोतवाल को नगरगुत्तिक कहते थे। यह नगर की शान्तिरक्षा का उत्तरदायी होता था। इसे एक स्थान पर 'रात्रि का राजा' भी कहा गया है। पर पुलिस के ये कर्मचारी बौद्ध-काल में भी रिश्वतों से मुक्त नहीं थे। सुलसा जातक में कथा आती है, कि सुलसा नामक वेश्या ने सत्तक नामक डाकू के रूप पर मुग्ध होकर उसे छुडाने के लिए पुलिस के कर्मचारी को एक हजार मुद्राएँ रिश्वत के रूप में दी थी, और इस धनराशि से वह सत्तक को छुडवाने मे सफल भी हो गयी थी।

जातक-कथाओं से बौद्ध-काल की सेनाओं के सम्बन्ध में भी कुछ निर्देश मिलते हैं। सेना में प्रायः स्वदेशी और पितृ-पैतामह सैनिकों को उत्तम माना जाता था। धूमिकारि जातक में कथा आती है, कि कुरुदेश के इन्द्रपत्तन नगर के राजा धनञ्जय ने अपने पुराने सैनिकों की उपेक्षा कर नवीन सैनिकों को सेना मे भरती करना प्रारम्भ कर दिया। जब उसके सीमाप्रान्त पर युद्ध प्रारम्भ हुआ, तो उसे इन नए सैनिकों के कारण परास्त होना पडा।

पुर और जनपद—बौद्ध-काल मे भी राज्य पुर और जनपद इन दो विभागों में विभक्त किए जाते थे। पुर राजधानी को कहते थे, और राजधानी के अतिरिक्त शेष सम्पूर्ण राज्य को जनपद कहा जाता था। जनपद बहुत-से ग्राम हुआ करते थे। ग्राम के शासक को ग्रामभोजक कहते थे। ग्रामभोजक बहुत महत्त्वपूर्ण पद समझा जाता था, इसीलिए उसके साथ अमात्य विशेषण भी आता है। ग्रामभोजक ग्राम-सम्बन्धी सब विषयों का संचालन करता था। उसे न्याय-सम्बन्धी अधिकार भी प्राप्त थे। शराब-खोरी को नियन्त्रित करना तथा शराब की दूकान के लिए लाइसेन्स देना भी उसी के अधिकार मे था। दुर्भिक्ष पड़ने पर गरीब जनता की सहायता करना ग्रामभोजक का ही कार्य था। एक स्थान पर यह भी जिक्र आया है, कि ग्रामभोजक ने पशुहिंसा और शराब का सर्वथा निषेध कर दिया था। ग्रामभोजक के शासन के विरुद्ध राजा के पास अपील की जा सकती थी, और राजा उसे पदच्युत कर किसी अन्य व्यक्ति को उसके

स्थान पर नियुक्त कर सकता था। पानीय जातक में कथा आती है, कि काशीराज्य के दो ग्रामभोजकों ने अपने-अपने ग्रामों में पशुहिंसा तथा शराब पीने का सर्वथा निषेध कर दिया था। इसपर उन ग्रामों के निवासियों ने राजा से प्रार्थना की, कि हमारे ग्रामों में यह प्रथा देर से चली आ रही है, और इन्हें इस प्रकार निषिद्ध नही करना चाहिए। राजा ने ग्रामवासियो की प्रार्थना को स्वीकृत कर लिया और ग्रामभोजकों की वे आज्ञाएँ रद्द कर दीं। इस प्रकार स्पष्ट है, कि ग्रामभोजकों के शासन पर राजा का नियन्त्रण पूर्णरूप से विद्यमान था।

(३) आर्थिक दशा

वर्तमान समय में हमें जो बौद्ध-साहित्य उपलब्ध होता है, वह प्राय: सभी धार्मिक है। पर प्रसंगवश उसमे कहीं-कही ऐसे निर्देश उपलब्ध हो जाते हैं, जिनसे कि उस समय की राजनीतिक, सामाजिक व आर्थिक दशा पर उत्तम प्रकाश पडता है। आर्थिक स्थिति का अनुशीलन करने के लिए जातक-कथाओं का विशेष महत्व है।

व्यवसाय—बौद्धकालीन भारत मे कौन-कौन से मुख्य व्यवसाय प्रचलित थे, इसका परिचय दीर्घनिकाय के एक सन्दर्भ से बहुत अच्छी तरह मिलता है। जब महात्मा बुद्ध धर्मोपदेश करते हुए राजगृह पहुँचे, तो मागध-सम्राट् अजातशत्रु ने उनसे प्रश्न किया—

"हे भगवन्! ये जो भिन्न-भिन्न व्यवसाय हैं, जैसे हस्ति-आरोहण, अश्वारोहण, रथिक, धनुर्धर, चेलक (युद्ध-ध्वज धारण), चलक (व्यूह-रचना), पिंडदायिक (पिंड काटने वाले), उग्र राजपुत्र (वीर राजपुत्र), महानाग (हाथी से युद्ध करनवाले), शूर, चर्मयोधी (ढाल से युद्ध करनेवाले), दासपुत्र, आलारिक (बावर्ची), कल्पक (हज्जाम), नहापक (स्नान करानेवाले), सूद (पाचक), मालाकार, रजक (रंगरेज), नलकार (टोकरे बनानेवाले), कुम्भकार (कुम्हार), गणक, मुद्रक (गिननेवाले) और जो दूसरे इसी प्रकार के भिन्न-भिन्न शिल्प (व्यवसाय) हैं, उनसे लोग इसी शरीर में प्रत्यक्ष जीविका करते हैं, उनसे अपने को सुखी करते हैं, तृप्त करते हैं। पुत्र-स्त्री को सुखी करते है, तृप्त करते हैं। मित्र अमात्यों को सुखी करते हैं, तृप्त करते हैं। ऊपर ले जानेवाला, स्वर्ग को ले जाने वाला, सुख विपाकवाला, स्वर्गमार्गीय, श्रमणब्राह्मणों के लिए दान स्थापित करते है। क्या भगवन्! इसी प्रकार श्रामण्य (भिक्षुपन) का फल भी इसी जन्म मे प्रत्यक्ष बतलाया जा सकता है?" सम्राट् अजातशत्रु ने इस प्रश्न मे बहुत-से व्यवसायियो का नाम लिया है।

अजातशत्रु द्वारा दी हुई व्यवसायों की यह सूची पूर्ण नही है। इसमें स्वाभाविक रूप से उन व्यवसायो का परिगणन है, जो कि किसी राजपुरुष के विचार मे एकदम आ सकते है। इनके अतिरिक्त अन्य व्यवसाय, जिनका उल्लेख अन्यत्र बौद्ध-साहित्य में आया है, निम्नलिखित हैं :—

(१) **वर्धकि या बढ़ई**—बौद्ध-साहित्य में वर्धकि व कम्मार शब्द का प्रयोग बहुत व्यापक अर्थों मे हुआ है। इससे केवल सामान्य बढ़ई का ही ग्रहण नही होता, अपितु जहाज बनाने वाले, गाड़ी बनानेवाले, भवनों का निर्माण करनेवाले आदि विविध

प्रकार के मिस्त्रियों का भी ग्रहण होता है। वर्धकि के अतिरिक्त विविध प्रकार के अन्य मिस्त्रियों के लिए थपति, तच्छक, भमकार आदि शब्द भी जातक-ग्रन्थों में आये हैं। वर्धकि लोगों के बड़े-बड़े गाँवों का भी वर्णन वहाँ मिलता है।

(२) धातु का काम करने वाले—सोना, चाँदी, लोहा आदि विविध धातुओं की विभिन्न वस्तुएँ बनाने वाले कारीगरो का उल्लेख बौद्ध-साहित्य में आया है। लोहे के अनेक प्रकार के औजार बनाये जाते थे—युद्ध के विविध हथियार, हलके-फुलके कुल्हाड़े, आरे, चाकू, फावड़े आदि विविध उपकरण जातकों में उल्लिखित हैं। इसी प्रकार सोना-चाँदी के विविध कीमती आभूषणो का भी वर्णन मिलता है। सूचि जातक में सुइयाँ बनाने का जिक्र है। कुस जातक में एक शिल्पी का वर्णन है, जो सोने की मूर्तियाँ बनाया करता था।

(३) पत्थर का काम करनेवाले—ये शिल्पी पत्थरो को काटकर उनसे शिलाएँ, स्तम्भ, मूर्ति आदि बनाते थे। यह शिल्प बौद्ध-काल में बहुत उन्नति कर चुका था। पत्थरों पर तरह-तरह से चित्रकारी करना, उन्हे खोदकर उनपर बेल-बूटे व चित्र बनाना उस समय एक महत्त्वपूर्ण शिल्प माना जाता था। इसी प्रकार पत्थर के प्याले, बर्तन आदि भी बनाये जाते थे।

(४) जुलाहे—बौद्ध-काल मे कपास, ऊन, रेशम और रेशेदार पौदों का वस्त्र बनाने के लिए उपयोग किया जाता था। मज्झिमनिकाय मे विविध प्रकार के वस्त्रों के निम्नलिखित नाम दिये गये हैं—गोनक, चित्तिक, पटिक, पटलिक, तुलिक, विकटिक, उड्डलोमि, एकन्तलोमि, कोसेय्य और कट्टकम्। इन विविध शब्दो से किन वस्त्रों का ग्रहण होता था, यह पूर्णतया स्पष्ट नही है। पर इससे यह सहज में अनुमान किया जा सकता है, कि उस समय वस्त्र-व्यवसाय पर्याप्त उन्नत था। थेरीगाथा से ज्ञात होता है, कि रेशम और महीन मलमल के लिए वाराणसी उन दिनों में भी बहुत प्रसिद्ध था। जातक-ग्रन्थो मे वाराणसी के प्रदेश मे कपास की प्रभूत मात्रा मे उत्पत्ति और वहाँ के सूती वस्त्रो का उल्लेख है।

(५) चर्मकार—ये लोग चमड़े को साफ कर उससे अनेक प्रकार की वस्तुएँ बनाते थे।

(६) कुम्हार—ये मिट्टी से अनेक प्रकार के वर्तन बनाते थे।

(७) हाथी-दाँत का काम करनेवाले—प्राचीन काल में हाथी-दाँत को रत्नो में गिना जाता था, और उससे अनेक प्रकार की वस्तुएँ बनाई जाती थीं।

(८) रंगरेज—कपडो को रंगने का काम करते थे।

(९) जौहरी—ये कीमती धातुओं से विविध प्रकार के आभूषण बनाते थे।

(१०) मछियारे—नदियो में मछली पकड़ने का काम करते थे।

(११) बूचड़—इनका भी बौद्ध-साहित्य मे उल्लेख मिलता है।

(१२) शिकारी—बौद्धकाल में शिकारी दो प्रकार के होते थे। एक वे जो जंगलों में रहते थे, और दूसरे नगरो में बसनेवाले ऐसे कुलीन लोग जिन्होने शिकार को एक पेशे के रूप मे स्वीकृत किया हुआ था।

(१३) हलवाई और रसोइये।

(१४) नाई तथा प्रसाधक।

(१५) मालाकार और पुष्प-विक्रेता।

(१६) मल्लाह तथा जहाज चलानेवाले—बौद्ध-साहित्य में नदी, समुद्र तथा महासमुद्र में चलनेवाले जहाजों तथा उनके विविध कर्मचारियों का उल्लेख आता है।

(१७) रस्सी तथा टोकरे बनानेवाले।

(१८) चित्रकार।

व्यवसायियों के संगठन—बौद्ध-काल के व्यवसायी लोग 'श्रेणियों' (Guilds) में संगठित थे, इस बात के अनेक प्रमाण बौद्ध-साहित्य मे मिलते हैं। प्राचीन भारत में श्रेणियों की सत्ता के प्रमाणों की कमी नही है। 'श्रेणियों' द्वारा बनाए गये कानून प्राचीन भारत में राज्यद्वारा स्वीकृत किए जाते थे, और उनके साथ सम्बन्ध रखनेवाले मुकदमों का फैसला उन्हीं के अपने कानूनो के अनुसार होता था। उन्हें अपने मामलों का स्वयं फैसला करने का भी अधिकार था। श्रेणियो के न्यायालय राज्य द्वारा स्वीकृत थे, यद्यपि उनके फैसलों के विरुद्ध अपील की जा सकती थी। बौद्ध-साहित्य मे व्यवसायी लोग श्रेणियों में संगठित थे, इसके प्रमाणो का निर्देश करना यहाँ उपयोगी होगा। निग्रोध जातक मे एक भाण्डागारिक का वर्णन है, जिसे सब 'श्रेणियों' के आदर के योग्य बताया गया है। उरग जातक मे 'श्रेणी प्रमुख' और दो राजकीय अमात्यों के झगडों का उल्लेख है। इससे सूचित होता है कि 'श्रेणी' के मुखिया को 'प्रमुख' कहते थे। अन्य स्थानो पर 'श्रेणी' के मुखिया के लिए 'जेट्ठक' शब्द भी प्रयुक्त हुआ है। डा० फिक ने व्यवसायियों के संगठन पर बडे विस्तार से विचार किया है। वे लिखते हैं, कि तीन कारणो से हम यह परिणाम निकाल सकते हैं, कि बौद्ध-काल में भी व्यवसायियों के संगठन बन चुके थे। हम इन कारणो को यहाँ प्रस्तुत करते हैं।

(१) बौद्ध-काल में विविध व्यवसाय वंशक्रमानुगत हो चुके थे। पिता की मृत्यु के पश्चात् उसका पुत्र उसी का व्यवसाय किया करता था। किशोरावस्था से ही लोग अपने वंशानुगत व्यवसाय को सीखना प्रारम्भ कर देते थे। ज्यो-ज्यों समय गुजरता जाता था, अपने पिता तथा अन्य गुरुजन की देख-रेख में वे उस व्यवसाय में अधिक-अधिक प्रवीणता प्राप्त करते जाते थे, और व्यवसाय की बारीकियों से उनका अच्छा परिचय हो जाता था। इसीलिए जब पिता की मृत्यु होती थी, तो उसकी सन्तान उसके व्यवसाय को बड़ी सुगमता से सम्भाल लेती थी। उसे किसी प्रकार की दिक्कत अनुभव न होती थी। बौद्ध साहित्य में कही भी ऐसा निर्देश नही मिलता, जिससे यह सूचित होता हो, कि किसी व्यक्ति ने अपने वंशक्रमानुगत व्यवसाय को छोडकर किसी अन्य व्यवसाय को अपनाया हो। इसके विपरीत इस बात के प्रमाणों की कमी नहीं है कि लोग अपने वंशक्रमानुगत व्यवसाय का ही अनुसरण करते थे।

(२) बौद्ध-काल में विविध व्यवसायों का अनुसरण करनेवाले लोग एक निश्चित स्थान पर बसकर अपने व्यवसाय का अनुसरण करने की प्रवृत्ति रखते थे। नगरो की भिन्न-भिन्न गलियो मे भिन्न-भिन्न व्यवसायी केन्द्रित थे। उदाहरण के लिए दन्तकारों (हाथीदाँत का काम करने वालों) की अपनी गली होती थी, जिसे 'दन्तकार-वीथी' कहते थे। इसी प्रकार कुम्हारों, लुहारों आदि की अपनी-अपनी पृथक् वीथियाँ होती थी।

नगरों के अन्दर की गलियो के अतिरिक्त विविध व्यवसायी नगरों के बाहर उपनगरों में भी निवास करते थे। कुलीनचित्तजातक में लिखा है, कि वाराणसी के समीप ही एक वड्ढकिगाम था, जिसमें ५०० वर्धकि-परिवार निवास करते थे। इसी प्रकार एक अन्य महावड्ढकि-गाम का उल्लेख है, जिसमे एक हजार वर्धकि-परिवारों व कुलों का निवास था। वाराणसी नगरी के समीप एक अन्य ग्राम या उपनगर का उल्लेख है, जिसमे केवल कुम्हारो के ही कुल रहते थे। केवल बडे नगरों के समीप ही नहीं, अपितु देहात मे भी इस प्रकार के ग्राम विद्यमान थे, जिनमे किसी एक व्यवसाय का ही अनुसरण करनेवाले लोग बसते थे। सूचि-जातक मे कुम्हारो के दो गाँवो का वर्णन है, जिनमें से एक मे एक हजार कुम्हार-परिवारो का निवास था। इसी प्रकार के अन्य भी अनेक निर्देश जातक कथाओ से संगृहीत किए जा सकते है।

(३) व्यवसायियो की श्रेणियों के मुखियाओं का, जिन्हे 'प्रमुख' या 'जेट्ठक' कहते थे, अनेक स्थानो पर उल्लेख आता है। इससे इस बात मे कोई सन्देह नही रह जाता कि व्यवसायियों के सुदृढ सगठन बौद्ध-काल मे विद्यमान थे। जातक-कथाओं मे कम्मार-जेट्ठक, मालाकार-जेट्ठक आदि शब्दो की सत्ता इस बात को भली-भाँति स्पष्ट कर देती है। जेट्ठक के अधीन सगठित श्रेणियो मे अधिक-से-अधिक कितने व्यवसायी सम्मिलित हो सकते थे, इस सम्बन्ध मे भी एक निर्देश मिलता है। समुद्दवणिजजातक में लिखा है, कि एक गाँव मे एक हजार वड्ढकि-परिवार निवास करते थे, जिनमे पाँच-पाँच सौ परिवारो का एक-एक जेट्ठक था। इस प्रकार इस गाँव मे दो वड्ढकि-जेट्ठक विद्यमान थे। इन जेट्ठकों की समाज मे बडी प्रतिष्ठा थी। राजदरबार मे भी इन्हे सम्मान प्राप्त होता था। सूचि जातक मे लिखा है, कि एक सौ कम्मार-कुलो का जेट्ठक राजदरबार मे बडा सम्मानित था, और वह बहुत समृद्ध तथा ऐश्वर्यशाली था। एक अन्य जातक मे लिखा है कि एक राजा ने कम्मारजेट्ठक को अपने पास बुलाया और उसे स्वर्ण की एक स्त्री-प्रतिमा बनाने के लिए नियुक्त किया।

इन बातों से डा० फिक ने यह परिणाम निकाला है, कि बौद्ध-काल के व्यवसायी श्रेणियो मे प्रायः उसी ढंग से सगठित थे, जैसे कि मध्यकालीन यूरोप के व्यवसायी 'गिल्ड' मे सगठित होते थे। यदि हम प्राचीन भारतीय साहित्य का अनुशीलन करें, तो व्यवसायियो के सगठनों (श्रेणियो) की सत्ता मे कोई सन्देह नही रह जाता। डा० रमेशचन्द्र मजूमदार ने इस विषय पर बहुत विस्तार से विचार किया है, और सम्पूर्ण प्राचीन भारतीय साहित्य मे श्रेणियो के सम्बन्ध मे जो निर्देश मिलते है, उन्हे एकत्रित कर इनके स्वरूप को भी प्रदर्शित करने का प्रयत्न किया है। बौद्ध-साहित्य में श्रेणियो के स्वरूप पर विस्तार से कुछ नही लिखा गया है, पर जो थोडे-बहुत निर्देश उसमे मिलते है, उनसे इनकी सत्ता के सम्बन्ध मे कोई सन्देह नहीं किया जा सकता।

व्यापार और नौकानयन—बौद्ध-साहित्य के अनुशीलन से उस समय के व्यापार तथा नौकानयन के सम्बन्ध में अनेक महत्त्वपूर्ण और मनोरंजक बाते ज्ञात होती है। उस समय में भारत के व्यापारी महासमुद्र को पार कर दूर-दूर देशो में व्यापार के लिए जाया करते थे। समुद्र को पार करने के लिए जहाज बहुत बड़ी संख्या मे बनते थे, और उस समय में जहाज बनाने का व्यवसाय अत्यन्त उन्नत दशा में था।

समुद्दवणिज जातक में एक जहाज का उल्लेख है, जिसमें बर्धकियों के सहस्र परिवार बड़ी सुगमता के साथ बैठकर सुदूरवर्ती किसी द्वीप को चले गए थे। वर्धकियों के ये एक सहस्र परिवार ऋण के बोझ से बहुत दबे हुए थे, और अपनी दशा से असन्तुष्ट होने के कारण इन्होने यह निश्चय किया था कि किसी सुदूर प्रदेश में जाकर बस जाएं। सचमुच वह जहाज बहुत विशाल होगा, जिसमे एक हजार परिवार सुगमता के साथ यात्रा कर सकें। वलाहस्स जातक मे पाँच सौ व्यापारियो का उल्लेख है, जो जहाज के टूट जाने के कारण लंका के समुद्रतट पर आ लगे थे, और जिन्हे पथभ्रष्ट करने के लिए वहाँ के निवासियो ने अनेक प्रकार के प्रयत्न किए थे। सुप्पारक जातक मे ७०० व्यापारियो का उल्लेख है, जिन्होने एक साथ एक जहाज पर समुद्रयात्रा के लिए प्रस्थान किया था। महाजनक जातक में चम्पा से सुवर्णभूमि को प्रस्थान करने वाले एक जहाज का वर्णन आता है, जिसमे बहुत-से व्यापारी अपना माल लादकर व्यापार के लिए जा रहे थे। इस जहाज मे सात सार्थवाहो का माल लदा हुआ था, और इसने सात दिन मे सात सौ योजन की दूरी तय की थी। संख जातक में सख नामक ब्राह्मण की कथा आती है, जो बहुत दान किया करता था। उसने दान के लिये छः दानशालाएँ बनायी हुई थी। इनमें वह प्रति दिन छः लाख मुद्राओ का दान करता था। एक बार उसके मन मे आया, कि धीरे-धीरे मेरी सम्पत्ति का भण्डार समाप्त होता जाता है, और जब सम्पत्ति समाप्त हो जाएगी, तो मैं क्या दान करूँगा ? यह सोचकर उसने एक जहाज द्वारा व्यापार के लिए सुवर्णभूमि को प्रस्थान करने का विचार किया। उसने एक जहाज व्यापारी माल से भरकर सुवर्णभूमि की तरफ प्रस्थान किया। मार्ग मे किस प्रकार इस जहाज पर विपत्तियाँ आयी और किस तरह उनसे इसकी रक्षा हुई, इस सबका विस्तृत वर्णन सख जातक मे मिलता है। जहाज बहुत बडी संख्या में बनाये जाते थे। महा-उम्मग्ग-जातक मे भगवान् ने आनन्द को ३०० जहाज बनाने की आज्ञा दी थी। ३०० जहाजों को एक साथ बनाने की आज्ञा देना सूचित करता है, कि उस समय इस प्रकार के अनेक केन्द्र विद्यमान थे, जहाँ बडी संख्या मे जहाजो का निर्माण किया जाता था। इसी प्रकार बौद्ध-साहित्य मे अन्यत्र भी अनेक स्थानो पर जहाजों और उन द्वारा होने वाले व्यापार का उल्लेख है, पर इस सबको यहाँ उद्धृत करने की आवश्यकता नही। इन थोडे-से निर्देशो से यह भली-भाँति स्पष्ट हो जाता है, कि समुद्र मे जहाजों द्वारा व्यापार करना उस समय मे एक सामान्य बात थी।

इन जहाजो द्वारा भारत का लका, सुवर्णभूमि, ईरान और बेबिलोन के साथ व्यापारिक सम्बन्ध स्थापित था। सुवर्णभूमि के साथ व्यापार का और वहाँ जानेवाले जहाजो का जातको मे स्थान-स्थान पर उल्लेख आया है। इसी प्रकार लका और वहाँ जाने वाले जहाजो के सम्बन्ध मे भी अनेक निर्देश पाये जाते हैं। बेबिलोन के साथ व्यापार का उल्लेख बावेरु जातक मे आया है। इसकी कथा सक्षेप से इस प्रकार है— एक बार की बात है, जब राजा ब्रह्मदत्त वाराणसी में राज्य करता था, कुछ व्यापारी व्यापार करने के लिए बावेरु देश मे गये और अपने साथ जहाज पर एक कौवे को भी लेते गये। बावेरु देश मे कोई पक्षी नही होता था, इसलिए जब वहाँ के निवासियों ने इस पक्षी को देखा, तो उनके आश्चर्य का ठिकाना न रहा। उन्होने भारत के इन

व्यापारियों से प्रार्थना की, कि इस उड़ने वाले अद्‌भुत जन्तु को उन्हें बेच जाएँ। वह कौवा एक सौ मुद्राओं में बिका। दूसरी बार जब ये व्यापारी फिर व्यापार करते हुए बावेरु देश पहुंचे, तो जहाज पर अपने साथ एक मोर को ले गये। मोर को देखकर बावेरु के निवासियों को और भी अधिक आश्चर्य हुआ, और वह वहाँ एक सहस्र मुद्राओं में बिका। इस विषय में सब विद्वान् सहमत हैं, कि बावेरु का अभिप्रायः बेबीलोन से है, और इस जातक से यह भलीभाँति स्पष्ट हो जाता है कि बौद्ध-काल में भारतीय व्यापारी सुदूरवर्ती बेबिलोनिया के राज्य मे भी व्यापार के लिये जाया करते थे। बेबिलोन के मार्ग में विद्यमान ईरान की खाड़ी और उसके समुद्र तट भारत के जहाजों द्वारा भली-भाँति आलोड़ित हुए थे, इस बात में भी किसी प्रकार का सन्देह नहीं किया जा सकता।

भारत से इन देशों तक पहुँचने के लिए अनेक जलमार्ग विद्यमान थे। भारत की नदियाँ उस समय जलमार्ग के रूप मे भी व्यवहृत होती थी। चम्पा और वाराणसी उस समय में अच्छे बन्दरगाह माने जाते थे, जहाँ से जहाज पहले नदी में और फिर समुद्र मे जाया करते थे। कुमारमहाजनक ने सुवर्ण-भूमि के लिए चलते हुए चम्पा से प्रस्थान किया था। इसी प्रकार सीलानिसंस जातक में समुद्र मे एक जहाज के टूट जाने पर जलमार्ग द्वारा उसके यात्रियों के वाराणसी पहुंचने का उल्लेख है। पर सुदूरवर्ती देशो मे जाने के लिये चम्पा और वाराणसी जैसे नदी-तटवर्ती नगर विशेष उपयुक्त नहीं हो सकते थे। इसके लिए उस समय मे समुद्र-तट पर भी अनेक प्रसिद्ध बन्दरगाह विद्यमान थे। इन बन्दरगाहों के सम्बन्ध मे भी कुछ महत्त्वपूर्ण निर्देश बौद्ध-साहित्य मे मिलते है, जिन्हें यहाँ निर्दिष्ट करना उपयोगी है।

लोसक जातक मे समुद्रतट पर विद्यमान एक बन्दरगाह का वर्णन है, जिसका नाम गम्भीरपत्तन था। यहाँ पर जहाज किराये पर मिल सकते थे। गम्भीरपत्तन से जहाजों के चलने और उनके महासमुद्र मे जाने का वर्णन इस जातक में उपलब्ध होता है। सुस्सोन्दि जातक मे भरुकच्छ नाम के बन्दरगाह का उल्लेख है, और वहाँ से जहाज द्वारा जानेवाले व्यापारियों का विशद रूप से वर्णन इस जातक मे किया गया है। इसी प्रकार सुप्पारक जातक में भी भरुकच्छ-पत्तन का उल्लेख है, और वहाँ यह भी लिखा है कि यह समुद्रतट पर विद्यमान एक बन्दरगाह था। इसी प्रकार अन्यत्र बौद्ध-साहित्य में ताम्रलिप्ति, सुप्पारक, रोरुक, कावेरिपत्तन आदि बन्दरगाहो के भी उल्लेख विद्यमान हैं।

समुद्र में जहाजों द्वारा होने वाले विदेशी व्यापार के अतिरिक्त बौद्धकालीन भारत मे आन्तरिक व्यापार की भी कमी न थी। भारत एक बहुत बडा देश है। उसके विविध प्रदेशो का पारस्परिक व्यापार उस समय महत्त्वपूर्ण स्थान रखता था। यह आन्तरिक व्यापार स्थल और जल दोनों मार्गों द्वारा होता था। भारत में व्यापार के प्रमुख स्थलमार्ग कौन-से थे, इसपर हम अभी आगे प्रकाश डालेंगे। पर यहाँ यह बताना आवश्यक है, कि स्थलमार्गों द्वारा होने वाले व्यापार का स्वरूप क्या था। यह आन्तरिक व्यापार सार्थों (काफिलों) द्वारा होता था। बहुत-से व्यापारी परस्पर साथ मिलकर काफिलों में व्यापार किया करते थे। उस समय भारत मे जंगलों की अधिकता थी।

रास्ते बहुत सुरक्षित नहीं थे। इस कारण व्यापारियों के लिए यह सम्भव नहीं होता था, कि वे अकेले सुदूरवर्ती प्रदेशों में व्यापार के लिए आ-जा सकें। अत. वे बड़े-बड़े काफिले बना कर एक साथ व्यापार के लिए जाया करते थे। जातक-साहित्य में बहुत-से काफिलों और उनकी यात्राओं के वर्णन संगृहीत हैं। अनेक काफिलों में तो ५०० से लेकर १,००० तक गाड़ियां होती थीं। जातक-कथाओं में जिन काफिलों (सार्थों) का वर्णन है, वे बैलगाडियों द्वारा व्यापार करते थे, औरउनके नेता को सार्थवाह कहते थे। काफिलों की यात्रा निरापद नहीं होती थी। उन्हे लूटने के लिए डाकुओ के विविध दल हमेशा प्रयत्नशील रहते थे। सत्तिगुम्ब जातक मे डाकुओं के एक ग्राम का उल्लेख है, जिसमें ५०० डाकू निवास करते थे। सार्थों को इन डाकुओं का सामना करने तथा उनसे अपने माल की रक्षा करने की उचित व्यवस्था करनी पड़ती थी। इसके लिये वे अपने साथ शस्त्रयुक्त पहरेदारों को रखते थे। ये पहरेदार व योद्धा सार्थ पर होने वाले हमलो का वीरता के साथ मुकाबला करते थे। सार्थों की रक्षार्थ साथ चलने वाले पहरेदारों का जगह-जगह पर जातक-कथाओ मे वर्णन है। डाकुओं के अतिरिक्त अन्य भी अनेक प्रकार की आपत्तियों का मुकाबला इन सार्थों को करना होता था। अपण्णक जातक मे इन विपत्तियो का विशद रूप से वर्णन है। डाकुओ के अतिरिक्त जंगली जानवर, पानी की कमी, भूतपिशाच आदि की सत्ता और आहार का अभाव—ये सब ऐसी आपत्तियाँ थी, जिनके निवारण का समुचित प्रबन्ध किये बिना कोई सार्थ सफलता के साथ अपनी यात्रा पूर्ण नहीं कर सकता था।

स्थल-मार्ग से व्यापार करनेवाले ये सार्थ बडी लम्बी-लम्बी यात्राएँ किया करते थे। गान्धार जातक में एक सार्थ का वर्णन है, जिसने विदेह से गान्धार तक की यात्रा की थी। इन दोनों नगरों का अन्तर १,२०० मील के लगभग है। वाराणसी उस समय व्यापार का महत्त्वपूर्ण केन्द्र था। उसके साथ बहुत-से नगरों और देशो के व्यापार का उल्लेख जातको में मिलता है। कम्बोज, काम्पिल्य, कपिलवस्तु, कोशल, कुरुक्षेत्र, कुरु, कुशीनारा, कौशाम्बी, मिथिला, मथुरा, पाञ्चाल, सिन्ध, उज्जयिनी, विदेह आदि के साथ वाराणसी का व्यापार का वर्णन इस बात को सूचित करता है, कि उस समय मे यह नगर व्यापार का एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण केन्द्र था, जहाँ से सार्थ विविध देशों में व्यापार के लिए जाया करते थे। वाराणसी से कम्बोज, सिन्ध और उज्जियिनी बहुत दूर है। इतनी दूर व्यापार के लिए जानेवाले सार्थों की सत्ता इस बात का स्पष्ट प्रमाण है, कि बौद्ध-काल मे भारत का आन्तरिक व्यापार बहुत उन्नत दशा में था।

स्थल-मार्ग के अतिरिक्त आन्तरिक व्यापार के लिए नदियों का भी प्रयोग होता था। उस समय में गंगा नदी का जहाजों के आने-जाने के लिए बहुत उपयोग था। जातक-कथाओं में वाराणसी आनेवाले जहाजों का अनेक स्थानों पर उल्लेख है। महाजनक जातक से सूचित होता है, कि बौद्ध-काल में गंगा में बहुत-से जहाज आते-जाते थे। गंगा के अतिरिक्त अन्य भी अनेक नदियाँ व्यापारिक मार्ग के रूप में प्रयुक्त होती थीं।

बौद्ध-काल में स्थलमार्ग से व्यापार करनेवाले व्यापारी किन मार्गों से आया-जाया करते थे, इस सम्बन्ध में भी कुछ महत्त्वपूर्ण निर्देश जातक-कथाओं में

मिलते हैं। रीज डेविड्स ने बौद्ध-ग्रन्थों के आधार पर इन मार्गों को इस प्रकार निश्चित किया है—

(१) उत्तर से दक्षिण-पश्चिम को—यह मार्ग सावट्ठी से पतिट्ठान जाता था। पतिट्ठान से चलकर माहिष्मती, उज्जयिनी, गोनद्ध, (गोनर्द) विदिशा, कौशाम्बी और साकेत होते हुए फिर सावट्ठी पहुँचते थे।

(२) उत्तर से दक्षिण-पूर्व को—यह मार्ग सावट्ठी से राजगृह जाता था। यह रास्ता सीधा नहीं था, अपितु सावट्ठी से हिमालय के समीप-समीप होता हुआ वैशाली के उत्तर मे हिमालय की उपत्यका मे पहुँचता था, और वहाँ से दक्षिण की तरफ मुड़ता था। इसका कारण शायद यह था, कि हिमालय से निकलनेवाली नदियों को ऐसे स्थान से पार किया जा सके, जहाँ कि उनका विस्तार अधिक न हो। नदियाँ पहाड़ के समीप बहुत छोटी होती हैं, वहाँ वे अधिक गहरी भी नही होती। इस मार्ग में सावट्ठी से चलकर सेतव्य, कपिलवस्तु, कुशीनारा, पावा, हत्थिगाम, भण्डगाम, वैशाली, पाटलिपुत्र और नालन्दा रास्ते मे आते थे। यह रास्ता आगे गया की तरफ मुड जाता था, और वहाँ एक अन्य मार्ग से जाकर मिल जाता था, जो कि वाराणसी से ताम्रलिप्ति (समुद्रतट पर) की तरफ गया था।

(३) पूर्व से पश्चिम को—यह मार्ग भारत की प्रसिद्ध नदी गंगा और यमुना के साथ-साथ जाता था। इन नदियो मे नौकाएँ और जहाज भी चलते थे, यह हम ऊपर लिख चुके है। बौद्ध-काल में गगा नदी मे सहजाती नामक नगर तक तथा यमुना मे कौशाम्बी तक जहाज आया-जाया करते थे। इस मार्ग मे कौशाम्बी का बहुत महत्त्व था। यहाँ उत्तर से दक्षिण-पश्चिम को जानेवाला मार्ग भी मिल जाता था। नौकाओ तथा जहाजो से आनेवाला माल कोशाम्बी मे उतार दिया जाता था, और उसे गाडियो पर लादकर उत्तर या दक्षिण मे पहुँचाया जाता था।

इन तीन प्रसिद्ध मार्गों के अतिरिक्त व्यापार के अन्य महत्त्वपूर्ण मार्ग भी बौद्ध-काल मे विद्यमान थे, इसमे सन्देह नही। जातको में विदेह से गान्धार, मगध से सौवीर और भरुकच्छ से समुद्रतट के साथ-साथ सुवर्णभूमि जानेवाले व्यापारियो का वर्णन है। विदेह से गान्धार तथा मगध से सौवीर जानेवाले व्यापारी किन मार्गों का अनुसरण करते थे, यह हमे ज्ञात नही है। पर यह निश्चित है, कि इन सुदूरवर्ती यात्राओ के कारण उस समय मे व्यापारीय मार्ग बहुत उन्नत हो चुके थे।

बौद्ध-काल के व्यापारी ऐसे सुदूरवर्ती प्रदेशो मे भी व्यापार के लिए जाया करते थे, जहाँ निश्चित मार्ग नही थे, या जिनके मार्ग सर्वसाधारण को ज्ञात न थे। ऐसे सार्थों (काफिलों) के साथ इस प्रकार के लोग रहते थे, जो मार्गों का भली-भाँति परिज्ञान रखते हों। इन लोगों को 'थलनियामक' कहा जाता था। ये थलनियामक नक्षत्रो तथा ज्योतिष के अन्य तत्त्वो के अनुसार मार्ग का निश्चय करते थे। थलनियामकों से सघन जंगलो, विस्तीर्ण मरुस्थलो तथा महासमुद्रों में मार्ग का पता लगाने में सहायता मिलती थी। जातक-कथाओ में लिखा है, विस्तीर्ण मरुस्थलों मे यात्रा करना उसी प्रकार का है, जैसे महासमुद्र मे यात्रा करना। अतः उनके लिए भी मार्ग प्रदर्शकों की आवश्यकता अनिवार्य होती थी। उस समय मे दिग्दर्शक-यन्त्रो का आविष्कार नहीं

हुआ था। इस प्रकार के यन्त्रों का उल्लेख कहीं बौद्ध-साहित्य मे नही है। इसलिए मार्ग का ज्ञान प्राप्त करने के लिए नक्षत्रों से ही सहायता ली जाती थी। समुद्र में दिशा जानने के लिए एक अन्य साधन भी बौद्ध-काल में प्रयुक्त किया जाता था। उस समय के नाविक अपने साथ एक विशेष प्रकार के कौवे रखते थे, जिन्हें 'दिशाकाक' कहते थे। जब नाविक रास्ता भूल जाते थे, और स्थल का कहीं भी पता न चलता था, तो इन 'दिशाकाकों' को उड़ा दिया जाता था। ये 'दिशाकाक' जिधर जमीन देखते थे, उधर की ओर उड़ते थे, और उधर ही नाविक लोग अपने जहाजो को भी ले चलते थे। महासमुद्र के बीच में तो इन दिशाकाकों का विशेष उपयोग नही हो सकता था, पर सामान्य समुद्र-यात्राओं मे इनसे बहुत सहायता मिलती थी।

दिग्दर्शक-यन्त्र के अभाव मे महासमुद्र की यात्रा बहुत संकटमय होती थी। अनेक बार नाविक लोग मार्गभ्रष्ट होकर नष्ट हो जाते थे। जातक-ग्रन्थो में रास्ते से भटककर नष्ट होनेवाले अनेक जहाजो की कथाएँ लिखी है। पण्डर जातक मे कथा आती है, कि पाँच सौ व्यापारी महासमुद्र में जहाज लेकर गये। अपनी यात्रा के सत्रहवें दिन वे मार्ग भूल गये। स्थल का चिह्न कहीं दृष्टिगोचर नही होता था। परिणाम यह हुआ, कि वे सब नष्ट हो गये और मछलियो के ग्रास बन गये।

जल और स्थल के इन मार्गों से किन वस्तुओं का व्यापार किया जाता था, इस सम्बन्ध मे कोई महत्त्वपूर्ण निर्देश बौद्ध-ग्रन्थों में उपलब्ध नही होते। जातक-कथाओं के लेखक इतना लिखकर ही सन्तुष्ट हो जाते हैं, कि व्यापारियो ने ५०० व १,००० गाड़ियाँ बहुमूल्य भाण्ड (व्यापारी पदार्थ) से भरी और व्यापार के लिए चल पड़े। पर इन गाड़ियो मे कौन-से बहुमूल्य भाण्ड को भरा गया, यह बताने का वे कष्ट नही करते। जो दो-चार निर्देश इस विषय मे मिलते हैं, उनका जिक्र करना उपयोगी है। बौद्ध-काल मे वस्त्र-व्यवसाय के लिए वाराणसी और शिवि-देश सबसे अधिक प्रसिद्ध थे। महापरिनिब्बान सुत्तान्त मे वाराणसी के वस्त्रों की बहुत प्रशंसा की गयी है, और लिखा है कि वे अत्यन्त महीन होते हैं। महावग्ग मे शिविदेश के वस्त्रो को बहुमूल्य बताया गया है। सिन्ध के घोड़े उस समय मे बहुत प्रसिद्ध थे। जातको के अनुसार प्राच्य देश के राजा उत्तर तथा पश्चिम के घोड़ो को पसन्द करते थे, और उन्ही को अपने पास रखते थे। अनेक स्थानों पर घोड़ो के सौदागरों का वर्णन है, जो उत्तरापथ से आकर वाराणसी मे घोड़े बेचा करते थे।

मुद्रा-पद्धति तथा वस्तुओं के मूल्य—बौद्ध-काल की मुद्रा-पद्धति के सम्बन्ध में बौद्ध-ग्रन्थो से अनेक उपयोगी बातें ज्ञात होती है। उस समय का प्रधान सिक्का 'काहापन' या 'कार्षापण' होता था। परन्तु इसके अतिरिक्त निष्क, सुवर्ण और धारण नाम के सिक्को का भी इस काल मे प्रचलन था।

निष्क सोने का सिक्का था, जिसका भार ४०० रत्ती होता था। 'सुवर्ण' भी सोने का ही सिक्का था, जो भार में ८० रत्ती होता था। पर बौद्ध-काल का प्रधान सिक्का कार्षापण था। यद्यपि मुख्यतया ये ताँबे के होते थे, पर इस प्रकार के निर्देश मिलते है, जिनसे यह सूचित होता है कि कार्षापण सोने और चाँदी के भी बनाए जाते थे।

इन विविध सिक्कों का भार कितना होता था, और वर्तमान सिक्कों में इनका मूल्य कितना था, इस सम्बन्ध में विचार कर श्रीमती रीड डेविड्स निम्नलिखित परिणाम पर पहुँची हैं—

सोने के १४६ ग्रेन = १६ सोने के माषक = १ सुवर्ण
चाँदी के १४६ ग्रेन = १६ चाँदी के माषक = १ धरण
ताँबे के १४६ ग्रेन = १६ ताँबे के माषक = १ कार्षापण

इस आधार पर इन सिक्कों के मूल्यों का हिसाब इस प्रकार लगाया गया है—

१ सुवर्ण = १ पौ० ५ शि०
१ धरण = ६ पेंस (१२ पेंस = १ शिलिंग)
१ कार्षापण = १ पेंस

विनिमय की सुगमता के लिए बौद्ध-काल में आधुनिक अठन्नी, चवन्नी, इकन्नी आदि की तरह अर्धकार्षापण, पादकार्षापण आदि अन्य सिक्के भी होते थे। बहुत छोटी कीमतों के लिए माषक और काकणिका का प्रयोग किया जाता था।

विविध वस्तुओं की कीमतों के सम्बन्ध मे भी कुछ मनोरंजक निर्देश बौद्ध-साहित्य में मिलते हैं। विनय-पिटक के अनुसार एक मनुष्य के एक बार के आहार के लिए उपयुक्त भोजन-सामग्री एक कार्षापण द्वारा प्राप्त की जा सकती थी। बौद्ध-भिक्षुओं के लिए उपयुक्त चीवर भी एक कार्षापण द्वारा प्राप्त किया जा सकता था। परन्तु भिक्षुणी के लिए उपयुक्त वस्त्र १६ कार्षापणों में बनता था। बौद्ध-ग्रन्थों में एक हजार तथा एक लाख कार्षापणों मे बिकनेवाले वस्त्रों का भी उल्लेख है।

पशुओं की कीमतें भिन्न-भिन्न होती थीं। महाउम्मग जातक के अनुसार गधे की कीमत ८ कार्षापण होती थी। गामणिचण्ड जातक और कन्ह जातक के अनुसार बैलो की एक जोडी २४ कार्षापणों में खरीदी जा सकती थी। दास-दासियों की कीमत उनके गुणों के अनुसार कम-अधिक होती थी। वेस्सन्तर जातक में एक दासी का वर्णन है, जिसकी कीमत १०० निष्क से भी अधिक थी। दुर्गन जातक और नन्द जातक में ऐसे दास-दासियो का उल्लेख है, जो केवल १०० कार्षापणों से ही प्राप्त किये जा सकते थे। घोड़े उस समय मे महँगे थे। जातको में घोड़ों की कीमत १,००० कार्षापण से लेकर ६,००० कार्षापण तक लिखी गयी है।

उस समय मे वेतन तथा भृति किस दर से दी जाती थी, इस विषय मे भी कुछ निर्देश मिलते हैं। राजकीय सेवक की न्यूनतम भृति १ कार्षापण दैनिक होती थी। नाई को बाल काटने के बदले मे ८ कार्षापण तक दिये जाते थे। गणिका की फीस ५० से १०० कार्षापण तक होती थी। अत्यन्त कुशल धनुर्धारी को १,००० कार्षापण तक मिलता था। रथ किराये पर लेने के लिए ८ कार्षापण प्रति घण्टा दिया जाता था। एक मछली की कीमत ७ माषक तथा शराब के एक गिलास की कीमत १ माषक लिखी गयी है। तक्षशिला मे अध्ययन के लिए जानेवाले विद्यार्थी अपने आचार्य को १,००० कार्षापण दक्षिणा के रूप में प्रदान करते थे। इन थोड़े-से निर्देशों से हम बौद्ध-काल की कीमतों के सम्बन्ध मे कुछ अनुमान कर सकते हैं।

(४) विवाह तथा स्त्रियों की स्थिति

विवाह तथा गृहस्थ-जीवन—बौद्ध-साहित्य में तीन प्रकार के विवाहों का उल्लेख है—प्राजापत्य, स्वयंवर और गान्धर्व। सामान्यतया, विवाह प्राजापत्य पद्धति से होता था, जिसमें परम्परागत प्रथा के अनुसार समान जाति के कुलों में माता-पिता की इच्छानुसार विवाह-सम्बन्ध स्थापित किया जाता था। परन्तु स्वयंवर तथा गान्धर्व-विवाहों के भी अनेक उदाहरण बौद्ध-साहित्य मे मिलते हैं, और इन्हें भी धर्मानुकूल माना जाता था। कुणाल जातक मे कुमारी कण्हा के स्वयंवर का उल्लेख है, जिसने कि अपनी इच्छा के अनुसार पाँच कुमारों के साथ विवाह किया था। नच्च जातक मे एक कुमारी का वर्णन है, जिसने अपने पिता से यह वर माँगा था, कि उसे अपनी इच्छानुसार पति वरण करने का अवसर दिया जाए। पिता ने उसकी यह इच्छा पूर्ण कर दी और उसके लिए एक स्वयंवर सभा बुलाई गयी, जिसमे दूर-दूर से कुमार एकत्रित हुए। गान्धर्व-विवाह के भी अनेक दृष्टान्त बौद्ध-ग्रन्थों मे उपलब्ध होते हैं। कट्टहारि जातक मे वाराणसी के राजा ब्रह्मदत्त की कथा आती है, जो एक बार जंगल में भ्रमण कर रहा था। उसने देखा कि कोई अनिन्द्य सुन्दरी बालिका बडी सुरीली तान मे गा रही है राजा ब्रह्मदत्त उसे देखते ही मुग्ध हो गया और उन दोनों ने वहीं वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित कर लिया। इसी प्रकार अवन्ति के राजा चण्ड प्रद्योत की कन्या वासवदत्ता (वासुलदत्ता) का उदयन के साथ विवाह भी गान्धर्व-विवाह का प्रसिद्ध उदाहरण है। धम्मपदटीका में कुमारी पाटच्चरा का वर्णन आया है, जिसने अपने माता-पिता द्वारा निश्चित सम्बन्ध को ठुकराकर अपनी इच्छा से विवाह किया था।

सामान्यतया, विवाह समान जाति और कुल में होते थे। पर बौद्ध-ग्रन्थों मे इस प्रकार के उदाहरणों की कमी नही है, जबकि विवाह करते हुए अपनी जाति व कुल का कोई ध्यान नही रखा गया। कोशल राज्य के प्रसिद्ध राजा पसेनदी (अग्निदत्त प्रसेनजित्) ने श्रावस्ती के मालाकार की कन्या मल्लिका के साथ विवाह किया था। दिव्यावदान मे एक ब्राह्मण कुमारी का उल्लेख आया है, जिसने शार्दूलकर्ण नाम के शूद्र-कुमार के साथ विवाह किया था। इसी प्रकार धम्मपदटीका मे कुण्डलकेशी नामक एक कुलीन महिला की कथा आती है, जिसने एक डाकू के साथ विवाह करने में कोई संकोच नही किया था। कन्याओं का विवाह सामान्यतया सोलह वर्ष की आयु मे किया जाता था। बाल-विवाह की प्रथा उस समय प्रचलित नहीं थी। धम्मपदटीका मे राजगृह के श्रेष्ठी की कन्या कुण्डलकेशी का उल्लेख आया है, जो सोलह वर्ष की आयु तक अविवाहित रही थी। वहाँ यह भी लिखा है कि यही आयु है, जिसमे कि स्त्रियाँ विवाह के लिए इच्छुक होती हैं।

बौद्ध-काल के विवाहों मे दहेज की प्रथा भी प्रचलित थी। धम्मपदटीका मे श्रावस्ती के श्रेष्ठी मिगार की कथा आती है, जिसने अपनी कन्या विशाखा के विवाह में निम्नलिखित वस्तुएँ दहेज में दी थी—धन से पूर्ण पाँच सौ गाडियाँ, सुवर्ण-पात्रों से पूर्ण पाँच सौ गाड़ियाँ, रजत के पात्रो से पूर्ण पाँच सौ गाड़ियाँ, ताँबे के पात्रों से पूर्ण पाँच सौ गाड़ियाँ, विविध प्रकार के रेशमी वस्त्रों से पूर्ण पाँच सौ गाड़ियाँ और इसी

प्रकार घी, चावल तथा खेती के उपकरणों से पूर्ण पाँच-पाँच सौ गाड़ियाँ, साठ हजार वृषभ तथा साठ हजार गौवें। नहान-चुन्न-मूल्य के रूप में कुछ सम्पत्ति प्रदान करने की बात तो स्थान-स्थान पर बौद्ध-साहित्य मे मिलती है। कोशल के राजा महाकोशल ने मगधराज बिम्बिसार के साथ अपनी कन्या कोशलदेवी का विवाह करते हुए काशी का एक प्रदेश, जिसकी आमदनी एक लाख वार्षिक थी, नहान-चुन्न-मूल्य के रूप मे प्रदान किया था। यही प्रदेश फिर कुमारी वजिरा के विवाह के अवसर पर अजातशत्रु को प्रदान किया गया था। इसी प्रकार श्रावस्ती के धनकुबेर श्रेष्ठी निगार ने ५४ कोटि धनराशि अपनी कन्या के विवाह के अवसर पर नहान-चुन्न-मूल्य के रूप में दी थी।

बौद्ध-काल में पारिवारिक जीवन का क्या आदर्श था, इसका बडा सुन्दर परिचय उन शिक्षाओं से मिलता है, जो उस समय की वधुओ को दी जाती थी। ये शिक्षाएँ निम्नलिखित हैं—(१) अन्दर की अग्नि बाहर न ले जाओ। (२) बाहर की अग्नि को अन्दर न लाओ। (३) जो दे, उसी को प्रदान करो। (४) जो नही देता, उसको प्रदान न करो। (५) जो देता है, और जो नही देता है, उन दोनो को प्रदान करो। (६) सुख के साथ बैठो। (७) सुख के साथ भोग करो। (८) सुख के साथ शयन करो। (९) अग्नि की परिचर्या करो। (१०) कुल देवता का सम्मान करो।

सूत्र रूप से उपदिष्ट की गयी इन शिक्षाओ का क्या अभिप्राय है, इसका विवेचन भी बौद्ध-साहित्य मे किया गया है। हम उसे सक्षेप के साथ यहाँ प्रस्तुत करते हैं—

(१) अपने घर की अन्दरूनी बातचीत को बाहर न कहो। घर मे जो बातें होती हैं, जो समस्याएँ उत्पन्न होती हैं, उनका जिक्र दूसरो से यहाँ तक कि नौकरो से भी न करो। (२) बाहर के झगडो को घर मे प्रविष्ट न होने दो। (३) घर की वस्तु उसी को उधार दो, जो उसे वापिस कर दे। (४) घर की वस्तु उसे कभी उधार न दो, जो उसे वापिस न लौटाए। (५) जो भिखमंगे तथा कगाल भिखारी हैं, उन्हे इस बात की अपेक्षा किये बिना कि वे वापस देते हैं या नही, दान करो। (६) जिसके सम्मुख बैठना मुनासिब है, उसके सम्मुख बैठी रहो। जिसके आने पर खडा रहना आवश्यक है, उसके सम्मुख मत बैठो। सबके साथ यथायोग्य व्यवहार करो। (७) पति के पूर्व भोजन न करो। इसी प्रकार अपनी सास तथा श्वशुर को भली-भाँति भोजन कराने के अनन्तर ही स्वय भोजन करो। (८) अपने पति से पूर्व सोओ नही। परिवार के विविध सदस्यो के प्रति अपने सम्पूर्ण कर्त्तव्यो को कर चुकने के अनन्तर फिर शयन करो, पूर्व नही। (९) अपने पति, श्वशुर तथा सास को अग्नि के समान समझकर उनकी पूजा करनी चाहिए। (१०) जब कोई भिक्षु भिक्षा के लिए घर के द्वार पर आये, तो उसे भोजन कराके बाद मे स्वयं भोजन करना चाहिए।

तेरहवाँ अध्याय

विदेशी आक्रमण और नन्द-साम्राज्य

(१) ईरान में हखामनी-साम्राज्य

कुरु—एशिया के जिस देश को वर्तमान समय मे ईरान या फारस कहा जाता है उसके निवासी भी विशाल आर्य-जाति के ही अंग हैं। जिस प्रकार आर्यों की एक शाखा भारत मे आकर बसी, वैसे ही उनकी एक अन्य शाखा ने ईरान को आबाद किया। जैसे प्राचीन भारत मे आर्यों के अनेक छोटे-बड़े राज्य थे, वैसे ही ईरान मे भी थे। ये राज्य आपस मे संघर्ष करते रहते थे, और उनमे भी यह प्रवृत्ति विद्यमान थी, कि अन्य राज्यों को जीतकर अपने विशाल साम्राज्य का निर्माण करें। सातवी सदी ई० पू० में ईरान का अन्यतम आर्य-राज्य पार्स बहुत शक्तिशाली हो गया, और उसके राजा हखामनी ने अपनी शक्ति को बहुत बढ़ा लिया। छठी शताब्दी ई० पू० मे हखामनी के वश मे एक अत्यन्त महात्त्वाकाक्षी राजा का प्रादुर्भाव हुआ, जिसका नाम कुरु (काइरस या Cyrus) था। उसका शासन-काल ५५६ ई० पू० से ५२६ ई० पू० तक था। कुरु ने न केवल सम्पूर्ण ईरान को जीतकर अपने अधीन कर लिया, अपितु पड़ोस के अन्य अनेक राज्यों की भी विजय की। पूर्व दिशा मे उसने बाल्त्री (बैक्ट्रिया), शकस्थान (सीस्तान), और मकरान को जीतकर कपिश पर भी आक्रमण किया, और हिन्दूकुश पर्वतमाला तक के प्रदेश को अपने अधीन कर लिया। इस प्रकार सम्राट् कुरु के ईरानी साम्राज्य की पूर्वी सीमा भारत की पश्चिमी सीमा के साथ आ लगी। पश्चिम दिशा मे कुरु ने उस प्रदेश तक अपनी शक्ति का विस्तार कर लिया था, जिसे आजकल एशिया माइनर कहते हैं।

दारयवहु—सम्राट् कुरु के वशजो ने ईरानी साम्राज्य की शक्ति का और भी अधिक विस्तार किया। कुरु का पुत्र काम्बुजी (Cambyses) प्रथम था। उसने पश्चिम दिशा मे विजय करते हुए मिस्र पर आक्रमण किया, और उसे अपने साम्राज्य मे मिला लिया। उसके बाद हखामनी-वंश मे जो अन्य राजा हुए, वे भी बडे प्रतापी थे। पर इस वंश के दारयवहु (५२१--४८५ ई० पू०) या डेरियस का भारत के इतिहास के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है। हखामनी-साम्राज्य का विस्तार करते हुए उसने कम्बोज, पश्चिमी गान्धार और सिन्ध को भी विजय किया। ये तीनों प्रदेश उस युग मे भारत के अन्तर्गत थे, और इनकी विजय के कारण भारत के कतिपय पश्चिमी प्रदेश हखामनी-साम्राज्य के अधीन हो गये थे। दारयवहु ने अपने विशाल साम्राज्य को २३ प्रान्तो मे विभक्त किया था, जिनके शासकों को 'क्षत्रप' कहा जाता था। कम्बोज, गान्धार और सिन्धु इन तेईस प्रान्तो मे शामिल थे, और इनसे दारयवहु को बहुत अधिक आमदनी होती थी।

ईरान के हखामनी-वंश के ये सम्राट् मगध के बार्हद्रथ और शैशुनाग वंशों के शक्तिशाली सम्राटों के समकालीन थे। पाश्चात्य जगत् के इतिहास में इनकी वही स्थिति समझनी चाहिए, जो कि भारत के इतिहास मे बिम्बिसार और अजातशत्रु जैसे मागध-सम्राटों की थी। जिस प्रकार मगध के सम्राट् भारत के विविध जनपदों को जीतकर विशाल साम्राज्य के निर्माण मे तत्पर थे, वैसे ही हखामनी-सम्राट् ईरान और उसके समीपवर्ती विविध जनपदो को अपनी अधीनता मे ले आने के लिए प्रयत्न कर रहे थे। गान्धार और सिन्धु सदृश भारतीय जनपदों की विजय का यह अभिप्राय नही है, कि ईरान ने भारत के किसी बड़े भाग को जीत लिया था। वस्तुत. इस युग मे भारत मे बहुत-से जनपदों की सत्ता थी, और क्योकि पश्चिमी भारत के ये जनपद मगध की अपेक्षा ईरान के अधिक समीप थे, इसीलिए वहाँ के शक्तिशाली सम्राट् इन्हे जीत सकने मे समर्थ हुए थे। भारत के आर्य-राजाओं के समान ईरान के हखामनी-वश के राजा भी आर्य थे, और दारयवहु ने अपने शिलालेखो मे अपने को 'आर्य आर्यपुत्र' (ऐर्य ऐर्यपुत्र) कहा है।

हीरोदोतस—हखामनी-वंश के इन प्रतापी राजाओं के सम्बन्ध मे जहाँ हमे उनके शिलालेखो द्वारा बहुत-सी बाते ज्ञात होती हैं, वहाँ प्रसिद्ध ग्रीक ऐतिहासिक हीरोदोतस ने भी उनके विषय मे बहुत-कुछ लिखा है। हीरोदोतस का काल छठी सदी ई० पू० के अन्त और पाँचवी सदी ई० पू० के प्रारम्भिक भाग मे था। वह कुछ समय तक ईरान के राजदरबार मे ग्रीक राजदूत के रूप मे भी रहा था। उसने प्राचीन संसार का इतिहास लिखते हुए हखामनी-सम्राटो का वृत्तान्त भी लिखा है। उसी के विवरणों से यह ज्ञात होता है, कि दारयवहु के साम्राज्य के भारतीय प्रदेशो से दस लाख सुवर्ण के लगभग प्रति वर्ष ईरान के राज्यकोष को प्राप्त होता था। इसमे सन्देह नही, कि पश्चिमी भारत के प्रदेश प्राचीन समय मे अत्यन्त समृद्ध थे।

खुषयार्श—दारयवहु का उत्तराधिकारी सम्राट् ख्षयार्श (Xerxes) था। उसका शासन-काल ४८५ से ४६५ ई० पू० तक था। उसने हखामनी-साम्राज्य को पश्चिम में विस्तृत करने का प्रयत्न किया, और ईगियन सागर को पारकर ग्रीस के नगर-राज्यों पर आक्रमण किया। हीरोदोतस के अनुसार ख्षयार्श की जिस सेना ने ग्रीस पर आक्रमण किया था, उसमे गान्धार और सिन्ध के भारतीय सैनिक भी सम्मिलित थे। भारत के ये सैनिक सूती कपड़े पहनते थे, जो ग्रीक लोगो के लिए आश्चर्य की वस्तु थी। कपास को देखकर ग्रीक लोग बहुत चकित हुए, और उसे ऊन का पेड कहने लगे। इस समय तक ग्रीक लोगों को कपास, सूत व सूती वस्त्रों से कोई भी परिचय नही था।

भारत की स्वाधीनता—पश्चिमी भारत के जो प्रदेश सम्राट् दारयवहु प्रथम ने हखामनी-साम्राज्य के अधीन किये थे, वे ईरानियो की अधीनता से कब मुक्त हुए, यह निश्चित रूप से नही कहा जा सकता। सम्भवत:, पाँचवी सदी ई० पू० मे वे स्वतन्त्र हो गये थे। सिकन्दर ने जब दिग्विजय करते हुए पूर्व की ओर आक्रमण किया तो पश्चिमी भारत के ये जनपद स्वतन्त्र थे, और उन्होंने स्वतन्त्र राज्यो के समान ही यवन सेनाओं का मुकाबला किया था। हखामनी-सम्राट् दारयवहु तृतीय का जब सिकन्दर के साथ युद्ध हुआ, तो ईरानी पक्ष को लेकर सेनाएँ लडी थी, उनमे कुछ भारतीय सैनिक भी थे। इससे कुछ ऐतिहासिकों ने यह अनुमान किया है, कि सिकन्दर के समय तक पश्चिमी

भारत के ये प्रदेश हखामनी-साम्राज्य के अन्तर्गत थे। पर ग्रीक लेखकों के विवरणों को पढ़कर इस बात मे कोई सन्देह नही रह जाता, कि सिकन्दर के समय कम्बोज, गान्धार और सिन्धु दारयवहु तृतीय की अधीनता में नहीं थे।

ईरानी आक्रमण का प्रभाव—यद्यपि भारत का बहुत थोड़ा-सा प्रदेश हखामनी-साम्राज्य के अधीन हुआ था, पर इसमे सन्देह नहीं कि भारत के इतिहास को उसने अनेक प्रकार से प्रभावित किया। विशाल ईरानी साम्राज्य की स्थापना के कारण भारत का पश्चिमी संसार से सम्पर्क अधिक दृढ़ हो गया। हखामनी-साम्राज्य ने पश्चिमी भारत का पश्चिमी एशिया, मिस्र और ग्रीस के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित कर दिया। इससे भारत के विदेशी व्यापार को बहुत प्रोत्साहन मिला। सम्राट् दारयवहु प्रथम ने भारत पर आक्रमण करने से पूर्व अपने जल-सेनापति स्काईलैक्स (Skylax) को ईरान के समुद्र-तट के साथ-साथ जलमार्ग द्वारा सिन्धु नदी के मुहाने तक के रास्ते का पता करने के लिए भेजा था। स्काईलैक्स की जलसेना ने भारत के पश्चिमी समुद्रतट का भली-भाँति अवगाहन किया, और उसके इस प्रयत्न से भारत के सामुद्रिक व्यापार को बहुत मदद मिली। इस समय से बहुत-से व्यापारी समुद्रमार्ग द्वारा भारत से पश्चिमी देशों में आने-जाने शुरू हो गये, और वे अपने पण्य को सुदूर मिस्र और ग्रीस तक ले जाने लगे।

ईरानी लोगो से सम्पर्क का एक अन्य महत्त्वपूर्ण परिणाम पश्चिमी भारत में खरोष्ठी लिपि का प्रचार हुआ। भारत मे जो लिपि प्राचीन समय में प्रचलित थी, उसका नाम ब्राह्मी था। वर्तमान भारतीय-लिपियो के समान यह भी बायीं ओर से दाहिनी ओर लिखी जाती थी। इसके विपरीत उत्तर-पश्चिमी भारत में जो लिपि सम्राट् अशोक के समय में प्रयुक्त होती थी, वह (खरोष्ठी) लिपि वर्तमान उर्दू के समान दाहिनी ओर से बायी ओर लिखी जाती थी। अनेक ऐतिहासिकों का मत है, कि ईरानी लोगों के शासन-काल मे उनकी अरमइक (Aramaic) लिपि का भारत के उन प्रदेशों में प्रचार हुआ, जो हखामनी-साम्राज्य के अन्तर्गत थे। इसी कारण बाद में इन प्रदेशो में खरोष्ठी लिपि का विकास हुआ, जिसकी वर्णमाला तो ब्राह्मी के ही सदृश थी, पर जो अरमइक लिपि के समान दाहिनी ओर से बायी ओर लिखी जाती थी। इस लिपि का प्रयोग भारत की अपनी भाषा के लिखने के लिए भी किया जाने लगा।

ईरानी लोग भारत के जिस प्रदेश के सम्पर्क में आये, उसे वे हिन्दु या हिन्दू कहते थे। यह नाम स्पष्टतया 'सिन्धु' का ही रूपान्तर था। बाद मे जो विदेशी लोग इस सम्पूर्ण देश को ही हिन्दु, इण्डिया या हिन्दुस्तान कहने लगे, उस परम्परा का सूत्रपात इस ईरानी आक्रमण के समय में ही हुआ।

(२) सम्राट् महापद्म नन्द

जिस समय ईरान के हखामनी-वंश के सम्राट् पड़ौस के राज्यों को जीतकर अपना विशाल साम्राज्य स्थापित करने में प्रयत्नशील थे, भारत में भी मगध के शक्तिशाली राजा अपना सार्वभौम चक्रवर्ती साम्राज्य कायम करने में तत्पर थे। मगध ने किस प्रकार अन्य राज्यों को जीतकर अपने विशाल साम्राज्य का निर्माण किया था, इसका वृत्तान्त हम दसवें अध्याय मे लिख चुके हैं। सम्राट् महानन्दी की हत्या कर

महापद्म नन्द ने किस प्रकार उसके पुत्रों के नाम पर स्वयं राज्यकार्य का संचालन प्रारम्भ किया, इसका उल्लेख भी पहले किया जा चुका है।

भारत के प्राचीन इतिहास में इस महापद्मनन्द का बहुत महत्त्व है। पौराणिक अनुश्रुति के अनुसार वह भी महानन्दी का ही पुत्र था, यद्यपि उसकी माता रानी न होकर महानन्दी की शूद्रा दासी थी। जैन-अनुश्रुति के अनुसार वह एक नाई का पुत्र था। यूनानी लेखक कर्टियस के अनुसार वह स्वयं नाई था, पर अपने रूप और गुणों के कारण सम्राट् महानन्दी की रानी को उसने अपने ऊपर आसक्त कर लिया था। रानी की सहायता से ही वह महानन्दी का घात कर सका, और बाद मे उसके अन्य पुत्रों की भी हत्या कर स्वयं मगध का सम्राट् बन गया। महानन्दी की हत्या कर महापद्म ने राज-सिंहासन प्राप्त किया, इस बात की पुष्टि हर्ष-चरित द्वारा भी होती है। महापद्म के मूल व जन्म के सम्बन्ध में प्राचीन अनुश्रुति में यद्यपि मतभेद है, पर इस सम्बन्ध मे सब सहमत हैं, कि वह अत्यन्त शक्तिशाली, उद्दण्ड और समृद्ध सम्राट् था। पुराणो मे उसे 'सर्वक्षत्रान्तक' (सब क्षत्रियों का अन्त करनेवाला) लिखा गया है, और साथ ही उन राजवशों का नाम भी दिया है, जिनका उच्छेद कर उसने अपना एकच्छत्र साम्राज्य स्थापित किया था। जिन राजवंशो के उच्छेद का श्रेय महापद्म को दिया गया है, वे निम्नलिखित हैं--पौरव, ऐक्ष्वाकव, पाञ्चाल, कौरव, हैहय, कलिंग, शूरसेन, मैथिल, अश्मक और वीतिहोत्र। इनमें से अनेक राजवंश महापद्म नन्द से पूर्व ही मागध-साम्राज्य की अधीनता में आ चुके थे। मिथिला या विदेह के राजवंश का अन्त होकर वहाँ गणराज्य की स्थापना हो चुकी थी, और इस गणराज्य को भी राजा अजातशत्रु मगध की अधीनता मे ला चुका था। काशी की स्वतन्त्रता कोशल द्वारा नष्ट की गई थी, और उसका एक प्रदेश 'नहान-चुन्न-मूल्य' के रूप मे बिम्बिसार और अजातशत्रु को प्राप्त हुआ था। इस दृष्टि से पौराणिक अनुश्रुति अत्युक्ति से पूर्ण प्रतीत होती है। सम्भवत:, पुराणो मे उन जनपदो व राजवंशो का उल्लेख कर दिया गया है, जो महापद्म नन्द के अधीन थे। पर यह भी निश्चित है, कि महापद्म नन्द ने अपने साम्राज्य का विस्तार करने के लिए अनेक युद्ध किये, और उनकी सेना बहुत शक्तिशाली थी। पुराणो मे उसे 'अतिबल' कहा गया है, और बौद्ध-ग्रन्थो मे 'उग्रसेन' नाम से उसका उल्लेख किया गया है। इस उग्र सेना का उपयोग करके ही उसने 'पृथिवी पर अपना अनुल्लंघित शासन' स्थापित किया था। प्राचीन अनुश्रुति की सत्यता की पुष्टि अन्य साधनो द्वारा भी होती है। कलिंग (उड़ीसा) के हाथीगुम्फा-शिलालेख द्वारा ज्ञात होता है, कि नन्द कलिंग को जीतकर एक जैन तीर्थंकर की बहुमूल्य मूर्ति को अपनी राजधानी मे उठवा कर ले गया था। गोदावरी के तट पर नान्देड या नौनन्द देहरा नामक एक बस्ती है, जो सम्भवत: महापद्म नन्द के नाम पर ही स्थापित हुई थी। गोदावरी के दक्षिण मे उत्तरी कर्णाटक को भी नन्द ने विजय किया था, यह बात वहाँ के मध्यकालीन शिलालेखो द्वारा ज्ञात होती है। इस प्रकार यह निर्विवाद है, कि महापद्म नन्द ने कलिंग, कर्णाटक आदि सुदूर प्रदेशों को जीतकर अपने साम्राज्य के अन्तर्गत लिया था। कुरु, पाञ्चाल सदृश पश्चिमी राज्य भी सम्भवतः नन्द द्वारा ही पहले-पहल मागध-साम्राज्य की अधीनता में आये थे। विदेह, ऐक्ष्वाकव आदि अन्य जिन राजवंशों के नन्द द्वारा उच्छेद का उल्लेख पुराणों में किया

गया है, सम्भवतः उससे पूर्व वे अधीनस्थ रूप में मागध-साम्राज्य के अन्तर्गत रहे थे, और अब नन्द ने उनका मूलोच्छेद कर दिया था। यह निश्चित है, कि महापद्मनन्द एक अत्यन्त शक्तिशाली और दिग्विजयी सम्राट् था, और उसने 'सब क्षत्रियों का अन्त' कर 'एकच्छत्र' और 'एकराट्' पद प्राप्त किये थे।

धननन्द—पौराणिक अनुश्रुति के अनुसार महापद्म नन्द के आठ पुत्र थे, जिनमें ज्येष्ठ पुत्र का नाम सुमाल्य था। बौद्ध-साहित्य मे इसी को धननन्द लिखा गया है। सम्भवतः, 'धननन्द' सुमाल्य का ही विशेषण था। २८ वर्ष राज्य कर चुकने पर जब महापद्म नन्द के शासन का अन्त हुआ, तो धननन्द विशाल मागध-साम्राज्य का स्वामी बना। पुराणों के अनुसार महापद्म नन्द और उसके उत्तराधिकारियो ने कुल मिलाकर सौ वर्ष तक शासन किया। मत्स्यपुराण मे अकेले महापद्म नन्द का शासन-काल ८८ वर्ष लिखा गया है। बौद्ध ऐतिहासिक अनुश्रुति द्वारा यह बात पुष्ट नही होती। धननन्द या सुमाल्य नन्द को राजसिंहासन पर आरूढ़ हुए अभी केवल बारह वर्ष ही हुए थे, कि आचार्य चाणक्य की सहायता से चन्द्रगुप्त मौर्य ने उसे राज्यच्युत कर दिया और वह स्वयं मगध का सम्राट् बन गया। नन्दवंश के विध्वंस और चन्द्रगुप्त मौर्य के राज्यारोहण के विषय मे हम चौदहवें अध्याय में अधिक विस्तार के साथ लिखेगे।

जिस समय सिकन्दर ने दिग्विजय करते हुए भारत पर आक्रमण किया, तो मगध के राजसिंहासन पर धननन्द ही विद्यमान था। ग्रीक लेखको ने इसी को 'क्सेन्द्रमस' (Xandrames) लिखा है। कही-कही इसके लिए अग्रमस (Agrammes) भी लिखा गया है। अनेक ऐतिहासिकों का मत है, कि अग्रमस या क्सेन्द्रमस वस्तुतः 'नन्द्रस' (Nandrus) को सूचित करते है।

ग्रीक लेखको के अनुसार मगध के इस सम्राट् की सेना में दो लाख पदाति, बीस हजार घुडसवार, दो हजार रथ और चार हजार के लगभग हाथी थे। इतनी बडी स्थायी सेना को मगध के सम्राट् इसी कारण संगठित कर सके थे, क्योंकि उनका साम्राज्य अत्यन्त विस्तृत था।

(३) सिकन्दर की दिग्विजय

ग्रीस के विविध राज्य—प्राचीन काल मे ग्रीस में कोई एक राज्य नही था। जिस प्रकार भारत में उस समय अनेक छोटे-छोटे राज्य थे, वही दिशा ग्रीस की भी थी। पंजाब और उत्तरी बिहार के राज्यो के समान ग्रीस के इन छोटे-छोटे राज्यों का स्वरूप नगर-राज्यो (सिटी-स्टेट) के सदृश था, और ग्रीक लोग इन्हें 'पोलिस' कहते थे। सब ग्रीक नगर-राज्यो का शासन एक सदृश नही था, किन्ही मे वंशक्रमानुगत राजाओ का शासन था, और किन्ही में गणतन्त्र-शासन। हखामनी-सम्राट् खुर्यार्श ने ईजियन सागर पार कर इन्ही ग्रीक राज्यों को जीतने का उपक्रम किया था। यद्यपि ग्रीस के ये राज्य ईरान के साम्राज्य के अधीन नही हुए, पर वे अपनी स्वतन्त्र सत्ता को देर तक कायम नही रख सके। जिस प्रकार उत्तरी बिहार के नगर-राज्यो के पडोस में मगध का राज्य निरन्तर उन्नति कर रहा था, और उसके शक्तिशाली राजाओं ने वज्जिसंघ आदि स्वतन्त्र राज्यों को जीतकर अपने अधीन कर लिया था, उसी प्रकार ग्रीस के उत्तर मे एक शक्तिशाली

राज्य विद्यमान था, जिसका नाम मैसिडोनिया (मकदूनिया) था। मगध के राजाओं के समान मैसिडोनिया के राजा भी इस बात के लिए प्रयत्नशील थे, कि पड़ोस के ग्रीक नगर-राज्यों को जीतकर अपने अधीन कर ले।

राजा फिलिप—जातीय दृष्टि से मैसिडोनिया के निवासी ग्रीक लोगों से अधिक भिन्न नही थे, पर सभ्यता और संस्कृति की दृष्टि से वे ग्रीक लोगों के मुकाबले मे बहुत पीछे थे। उच्च सभ्यता ने ग्रीक नगर-राज्यो के निवासियों को मैसिडोनियन लोगो की अपेक्षा निर्बल कर दिया था, और इसीलिए जब मैसिडोनिया के राजा फिलिप ने ग्रीस पर आक्रमण किया, तो वहाँ के राज्य उसका मुकाबला नही कर सके। एक-एक करके सब ग्रीक राज्यों को फिलिप ने जीत लिया, और सम्पूर्ण ग्रीस पर मैसिडोनिया का आधिपत्य स्थापित हो गया।

सिकन्दर—फिलिप के पुत्र का नाम सिकन्दर था। अपने पिता की मृत्यु के बाद ३३६ ई० पू० में वह मैसिडोनियन साम्राज्य का अधिपति बना। फिलिप द्वारा साम्राज्य-विस्तार की जो प्रक्रिया शुरू की गयी थी, सिकन्दर ने उसे जारी रखा। उस समय मिस्र, एशिया माइनर और सीरिया के प्रदेश ईरान के हखामनी-साम्राज्य के अन्तर्गत थे। ६०० ई० पू० के लगभग जिस विशाल ईरानी साम्राज्य का निर्माण शुरू हुआ था, वह अब ढाई सौ साल व्यतीत हो जाने पर बहुत-कुछ निर्बल हो गया था। उसके सम्राट् और क्षत्रप भोग-विलास मे मस्त रहने के कारण अपने कर्त्तव्यो की उपेक्षा करने लग गये थे। धन, शक्ति और वैभव की प्रचुरता ने उन्हे निर्बल बना दिया था। सिकन्दर ने इस विशाल पर कमजोर ईरानी साम्राज्य पर आक्रमण किया, और एशिया-माइनर को जीतकर उसने मिस्र में प्रवेश किया। ३३२ ई० पू० तक मिस्र सिकन्दर के अधीन हो गया, और नील नदी के मुहाने पर उसने अपने नाम से सिकन्दरिया (अलेक्जेण्ड्रिया) नामक एक समृद्ध नगरी की स्थापना की। एक वर्ष बाद ३३१ ई० पू० में सिकन्दर ने ईराक (मैसोपोटामिया) की उपजाऊ घाटी पर आक्रमण किया, और बैबिलोन, निनेवा आदि प्राचीन नगरो पर कब्जा करके वह ईरान मे प्रविष्ट हुआ। इस समय ईरान के राजसिंहासन पर दारयवहु तृतीय विराजमान था। उसने सिकन्दर का मुकाबला करने की कोशिश की, पर उसे सफलता नही मिली। ईरान की राजधानी पार्सिपोलिस का सिकन्दर की सेनाओ ने बुरी तरह से ध्वंस किया। दारयवहु जान बचाकर बाख्त्री की ओर भाग निकला, जहाँ ३३० ई० पू० में उसके अपने सैनिकों ने ही उसकी हत्या कर दी। सिकन्दर की यह नीति थी, कि वह जिन प्रदेशो को जीतकर अपने अधीन कर लेता था, उनके सैनिकदृष्टि से महत्त्वपूर्ण स्थानों की किलाबन्दी कर देता था, और वहाँ अपने स्कन्धावार स्थापित कर देता था। नील नदी के मुहाने पर जिस ढंग से उसने सिकन्दरिया नगरी बसायी थी, वैसी ही अनेक नगरियाँ ईरानी साम्राज्य के अनेक प्रदेशों में भी उसने स्थापित की।

भारत की ओर प्रस्थान—'ईरानी साम्राज्य को परास्त कर देने के बाद सिकन्दर के लिए यह सम्भव हो गया था, कि वह भारत की ओर आगे बढ़ सकता। ३३० ई० पू० के समाप्त होने से पूर्व ही वह भारत की पश्चिमी सीमा पर शकस्थान में आ पहुँचा। इसे अपने अधीन कर उसने दक्षिणी अफगानिस्तान पर आक्रमण किया। इस प्रदेश को

आजकल कन्धार कहते हैं, और प्राचीन समय में इसका नाम हरउवती था। इसे जीतकर उसने वहाँ एक अन्य सिकन्दरिया की स्थापना की। आजकल का कन्धार नगर सम्भवतः इसी सिकन्दरिया का उत्तराधिकारी है। यहाँ अपनी शक्ति को भली-भाँति स्थापित कर अगले वर्ष (३२९ ई० पू०) सिकन्दर ने काबुल नदी की घाटी में प्रवेश किया। इस घाटी मे जहाँ आजकल चरीकर है, सिकन्दर ने एक अन्य नगरी की स्थापना की, और उसे भी सिकन्दरिया (अलैक्जेण्ड्रिया) नाम दिया। इसी समय उसे समाचार मिला, कि बाल्त्री के प्रदेश मे पराजित ईरानी साम्राज्य की सैन्य-शक्ति का पुनःसंगठन हुआ है, और वे पीछे की ओर से मैसिडोनियन सेना पर आक्रमण करने के लिए प्रयत्नशील है। अब उसने हिन्दूकुश पर्वतमाला को पार कर बाल्त्री पर हमला किया। ईरानी सैन्य शक्ति सिकन्दर का मुकाबला नही कर सकी। वह परास्त हो गयी, और सिकन्दर ने सीर नदी तक के सम्पूर्ण प्रदेश को जीतकर अपने अधीन कर लिया। सीर (Jaxartes) नदी तक विस्तृत इस प्रदेश का प्राचीन नाम सुग्ध था, और ग्रीक लोग इसे सोग्डिआना (Sogdiana) कहते थे। वर्तमान समय का बोखारा इसी प्रदेश में स्थित है। इस युग मे बाल्त्री और सुग्ध देशो मे ईरानी और भारतीय दोनों प्रकार के आर्यों का निवास था। दोनों की अनेक बस्तियाँ व नगर-राज्य वहाँ स्थापित थे। यही कारण है, कि बाल्त्री मे सिकन्दर का जिन सेनाओं के साथ-युद्ध हुआ, उनमें शशिगुप्त नाम के एक भारतीय राजा की सेना भी सम्मिलित थी। यह शशिगुप्त सम्भवतः हिन्दुकुश पर्वतमाला के उत्तरी प्रदेश के किसी राज्य का राजा था।

बाल्त्री और सुग्ध को अपनी अधीनता मे लाकर सिकन्दर ने एक बार फिर हिन्दुकुश पर्वत को पार किया, और काबुल नदी की घाटी में स्थापित सिकन्दरिया नगरी मे प्रवेश किया। पश्चिमी प्रदेशो के विद्रोहो से निश्चिन्त होकर अब उसके लिए भारत पर आक्रमण कर सकना सम्भव हो गया था।

भारत पर आक्रमण का आरम्भ—काबुल की घाटी से वह सीधा भारत पर आक्रमण कर सकता था। पर सिकन्दर एक कुशल सेनापति था। उसने अनुभव किया, कि जब तक काबुल नदी के उत्तर में विद्यमान विविध पार्वत्य जनपदो को जीतकर अपने अधीन नही कर लिया जाएगा, तब तक भारत पर आक्रमण करने का मार्ग निष्कंटक नही हो सकेगा। अतः उसने अपनी विशाल सेना को दो भागो मे विभक्त कर दिया। हेफेस्तियन और पर्डिक्कस नामक दो सेनापतियों को उसने यह कार्य सुपुर्द किया, कि वे पूर्व की ओर आगे बढ़कर सिन्ध नदी तक पहुँच जाएँ, और वहाँ जाकर सिन्ध नदी को पार कर सकने की व्यवस्था करें। सिकन्दर ने स्वयं एक बडी सेना को साथ लेकर काबुल नदी के उत्तर की ओर प्रस्थान किया, और उन विविध जनपदों को जीतने का उपक्रम प्रारम्भ किया, जो इन पार्वत्य प्रदेश मे विद्यमान थे। उस युग में इन जनपदों में भारतीय आर्यों का निवास था, और ये ठीक उसी ढंग से भारत के अन्तर्गत थे, जैसे कि गान्धार, केकय आदि पश्चिमी जनपद। ग्रीक लेखको ने इस जनपदों के निवासियों को स्पष्ट रूप से भारतीय लिखा है। अलीशांग और कुनार नदियो की घाटी में रहनेवाली जाति को ग्रीक लेखको ने अस्पस (Aspasioi) कहा है। इस जाति के साथ सिकन्दर का घोर युद्ध हुआ। ग्रीक लेखकों के अनुसार सिकन्दर ने अस्पस जाति के ४०,०००

व्यक्तियों को कैदी बनाया, और २,३०,००० पशु लूट में प्राप्त किये। अस्पस के आगे गौरी और वास्तु नदियों की घाटी में अस्सकेन (Assakenoi) जाति का निवास था। उसने भी डटकर सिकन्दर का मुकाबला किया। अस्सकेन की राजधानी मस्सग थी। यह नगरी एक दुर्ग के समान बनी हुई थी, जो जहाँ प्राकृतिक दृष्टि से दुर्गम थी, वहाँ साथ ही उसकी रक्षा के लिए एक ऊँची प्राचीर और गहरी परिखा भी विद्यमान थी। सिकन्दर को इसे जीतने मे बहुत कठिनाई उठानी पड़ी। मस्सग की रक्षा के लिए जो सेना दुर्ग में विद्यमान थी, उसमे वाहीक देश के ७,००० 'भृत' सैनिक भी थे। वाहीक देश प्राचीन समय में पंजाब को कहते थे। उस युग मे बहुत-से वीर सैनिक वेतन के आकर्षण से अन्य राज्यो मे सैनिक-सेवा किया करते थे, और इस प्रकार के सैनिकों को 'भृत' कहा जाता था। अस्सकेन जनपद की सेना मे ये ७,००० वाहीक सैनिक इसी प्रकार के थे। घनघोर युद्ध के बाद जब अस्सेकन लोगो ने अनुभव किया, कि युद्ध को और अधिक जारी रखना व्यर्थ है, तो उन्होने सिकन्दर के साथ सन्धि कर ली। इस सन्धि मे एक शर्त यह भी थी, कि वाहीक देश के इन भृत सैनिको को बिना किसी रुकावट के अपने देश वापस लौट जाने का अवसर दिया जाएगा। पर सिकन्दर ने इस शर्त का पालन नही किया। जब ये वाहीक सैनिक अपने परिवारो के साथ मस्सग के दुर्ग से बाहर निकल कर डेरा डाले पड़े थे, सिकन्दर की सेना ने अचानक उन पर हमला कर दिया। वाहीक देश के सैनिकों ने वीरतापूर्वक मैसिडोनियन सेना का मुकावला किया। न केवल पुरुष, अपितु स्त्रियाँ भी बडी वीरता के साथ लडी। जब तक उनमे एक भी व्यक्ति जीवित रहा, वे युद्ध करते रहे। सन्धि की शर्तों की उपेक्षा कर सिकन्दर ने वाहीक सैनिको के साथ जो विश्वासघात किया था, ऐतिहासिको ने उसकी कटु आलोचना की है। प्राचीन ग्रीक लेखको ने भी इसे बहुत अनुचित माना है।

मस्सग पर कब्जा हो जाने के साथ ही अस्सकेन लोगों ने पराजय स्वीकृत नही कर ली। उनके जनपद मे अन्य भी अनेक दुर्ग थे। उनको केन्द्र बनाकर उन्होंने सिकन्दर के साथ युद्ध को जारी रखा। पर एक छोटे-से जनपद के लिए यह सम्भव नहीं था, कि वह विश्वविजयी सिकन्दर के सम्मुख ठहर सकता। अन्त मे वह परास्त हो गया। अस्सकेन जनपद की स्थिति गौरी नदी के पूर्व मे थी। गौरी नदी के पश्चिम में एक अन्य जनपद था, जिसे ग्रीक लेखको ने नीसा लिखा है। सिकन्दर ने उसे भी जीतकर अपने अधीन कर लिया। छः मास तक निरन्तर युद्ध करके सिकन्दर उन जातियो व जनपदों को अपनी अधीनता मे लाने मे समर्थ हुआ, जो उत्तरी अफगानिस्तान के पार्वत्य प्रदेश मे विद्यमान थे। कतिपय ऐतिहासिको के मत मे अस्पस और अस्सकेन जातियो के भारतीय नाम 'अश्वायन' और 'अश्वकायन' थे। पाणिनि की अष्टाध्यायी मे ये नाम आते हैं, जो सम्भवतः इन्ही जातियों को सूचित करते है।

हेफिस्तियन और पर्डिक्कस के सेनापतित्व मे सिकन्दर ने जिन सेनाओ को सीधे सिन्धु नदी की ओर बढ़ने का आदेश दिया था, उन्हे भी अनेक भारतीय जनपदो के साथ युद्ध करना पडा। इनमें पुष्करावती का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। यह पश्चिमी गान्धार की राजधानी थी। इस युग मे गान्धार देश सिन्ध नदी के दायें और बाये दोनो तटो पर विस्तृत था। सिन्ध के पूर्वी तट पर गान्धार का जो भाग (पूर्वी

गान्धार) था, उसका राजा आम्भि था। पश्चिमी गान्धार के राजा को ग्रीक लेखकों ने एस्तेस (Astes) नाम से लिखा है। इसका भारतीय नाम हस्ती या अष्टक कहा जा सकता है। एस्तेस को परास्त करने में सिकन्दर के सेनापतियों को एक मास के लगभग लग गया। इससे सूचित होता है, कि पुष्करावती का पश्चिमी गान्धार-जनपद बहुत शक्तिशाली था। हेफिस्तियन और पर्डिक्कस को अन्य भी अनेक दुर्गों को जीतने के लिए विकट युद्ध लड़ने पड़े। पर उन युद्धों का वृत्तान्त यहाँ लिख सकना सम्भव नहीं है। भारत के उत्तर-पश्चिमी प्रदेशों पर अपना आधिपत्य स्थापित कर ३२६ ई० पू० में सिकन्दर ने भारत पर आक्रमण का प्रारम्भ किया।

(४) भारत पर आक्रमण

गान्धारराज आम्भि—सिन्ध नदी के पश्चिमी तट पर स्थित विविध जनपदों को जीतकर अब सिकन्दर भारत में प्रविष्ट हो गया था। सिन्ध के पूर्वी तट पर उन दिनों पूर्वी गान्धार जनपद की सत्ता थी, जिसकी राजधानी तक्षशिला नगरी थी। उस युग में तक्षशिला भारत का सर्वप्रधान शिक्षा केन्द्र था। बहुत-से विश्वविख्यात आचार्य वहाँ निवास करते थे, जिनके ज्ञान और यश से आकृष्ट होकर भारत के विविध जनपदों के विद्यार्थी उच्च शिक्षा ग्रहण करने के लिए तक्षशिला जाया करते थे। व्यापार की दृष्टि से भी तक्षशिला का बहुत महत्त्व था। पूर्व से पश्चिम की ओर जाने वाला राज-मार्ग तक्षशिला होकर जाता था, इसलिए व्यापारियों के सार्थ वहाँ अपने पण्य का आदान-प्रदान किया करते थे। सिकन्दर के आक्रमण के समय इस गान्धार-जनपद का का राजा आम्भि (Omphis) था। जिस समय सिकन्दर सुग्ध देश पर आक्रमण कर रहा था, तभी आम्भि के राजदूतों ने उसके साथ भेंट की थी। आम्भि ने स्वेच्छा-पूर्वक सिकन्दर की अधीनता स्वीकृत कर ली थी, और उसे इस बात के लिए भी प्रेरित किया था कि वह भारत पर आक्रमण करे। पर्डिक्कस और हेफिस्तियन के सेनापतित्व में जो मैसिडोनियन सेना पुष्करावती और सिन्ध के पश्चिमी तट पर स्थित अन्य दुर्गों की विजय करने में तत्पर थी, आम्भि उनकी सहायता भी कर रहा था। गान्धार-राज ने जो इस ढंग से विदेशी आक्रान्ता की सहायता की, उसका कारण सम्भवतः यह था कि वह वाहीक देश के अन्य जनपदों को जीतकर अपनी अधीनता में लाना चाहता था। उस युग में भारत राजनीतिक दृष्टि से एक राज्य नहीं था, और उसके विविध जनपद बहुधा परस्पर युद्ध करते रहते थे। संसार के अन्य प्राचीन देशों के विषय में भी यही बात कही जा सकती है। उन दिनों केकय राज्य (वितस्ता या जेहलम के पूर्व में) बहुत शक्तिशाली था, और उसने पड़ोस के अनेक जनपदों को जीतकर अपने अधीन कर लिया था। सम्भवतः, केकयराज पोरु गान्धार को भी अपनी अधीनता में लाने के लिए प्रयत्नशील था, और इस दशा में आम्भि ने यह उपयोगी समझा था, कि वह सिकन्दर की अधीनता स्वीकृत कर केकय के साम्राज्यवाद से अपनी रक्षा करे। आम्भि के इस कार्य का समर्थन कर सकना सम्भव नहीं है। पर उसके कार्य पर विचार करते हुए यह नहीं भूलना चाहिए, कि उस युग के राजा एक शत्रु से अपनी

रक्षा करने के लिए अन्य शक्तिशाली राजाओं से सहायता प्राप्त करना नीतिविरुद्ध नहीं समझते थे।

सिन्ध नदी के तट पर जहाँ आजकल अटक नाम का नगर स्थित है, उससे कुछ ऊपर ओहिन्द नामक स्थान पर सिकन्दर की सेना ने नौकाओं द्वारा पुल का निर्माण किया। आम्भि ने इस पुल के बनाने में मैसिडोनियन सेनाओं की सहायता की। इस पुल से सिन्ध नदी को पार कर सिकन्दर ने अपनी सेनाओं के साथ तक्षशिला में प्रवेश किया। आम्भि ने अपनी राजधानी में उसका उत्साहपूर्वक स्वागत किया, और अनेक बहुमूल्य उपहार उसकी सेना को अर्पित किये। कुछ समय तक विश्राम कर सिकन्दर भारत के अन्य जनपदों की विजय के लिए प्रवृत्त हुआ।

अभिसार और केकय—सिन्धु (सिन्ध) और वितस्ता (जेहलम) नदियों के बीच में गान्धार का राज्य था, जिसकी राजधानी तक्षशिला थी। वितस्ता के पूर्व और असिक्नी (चनाब) के बीच हिमालय की उपत्यका में, जहाँ आजकल भिम्भर और राजौरी (काश्मीर राज्य के अन्तर्गत) प्रदेश हैं, उस युग में अभिसार जनपद की स्थिति थी। अभिसार के दक्षिण में (वितस्ता के पूर्व में) केकय जनपद था, जो सम्भवतः उस युग में वाहीक देश (पंजाब) का सबसे शक्तिशाली राज्य था। सिकन्दर का ख्याल था, कि अभिसार और केकय भी गान्धार के समान ही बिना युद्ध के उसके सम्मुख आत्म-समर्पण कर देंगे। इसलिए उसने अपने दूत केकयराज पोरु (Porus) की सेवा में इस उद्देश्य से भेजे, कि वे उसे यवनराज की अधीनता स्वीकृत कर लेने के लिए कहें। पर पोरु न केवल स्वाभिमानी था, अपितु उसे अपनी शक्ति का विश्वास भी था। उसने सिकन्दर के दूतों को उत्तर दिया—मैं रणक्षेत्र में यवनराज से भेंट करूँगा। केकयराज पोरु के समान अभिसार का राजा भी सिकन्दर के साथ युद्ध करने की तैयारी कर रहा था। यदि केकय और अभिसार की सेनाएँ परस्पर मिल सकतीं, तो सिकन्दर के लिए उन्हें परास्त कर सकना बहुत कठिन हो जाता। अतः उसने तुरन्त वितस्ता नदी पार कर केकय पर आक्रमण करने का निश्चय किया।

केकयराज पोरु से युद्ध—पर सिकन्दर के लिए वितस्ता नदी को पार कर सकना सुगम नहीं था। उसके पूर्वी तट पर पोरु की सेनाएँ छावनी डाले हुए शत्रु के आक्रमण की प्रतीक्षा कर रही थीं। इन शक्तिशाली केकय सेनाओं का सामना करके सिकन्दर के लिए वितस्ता पार कर सकना असम्भव था। अतः उसने चाल से काम लिया। एक रात जब घनघोर वर्षा हो रही थी, सिकन्दर अपनी सेना के एक भाग को अपनी मुख्य छावनी से ऊपर की तरफ ले गया। इस जगह वितस्ता नदी के बीच में एक टापू था, जिसके कारण मैसिडोनियन सेना की गति-विधि का निरीक्षण कर सकना केकय सेना के लिए सम्भव नहीं था। ग्यारह हजार चुने हुए सैनिकों के साथ रात के अंधेरे में इस स्थान से सिकन्दर ने वितस्ता नदी को पार कर लिया। जब पोरु को यह समाचार मिला, तो उसने अपने पुत्र को एक सेना के साथ सिकन्दर का मार्ग रोकने के लिए भेजा। केकय के दो हजार सैनिक देर तक ग्यारह हजार मैसिडोनियन सैनिकों का मुकाबला नहीं कर सकते थे। वे परास्त हो गए। पर इस बीच में पोरु ने अपनी सेना को युद्ध के लिए तैयार कर लिया था। व्यूहरचना करके वह सिकन्दर

का मुकाबला करने को उद्यत हो गया। ग्रीक लेखक प्लुटार्क के अनुसार पोरु की सेना में २०,००० पदाति, २,००० अश्वारोही, १,००० रथ और १३० हाथी थे। कतिपय ग्रीक लेखकों ने पोरु की सेना के पदाति सैनिको की संख्या ५०,००० लिखी है। पर दिग्विजय के लिए निकले हुए सिकन्दर की सेना के सम्मुख पोरु की सेना बहुत अधिक नहीं थी। वितस्ता के पूर्वी तट पर दोनों सेनाओं में जमकर युद्ध हुआ। पोरु और उसके सैनिक बड़ी वीरता के साथ लड़े, पर अन्त में उनकी पराजय हुई। घायल पोरु को जब सिकन्दर के सामने उपस्थित किया गया, तो सिकन्दर ने पूछा—आपके साथ कैसा बर्ताव किया जाय? पोरु ने उत्तर दिया—जैसा राजा राजाओं के साथ करते हैं।

सिकन्दर ने पोरु के साथ राजाओ का-सा ही बर्ताव किया। केकय देश का शासन उसने उसी के सुपुर्द कर दिया और उसे अपनी सेना में ऊँचा पद दिया। सिकन्दर दिग्विजय के लिए निकला था। अभी वह भारत में और अधिक आगे बढना चाहता था। पोरु जैसे वीर और शक्तिशाली राजा को अपना मित्र और वशवर्ती बनाकर ही भारत की विजय का अपना सकल्प पूरा कर सकना उसके लिए सम्भव हो सकता था। यद्यपि रणक्षेत्र में केकय-सेनाओ की पराजय हो गई थी, पर केकय की शक्ति इस युद्ध से नष्ट नही हुई थी। अतः सिकन्दर जैसे कुशल विजेता ने पोरु के साथ मित्रता स्थापित करना उपयोगी समझा। भारत के अन्य जनपदों की विजय करने मे उसे पोरु की केकय-सेनाओं से बहुत सहायता मिली। पोरु से मित्रता कर सिकन्दर ने जो प्रदेश उसके शासन में दे दिए थे, प्लूटार्क के अनुसार उनमे ऐसे पन्द्रह गणराज्यो के प्रदेश भी शामिल थे, जिनमे ५,००० नगरो व ग्रामों की सत्ता थी।

केकय की पराजय के बाद सिकन्दर ने इस जनपद में दो नगरों की स्थापना की। जिस स्थान पर उसने वितस्ता नदी को पार किया था, वहाँ बुकेफला नगर बसाया गया। जिस रणक्षेत्र में पोरु परास्त हुआ था, वहाँ नीकिया नगर स्थापित किया गया। केकय के परास्त हो जाने पर अभिसार ने भी सिकन्दर की अधीनता स्वीकार कर ली।

ग्लुचुकायन गण—केकय-जनपद के समीप ही ग्लुचुकायन नाम का गणराज्य था। ग्रीक लेखकों ने उसे ग्लौगनिकाई (Glauganikai) लिखा है। जायसवाल के मतानुसार ग्लौगनिकाई 'ग्लुचुकायन' का ग्रीक रूप है। पाणिनि की अष्टाध्यायी द्वारा वाहीक देश मे ग्लुचुकायन नामक गणराज्य की सत्ता सूचित होती है, और निस्सन्देह ग्लौगनिकाई इसी ग्लुचुकायन का ग्रीक रूपान्तर है। इस गणराज्य में ३७ पुर थे, जिनमें से प्रत्येक की जनसंख्या ५,००० से १०,००० तक थी। सिकन्दर ने इन्हें विजय किया और शासन के लिए राजा पोरु के सुपुर्द कर दिया।

यवन-शासन के विरुद्ध विद्रोह—हिन्दूकुश पर्वतमाला के पूर्व मे भारत के जो जनपद सिकन्दर द्वारा परास्त हुए थे, उनमे स्वतंत्रता की भावना प्रबल रूप से विद्यमान थी। इसी कारण जब सिकन्दर असिक्नी (चनाब) नदी के समीप युद्ध में व्यापृत था, सिन्धु नदी के पश्चिम में स्थित भारतीय जनपदों ने उसके विरुद्ध विद्रोह का झण्डा खड़ा कर दिया। इस प्रदेश का शासन करने के लिए जो क्षत्रप सिकन्दर द्वारा नियुक्त किया गया था, उसकी हत्या हो गयी। इस विद्रोह को शात करने के लिए सिकन्दर को

अपनी बहुत शक्ति व्यय करनी पडी। अभिसार जनपद में भी इसी समय विद्रोह हुआ, पर वह भी सफल नही हो सका।

मद्र जनपद--असिक्नी (चनाब) और इरावती (रावी) नदियों के बीच के प्रदेश मे उस समय मद्र जनपद की स्थिति थी। इसके राजा का नाम भी पोरु था, जो यह केकयराज पोरु का ही भतीजा था। वह अपने प्रदेश को छोडकर चला गया और उसके राज्य को सिकन्दर ने जीतकर अपने अधीन कर लिया। इस प्रदेश को भी केकयराज पोरु के शासन मे दे दिया गया।

कठ गणराज्य--इरावती नदी के पूर्व में कठ गणराज्य की स्थिति थी। भारत के इतिहास में कठ जाति बहुत प्राचीन है। कठोपनिषद् का निर्माण सम्भवत इसी जाति के तत्त्व-चिन्तकों द्वारा हुआ था। ग्रीक-लेखकों ने लिखा है, कि इस गण में यह रिवाज था कि जब कोई बच्चा एक मास की आयु का होता था, तो राजकर्मचारी उसका निरीक्षण करते थे। जिस बच्चे को वे कुरूप व निर्बल पाते थे, उसे वे मरवा देते थे। कठोपनिषद् मे बालक नचिकेता को आचार्य यम के सुपुर्द करने की जो कथा आती है, वह शायद इसी रिवाज की परिचायक है। इसी ढग की प्रथा ग्रीस के स्पार्टा जनपद मे भी प्रचलित थी। कठ लोगो मे सौन्दर्य को बहुत महत्त्व दिया जाता था। राजपुरुषो का चुनाव करते हुए भी वे सौन्दर्य को सबसे बडा गुण मानते थे। स्त्री-पुरुष अपना विवाह स्वेच्छापूर्वक करते थे, और उनमे सती की प्रथा भी विद्यमान थी। कठ लोग न केवल सौन्दर्य के उपासक थे, अपितु उद्भट वीर भी होते थे। मृत्यु का उन्हें जरा भी भय नही था। वे हसते-हसते अपने प्राणो की आहुति दे दिया करते थे।

ग्रीक-लेखकों ने कठ को कठिओई (Kathaioi) लिखा है, और उसकी राजधानी का नाम सागल। सागल नाम सम्भवत साकल को सूचित करता है, जो पाणिनि के व्याकरण के अनुसार वाहीक देश का एक नगर था।

कठ लोगो ने बडी वीरता के साथ सिकन्दर का सामना किया। सांकल के दुर्ग की रक्षा करने के लिए उन्होंने कोई कसर नही उठा रखी। सिकन्दर की यवन-सेनाओ के लिए यह सुगम नही था, कि वे वीर कठ लोगों को परास्त कर सकती। जब केकय-राज पोरु ५,००० भारतीय सैनिको को साथ लेकर उसकी सहायता के लिए साकल आया, तभी वह कठो की इस राजधानी को जीत सका। इस युद्ध मे १७,००० के लगभग कठ वीरो ने अपने जीवन की बलि दी। सिकन्दर इस युद्ध से इतना अधिक उद्विग्न हो गया था, कि साकल के परास्त हो जाने पर उसने उसे भूमिसात् करने का आदेश दिया। ईरानी साम्राज्य की राजधानी पार्सिपोलिस को भी सिकन्दर ने इसी ढंग से भूमिसात् कराया था। सिकन्दर इस नीति का अनुसरण तभी करता था, जब अपने शत्रु की शक्ति से हतप्रभ हो जाता था। निःसन्देह, कठ लोगो ने सिकन्दर का सामना करते हुए अद्भुत शौर्य प्रदर्शित किया था।

यवन सेना का विद्रोह—कठो को परास्त कर सिकन्दर की सेनाएँ विपाशा (व्यास) नदी के पश्चिमी तट पर आ पहुँची थी। सिकन्दर चाहता था, कि विपाशा को पार कर वह भारत मे और आगे बढ़े, और अपने साम्राज्य का और अधिक विस्तार करे। पर उसकी सेना हिम्मत हार चुकी थी। भारत के विविध जनपद बड़े शक्तिशाली

थे। अपने स्वातन्त्र्य की रक्षा के लिए वे बडी से बड़ी कुर्बानी करने में संकोच नहीं करते थे। सिन्धु नदी के पश्चिम में जो आर्य जनपद थे, उनके साथ यवन-सेनाओं को घोर युद्ध करने पड़े थे। केकयराज पोरु ने भी यवनों के विरुद्ध अद्भुत वीरता प्रदर्शित की थी। कठ गण ने तो सिकन्दर का जिस ढंग से सामना किया था, वह अत्यन्त साहसपूर्ण था। अब यवन-सेनाओं को ज्ञात हुआ, कि व्यास नदी के पूर्व में जो जनपद है, उसके निवासी कठों के समान ही वीर और स्वतन्त्रता प्रेमी हैं, पर उनकी सैन्यशक्ति कठों की अपेक्षा भी अधिक है; और इस जनपद के आगे राजा नन्द (अग्रमस व Agrammes) का विशाल साम्राज्य है, जिसकी सेना अनन्त है। वह भारत का सबसे शक्तिशाली सम्राट् है, और उसने सम्पूर्ण प्राच्य देश को जीतकर अपने अधीन किया हुआ है। इन बातों को जानकर यवन-सेना का उत्साह भंग हो गया, और उसने विपाशा नदी को पार करने से इन्कार कर दिया। सिकन्दर ने अपनी सेना को अनेक प्रकार से उत्साहित करने का प्रयत्न किया, उसके सम्मुख अनेक व्याख्यान दिये, पर उसे अपने प्रयत्न मे सफलता नही हुई। यवन-सेना अपने दिग्विजयी सेनानी व सम्राट् के विरुद्ध विद्रोह तक कर देने के लिए तैयार हो गयी। अपने प्रयत्न मे विफल होकर सिकन्दर अपने शिविर मे जा बैठा और कई दिन तक उससे बाहर नही निकला। अन्त मे सिकन्दर को अपनी सेना की इच्छा के सम्मुख सिर झुका देने के लिए विवश होना पडा। व्यास नदी के पश्चिमी तट पर अनेक वेदिकाएँ बनाकर सिकन्दर ने उनपर देवताओं को बलि अर्पित की, और फिर वापस लौट चलने की आज्ञा दी।

सिकन्दर की वापसी—विपाशा नदी के तट पर देवताओ की पूजा कर सिकन्दर की सेनाओ ने पश्चिम की ओर प्रस्थान किया। बिना किसी विघ्न-बाधा के वे वितस्ता (जेहलम) नदी के तट पर आ पहुँची। यहाँ आकर सिकन्दर ने एक बडे दरबार का आयोजन किया, जिसमें उसके अधीनस्थ भारतीय जनपदों के शासक सम्मिलित हुए। भारत से वापस लौट जाने से पूर्व सिकन्दर यह चाहता था, कि अपने विजित प्रदेशों के शासन की समुचित व्यवस्था कर दे। विपाशा और वितस्ता नदियो के मध्यवर्ती प्रदेश का शासन उसने केकयराज पोरु के सुपुर्द किया, जो अब सिकन्दर का मित्र व परम सहायक था। भारत के अन्य राजवंशों के राजाओ के समान पोरु भी महत्त्वाकाक्षी था, और सिकन्दर की मित्रता के कारण अब वह वाहीक देश के बडे भाग का अधिपति बन गया था। अभिसार राज्य के साथ उरशा के प्रदेश को मिलाकर उसका शासन अभिसार के राजा के सुपुर्द किया गया। वितस्ता और सिन्ध नदियों का मध्यवर्ती प्रदेश गान्धारराज आम्भि के शासन मे दिया गया। सिन्ध के पश्चिम के भारतीय प्रदेश सेनापति फिलिप्पस के सुपुर्द किये गये। भारत के जिन प्रदेशों पर सिकन्दर का आधिपत्य स्थापित हो गया था, उनके अनेक नगरों मे यवन सेना की छावनियाँ स्थापित की गयी, ताकि ये प्रदेश यवनराज के विरुद्ध विद्रोह न कर सकें। इस प्रकार अपने विजित प्रदेशो के शासन की सुव्यवस्था कर सिकन्दर ने अपने देश को वापस लौट जाने का उपक्रम किया। उसकी यह वापसी यात्रा ३२६ ई० पू० के अन्त मे शुरू हुई।

सौभूति—वितस्ता नदी के समीपवर्ती प्रदेश मे ही एक राज्य था जिसके राजा का नाम ग्रीक-लेखको ने सोफाईतिज (Sophytes) लिखा है। सम्भवतः, यह सौभूति

का ग्रीक रूपान्तर है। इस राज्य का नाम भी सम्भवतः सौभूत था और इसका स्वरूप शायद गणराज्य का था। ग्रीक विवरणों से ज्ञात होता है, कि सौभूत जनपद भी कठ के समान था, और वहाँ के लोग भी सौन्दर्य को बहुत अधिक महत्त्व देते थे। कठों के समान इनमें भी वह रिवाज था, कि कुरूप व निर्बल बच्चों को बचपन में ही मरवा दिया जाता था। सिकन्दर ने सौभूत-राज्य के साथ युद्ध कर उसे भी अपने अधीन कर लिया।

सौभूत राज्य को परास्त कर मैसिडोन की सेना ने अपने देश को वापस लौटना प्रारम्भ किया, और वापसी के लिए सिकन्दर ने एक नये मार्ग का आश्रय लिया। वितस्ता नदी में बहुत-से जहाजो व नौकाओं को एकत्र किया गया, ताकि यवन-सेना जलमार्ग द्वारा यात्रा कर सके। इन जहाजों व नौकाओ की सख्या के सम्बन्ध में ग्रीक लेखकों में मतभेद है। टाल्मी (तोलमाय) के अनुसार इन जहाजों की संख्या २,००० थी। सिकन्दर का यह विशाल जहाजी बेडा वितस्ता नदी में चल रहा था, और उसकी स्थल-सेना नदी के दोनो तटो पर। यह विशाल यवन-सेना बिना किसी विघ्न-बाधा के वितस्ता और असिक्नी नदियो के संगम पर आ पहुँची।

मालव और क्षुद्रक—असिक्नी नदी के साथ-साथ कुछ और अधिक दक्षिण की ओर जाने पर बायीं तरफ इरावती (रावी नदी) के साथ के प्रदेश मे मालव गण की स्थिति थी। ग्रीक-लेखको ने इसे मल्लोई (Malloi) लिखा है। मालवों के पडोस में पूर्व की ओर क्षुद्रक गण था, जिसे ग्रीक-विवरणों में ओक्सिड्राकाई (Oxydrakai) लिखा गया है। यद्यपि इन दोनो गणराज्यो मे देर से परस्पर-विरोध चला आता था, पर अब विदेशी शत्रु का मुकाबला करने के लिए उन्होने सुलह कर ली। एक ग्रीक लेखक के अनुसार अपनी सन्धि को स्थिर करने के उद्देश्य से मालवों ने अपनी सब अविवाहित कुमारियों का विवाह क्षुद्रक-कुमारों के साथ कर दिया, और क्षुद्रकों ने अपनी कुमारियों को मालव-कुमारों से ब्याह दिया। शिवि, आग्रेय आदि जनपदो के समान मालव और क्षुद्रक भी 'वार्त्ताशस्त्रोपजीवी' थे। उनकी कोई स्थिर सेना नही थीं, पर उनका प्रत्येक पुरुष उत्कट योद्धा था। जब सिकन्दर के सैनिकों को ज्ञात हुआ, कि अभी उन्हे भारत की दो अत्यन्त वीर जातियो के साथ युद्ध करना है, तो वे बहुत घबराये और एक बार फिर यवनराज के विरुद्ध विद्रोह के लिए तैयार हो गये। पर सिकन्दर ने उन्हें यह कहकर समझाया, कि अब तो युद्ध के अतिरिक्त अन्य कोई उपाय ही नही है। क्षुद्रको और मालवों का सामना किये बिना स्वदेश को वापस लौट सकना असम्भव है। अत: उनसे तो युद्ध करना ही होगा।

क्षुद्रक और मालव गणो ने सिकन्दर का मुकाबला करने के लिए अपनी सेनाओं को सम्मिलित रूप से सगठित करने का प्रयत्न किया। पर इससे पूर्व कि क्षुद्रकों की सेना मालवों की सहायता के लिए आ सके, सिकन्दर ने उनपर आक्रमण कर दिया। मालव लोग अभी युद्ध के लिए तैयार नही थे। यवनों ने उनके ग्रामो और नगरो पर अचानक हमला कर दिया, और बहुत-से मालव कृषक अपने खेतो मे ही लड़ते हुए मारे गये। मालवों के साथ युद्ध करते हुए सिकन्दर की छाती पर सख्त चोट लगी, जो

भविष्य में उसकी अकाल मृत्यु का कारण बनी। इस घाव के कारण सिकन्दर इतना क्रुद्ध हो गया, कि उसने कत्ले-आम का आदेश दिया। स्त्री-पुरुष, वृद्ध व बालक किसी की भी यवन सैनिकों ने परवाह नहीं की, और हजारों मालव नर-नारी सिकन्दर के क्रोध के शिकार बने।

इस बीच मे क्षुद्रक सेना मालवों की सहायता के लिए आ गयी थी। मालवों से युद्ध करते हुए सिकन्दर इतना परेशान हो गया था, कि उसने उनके साथ समझौता कर लेने में ही अपना हित समझा। क्षुद्रक लोगों ने भी अनुभव किया, कि सिकन्दर जैसे दिग्विजयी वीर के साथ लड़ाई करना निरर्थक है। इस दशा में दोनों पक्षो मे सन्धि हो गयी। मालवो और क्षुद्रको के सौ मुख्य पुरुष सिकन्दर की सेवा में उपस्थित हुए। सिकन्दर ने उनका बडी धूमधाम के साथ स्वागत किया। उनके सम्मान में एक भोज की व्यवस्था की गयी, जिसमे क्षुद्रकों और मालवों के नेताओ के बैठने के लिए सौ सुनहली कुर्सियां रखी गयी। क्षुद्रकों और मालवो ने कहा, कि आज तक हम सदा स्वतन्त्र रहे है, पर सिकन्दर लोकोत्तर पुरुष है, हम स्वेच्छापूर्वक उसकी अधीनता स्वीकार करते हैं।

यद्यपि ग्रीक लेखकों के अनुसार क्षुद्रकों और मालवों ने सिकन्दर को अपना अधिपति स्वीकृत कर लिया था, पर भारत की प्राचीन अनुश्रुति इससे भिन्न है। श्री जायसवाल ने प्रतिपादित किया है, कि संस्कृत के प्राचीन व्याकरण-ग्रन्थों के अनुसार क्षुद्रक लोग अकेले ही सिकन्दर को परास्त करने में समर्थ हुए थे। महाभाष्य ने 'एकाकिभि: क्षुद्रकै: जितम्' लिखकर उस अनुश्रुति को दोहराया है, जो क्षुद्रकों की विजय के सम्बन्ध मे भारत मे विद्यमान थी। सिकन्दर ने जिस प्रकार सम्मानपूर्वक क्षुद्रको और मालवो का स्वागत किया था, उसे दृष्टि मे रखते हुए यह कल्पना करना अनुचित नहीं होगा, कि सिकन्दर उन्हे परास्त करने में असमर्थ रहा था, और उसने उनके साथ सुलह कर लेने मे ही अपना कल्याण समझा था।

अम्बष्ठ, क्षत्‌ और वसाति—मालव और क्षुद्रक गणों के साथ समझौता कर लेने से ही सिकन्दर की समस्या हल नही हो गयी। इनके पड़ौस में ही कतिपय अन्य अनेक गणराज्यों की स्थिति थी, जिनमें अम्बष्ठ (Sambastai या Abastanoi), क्षत्‌ (Xathroi) और वसाति (Ossadioi) के नाम विशेषरूप से उल्लेखनीय हैं। अम्बष्ठ गण ने वीरतापूर्वक यवन-सेना का मुकाबला किया, पर सिकन्दर ने उसे परास्त कर दिया। अन्य दो गणराज्यो ने युद्ध के बिना ही सिकन्दर की अधीनता स्वीकृत कर ली।

शिवि, क्षुद्रक, मालव, अम्बष्ठ, क्षत्‌ और वसाति ये सब वर्तमान पंजाब के मध्य-दक्षिण प्रदेशों मे स्थित मुख्य गणराज्य थे। इन्हें जीतकर या इनसे समझौता करके सिकन्दर ने दक्षिण की ओर प्रस्थान किया। मालवगण के पश्चिम मे उस समय शिवि जनपद की स्थिति थी, जिसे ग्रीक लेखकों ने सिबोई (Siboi) लिखा है। शिवि लोग बडे वीर थे। पर सिकन्दर का मुकाबला कर सकना उनके लिए सुगम नही था। बिना किसी विशेष लड़ाई के उन्होंने यवनराज की अधीनता स्वीकार कर ली।

अगलस्सि या आग्रेय—पर शिवि जनपद के पूर्व की ओर एक अन्य शक्तिशाली

गणराज्य की स्थिति थी, जिसे ग्रीक लेखको ने अगलस्सि (Agalassi) लिखा है। इस गण को ग्रीक विवरणों में अनेक प्रकार से लिखा गया है, जिनमें अगिरि (Agiri) और अगिसिनेई (Agesinae) उल्लेखनीय हैं। पर अधिक प्रचलित नाम अगलस्सि ही है। शिवि को जीतने के बाद सिकन्दर का इस राज्य के साथ घनघोर युद्ध हुआ। ग्रीक लेखकों के अनुसार अगलस्सि की सेना मे ४०,००० पदाति और ३,००० अश्वारोही सैनिक थे। अगलस्सि के सैनिक बडी वीरता से लडे, पर सिकन्दर को परास्त कर सकना सुगम नही था। जब उन्होने देखा कि अपनी स्वाधीनता की रक्षा कर सकना सम्भव नही है, तो उन्होने स्वयं ही अपनी नगरी को भस्मसात् कर दिया। इस नगरी की स्त्रियो और बच्चों ने जौहर व्रत लिया, और इसके पुरुष अन्त तक युद्ध करते हुए मृत्यु को प्राप्त हुए।

काशीप्रसाद जायसवाल ने अगलस्सि को 'अग्रश्रेणि' से मिलाया है। कौटलीय अर्थशास्त्र मे 'वार्ताशस्त्रोपजीवी' संघो का परिगणन करते हुए 'श्रेणी' को भी इन संघों की सूची मे शामिल किया गया है। इससे जायसवाल जी ने यह कल्पना की है, कि श्रेणिनाम का एक गणराज्य प्राचीन समय मे विद्यमान था, जिसके एक से अधिक भाग थे। उनमे जो मुख्य भाग था, उसी को अग्रश्रेणी कहते थे। पर यह मत युक्ति-सगत नही है। इसमे सन्देह नही कि प्राचीन समय मे श्रेणी नाम के एक गणराज्य की सत्ता थी, जिसके वर्तमान प्रतिनिधि सैनी लोग है। पर अगलस्सि जिस राज्य को सूचित करता है सम्भवत: वह आग्रेयगण है, जिसका उल्लेख महाभारत के कर्णविजय पर्व मे आया है, और जिसकी मुद्राएँ भी अगरोहा (जिला हिसार) की खुदाई मे उपलब्ध हुई है। इस आग्रेयगण का प्रवर्तक राजा अग्रसेन था और इसकी प्रधान नगरी अग्रोदक थी। सिकन्दर के समय मे यह गण बहुत शक्तिशाली था। यद्यपि इस गण की मुख्य नगरी अग्रोदक थी, जिसकी स्थिति सतलुज के दक्षिण-पूर्व मे थी, पर यह असम्भव नही कि इसका विस्तार पश्चिम मे पर्याप्त दूर तक हो, जिसके कारण इसकी पश्चिमी सीमा शिवि जनपद के समीप तक पहुँच गयी हो। उत्तर मे इस आग्रेयगण की सीमा मालव गण के समीप तक थी। महाभारत के अनुसार भी आग्रेय और मालव गण एक-दूसरे के पडौसी थे। कर्ण ने पूर्व से पश्चिम की ओर विजययात्रा करते हुए पहले आग्रेय को जीता था, और फिर मालव को। सिकन्दर उत्तर-पश्चिम की ओर से आगे बढ रहा था। अत. स्वाभाविक रूप से उसने पहले मालवो को परास्त किया और फिर आग्रेयो को। वस्तुत:, अगलस्सि आग्रेय गण का ही परिचायक है, अग्रश्रेणी या आर्जुनायन का नही। कतिपय ऐतिहासिकों ने अगलस्सि को आर्जुनायन से मिलाया है, जो सही प्रतीत नहीं होता।

मुचिकर्ण—शिवि और आग्रेय जनपदो को अपने अधीन कर सिकन्दर निरन्तर दक्षिण की ओर चलता गया। बिना किसी विशेष विघ्न-बाधा के वह उत्तरी सिन्ध के प्रदेश मे पहुँच गया। उन दिनो इस प्रदेश मे एक जनपद की स्थिति थी, जिसे ग्रीक लेखको ने मूसिकनोई (Mousikanoi) लिखा है। अनेक ऐतिहासिको के अनुसार इसका नाम 'मूषिक' था। पर जायसवालजी ने इसे मुचिकर्ण का रूपान्तर माना है, जो पाणिनि की अष्टाध्यायी के अनुसार एक गणराज्य था। इस जनपद की राजधानी

रोरुक नगरी थी। सिन्धप्रान्त का रोरी नगर इसी प्राचीन रोरुक नगरी को सूचित करता है, और इस के समीप अरोर नाम की एक पुरानी बस्ती भी है, जो अब उजडी हुई दशा में है। मुचिकर्ण गण ने भी सिकन्दर का सामना करने का प्रयत्न किया, पर वह अपने प्रयत्न मे सफल नही हो सका।

ग्रीक-लेखकों ने मुचिकर्ण जनपद के सम्बन्ध मे अनेक ज्ञातव्य बातें लिखी हैं। वे लोग सात्त्विक भोजन करते थे, और नियमित जीवन बिताते थे। इस कारण उनकी आयु प्रायः १३० वर्ष होती थी। वे एक साथ बैठकर सामूहिक रूप से भोजन करते थे। उनमे दासप्रथा का अभाव था और सब लोगों को एक दृष्टि से देखा जाता था।

ब्राह्मणक जनपद—उत्तरी सिन्ध के मुचिकर्ण जनपद को परास्त कर सिकन्दर दक्षिण की ओर आगे बढा। आगे चलकर उसे एक अन्य जनपद के साथ युद्ध करने के लिए विवश होना पडा, जिसका नाम 'ब्राह्मणक' था। ग्रीक लेखको के विवरण से यह स्पष्ट है, कि उस समय सिन्ध मे ब्राह्मणक नाम का एक जनपद था, जिसके निवासी यवनो के साथ युद्ध के लिए तत्पर थे। सिकन्दर ने क्रूरता के साथ इनका वध किया और बहुत-से ब्राह्मणक लोगो की लाशों को खुले मार्ग पर लटकवा दिया, ताकि अन्य लोग उनको देखकर यवनो के विरुद्ध युद्ध करने का साहस न करें।

पातानप्रस्थ—सिन्ध प्रान्त मे सिन्ध नदी जहाँ दो धाराओ में विभक्त होकर समुद्र की ओर आगे बढने लगती है, वहाँ प्राचीन समय मे पातानप्रस्थ नामक जनपद विद्यमान था। ग्रीस के लेखको ने उसे पातालेन (Patelene) लिखा है, और कई ऐतिहासिको ने उसका भारतीय नाम पाताल माना है। पर जायसवाल जी ने उसे पातानप्रस्थ से मिलाया है, जो कि पाणिनीय व्याकरण के अनुसार एक राज्य था। इस राज्य मे दो वंशक्रमानुगत राजाओ का शासन था, जो कुलवृद्धों की सभा की सहायता से राज्यकार्य का संचालन करते थे। ग्रीक-लेखको ने पातानप्रस्थ की शासन विधि की तुलना ग्रीक जनपद स्पार्टा के साथ की है। इस राज्य के निवासी सिकन्दर का मुकाबला कर सकने मे असमर्थ रहे, और अपनी स्वतन्त्रता की रक्षा के लिए अपना अभिजन छोड़कर अन्यत्र चले गए।

वापसी—अब सिकन्दर सिन्ध नदी के मुहाने पर पहुँच गया था। यहाँ उसने अपनी सेना को दो भागो मे विभक्त किया। जल-सेनापति नियार्कस को जहाजी बेडे के साथ समुद्र के मार्ग से वापस लौटने का आदेश देकर वह स्वयं मकरान के किनारे-किनारे स्थलमार्ग से अपने देश की ओर चल पडा (३२५ ई०पू०)।

सिकन्दर की विजय-यात्रा का जिस ढंग से इस इतिहास मे हमने उल्लेख किया है, सब ऐतिहासिक उसके सम्बन्ध मे एकमत नहीं है। वस्तुतः, इस विषय मे ग्रीक लेखको के विवरण बहुत अस्पष्ट है। अत यह स्वाभाविक है कि उनके आधार पर सिकन्दर की विजयों व युद्धो के क्रम मे विविध ऐतिहासिको मे मतभेद हो। यहाँ हमने जिस क्रम से सिकन्दर की विजय-यात्रा का विवरण दिया है, वह अधिक युक्तिसंगत है।

सिकन्दर की मृत्यु—रास्ते मे अनेक प्रकार के कष्ट उठाता हुआ सिकन्दर अपनी सेना के साथ ३२३ ई० पू० मे बेबिलोन पहुँच गया। न केवल उसकी सेना निरन्तर युद्धों के कारण थक गई थी, अपितु वह स्वयं भी श्रान्ति अनुभव करने लग

गया था। मालवों के साथ युद्ध करते हुए उसकी छाती मे जो घाव लगा था, वह अभी तक पूरी तरह् से ठीक नहीं हुआ था। इस दशा मे अपने देश को वापस पहुंचने से पूर्व ही बैबिलोन में उसकी मृत्यु हो गई। उसकी मृत्यु का काल ३२३ ई० पू० माना जाता है।

साम्राज्य में अव्यवस्था—सिकन्दर एक महान् विजेता था। दिग्विजय द्वारा उसने एक विशाल साम्राज्य की स्थापना की थी। पर इस साम्राज्य को एक सूत्र में बाँधे रखने की न उसमे शक्ति थी, और न उसके देशवासियो में। यही कारण है, कि सिकन्दर के मरते ही उसके साम्राज्य में अव्यवस्था फैल गई। उसके विभिन्न सेनापति अपने पृथक्-पृथक् राज्य स्थापित करने के लिए प्रयत्नशील हो गये, और उसका साम्राज्य अनेक खण्डो में विभक्त हो गया। सिकन्दर की विजयो द्वारा स्थापित विशाल मैसिडोनियन साम्राज्य उसकी मृत्यु के बाद जिन विभागो मे विभक्त हो गया, वे निम्नलिखित थे—

(१) **मैसिडोनिया**—सिकन्दर मैसिडोनिया का निवासी था। वहाँ सेनापति एण्टीगोनस ने एक पृथक् राज्य की स्थापना की। ग्रीस इसी राज्य के अन्तर्गत था। पर एण्टीगोनस अपने राज्य मे शान्तिपूर्वक शासन नही कर सका। उसके अनेक सेनापति उसके विरुद्ध उठ खड़े हुए, और उन्होने अपने स्वतन्त्र राज्य कायम कर लिये।

(२) **मिस्र**—सिकन्दर के टाल्मी नामक सेनापति ने मिस्र मे अपना पृथक् व स्वतन्त्र राज्य कायम किया, जो कई सदियो तक स्थिर रहा।

(३) **सीरिया**—भारत से एशिया माइनर तक सिकन्दर के विशाल साम्राज्य के जो सुविस्तृत प्रदेश थे, उनपर सेनापति सैल्युकस ने अधिकार कर लिया, और एक नये राजवंश का प्रारम्भ किया। सिकन्दर द्वारा विजित भारतीय प्रदेश भी इसी राज्य के अन्तर्गत थे। इतिहास में सैल्युकस को सीरिया का राजा कहा जाता है, पर वस्तुतः वह सिकन्दर के साम्राज्य के सब एशियन प्रदेशो का अधिपति था। पर इस प्रसंग मे यह ध्यान में रखना चाहिये, कि सिकन्दर के एशियन प्रदेशों पर सैल्युकस जो अपना स्वामित्व स्थापित कर सका, उसके लिए उसे अनेक वर्षों तक युद्ध करना पड़ा।

भारत में विद्रोह—जिस समय अभी सिकन्दर मकरान के मार्ग से बैबीलोन की ओर जा रहा था, उसे रास्ते में समाचार मिला कि भारत मे विद्रोह हो गया है, और सिन्ध नदी के पश्चिमी प्रदेशों का शासन करने के लिए जो क्षत्रप फिलिप्पस उसकी ओर से नियत किया गया था, उसकी हत्या हो गई है। सिकन्दर के लिए यह सम्भव नही था, कि वह स्वयं लौटकर इस विद्रोह को शान्त करता। अतः अपने एक सेनापति यूदेमास (Eudamos) को उसने यह सन्देश भेजा, कि वह आम्भि की सहायता से इस विद्रोह को शान्त करे। पर यूदेमास को अपने प्रयत्न मे सफलता नही हुई।

३२३ ई० पू० मे सिकन्दर की मृत्यु का समाचार जब भारत पहुँचा, तो उस द्वारा विजित अन्य प्रदेशो में भी विद्रोह की अग्नि भड़क उठी। इस विद्रोह के नेता आचार्य चाणक्य और कुमार 'चन्द्रगुप्त थे।

(५) मैसिडोनियन आक्रमण का भारतीय इतिहास पर प्रभाव

सिकन्दर एक दिग्विजयी सम्राट् था। ईरान, मिस्र आदि को जीतकर उसने एक विशाल साम्राज्य का निर्माण किया। पर उसका साम्राज्य उसके मरते ही खण्ड-खण्ड हो गया। एशियन प्रदेशो मे सैल्युकस द्वारा जो राज्य कायम किया गया था, वह वस्तुतः पुराने हखामनी-साम्राज्य का ही उत्तराधिकारी था। इसी प्रकार टाल्मी द्वारा मिस्र में जिस पृथक् राज्य की स्थापना हुई, कुछ ही समय बाद वह ग्रीक या मैसिडोनियन राज्य न रहकर पुराना मिस्री राज्य ही बन गया और उसका ग्रीक-राजवश पुराने फैरोहा-सम्राटों का स्मरण दिलाने लगा। वस्तुतः, सिकन्दर एक आधी की तरह आया था, और आधी की तरह ही लौट गया था। उसने कितने ही पुराने राजवंशो और राजकुलो का उच्छेद कर दिया, पर उनके स्थान पर वह किसी ऐसी व्यवस्था का सूत्रपात नही कर सका, जो इतिहास मे चिरस्थायी रहती।

सिकन्दर यह भी स्वप्न देखता था, कि संसार की विविध सभ्य जातियों को मिलाकर एक विश्व-संस्कृति का प्रादुर्भाव करे। इसी उद्देश्य से उसने अपने यूनानी सैनिकों के विवाह ईरानी और भारतीय स्त्रियों के साथ कराये थे। उसका ख्याल था, कि इस प्रकार के विवाहो से जो सतान उत्पन्न होगी, वह उसके उद्देश्य को पूर्ण कर सकेगी। इसलिए उसने बहुत-से सामूहिक विवाहों की व्यवस्था की थी, और सैकड़ों यूनानी सैनिको के विदेशी स्त्रियों से एक साथ विवाह कराये थे। इन विवाहों द्वारा चाहे एक विश्व-संस्कृति का जन्म न हो सका हो, पर सिकन्दर की दिग्विजय का यह परिणाम अवश्य हुआ, कि चौथी सदी ई० पू० की तीन उन्नत व सभ्य जातियाँ—ग्रीक, ईरानी और भारतीय—एक-दूसरे के निकट सम्पर्क मे आ गई।

भारत के इतिहास पर मैसिडोनियन आक्रमण का जो प्रभाव पडा, उसे संक्षेप के साथ इस प्रकार प्रदर्शित किया जा सकता है—

(१) पश्चिमी और उत्तर-पश्चिमी भारत मे जो बहुत-से छोटे-बड़े राज्य उस समय विद्यमान थे, सिकन्दर के आक्रमण के कारण उनकी स्वतन्त्र सत्ता नष्ट हो गई। गंगा के पूर्व मे प्राचीन काल में जो बहुत-से छोटे-बडे राज्य थे, वे मगध की साम्राज्यविस्तार की प्रवृत्ति और प्रबल शक्ति द्वारा नष्ट किये गये थे। जो कार्य गंगा के पूर्व में मगध के सम्राटो ने किया था, वही विपाशा के पश्चिम में सिकन्दर ने किया। सपूर्ण उत्तरी भारत मे एक शक्तिशाली साम्राज्य स्थापित होने के कार्य मे इससे बहुत सहायता मिली। चन्द्रगुप्त मौर्य जो सम्पूर्ण उत्तरी भारत में अपना एकच्छत्र साम्राज्य स्थापित कर सका, उसमे सिकन्दर की दिग्विजय बहुत सहायक सिद्ध हुई। उसके आक्रमण ने वाहीक देश के शक्तिशाली जनपदों के बल को क्षीण कर दिया, और चन्द्रगुप्त मौर्य उन्हें सुगमता के साथ अपनी अधीनता मे ले आ सका।

(२) भारत का पश्चिमी संसार के साथ सम्बन्ध स्थापित होने मे इस आक्रमण से बहुत सहायता मिली। इससे पूर्व भी भारत का पाश्चात्य जगत् से सम्बन्ध विद्यमान था। पर कुछ वर्षों के लिए विपाशा से भूमध्यसागर तक के सुविस्तृत प्रदेशो में एक शासन की स्थापना ने इस सम्बन्ध को बहुत अधिक दृढ़ कर दिया।

भारत के व्यापारी बड़ी संख्या में मिस्र और ग्रीस जाने-आने लगे। पश्चिमी देशों में भारत का माल अच्छी मात्रा में बिकने लगा, और विदेशी माल भारत में बिक्री के लिये आने लगा।

(३) सिकन्दर ने भारत के विजित प्रदेशों में अपने सैनिकों की जो छावनियाँ स्थापित की थीं, वे देर तक वहाँ नही रह सकी। पर इन विदेशी सैनिको को यह अवसर ही नहीं मिला, कि वे अपने देशों को वापस लौट सकें। इनमे से बहुतों ने चन्द्रगुप्त मौर्य की सेवा में 'भृत' सैनिको के रूप मे कार्य करना स्वीकार कर लिया। चन्द्रगुप्त के नेतृत्व में जिस सेना ने नन्द-वंश का विनाश करने के लिए मगध पर आक्रमण किया था, पारसीक और म्लेच्छ सैनिक भी उसमे शामिल थे। सम्भवतः, ये विदेशी सैनिक सिकन्दर की उन सेनाओं के अवशेष थे, जिन्हें वह भारत मे छोड़ गया था। इन ग्रीक-मैसिडोनियन और पारसीक सैनिकों द्वारा भारत की सभ्यता और संस्कृति पर अवश्य प्रभाव पड़ा। सिकन्दर ने जो अनेक नगर भारत मे स्थापित किये थे, उनसे इस देश की संस्कृति में अनेक ऐसे तत्त्वों का प्रवेश हुआ, जो ग्रीक लोगो की देन थे।

चौदहवाँ अध्याय

चन्द्रगुप्त मौर्य, बिन्दुसार और अशोक

(१) मोरिय गण का कुमार चन्द्रगुप्त

सिकन्दर की अधीनता से पश्चिमी और उत्तर-पश्चिमी भारत को मुक्त कर जिस वीर ने विशाल मागध-साम्राज्य का संगठन किया, उस चन्द्रगुप्त मौर्य के पूर्व-वृत्तान्त के सम्बन्ध मे प्राचीन साहित्य मे अनेक मत पाये जाते है—

(१) नन्दवंश के राजा धननन्द की एक पत्नी का नाम मुरा था। वह जाति से शूद्र थी। इसी से चन्द्रगुप्त का जन्म हुआ। मुरा का पुत्र होने के कारण ही वह 'मौर्य' कहाया।

(२) दूसरा मत कथासरित्सागर में उपलब्ध होता है। इसके अनुसार चन्द्रगुप्त नन्द राजा का ही पुत्र था, और उसके अन्य कोई सन्तान नही थी।

(३) चन्द्रगुप्त के विषय में तीसरा मत महावंश में पाया जाता है। इसके अनुसार चन्द्रगुप्त पिप्पलिवन के मोरिय गण का कुमार था। नन्द के साथ उसका कोई सम्बन्ध नही था। मोरिय गण वज्जि-महाजनपद के पडौस मे स्थित था। उत्तरी बिहार के सब गणराज्य कोशल और मगध के साम्राज्यवाद के शिकार हो गये थे, और मोरिय गण भी मगध की अधीनता मे आ गया था। इस गण की एक राजमहिषी पाटलिपुत्र मे छिपकर अपना जीवन व्यतीत कर रही थी। वही उसने चन्द्रगुप्त को जन्म दिया। चन्द्रगुप्त कही मगध के राजकर्मचारियो के हाथों मे न पड जाय, इसलिये उसने अपने नवजात शिशु को एक ग्वाले के सुपुर्द कर दिया। अपनी आयु के अन्य ग्वाल-बालको के साथ मोरिय चन्द्रगुप्त का भी पालन होने लगा।

चाणक्य के साथ चन्द्रगुप्त का सम्पर्क किस प्रकार हुआ, इस विषय में भी महावंश टीका मे उल्लिखित कथा उपयोगी है। यह कथा संक्षेप में इस प्रकार है—

एक बार की बात है, कि चन्द्रगुप्त अन्य लडको के साथ पशु चरा रहा था। अवसर पाकर वे एक खेल खेलने में लग गये। चन्द्रगुप्त राजा बना, अन्य बालको को उपराजा, न्यायाधीश, राजकर्मचारी, चोर, डाकू आदि बनाया गया। राजा के आसन पर बैठकर चन्द्रगुप्त ने अपराधियो को पेश करने की आज्ञा दी। अपराधी पेश हुए। पक्ष-विपक्ष मे युक्तियाँ सुनी गयी। न्यायाधीशों के निर्णय के अनुसार चन्द्रगुप्त ने अपना फैसला सुना दिया। फैसला यह था, कि अभियुक्तो के हाथ-पैर काट दिये जाएं। इस पर राजकर्मचारियों ने कहा— देव ! हमारे पास कुल्हाड़े नही हैं। चन्द्रगुप्त ने आज्ञा दी—यह राजा चन्द्रगुप्त की आज्ञा है, कि इन अपराधियों के हाथ-पैर काट दिए जाएं। यदि तुम्हारे पास कुल्हाड़े नही है, तो लकड़ी का डण्डा बनाओ, और उसके साथ बकरी

का सींग बाँधकर कुल्हाड़ा बना लो। राजा चन्द्रगुप्त की आज्ञा का पालन किया गया। कुल्हाड़ा बनाया गया, और अपराधियों के हाथ-पैर काट दिये गये। चन्द्रगुप्त ने फिर आज्ञा दी—अब हाथ-पैर जोड़ दिये जाएं, वे जोड़ दिये गये।

चन्द्रगुप्त के नेतृत्व में बच्चों के इस खेल को चाणक्य नाम का एक ब्राह्मण खड़ा देख रहा था। जिस प्रकार शान और प्रताप से चन्द्रगुप्त ने राजा की भूमिका अदा की थी, उसे देखकर चाणक्य बड़ा प्रभावित हुआ। उसने विचार किया, कि यह बालक अवश्य ही राजकुल का है, और यदि इसे शस्त्र और शास्त्र की भलीभाँति शिक्षा दी जाय, तो यह होनहार कुमार एक दिन बहुत उन्नति कर सकता है। वह चन्द्रगुप्त के साथ गाँव में गया, और उसके संरक्षक ग्वाले के सामने एक हजार कार्षापण रखकर बोला—मैं तुम्हारे पुत्र को सब विद्याएँ सिखाऊँगा, तुम इसे मेरे साथ कर दो। ग्वाला इसके लिये तैयार हो गया, और चाणक्य चन्द्रगुप्त को अपने साथ ले गया। चाणक्य से चन्द्रगुप्त ने सब विद्याओं का भलीभाँति अध्ययन किया।

चाणक्य तक्षशिला के रहनेवाले एक प्रसिद्ध आचार्य थे। वह राजनीतिशास्त्र के अपने समय के सबसे बड़े पण्डित थे। साथ ही, वह तीनों वेदों के ज्ञाता, सब शास्त्रों में पारंगत और मन्त्रविद्या में निपुण थे। वह एक बार तक्षशिला से पाटलिपुत्र आये, क्योंकि इस नगरी के वैभव की उस समय सारे भारत में धूम थी। उस समय के राजा विद्वानों का आदर किया करते थे। चाणक्य को आशा थी, कि मगध का प्रतापी सम्राट् धननन्द भी उनका भलीभाँति सम्मान करेगा। राजा धननन्द की एक भुक्तिशाला थी, जिसमें वह विद्वानों का आदर कर उन्हें दान-दक्षिणा द्वारा सन्तुष्ट किया करता था। पाटलिपुत्र पहुँचकर चाणक्य भुक्तिशाला में गये, और संघब्राह्मण के आसन पर बैठ गये। चाणक्य देखने में कुरूप थे। जब राजा धननन्द ने उन्हें प्रधान ब्राह्मण के आसन पर बैठे देखा, तो उसने सोचा कि निश्चय ही यह व्यक्ति मुख्य आसन का अधिकारी नहीं हो सकता। उसने राजपुरुषों को आज्ञा दी, कि इस ब्राह्मण को यहाँ न बैठने दो, इसे बाहर निकाल दो। इस पर चाणक्य ने क्रोध से भरकर कहा—राजा उद्धत हो गया है, समुद्र से घिरी हुई पृथिवी नन्द का नाश देख ले। यह कह कर वह भुक्तिशाला से बाहर हो गये। राजपुरुषों ने जब यह बात नन्द से कही, तो उसने चाणक्य के पकड़े जाने की आज्ञा दी। पर राजपुरुष उसे गिरफ्तार नहीं कर सके। चाणक्य ने जो प्रतिज्ञा सबके सामने की थी, उसे पूरा करने में वह पूरी शक्ति के साथ लग गये। इस कार्य में चन्द्रगुप्त उसका प्रधान सहायक था।

चन्द्रगुप्त मौर्य के पूर्वजीवन के सम्बन्ध में जो परिचय महावंश व उसकी टीका में उपलब्ध होता है, ऐतिहासिक दृष्टि से वह अधिक सम्भव और समुचित प्रतीत होता है। बौद्ध-युग में मोरिय गण की सत्ता बौद्ध-साहित्य के अन्य ग्रन्थों द्वारा भी सिद्ध होती है। महापरिनिब्बानसुत्त के अनुसार जब भगवान् बुद्ध का देहान्त हो गया, तो पिप्पलिवन के मोरियों ने भी कुशीनारा के मल्लों के पास यह संदेश भेजा था—'जैसे आप क्षत्रिय है, वैसे ही हम भी क्षत्रिय हैं। अतः हमें भी भगवान् के शरीर के एक भाग को प्राप्त करने का अधिकार है। हम भी भगवान् के शरीर पर महान् स्तूप का निर्माण करेंगे।' ऐतिहासिक दृष्टि से यह सर्वथा सम्भव है, कि मोरिय गण

की कोई रानी पाटलिपुत्र में छिपकर निवास करती हो, और वहीं उसने चन्द्रगुप्त को जन्म दिया हो। सम्भवतः, मोरिय गण की पराजय के बाद उसके अनेक स्त्री-पुरुष मगध मे दास्य जीवन को व्यतीत करने के लिए विवश हुए थे, और चन्द्रगुप्त की माता भी उनमें से एक थी। पुराणों में जो चन्द्रगुप्त को दासीपुत्र कहा गया है, उसका कारण शायद उसकी माता का दास्य जीवन ही था। बौद्ध-साहित्य के समान जैन-साहित्य द्वारा भी मोरिय या मौर्य जाति की सत्ता सूचित होती है। जैन-ग्रन्थ परिशिष्टपर्व में लिखा है, कि "जिस ग्राम में राजा नन्द के मयूरपोषक लोग रहते थे, एक दिन चाणक्य परिव्राजक का भेष बनाकर भिक्षा के लिए वहाँ चला गया। मयूरपोषकों का जो सरदार था, उसकी एक लड़की गर्भवती थी। इसी से चन्द्रगुप्त उत्पन्न हुआ था।" जैन-ग्रंथ 'आवश्यक सूत्र' की हरिभद्रीया टीका मे भी चन्द्रगुप्त की उत्पत्ति इसी ढग से लिखी गई है। मोरियो व मौर्यों को ही इन जैन-ग्रंथो मे 'मयूरपोषक' नाम से उल्लिखित किया गया है।

(२) राज्य की प्राप्ति और उसका विस्तार

महावश की कथा के अनुसार चाणक्य और चन्द्रगुप्त ने नन्दवंश का नाश करने के उद्देश्य से पहले मगध के नगरों और ग्रामों पर आक्रमण करना शुरू किया था। पर इसमे उन्हें सफलता नही मिली। फिर वे मागध-साम्राज्य के सीमान्त पर गये, और वहाँ की राजनीतिक परिस्थिति से लाभ उठाकर उन्होंने पश्चिमी भारत को सिकन्दर की अधीनता से मुक्त किया। ३२३ ई० पू० में सिकन्दर की मृत्यु हो गई थी, और पंजाब मे यवन-शासन के विरुद्ध विद्रोह शुरू हो गया था। चाणक्य और चन्द्रगुप्त इस विद्रोह के नेता थे। पंजाब और पश्चिमी भारत को यवनो की अधीनता से मुक्त कर चाणक्य और चन्द्रगुप्त ने उन्हें एक शासनसूत्र मे सगठित किया, और फिर भारत के इस सीमात की सेनाओं की सहायता से मागध-साम्राज्य को अपने अधीन किया। नन्द को मारकर चन्द्रगुप्त स्वय मगध के राजसिहासन पर आरूढ़ हुआ, और इस प्रकार उसने सम्पूर्ण उत्तरी भारत मे एक साम्राज्य की स्थापना की।

चन्द्रगुप्त और चाणक्य के इस कर्तृत्व को श्री हैवेल ने इस प्रकार स्पष्ट किया है—"सिकन्दर के भारत से लौटने के एक साल बाद उसके विजित प्रदेशों मे विद्रोह प्रारम्भ हो गया। प्रसिद्ध विश्वविद्यालय तक्षशिला इस विद्रोह का केन्द्र था। यहाँ चाणक्य नाम का एक ब्राह्मण रहता था, जो दण्डनीति, कूटविद्या और सैन्यशास्त्र मे पारंगत था। उसकी असाधारण योग्यता सब लोगो को विदित थी। उसका चन्द्रगुप्त नामक एक शिष्य था। ······मैसिडोनियन आक्रमण के समय चन्द्रगुप्त तक्षशिला में ही था। सम्भवतः, चन्द्रगुप्त ने ही सिकन्दर को मगध पर आक्रमण करने के लिए प्रेरित किया था। परन्तु व्यास नदी के तट पर अपनी यूरोपियन सेना के विद्रोह कर देने के कारण वह और आगे न बढ़ सका। सिकन्दर के किसी क्षत्रप ने राजा पोरस का घात कर दिया था, यद्यपि पोरस सिकन्दर की अधीनता स्वीकार करता था। इस हत्या के कारण भारतीय जनता में बहुत असन्तोष फैल गया। एक दूसरे प्रान्त के क्षत्रप फिलिप्पस का भी घात कर दिया गया, और क्रान्ति होने के लिए अब विद्रोहियों को

केवल एक योग्य नेता की आवश्यकता थी। चन्द्रगुप्त ने इन घृणित यूनानी लोगों को निकालकर बाहर करने और मगध के राजा से बदला लेने के इस सुवर्णावसर को हाथ से न जाने दिया। चाणक्य की सहायता से उसने पंजाब की जातियों को भड़का दिया, और सिकन्दर की सेनाओं को पराजित कर उसी सेना की सहायता से पाटलिपुत्र पर आक्रमण किया। मगध के राजा को गद्दी से च्युत कर, व ग्रीक लेखकों के मतानुसार मारकर, वह राजगद्दी पर बैठा।"

मि० हैवेल के उपर्युक्त उद्धरण की पुष्टि ग्रीक-लेखकों के लेखों से भी होती है। जस्टिन ने लिखा है—'इस राजकुमार ने ढिठाई के साथ सिकन्दर के बातचीत की। अतः इसे मृत्युदण्ड की आज्ञा हुई। पर इसने भागकर अपने प्राण बचाये।' प्लूटार्क का कहना है—'जब चन्द्रगुप्त घर से निकला हुआ था, उसने सिकन्दर से बातचीत की।' इस प्रकार स्पष्ट है, कि मौर्य चन्द्रगुप्त मैसिडोनियन आक्रमण के समय पंजाब में ही मौजूद था, और उसकी सिकन्दर से भेंट भी हुई थी। निस्सन्देह, चन्द्रगुप्त और चाणक्य उस समय पश्चिमोत्तर-सीमा की तरफ से अपने राज्य का विस्तार करने की इच्छा से ही वहाँ गये हुए थे।

आगे चन्द्रगुप्त ने क्या किया, इस सम्बन्ध मे प्राचीन ग्रीक-लेखको के लेख उपयोगी है। जस्टिन ने लिखा है—"सिकन्दर के सामने चन्द्रगुप्त ने ढिठाई का बर्ताव किया, इसी से अपमानित होकर सिकन्दर ने चन्द्रगुप्त के वध की आज्ञा दी। परन्तु चन्द्रगुप्त ने भागकर अपने प्राण बचाये। यात्रा से थककर चन्द्रगुप्त लेट गया। इस समय एक भयानक सिंह आया, और चन्द्रगुप्त के पसीने को चाटने लगा। वह चन्द्रगुप्त को बिना हानि पहुँचाये लौट गया। इस अपूर्व घटना से चन्द्रगुप्त को बडी आशा हुई। वह महत्त्वाकांक्षी हो गया। उसने डाकुओ के झुण्ड इकट्ठे किये, और भारतीयों को विद्रोह के लिए खडा कर दिया। जिस समय चन्द्रगुप्त सिकन्दर के सेनापतियो के विरुद्ध लडाई की तैयारी कर रहा था, एक जङ्गली हाथी आया और उसने पालतू हाथी के समान चन्द्रगुप्त को अपनी पीठ पर उठा लिया। जब सैल्युकस अपने राज्य के लिए प्रयत्न कर रहा था, तब उसने चन्द्रगुप्त के साथ सन्धि की और भारत की तरफ से निश्चिन्त होकर एण्टिगोनस के विरुद्ध प्रस्थान किया।"

इस उद्धरण से स्पष्ट है, कि चन्द्रगुप्त ने भारत की तत्कालीन अशान्तिमय अवस्था से लाभ उठाया था, और यूनानी सेनापतियों के विरुद्ध विद्रोह का झण्डा खडा किया था। फिलिप्पस की हत्या सम्भवत. उसी ने करायी थी। जब यह समाचार सिकन्दर के पास पहुँचा, तो उसे बहुत क्रोध आया। उसने तत्काल सिन्ध नदी के तट पर स्थित यूनानी शिविर के सेनापति यूदेमास के नाम यह आज्ञा भेजी, कि जब तक फिलिप्पस का उत्तराधिकारी नियत नही किया जाता, तब तक तुम ही फिलिप्पस के स्थानापन्न क्षत्रप का कार्य करो।

परन्तु यूदेमास के पास पर्याप्त सेना नही थी। दूसरी ओर चन्द्रगुप्त और चाणक्य जैसे शक्ति-सम्पन्न पुरुषों के नेतृत्व मे विद्रोहियो की शक्ति दिन-दूनी रात-चौगुनी बढ़ रही थी। इसलिये यूदेमास को अपने कार्य में सफलता प्राप्त नहीं हुई। उधर सिकन्दर की मृत्यु (३२३ ई० पू०) हो जाने के कारण विस्तृत मैसिडोनियन

साम्राज्य में उत्तराधिकार के लिये झगड़े शुरू हो गए थे। यह कलह मुख्य रूप से एण्टिगोनस और सैल्युकस नाम के दो सेनापतियों के बीच में था। ३१७ ई० पू० में यूदेमास बची-खुची यूनानी सेना के साथ एण्टिगोनस की सहायता के लिए सिन्ध नदी पार कर गया।

इस प्रकार चाणक्य और चन्द्रगुप्त के नेतृत्व में भारतीय विद्रोह को सफलता प्राप्त हुई, और पंजाब और सीमाप्रांत चन्द्रगुप्त के अधिकार में आ गये। इन प्रदेशों के जनपदों ने स्वाभाविक रूप से अपने को स्वतन्त्र कराने वाले मौर्य चन्द्रगुप्त की अधीनता स्वीकृत की। इसीलिये प्राचीन ग्रीक लेखक जस्टिन ने लिखा है—'सिकन्दर के लौटने पर चन्द्रगुप्त ने भारत को स्वतन्त्रता दिलायी। परन्तु सफल होने के अनन्तर शीघ्र ही उसने स्वतन्त्रता को दासता में परिवर्तित कर दिया। जिन्हें उसने विदेशियों के जूए से स्वतन्त्र किया था, उन्हें अपने अधीन कर लिया।' महावंश टीका का भी यही कथन है—'सीमाप्रान्त से वे (चाणक्य और चन्द्रगुप्त) पूर्व की ओर बढ़ते गये। नगरो और ग्रामो को अपने अधीन करते हुए वे निरन्तर आक्रमण करते हुए चले। एक भारी सेना उनके साथ थी। ठीक समय पर उन्होंने पाटलिपुत्र पर हमला किया, और धननन्द को मारकर राज्य प्राप्त कर लिया।'

सस्कृत के प्रसिद्ध नाटक मुद्राराक्षस द्वारा भी इस बात की पुष्टि होती है। इस नाटक के अनुसार चन्द्रगुप्त की जिन सेनाओं ने पाटलिपुत्र पर आक्रमण किया था, उनमे शक, यवन, किरात, काम्बोज, पारसीक, वाह्लीक आदि की सेनाएँ सम्मिलित थी, जिन्हे चाणक्य ने बुद्धि द्वारा अपने वश मे कर रखा था। जिस प्रकार प्रलय के समुद्र से पृथिवी घिर जाती है, वैसे ही इन सेनाओं से पाटलिपुत्र घिर गया था। मुद्राराक्षस मे कुछ ऐसे राजाओ के नाम भी दिये गये हैं, जो इस आक्रमण मे चन्द्रगुप्त के साथ थे—कुलूत (कुल्लू) का राजा चित्रवर्मा, मलय (सम्भवतः, मालवगण) का राजा सिंहनाद, काश्मीर का राजा पुष्कराक्ष, सिंधु (सिंध) का राजा सिंधुषेण और पारसीक राजा मेघाक्ष। ये सब राजा उत्तर-पश्चिमी भारत के उन्ही प्रदेशों के शासक थे, जिन्हे चन्द्रगुप्त ने सिकन्दर के साम्राज्य से स्वतन्त्र कराया था। मुद्राराक्षस की कथा के अनुसार चाणक्य ने पर्वतक नाम के एक शक्तिशाली राजा को मगध का आधा राज्य देने का वचन देकर उसकी भी सहायता प्राप्त की थी। धननन्द इस विशाल सेना का मुकाबला नही कर सका। पुत्रों सहित उसकी युद्ध में मृत्यु हो गई, और पाटलिपुत्र पर चन्द्रगुप्त का कब्जा हो गया।

मगध का वह विशाल साम्राज्य अब चन्द्रगुप्त के हाथ में आ गया जिसके विषय मे यूनानी लेखकों का निम्नलिखित उद्धरण ध्यान देने योग्य हैं—"जब सिकन्दर ने भारत की आन्तरिक अवस्था के विषय मे पूछा, तब उसे बताया गया कि सिन्ध नदी से परे १२ दिन मे पार करने योग्य (कर्टियस के मतानुसार ११ दिन) एक मरुस्थल है। इस मरुस्थल की परली हद पर गङ्गा नदी बहती है। उसे बताया गया, कि इस नदी के परली ओर प्रेसिआई (Prasii) और गेंगेरिडी (Gangaridie) लोग रहते हैं। उनके राजा का नाम बसेन्द्रमस (नन्द) है, जो कि युद्ध के लिए २० हजार घोड़े,

२ लाख पदाति, २ हजार रथ और ४ हजार हाथी मैदान में ला सकता है। पहले सिकन्दर ने इस बात पर विश्वास नहीं किया। उसने राजा पोरस से पूछा।"

निस्सन्देह, पाटलिपुत्र की विजय के बाद इस महती सेना ने चन्द्रगुप्त की अधीनता स्वीकृत कर ली थी। चन्द्रगुप्त स्वयं भी एक बडी सेना पाटलिपुत्र की विजय के लिए लाया था। प्लूटार्क ने लिखा है—"छः लाख सेना के साथ चन्द्रगुप्त ने भारत पर आक्रमण शुरू किया, और सम्पूर्ण देश को जीत लिया।" इस सेना मे कौन-कौन-से राजा सम्मिलित थे, इसका संकेत मुद्राराक्षस से मिलता है। अनेक विद्वानों ने उस में दिये नामों को यूनानी विवरणो के राजाओ के नामो के साथ मिलाने का प्रयत्न किया है। 'कैम्ब्रिज हिस्टरी आफ इंडिया' के अनुसार "पोरस की सहायता के बिना इस आक्रमण का सफल हो सकना सम्भव नही था। इसलिए हमारे सम्मुख दो मार्ग हैं, या तो पोरस ने आक्रमण में भाग लिया था और यही नाटक के चन्द्रगुप्त का मित्र पर्वतक है।.........या यह कोई पोरस का उत्तराधिकारी है।" एक विद्वान् ने पारसीकाधिराज मेघाक्ष को मैगस्थनीज से मिलाया है। एक का कहना है, कि विशाखदत्त ने गलती से शैलाक्ष को मेघाक्ष लिख दिया है, और यह शैलाक्ष सैल्युकस ही है, अन्य कोई नही। विशाखदत्त के अनुसार पर्वतक पश्चिमी भारत के उन राजाओं में से एक था, जो चाणक्य की प्रेरणा से मगध पर आक्रमण करने के लिए आये थे। यह असम्भव नही है, कि इस पर्वतक का केकय या मद्रक के पोरु के साथ कोई सम्बन्ध हो।

पाटलिपुत्र के हस्तगत हो जाने पर चन्द्रगुप्त की शक्ति बहुत बढ गयी। वह मगध का निर्विवाद सम्राट् बन गया। मौर्य चन्द्रगुप्त भारत का पहला ऐतिहासिक सम्राट् था। भारत के अनेक जनपदो को अपने वश मे कर उसने एक विशाल साम्राज्य की स्थापना की थी। यह महान् कार्य एक बडी सेना की सहायता से ही हो सकता था। चन्द्रगुप्त की सेना मे छः लाख पदाति, तीस हजार घुड़सवार, नौ हजार हाथी और कम से कम चार हजार रथ थे। इस शक्तिशाली सेना की सहायता से चन्द्रगुप्त ने सम्पूर्ण उत्तरी भारत मे और नर्मदा नदी के दक्षिण मे भी अपना साम्राज्य विस्तृत किया।

(३) सैल्युकस का आक्रमण

जिस समय चन्द्रगुप्त अपने नये प्राप्त किये हुए साम्राज्य को दृढ करने मे लगा था, उसी समय सिकन्दर का अन्यतम सेनापति सैल्युकस मैसिडोनियन साम्राज्य के एशियन प्रदेशो में अपने शासन की नीव को सुदृढ करने मे व्यग्र था। सिकन्दर की मृत्यु के बाद उसका विशाल साम्राज्य अनेक टुकडो मे विभक्त हो गया था। मैसिडोनियन साम्राज्य के एशियन प्रदेशों पर अपना अधिकार कायम करने के लिए सिकन्दर के दो सेनापति संघर्ष कर रहे थे। इनके नाम हैं—सैल्युकस और एण्टिगोनस। कई वर्षों तक इनमे परस्पर लड़ाई जारी रही। कभी सैल्युकस की विजय होती, और कभी एण्टिगोनस की। शुरू मे विजयश्री ने एण्टिगोनस का साथ दिया। पर ३२१ ई० पू० में जब सैल्युकस ने बैबीलोन जीत लिया, तब से युद्ध की गति बदल गयी।

धीरे-धीरे सैल्युकस ने एण्टिगोनस को पूर्णरूप से परास्त कर मिस्र भाग जाने के लिए विवश किया, और स्वयं सम्राट् बन गया। उसकी राजधानी सीरिया में थी, इसलिए उसे सीरियन सम्राट् कहा जाता है। पर वह एशिया-माइनर से हिन्दूकुश तक विस्तीर्ण एक विशाल साम्राज्य का अधिपति था। ३०६ ई० पू० में उसका राज्याभिषेक बड़ी धूम-धाम के साथ सीरिया में हुआ।

पश्चिमी और मध्य एशिया में अपने शासन को सुदृढ़ कर उसने मैसिडोनियन साम्राज्य के खोये हुए भारतीय प्रदेशों को फिर से अपनी अधीनता मे लाना चाहा। ३०५ ई० पू० में एक शक्तिशाली सेना को साथ लेकर उसने भारत पर आक्रमण किया, और सिन्ध नदी तक बिना किसी विघ्न-बाधा के बढ़ आया। इधर चन्द्रगुप्त भी सावधान और जागरूक था। सिन्ध के तट पर दोनो सेनाओं में घनघोर युद्ध हुआ। कई विद्वानों का मत है, कि सैल्युकस अपने इस आक्रमण में गङ्गा के किनारे-किनारे पाटलिपुत्र तक बढ़ आया था। पर यह बात प्रमाणों से पुष्ट नहीं होती। अधिक सम्भव यही है, कि चन्द्रगुप्त की सेनाओ ने सिन्ध नदी के पूर्वी तट पर उसका मुकाबला किया था, और वह भारत मे इससे आगे नही बढ सका था। युद्ध के बाद जो संधि हुई, उसकी शर्तें निम्नलिखित थी :—(१) चन्द्रगुप्त सैल्युकस को ५०० हाथी दे। (२) बदले में सैल्युकस निम्नलिखित चार प्रदेश चन्द्रगुप्त को दे—१. परोपनिसदी, २. आर्कोसिया, ३. आरिया और ४. गद्रोसिया। (३) इस संधि को स्थिर मैत्री के रूप मे परिवर्तित करने के लिए सैल्युकस अपनी कन्या का विवाह चन्द्रगुप्त के साथ कर दे।

यह संधि मागध-साम्राज्य के लिए बहुत अनुकूल थी। इससे उसकी पश्चिमी सीमा हिन्दूकुश के परे तक विस्तीर्ण हो गयी थी। सीरियन साम्राज्य के चार बडे प्रदेश अब मागध-साम्राज्य के अतर्गत हो गये थे। इन चार प्रांतों में परोपनिसदी का अभिप्राय अफगानिस्तान के उस पहाडी प्रदेश से है, जिसका पूर्वी सिरा हिन्दूकुश पर्वत-माला है। आर्कोसिया आजकल के कन्दहार को कहते थे। आरिया हेरात का पुराना नाम था। गद्रोसिया से वर्तमान समय के कलात प्रदेश का बोध होता था। इस प्रकार सैल्युकस से युद्ध के पश्चात् कलात, कन्दहार, हेरात और काबुल के प्रदेश मागध-साम्राज्य में शामिल हो गए थे। प्रसिद्ध ऐतिहासिक श्रीयुत वी० ए० स्मिथ ने इस सम्बन्ध मे लिखा है, कि दो हजार साल से भी अधिक हुए, जब भारत के प्रथम सम्राट् ने उस 'वैज्ञानिक सीमा' को प्राप्त कर लिया था, जिसके लिए उसके ब्रिटिश उत्तराधिकारी व्यर्थ मे ही आहें भरते रहे हैं, और जिसको सोलहवी और सत्रहवी सदियो के मुगल-सम्राट् भी कभी पूर्णता के साथ प्राप्त नही कर सके थे।

३०३ ई० पू० में यह संधि हुई। इसके बाद शीघ्र ही सैल्युकस ने मैगस्थनीज को राजदूत बनाकर चन्द्रगुप्त की राजसभा में भेजा। मैगस्थनीज चिरकाल तक मागध-साम्राज्य की राजधानी पाटलिपुत्र मे रहा। उसने अपने समय का उपयोग भारत की भौगोलिक-स्थिति, विविध जातियों, आर्थिक अवस्था और राजनीतिक दशा को लेख-बद्ध करने मे व्यतीत किया। मैगस्थनीज के इस विवरण के जो अंश इस समय उपलब्ध

होते हैं, वे निःसन्देह मौर्यकालीन भारत के सम्बन्ध मे बहुत प्रामाणिक हैं, और उनसे बहुत-सी महत्त्व की बातें ज्ञात होती हैं।

इस प्रकार अपने विशाल साम्राज्य की स्थापना कर चन्द्रगुप्त मौर्य ने उसका योग्यतापूर्वक शासन किया। युद्धो में व्यस्त रहने पर भी उसे अपनी प्रजा की भलाई का पूरा-पूरा ध्यान रहता था। यही कारण है, कि पाटलिपुत्र से लगभग १००० मील की दूरी पर स्थित गिरनार के पहाड़ों मे उसने एक विशाल कृत्रिम भील का निर्माण कराया था। उन दिनों सौराष्ट्र (काठियावाड) का शासक पुष्पगुप्त था। चन्द्रगुप्त ने उसे आज्ञा दी, कि गिरनार की नदी के सम्मुख एक बाँध लगाकर उसे एक भील के रूप मे परिवर्तित कर दे, और उससे अनेक नहरे निकालकर उस प्रदेश मे सिंचाई का प्रबन्ध करे। इस भील का नाम 'सुदर्शन' रखा गया। अशोक के समय तक इसमे कार्य जारी रहा, और बाद मे महाक्षत्रप रुद्रदामा तथा गुप्त सम्राटों ने इसका जीर्णोद्धार कराया।

सम्राट् चन्द्रगुप्त मौर्य के समय की एक और घटना भी उल्लेखनीय है। आचार्य पतञ्जलि ने अपने महाभाष्य मे एक जगह लिखा है, कि धन की इच्छा रखने वाले मौर्यों ने पूजा के लिए मूर्तियाँ बनाकर सुवर्ण एकत्र किया। सम्भवतः, यह बात चन्द्रगुप्त मौर्य के ही समय मे हुई। निरन्तर युद्धों के कारण चन्द्रगुप्त को यदि धन की कमी हो गई हो, और उसने अपने कोष की वृद्धि के लिए इस उपाय का आश्रय लिया हो, तो आश्चर्य की क्या बात है? अपने गुरु के सघर्ष-काल मे भी चाणक्य की प्रेरणा से उसने ऐसे उपायो से ही ८० करोड कार्षापण एकत्र किये थे।

(४) सम्राट् बिन्दुसार अमित्रघात

चन्द्रगुप्त (३२२-२९८ ई० पू०) के बाद उसका पुत्र बिन्दुसार मगध का सम्राट् बना। ग्रीक लेखको ने इसे अमित्रघात लिखा है। बहुत-से शत्रुओ (अमित्रों) के विनाश के कारण ही उसने यह उपाधि प्राप्त की थी। तिब्बती लामा तारानाथ ने बौद्ध-धर्म का जो इतिहास लिखा था, उसके अनुसार आचार्य चाणक्य बिन्दुसार के समय मे भी विद्यमान थे, और उसके राज्य का भी पूर्ववत् सचालन कर रहे थे। चन्द्रगुप्त के समय में चाणक्य के पौरोहित्य मे जिस चातुरन्त साम्राज्य के विस्तार का प्रारम्भ हुआ था, वह बिन्दुसार के समय में भी जारी रहा। तारानाथ के अनुसार उसने सोलह राजधानियो के राजाओ और अमात्यों का उच्छेद किया, और एक लम्बे युद्ध के बाद पूर्वी और पश्चिमी समुद्रो के बीच की सम्पूर्ण भूमि को राजा बिन्दुसार की अधीनता मे ला दिया। इसी प्रकार के निर्देश आर्यमञ्जुश्रीमूलकल्प मे भी विद्यमान है। निःसन्देह, आचार्य चाणक्य केवल भारत के इतिहास मे ही नही, अपितु ससार के इतिहास में एक अद्वितीय महापुरुष हुए हैं। यह उन्ही की महत्त्वाकांक्षा और अदम्य साहस का परिणाम था, कि हिन्दूकुश से असम तक और काश्मीर से सुदूर दक्षिण तक भारत एक शक्तिशाली साम्राज्य के रूप मे संगठित हो गया था।

बिन्दुसार के समय मे जिन सोलह राज्यो को जीतकर मागध-साम्राज्य में सम्मिलित किया गया था, वे सब दक्षिण भारत मे पूर्वी और पश्चिमी समुद्रो के बीच

में स्थित थे। बिन्दुसार के उत्तराधिकारी अशोक के समय मे उसके शिलालेखों से यह भलीभाँति सूचित हो जाता है, कि मागध साम्राज्य का विस्तार भारत में कहाँ-कहाँ तक हो चुका था। अशोक ने स्वयं केवल कलिंग को विजय किया था। बाकी सब प्रदेश बिन्दुसार के समय तक मागध-साम्राज्य में शामिल किये जा चुके थे। अशोक के शिलालेखों के अनुसार चोल, पाण्डय, केरल और सातियपुत्र—ये चार सुदूर दक्षिण में स्थित राज्य मागध-सम्राट् के सीधे शासन मे नही थे। शेष सारा दक्षिणी भारत अशोक के साम्राज्य में सम्मिलित था। नि सन्देह, दक्षिण-भारत की विजय का श्रेय बिन्दुसार को ही है, जिसने कि आचार्य चाणक्य के नेतृत्व मे यह सुदुस्तर कार्य सम्पन्न किया था।

मौर्य-सम्राटों की दक्षिण-विजय के कुछ निर्देश प्राचीन तमिल साहित्य में भी उपलब्ध होते है। प्राचीन तमिल कवि मामुलनार के अनुसार मौर्यो ने दक्षिण पर अनेक आक्रमण किये थे। एक अन्य ग्रन्थ के अनुसार मौर्यों की सेनाएँ कोकण से कर्णाटक-तट के साथ-साथ तुलु प्रदेश से होती हुई कोयम्बटूर की तरफ बढी, और वहाँ से और भी दक्षिण मे जाकर मदुरा के नीचे तक पहुँच गयी। ये मौर्य पहाडो मे रास्ते काटते हुए और चट्टानों पर अपने रथ दौडाते हुए इतनी दूर दक्षिण मे पहुँचे थे। तमिल कवियो के इन वर्णनों से सूचित होता है, कि चोल और पाण्डय राज्यों के भी कुछ हिस्सो को बिन्दुसार मौर्य की सेनाओं ने अपने अधीन किया था। सम्भवत:, ये सुदूर दक्षिण के प्रदेश स्थिररूप से मौर्य-साम्राज्य मे नही रह सके थे। बाद मे इन तमिल-राज्यो ने परस्पर मिलकर एक सघात (सघ) बना लिया, और मौर्यो से स्वतन्त्रता प्राप्त की। अशोक के समय मे ये तमिल-राज्य उसके धर्मविजय के प्रभाव मे तो थे, पर राजनीतिक दृष्टि से वे मागध-साम्राज्य की अधीनता मे नही थे। मौर्य-वंश के पतनकाल में कलिंगराज खारवेल ने अपने शिलालेख मे तमिल देशो के इस संघात का उल्लेख किया है, और उसे ११३ वर्ष पुराना बताया है। यह सघात बिन्दुसार के समय में ही बना था।

बिन्दुसार के समय की कुछ और घटनाएँ भी उल्लेखनीय है। उसके शासन-काल मे तक्षशिला में दो बार विद्रोह हुआ। तक्षशिला मागध-साम्राज्य के पश्चिमोत्तर-प्रदेश (उत्तरापथ) की राजधानी थी। उत्तर-पश्चिमी भारत का यह प्रदेश नया-नया ही मागध साम्राज्य के अधीन हुआ था। वहाँ के निवासियो में अपने पुराने जनपदों या गणराज्यों की स्वतन्त्र सत्ता की स्मृति अभी भ्रष्ट नही हुई थी। इसीलिए अवसर पाते ही वे लोग विद्रोह का झण्डा खडा कर देते थे। बौद्ध-ग्रन्थ दिव्यावदान में लिखा है—"राजा बिन्दुसार के विरुद्ध तक्षशिला नगर ने विद्रोह कर दिया। इस विद्रोह को शान्त करने के लिए बिन्दुसार ने कुमार अशोक को भेजा। उसने कहा—कुमार, जाओ और तक्षशिला नगर के विद्रोह को शान्त करो। उसने उसके लिए चतुरंग सेना तो दे दी, परन्तु यान और हथियार नही दिये। जब तक्षशिला के पौरो ने सुना कि कुमार अशोक स्वयं विद्रोह शान्त करने के लिए आ रहे हैं, तो उन्होने ३।। योजन तक तक्षशिला की सड़क को और तक्षशिला नगर को अच्छी तरह सजाया और पूर्ण घट लेकर अशोक के स्वागत के लिए चल पड़े। कुमार अशोक का स्वागत करते हुए

'पौर' ने कहा—"न हम कुमार के विरुद्ध हैं और न राजा बिन्दुसार के, परन्तु दुष्ट अमात्य हमारा परिभव करते हैं।" इसके पश्चात् वे बडे सत्कार के साथ अशोक को तक्षशिला में ले गये। बाद मे एक बार फिर तक्षशिला में विद्रोह हुआ। इसका वर्णन भी दिव्यावदान में उपलब्ध होता है। इस विद्रोह को शान्त करने के लिए राजा बिन्दुसार ने कुमार सुसीम को भेजा था। सम्भवतः, अशोक उस समय उज्जयिनी का शासक था। कुमार सुसीम इस विद्रोह को शान्त नहीं कर सका, अतः अशोक को पुनः वहाँ भेजने की व्यवस्था की गयी।

सम्राट् चन्द्रगुप्त के समान बिन्दुसार के समय में भी भारत का विदेशों के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध था। उसके समय में सीरियन साम्राज्य का स्वामी एण्टियोकस सोटर था, जो सैल्युकस का उत्तराधिकारी था। उसने मैगस्थनीज की जगह पर डायमेचस को अपना राजदूत बनाकर पाटलिपुत्र भेजा था। प्राचीन यूनानी लेखकों ने एण्टियोकस और बिन्दुसार के सम्बन्ध मे अनेक कथाएँ लिखी हैं। एक कथा के अनुसार एक बार बिन्दुसार ने एण्टियोकस को लिखा, कि कृपया मेरे लिए कुछ अंजीर, कुछ अंगूरी शराब और एक यूनानी अध्यापक खरीदकर भेज दीजिये। इसके उत्तर में एण्टिनयोकस ने अंजीर और शराब तो खरीदकर भेज दिये, पर अध्यापक के सम्बन्ध में कहला भेजा कि यूनानी प्रथा के अनुसार अध्यापक का क्रय-विक्रय नही हो सकता।

बिन्दुसार के समय मे मिस्र का राजा टाल्मी फिलेडेल्फस था। उसने डायोनीसियस नाम का एक राजदूत पाटलिपुत्र की राजसभा मे भेजा था। डायोनीसियस चिरकाल तक बिन्दुसार के दरबार मे रहा और मैगस्थनीज के समान उसने भी भारत का एक विवरण लिखा। यह विवरण ईसा की पहली सदी तक अवश्य ही उपलब्ध था। इसीलिए ऐतिहासिक प्लिनी ने इसका उपयोग अपने ग्रन्थ मे किया था। खेद है, कि डायोनीसियस का विवरण अब उपलब्ध नही होता।

चाणक्य के समय में ही सुबन्धु नाम का एक अन्य अमात्य बिन्दुसार की सेवा मे नियुक्त था। चाणक्य ने ही इसकी नियुक्ति की थी। पर वह हृदय से चाणक्य का विरोधी था। उसने यत्न किया कि बिन्दुसार के हृदय मे मौर्यवंश के प्रतिष्ठाता चाणक्य के विरुद्ध भावना उत्पन्न करे। पर उसे अपने प्रयत्न मे सफलता नही हुई। आचार्य चाणक्य ने अपने जीवन का अन्तिम भाग प्राचीन आर्य-मर्यादा के अनुसार तपोवन मे व्यतीत किया। तिब्बती अनुश्रुति के अनुसार चाणक्य का उत्तराधिकारी राधागुप्त था। चाणक्य का एक नाम विष्णुगुप्त भी है। राधागुप्त का विष्णुगुप्त के साथ कोई सम्बन्ध था या नही, यह ज्ञात नही है। दिव्यावदान के अनुसार बिन्दुसार के प्रधानमन्त्री (अग्रामात्य) का नाम खल्लाटक था, और बिन्दुसार की मृत्यु के बाद जब उसके पुत्रों मे राजसिंहासन के लिए गृहयुद्ध का प्रारम्भ हुआ, तो उसने अशोक की सहायता की थी। सम्भवतः, खल्लाटक ने प्रधानमन्त्री का पद बिन्दुसार के शासन के अन्तिम वर्षों में प्राप्त किया था। दिव्यावदान मे ही बिन्दुसार की मन्त्रिपरिषद् का भी उल्लेख है, जिसके सदस्यों की संख्या ५०० थी।

२६ वर्ष तक शासन करने के बाद २७२ ई० पू० में बिन्दुसार की मृत्यु हुई। मौर्यवंश की स्थापना के साथ एक नये संवत् का भी प्रारम्भ हुआ था, जिसे कलिंगराज खारवेल ने 'मोरिय संवत्' के रूप में अपने शिलालेख मे उल्लेखित किया है।

(५) प्रियदर्शी राजा अशोक

अशोक का राज्यारोहण—बिन्दुसार का उत्तराधिकारी उसका पुत्र अशोक था, जो दिव्यावदान के अनुसार चम्पा की एक परमसुन्दरी ब्राह्मणकन्या से उत्पन्न हुआ था। मागध-सम्राटों की पुरानी परम्परा के अनुसार बिन्दुसार के विविध पुत्रों में राजसिंहासन के लिये युद्ध हुए, और यह संघर्ष चार वर्ष तक निरन्तर जारी रहा। महावंश के अनुसार राजा बिन्दुसार की सोलह रानियाँ और एक सौ पुत्र थे। इन पुत्रों मे सुमन (दिव्यावदान का सुसीम) सबसे बडा और तिष्य सबसे छोटा था। अशोक ने विमाताओं से उत्पन्न सब भाइयो को मारकर स्वयं राजगद्दी पर अधिकार कर लिया। राजसिंहासन के लिए यह भ्रातृयुद्ध चार साल तक जारी रहा था। दिव्यावदान में इस घटनाचक्र का विशद रूप से वर्णन किया गया है।

अशोक के कितने भाई थे और कितनो का उसने युद्ध में घात किया, यह निश्चित रूप से नही कहा जा सकता। उसके सौ भाइयों की बात कुछ अतिशयोक्ति प्रतीत होती है। सब भाई भी उसके द्वारा नही मारे गए थे। शिलालेखों और साहित्य में उसके अनेक भाइयों का उल्लेख आता है, जिनके साथ वह अच्छा बर्ताव करता था। पर चार वर्ष तक गृहकलह और भ्रातृयुद्ध का रहना इस बात को सूचित करता है, कि अशोक को राजगद्दी पर अधिकार प्राप्त करने के लिये घोर संघर्ष करना पड़ा था, और उसमे उसके अनेक भाइयों की हत्या भी हुई थी।

बौद्ध-ग्रन्थो मे जो विवरण मिलते है, उनके अनुसार शुरू में अशोक बहुत क्रूर और अत्याचारी था। पर बाद मे बौद्ध-धर्म का अनुसरण करने से उसकी वृत्ति बिल्कुल बदल गयी। वह बडा दयालु और धर्मात्मा बन गया। प्रारम्भिक जीवन मे अत्याचारी होने की जो बात पुरानी ऐतिहासिक अनुश्रुति मे पायी जाती है, उसका आधार शायद सचाई पर आश्रित है। उसने राजगद्दी पर अपना अधिकार युद्ध द्वारा ही प्राप्त किया था। सम्भवत., अपने विरोधियो को नष्ट करने लिये उसे बहुत सख्ती से काम लेना पड़ा था। गृहकलह के कारण जो अव्यवस्था और उथल-पुथल उत्पन्न हो गयी थी, उसपर काबू पाने के लिये भी अशोक को यदि जनता पर कठोर अत्याचार करने पड़े हों, तो यह सर्वथा स्वाभाविक है।

राज्य विस्तार—सम्राट् बिन्दुसार की मृत्यु के बाद गृहकलह मे सफल होकर अशोक एक बहुत बड़े साम्राज्य का अधिपति बन गया था, जो पूर्व मे बगाल की खाडी से शुरू होकर पश्चिम मे हिन्दूकुश-पर्वतमाला से भी परे तक फैला हुआ था। दक्षिण में भी तमिल देशो तक मगध का साम्राज्य विस्तृत था। पर कलिंग का राज्य इस साम्राज्य के अन्तर्गत नही था। जब अशोक के राज्याभिषेक को हुए आठ साल व्यतीत हो चुके, तो (२६१ ई० पू० में) कलिग पर आक्रमण किया गया। उस समय कलिंग अत्यन्त शक्तिशाली और वैभवसम्पन्न था। मैगस्थनीज के अनुसार वहाँ की सेना में साठ हजार पदाति, एक हजार घुड़सवार और सात सौ हाथी थे। इस शक्तिशाली राज्य पर बड़ी तैयारी के साथ आक्रमण किया गया और अशोक उसे जीतने मे समर्थ हुआ। इस युद्ध में कलिंग के एक लाख आदमी मारे गये, डेढ़ लाख कैद किये गये, और इनसे कई गुना युद्ध के बाद आने वाली स्वाभाविक विपत्तियों से काल के ग्रास

हुए। इस विजय का उल्लेख अशोक ने अपने 'चतुर्दश शिलालेखों' में निम्नलिखित शब्दों में किया है :—

"राज्याभिषेक के आठ वर्ष बाद देवताओं के प्रिय प्रियदर्शी राजा ने कलिंग देश को विजय किया। वहाँ डेढ लाख मनुष्य कैद किये गये, एक लाख मनुष्य मारे गये, और उससे कई गुना आदमी (महामारी आदि) से मरे। इसके बाद कलिंग-देश की विजय होने पर देवताओ के प्रिय का धर्मपालन, धर्म-कर्म और धर्मानुशासन अच्छी तरह से हुआ। कलिंग के जीतने पर देवताओ के प्रिय को बड़ा पश्चात्ताप हुआ, क्योंकि जिस देश की पहले विजय नही हुई है, उसकी विजय होने पर लोगों की हत्या व मृत्यु अवश्य होती है, और न जाने कितने आदमी कैद किये जाते हैं। देवताओ के प्रिय को इससे बहुत दुःख और खेद हुआ। देवताओं के प्रिय को इससे और भी दुःख हुआ, कि वहाँ ब्राह्मण, श्रमण तथा अन्य सम्प्रदायो के मनुष्य और गृहस्थ रहते हैं, जिनमे ब्राह्मणो की सेवा, मातापिता की सेवा, गुरुओ की सेवा, मित्र, परिचित, सहायक, ज्ञाति, दास और सेवको के प्रति अच्छा व्यवहार किया है। ऐसे लोगों का युद्ध मे वध, विनाश या प्रियजनो से बलात् वियोग होता है। अथवा जो स्वयं तो सुरक्षित होते है, पर जिनके मित्र-परिचित-सहायक और सम्बन्धी विपत्ति मे पड जाते हैं, उन्हे भी अत्यन्त स्नेह के कारण बडी पीडा होती है। यह सब विपत्ति वहाँ प्राय: हरेक मनुष्य के हिस्से पडती है। इससे देवताओ के प्रिय को विशेष दुःख होता है। क्योकि ऐसा कोई देश नही है, जहाँ अनन्त सम्प्रदाय न हो, और वे सम्प्रदाय ब्राह्मणो और श्रमणो मे (विभक्त) न हो, और कोई देश ऐसा नही है, जहाँ मनुष्य एक न एक सम्प्रदाय को न मानते हो। कलिग देश मे उस समय जितने आदमी मारे गये, मरे या कैद हुए, उनके सौवें या हजारवें हिस्से का नाश भी अब देवताओं के प्रिय को बडे दु ख का कारण होगा।"

कलिंगविजय के बाद अशोक की मानसिक वृत्ति बदल गयी। उसने शस्त्रों द्वारा विजय करना छोड कर धर्मविजय के लिए उद्योग प्रारम्भ किया। पर कलिंग-विजय के बाद मागध-साम्राज्य अपने विकास की चरम सीमा को पहुँच गया था, और सुदूर दक्षिण के कुछ तमिल प्रदेशों को छोडकर सम्पूर्ण भारत एक सम्राट् की अधीनता मे आ गया था। खून की नदी बहाकर जिस कलिंग पर विजय प्राप्त की गयी थी, उसके सुशासन के लिए अशोक ने कोई कसर बाकी नही छोड़ी। इस प्रदेश को एक नवीन प्रान्त के रूप मे परिणत किया गया। इसकी राजधानी तोसली नगरी थी, और इसके शासन के लिए राजघराने के एक 'कुमार' को प्रान्तीय शासक के रूप में नियुक्त किया गया था। कलिंग मे किस शासन-नीति का अनुसरण किया जाय, इसे स्पष्ट करने के लिये अशोक ने वहाँ दो विशेष शिलालेख उत्कीर्ण कराये थे। इनमे वे आदेश उल्लिखित कराये गये थे, जिनके अनुसार शासन करने से कलिंग के गहरे घाव भली-भाँति भर सकते थे।

कलिंगविजय के अतिरिक्त अशोक ने अन्य किसी प्रदेश को जीतकर मागध साम्राज्य मे सम्मिलित नहीं किया। शस्त्र युद्ध से उसका मन बिलकुल ऊब गया था। कलिंग के समीप बहुत-सी आटविक जातिया निवास करती थी, जिन्हें काबू में ला

सकना सुगम बात नहीं थी। जब उसके राजकर्मचारियों ने अशोक से पूछा, कि क्या इनका दमन करने के लिये युद्ध किया जाय, तो उसने यही आदेश दिया, कि वन-वासिनी जातियों को भी धर्म द्वारा ही वश में लाया जाय। उसने अपने एक शिलालेख में कहा है—"कदाचित् आप यह जानना चाहेंगे, कि जो सीमान्त जातियाँ नहीं जीती गयी है, उनके सम्बन्ध में हम लोगों के प्रति राजा की क्या आज्ञा है। तो मेरा उत्तर यह है, कि राजा चाहते हैं कि वे सीमान्त जातियाँ मुझसे न डरें, मुझपर विश्वास करें और मुझसे सुख ही प्राप्त करें, कभी दुःख न पाएँ। वे यह भी विश्वास रखें, कि जहाँ तक क्षमा का व्यवहार हो सकता है, वहाँ तक राजा हम लोगो के साथ क्षमा का बर्ताव करेगा। अब इस शिक्षा के अनुसार चलते हुए आपको ऐसा काम करना चाहिये कि सीमान्त जातियाँ मुझपर भरोसा करें और समझे कि राजा हमारे लिये वैसे ही हैं, जैसे कि पिता।"

मागध-साम्राज्य की सीमाएँ—अशोक के समय में मागध-साम्राज्य की सीमाएँ कहाँ तक पहुँची हुई थी, इस विषय में उसके शिलालेखों से अच्छा प्रकाश डपता है। वस्तुतः, इन्ही शिलालेखों के आधार पर यह ठीक-ठीक जाना जा सकता है, कि मौर्य-काल मे मगध का साम्राज्य कहाँ तक फैला हुआ था। अशोक के चतुर्दश शिलालेखों की दो प्रतियाँ बंगाल की खाड़ी के पास साम्राज्य के पूर्वी प्रदेश मे उपलब्ध हुई हैं। इनमे से एक उडीसा के भुवनेश्वर नामक स्थान से दक्षिण की ओर सात मील की दूरी पर धौली नामक ग्राम के समीप पायी गयी है। दूसरी प्रति आन्ध्र प्रदेश के गजाम जिले मे जौगढ नामक स्थान पर उपलब्ध हुई है। धौली और जौगढ दोनो प्राचीन कलिंग देश के अन्तर्गत थे। कलिंग भारत के दक्षिण-पूर्वी भाग मे है, और निःसन्देह यह अशोक के साम्राज्य का भी दक्षिण-पूर्वी प्रदेश ही था। चतुर्दश शिला-लेखो की तीसरी प्रति देहरादून जिले के कालसी नामक ग्राम के समीप पायी गयी है। देहरादून से चकरौता को जो सडक गयी है, उससे कुछ दूर हटकर ठीक उस स्थान पर जहाँ कि यमुना नदी हिमालय पर्वत को छोड़कर मैदान मे उतरती है, यह तीसरी प्रति विद्यमान है। चौथी और पाँचवी प्रतियाँ पाकिस्तान के पश्चिमोत्तर प्रदेश से प्राप्त हुई हैं। एबटाबाद से पन्द्रह मील उत्तर की ओर हजारा जिले मे मनसेरा नामक स्थान पर एक प्रति मिली है, और पेशावर से चालीस मील उत्तर-पूर्व की तरफ शाहबाजगढी के समीप दूसरी। चतुर्दश शिलालेखों की छठी प्रति काठियावाड के जूनागढ नामक नगर के समीप और सातवी प्रति बम्बई से तीस मील उत्तर की ओर थाना जिले मे सोपार नामक स्थान पर मिली है। इन शिलालेखों की आठवी प्रति आन्ध्र के कुर्नूल जिले मे प्राप्त हुई है। चतुर्दश शिलालेखो की कोई भी प्रति सुदूर दक्षिण मे अब तक उपलब्ध नही हुई, परन्तु वहाँ अशोक के अन्य शिलालेख मिले है। लघु शिलालेखो की तीन प्रतियाँ कर्णाटक के चीतलद्रुग जिले में (एक सिद्धपुर में, एक ब्रह्मगिरि में और एक जतिंग-रामेश्वर पहाड़ पर) मिली हैं। हिन्दूकुश पर्वतमाला के समीप काबुल के क्षेत्र मे भी अशोक के अभिलेख अब प्राप्त हो गये हैं, और दक्षिण में कर्णाटक के प्रदेश से भी कुछ नये अभिलेख मिले हैं। अशोक के शिलालेखो का इन स्थानों पर प्राप्त होना उसके साम्राज्य की सीमा पर अच्छा प्रकाश डालता है। इससे हम

सहज ही यह समझ सकते हैं, कि उसके साम्राज्य का विस्तार कहाँ-कहाँ तक था। कर्णाटक तक का सारा भारत उसके साम्राज्य के अन्तर्गत था, इस सम्बन्ध में इन शिलालेखों से कोई सन्देह नही रह जाता।

पर इस विषय पर अधिक बारीकी से विचार करने के लिये अशोक के शिलालेखों की अन्तःसाक्षी भी बहुत सहायक है। इनमे मौर्य-सम्राट् के अधीन प्रदेशों को 'विजित' कहा गया है, और जो साम्राज्य के पडोस के स्वतन्त्र राज्य थे, उन्हें 'प्रत्यन्त' की संज्ञा दी गयी है। दक्षिण के 'प्रत्यन्त' चोल, पाण्ड्य, केरल, सातियपुत्र और ताम्रपर्णी थे। उस युग में चोल देश की राजधानी भूगोलवेत्ता टाल्मी के अनुसार ओर्थोरा थी। इसी का वर्तमान प्रतिनिधि त्रिचनापली के समीप उडैयूर है। पाण्ड्य देश की राजधानी मदुरा थी। केरल में मलाबार और कुर्ग के प्रदेश सम्मिलित थे। सातियपुत्र का अभिप्राय वर्तमान त्रावनकोर से है। ताम्रवर्णी लका या सिंहलद्वीप का ही प्राचीन नाम है। इस प्रकार यह स्पष्ट है, कि सुदूर दक्षिण मे स्थित त्रिचलापली, मदुरा, त्रावनकोर तथा मलाबार के प्रदेश मौर्य साम्राज्य के अन्तर्गत नही थे। उनकी गिनती प्रत्यन्त राज्यो मे की जाती थी।

उत्तर-पश्चिम मे अशोक के प्रयत्न राज्य वे थे, जहाँ अन्तियोक नाम का यवन राजा राज्य करता था, और उससे परे तुरमय, अन्तिकिनि, मक और अलिकसुन्दर नाम के राजाओं का जहाँ राज्य था। अन्तियोक से अभिप्राय सीरिया तथा पश्चिमी एशिया के अधिपति एण्टियोकस द्वितीय थिम्रोस से है। वह सैल्युकस का पौत्र था और अशोक के समय मे उसके साम्राज्य का अधिपति था। तुरमय आदि और भी परे के राजा थे। सैल्युकस ने हिन्दुकुश और उसके समीप के जिन प्रदेशो को चन्द्रगुप्त मौर्य को दे दिया था, उनका उल्लेख हम पहले कर चुके हैं। यह स्पष्ट है, कि अशोक का पडोसी स्वतन्त्र राजा सैल्युकस का वशज अन्तियोक ही था। इस प्रकार कम्बोज से बंगाल की खाडी तक और हिमालय से चोल देश तक का सम्पूर्ण भारत उसके 'विजित' या साम्राज्य के अन्तर्गत था। मगध का विशाल साम्राज्य अब अपने विस्तार की चरम सीमा को पहुँच गया था।

अशोक के शिलालेखो के अनुसार मौर्य-साम्राज्य की उक्त सीमाओं के अन्तर्गत कुछ ऐसे विशेष जनपद भी थे, जिन्हे शासन के सबंध मे विशेष अधिकार प्राप्त थे। शिलालेखो मे उनके नामो का उल्लेख इस प्रकार किया गया है—यवन, काम्बोज, गान्धार, रठिक, पितनिक, नाभक, नाभपक्ति, आन्ध्र और पुलिन्द। इन विजित-राज्यो का प्रथम वर्ग यवन, कम्बोज और गान्धार का है, जो उत्तरापथ मे था। यवन या योन का अभिप्राय किसी यवन व ग्रीक बस्ती से है। सिकन्दर ने जब भारत पर आक्रमण किया था, तो उसने हिन्दूकुश पर्वत की उपत्यका में एक नगरी बसायी थी, जिसका नाम अलक्जण्ड्रिया रखा गया था। सभवतः, वहाँ बहुत-से यूनानी (यवन) लोग बस गये थे। कम्बोज से पामीर पर्वतमाला के प्रदेश तथा बदख्शां का ग्रहण होता है। गान्धार की राजधानी तक्षशिला थी, और उसके समीपवर्ती उत्तर-पश्चिमी सीमाप्रांत के प्रदेश इस जनपद के अन्तर्गत थे। यह अशोक के संरक्षित राज्यों का पहला वर्ग हैं। दूसरा वर्ग नाभक और नाभपंक्ति का था। इनकी

ठीक स्थिति के सम्बन्ध में विद्वानों मे बहुत मतभेद है। कुछ विद्वानों ने प्रतिपादित किया है, कि नाभक और नाभपंक्ति का अभिप्राय खोतन से है, जो पामीर के उत्तर में था। तीसरा वर्ग भोज-पितनिक या रठिक-पितनिक का था। ये प्रदेश सम्भवतः आधुनिक बरार और महाराष्ट्र के अन्तर्गत थे। चौथा वर्ग आन्ध्र और पुलिन्द का था। आन्ध्र वर्तमान समय मे भारतीय संघ का एक राज्य है। पुलिन्द की स्थिति आन्ध्र के उत्तर में थी। वायुपुराण के अनुसार पुलिन्द जाति विन्ध्याचल की तराई में निवास करती थी। कुछ विद्वानों ने इसकी स्थिति वर्तमान जबलपुर जिले के समीप प्रतिपादित की है। इस प्रकार यह स्पष्ट है, कि विशाल मौर्य साम्राज्य के अन्तर्गत कुछ ऐसे प्रदेश भी थे, जो अपना शासन स्वयं करते थे, मौर्य-सम्राट् के अधीन होते हुए भी जिन्हे अपने आन्तरिक मामलो मे स्वतन्त्रता प्राप्त थी। इनकी स्थिति ब्रिटिश युग के भारत की रियासतो के सदृश समझी जा सकती है।

सारे मागध-साम्राज्य की राजधानी पाटलिपुत्र थी, किन्तु साम्राज्य मे कई अन्य राजधानियाँ भी थी, जिनमे राजा की तरफ से कुमार और महामात्य शासन करते थे। ऐसी उपराजधानियाँ तक्षशिला, उज्जयिनी, तोषाली और सुवर्णगिरि थी। विशाल मौर्य-साम्राज्य का शासन एक राजधानी से नही हो सकता था।

विदेशों के साथ सम्बन्ध :—सम्राट् अशोक ने अपने शिलालेखों मे अनेक समकालीन विदेशी राज्यो और उनके राजाओं का भी उल्लेख किया है :—

१. अन्तियोक—यह पश्चिमी एशिया का सीरियन सम्राट् एण्टियोकस द्वितीय थिओस था, जिसका शासन-काल २६१ ई० पू० से २४६ ई० पू० तक था। यह सैल्यूकस का पौत्र था, और उसी साम्राज्य का अधिपति था, जिसे सैल्यूकस ने कायम किया था। अन्तियोक के साम्राज्य की पूर्वी सीमा मागध-सम्राज्य की उत्तर-पश्चिमी सीमा को छूती थी।
२. तुरुमय—यह ईजिप्ट (मिस्र) का अधिपति टाल्मी द्वितीय फिलेडेल्फस (२८५-२४७ ई० पू०) था।
३. अन्तिकिनि—यह मैसिडोनिया का राजा एण्टिगोनस गोण्टस (२७६-२३९ ई० पू०) था।
४. मक—यह साइरिनि का अधिपति मेगस था, जिसका राज्यकाल ३०० से २५० ई० पू० तक था।
५. अलिकसुन्दर—यह कॉरिथ का राजा अलक्जेण्डर (२५२—२४४ ई० पू०) था।

इन सब विदेशी राजाओ के साथ सम्राट् अशोक का सम्बन्ध था। इनके राज्यों में उसने धर्मविजय के लिए प्रयास भी किया था। उसके इस प्रयत्न पर हम आगे विचार करेगे। सीरिया के राजा के राजदूत चन्द्रगुप्त और बिन्दुसार के समय मे पाटलिपुत्र की राजसभा में रह चुके थे। सम्भवतः, अशोक के समय में भी इस राज्य का दूत भारत की राजधानी में रहा हो। ईजिप्ट के राजा टाल्मी फिलडेल्फस ने भी एक दूतमण्डल पाटलिपुत्र मे भेजा था, जिसका नेता डायोनीसियस था। मागध सम्राट् के राजदूत भी इन विदेशो मे रहते थे।

कुमार कुणाल—अशोक के समय में भी तक्षशिला में विद्रोह जारी रहे। इन इन विद्रोहों का उल्लेख दिव्यावदान में किया गया गया है। प्रतीत होता है, कि विशाल मागध-साम्राज्य के उत्तर-पश्चिमी प्रदेश में अभी तक भी पूर्ण शान्ति स्थापित नहीं हुई थी। वहाँ के महामात्यों को शासन मे अधिक कठोर उपायों का अवलम्बन करना पडता था, और इसी लिये वहाँ विद्रोह भी बहुधा होते रहते थे। ऐसे एक विद्रोह को शांत करने के लिये अशोक ने अपने बडे कुमार कुणाल को भेजा था, और उसे अपने प्रयत्न में पूर्ण सफलता भी हुई थी। विद्रोह को शांत करने के बाद कुणाल तक्षशिला में प्रांतीय शासक के रूप मे कार्य करता रहा। वहाँ वह बहुत लोकप्रिय था।

कुणाल अशोक का ज्येष्ठ पुत्र था। उसे वह बहुत प्रिय भी था। उसकी आँखें हिमालय के कुणाल पक्षी के समान सुन्दर थीं, इसीलिये उसका नाम कुणाल पडा था। वह देखने में बहुत सुन्दर तथा प्रकृति से अत्यन्त सुकुमार था। उसका विवाह काञ्चन-माला नाम की परम सुन्दरी युवती से हुआ। कुणाल और काञ्चनमाला का गृहस्थ जीवन बड़ा सुखी और प्रेममय था। वृद्धावस्था में अशोक ने तिष्यरक्षिता से विवाह किया। वह उज्जयिनी के एक सम्पन्न श्रेष्ठी की कन्या थी, और परम रूपवती थी। बूढे अशोक से उसे संतोष नही हुआ। युवक कुणाल पर वह मोहित हो गयी। उसके सुन्दर रूप और आकर्षक आँखो ने युवती तिष्यरक्षिता को पागल कर दिया था। एक बार एकांत में तिष्यरक्षिता ने कुणाल के सामने अपना प्रेम प्रगट किया। पर अपनी विमाता के प्रेम की कुणाल ने कोई परवाह नही की। वह उसे अपनी माता समझता था, और माता के समान ही उससे व्यवहार करता था। धीरे-धीरे तिष्य-रक्षिता का निराश प्रेम भयंकर द्वेष के रूप में परिवर्तित हो गया, और उसने कुणाल से बदला लेने का निश्चय किया। कुणाल ने तिष्यरक्षिता के प्रेम को अस्वीकार कर उसका जो घोर अपमान किया था, अब वह उसका बदला लेने को कटिबद्ध हो गयी थी।

एक बार अशोक बीमार पडा। यद्यपि तिष्यरक्षिता अशोक से जरा भी प्रेम नहीं करती थी, पर इस बार उसने राजा की बड़ी सेवा की। तिष्यरक्षिता की सेवा से अशोक स्वस्थ हो गया। बीमारी के समय अशोक की सारी चिकित्सा और उपचार तिष्यरक्षिता के ही हाथों मे था। इससे प्रसन्न होकर अशोक ने एक सप्ताह के लिये सारा राज्यकार्य और राजमुद्रा तिष्यरक्षिता के सुपुर्द कर दी। वह इसी अवसर की प्रतीक्षा में थी। उसने एक कपट-लेख तैयार कराया और उसपर अशोक की राजमुद्रा लगा दी। यह कपटलेख तक्षशिला के महामात्यो के नाम था। उन्हें यह आज्ञा दी गयी थी, कि कुणाल की आँखे निकाल ली जायँ। जब यह आज्ञापत्र तक्ष-शिला पहुँचा, तो वहाँ के अमात्यो को बडा आश्चर्य हुआ। वे कुणाल के गुणो और सद्व्यवहार के कारण उससे बहुत प्रसन्न थे। उनका साहस नही हुआ, कि वे कुमार को इस आज्ञापत्र की खबर दें। पर तिष्यरक्षिता का भिजवाया हुआ यह कपटलेख अशोक की दन्तमुद्रा से अंकित था। यह मुद्रा उन आज्ञाओं पर लगायी जाती थी, जिनका तुरन्त पालन होना आवश्यक होता था। अतः यह आज्ञा भी कुणाल के सम्मुख पेश की गयी। कुणाल ने स्वयं बधिकों को बुलाया और यह कहकर कि सम्राट् की

आज्ञा का पालन होना ही चाहिये, अपनी आँखें अपने आप ही निकलवा दीं। दंतमुद्रा से अंकित राजाज्ञा मे यह भी आदेश था, कि कुणाल को राजा-पद से च्युत कर दिया जाय। कुणाल ने इस आज्ञा का भी पालन किया, और राजपद छोड़कर वह अपनी पत्नी काञ्चनमाला के साथ पाटलिपुत्र की ओर चल पड़ा।

जब राजा अशोक ने यह समाचार सुना, तो उसके क्रोध का ठिकाना न रहा। तिष्यरक्षिता और उसके साथी षड्यंत्रकारियों को अत्यन्त कठोर दण्ड दिये गये। जिस जगह कुणाल ने अपनी आँखें निकलवायी थीं, वहाँ अशोक ने एक विशाल स्तूप खडा कराया। कुणाल का यह कार्य राजकीय दृष्टि से परम आदर्श था। 'राजाज्ञा का पालन होना चाहिये'—इस आदर्श के बिना कोई भी राज्यसंस्था व साम्राज्य कायम नहीं रह सकता। इस घटना की स्मृति में अशोक ने जो स्तूप बनवाया था, वह अशोक के नौ सदी बाद उस समय भी विद्यमान था, जब चीनी यात्री ह्यू नत्सांग भारत-यात्रा के लिये आया था।

मन्त्रिपरिषद् से विरोध—दान-पुण्य की धुन में राजा अशोक ने अनेक ऐसे कार्य भी किये, जो एक सम्राट् के लिये कदापि उचित नही कहे जा सकते। ऐसे अवसरो पर मंत्रियों का उसके साथ विरोध हो जाता था। ऐसी एक मनोरंजक कथा हम दिव्यावदान से उद्धृत करते हैं—

जब राजा अशोक को बौद्ध-धर्म में श्रद्धा उत्पन्न हुई, तो उन्होंने भिक्षुओ से पूछा—'भगवान् के लिये सबसे अधिक दान किसने दिया है?'

भिक्षुओ ने उत्तर दिया—'गृहपति अनाथपिंडक ने।'

'भगवान् के लिये उसने कितना धन दान दिया?'

'सौ करोड।'

यह सुनकर राजा सोचने लगे, अनाथपिंडक ने साधारण गृहपति होकर सौ करोड़ दान दिया है, तो मुझे भी इतना दान तो अवश्य करना ही चाहिए।' उसने भिक्षुओ से कहा—'मैं भी भगवान् के नाम पर सौ करोड़ दान करूँगा।'

अपनी प्रतिज्ञा को पूरी करने के लिये अशोक ने बहुत यत्न किया। हजारों स्तूप, विहार आदि बनवाये। लाखों भिक्षुओं को भोजन और आश्रय दिया। इस प्रकार धीरे-धीरे अशोक ने नब्बे करोड़ तो भगवान् के नाम पर भिक्षुओं, विहारों और संघ को दान कर दिया। पर दस करोड़ अभी और शेष बच गया। राजा इसे नही दे सका, अतः उसे बहुत कष्ट हुआ। राजा को शोकातुर होते देख प्रधानामात्य राधागुप्त ने, जिसने कि दान मे अशोक की बडी सहायता की थी, पूछा—'प्रबल शत्रुसंघ चारों ओर से घेरकर भी जिस चण्ड सूर्य के समान दीप्यमान मुख को देख न सके, जिसकी शोभा के सम्मुख सैकडों कमल भी लजाते हैं, हे देव! तुम्हारा वह मुख आज म्लान क्यों है?'

राजा ने कहा—'राधागुप्त! न मुझे धन के विनाश की चिन्ता है, न राज्य के नाश का विाचर है, और न किसी आश्रय से मेरा वियोग हुआ है। मुझे सोच केवल इस बात का है, कि पूज्य भिक्षुओं से मुझे बिछुड़ना पड़ रहा हैं। मैंने प्रतिज्ञा की थी, कि भगवान् बुद्ध के कार्य में सौ करोड़ दान करूँगा, पर मेरा यह मनोरथ पूरा नही हुआ।'

इसके बाद राजा अशोक ने राज्यकोष से शेष दस करोड धन देकर अपनी प्रतिज्ञा को पूरा करने का विचार किया। परन्तु इस कार्य में भी उसे सफलता नहीं मिली। उस समय कुणाल का पुत्र (अशोक का पौत्र) सम्प्रति युवराज था। उससे अमात्यों ने कहा—'कुमार! राजा अशोक को सदा थोडे ही रहना है। उसकी थोड़ी ही आयु शेष है। यह द्रव्य कुर्कुटाराम नामक विहार को भेजा जा रहा है। राजाओं की शक्ति कोष पर ही आश्रित है। इसलिये मना कर दो।' कुमार ने भाण्डागारिक को राजकोष में से दान देने से निषेध कर दिया।

पहले राजा अशोक सुवर्णपात्र में रखकर भिक्षुओ के लिये भोजन भेजा करता था। पर अब यह भी मना कर दिया गया। फिर उसने चाँदी के बरतन में भोजन भेजना चाहा, वह भी निषिद्ध कर दिया गया। फिर उसने लोहे के पात्र मे भोजन भेजना चाहा, इसके लिये भी अनुमति नही मिली। अन्त मे उसने मिट्टी के बरतन मे कुर्कुटाराम में भिक्षुओ के लिये भोजन भेजना चाहा, पर उसके लिये भी उसे अनुमति नही दी गयी। अब उसके पास केवल आधा आँवला ही बच गया था, जो उस समय उसके हाथ में मौजूद था। केवल उसी पर उसका अपना अधिकार था। अन्य किसी वस्तु का उपयोग वह अपनी इच्छानुसार नही कर सकता था।

संविग्न होकर अशोक ने अमात्यों और 'पौर' को बुलाकर पूछा—'इस समय राज्य का स्वामी कौन है?' यह प्रश्न सुनकर प्रधानामात्य ने उठकर और यथोचित रीति से अभिवादन करके उत्तर दिया—'देव! आप ही पृथिवी के स्वामी हैं।' यह सुनकर अशोक की आँखों से आँसू फूट पडे। वह वस्तुस्थिति को जानता था। आँसुओ से अपने बदन को गीला करते हुए उसने कहा—'तुम केवल दाक्षिण्य (विनय) से झूठ-मूठ क्यों कहते हो, कि स्वामी मैं हूँ। मैं तो राज्यभ्रष्ट हो गया हूँ। मेरे पास तो केवल आधा आँवला ही अपना बच गया है। ऐसे ऐश्वर्य को धिक्कार है।'

इसके बाद अशोक ने वह आधा आँवला ही कुर्कुटाराम के भिक्षुओं के पास यह कहलाकर भेज दिया, कि 'जो सम्पूर्ण जम्बूद्वीप का स्वामी था, आज वह केवल आधे आँवले का ही स्वामी रह गया है। मन्त्रियो ने मेरे अधिकारों को छीन लिया है।'

इस घटना से भली-भाँति सूचित होता है, कि बौद्ध-धर्म की सहायता करने की धुन में राजा अशोक ने राज्यकोष को भी छेड़ने का प्रयत्न किया था। पर मन्त्रि-परिषद् इसे नही सह सकी, और उसने युवराज को भड़का कर अशोक को राज्य-अधिकार से वञ्चित कर दिया।

पन्द्रहवाँ अध्याय

अशोक की धर्म-विजय और बौद्ध-धर्म का प्रसार

(१) धर्म विजय का उपक्रम

भारत के इतिहास में अशोक का महत्त्व बहुत अधिक है। वह न केवल एक विशाल साम्राज्य का स्वामी था, अपितु उसके प्रयत्न से भारतीय धर्म और संस्कृति का देश-विदेश मे प्रचार होने में भी बहुत सहायता मिली थी। इस सम्बन्ध मे हमे उसके कर्तृत्व का शिलालेखो, स्तम्भलेखों व गुहालेखों से परिचय मिलता है।

अशोक के महत्त्व का मुख्य कारण उसकी धर्म-विजय की नीति है। मागध-साम्राज्य की विश्वविजयिनी शक्ति को सिकन्दर और सीजर की तरह अन्य देशों पर आक्रमण करने मे न लगाकर उसने धर्म-विजय के लिए लगाया। कलिङ्ग को जीतने मे लाखों आदमी मारे गये थे या कैद हुए थे, और लाखों स्त्रियाँ विधवा तथा बच्चे अनाथ हो गए थे। यह देखकर अशोक के हृदय में विचार आया, कि जिससे लोगो का इस प्रकार वध हो, वह विजय निरर्थक है। कलिङ्ग में हुए धन-जन के विनाश से उसे बहुत दुःख और अनुताप हुआ। उसने निश्चय किया, कि अब वह किसी देश पर आक्रमण कर इस तरह से विजय नही करेगा। अपने पुत्रों और पौत्रों के लिये भी उसने यही आदेश दिया, कि वे शस्त्रो द्वारा नये प्रदेशो की विजय न करें, और जो धर्म-द्वारा विजय हो, उसी को वास्तविक विजय समझें।

इसी विचार से अशोक ने सुदूर दक्षिण के चोल, पाण्ड्य, केरल, सातियपुत्र और ताम्रपर्णी के राज्यो मे तथा साम्राज्य की उत्तर-पश्चिमी सीमा पर स्थित अन्तियोक आदि द्वारा शासित यवन राज्यो मे शस्त्र-विजय की जगह धर्म-विजय का उपक्रम किया। मागध-साम्राज्य की जो सैनिक शक्ति उस समय थी, यदि अशोक चाहता तो उससे इन सब प्रदेशो को जीतकर अपने अधीन कर सकता था। पर कलिंग विजय के बाद जो अनुताप की भावना उसके हृदय मे उत्पन्न हुई थी, उससे उसने अपनी नीति को बदल दिया। इसीलिए उसने अपने महामात्यो (उच्च राजपदाधिकारियो) को यह आज्ञा दी—"शायद आप लोग यह जानना चाहेंगे, कि जो अत (सीमावर्ती राज्य) अभी तक जीते नही गये है उनके सबंध में राजा की क्या आज्ञा है। अन्तों के बारे में मेरी यही इच्छा है कि वे मुझसे डरें नही, और मुझपर विश्वास रखें। वे मुझसे सुख ही पायेंगे, दुःख नही। वे यह विश्वास रखें, कि जहाँ तक क्षमा का बर्ताव हो सकेगा, राजा हमसे क्षमा का बर्ताव ही करेगा।" (दूसरा कलिंग-लेख)।

यही भाव उन आटविक जातियो के प्रति प्रगट किया गया, जो उस समय के महाकांतारों में निवास करती थी, और जिन्हें शासन में रखने के लिये राजाओ को

सदा शस्त्र का प्रयोग करने की आवश्यकता रहती थी। शस्त्रों द्वारा विजय की नीति को छोड़कर अशोक ने धर्म द्वारा विजय को अपनाया था।

अशोक का धर्म से क्या अभिप्राय था? जिस धर्म से वह अपने साम्राज्य के सीमावर्ती प्रदेशों पर विजय प्राप्त करने का उद्योग कर रहा था, क्या वह कोई सम्प्रदाय-विशेष था या धर्म के सर्वसम्मत सिद्धान्त? अशोक के शिलालेखों से यह बात भली-भाँति स्पष्ट हो जाती है। वह लिखता है—"धर्म यह है कि दास और सेवकों के प्रति उचित व्यवहार किया जाय, माता-पिता की सेवा की जाय, मित्र-परिचित, रिश्तेदार, श्रमण और ब्राह्मणों को दान दिया जाय और प्राणियों की हिंसा न की जाय।"

एक अन्य लेख में अशोक ने 'धम्म' को इस प्रकार समझाया है—"माता और पिता की सेवा करनी चाहिए। (प्राणियों के) प्राणों का आदर दृढ़ता के साथ करना चाहिये, (अर्थात् जीवहिंसा नहीं करनी चाहिये)। सत्य बोलना चाहिये, धम्म के इन गुणों का प्रचार करना चाहिये, विद्यार्थी को आचार्य की सेवा करनी चाहिये और सबको अपने जाति-भाइयों के प्रति उचित बर्ताव करना चाहिये। यही प्राचीन (धर्म की) रीति है। इससे आयु बढ़ती है, और इसी के अनुसार मनुष्यों को चलना चाहिये"

इसी प्रकार अन्यत्र लिखा है—"माता-पिता की सेवा करना तथा मित्र, परिचित, स्वजातीय, ब्राह्मण और श्रमण को दान करना अच्छा है। थोडा व्यय करना और थोडा संचय करना अच्छा है।" फिर एक अन्य स्थान पर लिखा है—"धर्म करना अच्छा है। पर धर्म क्या है? धर्म यही है कि पाप से दूर रहे, बहुत-से अच्छे काम करे, दया, दान, सत्य और शौच (पवित्रता) का पालन करे।"

इन उद्धरणों से स्पष्ट है, कि अशोक का धम्म से अभिप्राय आचार के सर्वसम्मत नियमों से था। दया, दान, सत्य, मार्दव, गुरुजन तथा माता-पिता की सेवा, अहिंसा आदि गुण ही अशोक के धम्म थे। जीवन के प्रत्येक क्षेत्र मे अशोक अपने धम्म के सन्देश को ले जाने के लिए उत्सुक था। इसीलिए उसने बार-बार जनता के साधारण व्यवहारो और धम्म-व्यवहार मे तुलना की है। यहाँ कुछ ऐसी तुलनाओ को उद्धृत करना उपयोगी है। चतुर्दश शिलालेखो मे से नवाँ लेख इस प्रकार है—'लोग विपत्ति-काल में, पुत्र के विवाह मे, कन्या के विवाह मे, सन्तान की उत्पत्ति मे, परदेश जाने के समय और इसी तरह के अन्य अवसरों पर अनेक प्रकार के मंगलाचार करते हैं। ऐसे अवसरों पर स्त्रियाँ अनेक प्रकार के क्षुद्र और निरर्थक मगलाचार करती है। मंगलाचार अवश्य करना चाहिए, किन्तु इस प्रकार के मगलाचार प्रायः अल्प फल देने वाले होते हैं। पर धर्म का मंगलाचार महाफल देने वाला है। इसमे (धर्म के मंगलाचार मे) दास और सेवकों के प्रति उचित व्यवहार, गुरुओं का आदर, प्राणियो की अहिंसा और ब्राह्मणों व श्रमणो को दान—यह सब करना होता है। ये सब कार्य तथा इसी प्रकार के अन्य कार्य धर्म के मंगलाचार कहलाते हैं। इसलिए पिता, पुत्र, भाई, स्वामी, मित्र, साथी और कहाँ तक कहें, पडोसी तक को भी यह कहना चाहिए—यह मंगलाचार अच्छा है, इसे तब तक करना चाहिए, जब तक अभीष्ट कार्य की सिद्धि न हो। यह कैसे? (अर्थात् धर्म के मंगलाचार से अभीष्ट कार्य कैसे सिद्ध होता है?) इस संसार

के जो मंगलाचार हैं, वे सन्दिग्ध हैं, अर्थात् उनसे कभी कार्य सिद्ध हो भी सकता है, और नहीं भी हो सकता। सम्भव है, उनसे केवल ऐहिक फल ही मिलें। किन्तु धर्म के मंगलाचार काल से परिच्छिन्न नहीं हैं (अर्थात् सब काल में उनसे फल मिल सकता है)। यदि इस लोक में उनसे अभीष्ट फल की प्राप्ति न हो, तो परलोक में तो अनन्त पुण्य होता ही है। यदि इस लोक में अभीष्ट कार्य सिद्ध हो गया, तो दोनों लाभ हुए अर्थात् यहाँ भी कार्य सिद्ध हुआ, और परलोक में भी अनन्त पुण्य प्राप्त हुआ।'

इसी प्रकार एक अन्य लेख में साधारण दान और धर्म दान में तुलना की गयी है। अशोक की सम्मति में ऐसा कोई दान नहीं है, जैसा धर्म का दान है। इसलिए जिस व्यक्ति को दान की इच्छा हो, वह धर्म का दान करे। धर्म का दान क्या है ? धर्म का अनुष्ठान। अतः माता-पिता की सेवा की जाय, हिंसा न की जाय, दासों और सेवकों के प्रति उचित व्यवहार किया जाय। सच्चा दान करने वाला व्यक्ति धर्म को जाने और धर्म का अनुष्ठान करे। एक अन्य लेख में अशोक ने साधारण विजय और धर्म-विजय में भेद किया है। साधारणतया, राजा लोग शस्त्र द्वारा विजय करते हैं, पर धर्मविजय शस्त्रों द्वारा नहीं की जाती। इसके लिए तो दूसरों का उपकार करना होता है। धर्मविजय के लिए जनता का 'हित और सुख' सम्पादित करना होता है, बुरे मार्ग से हटकर सन्मार्ग पर प्रवृत्त होना होता है, और सब प्राणियों को निरापद, संयमी, शान्त और निर्भय बनाने का उद्योग करना होता है। यह विजय दया और त्याग से प्राप्त की जाती है।

इनके अतिरिक्त धर्म की पूर्णता के लिए कुछ अवगुणों से भी बचने की आवश्यकता है। जहाँ तक हो सके, 'आसीनव' कम करने चाहियें। पर ये आसीनव हैं क्या ? चण्डता, निष्ठुरता, क्रोध, अभिमान और ईर्ष्या। अशोक ने लिखा है— मनुष्य को यह समझना चाहिए कि चण्डता, निष्ठुरता, क्रोध, अभिमान और ईर्ष्या— ये सब पाप के कारण है; और उसे अपने मन मे सोचना चाहिए, कि इन सबके कारण मेरी निन्दा न हो। इस बात की ओर विशेष ध्यान देना चाहिए, कि इस मार्ग से मुझे इस लोक मे सुख मिलेगा और मेरा परलोक भी बनेगा।

ऊपर के उद्धरणो से यह स्पष्ट है, कि यद्यपि अशोक स्वयं बौद्ध-धर्म का अनुयायी था, पर उसने जिस धर्म-विजय के लिए उद्योग किया, वह किसी सम्प्रदाय-विशेष की विजय न होकर सब धर्मों के सर्वसम्मत सिद्धान्तों का प्रचार ही थी।

(३) धर्म-विजय के साधन

अशोक ने धर्म-विजय की स्थापना के लिए अपने और अपनी प्रजा के जीवन में सुधार करने का उद्योग किया। भारत में जो क्रूरता व अकारण हिंसा प्रचलित थी, उसे अशोक ने रोकने का प्रयत्न किया। "जहाँ किसी प्राणी की हत्या होती हो, ऐसा होम नहीं करना चाहिए, और न 'समाज' करना चाहिए। देवताओं का प्रिय प्रियदर्शी राजा समाज मे बहुत दोष देखता है। किन्तु एक प्रकार के समाज हैं, जिन्हें देवताओं का प्रिय प्रियदर्शी राजा अच्छा मानता है। पहले देवताओं के प्रिय प्रियदर्शी राजा के रसोईघर में शोरवे के लिए प्रतिदिन सैकड़ों-हजारों प्राणी मारे जाते थे। पर अब जब

यह धर्मलिपि लिखी गयी, केवल तीन प्राणी, दो मोर और एक मृग मारे जाते हैं, वह मृग भी सदा नहीं। भविष्य में ये तीन प्राणी भी न मारे जायेंगे।"

प्राचीन भारत में 'समाज' का अभिप्राय उन समारोहों से था, जिनमे रथों की दौड़ और पशुओं की लड़ाई होती थी, और उनपर बाजी लगायी जाती थी। इनमें पशुओं पर अकारण क्रूरता होती थी। ऐसे 'समाज' अशोक को पसंद नहीं थे। परन्तु कुछ ऐसे समाज भी थे, जिनमें गाना-बजाना और अन्य निर्दोष बातें होती थीं। इनमें विमान, हाथी, अग्निस्कंध आदि के दृश्य दिखाये जाते थे। अशोक को ऐसे समाजों से कोई एतराज नही था। अशोक ने उन प्राणियो का वध सर्वथा रोक दिया, जो न खाये जाते हैं, और न किसी अन्य उपयोग में ही आते है। ऐसे प्राणी निम्नलिखित थे—सुग्गा, मैंना, अरुण, चकोर, हस, नांदीमुख, गेलाड, जतुका (चमगीदड़), अंबाक-पीलिका, कछुआ, बिना हड्डी की मछली, जीवजीवक, गंगापुटक, सकुजमत्स्य, साही, पर्णशश, बारहसिगा, साड, ओकपिड, मृग, सफेद कबूतर और ग्राम के कबूतर। ये प्राणी केवल शौक के कारण मारे जाते थे। अशोक ने इस प्रकार की व्यर्थ हिंसा के विरुद्ध अपने शिलालेखो द्वारा आदेश जारी किया था। भोजन अथवा अन्य उपयोग के लिए जो पशुवध किया जाता है, उसे भी कम करने के लिए अशोक ने प्रयत्न किया था। वह लिखता है—'गाभिन या दूध पिलाती हुई बकरी, भेड़ी और सुअरी तथा इनके बच्चों को, जो छः महीने तक के हो, नही मारना चाहिए। मुर्गों को बधिया नहीं करना चाहिए। जीवित प्राणियो को भूसी के साथ नही जलाना चाहिए। अनर्थ करने या प्राणियों की हिंसा के लिए वन मे आग नही लगानी चाहिए। प्रति चार-चार महीनों की, तीन ऋतुओ की तीन पूर्णमासियो के दिन, पौष मास की पूर्णमासी के दिन, चतुर्दशी, अमावस्या और प्रतिपदा के दिन तथा प्रत्येक उपवास के दिन मछली नही मारनी चाहिए। इन सब दिनों मे हाथियो के वन मे तथा तालाबो मे दूसरे प्रकार के प्राणी भी नही मारे जाने चाहिएँ।'

पशुओं को कष्ट से बचाने के लिए अशोक ने यह भी प्रयत्न किया, कि उन्हे दागा न जाय। इसीलिए पशुओ को दागने मे अनेक बाधाएँ उपस्थित की गयी। 'प्रत्येक पक्ष की अष्टमी, चतुर्दशी, अमावस्या व पूर्णिमा तथा पुष्य और पुनर्वसु नक्षत्र के दिन और प्रत्येक चार-चार महीने के त्यौहारो के दिन बैल को नही दागना चाहिए। बकरा, भेडा, सुअर और इसी तरह के दूसरे प्राणियो को, जो दागे जा सकते है, नही दागना चाहिए। पुष्य और पुनर्वसु नक्षत्र के दिन और प्रत्येक चातुर्मास्य के शुक्लपक्ष मे घोड़े और बैल को नही दागना चाहिए।' इन सब आदेशों का प्रयोजन यही था, कि व्यर्थ हिसा न हो और लोगो की दया तथा अहिंसा की ओर प्रवृत्ति हो।

धर्मविजय के लिये ही अशोक ने धर्म-यात्राओ का आरभ किया। यात्रा तो पहले सम्राट् भी करते थे, पर उनका उद्देश्य आनद व मौज करना होता था। वे विहार-यात्राएँ करते थे, धर्म-यात्रा नही। अशोक ने धर्म-यात्राओ का प्रारभ किया। इनमें शिकार आदि द्वारा समय नष्ट न करके श्रमणो, ब्राह्मणो और वृद्धो का दर्शन, उन्हें दान देना, जनता के पास जाकर उसे उपदेश देना और धर्म-विषयक विचार करना होता था।

अपने राजकर्मचारियों को अशोक ने यह आदेश दिया, कि वे जनता के कल्याण के लिए निरन्तर प्रयत्नशील रहें, किसी को अकारण दंड न दें, और किसी के प्रति कठोरता का बर्ताव न करें। उसने लिखा है—'देवताओं के प्रिय की ओर से तोसली के महामात्य नगरव्यावहारिकों (न्यायाधीशों) को ऐसे कहना। आप लोग हजारों प्राणियों के ऊपर इसलिए नियुक्त किये गये हैं, कि जिससे हम अच्छे मनुष्यो के स्नेहपात्र बनें। आप लोग इस अभिप्राय को भली-भाँति नही समझते। एक पुरुष भी यदि बिना कारण (बिना अपराध) बाँधा जाता है, या परिक्लेश पाता है, तो उससे बहुत लोगों को दुःख पहुँचता है। ऐसी दशा में आपको मध्यमार्ग से (अत्यंत कठोरता और अत्यंत दया दोनो का त्याग कर) चलना चाहिए। किन्तु ईर्ष्या, निठल्लापन, निठुरता, जल्दबाजी, अनभ्यास, आलस्य और तंद्रा के रहते ऐसा नही हो सकता। इसलिए ऐसी चेष्टा करनी चाहिए, कि ये (दोष) न आएँ। इसका भी मूल उपाय यह है, कि सदा आलस्य से बचना और सचेष्ट रहना। इसलिए सदा काम करते रहो, चलो, उठो, आगे बढो। नगर-व्यावहारिक सदा अपने समय (प्रतिज्ञा) पर दृढ रहें। नगरजन का अकारण बंधन और अकारण परिक्लेश न हो। इस प्रयोजन के लिए मैं धर्मानुसार प्रति पाँचवें वर्ष अनुसधान के लिए निकलूँगा। उज्जयिनी से भी कुमार हर तीसरे वर्ष ऐसे ही वर्ग को निकालेगा, और तक्षशिला से भी।' इस प्रकार के आदेशो का उद्देश्य यही था, कि साम्राज्य का शासन निर्दोष हो, राजकर्मचारी जनता के कल्याण मे तत्पर रहें और किसी पर अत्याचार न होने पाए।

धर्म-विजय के मार्ग को निष्कण्टक करने के लिए यह भी आवश्यक था, कि विविध सम्प्रदायो में मेल-जोल पैदा किया जाय। अशोक ने लिखा है—'देवताओ के प्रिय प्रियदर्शी राजा विविध दान व पूजा से गृहस्थ व संन्यासी, सब सम्प्रदाय वालो का सत्कार करते है। किन्तु देवताओं के प्रिय दान या पूजा की इतनी परवाह नही करते, जितनी इस बात की कि सब सम्प्रदायो के सार (तत्त्व) की वृद्धि हो। सम्प्रदायो के सार की वृद्धि कई प्रकार से होती है, पर उसकी जड वाणी का संयम है, अर्थात् लोग केवल अपने ही संप्रदाय का आदर और बिना कारण दूसरे सम्प्रदाय की निंदा न करें। केवल विशेष-विशेष कारणो के होने पर ही निंदा होनी चाहिए, क्योंकि किसी न किसी कारण से सब सम्प्रदायो का आदर करना लोगो का कर्तव्य है। ऐसा करने से अपने सम्प्रदाय की उन्नति और दूसरे सम्प्रदायों का उपकार होता है। इसके विपरीत जो करता है, वह अपने सम्प्रदाय को भी क्षति पहुँचाता है, और दूसरे सम्प्रदायो का भी अपकार करता है। क्योंकि जो कोई अपने सम्प्रदाय की भक्ति में आकर, इस विचार से कि मेरे सम्प्रदाय का गौरव बढ़े, अपने सम्प्रदाय की प्रशंसा करता है और दूसरे सम्प्रदाय की निंदा करता है, वह वास्तव मे अपने सम्प्रदाय को पूरी हानि पहुँचाता है। समवाय (मेल-जोल) अच्छा है, अर्थात् लोग एक-दूसरे के धर्म को ध्यान देकर सुनें और उसकी सेवा करें। क्योकि देवताओ के प्रिय की यह इच्छा है, कि सब सम्प्रदाय वाले बहुत विद्वान् और कल्याण का कार्य करने वाले हों, इसलिए जहाँ-जहाँ जो सम्प्रदायवाले हों, उनमे कहना चाहिए कि देवताओं के प्रिय दान या पूजा को इतना बड़ा नही मानते, जितना इस बात को कि सब सम्प्रदायो के सार (तत्त्व) की वृद्धि

हो।' जनता को यह बात समझाने के लिए कि वे केवल अपने सम्प्रदाय का आदर न करें, अपितु अन्य मतमतान्तरों को भी सम्मान की दृष्टि से देखें, सब मतवाले वाणी के संयम से काम लें, और परस्पर मेल-जोल से रहें, अशोक ने धर्ममहामात्रों की नियुक्ति की। उनके साथ ही स्त्री-महामात्र, व्रजभूमिक तथा अन्य राजकर्मचारीगण भी यही बात लोगों को समझाने के लिए नियत किये गये।

इन धर्म-महामात्रों की नियुक्ति के प्रयोजन को एक अन्य लेख में भली-भाँति स्पष्ट किया गया है—'बीते जमानों में धर्ममहामात्र कभी नियुक्त नहीं हुए। इसलिए मैंने राज्याभिषेक के तेरहवें वर्ष में धर्म-महामात्र नियुक्त किये। वे सब पाषण्डों (सम्प्रदायों) के बीच नियत है। वे धर्म के अधिष्ठान के लिए, धर्म की वृद्धि के लिए तथा धर्मयुक्त लोगों के सुख के लिए है।...वे भृत्यों, ब्राह्मणो, धनी गृहपतियों, अनाथों एवं बूढ़ों के बीच हित-सुख के लिए, धर्मयुक्त प्रजा की अपरिबाधा (बाधा से बचाने) के लिए संलग्न हैं। बधन और वध को रोकने के लिए, बाधा से बचाने के लिए, कैद से छुड़ाने के लिए, जो बहुत संतानवाले हैं व बूढे हैं, उनके बीच वे कार्यरत हैं। वे यहाँ पाटलिपुत्र में, बाहर के नगरो मे, सब अतःपुरो मे, (मेरे) भाइयों के, बहनों के और अन्य जातियो के बीच सब जगह कार्यरत है। मेरे सारे विजित (साम्राज्य) मे, सर्वत्र ये धर्ममहामात्र नियुक्त हैं।'

इस प्रकार स्पष्ट है कि धर्ममहामात्रो तथा उनके अधीनस्थ कर्मचारियो का काम यह था, कि वे सब सम्प्रदायो मे मेल कायम कराएं, जनता के हित और सुख के लिए यत्न करें, और धर्मानुकूल आचरण करने वाली प्रजा को सब बाधाओ से बचाए रखे। शासन मे किसी पर कठोरता न हो, कोई व्यर्थ कैद न किया जाए, और किसी की व्यर्थ हत्या न हो; जो गरीब लोग है, या जिनपर गृहस्थी की अधिक जिम्मेदारियाँ है, ऐसे लोगो के साथ विशेष रियायत का बर्ताव हो; धर्ममहामात्र इन्ही बातों के लिए सब नगरो मे, सब सम्प्रदायों मे व अन्यत्र नियुक्त किए गए थे।

ये धर्ममहामात्र केवल मौर्य-साम्राज्य मे ही नही, अपितु सीमांतवर्ती स्वतन्त्र राज्यो मे भी नियत किए गए थे। अपने 'विजित' मे भली-भाँति धर्मस्थापना हो जाने के बाद अन्य देशों मे भी धर्म द्वारा विजय का प्रयास शुरू किया गया। अशोक ने अपने शिलालेखो मे इन सब राज्यो के नाम दिए है। सुदूर दक्षिण मे चोल, पाड्य, केरल, सातियपुत्र और ताम्रपर्णी तथा पश्चिम मे अंतियोक का यवन-राज्य तथा उससे भी परे के तुरुमय, मक, अलिकसुन्दर और अतिकिनि द्वारा शासित राज्य, सर्वत्र अशोक ने धर्ममहामात्रों की नियुक्ति की। ये धर्ममहामात्र अपने धर्म-विजय के उद्योग मे केवल विविध सम्प्रदायो मे मेल-जोल का ही यत्न नही करते थे, अपितु उनके सम्मुख कुछ ठोस काम भी था। "देवताओं का प्रिय प्रियदर्शी राजा यूं कहता है—मैंने सब जगह मार्गों पर बरगद के वृक्ष लगवा दिए हैं, ताकि पशुओ और मनुष्यो को छाया मिले। आमो की वाटिकाएं लगवा दी है। आठ-आठ कोस पर मैंने कुएँ खुदवाए है, और सरायें बनवायी हैं। जहाँ-तहाँ पशुओं और मनुष्यो के आराम के लिए बहुत-से प्याऊ बैठा दिए हैं। किन्तु ये सब आराम बहुत थोड़े हैं। पहले राजाओं ने और मैंने विविध

सुखों से लोगों को सुखी किया है। पर मैंने यह सब इसलिए किया है, कि लोग धर्म का आचरण करें।

"देवताओं के प्रिय प्रियदर्शी राजा के विजित (साम्राज्य) में सब स्थानों पर और वैसे ही जो सीमांतवर्ती राजा हैं, वहाँ, जैसे चोल, पांड्य, सातियपुत्र, केरल-पुत्र और ताम्रपर्णी में और अंतियोक नामक यवन राजा तथा जो उसके (अंतियोक के) पड़ोसी राजा हैं, उन सब देशों में देवताओं के प्रिय प्रियदर्शी राजा ने दो प्रकार की चिकित्सा—एक मनुष्यों की और दूसरी पशुओं की चिकित्सा—का प्रबन्ध किया है, और जहाँ पर मनुष्यों और पशुओं की चिकित्सा के लिए उपयुक्त औषधियाँ नही प्राप्त होती थी, वहाँ लायी और लगाई गयी हैं। इसी तरह से मूल और फल भी जहाँ नहीं थे, वहाँ लाए और लगाए गए हैं। मार्गों मे पशुओ और मनुष्यों के आराम के लिए वृक्ष लगाए और कुएँ खुदवाए गए हैं।

"यह धर्म-विजय देवताओ के प्रिय ने यहां (अपने साम्राज्य मे) तथा छः-सौ योजन परे पडोसी राज्यों मे प्राप्त की है। जहाँ अतियोक नामक यवन-राजा राज्य करता है, और उस अंतियोक से परे तुरमय, अंतिकिनि, मक और अलिकसुन्दर नाम के राजा राज्य करते है, और उन्होंने अपने राज्य के नीचे (दक्षिण मे) चोल, पाड्य, तथा ताम्रपर्णी में भी धर्म-विजय प्राप्त की है। सब जगह लोग देवताओ के प्रिय के धर्मानुशासन का अनुसरण करते हैं, और अनुसरण करेंगे। जहाँ देवताओ के प्रिय के दूत नही जाते, वहाँ भी लोग देवताओ के प्रिय का धर्माचरण, धर्म-विधान और धर्मानुशासन सुनकर धर्म के अनुसार आचरण करते है, और भविष्य में करेंगे।"

विदेशो मे धर्मविजय के लिए जो महामात्र नियत किए गए थे, वे अंतमहामात्र कहाते थे। इनका कार्य उन देशो में सडकें बनवाना, सडकों पर वृक्ष लगवाना, कुएँ खुदवाना, सराय बनवाना, प्याऊ बिठाना, पशुओ और मनुष्यो की चिकित्सा के लिए चिकित्सालय खुलवाना और इसी प्रकार के अन्य उपायो से जनता का हित और कल्याण सम्पादित करना था। जहाँ ये अंतमहामात्र इन उपायो से लोगो का हित और सुख करते, वहाँ साथ ही अशोक का धर्मसन्देश भी सुनाते। यह धर्मसन्देश यह था—सब सम्प्रदायों मे मेल-मिलाप, सब धर्माचार्यों—ब्राह्मणों और श्रमणों—का आदर, सेवक, दास आदि मे उचित व्यवहार, व्यर्थ-हिंसा का त्याग, माता-पिता व गुरुजनो की सेवा और प्राणीमात्र की हितसाधना। अशोक की ओर से सुदूरवर्ती विदेशी राज्यो मे धर्म द्वारा विजय करने के लिए जो अंतमहामात्र अपने कर्मचारियों की फौज के साथ नियुक्त हुए, वे उन देशों मे चिकित्सालय खोलकर, मुफ्त दवा देकर, धर्मशालाएँ और कुएँ बनवाकर, सड़कें, प्याऊ और वाटिकाएँ तैयार कराके जनता की सेवा करते थे। उस समय के राजा लोग प्रायः पारस्परिक युद्धों में व्यस्त रहते थे। जनता के हित और सुख पर वे कोई ध्यान नही देते थे। ऐसी दशा में अशोक के इन लोकोपकारी कार्यों का यह परिणाम हुआ, कि लोग अपने इन महामात्रो को बडी श्रद्धा की दृष्टि से देखने लगे। जिस धर्म के अनुयायी इस प्रकार परोपकार के लिए अपने तन, मन और धन को निछावर कर सकते हैं, उसके लिए लोगो मे स्वाभाविक रूप से श्रद्धा का भाव उत्पन्न हुआ। साधारण जनता के लिए वही राजा है, वही स्वामी है, जो उनके हित-

अहित और सुख-दुःख का ध्यान रखे, और उनके आराम के लिए चिकित्सालय, कूप, धर्मशाला आदि का प्रबन्ध करे। इसी का यह परिणाम हुआ, कि इन सब विदेशी राज्यों में खून की एक भी बूंद गिराए बिना केवल परोपकार और प्रेम द्वारा अशोक ने अपना धर्म-साम्राज्य स्थापित कर लिया।

अशोक की इस धर्म-विजय की नीति के कारण ही अन्य देशों में बौद्ध-धर्म के प्रचार के लिए मार्ग प्रशस्त हो गया। जिन देशो मे अशोक के अंतमहामात्र लोक-कल्याण के कार्यों मे लगे थे, वहां जब बौद्ध-प्रचारक गए, तो उन्हें अपने कार्य में बहुत सुगमता हुई।

(३) अशोक और बौद्ध-धर्म

सम्राट् अशोक पहले बौद्ध-धर्म का अनुयायी नही था। दिव्यावदान की एक कथा के अनुसार जब अशोक ने राजगद्दी प्राप्त की, तो वह बहुत क्रूर और अत्याचारी था। पर बाद मे उसके जीवन मे परिवर्तन आया, और उसका झुकाव बौद्ध-धर्म की ओर होने लगा। क्रूरता और अत्याचारमय जीवन से ऊब कर उसने बौद्ध-भिक्षुओ के शान्तिमय उपदेशों मे सन्तोष अनुभव करना प्रारम्भ कर दिया था। कलिंग-विजय में उसे जो अनुभव हुए, उन्होंने उसकी वृत्ति को बिलकुल बदल दिया। अशोक ने बौद्ध-धर्म की दीक्षा सम्भवतः राजगद्दी पर बैठने के आठ वर्ष बाद ली थी।

बौद्ध-धर्म को ग्रहण करने के बाद अशोक ने सब बौद्ध-तीर्थों की यात्रा की। अमात्यों के परामर्श के अनुसार इस यात्रा मे उपगुप्त नाम के एक प्रसिद्ध आचार्य की सहायता ली गयी। उपगुप्त मथुरा के समीप नतभक्तिकारण्य मे उरुमुण्ड पर्वत पर निवास करते थे। राजा ने इन आचार्यों की विद्वत्ता और धर्मनिष्ठा के विषय मे सुना, तो मन्त्रियों के परामर्श के अनुसार उपगुप्त को पाटलिपुत्र आने के लिए निमन्त्रित किया। अशोक के निमन्त्रण पर वे मथुरा से पाटलिपुत्र आए, और उनके मार्गप्रदर्शन मे अशोक ने तीर्थयात्रा प्रारम्भ की। पाटलिपुत्र मे वे पहले चम्पारन जिले के उन स्थानों पर गए, जहाँ अशोक के पाँच विशाल प्रस्तरस्तम्भ प्राप्त हुए है। वहाँ से हिमालय की तराई के प्रदेश मे से होते हुए वे पश्चिम की ओर मुड गए और लुम्बिनीवन जा पहुँचे। यही पर भगवान् बुद्ध का जन्म हुआ था। इस जगह पहुँचकर उपगुप्त ने अपना दायाँ हाथ फैलाकर कहा—'महाराज, इसी प्रदेश मे भगवान् का जन्म हुआ था।' ये शब्द अब तक इस स्थान पर स्थित एक प्रस्तरस्तम्भ पर उत्कीर्ण है। इस स्तम्भ पर जो लेख है, वह भी बडा महत्त्वपूर्ण है—"देवताओ के प्रिय प्रियदर्शी राजा ने राज्याभिषेक के बीस वर्ष बाद स्वयं आकर इस स्थान की पूजा की। यहाँ शाक्यमुनि बुद्ध का जन्म हुआ था। इसलिए यहाँ पत्थर का एक विशाल स्तम्भ और एक बृहत् दीवार खड़ी की गयी। यहाँ भगवान् का जन्म हुआ था, इसलिए लुम्बिनी ग्राम का धार्मिक कर उठा दिया गया और (भूमि-कर के रूप मे केवल) आठवाँ भाग लेना निश्चित किया गया।" लुम्बिनीवन मे अशोक ने बहुत दान-पुण्य किया। फिर वह कपिलवस्तु गया, वहाँ उपगुप्तने फिर अपना दायाँ हाथ फैलाकर कहा—'महाराज, इस स्थान पर बोधिसत्व ने राजा शुद्धोदन के घर में अपना बाल्यकाल व्यतीत किया था।'

दिव्यावदान के अनुसार कपिलवस्तु के बाद राजा अशोक बोधिवृक्ष के दर्शन के लिए गए। यहाँ भगवान् को बोध हुआ था। अशोक ने यहाँ आकर एक लाख सुवर्ण-मुद्राएँ दान की। एक चैत्य भी इस जगह पर बनवाया गया। बोधिवृक्ष के बाद स्थविर उपगुप्त अशोक को सारनाथ ले गया, जहाँ भगवान् ने पहले-पहल धर्मचक्र का प्रवर्तन किया था। सारनाथ के बाद अशोक कुशीनगर गया, जहाँ भगवान् ने निर्वाणपद प्राप्त किया था। उपगुप्त अशोक को श्रावस्ती और जेतवन भी ले गए। इन स्थानों पर मौद्गल्यायन, महाकश्यप आदि प्राचीन बौद्ध-आचार्यों के स्थानो के भी दर्शन किए गए, और वहाँ भी बहुत-कुछ दान-पुण्य हुआ। बुद्ध के प्रसिद्ध शिष्य आनन्द के स्तूप पर अशोक ने साठ लाख सुवर्ण-मुद्राएँ अर्पित की।

बौद्ध होकर अशोक ने कुछ ऐसे आदेश भी दिए, जो केवल बौद्ध लोगों के ही काम के थे। एक शिलालेख में उसने लिखवाया है—"मगध के प्रियदर्शी राजा संघ को अभिवादन (पूर्वक सम्बोधन करके) कहते है, कि वे विघ्नहीन और सुख से रहें। हे भदन्तगण! आपको मालूम है, कि बुद्ध, धम्म और सघ मे हमारी कितनी भक्ति और आस्था है। हे भदन्तगण! जो कुछ भगवान् बुद्ध ने कहा है, सो सब अच्छा कहा है। पर भदन्तगण! मैं अपनी ओर से (कुछ ऐसे ग्रन्थो के नाम लिखता हूँ, जिन्हें मैं अवश्य पढने योग्य समझता हूँ)। हे भदन्तगण! (इस विचार से कि) इस प्रकार सद्धर्म चिरस्थायी रहेगा, मैं इन धर्मग्रन्थो (के नाम लिखता हूँ); *यथा*—विनयसमुकसे (विनयसमुत्कर्षः), अलियवसानि (आर्यवशः), अनागतभयानि, मुनिगाथा, मोनेयसूते (मोनेयसूत्रम्), उपतिसपसिने (उपतिष्यप्रश्नाः), राहुलवाद, जिसे भगवान् बुद्ध ने झूठ बोलने के बारे मे कहा है। इन धर्मग्रन्थो को, हे भदन्तगण! मैं चाहता हूँ, कि बहुत-से भिक्षुक और भिक्षुणी बार-बार श्रवण करें और धारण करें और इसी प्रकार उपासक और उपासिका भी (सुने और धारण करें)। हे भदन्तगण! मैं इसलिए यह लेख लिखवाता हूँ, कि लोग मेरा अभिप्राय जानें।'

यह शिलालेख बडे महत्त्व का है। इससे यह ज्ञात होता है, कि अशोक को किन बौद्ध-ग्रन्थो से विशेष प्रेम था। इन ग्रन्थो मे बौद्ध-धर्म के विधि-विधानो और पारलौकिक विषयो का वर्णन न होकर सदाचार और जीवन को ऊँचा बनाने के सामान्य नियमो का उल्लेख है। अशोक की दृष्टि यही थी, कि बौद्ध लोग (भिक्षु और उपासक) भी धर्म के तत्त्व (सार) पर विशेष ध्यान दें।

बौद्ध-धर्म के सम्बन्ध में अशोक का एक अन्य कार्य बहुत महत्त्वपूर्ण है। बौद्ध-संघ मे फूट न पड़े, इसके लिए भी उसने उद्योग किया। इस विषय मे अशोक के तीन लेख उपलब्ध हुए है—"देवताओ के प्रिय प्रियदर्शी राजा ऐसा कहते हैं, कि पाटलिपुत्र में तथा प्रान्तों में कोई सघ मे फूट न डाले। जो कोई, चाहे वह भिक्षु हो या भिक्षुणी-संघ में फूट डालेगा, उसे सफेद कपडे पहनाकर उस स्थान पर रख दिया जाएगा, जो भिक्षुओं या भिक्षुणियों के लिए उपयुक्त नही है (अर्थात् उसे भिक्षुसंघ से बहिष्कृत कर दिया जाएगा), हमारी यह आज्ञा भिक्षुसंघ और भिक्षुणीसंघ को बता दी जाए।"

"देवताओ के प्रिय प्रियदर्शी राजा कौशाम्बी के महामात्रो को इस प्रकार आज्ञा देते हैं—संघ के निमय का उल्लंघन न किया जाय। जो कोई सघ मे फूट

डालेगा, उसे श्वेत वस्त्र पहनाकर उस स्थान से हटा दिया जाएगा, यहाँ भिक्षु या भिक्षुणियाँ रहती हैं।"

(४) बौद्ध-धर्म का विकास

गया मे बोधिवृक्ष के नीचे सिद्धार्थ ने जो बोध (ज्ञान) प्राप्त किया था, उसका उपदेश उन्होंने पहले-पहल सारनाथ मे किया। इस उपदेश में बुद्ध ने अपने शिष्यों से कहा था—'भिक्षुग्रो ! बहुत जनों के हित के लिये, बहुत जनों के सुख के लिये, लोक पर दया करने के लिये, देवों और मनुष्यो के प्रयोजन-हित-सुख के लिए विचरण करो। एक साथ दो मत जाओ।' इस उपदेश के बाद बुद्ध के अनेक शिष्य भारत के विविध प्रदेशों मे धर्म के प्रचार के लिए गए। बुद्ध स्वयं प्रधानतया भारत के मध्य-देश में ही धर्म प्रचार के लिए परिभ्रमण करते रहे। उनका अपना विचरण-क्षेत्र उत्तर में हिमालय से लगाकर दक्षिण मे विन्ध्याचल तक और पूर्व मे लगाकर कोशी से पश्चिम में कुरुक्षेत्र तक सीमित रहा। पर उनके अनेक शिष्य उनके जीवन-काल में भी दूर-दूर के प्रदेशों में गये।

बौद्धों की प्रथम महासभा—बुद्ध के उपदेशों का ठीक-ठीक निर्धारण करने के लिये उनके प्रधान शिष्यो की एक सभा उनके निर्वाण के दो मास बाद राजगृह में हुई थी। इसे पालि-साहित्य मे प्रथम संगीति कहा गया है। इस सभा मे बुद्ध के प्रधान शिष्यो ने यह निर्णय किया, कि बुद्ध की वास्तविक शिक्षाएँ क्या थीं। बुद्ध ने समय-समय पर जो उपदेश दिये थे, जो प्रवचन किये थे, उन सबका इस सभा मे पाठ किया गया। बुद्ध के उपदेशो और मन्तव्यों को शुद्ध रूप मे संकलित करने के लिए इस सभा ने बहुत महत्त्वपूर्ण कार्य किया। बुद्ध के शिष्यो में उपालि को विनय या संघ के नियमों के विषय में प्रमाण माना गया; और आनन्द को धम्म (धर्म) के विषय मे। उन्होंने जिस रूप मे बुद्ध की शिक्षाओं का प्रवचन किया, अन्य भिक्षुओ ने उसे ही प्रमाण-रूप से स्वीकृत कर लिया। इस महासभा मे कुल मिलाकर पांच सौ भिक्षु एकत्र हुए थे, और उनकी यह संगीति सात मास के लगभग तक चलती रही थी।

बौद्ध-सम्प्रदायों का प्रारम्भ—महात्मा बुद्ध के धर्म का प्रचार जिस प्रकार भारत के विविध जनपदों और विभिन्न जातियो मे हो रहा था, उसमे यह स्वाभाविक था कि धर्म के मन्तव्यों और आचरण के सम्बन्ध मे मतभेद उत्पन्न होने लगें। किसी नये धर्म को स्वीकृत कर लेने मात्र से मनुष्यो के जीवन व विश्वासों मे आमूल-चूल परिवर्तन नही हो जाता। उनके अपने विश्वास व परम्परागत अभ्यास नये धर्म पर भी प्रभाव डालते हैं, और विभिन्न देशो मे एक ही धर्म विभिन्न रूप धारण कर लेता है। यही कारण है, कि बुद्ध की शिक्षाओ को अपनाने वाले विभिन्न प्रकृति के मनुष्यों ने उनको विभिन्न रूपो में देखा, और इससे बौद्ध-धर्म के विविध सम्प्रदायों का प्रादुर्भाव हुआ। बुद्ध के निर्वाण के सौ वर्ष बाद उनके धर्म के दो सम्प्रदाय (निकाय) स्पष्ट रूप मे विकसित हो गये थे। इन निकायों के नाम थे, स्थविरवादी और महासांघिक। इन सम्प्रदायों में महासांघिक बुद्ध को अलौकिक व अमानव रूप देने में तत्पर थे, और स्थविरवादी बुद्ध की मानवता पर विश्वास रखते थे। इस सम्प्रदायभेद का मूल आधार

यही था। आगे चलकर महासांघिक सम्प्रदाय ही महायान के रूप मे परिवर्तित हुआ।

बौद्धों की दूसरी महासभा—बुद्ध के निर्वाण के सौ वर्ष बाद वैशाली नगरी में बौद्धों की दूसरी संगीति (महासभा) हुई। इसका आयोजन स्थविर यश नाम के आचार्य द्वारा किया गया था। इसका मुख्य प्रयोजन यही था, कि बौद्धों में जो अनेक सम्प्रदाय विकसित हो रहे थे, उनपर विचार कर सत्य सिद्धान्त का प्रतिपादन किया जाय। पर इस उद्देश्य में वैशाली की संगीति को सफलता नहीं हुई। बौद्ध-भिक्षुओं के मतभेद और विवाद निरन्तर बढ़ते गये, और बाद मे उनमे अनेक नये सम्प्रदायों का विकास हुआ।

अठारह सम्प्रदाय—वैशाली की महासभा के बाद सम्राट् अशोक के समय तक लगभग १२० वर्षों में बौद्ध-धर्म अठारह सम्प्रदायों (निकायों) मे विभक्त हो गया था। इन निकायों के नाम निम्नलिखित थे—स्थविरवाद, हैमवत, वृजपुत्रक, धर्मोत्तरीय, भद्रयाणीय, सम्मितीय, षाण्णागरिक, सर्वास्तिवादी, महीशासक, धर्मगुप्त, काश्यपीय, सौत्रन्तिक, महासाघिक, प्रज्ञप्तिवादी, चैतीय, लोकोत्तरवादी, एकव्यावहारिक और गोकुलिक। इनमे से पहले बारह निकाय स्थविरवाद से उद्भूत हुए थे, और पिछले छ. महासांघिक सम्प्रदाय से। इनमे से कतिपय सम्प्रदायो के नाम विविध प्रदेशों के साथ सम्बन्ध रखते हैं। इससे यह सूचित होता है, कि उनका विकास विशेष रूप से उन प्रदेशो मे ही हुआ था।

बौद्धों की तीसरी महासभा—बौद्ध-धर्म की तीसरी संगीति सम्राट् अशोक मौर्य के समय मे पाटलिपुत्र के 'अशोकाराम' मे हुई। इसका अध्यक्ष अशोक का गुरु आचार्य मोग्गलिपुत्त तिस्स (मौद्गलिपुत्र तिष्य) था। कुछ ग्रन्थों मे इसी को उपगुप्त भी लिखा गया है। इस महासभा द्वारा भी यह प्रयत्न किया गया, कि विविध बौद्ध-सम्प्रदायो के मतभेदो को दूर कर सत्य सिद्धान्तों का निर्णय किया जाय। इस कार्य के लिए आचार्य तिष्य ने एक हजार ऐसे भिक्षुओं को चुन लिया, जो परम विद्वान् और अनुभवी थे। इन भिक्षुओ की सभा आचार्य तिष्य की अध्यक्षता मे नौ मास तक होती रही। धर्मसम्बन्धी सब विवादग्रस्त विषयों पर इसमें विचार हुआ। अन्त में मौद्गलिपुत्र तिष्य का रचा हुआ 'कथावत्थु' नाम का ग्रन्थ प्रमाणस्वरूप से सबने स्वीकार किया। इस प्रकार अशोक के राज्याभिषेक के सत्रह साल बाद ७२ वर्ष के वृद्ध आचार्य मौद्गलिपुत्र तिष्य (उपगुप्त) ने बौद्ध-धर्म की तृतीय महासभा की समाप्ति की। साथ ही पृथिवी कांपकर कह उठी, 'साधु'।

(५) विदेशों में धर्म-प्रचार का आयोजन

बौद्ध-धर्म के आन्तरिक झगड़ों के समाप्त हो जाने और संघ में एकता स्थापित हो जाने पर आचार्य तिष्य ने देश-विदेश मे बौद्ध-धर्म का प्रचार करने के लिए एक महान् योजना तैयार की। इसके अनुसार यह निश्चय हुआ, कि भिक्षुओं की मण्डलियाँ विविध देशों में प्रचार के लिए भेजी जायें। लंका की प्राचीन अनुश्रुति के अनुसार इन मण्डलियों के नेताओं और उन्हें सुपुर्द किये गये देशों की सूची इस प्रकार है—

देश	प्रधान भिक्षु
काश्मीर और गान्धार	मज्झन्तिक (मध्यान्तिक)
महिश मण्डल	महादेव
वनवास	थेर रक्खित (रक्षित)
अपरान्तक	योनक धम्म-रक्खित
महाराष्ट्र	महा धम्मरक्खित (महाधर्मरक्षित)
योन लोक (यवन देश)	महारक्खित (महारक्षित)
हिमवंत	थेर मज्झिम और कस्सप
सुवर्ण भूमि	थेर सोण और उत्तर
लंका	महामहिन्द्र (महेन्द्र)

आचार्य तिष्य की योजना के अनुसार ये भिक्षु विविध देशों में गये, और वहाँ जाकर उन्होंने बौद्ध-धर्म का प्रचार प्रारम्भ किया। भारत के पुराने राजा चातुर्मास्य के बाद शरद् ऋतु के प्रारम्भ मे विजय-यात्रा के लिए जाया करते थे। इन भिक्षुओं ने भी शरद् के शुरू मे अपना प्रचार-कार्य प्रारम्भ किया।

बौद्ध-अनुश्रुति मे प्रचारक-मण्डलो के जिन नेताओ के नाम दिये गये है, उनके अस्तित्व की सूचना कुछ प्राचीन उत्कीर्ण लेखों द्वारा भी प्राप्त होती है। साञ्ची के दूसरे स्तूप के भीतर मे पाये गए पत्थर के सन्दूक मे एक धातुमंजूषा (वह संदूकडी, जिसमे अस्थि व फूल रखे गए हो) ऐसी मिली है, जिस पर 'मोग्गलिपुत्त' उत्कीर्ण है। एक दूसरी धातुमंजूषा के तले पर तथा ढक्कन के ऊपर और अन्दर हारितीपुत्त, मज्झिम तथा सबहिमवतचरिय (सम्पूर्ण हिमालय के आचार्य) कासपगोत के नाम खुदे हैं। इन मजूषाओ मे इन्ही प्रचारको के धातु (फूल) रखे गए थे, और वह स्तूप इन्ही के ऊपर बनाया गया था। साञ्ची से पाँच मील की दूरी पर एक अन्य स्तूप मे भी धातुमंजूषाएं पायी गई है, जिसमे से एक पर कासपगोत का और दूसरी पर हिमालय के दुन्दुभिसर के दामाद गोतीपुत्त का नाम उत्कीर्ण है। कासपगोत और दुन्दुभिसर थेर मज्झिम के साथी थे, जो हिमालय के प्रदेश मे बौद्ध-धर्म का प्रचार करने के लिए गये थे। स्तूपो में प्राप्त ये धातुमजूषाए इस बात का ठोस प्रमाण हैं, कि बौद्ध-अनुश्रुति की प्रचारक-मण्डलियो की बात यथार्थ सत्य है। बौद्ध-धर्म का विदेशो मे प्रसार करने के कारण इन भिक्षुओ का भी बड़ा आदर हुआ और इनकी धातुओ पर भी वैसे ही स्तूप खड़े किये गए, जैसे कि भगवान् बुद्ध के अवशेषो पर थे। उस युग मे सर्वसाधारण लोग इन महाप्रतापी व साहसी भिक्षु-प्रचारको को कितने आदर की दृष्टि से देखते थे, इसका इससे अच्छा प्रमाण नही मिल सकता। अशोक के समय मे पाटलिपुत्र मे हुई इस महा-सभा और आचार्य मोग्गलिपुत्त तिष्य (उपगुप्त) के पुरुषार्थ का ही यह परिणाम हुआ, कि बौद्ध-धर्म भारत से बहुत दूर-दूर तक के देशों मे फैल गया।

लंका में प्रचार—जो प्रचारकमंडल लंका मे कार्य करने के लिए गया, उसका नेता महेन्द्र था। महेन्द्र अशोक का पुत्र था, और उसकी माता असंधिमित्रा विदिशा के एक श्रेष्ठी की कन्या थी। राजा बिंदुसार के शासनकाल मे जब अशोक उज्जयिनी का शासक था, उसका विवाह असंधिमित्रा के साथ हुआ था। इस विवाह से अशोक की

दो संतानें हुई, महेन्द्र और संघमित्रा। मोद्गलिपुत्र तिष्य ने इन दोनों को भिक्षुव्रत में दीक्षित किया। भिक्षु बनते समय महेन्द्र की आयु बीस साल की थी।

इस समय में लंका का राजा 'देवताओं का प्रिय' तिष्य था। उसकी अशोक से बड़ी मित्रता थी। राजगद्दी पर बैठने पर तिष्य ने अपना एक दूतमण्डल अशोक के पास भेजा, जो बहुत से मणि, रत्न आदि मागध सम्राट् की सेवा मे भेंट करने के लिये लाया। इस दूतमंडल का नेता राजा तिष्य का भानजा महाअरिट्ठ था। लंका का दूतमण्डल सात दिन मे जहाज द्वारा ताम्रलिप्ति के बंदरगाह पर पहुंचा और उसके बाद सात दिन में पाटलिपुत्र। अशोक ने इस दूतमण्डल का राजकीय रीति से बड़े समारोह के साथ स्वागत किया। पाँच मास तक लंका का दूतमण्डल पाटलिपुत्र में रहा। दूत-मंडल को विदा करते हुए अशोक ने तिष्य के नाम यह संदेश भेजा—"मैं बुद्ध की शरण में चला गया हूँ। मैं धम्म की शरण में चला गया हूँ। मैं संघ की शरण मे चला गया हूँ। मैंने शाक्य-मुनि के धर्म का उपासक होने का व्रत ले लिया है। तुम भी इसी बुद्ध, धर्म और संघरूपी त्रिरत्न का आश्रय लेने के लिए अपने मन को तैयार करो। 'जिन' के उच्चतम धर्म का आश्रय लो। बुद्ध की शरण मे आने का निश्चय करो।"

इधर तो अशोक का यह संदेश लेकर महाअरिट्ठ लका वापस जा रहा था, उधर भिक्षु महेन्द्र लका मे धर्मप्रचार के लिए अपने साथियो के साथ जाने को कटिबद्ध था।

लंका पहुँचकर महेन्द्र ने अनुराधपुर से आठ मील पूर्व जिस स्थान को केन्द्र बनाकर प्रचार कार्य प्रारम्भ किया, वह अब भी मंहिंदतले कहलाता है। अशोक के संदेश के कारण देवताओ का प्रिय राजा तिष्य पहले ही बौद्ध-धर्म के प्रति अनुराग रखता था। महेन्द्र का उपदेश सुनकर अपने चालीस हजार साथियों के साथ राजा तिष्य ने बौद्ध-धर्म को ग्रहण किया। राजकुमारी अनुला ने भी अपनी ५०० सहचरियों के साथ बौद्ध-धर्म मे दीक्षित होने की इच्छा प्रगट की, पर उसे निराश होना पडा। उसे बताया गया, कि भिक्षुओ को यह अधिकार नही है, कि स्त्रियो को दीक्षा दे सकें। स्त्री को दीक्षा भिक्षुणी ही दे सकती है। इसपर राजा तिष्य ने महाअरिट्ठ के नेतृत्व मे फिर एक प्रतिनिधिमण्डल पाटलिपुत्र भेजा। इसे दो कार्य सुपुर्द किये गये थे। पहला यह कि संघमित्रा (महेन्द्र की बहन) को लका आने के लिए निमंत्रण दे, ताकि कुमारी अनुला और लकावासिनी अन्य महिलाएँ बौद्ध-धर्म की दीक्षा ले सकें, और दूसरा यह कि बोधिवृक्ष की एक शाखा को लंका ले आए, ताकि वहाँ उसका आरोपण किया जा सके। यद्यपि अशोक अपनी प्रिय पुत्री से वियुक्त नही होना चाहता था, पर बौद्ध-धर्म के प्रचार के लिये उसने संघमित्रा को लंका जाने की अनुमति दे दी। बोधिवृक्ष की शाखा को भेजने का उपक्रम बड़े समारोह के साथ किया गया। बड़े अनुष्ठानो के साथ सुवर्ण के कुठार से बोधिवृक्ष की एक शाखा काटी गयी, और उसे बडे प्रयत्न से लंका तक सुरक्षित पहुँचाने का आयोजन किया गया, और बडे सम्मान के साथ लंका मे बोधिवृक्ष का आरोपण किया गया। अनुराधपुर के महाविहार मे यह विशाल वृक्ष अब तक भी विद्यमान है, और संसार के सबसे पुराने वृक्षों में से एक है। राजा

तिष्य ने संघमित्रा के निवास के लिये एक भिक्षुणी-विहार बनवा दिया था। वहाँ राजकुमारी अनुला ने अपनी ५०० सहेलियों के साथ भिक्षुणीव्रत की दीक्षा ली।

दक्षिण भारत में बौद्ध-धर्म—आचार्य मोद्गलिपुत्र तिष्य की योजना के अनुसार जो विविध प्रचारक-मण्डल विभिन्न देशों में बौद्ध-धर्म का प्रचार करने में लिए गये थे, उनमें से चार को दक्षिण भारत में भेजा गया था। अशोक से पूर्व बौद्ध-धर्म का प्रचार मुख्यतया विन्ध्याचल के उत्तर में ही था। लंका के समान दक्षिण भारत में भी अशोक के समय में ही पहले-पहल बुद्ध के अष्टांगिक आर्य-मार्ग का प्रचार हुआ। अशोक ने अपनी धर्मविजय की नीति का अनुसरण करते हुए चोल, पाड्य, केरल, सातियपुत्र और ताम्रपर्णी के पड़ोसी राज्यों में जहाँ अंतमहामात्र नियत किये थे, वहाँ अपने साम्राज्य में भी रठिक-पेतनिक, आंध्र और पुलिंद प्रदेशों में धर्ममहामात्रों की नियुक्ति की थी। ये सब प्रदेश दक्षिण भारत में ही थे। अशोक द्वारा नियुक्त धर्ममहामात्रों और अंतमहामात्रों के अतिरिक्त अब चार प्रचारकमण्डल भी वहाँ गये। इनमें भिक्षु महादेव महिषमण्डल गया। यह उस प्रदेश को सूचित करता है, जहाँ अब मैसूर का राज्य है। वनवास उत्तर कर्णाटक का पुराना नाम है। वहाँ आचार्य रक्षित धर्मप्रचार के लिए गया। अपरान्तक का अभिप्राय कोकण से है, वहाँ का कार्य योनक धम्मरक्खित के सुपुर्द किया गया था। संभवतः, यह आचार्य यवन-देश का निवासी था, इसीलिए इसे योनक कहा गया है। महारट्ठ (महाराष्ट्र) में कार्य करने के लिए थेर महाधम्म-रक्खित की नियुक्ति हुई थी। दक्षिण भारत में बौद्ध-प्रचारकों के कार्य का वर्णन महावंश में विशद रूप से किया गया है।

आंध्र देश और पांड्य आदि तमिल राज्यों में आचार्य उपगुप्त ने प्रचार का कार्य किन भिक्षुओं को दिया था, यह बौद्ध-अनुश्रुति हमें नहीं बताती। पर प्रतीत होता है, कि सुदूर दक्षिण के इन प्रदेशों में महेन्द्र और उसके साथियों ने ही कार्य किया था। सातवीं सदी में प्रसिद्ध चीनी यात्री ह्यूनत्साग जब भारत की यात्रा करते हुए दक्षिण में गया, तो उसने द्रविड देश में महेन्द्र के नाम का एक विहार देखा था। यह विहार सम्भवतः, महेन्द्र द्वारा दक्षिण भारत में किये गये प्रचार-कार्य की स्मृति में ही बनवाया गया था।

खोतन में कुमार कुस्तन—पुराने समय में खोतन भारत का ही एक समृद्ध उपनिवेश था। वहाँ बौद्ध-धर्म, भारतीय सभ्यता और संस्कृति का प्रचार था। पिछले दिनों में तुर्किस्तान और विशेषतया खोतन में जो खुदाई हुई है, उससे इस प्रदेश में बौद्ध-मूर्तियों, स्तूपों तथा विहारों के अवशेष प्रभूत मात्रा में उपलब्ध हुए हैं। संस्कृत के लेख भी इस प्रदेश से मिले हैं। इसमें सन्देह नहीं, कि किसी समय यह सारा प्रदेश बृहत्तर भारत का ही अंग था। पाँचवी सदी में चीनी यात्री फाइयान और सातवीं सदी में ह्यूनत्सांग ने इस प्रदेश की यात्रा की थी। उनके वर्णनों से सूचित होता है, कि उस प्राचीन युग में खोतन के निवासी बौद्ध-धर्म के अनुयायी थे, सारा देश बौद्ध-विहारों और स्तूपों से भरा हुआ था, और वहाँ के अनेक नगर बौद्ध-शिक्षा और सभ्यता के महत्त्वपूर्ण केन्द्र थे।

खोतन में बौद्ध-धर्म और भारतीय सभ्यता का प्रवेश राजा अशोक के समय में

ही हुआ। इसका वर्णन कुछ तिब्बती ग्रन्थों में उल्लिखित है। सम्भवतः, ये तिब्बती ग्रन्थ खोतन की प्राचीन अनुश्रुति के आधार पर ही लिखे गये थे। हम यहाँ बहुत संक्षेप से इस कथा को लिखते हैं—

राज्याभिषेक के तीन साल बाद राजा अशोक के एक पुत्र हुआ। ज्योतिषियों ने बताया, कि इस बालक में प्रभुता के अनेक चिह्न विद्यमान है, और यह पिता के जीवनकाल मे ही राजा बन जायगा। यह सुनकर अशोक को बड़ी चिन्ता हुई। उसने आज्ञा दी, कि इस बालक का परित्याग कर दिया जाय। परित्याग करने के बाद भी भूमि माता द्वारा बालक का पालन होता रहा। इसीलिए उसका नाम कुस्तन (कु= भूमि है स्तन जिसकी) पड़ गया। उस समय चीन के एक प्रदेश में बोधिसत्व का शासन था। उसके ९९९ पुत्र थे। इसपर बोधिसत्व ने वैश्रवण से प्रार्थना की, कि उसके एक पुत्र और हो जाय, ताकि संख्या पूरी १००० हो जाय। वैश्रवण ने देखा, कि कुस्तन का भविष्य बहुत उज्ज्वल है। वह उसे चीन ले गया और बोधिसत्व के पुत्रों में सम्मिलित कर दिया। एक दिन जब कुस्तन का बोधिसत्व के अन्य पुत्रों के साथ झगड़ा हो रहा था, तो उन्होंने उससे कहा—'तू सम्राट् का पुत्र नहीं है।' यह जानकर कुस्तन को बड़ा कष्ट हुआ। इस बात की सचाई का निश्चय करके उसने राजा से अपने देश का पता लगाने और वहाँ जाने की अनुमति माँगी। इसपर राजा ने कहा—'तू मेरा ही पुत्र है। यह तो तेरा अपना देश है। तुझे दुःखी नहीं होना चाहिए'। पर कुस्तन का इससे भी सतोष नही हुआ। उसने पक्का इरादा कर लिया था, कि उसका भी अपना पृथक् राज्य हो। अतः उसने अपने दस हजार साथियों को एकत्र किया, और पश्चिम की तरफ चल पड़ा। इस तरह चलते-चलते वह खोतन के मेस्कर नामक स्थान पर जा पहुँचा।

सम्राट् अशोक के एक मन्त्री का नाम यश था। वह बहुत प्रभावशाली था। धीरे-धीरे वह राजा की आंखो में खटकने लगा। यश को जब यह बात मालूम हुई, तो उसने भी यही निश्चय किया कि भारत छोड़कर अपने लिए नया क्षेत्र ढूंढ ले। उसने अपने सात हजार साथियों के साथ भारत छोड़कर सुदूर पश्चिम में नये प्रदेशों का अनुसन्धान प्रारम्भ किया। इस प्रकार वह खोतन मे उथेन नदी के दक्षिण-तट पर जा पहुँचा। अब ऐसा हुआ, कि कुस्तन के अनुयायियो मे से दो व्यापारी घूमते-फिरते तो-ला नाम के प्रदेश मे आये। यह प्रदेश उस समय बिल्कुल गैर-आबाद था। इसकी रमणीयता को देखकर उन्होने विचार किया, कि यह प्रदेश कुमार कुस्तन के द्वारा आबाद किये जाने के योग्य है। मन्त्री यश को कुस्तन के बारे मे जब पता लगा, तो उसने यह सन्देश उसके पास भेजा—'तुम राजघराने के हो और मैं भी कुलीन घराने का हूँ। अच्छा हो कि हम परस्पर मिल जाएँ और इस उथेन प्रदेश मे मिलकर बस जाएँ। तुम राजा बनो और मै तुम्हारा मन्त्री।' यह विचार कुस्तन को बहुत पसन्द आया। कुस्तन ने अपने चीनी अनुयायियों के साथ और यश ने अपने भारतीय साथियों के साथ परस्पर सहयोग से इस प्रदेश को आबाद किया। इसीलिए तिब्बती अनुश्रुति के अनुसार "खोतन देश आधा चीनी है, और आधा भारतीय। लोगो की भाषा न तो पूरी तरह भारतीय ही है, और न चीनी। वह दोनों का सम्मिश्रण है।

अक्षर बहुत कुछ भारतीय लिपि से मिलते-जुलते हैं, लोगों की आदतें चीन से बहुत कुछ मिलती हैं। धर्म और भाषा भारत से मिलती है। खोतन में वर्तमान भाषा का प्रवेश आर्यों (बौद्ध-प्रचारकों) द्वारा हुआ है।" जिस समय कुस्तन ने खोतन में अपने राज्य की स्थापना की, तो वह १६ साल का था और अशोक जीवित था। ज्योतिषियों की यह भविष्यवाणी सत्य हुई, कि कुस्तन अशोक के जीवनकाल में ही राजा बन जाएगा।

इस प्रकार यह स्पष्ट है, कि इस प्राचीन तिब्बती अनुश्रुति के अनुसार खोतन के प्रदेश में राजा अशोक के समय मे भारतीयो ने अपना एक उपनिवेश बसाया, जिसमे चीनी लोगों का सहयोग उन्हे प्राप्त था। इसी समय मे वहाँ भारतीय सभ्यता और धर्म का प्रवेश हुआ।

हिमवन्त देशों में प्रचार—हिमालय के क्षेत्र मे आचार्य मज्झिम को प्रचार-कार्य करने के लिए नियत किया गया था। महावंश टीका मे उसके चार साथियो के भी नाम दिये गये हैं। ये साथी निम्नलिखित थे, कस्सपगोत, दुन्दुभिसर, सहदेव और मूलकदेव। हम ऊपर लिख चुके हैं, कि साञ्ची के समीप उपलब्ध हुई धातुमंजूषाओ पर हिमवताचार्य के रूप मे मज्झिम, कस्सप और दुन्दुभिसर के नाम उत्कीर्ण मिले हैं। हिमालय के सम्पूर्ण प्रदेश मे अशोक के समय बौद्ध-धर्म का प्रचार हुआ। महावंश के अनुसार बहुत-से गन्धर्व, यक्ष और कुम्भण्डको ने बौद्ध-धर्म को स्वीकृत किया। एक यक्ष ने, जिसका नाम पञ्चक था, अपनी पत्नी हारीत के साथ धर्म के प्रथम फल की प्राप्ति की, और अपने ५०० पुत्रों को यह उपदेश दिया, "जैसे तुम अब तक क्रोध करते आये हो, वैसे अब भविष्य मे न करो। क्योकि सब प्राणी सुख की कामना करने वाले हैं, अतः अब कभी किसी प्राणी का घात न करो। जीवमात्र का कल्याण करो। सब मनुष्य सुख के साथ रहे।"

काश्मीर और गान्धार मे आचार्य मज्झन्तिक पृथक् रूप से भी कार्य कर रहा था। उसके कार्य का भी महावंश मे बडे विस्तार के साथ वर्णन है। हिमवन्त के प्रदेश के समान काश्मीर और गान्धार मे भी बौद्ध-धर्म का अशोक के युग में प्रचार हुआ। हिमवन्त प्रदेश में नेपाल की पुरानी राजधानी पाटन या ललितपत्तन राजा अशोक ने ही बसायी थी। पाटन के मध्य व चारों तरफ अशोक ने बहुत-से स्तूप बनवाये थे, जिनमे से पाँच अब तक भी विद्यमान हैं। अशोक की पुत्री चारुमती नेपाल जाकर बस गई थी। उसने अपने पति देवपाल के नाम से वहाँ देवपत्तन नाम की नगरी भी बसाई थी। उसी के समीप एक विशाल बौद्ध-विहार का भी निर्माण कराया गया था, जिसके अवशेष पशुपतिनाथ के मन्दिर के उत्तर मे अब तक भी विद्यमान है। काश्मीर में अशोक के समय मे बहुत-से स्तूप और विहारो का निर्माण हुआ। कल्हणकृत राजतरंगिणी के अनुसार काश्मीर की राजधानी श्रीनगरी को अशोक ने ही बसाया था। 'श्रीविजयेश के टूटे-फूटे किले को हटाकर उसके स्थान पर इस राजा ने सब दोषो से रहित विशुद्ध पत्थरो का एक विशाल किला बनवाया। अशोक ने जेहलम के सारे तट को स्तूपों द्वारा आच्छादित करा दिया था।"

हिमालय के प्रदेशो मे गाधर्व, यक्ष आदि जिन जातियों को बौद्ध-धर्म में दीक्षित

करने का उल्लेख किया गया है, वे सब वहाँ के मूल निवासियों के नाम हैं। ये कोई लोकोत्तर व दैवी सत्ताएँ नहीं थी।

यवन देशों में प्रचार—भारत के पश्चिम मे अंतियोक आदि जिन यवन-राजाओं के राज्य थे, उनमे भी अशोक ने अपनी धर्म-विजय की स्थापना का उद्योग किया था। अंतमहामात्र उन सब देशो में चिकित्सालय, धर्मशाला, कूप, प्याऊ आदि खुलवाकर भारत और उसके धर्म के लिए विशेष आदर का भाव उत्पन्न कर रहे थे। इस दशा मे जब आचार्य महारक्खित अपने प्रचारकमडल के साथ वहाँ कार्य करने के लिए गया, तो उसने अपने लिए मैदान तैयार पाया। इस प्रसग मे महावंश ने लिखा है कि "आचार्य महारक्खित योन देश में गया। वहाँ उसने 'कालकारामसुत्त' का उपदेश दिया। एक लाख सत्तर हजार मनुष्यो ने बुद्धमार्ग के फल को प्राप्त किया और दस हजार स्त्री-पुरुष भिक्खु बने।" इसमे संदेह नहीं, कि अशोक के बाद बहुत समय तक इन पश्चिमी यवन-देशो मे बौद्ध-धर्म का प्रचार रहा। मिस्र के यूनानी राजा टाल्मी (तुरमय) ने अलेक्जेण्ड्रिया के प्रसिद्ध पुस्तकालय मे भारतीय ग्रन्थों के भी अनुवाद की व्यवस्था की थी। जब पैलेस्टाइन मे अशोक से लगभग ढाई सौ वर्ष बाद महात्मा ईसा का प्रादुर्भाव हुआ, तो इस पश्चिमी दुनिया मे ईसीन तथा थेराथून नाम के विरक्त लोग रहते थे। ये लोग पूर्व की तरफ से पैलेस्टाइन और ईजिप्ट मे जाकर बसे थे, और धर्मोपदेश के साथ-साथ चिकित्सा का कार्य भी करते थे। ईसा की शिक्षाओ पर इनका बड़ा प्रभाव था, और स्वयं ईसा इनके सत्संग में रहा था। सम्भवतः, ये लोग आचार्य महारक्खित के ही उत्तराधिकारी थे, जो ईसा के प्रादुर्भाव के समय मे इन विदेशी यवन-राज्यो में बौद्ध-भिक्षुओ (थेरों) का जीवन व्यतीत कर रहे थे। बाद में ईसाई धर्म और इस्लाम के प्रभाव के कारण इन पश्चिमी देशो से बौद्ध-धर्म का सर्वथा लोप हो गया। पर यह निश्चित है, कि उनसे पूर्व इन देशो में बौद्ध-धर्म अपना काफी प्रभाव जमा चुका था। बाद में बौद्ध-धर्म के सदृश शैव और वैष्णव लोग भी यवन-देशों मे गये, और वहाँ उन्होने अपनी अनेक बस्तियाँ कायम की।

सुवर्णभूमि में प्रचार—महावंश के अनुसार आचार्य उत्तर और थेर सोण सुवर्णभूमि में प्रचार के लिए गये थे। उस समय सुवर्णभूमि के राजकुल की यह दशा थी, कि ज्यो ही कोई कुमार उत्पन्न होता, एक राक्षसी उसे खा जाती। जिस समय ये थेर सुवर्णभूमि पहुँचे, तभी रानी ने एक पुत्र को जन्म दिया। उसी समय राक्षसी समुद्र से निकली, और सब लोग भयभीत होकर हाहाकार करने लगे। पर थेरों ने अपने अलौकिक प्रभाव से राजकुमार का भक्षण करने वाली राक्षसी को वश मे कर लिया। इस प्रकार सर्वत्र अभय की स्थापना कर इन थेरो ने लोगो को बौद्ध-धर्म का उपदेश दिया। इससे प्रभावित हो बहुत-से लोगों ने बौद्ध-धर्म की दीक्षा ग्रहण कर ली। सम्भवतः, महावश के इस वर्णन मे आलंकारिक रूप से यह उल्लेख है, कि रोगरूपी राक्षसी के आक्रमण के कारण सुवर्णभूमि का कोई राजकुमार जीवित नही रह पाता था। थेर सोण और उत्तर कुशल चिकित्सक भी थे। जब वे सुवर्णभूमि गये, तो इस रोगरूपी राक्षसी ने पुन. आक्रमण किया, पर इस बार इन थेर चिकित्सको के प्रयत्न से राजकुमार की जान बच गई, और सुवर्णभूमि के निवासियो की बौद्ध-धर्म पर बहुत श्रद्धा हो गई।

सुवर्णभूमि का अभिप्राय दक्षिणी बरमा तथा उसके परे के दक्षिण-पूर्वी एशिया के प्रदेशों से है। आधुनिक बरमा के पेगू-मालमीन के प्रदेशों में अशोक के समय में बौद्ध-प्रचारक गये, और उन्होंने उस प्रक्रम का प्रारम्भ किया, जिससे कुछ ही समय में न केवल सम्पूर्ण बरमा, पर उसके भी पूर्व के बहुत-से देश बौद्ध-धर्म के अनुयायी हो गये।

अशोक के समय में आचार्य मोग्गलिपुत्त तिस्स या उपगुप्त के आयोजन के अनुसार बौद्ध-धर्म का विदेशों मे प्रचार करने के लिए जो भारी प्रयत्न प्रारम्भ हुआ, उसका केवल भारतवर्ष के इतिहास मे ही नही, अपितु संसार के इतिहास में भी बहुत महत्त्व है। बौद्ध-भिक्षु जो उद्योग कर रहे थे, उसे वे 'बुद्ध के शासन' का प्रसार कहते थे। इस कार्य मे वे मगध के सम्राटो से भी बहुत आगे बढ गये। मागध-साम्राज्य की अपेक्षा बहुत बड़ा ऐसा धर्म-साम्राज्य उपगुप्त ने बनाया, जो कुछ सदियो तक ही नही, अपितु सहस्राब्दियो तक कायम रहा। दो हजार साल से अधिक समय बीत जाने पर भी यह साम्राज्य अब तक भी आशिक रूप से कायम है।

सोलहवाँ अध्याय

अशोक के उत्तराधिकारी मौर्य राजा

(१) राजा सुयश कुणाल

२३२ ई० पू० में अशोक का राज्यकाल समाप्त हुआ। उसके अनेक पुत्र थे। शिलालेखो मे उसके केवल एक पुत्र का उल्लेख है, जिसका नाम तीवर था। उसकी माता रानी कारुवाकी के दान का वर्णन भी एक शिलालेख मे किया गया है। परन्तु प्राचीन अनुश्रुति से अशोक के अन्य भी अनेक पुत्रों के नाम ज्ञात होते हैं। इनमें महेन्द्र रानी असंधिमित्रा का पुत्र था। कुणाल उसका सबसे बडा लड़का था, जिसे रानी तिष्यरक्षिता की ईर्ष्या का शिकार होना पड़ा था। तिब्बती साहित्य में अशोक के एक पुत्र कुस्तन का उल्लेख है, जिसने खोतन में एक स्वतन्त्र भारतीय उपनिवेश की स्थापना की थी। महेन्द्र भिक्षु होकर लंका मे बौद्ध-धर्म का प्रचार करने के लिए चला गया था। राजतरंगिणी के अनुसार अशोक के एक अन्य पुत्र का नाम जालौक था, जिसने अपने पिता की मृत्यु के बाद काश्मीर मे अपने स्वतन्त्र राज्य की स्थापना की थी। कुमार तीवर का साहित्यिक अनुश्रुति में कही उल्लेख नही है। सम्भवतः, अपने पिता से पूर्व ही वह स्वर्गवासी हो गया था।

वायुपुराण के अनुसार अशोक के बाद उसके लडके कुणाल ने राज्य प्राप्त किया। इसी का उपनाम सुयश था। तिष्यरक्षिता के कपटलेख पर आश्रित व अशोक की दन्तमुद्रा से अकित राजाज्ञा से वह अंधा कर दिया गया था। सम्भवत', इसीलिए वह राज्यकार्य स्वयं नही कर सकता था। अशोक के समय में भी युवराज के पद पर कुणाल का पुत्र सम्प्रति (संपदि) नियुक्त था, और वही शासन-कार्य संभालता था। कुणाल के समय मे भी राज्य की बागडोर सम्प्रति के ही हाथ में रही। यही कारण है, कि कुछ ग्रन्थो मे अशोक के बाद सम्प्रति को ही मौर्य-सम्राट् लिखा गया है, और कुणाल का नाम बीच मे छोड दिया गया है।

कुणाल के शासन-काल मे ही विशाल मागध-साम्राज्य खण्ड-खण्ड होना शुरू हो गया था। काश्मीर पाटलिपुत्र की अधीनता से मुक्त हो गया, और वहाँ अशोक के एक अन्य पुत्र जालौक ने अपना पृथक् राज्य कायम किया। ऐसा प्रतीत होता है, कि अशोक के शासन के अन्तिम दिनो मे ही यवन लोगों ने मागध-साम्राज्य पर आक्रमण करने शुरू कर दिए थे। इनका मुकाबला करने के लिए अशोक ने जालौक को नियत किया था। जालौक यवन लोगों को परास्त करने में तो सफल हुआ, पर जिस शक्तिशाली सेना की सहायता से उसने यवनो को परास्त किया था, उसी के साहाय्य से साम्राज्य के पश्चिमोत्तर-प्रदेश में उसने अपना पृथक् राज्य कायम कर लिया। यह बात

राजतरंगिणी के निम्नलिखित वर्णन से भली-भाँति स्पष्ट हो जाती है—"क्योंकि देश में म्लेच्छ लोग छा गए थे, अतः उनके विनाश के लिए राजा अशोक ने भूतेश को प्रसन्न करके एक पुत्ररत्न को प्राप्त किया। इसका नाम जालौक था। म्लेच्छों से जब सारी वसुधा आक्रान्त हो गई थी, तो जालौक ने उन्हे बाहर निकालकर भूमण्डल को शुद्ध किया और अन्य अनेक देशो को भी विजय किया।"

कल्हण का यह वृत्तान्त स्पष्ट रूप से सूचित करता है, कि अशोक के समय मे ही म्लेच्छों या यवनो (ग्रीको) के आक्रमण शुरू हो गए थे, और उनका मुकाबला करने के लिए जालौक की नियुक्ति हुई थी। बाद मे वह काश्मीर तथा समीपवर्ती प्रदेशो पर स्वतन्त्ररूप से राज्य करने लगा। राजतरंगिणी के अनुसार काश्मीर मे अशोक के बाद जालौक ही राजा हुआ।

काश्मीर की तरह आन्ध्र भी कुणाल के समय मे ही स्वतन्त्र हो गया था। मौर्यों से पूर्व आन्ध्र देश मागध-साम्राज्य के अन्तर्गत नही था। सम्भवतः, बिंदुसार ने उसे जीतकर अपने साम्राज्य मे शामिल किया था। अशोक के साम्राज्य मे आन्ध्र की स्थिति अधीनस्थ राज्य की थी। अशोक का मजबूत हाथ हटते ही आन्ध्र देश स्वतन्त्र हो गया, और वहाँ एक नए वंश का प्रारम्भ हुआ, जो भविष्य मे बडा शक्तिशाली और प्रसिद्ध हुआ। आन्ध्र और उसके समीपवर्ती दक्षिणापथ के प्रदेशो मे इस नए वंश का संस्थापक सीमुक था, जिसने २३० ई० पू० के लगभग मौर्यों की अधीनता से स्वतन्त्रता प्राप्त की थी।

(२) राजा बंधुपालित दशरथ

कुणाल ने २३२ ई० पू० से २२४ ई० पू० तक कुल आठ साल तक राज्य किया। उसके बाद उसका बडा लडका दशरथ राजगद्दी पर बैठा। एक पुराण के अनुसार कुणाल के उत्तराधिकारी का नाम बंधुपालित था। सम्भवतः, बंधुपालित दशरथ का ही विशेषण है। ऐसा प्रतीत होता है, कि दशरथ के शासनकाल मे भी शासन की बागडोर सम्प्रति के ही हाथ मे रही। सम्प्रति और दशरथ भाई थे। सम्प्रति अशोक और कुणाल के समयों में युवराज के रूप मे शासन का सचालन करता रहा था। अब भी शासन-सूत्र इसी अनुभवी और योग्य शासक के हाथो मे रहा। शायद इसीलिए दशरथ को बंधुपालित विशेषण दिया गया था।

राजा दशरथ के तीन गुहालेख प्राप्त हुए है। ये बिहार की नागार्जुनी पहाडी की कृत्रिम गुहाओ मे उत्कीर्ण हैं। ये गुहामन्दिर दशरथ ने आजीवक-सम्प्रदाय के साधुओं को दान दिए थे, और इन गुहाओ मे उसका यही दान उत्कीर्ण किया गया है।

दशरथ के समय मे भी मागध-साम्राज्य का पतन जारी रहा। कलिंग इसी काल मे स्वतन्त्र हुआ। कलिंग के राजा श्री खारवेल के हाथीगुम्फा शिलालेख से कलिंग देश की प्राचीन इतिहास सम्बन्धी अनेक महत्त्वपूर्ण बाते ज्ञात होती हैं। खारवेल शुगवंशी पुष्यमित्र का समकालीन था, और वह १७३ ई० पू० मे कलिंग के राजसिंहासन पर आरूढ़ हुआ था। उससे पहले कलिंग में दो स्वतन्त्र राजा हो चुके थे। अतः यह अनुमान करना सर्वथा उचित है, कि कलिंग २२३ ई० पू० के लगभग मौर्यों के शासन

से मुक्त हुआ था। कलिंग को अशोक के समय में ही मगध के अधीन किया गया था। उसे फिर से स्वतन्त्र कराने वाले वीर पुरुष का नाम चैत्रराज था। वह ऐलवंश का था। अशोक द्वारा शस्त्रों से स्थापित हुई कलिंग की विजय देर तक स्थिर नहीं रह सकी।

(३) राजा सम्प्रति (चन्द्रगुप्त मौर्य द्वितीय)

मौर्यवंश के इतिहास में सम्प्रति का महत्त्व भी चन्द्रगुप्त और अशोक के ही समान है। दशरथ की मृत्यु के बाद वह स्वयं पाटलिपुत्र के राजसिंहासन पर आरूढ़ हुआ। इससे पहले वह सुदीर्घ समय तक मागध-साम्राज्य का कर्णधार रह चुका था। अशोक के समय मे वह युवराज था। उसी ने अपने अधिकार से अशोक को राजकोष से बौद्धसघ को दान देने का निषेध कर दिया था। कुणाल और दशरथ के समय में भी शासनसूत्र उसी के हाथों में रहा। यही कारण है, कि अनेक प्राचीन ग्रन्थों मे सम्प्रति को ही अशोक का उत्तराधिकारी लिखा गया है। २१६ ई० पू० मे दशरथ के बाद सम्प्रति स्वयं मौर्य-साम्राज्य का सम्राट् बना।

जैन-साहित्य मे सम्प्रति का वही स्थान है, जो बौद्ध-साहित्य मे अशोक का है। जैन-अनुश्रुति के अनुसार सम्राट् सम्प्रति जैन-धर्म का अनुयायी था, और उसने अपने धर्म का प्रसार करने के लिए बहुत उद्योग किया था। परिशिष्ट पर्व मे लिखा है, कि एक बार रात्रि के समय सम्प्रति के मन मे यह विचार पैदा हुआ, कि अनार्य देशो मे भी जैन-धर्म का प्रसार हो, और उनमें भी जैन-साधु स्वच्छन्दरूप से विचरण कर सकें। इसलिए उसने इन अनार्य देशों मे धर्म-प्रचार के निमित्त जैन-साधुओ को भेजा। साधु लोगों ने सम्प्रति के राजकीय प्रभाव से शीघ्र ही उन्हें जैन-धर्म का अनुयायी बना लिया। इसी उद्देश्य से सम्प्रति ने बहुत-से लोकोपकारी कार्य भी किए। गरीबो को मुफ्त भोजन बाँटने के लिए अनेक दानशालाएँ खुलवायी गई। इन लोकोपकारी कार्यों से भी जैन-धर्म के प्रसार मे बहुत सहायता मिली। सम्प्रति ने अनार्य देशो मे जैन-प्रचारक भेजे थे, इसका उल्लेख अन्य ग्रन्थो मे भी है। एक जैन पुस्तक मे लिखा है, कि इस कार्य के लिए सम्प्रति ने अपनी सेना के योद्धाओ को भी साधुओ के वेश मे प्रचार के लिए भेजा था। एक ग्रन्थ मे उन देशो मे से कतिपय के नाम भी दिए गए है, जिनमे सम्प्रति ने जैन-धर्म का प्रचार किया था। ये देश आन्ध्र, द्रविड, महाराष्ट्र, कुडुक्क आदि थे। इन्हे प्रत्यन्त (सीमावर्ती पडोसी राज्य) कहा गया है। आन्ध्र और महाराष्ट्र अशोक के 'विजित' (साम्राज्य) के अन्तर्गत थे, पर सम्प्रति के समय मे वे 'प्रत्यन्त' हो गए थे।

अनेक जैन ग्रन्थो मे अशोक के पौत्र और कुणाल के पुत्र का नाम चन्द्रगुप्त लिखा गया है। सम्भवत', चन्द्रगुप्त सम्प्रति का ही विरुद (उपनाम) था। सम्प्रति को हम चन्द्रगुप्त द्वितीय कह सकते हैं। जैन-ग्रन्थो के अनुसार सम्प्रति (चन्द्रगुप्त द्वितीय) के शासनकाल मे एक भारी दुर्भिक्ष पडा था, जो बारह साल तक रहा। सम्प्रति ने राज्य छोड़कर मुनिव्रत ले लिया, और दक्षिण मे जाकर अन्त मे उपवास द्वारा प्राणत्याग किया। भद्रबाहुचरित्र के अनुसार यह कथा इस प्रकार है—

अवन्तिदेश में चन्द्रगुप्त नाम का राजा राज्य करता था। इसकी राजधानी उज्जयिनी थी। एक बार राजा चन्द्रगुप्त को रात में सोते हुए भावी अनिष्ट फल के सूचक सोलह स्वप्न दिखायी दिए। प्रातःकाल होते ही राजा को भद्रबाहु स्वामी के आगमन का समाचार मिला। यह स्वामी उज्जयिनी से बाहर एक सुन्दर उद्यान में ठहरे हुए थे। वनपाल ने आकर खबर दी, कि मुनिगण के अग्रणी आचार्य भद्रबाहु अपने मुनिसन्दोह के साथ पधारे हुए हैं। यह जानकर राजा बहुत प्रसन्न हुआ। उसने उसी समय भद्रबाहु को बुला भेजा और अपने स्वप्नों का फल पूछा। स्वप्नों का फल ज्ञात होने पर राजा ने जैन-धर्म की दीक्षा ले ली, और अपने गुरु भद्रबाहु की सेवा के लिए दत्तचित्त होकर तत्पर हो गया। कुछ समय बाद आचार्य भद्रबाहु सेठ जिनदास के घर पर गया। इस घर में एक अकेला बालक पालने पर झूल रहा था। यद्यपि इसकी आयु केवल साठ दिन की थी, तथापि उसने भद्रबाहु को देखकर 'जाओ-जाओ' ऐसा वचन बोलना शुरू किया। इसे सुनते ही त्रिकालज्ञ आचार्य समझ गया, कि शीघ्र ही बारह वर्ष का घोर दुर्भिक्ष पड़ने वाला है। अतएव उन्होंने अपने ५०० मुनियों को लेकर दक्षिण देश में जाने का निश्चय किया। दक्षिण पहुँचकर भद्रबाहु को शीघ्र ही ज्ञात हो गया, कि उनकी आयु बहुत कम रह गई है। अतः वे अपने स्थान पर विशाखाचार्य को नियुक्त कर और स्वयं एकान्त मे रहकर अपने अन्तिम समय की प्रतीक्षा करने लगे। राजा चन्द्रगुप्त अब मुनि हो चुका था, और अपने गुरु के साथ ही दक्षिण में आ गया था। वह आचार्य भद्रबाहु की सेवा में अन्तिम समय तक रहा। यद्यपि भद्रबाहु ने चन्द्रगुप्त को अपने पास रहने से बहुत मना किया, पर उसने एक न मानी। भद्रबाहु की मृत्यु के बाद चन्द्रगुप्त इसी गुरुगुहा मे रहता रहा, और अन्त मे वही उसने अनशन द्वारा प्राण त्याग किया।

जैन-साहित्य के बहुत-से ग्रन्थों में यह कथा थोड़े-बहुत भेद से पायी जाती है। इसकी पुष्टि श्रवणबेलगोला (मैसूर) मे प्राप्त संस्कृत व कन्नड भाषा के अनेक शिला-लेखो से भी होती हैं। इन शिलालेखो को प्रकाशित करते हुए श्रीयुत राइस ने लिखा है, कि इन स्थानो पर जैनो की आबादी अन्तिम श्रुतकेवली आचार्य भद्रबाहु द्वारा प्रारम्भ हुई थी, और भद्रबाहु की मृत्यु इसी स्थान पर हुई थी। श्रवणबेलगोला मे दो पर्वत है, जिनमे से छोटे का नाम चन्द्रगिरि है। स्थानीय अनुश्रुति के अनुसार यह नाम चन्द्रगुप्त नाम के एक महात्मा के नाम पर पडा था। इसी पर्वत पर एक गुफा को भद्रबाहु स्वामी की गुफा कहते हैं। वहाँ एक मठ भी है, जिसे चन्द्रगुप्त-वस्ति कहा जाता है। इसमे सन्देह नही, कि राजा सम्प्रति (चन्द्रगुप्त द्वितीय) जैन-मुनि होकर अपने गुरु के साथ दक्षिण मे श्रवणबेलगोला चला गया था। उसका अन्तित जीवन वही व्यतीत हुआ था, और वहीं उसने जैन-मुनियों की परिपाटी से प्राणत्याग किया था।

जिन प्रभासूरि के अनुसार सम्राट् सम्प्रति ने बहुत-से जैनमठों का भी निर्माण कराया था। ये मठ अनार्य देशों मे भी बनवाए गए थे। नि.सन्देह, जैन-धर्म के भारत में दूर-दूर तक फैलाने का श्रेय राजा सम्प्रति को ही है। उसी के समय में जैन-धर्म के लिए वह प्रयत्न हुआ, जो उससे पहले अशोक ने बौद्ध-धर्म के लिए किया था।

(४) राजा शालिशुक

२०७ ई०पू० में राजा संप्रति के राज्यत्याग के बाद शालिशुक पाटलिपुत्र की राजगद्दी पर बैठा था। उसने कुल एक साल तक राज्य किया। पर मौर्य-वंश के इतिहास में शालिशुक के शासन का यह एक साल बड़े महत्त्व का है। चन्द्रगुप्त मौर्य द्वारा स्थापित विशाल मागध-साम्राज्य का वास्तविक पतन इसी एक वर्ष में हुआ। शालिशुक के शासनकाल के सम्बन्ध मे वृद्धगार्ग्यसंहिता के युगपुराण से बहुत-सी आवश्यक बातें ज्ञात होती हैं। पहली बात यह है, कि जैन-मुनि बनकर जब संप्रति ने राजगद्दी छोड़ दी, तो राजा कौन बने, इस प्रश्न को लेकर गृहकलह हुआ। शालिशुक संप्रति का पुत्र था। पर प्रतीत होता है, कि उसका कोई बड़ा भाई भी था, और राज-सिंहासन पर वास्तविक अधिकार उसी का था। परन्तु शालिशुक ने उसका घात करके स्वयं राज्य पर अपना अधिकार कर लिया। बारह वर्ष के दुर्भिक्ष के कारण पहले ही देश को घोर संकट का सामना करना पड रहा था, अब इस गृह कलह से और भी दुर्दशा हो गई। ऐसा प्रतीत होता है, कि इस गृहकलह के समय मे ही सिंध नदी से परे के वे प्रदेश, जिनमे अफगानिस्तान, गान्धार और हीरात भी शामिल थे, साम्राज्य से पृथक् हो गए, और इनमे वृषसेन नाम के एक व्यक्ति ने अपना स्वतन्त्र राज्य स्थापित कर लिया। वृषसेन भी मौर्य-वंश का था, और सभवत: संप्रति का ही अन्यतम पुत्र था। ग्रीक लेखको ने इसी को सोफागसेन या सुभागसेन लिखा है। सभवत:, सुभागसेन पहले गाधार देश का 'कुमार' (प्रातीय शासक) था। पर संप्रति के अंतकाल की अव्यवस्था से लाभ उठाकर स्वतन्त्र हो गया था। तिब्बती बौद्ध-अनुश्रुति मे सप्रति का उत्तराधिकारी इसी को लिखा गया है।

राजतरंगिणी के अनुसार काश्मीर का राजा जालौक (अशोक का पुत्र) एक बडा विजेता था। उसने कान्यकुब्ज तक विजय यात्रा की थी। राजतरंगिणी के अनुसार जालौक ने बहुत दीर्घ समय तक शासन किया था। अभी उसे राजगद्दी पर बैठे केवल २६ वर्ष ही हुए थे। कोई आश्चर्य नहीं, कि शालिशुक के समय के गृहकलह से लाभ उठाकर उसे राज्य-विस्तार का अवसर मिल गया हो, और उसने कान्यकुब्ज तक आक्रमण कर विजय प्राप्त की हो।

संप्रति के बाद पारस्परिक गृहकलह के कारण मौर्य-साम्राज्य बहुत शिथिल हो गया था, और उसका केन्द्रीय शासन व्यवस्थितऔर नियमित नही रहा था। यद्यपि शालिशुक को गृहकलह मे सफलता हुई, पर उसकी स्थिति सुरक्षित नही थी। संभवत:, राजघराने के षड्यन्त्र निरंतर जारी थे और शालिशुक की हत्या मे उनका अंत हुआ। शालिशुक ने केवल एक ही साल राज्य किया। इसी से यह सूचित होता है, कि गृह-कलह में सफलता के बाद भी उसे चैन नही मिली। अपने एक साल के शासन में शालिशुक ने प्रजा पर बडे अत्याचार किये। उसने राष्ट्र का मर्दन कर डाला। जनता उससे तंग आ गई। मौर्य-वंश के ह्रास में इससे और भी सहायता मिली।

अब तक मौर्य-सम्राट् अशोक की धम्म-विजय की नीति का अनुसरण करते रहे थे। संभवत:, दशरथ और संप्रति ने भी 'धम्म' के लिए पर्याप्त प्रयत्न किया था।

शालिशुक ने अपने पूर्वजों की नीति को नाम के लिये जारी रखा, पर उसका दुरुपयोग करके उसे नाशकारी बना दिया। गार्ग्यसंहिता में इस राजा को, 'धर्म का ढोंग करनेवाला' और 'अधार्मिक' कहा गया है, और यह भी लिखा है, कि इस मूर्ख ने धर्म-विजय को स्थापित करने का यत्न किया। 'विजयं नाम धार्मिकम्' में जो व्यंग्य है, उसे संस्कृत के ज्ञाता भली-भाँति समझ सकते हैं। शालिशुक ने धर्म-विजय की नीति का दुरुपयोग करके अशांति और अव्यवस्था को और भी बढ़ा दिया। इस राजा के राष्ट्रमर्दन तथा धर्म-विजय के ढोंग ने मागध-साम्राज्य को कितनी हानि पहुँचायी होगी, इसका अनुमान कर सकना कठिन नहीं है।

इसी शालिशुक के एक साल के शासन-काल में यवनों ने फिर पश्चिमी भारत पर आक्रमण किये। चन्द्रगुप्त मौर्य के समकालीन यवन-राजा सैल्यूकस की मृत्यु २८० ई० पू० में हुई थी। उसके बाद उसका लड़का एन्टियोकस सीरिया की राजगद्दी पर बैठा था। २६१ ई० पू० मे उसकी मृत्यु के पश्चात् एन्टियोकस द्वितीय थिओस राजा बना, जो अशोक का समकालीन था। उसके शासनकाल मे बैक्ट्रिया और पार्थिया सीरियन साम्राज्य से पृथक् हो गये। बैक्ट्रिया मे डायोडोरस प्रथम ने २५० ई० पू० में तथा पार्थिया में अर्कसस (अरकस) ने २४८ ई० पू० मे अपने स्वतन्त्र राज्यो की स्थापना की। बैक्ट्रिया मे डायोडोरस प्रथम के बाद डायोडोरस द्वितीय (२४५ ई० पू०) और यूथीडीमौस (२३२ ई० पू०) राजा हुए। यूथीडीमौस के समय में सीरिया के सम्राट् एन्टियोकस दी ग्रेट ने बैक्ट्रिया पर आक्रमण करने शुरू किये। सीरिया और बैक्ट्रिया के इन युद्धो का अंत २०८ ई० पू० मे हुआ, जब कि एन्टियोकस ने बैक्ट्रिया की स्वतन्त्रता को स्वीकार कर लिया।

इसी समय एन्टियोकस दी ग्रेट ने अपनी शक्तिशाली यवन-सेना के साथ हिन्दू-कुश पर्वत को पार कर भारत पर आक्रमण किया। गान्धार के राजा सुभागसेन के साथ उसके युद्ध हुए। पर शीघ्र ही दोनो राजाओ मे संधि हो गई।

सुभागसेन के साथ संधि करके यवन-सेनाओ ने भारत मे आगे बढकर आक्रमण किये। इस समय पाटलिपुत्र के राजसिंहासन पर शालिशुक विराजमान था, जिसने अपने बडे भाई को मार कर राज्य प्राप्त किया था। गार्ग्यसंहिता के अनुसार यवनों ने न केवल मथुरा, पांचाल और साकेत को हस्तगत किया, पर मागध-साम्राज्य की राजधानी पाटलिपुत्र या पुष्पपुर पर भी हमला किया। इन आक्रमणो से सारे देश में अव्यवस्था मच गई, और सारी प्रजा व्याकुल हो गई। पर ये यवन देर तक भारत के मध्य देश में नही ठहर पाए। उनमे परस्पर गृहकलह शुरू हो गये, और अपने अन्दर उठे हुए इन युद्धो के कारण यवनो को शीघ्र ही भारत छोड़ देना पडा।

इस प्रकार यवन लोग तो भारत से चले गये, पर भारत में मौर्य-शासन की जडें हिल गई। आपस के कलह के कारण मौर्यों का शासन पहले ही निर्बल हो चुका था, अब यवनो के आक्रमण से उसकी अवस्था और भी बिगड़ गई। गार्ग्यसंहिता के अनुसार इसके बाद भारत मे सात राजा राज्य करने लगे, या मागध-साम्राज्य सात राज्यो में विभक्त हो गया। गांधार, काश्मीर, कलिंग और आंध्र—ये चार राज्य इस

समय तक मागध-साम्राज्य से पृथक् हो चुके थे। अब संभवतः उत्तरापथ में दो अन्य राज्य भी मगध की शक्ति के भग्नावशेष पर कायम हुए।

(५) मौर्य-वंश का अंत

शालिशुक के बाद राजा देववर्मा पाटलिपुत्र के राजसिंहासन पर बैठा। उसने २०५ ई० पू० से १९९ ई० पू० तक राज्य किया। यवनों के आक्रमण उसके समय में भी जारी रहे। २०० ई० पू० में बैक्ट्रिया के राजा डेमेट्रियस (दिमित्र, जो यूथीडीमोस का पुत्र था) ने भारत पर आक्रमण किया, और उत्तरापथ के कुछ प्रदेश पर यवन-राज्य स्थापित कर लिया।

देववर्मा के बाद शतधनुष मगध का राजा बना। इसका शासन-काल १९९ ई० पू० से १९१ ई० पू० तक था। इसके शासन-काल मे पश्चिमोत्तर भारत मे यवनो ने अपना शासन अच्छी तरह से स्थापित कर लिया था। डेमेट्रियस बडा प्रतापी राजा हुआ है। उसका भारतीय राज्य बहुत विस्तृत था। उसने अफगानिस्तान और भारत में अपने नाम से अनेक नये नगर स्थापित किये थे। प्राचीन आर्कोशिया में 'डेमेट्रियस-पोलिस' नाम का एक नगर था। पतंजलिकृत महाभाष्य के अनुसार सौवीर देश मे 'दात्तामित्रि' नाम का एक नगर विद्यमान था। यह दात्तामित्रि नगर डेमेट्रियस के नाम पर ही बसा था।

संभवत, विदर्भ देश शतधनुष के समय मे ही मागध-साम्राज्य से स्वतन्त्र हुआ। कालिदासविरचित मालविकाग्निमित्र के अनुसार पुष्यमित्र शुंग से पूर्व विदर्भ में यज्ञसेन नाम का स्वतन्त्र राजा राज्य करता था। वह शायद मौर्य-वंश के इसी ह्रासकाल मे स्वतन्त्र हो गया था। बहुत-से प्राचीन गणराज्यों भी इस काल मे फिर से स्वतन्त्रता प्राप्त कर ली थी।

१९१ ई० पू० मे शतधनुष के बाद बृहद्रथ मगध का राजा बना। यह शतधनुष का भाई था। बृहद्रथ मौर्य बंश का अंतिम राजा था। इसके समय मे मगध मे फिर एकबार राज्यक्रान्ति हुई। बृहद्रथ का प्रधान सेनापति पुष्यमित्र शुग था। शक्तिशाली मागध-सेना उसी के अधीन थी। इस सेना की सहायता से पुष्यमित्र ने बृहद्रथ की हत्या करके पाटलिपुत्र के राजसिंहासन पर स्वय अधिकार कर लिया। रिपुंजय, बालक आदि कितने ही पुराने मागध-सम्राटों के विरुद्ध उनके सेनापतियों ने इसी प्रकार से विद्रोह किया था। मगध में सेना की ही शक्ति प्रधान थी। प्रतापी और विश्वविख्यात मौर्यवंश का अंत भी सेना द्वारा ही हुआ। मौर्यवंश के शासन का अत १८४ ई० पू० मे हुआ था।

(६) मौर्य-साम्राज्य के पतन के कारण

अशोक के बाद शक्तिशाली मागध-साम्राज्य मे शिथिलता के चिह्न प्रगट होने लगे थे, और शालिशुक के समय में वह सर्वथा छिन्न-भिन्न हो गया था। इसके क्या कारण थे? पहला कारण अकेन्द्रीयभाव की प्रवृत्ति है। केन्द्रीयभाव और अकेन्द्रीभाव की प्रवृत्तियों में भारत में सदा संघर्ष होता आया है। एक ओर जहाँ अजातशत्रु,

महापद्म नन्द और चन्द्रगुप्त मौर्य जैसे साम्राज्यवादी और महत्त्वाकांक्षी सम्राट् सारे भारत को एकच्छत्र शासन मे लाने का उद्योग करते रहे, वहाँ दूसरी ओर पुराने जनपदों और गणराज्यों में अपनी स्वतन्त्रता को कायम रखने की प्रवृत्ति भी विद्यमान रही। पुराने युग में भी इस देश मे बहुत-सी जातियों, अनेक भाषाओं और विभिन्न कानूनों व व्यवहार की सत्ता थी। विविध जनपदों मे अपनी पृथक् सत्ता की अनुभूति बहुत प्रबल थी। इस कारण ये जनपद सदा केन्द्रीभूत साम्राज्य के विरुद्ध विद्रोह कर अपनी स्वतन्त्र सत्ता को स्थापित कर लेने के लिए तत्पर रहते थे। सम्राट् की शक्ति के जरा भी निर्बल होने पर, विदेशी आक्रमण, दुर्भिक्ष या ऐसी परिस्थिति किसी भी के उत्पन्न हो जाने पर अकेन्द्रीभाव की ये प्रवृत्तियाँ प्रबल हो उठती थीं। मौर्य-साम्राज्य के पतन का यही प्रधान कारण था।

मगध के सम्राटों ने विविध जनपदों व गणराज्यों के अपने धर्म, व्यवहार, कानून और चरित्र को नष्ट करने का उद्योग नही किया। कौटल्य जैसे नीतिकारों ने यही प्रतिपादित किया था कि राजा इन सबके व्यवहार और चरित्र को न केवल नष्ट न करे, पर उन्हे उनमें स्थापित भी रखे, और अपने कानून का भी इस ढंग से निर्माण करे कि इनके कानून से उसका विरोध न हो। इस नीति का यह परिणाम हुआ, कि विविध जनपदों और गणराज्यो में सपनी पृथक् सत्ता की अनुभूति प्रबलता के साथ कायम रही, और मौर्यों की शक्ति के क्षीण होने पर ये राज्य फिर स्वतन्त्र हो गए। यही नीति शुगों, कण्वों और आंध्रो की रही। गुप्तों ने भी इसी नीति का अनुसरण किया। इसी कारण मालव, लिच्छवि, यौधेय आदि गणराज्य और कलिंग, आध्र आदि राजतन्त्र जनपद मगध के महत्वाकांक्षी सम्राटो से बार-बार परास्त होकर भी फिर-फिर स्वतन्त्र होते रहे।

मौर्य-राजाओ की धर्म-विजय की नीति ने भी उनकी राजनीतिक शक्ति के निर्बल होने में सहायता दी। अशोक ने जिस उदात्त विचारसरणी से इस नीति का अनुसरण किया था, उसके निर्बल उत्तराधिकारी उसका सर्वांश मे प्रयोग नही कर सके। राजा सप्रति ने सैनिको को भी साधुओ के वस्त्र पहनाकर उनसे अपने प्रिय धर्म का प्रचार कराया। राजा शालिशुक धर्म-विजय का ढोंग करता था। मागध-साम्राज्य की सत्ता उसकी अदम्य सेना पर ही आश्रित थी। कम्बोज से बग तक और काश्मीर से आंध्र तक विस्तीर्ण मागध-साम्राज्य को एक सूत्र में बाँधे रखने वाली शक्ति उसकी सेना ही थी। जब इस सेना के सैनिको ने साधुओ के पीत वस्त्र धारण कर धर्मप्रचार का कार्य प्रारम्भ कर दिया, तो यवनों और म्लेच्छों का शस्त्र से कैसे मुकाबला किया जा सकता था? धर्म-विजय की नीति से भारतीय धर्म, सभ्यता और सस्कृति के विदेशों में विस्तीर्ण होने मे चाहे कितनी ही सहायता क्यों न मिली हो, पर मगध की सैनिक शक्ति को उसने अवश्य निर्बल किया। यही कारण है, कि भविष्य के विचारको ने अशोक, शालिशुक आदि का मजाक उड़ाते हुए 'देवाना प्रिय' शब्द का अर्थ ही मूर्ख कर डाला। उन्होने यह भी लिखा कि राजाओं का काम सिर मुँडाकर धर्म-चिन्तन करना नही है, पर दण्ड (प्रचण्ड राजशक्ति) का धारण करना है। भारत में यह कहावत-सी हो गई कि जो ब्राह्मण असंतुष्ट हो, वह नष्ट हो जाता है, और जो

राजा संतुष्ट रहे, वह नष्ट हो जाता है। मगध के मौर्य-राजा जिस प्रकार अपनी राज-शक्ति से संतुष्ट हो, पहले श्रावक और बाद में श्रमण बनकर, बौद्ध-संघ के लिए अपना सर्वस्व निछावर करने के लिए तैयार हो गए थे, वह भारत की प्राचीन राजनीति के सर्वथा विरुद्ध था, और इसीलिए उनके इस रुख ने उनकी शक्ति के क्षीण होने में अवश्यमेव सहायता की। अकेन्द्रीभाव की बलवती प्रवृत्तियाँ, जनपदों व गण-राज्यों में अपनी पृथक् अनुभूति, और धर्मविजय की नीति का दुरुपयोग—ये तीन कारण थे, जिनसे शक्तिशाली विशाल मौर्य-साम्राज्य नष्ट हो गया।

(७) धर्मविजय की नीति

ऐतिहासिकों ने सम्राट् अशोक को संसार के सबसे बड़े महापुरुषों में गिना है। निःसन्देह, अपनी शक्ति की चरम सीमा पर पहुँचकर उसने उस सत्य को अनुभव किया, जिसके समझने की आज भी संसार को आवश्यकता है। शस्त्रों द्वारा विजय में लाखों मनुष्यों की हत्या होती है, लाखो स्त्रियाँ विधवा और बच्चे अनाथ हो जाते हैं। ऐसी विजय स्थिर भी नहीं रहती। ये सत्य हैं, जिन्हे कलिंग विजय के बाद अशोक ने अनुभव किया था। इसके स्थान पर यदि धर्म द्वारा नये-नये देशों की विजय की जाय, तो उससे खून की एक बूंद भी गिराये बिना, जहाँ अपनी शक्ति और प्रभाव का विस्तार होता है, वहाँ ऐसी विजय स्थिर भी रहती है। अशोक ने इसी धर्म-विजय के लिए प्रयत्न किया और उसे अपने उद्देश्य में सफलता भी हुई। चोल, पाण्ड्य, लंका, यवन-राज्य आदि विविध देश भारतीय भाषा, धर्म, सभ्यता और संस्कृति के प्रभाव में आ गये, और भारत के उस गौरव का प्रारम्भ हुआ, जो संसार के इतिहास में अपना विशिष्ट स्थान रखता है। सिकन्दर व सीजर सदृश विजेताओं का शस्त्रों द्वारा विजित प्रदेशों मे वह प्रभाव नहीं हुआ, जो अशोक का धर्म द्वारा जीते हुए देशों मे हुआ। सिकन्दर का विशाल साम्राज्य उसकी मृत्यु के साथ ही खण्ड-खण्ड हो गया। पर अशोक द्वारा स्थापित धर्म-साम्राज्य सदियों तक कायम रहा। उसके अवशेष अब तक भी जीवित-जागृत रूप में विद्यमान है। भारत में ही चन्द्रगुप्त मौर्य की शक्तिशाली सेनाओं ने जिस विशाल साम्राज्य की स्थापना की थी, एक सदी से भी कम समय मे उसमें क्षीणता के चिह्न प्रगट होने लग गए थे। पर अशोक द्वारा स्थापित धर्म-साम्राज्य की सदियों तक उन्नति और समृद्धि होती रही।

क्या अच्छा होता, यदि ये धर्मविजयी मौर्य-सम्राट् सैनिक बल की भी उपेक्षा न करते। "वह ब्रह्म-शक्ति है, और यह क्षत्र-शक्ति। शास्त्र और शस्त्र—दोनों के उपयोग से हम अपना उत्कर्ष करते हैं", प्राचीन भारत का यह आदर्श वस्तुतः अत्यन्त ऊँचा और क्रियात्मक है। यदि अन्तियोक, तुरमय आदि यवन-राजाओं के राज्यों में धर्म-विजय की स्थापना करते हुए मौर्य-राजा अपने शस्त्र-बल की उपेक्षा न करते, तो अशोक के अन्तिम काल में ही यवनो के आक्रमण भारत पर प्रारम्भ न हो जाते, और शालिशुक के समय में मथुरा, साकेत आदि का विजय करते हुए यवन लोग पाटलिपुत्र तक न पहुँच सकते।

सत्रहवाँ अध्याय

मौर्य कालीन भारत

(१) मौर्य युग की कला

भारत के इतिहास में मौर्य युग का बहुत महत्त्व है। इस काल मे प्रायः सम्पूर्ण भारत एक शासन के अधीन था। देश की राजनीतिक एकता भली-भाँति स्थापित थी, और भारत के धार्मिक नेता दूर-दूर तक 'धर्मविजय' स्थापित करने मे तत्पर थे। केवल राजनीति और धर्म के क्षेत्रों मे ही नहीं, अपितु कला, शासन, शिक्षा, समाज और आर्थिक जीवन आदि सभी क्षेत्रो मे इस काल में भारतीयों ने असाधारण उन्नति की, और इस उन्नति का दिग्दर्शन भारत के सास्कृतिक विकास को समझने के लिए बहुत उपयोगी है।

मौर्य युग के अनेक अवशेष इस समय उपलब्ध होते हैं। उनके अनुशीलन से इस युग की नगर-रचना, मूर्ति-निर्माण कला आदि के सम्बन्ध मे अनेक महत्वपूर्ण बातो का परिचय मिलता है।

पाटलिपुत्र नगर—मौर्य सम्राटो की राजधानी पाटलिपुत्र एक बहुत ही विशाल नगरी थी। सीरिया के राजा सैल्युकस निकेटर का राजदूत मैगस्थनीज ३०३ ई० पू० मे पाटलिपुत्र आया था और कई साल तक वहाँ रहा था। उसने अपने यात्रा-विवरण मे इस नगरी का जो वर्णन किया है, उसमे कुछ बातें उल्लेखनीय हैं। उसके अनुसार "भारतवर्ष मे जो सबसे बडा नगर है, वह प्रेसिआई (प्राच्य देश) मे पालिब्रोथा (पाटलिपुत्र) कहलाता है। वह गंगा और ऐरन्नाबोअस (सोन) नदियों के तटपर स्थित है। गंगा सब नदियो मे बडी है, पर ऐरन्नाबोअस संभवतः भारत मे तीसरे नम्बर की नदी है। भारत की नदियो मे यद्यपि इसका नम्बर तीसरा है, पर अन्य देशों की बडी से बडी नदी से भी यह बडी है। इस नगरी की बस्ती लम्बाई में ८० स्टेडिया और चौड़ाई में १५ स्टेडिया तक फैली हुई है (एक मील=सवा पाँच स्टेडिया)। यह नगरी समानान्तर चतुर्भुज की शक्ल में बनी है। इसके चारों ओर लकड़ी की एक प्राचीर (दीवार) है, जिसके बीच में तीर छोडने के लिए बहुत से छेद बने हैं। दीवार के साथ चारों तरफ एक खाई है, जो रक्षा के निमित्त और शहर का मैला बहाने के काम आती है। यह खाई गहराई मे ४५ फीट और चौडाई मे ६०० फीट है। शहर के चारों ओर की प्राचीर ५७० बुर्जों से सुशोभित है, और उसमे ६४ द्वार बने हैं।"

हजारों वर्ष बीत जाने पर अब इस वैभवशाली पाटलिपुत्र की कोई इमारत शेष नहीं है। पर पिछले दिनों जो खुदाई पटना के क्षेत्र मे हुई है, उससे मौर्यकाल के अनेक अवशेष उपलब्ध हुए हैं। प्राचीन पाटलिपुत्र नगर वर्तमान समय मे गंगा और

सोन नदियों के सुविस्तृत पाट के नीचे दब गया है। रेलवे स्टेशन तथा ग्रास-पास की बस्तियों ने भी इस प्राचीन नगरी के बहुत से भाग को अपने नीचे छिपा रखा है। रेलवे लाइन के दक्षिण में कुमराहार नाम की बस्ती के समीप प्राचीन पाटलिपुत्र के बहुत-से अवशेष प्राप्त हुए हैं। जनश्रुति के अनुसार इस स्थान के नीचे पुराने जमाने के अनेक राजप्रासाद दबे हुए हैं। इसी क्षेत्र में लकड़ी की बनी हुई एक पुरानी दीवार के भी अवशेष मिले हैं। अनुमान किया गया है, कि ये पाटलिपुत्र की उसी प्राचीर के अवशेष हैं, जिसका उल्लेख मैगस्थनीज ने अपने यात्रा-वर्णन मे किया था। लकड़ी की दीवार के कुछ अवशेष मौर्य महलों के भी माने जाते हैं।

अशोक के स्तूप—प्राचीन अनुश्रुति के अनुसार सम्राट् अशोक ने बहुत-से स्तूपों और विहारों का निर्माण कराया था। विविध ग्रन्थों में इनकी संख्या चौरासी लाख लिखी गई है। समय के प्रभाव से अब अशोक की प्रायः सभी कृतियाँ नष्ट हो चुकी हैं। पर अब से बहुत समय पूर्व चीनी यात्रियों ने इनका अवलोकन कर इनका वर्णन लिखा था। पाँचवी सदी के शुरू में चीनी यात्री फाइयान भारत आया था। उसने अपनी आँखों से अशोक की अनेक कृतियों को देखा था। यद्यपि उसके समय में अशोक को मरे सात सौ साल के लगभग हो चुके थे, पर इतने समय बाद भी उसकी कृतियाँ अच्छी दशा में विद्यमान थी। फाइयान ने लिखा है—'पुष्पपुर (पाटलिपुत्र) राजा अशोक की राजधानी थी। नगर मे अभी तक अशोक का राजप्रासाद और सभा-भवन है। सब असुरों के बनाये हुए हैं। पत्थर चुनकर दीवारें और द्वार बनाये गये हैं। उन पर सुन्दर खुदाई और पच्चीकारी है। इस लोक के लोग उन्हें नहीं बना सकते। अब तक नये के समान हैं।'

प्रसिद्ध चीनी यात्री ह्यू एनत्सांग सातवी सदी में भारत आया था। उसने अपने यात्रा विवरण मे अशोक के बनवाये हुए बहुत-से स्तूपों का वर्णन किया है, जिन्हें उसने अपनी आँखों से देखा था। तक्षशिला में उसने अशोक के बनवाये हुए तीन स्तूप देखे; जिनमे से प्रत्येक सौ-सौ फुट ऊँचा था। नगरहार के स्तूप की ऊँचाई ३०० फीट थी। इसी तरह मथुरा, थानेसर, कन्नौज, अयोध्या, प्रयाग, कौशाम्बी, श्रावस्ती, श्रीनगर, कपिलवस्तु, कुशीनगर, वाराणसी, वैशाली, गया, ताम्रलिप्ति आदि नगरों में उसने बहुत-से स्तूप देखे, जो अशोक ने बनवाये थे, और जो ऊँचाई में ७०, १००, २०० या ३०० फीट तक के थे। पाटलिपुत्र में उसने अशोक का राजमहल भी देखा, पर उस समय वह भग्न दशा में आ चुका था। इस चीनी यात्री ने उस स्थान पर बनवाया हुआ एक बहुत ऊँचा स्तम्भ भी देखा, जहाँ अशोक ने चण्डगिरिक की अध्यक्षता में नरकगृह का निर्माण कराया था। काश्मीर में ह्यू नत्सांग ने अशोक के बनवाये हुए उन बहुत-से स्तूपों और संघारामों को देखा था, जिनका उल्लेख कल्हण की राजतरंगिणी में भी किया गया है।

सारनाथ—अशोक की अनेक कृतियाँ वाराणसी के समीप सारनाथ में उपलब्ध हुई हैं। इनमें मुख्य निम्नलिखित हैं—

(क) **प्रस्तर-स्तम्भ**—इसपर अशोक की एक धम्मलिपि उत्कीर्ण है। यह स्तम्भ बहुत ही सुन्दर है। इसके सिर पर चार सिंह-मूर्तियाँ हैं, जो मूर्ति-निर्माण-कला

की दृष्टि से अद्वितीय हैं । किसी प्राणी की इतनी सजीव मूर्तियाँ अन्यत्र कहीं भी नहीं बनीं । मूर्तिकला की दृष्टि से इनमें कोई भी न्यूनता व दोष नहीं है । पहले इन मूर्तियों की आँखें मणियुक्त थीं, अब उनमें मणियाँ नहीं हैं । पर पहले वहाँ मणि होने के चिह्न अभी तक विद्यमान हैं । सिंह की चार मूर्तियो के नीचे चार चक्र हैं । चक्रों के बीच में हाथी, साँड, अश्व और शेर अंकित हैं । इन चक्रों तथा प्राणियों को चलती हुई दशा में बनाया गया है । इनके नीचे का अश एक विशाल घण्टे की तरह है । स्तम्भ तथा उसका शीर्षभाग बलुए पत्थर का है, जिसके ऊपर सुन्दर वज्रलेप है । यह लेप बहुत ही चिकना, चमकदार तथा सुन्दर है । यह वज्रलेप दो हजार से भी अधिक साल बीत जाने पर भी अब तक स्थिर रह सका, यह सचमुच बडे आश्चर्य की बात है ।

(ख) **पाषाणवेष्टनी**—सारनाथ में ही अशोक के समय की बनी हुई एक पाषाणवेष्टनी (रेलिंग) उपलब्ध हुई है । यह सारनाथ के बौद्ध-विहार के प्रधान मन्दिर के दक्षिण भाग वाले गृह मे ईंट के छोटे स्तूप के चारो ओर लगी हुई निकली है । यह सारी की सारी एक ही पत्थर की बनी हुई है । बीच में कहीं भी जोड नही है ।

(ग) **स्तूप**—अशोक द्वारा निर्मित्त एक स्तूप के कुछ चिह्न सारनाथ की खुदाई में प्राप्त हुए हैं । ये अशोक के प्रस्तर-स्तम्भ के समीप ही हैं ।

सांची—मौर्य-काल की कृतियो मे सांची का स्तूप बहुत महत्त्वपूर्ण है । यहाँ का मुख्य स्तूप मौर्य-काल का या उससे भी पहले का है । वह स्तूप बहुत बडा है । आधार के समीप इसका व्यास १०० फीट है । पूर्णावस्था मे इसकी ऊँचाई ७७ फीट के लगभग थी । वर्तमान समय मे इसका ऊपर का कुछ भाग टूट गया प्रतीत होता है । स्तूप लाल रंग के बलुए पत्थर का बना है । यह अर्धमंडलाकार (अंड) रूप से बना हुआ है, और इसके चारो तरफ एक ऊँची मेधि है, जो प्राचीन समय मे प्रदक्षिणापथ का काम देती थी । इस प्रदक्षिणापथ तक पहुँचने के लिए स्तूप के दक्षिण भाग मे एक दोहरी सोपान है । सम्पूर्ण स्तूप के चारो ओर भूमि के समतल के साथ एक अन्य प्रदक्षिणापथ है, जो कि पत्थर से बनी हुई पाषाणवेष्टनियो से परिवेष्टित है । यह वेष्टनी बहुत ही सादे ढंग की है, और किसी तरह की पच्चीकारी आदि से खचित नहीं है । यह चार चतुष्कोण प्रकोष्ठो मे विभक्त है, जिन्हें चार सुन्दर द्वार एक दूसरे से पृथक् करते हैं । चारो द्वारो पर नानाविध मूर्तियो और उत्कीर्ण चित्रों तथा खचित पच्चीकारी से युक्त तोरण हैं । इनसे बौद्ध-धर्म की अनेक गाथाओ को व्यक्त किया गया है ।

अनेक ऐतिहासिको का विचार है, कि सांची का यह विशाल स्तूप अशोक के समय का बना हुआ नहीं है । यह उससे लगभग एक सदी पीछे बना था । अशोक के समय मे ईंटो का एक सादा स्तूप था, जिसे बढाकर बाद मे वर्तमान रूप दिया गया ।

सांची के भग्नावशेषो में सम्राट् अशोक के समय की एक अन्य भी कृति उपलब्ध हुई है । स्तूप के दक्षिण द्वार पर एक प्रस्तर-स्तम्भ के अवशेष मिले हैं । विश्वास किया जाता है, कि शुरू मे यह स्तम्भ ४२ फीट ऊँचा था । इसके शीर्ष भाग पर भी सारनाथ के स्तम्भ के सदृश सिंहो की मूर्तियाँ हैं । वर्तमान समय मे ये मूर्तियाँ भग्नप्राय हो गई हैं । पर अपनी भग्नावस्था में भी ये अशोक के काल की कला

उत्कृष्टता का स्मरण दिलाती हैं। इस स्तम्भ पर अशोक का एक लेख भी उत्कीर्ण है। संभवतः, सांची का यह स्तम्भ भी अपने असली रूप में सारनाथ के स्तम्भ के ही सदृश था।

भरहुत—यह स्थान इलाहबाद से १५ मील दक्षिण-पश्चिम की ओर बुन्देलखण्ड के नागौद क्षेत्र में है। यहाँ पर भी अशोक के समय की अनेक कृतियाँ उपलब्ध हुई हैं। सर एलेकजेंडर कनिंघम ने सन् १८७३ में इस स्थान का पहले-पहल पता लगाया था। उस समय यहाँ एक विशाल स्तूप के अवशेष विद्यमान थे, जो कि ईंटों का बना था, और जिसका व्यास ३८ फीट था। स्तूप के चारों ओर एक पाषाण-वेष्टनी थी, जिस पर विविध बौद्ध-गाथाएँ चित्रों के रूप में खचित की गई थीं। पाषाण-वेष्टनी की ऊँचाई सात फीट से भी अधिक थी। सांची-स्तूप के समान यह पाषाण-वेष्टनी भी चार चतुष्कोण-प्रकोष्ठों में विभक्त थी, और प्रकोष्ठों के बीच में सुन्दर तोरणों से युक्त द्वार थे। पाषाणवेष्टनी के ऊपर जो चित्र उत्कीर्ण हैं उनमें जातक ग्रन्थों की गाथाओं की प्रधानता है, और ये उत्कीर्ण चित्र मौर्य-काल की कला के अत्युत्कृष्ट उदाहरण हैं।

भरहुत के स्तूप में सैकडों की संख्या में छोटे-छोटे आले बने हुए थे। उत्सव के अवसरों पर इनमें दीप जलाये जाते थे। वर्तमान समय में यह स्तूप नष्ट हो चुका है, और इसकी पाषाणवेष्टनी के बहुत-से खण्ड कलकत्ता म्युजियम की शोभा बढ़ा रहे हैं। यह ध्यान में रखना चाहिए, कि भरहुत के सब अवशेष मौर्यकाल के नहीं हैं। उनमें से कुछ शुंग काल के तथा उसके भी बाद के हैं।

सारनाथ, सांची और भरहुत की पाषाण-वेष्टनियों के सदृश ही अन्य अनेक वेष्टनियाँ और भी कई स्थानों से उपलब्ध हुई है। बोधगया से प्राप्त एक वेष्टनी के अवशेषों को अशोक के समय का समझा जाता है। प्राचीन पाटलिपुत्र के अवशेषों में भी कम से कम तीन इस प्रकार की पाषाण-वेष्टनियों के खण्ड प्राप्त हुए हैं जो मौर्य-काल के हैं। सांची के समीप ही भिलसा के पास बेसनगर नामक स्थान पर इसी प्रकार की पाषाण-वेष्टनी प्राप्त हुई है, जिस पर नानाविध चित्र उत्कीर्ण है। इसे भी मौर्य काल का माना जाता है। ये पाषाण-वेष्टनियाँ कला की दृष्टि से बड़े महत्त्व की हैं। ये प्रायः एक पत्थर की ही बनी हुई है और इनमें कहीं भी जोड़ नहीं है।

तक्षशिला—उत्तरापथ की इस प्राचीन राजधानी के स्थान पर जो खुदाई पिछले दिनों में हुई है, उसमें बहुत सी पुरानी कृतियाँ उपलब्ध हुई हैं। इनमें से केवल दो कृतियाँ मौर्य-काल की है। ये दोनों आभूषण है। तक्षशिला के क्षेत्र के अन्तर्गत भिड नामक स्थान से ये आभूषण प्राप्त हुए थे। मौर्य-काल के ये आभूषण बहुत ही सुन्दर हैं। ये प्रशस्त रत्नों से जटित हैं और सोने के बने हुए हैं।

चीनी यात्री ह्यु एन्त्सांग ने तक्षशिला में जिस कुणाल-स्तूप का अवलोकन किया था, वह भी वहाँ खुदाई में मिल गया है। पर अनेक ऐतिहासिकों का मत है कि यह स्तूप मौर्य काल के बाद का है। जिस स्थान पर अशोक की दन्तमुद्रा से अंकित कपट-लेख के अनुसार कुणाल को अंधा किया गया था, वहाँ के पुराने स्तूप को बढ़ाकर बाद में अत्यन्त विशाल स्तूप का निर्माण किया गया। ह्यु एन्त्सांग ने उसी स्तूप को देखा था,

और तक्षशिला मे अब तक जिस स्तूप के अवशेष मिले हैं, वह भी बाद का ही बना हुआ है।

मौर्यकालीन मूर्तियाँ—मौर्य-काल की सबसे प्रसिद्ध मूर्ति आगरा और मथुरा के बीच में परखम नामक गाँव से मिली है। यह सात फीट ऊँची है, और भूरे बलुए पत्थर की बनी है। उपर बहुत ही सुन्दर वज्रलेप है। दुर्भाग्य से मूर्ति का मुँह टूट गया है, और भुजाएँ भग्न हो गई है। मूर्ति के व्यक्ति की जो पोशाक बनायी गई है, उससे मौर्यकालीन पहरावे का भली-भाँति अनुमान किया जा सकता है। यह मूर्ति अब मथुरा के म्यूजियम मे विद्यमान है। मौर्यकाल की एक अन्य मूर्ति बेसनगर से मिली है। यह मूर्ति किसी स्त्री की है। इसकी भी भुजाएँ टूटी हुई और मुख बिगडा हुआ है। मूर्ति की ऊँचाई ६ फीट ७ इञ्च है। पटना और दीदारगज से भी दो अन्य मूर्तियाँ मिली हैं, जो मौर्यकाल की मानी जाती है। य परखम से प्राप्त मूर्ति से बहुत कुछ मिलती जुलती हैं।

अशोक के शिलालेख—सम्राट् अशोक के बहुत-स उत्कीर्ण लेख आजकल उपलब्ध है। अशोक ने अपने इन शिलालेखो को 'धम्मलिपि कहा है। उनकी जो दो प्रतियाँ उत्तर-पश्चिम सीमाप्रान्त के पशावर और हजारा जिलो म मिली है, वे खरोष्ठी लिपि मे हे शेष सब ब्राह्मी लिपि मे है। कन्धार मे अशोक के ऐसे अभिलेख भी प्राप्त हुए है, जिन्हे ग्रीक और अरेमइक लिपियो मे उत्कीर्ण कराया गया है। उसके लेख शिलाओ, पत्थर की ऊँची लाटो और गुफाओ म उत्कीर्ण किये गए है।

(क) **चतुर्दश शिलालेख**—अशोक के लेखो मे ये सबसे प्रधान है। इनकी प्रतियाँ विभिन्न स्थानो पर अविकल या अपूर्ण रूप मे मिली है। ये लेख निम्नलिखित स्थानो पर मिले हैं—

१ पेशावर जिले म शाहबाजगढी—पेशावर से चालीस मील उत्तर-पूर्व की ओर शाहबाजगढ़ी नाम का गाँव है। उसके समीप ही एक विशाल शिला है, जो २४ फीट लम्बी, दस फीट ऊँची और दस फीट मोटी है। इस शिला पर बारहवें लेख को छोडकर अन्य सब लेख खुदे हुए है। बारहवाँ लेख पचास गज की दूरी पर एक पृथक् शिला पर उत्कीर्ण है।

२. मानसरा—उत्तर-पश्चिमी सीमा प्रान्त (पाकिस्तान) के हजारा जिले मे यह स्थान है। यहाँ केवल पहले बारह लेख ही उपलब्ध हुए हैं।

३. कालसी—देहरादून जिले मे यमुना के तट पर एक विशाल शिला पर अशोक के चौदहो लेख उत्कीण है। प्राचीन समय का श्रुघ्न नगर इसी क्षेत्र मे था।

४. गिरनार—काठियावाड की प्राचीन राजधानी गिरनार के समीप ही एक विशाल शिला पर ये चौदह लेख उत्कीर्ण है।

५. सोपारा—यह स्थान महाराष्ट्र के थाना जिले मे है। प्राचीन शूर्पारक नगरी सम्भवत यही पर थी। वहाँ आठवे शिलालेख का केवल तिहाई हिस्सा ही भग्नावस्था मे मिला है।

६. धौली—उडीसा मे भुवनेश्वर से सात मील की दूरी पर यह स्थान है। मौर्य युग मे सम्भवत यही तोसाली नगरी थी, जो कलिंग की राजधानी थी। चतुर्दश

लेखों में नं० ११, १२ और १३ यहाँ नही मिलते, उनके स्थान पर दो अन्य लेख मिलते हैं, जिन्हें कि अशोक ने कलिंग के लिए विशेष रूप से उत्कीर्ण कराया था।

७. जौगढ—आन्ध्र प्रदेश के गंजाम जिले में यह स्थान है। यह भी प्राचीन कलिंग देश के ही अन्तर्गत था। यहाँ भी ११, १२ और १३ सख्या के लेख नही मिलते। उनकी जगह पर धौली वाले वे दो विशेष लेख मिलते हैं, जो खास कर कलिंग के लिए उत्कीर्ण कराये गए थे।

८ एर्रगुडि—अशोक ने चतुर्दश शिलालेखो की आठवी प्रति आध्र प्रदेश के कर्नूल जिले में एर्रगुडि नामक स्थान से पिछले दिनो मे ही मिली है।

९. कन्धार में इन लेखों की ऐसी प्रतियाँ मिली हैं, जो ग्रीक तथा अरेमइक लिपियों मे है।

(ख) **लघु शिलालेख**—चतुर्दश शिलालेखों की भाँति ये भी मौर्य साम्राज्य के दूर-दूर के प्रदेशो से उपलब्ध हुए हैं। इनकी विविध प्रतियां निम्नलिखित स्थानो पर मिली है :—

१. रूपनाथ—मध्यप्रदेश के जबलपुर जिले में कैमोर पर्वत की उपत्यका मे एक शिला पर ये लेख उत्कीर्ण हैं। २ सहसराम—बिहार प्रान्त के शाहाबाद जिले मे सहसराम के पूर्व में चन्दनपीर पर्वत की एक कृत्रिम गुफा मे ये लेख उत्कीर्ण हैं। ३ बैराट—यह स्थान राजपूताने के जयपुर क्षेत्र मे है। ४. सिद्धपुर—यह स्थान माइसूर के चीतलद्रुग जिले मे है। ५. जतिंग रामेश्वर—यह भी चीतलद्रुग जिले में ही है। ६. ब्रह्मगिरि—यह भी चीतलद्रुग मे सिद्धपुर और जतिग रामेश्वर के समीप मे ही है। ७. मास्की—यह आन्ध्र प्रदेश के रायचूर जिले मे है। इस स्थान पर जो लेख मिले है, वे बहुत भग्नावस्था मे है। पर ऐतिहासिक दृष्टि से उनका बडा महत्त्व है। इन्ही से यह बात प्रामाणिक रूप से ज्ञात हो सकी है, कि राजा प्रियदर्शी के नाम से जो विविध शिलालेख भारत भर मे उपलब्ध हुए है, वे वस्तुत. मौर्य-सम्राट् अशोक के ही हैं। इनमे स्पष्ट रूप से राजा अशोक का नाम दिया गया है। ८. गोविमठ—(माइसूर मे), ९. पालकिमुण्डु—(गोविमठ से चार मील दूर), १०. एर्रगुडि, ११ राजुल मंडगिरि (आध्र-कर्नूल जिले मे), १२. अहरौरा (मिर्जापुर जिले मे), और १३. दिल्ली के दक्षिणी क्षेत्र में।

(ग) **भाब्रू का लेख**—जयपुर मे बैराट के पास ही एक चट्टान पर यह लेख उत्कीर्ण है। इस लेख मे अशोक ने उन बौद्ध-ग्रन्थों के नाम विज्ञापित कराये थे, जिन्हे वह इस योग्य समझता था, कि भिक्खु लोग उनका विशेष रूप से अनुशीलन करें।

(घ) **सप्त स्तम्भ लेख**—शिलाओ के समान स्तम्भो पर भी अशोक ने लेख उत्कीर्ण कराये थे। ये स्तम्भ-लेख निम्नलिखित स्थानों पर उपलब्ध हुए है :—
१. दिल्ली मे टोपरा स्तम्भ—यह स्तम्भ फीरोजशाह की लाट के नाम से मशहूर है। २. दिल्ली में मेरठ स्तम्भ—यह काश्मीरी दरवाजे के उत्तर-पश्चिम में पहाडी पर है। ३. इलाहाबाद स्तम्भ—यह वह प्रसिद्ध स्तम्भ है, जिसपर गुप्त सम्राट् समुद्रगुप्त की प्रशस्ति भी उत्कीर्ण है। यह अब प्रयाग के पुराने किले में विद्यमान है। ४. लौरिया अरराज स्तम्भ—बिहार के चम्पारन जिले मे राधिया नामक गाँव से ढाई मील पूर्व-

दक्षिण में अरराज महादेव का मन्दिर है। वहाँ से मील भर दूर लौरिया नामक स्थान पर यह स्तम्भ विद्यमान है। ५. लौरिया नन्दन गढ़—यह भी बिहार के चम्पारन जिले में है। ६. रामपुरवा स्तम्भ—यह भी चम्पारन जिले में ही है।

(ग) लघु स्तम्भ लेख—ये तीन स्थानों पर उत्कीर्ण हुए मिलते हैं—सारनाथ, सांची और प्रयाग में।

(घ) अन्य स्तम्भ लेख—सप्त स्तम्भ लेखो और लघु स्तम्भ लेखों के अतिरिक्त अशोक के कुछ अन्य स्तम्भ लेख भी मिले हैं।

(छ) गुहा लेख—शिलाओं और स्तम्भो के अतिरिक्त गुहा मन्दिरों में भी अशोक ने कुछ लेख उत्कीर्ण कराये थे। इस प्रकार के तीन लेख अब तक उपलब्ध हुए हैं। इनमें अशोक द्वारा आजीवक संप्रदाय के भिक्खुओ को दिये गये दान का उल्लेख है। अशोक के लेखों से युक्त ये गुहाएँ गया से सोलह मील दूर उत्तर में बराबर नाम की पहाड़ियों मे विद्यमान हैं।

(२) मौर्यकाल की शासन-व्यवस्था

कौटलीय अर्थशास्त्र—प्राचीन भारत की शासन संस्थाओ तथा राजनीतिक विचारो के परिज्ञान के लिए 'अर्थशास्त्र' का बहुत महत्त्व है। इसकी रचना चन्द्रगुप्त मौर्य के प्रधान मंत्री और गुरु चाणक्य ने की थी। इसीलिए इस ग्रन्थ मे लिखा है—"जिसने बड़े अमर्ष के साथ शास्त्र का, शस्त्र का और नन्दराज के हाथ मे गयी हुई पृथिवी का उद्धार किया, उसी ने इस शास्त्र की रचना की।" एक अन्य स्थान पर लिखा गया है—"सब शास्त्रों का अनुक्रम करके और प्रयोग समझकर कौटल्य ने नरेन्द्र के लिए यह शासन की विधि (व्यवस्था) बनाई।"

ऐतिहासिको मे इस बात पर बहुत विवाद रहा है, कि अर्थशास्त्र की रचना किसी एक विद्वान् द्वारा हुई या वह किसी सम्प्रदाय मे धीरे-धीरे चिरकाल तक विकसित होता रहा। क्या उसे मौर्य-युग में चाणक्य द्वारा बनाया गया, या बाद मे चाणक्य के मन्तव्यो के अनुसार किसी अन्य व्यक्ति ने उसकी रचना की ? हमे इस विवाद में यहाँ पड़ने की आवश्यकता नही। बहुसख्यक विद्वानो ने अब स्वीकृत कर लिया है, कि कौटलीय अर्थशास्त्र मौर्य-काल की रचना है, और उसका निर्माण आचार्य चाणक्य द्वारा नरेन्द्र चन्द्रगुप्त के शासन की 'विधि' के रूप मे ही हुआ था। यदि इसके कुछ अंशो को बाद का भी बना हुआ माना जाय, तो भी इसमे तो कोई सन्देह नही कि इस ग्रन्थ से मौर्य-काल की शासन-व्यवस्था, आर्थिक दशा और सामाजिक व्यवहार के सम्बन्ध मे बहुत-सी ज्ञातव्य बातें मालूम हो जाती हैं। अर्थशास्त्र के अध्ययन से हम मौर्यकालीन भारत के विषय मे जो जानकारी प्राप्त कर सकते है, वह प्राचीन भारत के किसी काल के सम्बन्ध मे किसी भी अन्य साधन से प्राप्त नही की जा सकती।

साम्राज्य का शासन—मौर्यों के समय मे मगध का साम्राज्य बहुत विस्तृत हो चुका था। यद्यपि सम्पूर्ण साम्राज्य की राजधानी पाटलिपुत्र थी, पर वहाँ से कंबोज, बंग और आंध्र तक विस्तृत साम्राज्य का शासन सुचारु रूप से नहीं किया जा सकता था। अतः शासन की दृष्टि से मौर्यों के अधीन संपूर्ण 'विजित' को पाँच भागों में बाँटा

गया था, जिनकी राजधानियाँ क्रमशः पाटलिपुत्र, तोसाली, उज्जयिनी, तक्षशिला और सुवर्णगिरि थीं। इन राजधानियों को दृष्टि में रखकर हम यह सहज में अनुमान कर सकते है, कि विशाल मौर्य-साम्राज्य पाँच चक्रों में विभक्त था। ये चक्र (प्रान्त या सूबे) निम्नलिखित थे—(१) उत्तरापथ—जिसमे कम्बोज, गांधार, काश्मीर, अफगानिस्तान, पंजाब आदि के प्रदेश अन्तर्गत थे। इसकी राजधानी तक्षशिला थी। (२) पश्चिमचक्र—इसमें काठियावाड़-गुजरात से लगाकर राजपूताना, मालवा आदि के सब प्रदेश शामिल थे। इसकी राजधानी उज्जयिनी थी। (३) दक्षिणापथ—विन्ध्याचल के दक्षिण का सारा प्रदेश इस चक्र मे था, और इसकी राजधानी सुवर्णगिरि थी। (४) कलिंग—अशोक ने अपने नये जीते हुए प्रदेश का एक पृथक् चक्र बनाया था, जिसकी राजधानी तोसाली थी। (५) मध्य देश—इसमें वर्तमान बिहार, उत्तर-प्रदेश और बंगाल सम्मिलित थे। इसकी राजधानी पाटलिपुत्र थी। इन पाँचों चक्रों का शासन करने के लिए प्रायः राजकुल के व्यक्तियों को नियत किया जाता था, जिन्हें 'कुमार' कहते थे। कुमार अनेक महामात्यों की सहायता से अपने-अपने चक्र का शासन करते थे। अशोक और कुणाल राजा बनने से पूर्व उज्जयिनी, तक्षशिला आदि में 'कुमार' रह चुके थे।

इन पाँच चक्रों के अन्तर्गत फिर अनेक छोटे शासन-केन्द्र भी थे, जिनमे 'कुमार' के अधीन महामात्य शासन करते थे। उदाहरण के लिए तोसाली के अधीन समापा मे, पाटलिपुत्र के अधीन कौशाम्बी मे और सुवर्णगिरि के अधीन इसिला में महामात्य रहते थे। उज्जयिनी के अधीन सुराष्ट्र का एक पृथक् प्रदेश था, जिसका शासक चन्द्रगुप्त के समय मे वैश्य पुष्यगुप्त था। अशोक के समय में वहाँ का शासन यवन तुषाष्प के अधीन था। मागध सम्राट् की ओर से जो आज्ञाएँ प्रचारित की जाती थीं, वे चक्रों के 'कुमारों' के महामात्यों के नाम ही होती थी। यही कारण है, कि दक्षिणापथ में इसिला के महामात्यों के नाम अशोक ने जो आदेश भेजे, वे सुवर्णगिरि के कुमार व आर्यपुत्र के द्वारा भेजे गये। इसी प्रकार कलिंग मे समापा के महामात्यों को तोसाली के कुमार की मार्फत ही आज्ञा भेजी गई। पर मध्यदेश (राजधानी-पाटलिपुत्र) के चक्र पर किसी कुमार की नियुक्ति नही होती थी, उसका शासन सीधा सम्राट् के अधीन था। अतः उसके अन्तर्गत कौशाम्बी के महामात्यों को अशोक ने सीधे ही अपने आदेश दिये थे।

चक्रों के शासन के लिए कुमार की सहायतार्थ जो महामात्य नियुक्त होते थे, उन्हें शासन-सम्बन्धी बहुत अधिकार रहते थे। अतएव अशोक ने चक्रों के शासकों के नाम जो आज्ञाएँ प्रकाशित की, उन्हे केवल कुमार या आर्यपुत्र के नाम से नही भेजा गया, अपितु कुमार और महामात्य—दोनों के नाम से प्रेषित किया गया। इसी प्रकार जब कुमार भी अपने अधीनस्थ महामात्यों को कोई आज्ञा भेजते थे, तो उन्हे वे अपने नाम से नहीं, अपितु महामात्य-सहित कुमार के नाम से भेजते थे।

जनपद और ग्राम—मौर्य-साम्राज्य के पाँच मुख्य चक्र या विभाग थे, और फिर ये चक्र अनेक मंडलों में विभक्त थे। प्रत्येक मंडल में बहुत-से जनपद होते थे। संभवतः, ये जनपद प्राचीन युग के जनपदो से ही प्रतिनिधि थे। शासन की दृष्टि से जनपदो के अनेक विभाग होते थे, जिन्हें कौटलीय अर्थशास्त्र में स्थानीय, द्रोणमुख,

खार्वटिक, संग्रहण और ग्राम कहा गया है। शासन की सबसे छोटी इकाई ग्राम थी। दस ग्रामों के समूह को संग्रहण कहते थे। बीस संग्रहणों (या १०० ग्रामो) से एक खार्वटिक बनता था। दो खार्वटिकों (या ४०० ग्रामों) से एक द्रोणमुख और २ द्रोणमुखों (८०० ग्रामों) से एक स्थानीय बनता था। संभवतः स्थानीय, द्रोणमुख, और खार्वटिक शासन की दृष्टि से एक ही विभाग को सूचित करते हैं। जनपद शासन के लिए जिन विभागो में विभक्त होता था, उन्हे स्थानीय (संभवतः, वर्तमान समय का थाना) कहते थे। स्थानीय के छोटे विभागों को संग्रहण कहते थे। एक संग्रहण मे प्रायः दस ग्राम रहते थे। स्थानीय मे लगभग ८०० ग्राम हुआ करते थे। पर कुछ स्थानीय आकार में छोटे होते थे, या कुछ प्रदेशो में आबादी घनी न होने के कारण 'स्थानीय' में गाँवो की संख्या कम रहती थी। ऐसे ही स्थानीयो को ग्रामो की संख्या के आधार पर द्रोणमुख और खार्वटिक कहा जाता था।

ग्राम का शासक ग्रामिक, संग्रहण का गोप और स्थानीय का स्थानिक कहलाता था। संपूर्ण जनपद के शासक को समाहर्ता कहते थे। समाहर्ता के ऊपर महामात्य होते थे, जो चक्रो के अन्तर्गत विविध मंडलो का शासन करने के लिए केन्द्रीय सरकार की ओर से नियुक्त किये जाते थे। इन मडल-महामात्यो के ऊपर कुमार और उसके सहायक अन्य महामात्य रहते थे। सबसे ऊपर पाटलिपुत्र का मौर्य-सम्राट् था।

शासक वर्ग—शासनकार्य मे सम्राट् की सहायता करने के लिए एक मंत्रि-परिषद् होती थी। कौटलीय अर्थशास्त्र मे इस मंत्रिपरिषद् का विस्तार से वर्णन किया गया है। अशोक के शिलालेखो मे भी उसकी परिषद् का बार-बार उल्लेख है। चक्रों के शासक कुमार भी जिन महामात्यो की सहायता से शासन कार्य करते थे, उनकी भी एक परिषद् होती थी। केन्द्रीय सरकार की ओर से जो राज-कर्मचारी साम्राज्य में शासन के विविध पदो पर नियुक्त थे, उन्हे 'पुरुष' कहते थे। ये पुरुष उत्तम, मध्यम और हीन—इन तीन दर्जों के होते थे। जनपदो के समूहो (मंडलो) के ऊपर शासन करने वाले महामात्यो की संज्ञा संभवतः प्रादेशिक या प्रदेष्टा थी। उनके अधीन जनपदों के शासक समाहर्त्ता कहलाते थे। निःसंदेह, ये उत्तम 'पुरुष' होते थे। इनके अधीन 'युक्त' आदि विविध कर्मचारी मध्यम व हीन दर्जे मे रखे जाते थे।

स्थानीय स्वशासन—जनपदो के शासन का संचालन करने के लिए जहाँ केन्द्रीय सरकार की ओर से समाहर्त्ता नियत थे, वहाँ जनपदों की अपनी आन्तरिक स्वतन्त्रता भी अक्षुण्ण रूप से कायम थी। कौटलीय अर्थशास्त्र मे बार-बार इस बात पर जोर दिया गया है कि जनपदो, नगरों और ग्रामो के धर्म, चरित्र और व्यवहार को अक्षुण्ण रखा जाय। इसका अभिप्राय यह हुआ, कि इनमे अपना स्थानीय स्वशासन पुरानी परम्परा के अनुसार जारी था। सब जनपदों मे एक ही प्रकार की स्थानीय स्वतन्त्रता नही थी। हम जानते हैं, कि मागध-साम्राज्य के विकास से पूर्व कुछ जनपदों मे गणशासन और कुछ मे राजाओ का शासन था। उनके व्यवहार और धर्म अलग-अलग थे। जब वे मगध के साम्राज्यवाद के शिकार हो गये, तो भी उनमे अपनी पुरानी परम्परा के अनुसार स्थानीय शासन जारी रहा, और ग्रामो मे पुरानी ग्रामसभाओ और नगरों मे नगरसभाओं (पौरसभा) के अधिकार कायम रहे। ग्रामों के समूहों व जनपदों

में भी जनपद सभाओं की सत्ता विद्यमान रही। पर साथ ही केन्द्रीय सरकार की ओर से भी विविध करों को एकत्र करने तथा शासन का संचालन करने के लिए 'पुरुष' नियुक्त होते रहे।

मौर्य-साम्राज्य के शासन का यही स्थूल ढाँचा है।

विजिगीषु राजर्षि सम्राट्—विविध जनपदों और गणराज्यों को जीतकर जिस विशाल मागध साम्राज्य का निर्माण हुआ था, उसका केन्द्र राजा या सम्राट् था। चाणक्य के अनुसार राज्य के सात अगो मे केवल दो की मुख्यता है, राजा की और देश की। इसी लिए उन्होंने राजा की वैयक्तिक योग्यता को बहुत महत्त्व दिया है। उनके अनुसार राजा को आदर्श व्यक्ति होना चाहिए।

पर चाणक्य यह भी समझते थे कि राजा के पद के लिए आदर्श पुरुष सुगमता से नहीं मिल सकता, यद्यपि एक कुलीन और होनहार व्यक्ति को बचपन से ही उचित शिक्षा देकर उसे एक आदर्श राजा बनने के लिए तैयार किया जा सकता है। चाणक्य ने उस शिक्षा और विनय का विस्तार से वर्णन किया है, जो बचपन और युवावस्था मे राजा को दी जानी चाहिए। राजा के लिए आवश्यक है, कि वह काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद और हर्ष—इन छ. शत्रुओ को परास्त कर अपनी इन्द्रियो पर पूर्णतया विजय करे। उसके समय का एक-एक क्षण काम में लगा हो। दिन में तो उसे बिलकुल भी विश्राम नही करना चाहिए। रात को भी उसे तीन घटे से अधिक सोने की आवश्यकता नही। रात और दिन मे उसके समय का पूरा-पूरा कार्यक्रम चाणक्य ने दिया है। भोग-विलास, नाच-रंग आदि के लिए कोई भी समय इसमे नही रखा गया। चाणक्य का राजा एक राजर्षि है, जो सर्वगुणसम्पन्न आदर्श पुरुष है, जिसका एकमात्र लक्ष्य विजिगीषा है। वह सम्पूर्ण जनपदो को विजय कर अपने अधीन करने के लिए प्रयत्नशील है। चातुरग साम्राज्य की कल्पना को उसे कार्यरूप में परिणत करना है। उसका मतव्य है, कि 'सारी पृथिवी एक देश है। उसमे हिमालय से लेकर समुद्र पर्यन्त सीधी रेखा खीचने से जो एक हजार योजन विस्तीर्ण प्रदेश है, वह एक चक्रवर्ती राज्य का क्षेत्र है।' इस स्वप्न को जिस व्यक्ति को 'कूटस्थानीय' होकर पूरा करना हो, वह यदि सर्वगुणसम्पन्न न हो, राजर्षि का जीवन न व्यतीत करे, और काम, क्रोध आदि शत्रुओं का शिकार हो, तो वह कैसे सफलता प्राप्त कर सकता है? अत. कौटलीय अर्थशास्त्र के विजिगीषु राजा को पूर्ण पुरुष होकर राजर्षि का जीवन व्यतीत करते हुए अपना कार्य करना चाहिए।

मन्त्रिपरिषद्—आचार्य चाणक्य के अनुसार राजवृत्ति तीन प्रकार की होती है—प्रत्यक्ष, परोक्ष और अनुमेय। जो अपने सामने हो, वह प्रत्यक्ष है। जो दूसरे बताएँ, वह परोक्ष है। किए हुए कर्म से बिना किए कर्म का अन्दाज करना अनुमेय कहलाता है। सब काम एक साथ नही होते। राजकर्म बहुत-से होते हैं, और बहुत-से स्थानों पर होते हैं। अतः एक राजा सारे राजकर्म अपने आप नही कर सकता। इसलिए उसे अमात्यो की नियुक्ति करने की आवश्यकता होती है। इसीलिए यह भी आवश्यक है, कि मन्त्री नियत किए जाएँ, जो परोक्ष और अनुमेय राजकर्मों के सम्बन्ध मे राजा को परामर्श देते रहें। राज्य-कार्य सहायता के बिना सिद्ध नही हो सकता। एक पहिये से

राज्य की गाड़ी नहीं चल सकती, इसलिए राजा सचिवों की नियुक्ति करे, और उनकी सम्मति को सुने। अच्छी बड़ी मन्त्रिपरिषद् को रखना राजा के अपने लाभ के लिए है, इससे उसकी अपनी 'मन्त्रशक्ति' बढ़ती है। परिषद् मे कितने मन्त्री हों, इस विषय मे विविध आचार्यों के विविध मत थे। मानव, बार्हस्पत्य, औशनस आदि सम्प्रदायों के मत में मन्त्रिपरिषद् में क्रमशः बारह, सोलह और बीस मन्त्री होने चाहिएँ। पर चाणक्य किसी निश्चित संख्या के पक्ष में नहीं थे। उनका मत था कि जितनी सामर्थ्य हो, जितनी आवश्यकता हो, उतने ही मन्त्री परिषद् में रख लिए जाएँ।

बड़ी मन्त्रिपरिषद् के अतिरिक्त एक छोटी उप-समिति भी होती थी, जिसमें तीन या चार खास मन्त्री रहते थे। इसे 'मन्त्रिणः' कहा जाता था। जरूरी मामलों पर इससे सलाह ली जाती थी। राजा प्रायः अपने 'मन्त्रिणः' और 'मन्त्रिपरिषद्' के परामर्श से ही राजकार्य का संचालन करता था। मन्त्रिपरिषद् मे जो बात भूयिष्ठ (अधिक संख्या के) कहें, उसी के अनुसार कार्य करना उचित था। पर यदि राजा को भूयिष्ठ की बात 'कार्यसिद्धिकर' प्रतीत न हो, तो वह उसी सलाह को माने, जो उसकी दृष्टि मे कार्यसिद्धिकर हो। मन्त्रिपरिषद् मे केवल ऐसे ही व्यक्तियों को नियत किया जाय, जो 'सर्वोपधाशुद्ध' हो, अर्थात् सब प्रकार से परीक्षा करके जिनके विषय मे यह निश्चित हो जाए, कि वे सब प्रकार के दोषो व निर्बलताओं से विरहित है।

इस प्रकार स्पष्ट है, कि मौर्यकाल मे राज्यकार्य मे परामर्श देने के लिए मन्त्रिपरिषद् की सत्ता थी। अशोक के शिलालेखो मे जिसे 'परिषा' कहा है, वही कौटलीय अर्थशास्त्र की मन्त्रिपरिषद् है। पर इस परिषद् के मन्त्रियों की नियुक्ति न तो निर्वाचन से होती थी, और न इसके कोई कुलक्रमानुगत सदस्य ही होते थे। परिषद् के मन्त्रियों की नियुक्ति राजा अपनी स्वेच्छा से करता था। जिन अमात्यो व अन्य व्यक्तियो को वह 'सर्वोपधाशुद्ध' पाता था, उनमे से कुछ को आवश्यकतानुसार मन्त्रिपरिषद् मे नियुक्त कर देता था। प्रायः राजा मन्त्रियों की सलाह के अनुसार कार्य करता था, पर यदि वह उनके मत को कार्यसिद्धिकर न समझे, तो अपनी इच्छानुसार भी कार्य कर सकता था। मागध-साम्राज्य मे केन्द्रीभूत कूटस्थानीय स्थिति राजा की ही थी। देश और प्रजा की उन्नति या अवनति उसी के हाथ मे थी, अतः उसके मार्ग में मन्त्रिपरिषद् बाधा नहीं डाल सकती थी। पर यदि राजा कुपथगामी हो जाए, राज्यकार्य की सर्वथा उपेक्षा कर ऐसे कार्यों मे लग जाए, जिनसे प्रजा का अहित हो, तो प्रकृतियो (मन्त्रियों और अमात्यो) को यह अधिकार अवश्य था, कि वे उसके विरुद्ध उठ खड़े हों, और उसे बलात् ठीक मार्ग पर लाने का प्रयत्न करें। भारत की यही प्राचीन परम्परा थी। पुराने जनपदो मे सभा-समिति या पौर-जानपद राजा को सन्मार्ग पर स्थिर रखने में सदा प्रयत्नशील रहते थे। मागध-साम्राज्य की मन्त्रिपरिषद् यद्यपि राजा की अपनी कृति थी, तथापि वह प्राचीन परिपाटी के अनुसार राजा को सुपथ पर लाने के कर्त्तव्य की उपेक्षा नहीं करती थी। यही कारण है, कि जब अशोक ने बौद्ध-संघ को अनुचित रूप से राज्यकोष से दान देने का विचार किया, तो युवराज सम्प्रति द्वारा अमात्यों ने उसे रुकवा दिया।

जनता का शासन—पर यदि मागध साम्राज्य के शासन में 'कूटस्थानीय' राजा

का इतना महत्त्वपूर्ण स्थान था, और उसकी मन्त्रिपरिषद् उसकी अपनी नियत की हुई सभा होती थी, तो क्या मागध-राजाओं का शासन सर्वथा निरंकुश और स्वेच्छाचारी था ? यह ठीक है, कि अपने बाहुबल और सैन्यशक्ति से विशाल साम्राज्य का निर्माण करने वाले मागध सम्राटों पर अंकुश रखने वाली कोई अन्य सर्वोच्च सत्ता नही थी, और ये राजा ठीक प्रकार से प्रजा का पालन करें, इस बात की प्रेरणा देने वाली शक्ति उनकी अपनी योग्यता, अपनी महानुभावता और अपनी सर्वगुणसम्पन्नता के अतिरिक्त और कोई नहीं थीं, पर मौर्यकाल मे देश के शासन में जनता का भी हाथ अवश्य था। मागध साम्राज्य ने जिन विविध जनपदों को अपने अधीन किया था, उनके व्यवहार, धर्म और चरित्र अभी अक्षुण्ण थे। वे अपना शासन बहुत कुछ स्वयं ही करते थे। इस युग के शिल्पी और व्यवसायी जिन श्रेणियो में संगठित थे, वे भी अपना शासन स्वयं ही करती थीं। नगरों की पौर सभाएँ, व्यापारियों के पूग और निगम, तथा ग्रामो की ग्रामसाभाएँ अपने आन्तरिक मामलों में अब भी पूर्ण स्वतन्त्र थी। राजा लोग देश के प्राचीन परम्परागत धर्म का पालन कराते थे, और अपने 'व्यवहार' का निश्चय उसी के अनुसार करते थे। यह धर्म और व्यवहार सनातन थे, राजा की स्वेच्छा पर निर्भर नही थे। इन्ही सबका परिणाम था, कि पाटलिपुत्र मे विजिगीषु राजर्षि राजाओं के रहते हुए भी जनता अपना शासन अपने आप करती थी।

नगरों का शासन—मौर्यकाल के नगरों मे स्थानीय स्वशासन की क्या दशा थी, इसका परिचय मैगस्थनीज के यात्रा-विवरण से मिलता है। उसके अनुसार पाटलिपुत्र की नगर-सभा छः उपसमितियो मे विभक्त थी। प्रत्येक उपसमिति के पाँच-पाँच सदस्य होते थे। इन उपसमितियो के कार्य निम्नलिखित थे—

पहली उपसमिति का कार्य औद्योगिक तथा शिल्प-सम्बन्धी कार्यों का निरीक्षण करना था। मजदूरी की दर निश्चित करना तथा इस बात पर विशेष ध्यान देना कि शिल्पी लोग शुद्ध तथा पक्का माल काम मे लाते हैं, और मजदूरों के कार्य का समय तय करना इसी उपसमिति का कार्य था। चन्द्रगुप्त मौर्य के समय मे शिल्पी लोगो का समाज मे बडा आदर था। प्रत्येक शिल्पी राष्ट्र की सेवा मे नियुक्त माना जाता था। यही कारण है, कि यदि कोई मनुष्य किसी शिल्पी के ऐसे अंग को विकल कर दे, जिससे कि उसके हस्तकौशल मे न्यूनता आ जाए, तो उसके लिए मृत्युदण्ड की व्यवस्था थी।

दूसरी उपसमिति का कार्य विदेशियों का सत्कार करना था। वर्तमान समय के विदेश-मन्त्रालयो के अनेक कार्य यह समिति किया करती थी। जो विदेशी पाटलिपुत्र मे आएँ, उनपर यह उपसमिति निगाह रखती थी। साथ ही, विदेशियो के निवास, सुरक्षा और समय-समय पर औषधोपचार का कार्य भी इन उप-समिति के ही सुपुर्द था। यदि किसी विदेशी की पाटलिपुत्र मे मृत्यु हो जाए, तो उसके देश के रिवाज के अनुसार उसे दफनाने का प्रबन्ध भी इसी की तरफ से होता था। मृत परदेशी की जायदाद व सम्पत्ति का प्रबन्ध भी यही उपसमिति करती थी।

तीसरी उपसमिति का काम मर्दुमशुमारी करना होता था। मृत्यु और जन्म की सूची रखना इसी उपसमिति का कार्य था।

चौथी उपसमिति क्रय-विक्रय के नियमों का निर्धारण करती थी। भार और माप के परिमाणों को निश्चित करना, व्यापारी लोग उनका शुद्धता के साथ और सही-सही उपयोग करते हैं, इसका निरीक्षण करना इस उपसमिति का कार्य था।

पाँचवीं उपसमिति व्यापारियों पर इस बात के लिए कड़ा निरीक्षण रखती थी, कि वे नई और पुरानी वस्तुओं को मिलाकर तो नहीं बेचते। नई और पुरानी चीजों को मिलाकर बेचना कानून के विरुद्ध था।

छठी उपसमिति का कार्य क्रय-विक्रय पर टैक्स वसूल करना होता था। उस समय में यह नियम था, कि कोई वस्तु जिस कीमत पर बेची जाए, उसका दसवाँ भाग कर-रूप में नगरसभा को दिया जाए।

इस प्रकार छः उपसमितियो के पृथक्-पृथक् कार्यों का उल्लेख कर मैगस्थनीज ने लिखा है, कि "ये कार्य हैं, जो उपसमितियाँ पृथक् रूप से करती है। पर जहाँ उप-समितियों को अपने-अपने विशेष कार्यों को सम्पन्न करना होता है, वहाँ वे सब मिलकर सामूहिकरूप में सार्वजनिक या सार्वसामान्य हित के कार्यों पर भी ध्यान देती हैं, यथा सार्वजनिक इमारतो को सुरक्षित रखना, उनकी मरम्मत करना, कीमतो को नियंत्रित करना, बाजार, बंदरगाह और मन्दिरो पर ध्यान देना।"

मैगस्थनीज के इस विवरण से स्पष्ट है, कि मौर्य चन्द्रगुप्त के शासन में पाटलिपुत्र का शासन तीस नागरिको की एक सभा के हाथ मे था। संभवत., यही प्राचीन पौरसभा थी। इस प्रकार की पौरसभाएँ तक्षशिला, उज्जयिनी आदि अन्य नगरियो मे भी विद्यमान थी। जब उत्तरापथ के विद्रोह को शान्त करने के लिये कुमार कुणाल तक्षशिला गया था, तो वहाँ के 'पौर' ने उसका स्वागत किया था। अशोक के शिलालेखों मे भी ऐसे निर्देश विद्यमान हैं, जिनसे सूचित होता है कि उस समय के बडे नगरो में पौरसभाओ की सत्ता थी। जिस प्रकार मागध-साम्राज्य के अन्तर्गत विविध जनपदों मे अपने परम्परागत धर्म, व्यवहार और चरित्र विद्यमान थे, उसी प्रकार पुरों व नगरों मे भी थे। यही कारण है, कि नगरो के निवासी अपने नगर के शासन मे पर्याप्त अधिकार रखते थे।

ग्रामों का शासन—जनपदों में बहुत-से ग्राम सम्मिलित होते थे, और प्रत्येक ग्राम शासन की दृष्टि से अपनी पृथक् व स्वतन्त्र सत्ता रखता था। कौटलीय अर्थशास्त्र के अध्ययन से इन ग्राम-संस्थाओ के सम्बन्ध में बहुत-सी बातें ज्ञात होती हैं। प्रत्येक ग्राम का अपना पृथक् शासक होता था, जिसे 'ग्रामिक' कहते थे। ग्रामिक ग्राम के अन्य निवासियो के साथ मिलकर अपराधियो को दड देता था, और किसी व्यक्ति को ग्राम से बहिष्कृत भी कर सकता था। ग्राम की अपनी सार्वजनिक निधि भी होती थी। जो जुर्माने ग्रामिक द्वारा वसूल किये जाते थे, वे इसी निधि मे जमा किये जाते थे। ग्राम की ओर से सार्वजनिक हित के कार्यों की व्यवस्था भी की जाती थी। जो लोग अपने सार्वजनिक कर्त्तव्य की उपेक्षा करते थे, उनपर जुर्माना किया जाता था। यह ग्राम-सस्था न्याय का भी कार्य करती थी। ग्रामसभाओ द्वारा बनाये गए नियम साम्राज्य के न्यायालयों में मान्य होते थे। 'अक्षपटल के अध्यक्ष' के कार्यों में एक यह भी था, कि वह ग्राम-संघों के धर्म, व्यवहार, चरित्र आदि को निबन्धपुस्तकस्थ (रजिस्टर्ड) करे।

भारत की इन्हीं ग्राम-संस्थाओं के कारण यहाँ के निवासियो की वास्तविक स्वतन्त्रता सदा सुरक्षित रही है। इस देश की सर्वसाधारण जनता का बडा भाग सदा से ग्रामों मे बसता आया है। ग्राम के निवासी अपने सुख व हित की अपने संघ में स्वयं व्यवस्था करते थे। अपने लिए वे स्वय नियम बनाते थे, और अपने मनोरंजन का भी स्वयं ही प्रबन्ध करते थे। इस दशा में साम्राज्य के अधिपति की निरंकुशता या एकसत्ता का उनपर विशेष असर नही होता था।

व्यवसायियों की श्रेणियां—मौर्यकाल के व्यवसायी और शिल्पी श्रेणियों (Guilds) में संगठित थे। ये श्रेणियां अपने नियम स्वयं बनाती थीं, और अपने सघ मे सम्मिलित शिल्पियो के जीवन व कार्य पर पूरा नियन्त्रण रखती थी। इनके नियम, व्यवहार और चरित्र आदि को भी राजा द्वारा स्वीकृत किया जाता था।

धर्म और व्यवहार—मौर्य-सम्राट् अपने साम्राज्य पर स्वेच्छाचारिता और निरंकुशता से शासन न कर धर्म और व्यवहार के अनुसार शासन करते थे। चाणक्य ने अर्थशास्त्र में लिखा है, कि जो राजा धर्म, व्यवहार, संस्था और न्याय के अनुसार शासन करता है, वह चातुरन्त पृथिवी को विजय कर लेता है। चाणक्य के विजिगीषु राजा के लिये यह आवश्यक है, कि वह निरंकुश और स्वेच्छाचारी न हो, अपितु धर्म, व्यवहार आदि के अनुसार ही शासन करे। अर्थशास्त्र में यह विचार विद्यमान है, कि राजा जनता से जो छठा भाग कर के रूप मे लेता है, वह उसका एक प्रकार का वेतन है। इसके बदले मे वह प्रजा के योग-क्षेम का संपादन करता है। राजा को धर्म और न्याय के अनुसार शासन करना है, यह विचार प्राचीन समय मे इतना प्रबल था, कि आचार्य चाणक्य ने यह व्यवस्था की है कि यदि राजा किसी निरपराधी को दण्ड दे, तो राजा को उससे तीन गुना दण्ड दिया जाय।

जिस कानून के अनुसार राजा शासन करता था, उसके चार अंग होते थे—धर्म, व्यवहार, चरित्र और राजशासन। इनमे से पिछला पहले का बाधक माना जाता था। यदि व्यवहार और चरित्र का राजशासन (राजा की आज्ञा) से विरोध हो, तो राजाज्ञा व्यवहार या चरित्र से अधिक महत्त्व की होगी। धर्म वे कानून थे, जो सत्य पर आश्रित शाश्वत नियम है। व्यवहार का निश्चय साक्षियो द्वारा किया जाता था। जो कानून पुराने समय से चले आते थे, उन्हे व्यवहार कहते थे। कौन-से नियम पुराने समय से चले आते हैं, इसका निर्णय साक्षियो द्वारा ही हो सकता था। चरित्र वे कानून थे, जो ग्राम, श्रेणी आदि विविध समूहों मे प्रचलित थे। इन सबसे ऊपर राजा की आज्ञा थी। पर मौर्य-काल के कानून मे धर्म, व्यवहार और चरित्र की सुनिश्चित स्थिति का होना इस बात का प्रमाण है, कि राजा शासन मे उन्हें पर्याप्त महत्त्व देते थे, और जनता की इच्छा और चरित्र की वे सर्वथा उपेक्षा नही कर सकते थे।

मगध के एकराट् राजाओ की अपार शक्ति के बावजूद जनता की स्वतन्त्रता इन विविध कारणों से सुरक्षित थी, और मौर्य-युग के भारतीय अनेक प्रकार से अपने साथ सम्बन्ध रखने वाले विषयो का स्वयं शासन व निर्धारण किया करते थे।

न्याय-व्यवस्था—विशाल मागध-साम्राज्य मे न्याय के लिए अनेकविध न्यायालय थे। सबसे छोटा न्यायालय ग्राम-संस्था (ग्रामसंघ) का होता था, जिसमें ग्राम

के निवासी अपने मामलों का स्वयं निबटारा करते थे। इसके ऊपर संग्रहण के, फिर द्रोणमुख के और फिर जनपद-संधि के न्यायालय होते थे। इनके ऊपर पाटलिपुत्र में विद्यमान धर्मस्थीय और कंटकशोधन न्यायालय थे। सबसे ऊपर राजा होता था, जो अनेक न्यायाधीशों की सहायता से किसी भी मामले का अन्तिम निर्णय करने का अधिकार रखता था। ग्राम-संघ और राजा के न्यायालय के अतिरिक्त बीच के सब न्यायालय धर्मस्थीय और कंटकशोधन, इन दो भागो में विभक्त रहते थे। धर्मस्थीय न्यायालयों के न्यायाधीश धर्मस्थ या व्यावहारिक कहलाते थे, और कंटकशोधन के प्रदेष्टा।

धर्मस्थीय—इन दोनों प्रकार के न्यायालयो मे किन-किन बातों के मामलों का फैसला होता था, इसकी विस्तृत सूची कौटलीय अर्थशास्त्र में दी गई है। धर्मस्थीय में प्रधानतया निम्नलिखित मामले पेश होते थे—दो व्यक्तियो या व्यक्ति-समूहों के आपस के व्यवहार के मामले; आपस में जो 'समय' (कट्रैक्ट) हुआ हो उसके मामले; स्वामी और भृत्य के झगड़े; दासों के झगड़े, ऋण को चुकाने के मामले; धन को अमानत पर रखने से पैदा हुए विवाद; क्रय-विक्रय सम्बन्धी मामले; दिये हुए दान को फिर लौटाने या प्रतिज्ञात दान को न देने का मामला; डाका, चोरी या लूट के मुकदमे, किसी पर हमला करने का मामला; गाली, कुवचन या मानहानि के मामले; जुए सम्बन्धी झगड़े; मिल्कियत के बिना ही किसी सम्पत्ति को बेच देना; मिल्कियत सम्बन्धी विवाद; सीमा सम्बन्धी झगड़े; इमारतों के बनाने के कारण उत्पन्न मामले; चरागाहों, खेतों, और मार्गों को क्षति पहुँचाने के मामले, पति-पत्नी सम्बन्धी मुकदमे, स्त्री-धन सम्बन्धी विवाद; संपत्ति के बँटवारे और उत्तराधिकार-सम्बन्धी झगड़े; सहोद्योग, कम्पनी तथा साझे के मामले; विविध रुकावटे पैदा करने के मामले; न्यायालय मे स्वीकृत निर्णयविधि मे रुकावट पैदा करने के मामले; न्यायालय मे स्वीकृत निर्णयविधि-सम्बन्धी विवाद और विविध मामले।

कण्टकशोधन न्यायालय—कण्टकशोधन न्यायालयों मे निम्नलिखित मामले पेश होते थे—शिल्पियों व कारीगरों की रक्षा तथा उनसे दूसरो की रक्षा, व्यापारियों की रक्षा तथा उनसे दूसरो की रक्षा, राष्ट्रीय व सार्वजनिक आपत्तियो के निराकरण-सम्बन्धी मामले; नियम-विरुद्ध उपायों से आजीविका चलाने वाले लोगों की गिरफ्तारी; अपने गुप्तचरों द्वारा अपराधियो को पकड़ना; सन्देह होने पर या वस्तुतः अपराध करने पर गिरफ्तारी; मृतदेह की परीक्षा कर मृत्यु के कारण का पता लगाना; अपराध का पता करने के लिए विविध प्रकार के प्रश्नों तथा शारीरिक कष्टो का प्रयोग; सरकार के सम्पूर्ण विभागों की रक्षा, अंग काटने की सजा मिलने पर उसके बदले में जुर्माना देने के आवेदन-पत्र; शारीरिक कष्ट के साथ या उसके बिना मृत्यु दण्ड देने का निर्णय, कन्या पर बलात्कार, और न्याय का उल्लंघन करने पर दण्ड देना।

ऊपर की सूचियों से स्पष्ट है, कि धर्मस्थीय न्यायालयों में व्यक्तियों के आपस के मुकदमे पेश होते थे। इसके विपरीत कण्टकशोधन न्यायालयों में वे मुकदमे उपस्थित किये जाते थे, जिनका सम्बन्ध राज्य से होता था। कण्टकशोधन का अभिप्राय ही यह है, कि राज्य के कण्टकों (काँटों) को दूर करना।

राजकीय आय-व्यय—कौटलीय अर्थशास्त्र में राजकीय आय के निम्नलिखित साधनों का विस्तार से वर्णन किया गया है—

१. **भूमिकर**—जमीन से राज्य को दो प्रकार से आमदनी होती थी, सीता और भाग। राज्य की अपनी जमीनों से जो आमदनी होती थी, उसे सीता कहते थे। जो जमीनें राज्य की अपनी सम्पत्ति नहीं थीं, उनसे 'भाग' वसूल किया जाता था।

२. **तटकर**—मौर्यकाल में तटकर दो प्रकार के होते थे, निष्क्राम्य (निर्यातकर) और प्रवेश्य (आयात-कर)। आयात माल पर कर की मात्रा प्रायः २० फीसदी थी। कुछ देशों के साथ आयात-कर के सम्बन्ध में रियायत भी की जाती थी। इसे 'देशोपकार' कहते थे। निर्यात माल पर भी कर लिया जाता था, यह तो कौटलीय अर्थशास्त्र से ज्ञात होता है, पर इस कर की दरें क्या थी, इस सम्बन्ध मे कोई सूचना चाणक्य ने नही दी।

३. **बिक्री पर कर**—मौर्यकाल मे बिक्री पर भी टैक्स लेने की व्यवस्था थी। चाणक्य ने लिखा है, कि उत्पत्तिस्थान पर कोई भी पदार्थ बेचा नहीं जा सकता। कोई भी वस्तु विक्रय-कर से न बच सके, इसलिए यह नियम बनाया गया था। सब माल पहले शुल्काध्यक्ष के पास लाया जाता था। कर दे देने के बाद उस पर 'अभिज्ञानमुद्रा' लगायी जाती थी। उसके बाद ही माल की बिक्री हो सकती थी, पहले नही।

४. **प्रत्यक्ष कर**—मौर्य युग में जो विविध प्रत्यक्ष-कर लगाये जाते थे, उनमें से कुछ निम्नलिखित हैं—(क) तोल और नाप के परिमाणों पर—इनपर चार माषक कर लिया जाता था। प्रामाणिक बट्टों या माप के साधनो को काम मे न लाने पर दण्ड के रूप मे २७¼ पण जुरमाना लिया जाता था। (ख) जुआरियों पर—जुआ खेलने की अनुमति लेने पर कर देना पड़ता था, और जो-कुछ जुए मे जीता जाए, उसका ५ फीसदी राज्य ले लेता था। (ग) रूप से आजीविका चलाने वाली वेश्याओं से दैनिक आमदनी का दुगना प्रतिमास कर रूप मे लिया जाता था। इसी प्रकार के कर नटो, नाटक करने वालों, रस्सी पर नाचने वालों, गायकों, वादकों, नर्तकों व अन्य तमाशा दिखाने वालो से भी वसूल करने का नियम था। पर यदि ये लोग विदेशी हो, तो इनसे पाँच पण अतिरिक्त-कर भी लिया जाता था। (घ) धोबी, सुनार व इसी तरह के अन्य शिल्पियो पर अनेक कर लगाये जाते थे। इन्हे अपना व्यवसाय चलाने के लिए एक प्रकार का लाइसेंस भी लेना होता था।

५. **राज्य द्वारा अधिकृत व्यवसायों से आय**—राज्य का जिन व्यवसायो पर पूरा आधिपत्य था, उनमें खानें, जंगल, नमक की उत्पत्ति और अस्त्र-शस्त्र का कारोबार मुख्य हैं। इनके अतिरिक्त शराब का निर्माण भी राज्य के ही अधीन था। इन सबसे राज्य को अच्छी आमदनी होती थी। अनेक व्यापारों पर भी राज्य का स्वत्व उस युग मे विद्यमान था। राज्य की ओर से जो पदार्थ बिक्री के लिए तैयार होते थे, उनकी बिक्री भी वह स्वयं करता था।

६. **जुरमानों से आय**—मौर्यकाल में अनेक अपराधों के लिए दण्ड के रूप में जुरमाना लिया जाता था।

७. **विविध**—मुद्रापद्धति पूर्णतया राज्य के हाथ में होती थी। रूप्य, पण

आदि सिक्के टकसाल में बनते थे। जो व्यक्ति चाहे अपनी धातु ले जाकर टकसाल में सिक्के ढलवा सकता था। पर इसके लिए १३½ फीसदी प्रीमियम देना पड़ता था। जो कोई सरकारी टकसाल मे नियमानुसार सिक्के न बनवाकर स्वयं बनाता था, उसपर २५ पण जुरमाना किया जाता था। गरीब और अशक्त व्यक्तियों के गुजारे का प्रबन्ध राज्य करता था। पर इस तरह के लोगो से सूत कातने, कपड़ा बुनने, रस्सी बँटने आदि के काम भी लिये जाते थे। राज्य को इनसे भी कुछ आमदनी हो जाती थी।

इन सब के अतिरिक्त आपत्काल में सम्पत्ति पर अन्य भी अनेक प्रकार के कर लगाये जाते थे। अर्थशास्त्र में इनका विस्तार से वर्णन किया गया है। सोना-चाँदी, मणिमुक्ता का व्यापार करने वाले धनी लोगों से ऐसे अवसरो पर उनकी आमदनी का ६० फीसदी कर मे ले लिया जाता था। अन्य प्रकार के व्यापारियो व व्यवसायियो से भी ऐसे अवसरों पर विशेष करो की व्यवस्था थी, जिनकी मात्रा ५० फीसदी से ५ फीसदी तक होती थी। मन्दिरों और धार्मिक संस्थाओ से भी ऐसे अवसरो पर उपहार और दान लिये जाते थे। जनता से अनुरोध किया जाता था, कि आपत्काल मे उदारता के साथ राज्य को धन प्रदान करें। इसके लिए दानियों का अनेक प्रकार से सम्मान भी किया जाता था।

राजकीय व्यय—राज्य को विविध करो से जो आमदनी होती थी, उसके व्यय के सम्बन्ध में भी बहुत-सी उपयोगी बातें कौटलीय अर्थशास्त्र से ज्ञात होती है।

१. राजकर्मचारियों के वेतन—अर्थशास्त्र मे विविध राज-कर्मचारियो के वेतनो की दरें दी गई हैं। इनमे मंत्री, पुरोहित, सेनापति जैसे बडे पदाधिकारियो का वेतन ४००० पण मासिक दिया गया है। प्रशास्ता, समाहर्त्ता और आतर्वंशिक सदृश कर्मचारियो को २००० पण मासिक; नायक, व्यावहारिक, अन्तपाल आदि को १००० पण मासिक; अश्वमुख्य, रथमुख्य आदि को ६६० पण माणिक; विविध अध्यक्षो को ३३० पण मासिक, पदाति सैनिक, लेखक, सख्यापक आदि को ४२ पण मासिक और अन्य छोटे-छोटे कर्मचारियो को ५ पण मासिक वेतन मिलता था।

२. सैनिक व्यय—सेना के विविध सिपाहियो व आफिसरो को किस दर से वेतन मिलता था, इसका भी पूरा विवरण अर्थशास्त्र मे दिया गया है। मैगस्थनीज के अनुसार चन्द्रगुप्त मौर्य की सेना मे ६ लाख पदाति, तीस हजार अश्वारोही, ६००० हाथी और ८००० रथ थे। यदि अर्थशास्त्र में लिखे दर से इन्हे वेतन दिया जाता हो, तो पदाति सैनिको के वेतन मे ही लगभग तीस करोड पण प्रतिवर्ष खर्च हो जाता था।

३. शिक्षा—मौर्यकाल मे जो व्यय राज्य की ओर से शिक्षा के लिए किया जाता था, उसे देवपूजा कहते थे। अनेक शिक्षणालयो का संचालन राज्य की ओर से भी होता था, और इनके शिक्षकों को राजा की ओर से वेतन मिलता था। इसे भृति या वृत्ति न रहकर 'पूजावेतन' (आनरेरियम) कहते थे।

४. दान—बालक, वृद्ध, व्याधिपीडित, आपत्तिग्रस्त और इसी तरह के अन्य व्यक्तियो का भरण-पोषण राज्य की ओर से होता था। इस खर्च को दान कहते थे।

५. सहायता—मैगस्थनीज के अनुसार शिल्पी लोगों को राज्य कोष से अनेक प्रकार से सहायता दी जाती थी। इसी तरह, कृषकों को भी विशेष दशाओं में राज्य

की ओर से सहायता प्राप्त होती थी। उन्हें समय-समय पर न केवल करों से मुक्त ही किया जाता था, अपितु राज्यकोष से धन भी दिया जाता था।

६. **सार्वजनिक आमोद-प्रमोद**—इस विभाग में वे पुण्यस्थान, उद्यान, चिड़िया-घर आदि अन्तर्गत थे, जिनका निर्माण राज्य की ओर से किया जाता था। राज्य की ओर से पशु, पक्षी आदि जन्तुओं के बहुत-से 'वाट' भी बनाये जाते थे, जिनका प्रयोजन जनता का मनोरंजन था।

७. **सार्वजनिक हित के कार्य**—मौर्यकाल में जनता की स्वास्थ्यरक्षा, चिकित्सालय आदि का राज्य की ओर से प्रबन्ध किया जाता था। दुर्भिक्ष, आग, महामारी आदि आपत्तियों से भी जनता की रक्षा की जाती थी। जहाँ जल की कमी हो, वहाँ कूप, तड़ाग आदि बनवाने पर विशेष ध्यान रखा जाता था।

८. **राजा का वैयक्तिक खर्च**—मौर्यकाल में राजा का वैयक्तिक खर्च भी कम नही था। अन्तःपुर बहुत शानदार और विशाल बनाये जाते थे। सैकड़ों दौवारिक और हजारो आन्तर्वंशिक सैनिक हमेशा राजमहल मे विद्यमान रहते थे। राजा बहुत शान के साथ रहता था। उसके निजी ठाट-बाट में भी बहुत अधिक व्यय होता था। केवल महानस (रसोई) का खर्च इतना अधिक था, कि चाणक्य ने व्यय के विभागों में इसका पृथक् रूप से उल्लेख किया है। राजप्रासाद की अपनी सूना (बूचड़खाना) पृथक् होती थी। राजमहल और अन्तःपुर के निवासी स्त्री-पुरुषों की संख्या हजारो मे पहुँचती थी। राजा के परिवार के विविध व्यक्तियो को राजकोष से बाकायदा वेतन दिया जाता था। इसकी दर भी बहुत अधिक होती थी। युवराज, राजमाता और राजमहिषी को चार-चार हजार पण मासिक और कुमारमाता को एक हजार पण मासिक वेतन मिलता था। यह उनकी अपनी निजी आमदनी थी, जिसे वे स्वेच्छा से खर्च कर सकते थे।

मर्दमशुमारी—मौर्ययुग में मनुष्य गणना प्रतिवर्ष होती थी। इसके लिए सरकार का एक स्थिर विभाग होता था, जो मनुष्यों की संख्या को अपनी निबन्धपुस्तकों में दर्ज रखता था। केवल मनुष्यों की ही गणना नही होती थी, अपितु पशु व जन्तु भी गिने जाते थे। समाहर्ता और नागरिक की ओर से यह कार्य गोप नाम के राजपुरुष (जो प्राय. दस ग्रामों के शासक होते थे) किया करते थे। ये राजपुरुष प्रत्येक ग्राम की निबन्धपुस्तक मे निम्नलिखित बातें दर्ज करते थे :—

(१) गाँवो में चारो वर्णों के कितने-कितने आदमी हैं। (२) कितने किसान हैं। (३) कितने गोरक्षक या ग्वाले है। (४) कितने सौदागर हैं। (५) कितने कारीगर हैं। (६) कितने नौकर है। (७) कितने दास हैं। (८) कितने दो पैरों वाले जन्तु हैं। (९) कितने चौपाये हैं। (१०) गाँव मे कुल धन कितना है। (११) गाँव से कितनी बेगार मिल सकती है। (१२) गाँव से चुगी की आमदनी कितनी है। (१३) गाँव को जुर्मानों द्वारा कितनी आमदनी होती है। (१४) कितने मकान हैं, जिनसे कर मिलता है। (१५) ग्राम के निवासियो में कितने पुरुष, कितनी स्त्रियाँ, कितने वृद्ध और कितने बालक हैं। (१६) कितने घर है, जिनसे कर नहीं मिलता। (१७) निवासियों के चरित्र किस तरह के है। (१८) उनके पेशे क्या-क्या हैं। (१९) आमदनी कितनी है। (२०) उनका खर्च कितना है।

गुप्तचर विभाग—विजिगीषु मौर्य सम्राटों के लिए गुप्तचर विभाग को उन्नत करना परम आवश्यक था। चाणक्य ने इस विभाग का बड़े विस्तार के साथ वर्णन किया है। मुख्यतया निम्नलिखित प्रयोजनो से गुप्तचरों का प्रयोग होता था :—

१. अमात्यों पर निरीक्षण रखने के लिए—अमात्य पद पर केवल वे ही व्यक्ति नियत किये जाते थे, जिनकी पहले गुप्तचरो द्वारा पूरी परीक्षा ले ली जाती थी। पुरोहित, सेनापति आदि सब महामात्यों की परीक्षा के लिए अनेकविध उपाय कौटलीय अर्थशास्त्र में लिखे हैं। नियुक्ति के बाद भी अमात्यो के 'शौच' और 'अशौच' का पता गुप्तचर लोग लगाते रहते थे।

२. पौर और जानपद लोगों की भावनाओ का पता लगाने के लिए भी गुप्तचर नियत किये जाते थे। जनता में किस बात से असन्तोष है, देश के धनी-मानी प्रभावशाली लोगों के क्या विचार है, अधीनस्थ सामन्तों का क्या रुख है, इन सब बातों का पता लेकर गुप्तचर राजा को सूचना भेजते रहते थे।

३. गुप्तचर लोग विदेशो मे भी काम करते थे। पडोसी शत्रुदेश व विदेशीराज्यों की गतिविधि, विचार, भाव आदि का पता करने के लिए गुप्तचर सदा सचेष्ट रहते थे।

गुप्तचर-विभाग के केन्द्र अनेक स्थानों पर होते थे। इन केन्द्रो को 'संस्था' कहते थे। गुप्तचर जिस किसी रहस्य का पता लगाते थे, उसे अपने साथ सम्बद्ध 'संस्था' में पहुँचा देते थे। वहाँ से वह बात उपयुक्त राजकर्मचारी के पास पहुँच जाती थी।

डाक प्रबन्ध—कौटलीय अर्थशास्त्र मे कुछ निर्देश ऐसे आते है, जिनसे उस समय के डाक प्रबन्ध पर प्रकाश पडता है। उस समय सन्देश भेजने के लिए कबूतरो का प्रयोग किया जाता था। कपोतो के गले आदि मे पत्र बाधकर उन्हे उडा दिया जाता था। खूब सधे हुए कबूतर ठीक स्थान पर पहुँचने मे समर्थ होते थे।

राजशक्ति पर जनता का प्रभाव—मौर्यकाल की शासन-व्यवस्था के प्रकरण को समाप्त करने से पूर्व राजशक्ति पर कुछ ऐसे प्रभावो का उल्लेख करना आवश्यक है, जिनकी उपेक्षा शक्तिशाली से शक्तिशाली सम्राट् भी नही कर सकता था। इस प्रकार का एक प्रभाव ब्राह्मण-श्रमणो का था। यद्यपि ये लोग नगर से बाहर जंगलों मे निवास करते थे, पर देश की घटनाओ और नीति पर उनकी सदा दृष्टि रहती थी। जब वे देखते थे कि राजा कुमार्ग मे प्रवृत्त हो रहा है, तो उसका विरोध करना उनका कर्त्तव्य हो जाता था। इसीलिए चाणक्य ने लिखा है 'यदि ठीक तरह शासन न किया जाय या राजनीति मे काम, क्रोध, और अज्ञान आ जाय, तो वानप्रस्थ और परिव्राजक लोग भी कुपित हो जाते है।' ये वानप्रस्थ ब्राह्मण बहुत सादगी और गरीबी के साथ जगलों में निवास किया करते थे। राज्य पर इनका प्रभाव बहुत अधिक होता था। चन्द्रगुप्त मौर्य के शासन से कुछ पूर्व ही जब सिकन्दर ने भारत पर आक्रमण किया, तो उसकी भेंट ऐसे अनेक नीतिज्ञ ब्राह्मणो से हुई थी। ये ब्राह्मण सिकन्दर के विरुद्ध भारतीय राजाओं को उभार रहे थे। एक ऐसे ब्राह्मण से सिकन्दर ने पूछा—'तुम क्यों इस राजा को मेरे विरुद्ध भडकाते हो।' ब्राह्मण ने उत्तर दिया—'मैं चाहता हूँ, कि यदि वह जीए, तो सम्मानपूर्वक जीए, नही तो सम्मानपूर्वक मर जाए।' कहा जाता है कि एक अन्य ब्राह्मण सन्यासी सिकन्दर के पास आया और बोला—'तुम्हारा राज्य एक

सूखी हुई खाल की तरह है, जिसका कोई गुरुता-केन्द्र नही होता। जब सिकन्दर राज्य के एक पार्श्व पर खड़ा होता है, तो दूसरा पार्श्व विद्रोह कर देता है।' तक्षशिला के एक वृद्ध दंडी को सिकन्दर के सम्मुख यह डर दिखाकर बुलाने की कोशिश की गई कि 'सिकन्दर तो दुनिया के मालिक द्यौः का पुत्र है, यदि तुम उसके सामने नही आओगे, तो वह तुम्हारा सिर धड़ से अलग कर देगा।' यह सुनकर दंडी ने उपेक्षाजनक हँसी हँसकर उत्तर दिया—'मैं भी द्यौः का उसी तरह पुत्र हूँ, जिस तरह सिकन्दर। मैं अपने देश भारत से पूर्णतया सन्तुष्ट हूँ, जो माता की तरह मेरा पालन करता है।' उस दंडी ने व्यंग्य से यह भी कहा 'यदि सिकन्दर गंगा के पार के प्रदेश मे जायगा, तो (नंद की सेना) उसे विश्वास दिला देगी, कि वह अभी सारे ससार का स्वामी नही बना है।'

इसमे कोई सन्देह नही कि ऐसे ब्राह्मणो की निर्भीक वृत्ति का राज्य पर बडा प्रभाव पडता था। राजा की अनीति को रोकने मे ये बहुत सहायक होते थे। राजाओं के कुमार्गगामी हो जाने पर जब तपस्वी ब्राह्मण कुपित हो जाते थे, तो स्थिति को सभालना कठिन हो जाता था। नन्द के शक्तिशाली वँश का पतन आचार्य चाणक्य के कोप से ही हुआ था। वह नन्द की अनीति को देखकर उसके विरुद्ध उठ खड़ा हुआ था।

ब्राह्मण तपस्वियो के कोप की अपेक्षा भी जनता का कोप अधिक भयँकर माना जाता था। आचार्य चाणक्य ने लिखा है—'जनता का कोप सब कोपों से बढकर है।' चाणक्य भलीभाँति समझता था, कि 'चाहे राजा न भी हो, पर यदि जनता की अवस्था उत्तम हो, तो राज्य अच्छी तरह चल सकता है।' राज्य के सम्बन्ध में यह परम्परागत सिद्धान्त मौर्यकाल में भी मान्य समझा जाता था कि प्रजा के सुख मे ही राजा का सुख है, प्रजा के हित मे ही राजा का हित है। हितकर बात वह नही है, जो राजा को अच्छी लगती है। हितकर बात तो वह है, जो प्रजा को प्रिय लगती है।'

(३) मौर्य-काल का आर्थिक जीवन

कृषि—मौर्यकाल मे भी भारत का मुख्य व्यवसाय कृषि ही था। मैगस्थनीज ने लिखा है 'दूसरी जाति मे किसान लोग है, जो संख्या मे सबसे अधिक है। युद्ध करने तथा अन्य राजकीय कर्त्तव्यो से मुक्त होने के कारण वे अपना सारा समय खेती में लगाते है।' किसानो की अवस्था उस समय बहुत सन्तोषजनक थी। वर्षा की प्रचुरता के कारण दो फसले साल मे हो जाती थी, और किसान नानाविध अन्नों तथा अन्य पदार्थों को उत्पन्न कर सकते थे। इस विषय मे मैगस्थनीज का निम्नलिखित उद्धरण ध्यान देने योग्य है :—

"भूमि पशुओ के निर्वाह योग्य चारा तथा अन्य खाद्य पदार्थ भी प्रदान करती है। अतः यह माना जाता है कि भारतवर्ष मे अकाल कभी नही पड़ा, और खाने की वस्तुओ की महँगाई भी साधारणतया कभी नही हुई है। चूँकि यहाँ साल मे दो बार वर्षा होती है; एक जाड़े में, जबकि गेहूँ की बुआयी होती है, और दूसरी गर्मी के दौरान मे, जबकि तिल और ज्वार के बोने का उपयुक्त समय होता है, अतः भारत के

किसान प्रायः सदा साल मे दो फसलें काटते है। यदि उनमें से एक फसल कुछ बिगड़ भी जाती हैं, तो लोगों को दूसरी फसल का पूरा विश्वास रहता है।

"भारतवासियों में बहुत-सी ऐसी प्रथाएँ भी हैं, जो वहाँ अकाल पड़ने की संभावना को रोकने में सहायता देती हैं। दूसरी जातियों मे युद्ध के समय भूमि को नष्ट करने और इस प्रकार उसे परती व ऊसर कर डालने की चाल है। पर इसके विरुद्ध भारतवासियों में जो कृषक समाज को पवित्र व अवध्य मानते हैं, भूमि जोतने वाले किसी प्रकार के भय की आशंका से विचलित नही होते, चाहे उनके पड़ोस मे ही युद्ध क्यों न हो रहा हो। दोनो पक्षो के लडने वाले युद्ध के समय एक-दूसरे का संहार करते हैं, परन्तु जो लोग खेती मे लगे हुए हैं, उन्हें पूर्णतया निर्विघ्न अपना काम करने देते हैं। साथ ही न वे शत्रु देश का अग्नि से सत्यानाश करते है, और न उसके पेड़ काटते हैं।"

मौर्यकाल मे भी खेती के लिए हल और बैलों का प्रयोग होता था। भूमि को खूब अच्छी तरह हल चलाकर तैयार किया जाता था। फिर उसमे नानाविध खादों को डालकर भूमि की उपज शक्ति को बढ़ाया जाता था। खाद के लिए गोबर, हड्डी और राख का प्रयोग होता था।

सिंचाई के लिए निम्नलिखित साधन प्रयुक्त होते थे—(१) हस्तप्रावर्तिमम्—डोल, चरस आदि द्वारा कुएँ से पानी निकालकर सिंचाई करना। (२) स्कंधप्रावर्तिमम्—कंधों की सहायता से पानी निकालकर सिंचाई करना। रहट या चरस को जब बैल खींचते हों, तो उनके कंधो से पानी निकालने के कारण इस प्रकार की सिंचाई को 'स्कंधप्रावर्तिमम्' कहते थे। (३) स्रोतयंत्रप्रावर्तिमम्—वायु द्वारा (पवन-चक्की) खींचे हुए पानी को 'स्रोतयंत्रप्रावर्तिमम्' कहते थे। (४) नदीसरस्तटाककूपोद्घाटम्—नदी, सर, तटाक और कूप द्वारा सिंचाई करना। (५) सेतुबन्ध—बाँध (डाम) बनाकर उससे नहरें व नालियाँ निकालकर उनसे सिंचाई करना।

व्यवसाय—मैगस्थनीज ने भारत के विविध व्यवसायों और कारीगरो के सम्बन्ध मे वर्णन करते हुए लिखा है, कि 'वे कला-कौशल में बड़े निपुण हैं, जैसा कि ऐसे मनुष्यों से आशा की जा सकती है, जो स्वच्छ वायु से साँस लेते हैं, और अत्युतम जल का पान करते हैं।'...'अधिक सुसभ्य भारतीयों मे भिन्न-भिन्न व्यवसायो से आजीविका कमाने वाले लोग हैं। कई जमीन जोतते है, कई व्यापारी हैं, कई सिपाही हैं।'

कौटलीय अर्थशास्त्र मे मौर्य युग के व्यवसायों का विस्तार से उल्लेख किया गया है, जो निम्नलिखित थे :—

१. **तंतुवाय**—मौर्यकाल में सबसे मुख्य व्यवसायी तंतुवाय या जुलाहे थे। ये रुई, रेशम, सन, ऊन आदि के अनेकविध कपड़े तैयार करते थे। वस्त्र-व्यवसाय के साथ सम्बन्ध रखने वाले धोबी, रंगरेज और दरजियो का उल्लेख भी अर्थशास्त्र मे हुआ है। साथ ही रस्सी और कवच बनाने वाले व्यवसायियो का भी वहाँ वर्णन है।

२. **खानों में काम करने वाले व्यवसायी**—मैगस्थनीज ने भारत की खानों के विषय में लिखा है, कि 'भारत की भूमि तो अपने ऊपर हर प्रकार के फल तथा कृषिजन्य

पदार्थ उपजाती ही है, पर उसके गर्भ में भी सब प्रकार की धातुओं की अनगिनत खानें हैं। इस देश में सोना और चाँदी बहुत होता है। ताँबा और लोहा भी कम नहीं होता। जस्ता और अन्य धातुएँ भी होती हैं। इनका व्यवहार आभूषण और लड़ाई के हथियार तथा साज आदि बनाने के निमित्त होता है।' चाणक्य ने अर्थशास्त्र में खानों के व्यवसायों का विस्तार के साथ वर्णन किया है। इस विभाग के अध्यक्ष को 'आकराध्यक्ष' कहते थे।

३. नमक का व्यवसाय—'लवणाध्यक्ष' की अधीनता मे नमक के व्यवसाय का संचालन होता था। नमक बनाने और बेचने के लिए राज्य की अनुमति आवश्यक थी। नमक बनाने मे मुख्यतया समुद्र के जल का ही प्रयोग किया जाता था।

४. समुद्र से रत्न आदि निकालने का व्यवसाय—इस व्यवसाय के अध्यक्ष को 'खन्यध्यक्ष' कहते थे। समुद्र से शंख, मणि, मुक्ता आदि विविध पदार्थों को निकलवाने तथा उन्हें शुद्ध करवाने और उनकी विविध वस्तुएँ बनवाने का कार्य खन्यध्यक्ष के अधीन होता था।

५. स्वर्णकार—सोना, चाँदी आदि बहुमूल्य धातुओं को शुद्ध कर उनसे आभूषण बनाने का कार्य सुनार लोग करते थे।

६. वैद्य—चिकित्सा का काम करने वाले भिषक् (साधारण वैद्य), जंगलीविद् (विष-चिकित्सक), गर्भव्याधिसंस्थाः (गर्भ की बीमारियों को ठीक करने वाले) और सूतिका-चिकित्सक (सन्तान उत्पन्न कराने वाले) चार प्रकार के चिकित्सक होते थे।

७. शराब का व्यवसाय—यद्यपि मैगस्थनीज ने लिखा है, कि भारतीय लोग यज्ञों के अतिरिक्त कभी मदिरा नही पीते थे, पर अर्थशास्त्र से ज्ञात होता है, कि मौर्य-काल मे शराब का व्यवसाय भी बहुत उन्नत था। वहाँ मेदक, प्रसन्न, आसव, अरिष्ट, मैरेय और मधु—छः प्रकार की शराबो का उल्लेख कर इनके निर्माण की विधि भी लिखी गई है।

८. बूचड़खाने—मासभक्षण का बहुत प्रचार होने के कारण मौर्यकाल में बूचड का व्यवसाय भी बहुत उन्नत था। यह 'सूनाध्यक्ष' नामक अधिकारी द्वारा नियन्त्रित किया जाता था।

९. चमड़े का व्यवसाय—बूचडखानों में मारे गये तथा जंगल, खेत आदि में स्वयं मरे हुए पशुओं की खालो का उपयोग अनेक प्रकार से किया जाता था।

१०. बर्तनों का व्यवसाय—अर्थशास्त्र में चार प्रकार के बर्तनों का उल्लेख है—धातु, मिट्टी, बेंत और छाल के बने हुए।

११. जंगलों के साथ सम्बन्ध रखने वाले व्यवसाय—अर्थशास्त्र में जंगलों में होने वाले उन वृक्षो का विस्तार के साथ उल्लेख किया गया है, जिनकी लकड़ी विविध प्रकार के कामो में आती है।

१२. लोहार—लोहे से जहाँ खेती व अन्य शिल्पों के नानाविध उपकरण तैयार किये जाते थे, वहाँ अस्त्र-शस्त्रों का निर्माण भी प्रधानतया लोहे से ही होता था।

१३. जहाज और नौकाएँ बनाने वाले—मौर्यकाल में नदियो तथा समुद्र में जो अनेक प्रकार के जहाज चलते थे, वे भारत में ही बनाये जाते थे।

इनके अतिरिक्त गन्धपण्या: (सुगंधियाँ बनाने और बेचने वाले), माल्यपण्या: (मालाएँ बनाने और बेचने वाले), गोरक्षक (ग्वाले), कर्मकर (मजदूर), नट, नर्तक, गायक, वादक, कुशीलव, शौण्डिक (शराब बेचने वाले), वेश्याएँ, भोजन पकाने वाले आदि व्यवसायियों तथा राज (मकान बनाने वाले), मणिकारु (विविध रत्नो, मणियों और हीरे आदि को काट व तराश कर उनसे आभूषण बनाने वाले) और देवताकारु (विविध देवी-देवताओ की मूर्तियाँ बनाने वाले) आदि शिल्पियों का उल्लेख भी अर्थशास्त्र मे किया गया हैं।

व्यापार—कृषि और व्यवसाय के समान व्यापार भी मौर्यकाल में बहुत उन्नत था। ग्राम के छोटे-छोटे सौदागरो से लेकर बडी-बड़ी कम्पनियाँ तक उस काल मे विद्यमान थी। देहात मे माल की बिक्री के लिए मंडियाँ भी लगती थीं। ये मडियाँ जल और स्थल मार्गों के नाको पर लगायी जाती थी।

शहरों में भिन्न-भिन्न वस्तुओ के बाजार अलग-अलग होते थे। कौटलीय अर्थशास्त्र मे जिस आदर्श नगर का चित्र उपस्थित किया गया है, उसमें माँस, चावल, रोटी, मिठाई आदि भोज्य पदार्थ की दूकानो के लिए पृथक् व्यवस्था की गयी है, और सुगन्धित तेल, माला, फूल, वस्त्र आदि की दूकानो के लिए अलग जगह रखी गयी है। शहरो में जहाँ बडी-बडी दूकाने होती थी, वहाँ फेरी वालो की भी कमी न थी। फेरी वाले घूम-घूम कर माल बेचते थे।

दूकानदार कितना मुनाफा लें, इसपर भी राज्य की ओर से नियत्रण होता था। आम चीजो पर लागत का पाँच फीसदी मुनाफा लिया जा सकता था। विदेशी माल पर १० फीसदी मुनाफा लेने की अनुमति थी।

मौर्यकाल में भारत का आन्तरिक व्यापार बहुत उन्नत था। यह व्यापार जल और स्थल दोनो प्रकार के मार्गो द्वारा होता था। भिन्न-भिन्न स्थानो की भिन्न-भिन्न वस्तुएँ प्रसिद्ध थीं। स्वाभाविक रूप से व्यापारी लोग इन वस्तुओ को एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाकर बेचते थे। मौर्यकाल के सौदागर व्यापार के लिये बडे-बडे काफिले (सार्थ) बनाकर सब जगह आया जाया करते थे। इन काफिलो की रक्षा का भार राज्य पर होता था। सार्थ मे चलने वाले प्रत्येक व्यापारी से राज्य मार्गकर (वर्तनी) वसूल करता था। इसके बदले मे उसकी जान-माल की रक्षा का उत्तरदायित्व राज्य ले लेता था।

मौर्यकाल मे विदेशी व्यापार भी बहुत उन्नत था। भारत की पश्चिमोत्तर, उत्तर तथा उत्तरपूर्वी सीमाएँ अनेक देशो के साथ छूती थी। उनके साथ भारत का व्यापारिक सम्बन्ध विद्यमान था। स्थल मार्ग से जाने वाले बडे-बडे काफिले इन पडोसी राज्यों में व्यापार के लिए आया-जाया करते थे। विदेशी व्यापार जहाँ खुश्की के रास्ते से होता था, वहाँ समुद्र द्वारा भी बडी-बड़ी नौकाएँ विक्रय की वस्तुओ को ढोने का काम करती थी। महासमुद्रों में जाने वाले जहाजों को 'संयात्य: नाव' और 'प्रवहण' कहते थे। कौटलीय अर्थशास्त्र मे चीन तथा ईरान की व्यापारी वस्तुओ का उल्लेख है। चाणक्य ने लिखा है—'रेशम और चीनपट्ट, जो चीन देश में उत्पन्न होते हैं, श्रेष्ठ समझे जाते हैं।' इसी तरह मुक्ताओ की विविध किस्मों का उल्लेख करते

हुए चाणक्य ने मुक्ताओं का एक भेद 'कार्दमिक' भी बताया है। ईरान की कर्दम नदी में उत्पन्न हुए मोतियों को कार्दमिक कहते थे। मौर्यकाल में भारत का पश्चिमी देशों से भी समुद्र के मार्ग द्वारा व्यापार प्रारम्भ हो चुका था। यह व्यापार मुख्यतया मिस्र के साथ था। सिकन्दर के साम्राज्य के पतन के बाद मिस्र का राजा टाल्मी हुआ, जो चन्द्रगुप्त मौर्य का समकालीन था। उस समय में मिस्र की राजधानी अलेक्जेण्ड्रिया विदेशी व्यापार का बहुत बड़ा केन्द्र थी। अलेक्जेण्ड्रिया से कुछ दूर फेरास नामी द्वीप में टाल्मी ने एक विशाल प्रकाशस्तम्भ का निर्माण कराया था, जो संसार के सात आश्चर्यों में गिना जाता था। अशोक के समकालीन मिस्र के राजा टाल्मी फिलेडेल्फस ने भारत आदि पूर्वी देशो के साथ मिस्र के व्यापार को बढ़ाने के लिये अर्सीनोए से लाल सागर तक एक नहर बनवाने का संकल्प किया था। इस नहर को १५० फीट चौडा और ४५ फीट गहरा बनाया जा रहा था, और इसका उद्देश्य यही था, कि भारतीय माल को अलेक्जेण्ड्रिया पहुँचाने के लिए स्थल पर न उतारना पडे, और जहाज लाल सागर से इस कृत्रिम नहर के रास्ते नील नदी पहुँच जाए, और वहाँ से सीधे अलेक्जेण्ड्रिया चला जाए। दुर्भाग्यवश यह नहर पूरी न हो सकी। पर मिस्र के साथ भारत का व्यापार जारी रहा। इसी प्रयोजन से टाल्मी ने लालसागर के तट पर एक नये बन्दरगाह की स्थापना की, जिसका नाम बरनिस था। यहाँ से खुश्की के रास्ते अलेक्जेण्ड्रिया केवल तीन मील दूर था। इस मार्ग पर माल को ढोने का काम काफिलो द्वारा होता था।

विशाल मागध साम्राज्य में स्थल मार्गों (सडको) का एक जाल-सा बिछा हुआ था। पाटलिपुत्र को केन्द्र बनाकर उत्तर, दक्षिण, पूर्व, पश्चिम—सब दिशाओं मे सडकें जाती थी। मार्गों का प्रबन्ध राज्य के एक पृथक् विभाग के अधीन था। प्रति आध कोस के बाद सडको पर दूरी-सूचक प्रस्तर लगे रहते थे। जहाँ एक से अधिक मार्ग विभक्त होते थे, वहाँ प्रत्येक मार्ग की दिशा का प्रदर्शन करने वाले चिह्न लगे रहते थे। उत्तर-पश्चिमी सीमाप्रदेश की राजधानी को पाटलिपुत्र से मिलाने वाली १५०० कोस लम्बी सडक थी। उस समय का कोस २२५० गज का होता था।

मुद्रापद्धति—मौर्यकाल मे मुद्रा पद्धति के संचालन के लिये एक पृथक् अमात्य होता था, जिसे 'लक्षणाध्यक्ष' कहते थे। अर्थशास्त्र मे दो प्रकार के सिक्के लिखे हैं— १. कोशप्रवेश्य—ये मुख्य सिक्के होते थे, जिन्हे वर्तमान परिभाषा में 'लीगल टेंडर' कहा जा सकता है। राजकीय कर तथा क्रय-विक्रय के लिये इन्ही को प्रामाणिक माना जाता था। २. व्यावहारिक—इनकी कीमत कोशप्रवेश्य सिक्कों पर ही आश्रित थी। ये साधारण लेन-देन के काम मे आते थे। वर्तमान परिभाषा में इन्हें 'टोकन मनी' कह सकते हैं। सिक्के अनेक मूल्यो के होते थे। चाँदी के सिक्को में चार भाग ताँबा, एक भाग त्रपु, सीसा या अन्य धातु और नौ भाग शुद्ध चाँदी रहती थी। इस सिक्के को पण या रूप्यरूप कहते थे। पण के अतिरिक्त आधुनिक अठन्नी, चवन्नी व दुवन्नी के समान अर्धपण, पादपण और अष्टभागपण सिक्के भी प्रयोग में आते थे। चाँदी के पणों व अर्धपणो आदि के अतिरिक्त ताँबे के सिक्के भी प्रचलित थे, जिन्हें 'ताम्ररूप' या 'माषक' कहते थे। इसके भाग अर्धमाषक, काकणी (¼ माषक) और अर्धकाकणी

(½ माषक) होते थे। ताँबे और चाँदी के अतिरिक्त सम्भवतः सोने का भी एक सिक्का उस युग में प्रचलित था। इसे 'सुवर्ण' कहते थे, और इसका भार ⅘ तोले होता था। मौर्य युग के सिक्के वर्तमान समय में उपलब्ध भी हैं। ये प्रायः ताम्बे के बने हैं, और इन पर अनेकविध चिह्न अंकित हैं।

दासप्रथा—मैगस्थनीज ने लिखा है, कि "भारतवर्ष के विषय में यह ध्यान देने योग्य बात है, कि समस्त भारतीय स्वतन्त्र हैं, उनमें एक भी दास नहीं है। लैकेडिमोनियन्स और भारतवासी यहाँ तक तो एक-दूसरे से मिलते हैं, पर लैकेडिमोनियन्स लोगों में हेलॉट लोगों को दासों की तरह रखा जाता है। ये हेलॉट नीच दरजे का श्रम करते हैं। पर भारतीय लोग विदेशियो तक को दास नहीं बनाते, अपने देश-वासियों की तो बात ही क्या है?" यद्यपि ग्रीक लेखकों के अनुसार भारत में दासप्रथा का सर्वथा अभाव था, पर कौटलीय अर्थशास्त्र से इस बात की पुष्टि नहीं होती। अर्थशास्त्र के अनुसार उस समय मे जो दास जन्म से होते थे, उन्हें खरीदा और बेचा जा सकता था। म्लेच्छ (आर्य-भिन्न) लोग अपने बच्चों व अन्य सम्बन्धियो को दास की भाँति बेच सकते थे। पर आर्यों मे यह प्रथा नही थी। उन्हें अपने सम्बन्धियो को बेचने पर कठोर दण्ड मिलता था। साधारणतया आर्य दास नही बन सकता था। पर कुछ अवस्थाओं मे आर्य भी थोड़े समय के लिए दास हो सकता था—(क) अपने परिवार को आर्थिक संकट से बचाने के लिए यदि अपने को बेचना आवश्यक हो। (ख) जुरमानों का दण्ड अदा करने के लिए। (ग) यदि राजदण्ड दास बनने का मिला हो।

(४) मौर्यकालीन समाज और सभ्यता

भारतीय समाज के विविध वर्ग—मैगस्थनीज के अनुसार भारत की जनता सात वर्गों में बँटी हुई थी। उसने लिखा है, कि 'भारतवर्ष की सारी आबादी सात जातियों (वर्गों) में बँटी है। पहली जाति दार्शनिकों के समुदाय से बनी है, जो यद्यपि संख्या की दृष्टि से अन्य जातियों की अपेक्षा कम है, तथापि प्रतिष्ठा मे उन सबसे श्रेष्ठ है। दार्शनिक लोग सभी सार्वजनिक कर्त्तव्यो से मुक्त हैं, इसलिए न तो किसी के दास हैं, और न किसी के स्वामी। गृहस्थी लोगों के द्वारा ये बलि प्रदान करने तथा मृतकों का श्राद्ध करने के लिए नियुक्त किये जाते हैं, क्योंकि लोगो का विश्वास है कि ये देवताओ के बहुत प्रिय हैं, और परलोक-सम्बन्धी बातों में बहुत निपुण हैं। इन क्रियाओ के बदले मे ये बहुमूल्य दान पाते हैं। भारत के लोगो को इनसे बहुत लाभ पहुँचता है। साल के प्रारम्भ में जब ये लोग एकत्रित होते हैं, तो अनावृष्टि, शीत, आँधी, रोग आदि की पहले से ही सूचना दे देते हैं। इसी तरह की अन्य बहुत-सी बातों को भी ये पहले से ही बता देते है, जिससे कि सर्वसाधारण को बहुत लाभ पहुँचता है।' इस प्रकार राजा और प्रजा—दोनो भविष्य को पहले से ही जानकर उसका प्रबन्ध कर सकते हैं। जो वस्तु आवश्यकता के समय काम आयेगी, उसका पहले से ही प्रबन्ध करने में वे कभी नही चूकते। जो दार्शनिक अपनी भविष्यवाणी में भूल करता है, उसको निन्दा के सिवाय अन्य कोई दण्ड नही मिलता। भविष्यवाणी अशुद्ध होने की दशा में फिर दार्शनिक जीवन भर मौन अवलम्बन कर लेता है।

'दूसरी जाति में किसान लोग हैं, जो दूसरों से संख्या में बहुत अधिक हैं। वे राजा को भूमि-कर देते हैं। किसान अपनी स्त्रियों और बच्चों के साथ रहते हैं, और नगरों में जाने-आने से बिलकुल बचते हैं।

'तीसरी जाति के अन्तर्गत अहीर, गडरिए तथा सब प्रकार के चरवाहे हैं, जो न नगरों में बसते हैं और न ग्रामों में, बल्कि डेरों में रहते हैं। शिकार तथा पशुओं को जाल आदि में फँसाकर वे देश को हानिकारक पक्षियों और जंगली पशुओं से मुक्त करते हैं। वे अपने इस कार्य में बड़े उत्साह के साथ लगे रहते हैं। इसीलिए वे भारत को उन विपत्तियों से मुक्त करते हैं, जो कि यहाँ पर बड़ी मात्रा मे विद्यमान हैं, जैसे सब प्रकार के जंगली जन्तु और किसानों के बोये हुए बीजों को खा जाने वाले पक्षी।

'चौथी जाति कारीगर लोगों की है। इनमें से कुछ कवच बनाने वाले हैं, और कुछ उन विविध उपकरणों (औजारों) को बनाते हैं, जिनका किसान तथा अन्य व्यवसायी लोग उपयोग करते हैं।

'पाँचवी जाति सैनिकों की है। यह भली-भाँति संगठित तथा युद्ध के लिए सुसज्जित रहती है। संख्या में इसका दूसरा स्थान है। शान्ति के समय यह आलस्य और आमोद-प्रमोद में मस्त रहती है। सेना, योद्धा, सैनिक, युद्ध के घोड़े-हाथी सबका राजकीय खर्च से पालन होता है।

'छठी जाति में निरीक्षक लोग हैं। इनका काम यह है कि जो कुछ भारतवर्ष में होता है, उसकी खोज तथा देख-भाल करते रहें और राजा को, तथा जहाँ राजा न हो वहाँ अन्य किसी राजकीय शासक को, उसकी सूचना देते रहे।

'सातवी जाति सभासदों तथा अन्य शासनकर्त्ताओं की है। ये लोग राज्य-कार्य की देखभाल करते हैं। संख्या की दृष्टि से यह जाति सबसे छोटी है, पर अपने चरित्र तथा बुद्धि के कारण सबसे प्रतिष्ठित है। इसी जाति से राजा के मन्त्रिगण, राज्य के कोषाध्यक्ष और न्यायकर्त्ता लिये जाते है। सेना के नायक व मुख्य शासक लोग प्रायः इसी जाति के होते है।"

मैगस्थनीज द्वारा वर्णित भारतीय समाज के इन वर्गों को हम क्रमशः ब्राह्मण-श्रमण, कृषक, गोपाल स्वगणिक, कारु-शिल्पि-वैदेहक, भट, प्रतिवेदक-अध्यक्ष-सत्रिक और मन्त्रि-महामात्र-अमात्य कह सकते हैं। ये पृथक् जातियाँ नहीं थी। मैगस्थनीज ने भारत के समाज की जो दशा देखी, उसके अनुसार उसने ये सात वर्ग यहाँ पाये।

विवाह तथा स्त्रियों की स्थिति—मौर्यकाल मे बहुविवाह की प्रथा विद्यमान थी। मैगस्थनीज ने लिखा है—'वे बहुत-सी स्त्रियो से विवाह करते हैं।' विवाहित स्त्रियों के अतिरिक्त अनेक स्त्रियों को आमोद-प्रमोद के लिए भी घर में रखा जाता था। मैगस्थनीज के अनुसार 'कुछ को तो वे दत्तचित्त सहधर्मिणी बनाने के लिये विवाह करके लाते हैं, और कुछ को केवल आनन्द के हेतु तथा घर को लड़को से भर देने के लिये।' कौटलीय अर्थशास्त्र से भी यह बात पुष्ट होती है। वहाँ लिखा है—'पुरुष कितनी ही स्त्रियो से विवाह कर सकता है, स्त्रियाँ सन्तान उत्पन्न करने के लिये ही हैं।'

पुरुष और स्त्री दोनों को इस युग में पुनर्विवाह का अधिकार था। पुरुषों के पुनर्विवाह के सम्बन्ध में ये नियम दिये गये है—'यदि किसी स्त्री के आठ साल तक बच्चा

न हो, या जिसके कोई पुरुष सन्तान न हो, या जो बन्ध्या हो, उसका पति पुर्नविवाह से पूर्व आठ साल तक प्रतीक्षा करे। यदि स्त्री के मृत बच्चा पैदा हो, तो दस साल तक प्रतीक्षा करे। केवल लड़कियाँ ही उत्पन्न हों, तो बारह वर्ष तक प्रतीक्षा करे। इसके बाद पुत्र की इच्छा होने पर पुरुष दूसरा विवाह कर सकता है। स्त्री के मर जाने पर तो पुर्नविवाह हो ही सकता था। पुरुषों की तरह स्त्रियों को भी पुर्नविवाह का अधिकार था। पति के मरने पर यदि स्त्री दूसरा विवाह करना चाहे, तो उसे अपने श्वसुर तथा पतिपक्ष के अन्य सम्बन्धियों द्वारा प्राप्त धन वापस देना होता था। परन्तु यदि पुर्नविवाह श्वसुर की अनुमति से हो, तो स्त्री इस धन को अपने पास रख सकती थी। पति की मृत्यु के अतिरिक्त भी कुछ अवस्थाओं में स्त्री को पुर्नविवाह का अधिकार था। 'यदि किसी स्त्री के कोई सन्तान न हो और उसका पति विदेश गया हुआ हो, तो वह एक साल तक प्रतीक्षा करे। यदि उसके कोई सन्तान हो, तो अधिक समय तक प्रतीक्षा करे। यदि पति स्त्री के लिए भरण-पोषण का प्रबन्ध कर गया हो, तो दुगुने समय तक प्रतीक्षा की जाय। यदि पति विद्याध्ययन के लिये विदेश गया हो, तो सन्तान-रहित स्त्री दस वर्ष और सन्तान-सहित स्त्री बारह वर्ष तक प्रतिक्षा करे', ये नियम उस समय प्रचलित थे।

मौर्यकाल मे तलाक की प्रथा भी विद्यमान थी। कौटलीय अर्थशास्त्र मे तलाक के लिए 'मोक्ष' शब्द का प्रयोग किया गया है। स्त्री और पुरुष दोनो को ही तलाक का अधिकार था। इस विषय में अर्थशास्त्र के निम्नलिखित नियम ध्यान देने योग्य हैं—'यदि कोई पति बुरे आचार का है, परदेश गया हुआ है, राज्य का द्वेषी है या यदि कोई पति खूनी है, पतित है, या नपुंसक है, तो स्त्री उसका त्याग कर सकती है।' 'पति से घृणा करती हुई स्त्री उस (पति) की इच्छा के बिना तलाक नही दे सकती। ऐसे ही पत्नी से घृणा करता हुआ पति उस (स्त्री) की इच्छा के बिना तलाक नही दे सकता। पर पारस्परिक घृणा से तलाक हो सकता है।' यहाँ यह ध्यान में रखना चाहिए कि ब्राह्म, प्राजापत्य आदि पहले प्रकार के चार 'धर्मानुकूल' विवाहों मे तलाक नही हो सकता था। तलाक केवल आसुर, गान्धर्व आदि पिछले चार विवाहों मे ही विहित था।

धार्मिक विश्वास—चन्द्रगुप्त मौर्य के समय मे यज्ञो मे पशुहिसा, बलिदान तथा श्राद्ध प्रचलित थे। मैगस्थनीज ने लिखा है—'यज्ञ व श्राद्ध में कोई मुकुट धारण नही करता। वे बलि के पशु को छुरी धँसा कर नही मारते, अपितु गला घोटकर मारते है, जिससे देवता को खण्डित वस्तु भेंट न करके पूरी वस्तु भेट में दी जाय।'

"एक प्रयोजन जिसके लिये राजा अपना महल छोडता है, बलि प्रदान करना है। पर गृहस्थ लोगो द्वारा ये दार्शनिक बलि प्रदान करने तथा मृतको का श्राद्ध कराने के लिए नियत किये जाते हैं।"

मैगस्थनीज के उद्धरणो से स्पष्ट है, कि चन्द्रगुप्त मौर्य के समय में पशुबलि की प्रथा भली-भाँति प्रचलित थी। यद्यपि बौद्ध और जैन धर्मों का इस समय प्रचार हो चुका था, पर अभी यज्ञों मे पशु बलि देने की प्रथा बन्द नही हुई थी।

अर्थशास्त्र के अनुशीलन से ज्ञात होता है, कि मौर्यकाल में अनेकविध सम्प्रदाय विद्यमान थे। वहाँ लिखा है—नगर के मध्य में अपराजित, अप्रतिहत, जयन्त, वैज-

यन्त—इनके कोष्ठ और शिव, वैश्रवण, अश्विन् और श्रीमदिरा के गृह बनाये जाएँ। इन कोष्ठों और गृहों में यथास्थान देवताओं (वास्तुदेवता=स्थावर रूप में वर्तमान देवता) की स्थापना की जाय। भिन्न-भिन्न दिशाओं मे यथास्थान दिग्देवताओं (दिशा के देवताओं) की स्थापना की जाय।' स्पष्ट है, कि मौर्यकाल मे अनेक देवताओं की पूजा प्रचलित थी, और उनके लिए अलग-अलग मन्दिर बने होते थे। देवताओ की मूर्ति बनाने का शिल्प उस समय उन्नति पर था। मूर्तियाँ बनाने वाले शिल्पी 'देवता-कारु' कहलाते थे। नगर के द्वारो के नाम ब्रह्मा, इन्द्र, यम आदि के नाम पर रखे जाते थे। तीर्थयात्रा का भी उस समय रिवाज था। तीर्थों मे यात्रा के लिए एकत्रित लोगों से 'तीर्थ-कर' लिया जाता था। विविध सम्प्रदायो के लिए 'पाषण्ड' शब्द व्यवहार में आता था। अशोक के शिलालेखो में भी सम्प्रदायो को 'पाषण्ड' कहा गया है। संभवतः, विविध धर्मों के अनुयायी भिक्षुओं के मठो या अखाडो के लिये यह शब्द प्रयुक्त होता था। लोग तन्त्र-मन्त्र मे भी विश्वास रखते थे। मन्त्र की साधना से अभिलषित फल की सिद्धि होती है, यह बात सर्वसाधारण मे मान्य थी।

यह नही समझना चाहिये कि महात्मा बुद्ध के बाद भारत मे अन्य धर्मों का लोप होकर केवल बौद्ध-धर्म का ही प्रचार हो गया था। प्राचीन यज्ञ-प्रधान वैदिक धर्म, विविध देवी देवताओ की पूजा, अनेक पाषण्ड आदि उस युग मे भी विद्यमान थे। अशोक के समय मे बौद्ध धर्म का प्रचार भारत में बहुत बढ गया, पर अन्य सम्प्रदाय भी कायम रहे। भक्तिप्रधान वैष्णव या भागवत धर्म का अंकुर भी इस युग मे भली-भाँति पल्लवित हो रहा था। आगे चलकर यह भारत का प्रमुख धर्म हो गया। मैगस्थनीज ने लिखा है, कि शूरसेन देश मे कृष्ण की पूजा विशेष रूप से प्रचलित है। राजपूताना के चित्तौड क्षेत्र मे प्राचीन माध्यमिका नगरी के भग्नावशेषो के समीप घोसुंडी नामक गाँव मे मौर्य काल का एक महत्त्वपूर्ण शिलालेख मिला है, जिसमे संकर्षण और वासुदेव की पूजा के लिये दान देने की बात उत्कीर्ण है। इससे सूचित होता है, कि मौर्यकाल में भागवत धर्म का प्रचार शूरसेन देश से बाहर भी राजपूताना तक हो चुका था।

भोजन और पान—मैगस्थनीज ने लिखा है—'जब भारतीय लोग भोजन के लिये बैठते हैं, तो प्रत्येक व्यक्ति के सामने मेज रहती है, जो कि तिपाई की शक्ल की होती है। इनके ऊपर एक सोने का प्याला रखा जाता है, जिसमे सबसे पहले चावल परोसे जाते है। वे इस तरह उबले हुए होते है, जैसे जौ हो। इसके बाद अन्य बहुत-से पक्वान्न परोसे जाते हैं, जो भारतीय सामग्रियो के अनुसार तैयार किये जाते है।' एक अन्य स्थान पर उसने लिखा है—'वे सदैव अकेले मे भोजन करते है। वे कोई ऐसा नियत समय नही रखते, जबकि इकट्ठे मिलकर भोजन किया जाय। जिस समय जिसकी इच्छा होती है, वह तभी भोजन कर लेता है।'

मौर्यकाल के भारतीय स्वादु भोजन बनाने के लिए प्रयत्नशील रहते थे। राजा की महानस (रसोई) का वर्णन करते हुए चाणक्य ने लिखा है कि वहाँ तरह-तरह के सुस्वादु भोजन तैयार कराये जाएँ। भिन्न-भिन्न वस्तुओं को पकाने के लिए अलग-अलग पाचक होते थे। साधारण बाजार मे भी अनेकविध भोज्य पदार्थों के अलग-अलग

विक्रेता होते थे। मांस-भोजन का उस समय बहुत रिवाज था। उस युग में बहुत-से पशु-पक्षी, मछली आदि जन्तुओं को भोजन के लिये मारा व बेचा जाता था। माँस को सुखाकर भी रखा जाता था। विविध भोज्य पदार्थों के पाचकों की संज्ञा निम्नलिखित थीं—पक्वान्नपण्याः (पक्वान्न या पकवान बनाने वाले), मांसपण्याः (मांस बेचने वाले) पक्वमांसिकाः, (माँस पकाने वाले), औदनिकाः (चावल दाल पकाने वाले), आपूपिकाः (रोटी पकाने वाले)।

आमोद-प्रमोद—अर्थशास्त्र के अनुशीलन से ज्ञात होता है, कि मौर्यकाल में बहुत-से ऐसे लोग भी थे, जिनका पेशा लोगों का आमोद-प्रमोद करना तथा तमाशे दिखाना होता था। ये लोग एक स्थान से दूसरे स्थान पर तमाशा दिखाते हुए घूमते रहते थे। अर्थशास्त्र में ऐसे नट, नर्तक, गायक, वादक, वाग्जीवक (तरह-तरह की बोलियाँ बोलकर आजीविका कमाने वाले), कुशीलव, प्लवक (रस्सी पर नाचने वाले) सौम्भिक (मदारी) और चारणों का उल्लेख किया गया है। ये सब शहर या गाँव के बाहर तमाशे दिखाया करते थे। प्रेक्षा (तमाशा) के लिए इन्हें लाइसेंस लेना पड़ता था, और इसके लिए राज्य को पाँच पण दिए जाते थे।

शिकार खेलने का उस समय बहुत रिवाज था। मैगस्थनीज ने लिखा है—'जब राजा शिकार के लिए राजप्रासाद से निकलता है, तो स्त्रियों की भीड़ उसे घेरे रहती है। उनके घेरे के बाहर बरछे वाले रहते हैं। मार्ग का चिह्न रस्सों से डाला जाता है। इन रस्सों के भीतर जाना स्त्री या पुरुष सबके लिए मृत्यु को निमन्त्रण देना है। ढोल और झांझ लेकर आदमी इस दल के आगे-आगे चलते हैं। राजा घेरों के भीतर से शिकार खेलता है, और चबूतरे से तीर चलाता है। उसके बगल मे दो या तीन हथियारबन्द स्त्रियाँ खड़ी होती हैं। यदि वह खुले मैदान में शिकार करता है, तो वह हाथी की पीठ से तीर चलाता है। स्त्रियों में कुछ तो रथ के भीतर रहती हैं, कुछ घोड़ो पर और कुछ हाथियों पर। वे हर प्रकार के शस्त्रों से सुसज्जित रहती हैं, मानो वे किसी चढ़ाई पर जा रही हों।' केवल आमोद-प्रमोद के लिए मौर्य-सम्राट् जो शिकार-यात्रा करते थे, यह उसी का वर्णन है। उस युग में शिकार के लिए पृथक् रूप से वन सुरक्षित रखे जाते थे। राजा के विहार के लिए ऐसे जंगल भी होते थे, जिनके चारों ओर खाई खुदी रहती थी, और जिनमें प्रवेश के लिए केवल एक ही द्वार होता था। इनमें शिकार के लिए पशु पाले जाते थे, और राजा इनमे स्वच्छन्द रूप से शिकार खेल सकता था।

विविध 'समाजों' में पशुओं की लड़ाई और मल्लयुद्ध देखने का भी जनता को बड़ा शौक था। अशोक को ये समाज पसन्द नहीं थे, इन्हे उसने बन्द कर दिया था।

रीति-रिवाज और स्वभाव—मौर्यकालीन भारतीयों के रीति-रिवाजों के सम्बन्ध में यूनानी लेखकों के कुछ विवरण उद्धृत करने योग्य हैं—

'भारतीय लोग किफायत के साथ रहते हैं, विशेषतः उस समय जब कि वे कैम्प में हों। वे अनियन्त्रित भीड़ को नापसन्द करते हैं। इसीलिये वे हमेशा व्यवस्था बनाये रखते हैं।'

'भारतीय लोग अपने चाल-चलन में सीधे और मितव्ययी होने के कारण बड़े सुख से रहते हैं।'

'उनके कानून और व्यवहार की सरलता इससे अच्छी तरह प्रमाणित होती है, कि वे न्यायालय में बहुत कम जाते हैं। उनमें गिरवी और धरोहर के अभियोग नहीं होते, और न वे मुहर व गवाह की जरूरत रखते हैं। वे एक दूसरे के पास धरोहर रखकर आपस में विश्वास करते हैं। अपने घर व सम्पत्ति को वे प्रायः अरक्षित अवस्था में भी छोड़ देते हैं। ये बातें सूचित करती हैं, कि उनके भाव उदार व उत्कृष्ट हैं।'

'उनमे व्यायाम करने की सर्वप्रिय रीति संघर्षण है। यह कई प्रकार से किया जाता है, पर संघर्षण प्रायः चिकने आबनूस के बेलनों को त्वचा पर फेरकर होता है।'

'अपने चाल की साधारण सादगी के प्रतिकूल वे बारीकी और नफासत के प्रेमी होते हैं। उनके वस्त्रों पर सोने का काम किया रहता है। वे (वस्त्र) मूल्यवान् रत्नों से विभूषित रहते हैं। वे लोग अत्यन्त सुन्दर मलमल के बने हुए फूलदार कपडे पहनते हैं। सेवक लोग उनके पीछे-पीछे छाता लगाये चलते हैं। वे सौन्दर्य का बड़ा ध्यान रखते हैं, और अपने स्वरूप को सँवारने मे कोई उपाय उठा नहीं रखते।'

'सचाई और सदाचार दोनों की वे समान रूप से प्रतिष्ठा करते हैं।'

'भारतवासी मृतक के लिए कोई स्मारक नहीं उठाते, वरन् उस सत्यशीलता को, जिसे मनुष्यो ने अपने जीवन में दिखलाया है तथा उन गीतो को, जिनमें उनकी प्रशंसा वर्णित रहती है, मरने के बाद उनके स्मारक को बनाये रखने के लिए पर्याप्त समझते हैं।'

'चोरी बहुत कम होती है, मैगस्थनीज कहता है कि उन लोगों ने, जो चन्द्रगुप्त के डेरे मे थे जिसके भीतर चार लाख मनुष्य थे, देखा कि चोरी जिसकी इत्तला किसी एक दिन होती थी, वह २०० ड्राचमी के मूल्य से अधिक की नही होती थी, और यह ऐसे लोगों के बीच, जिनके पास लिपिबद्ध कानून नही, वरन् जो लिखने से अनभिज्ञ हैं, और जिन्हें जीवन के समस्त कार्यों में स्मृति पर ही भरोसा करना पडता है।'

'भारतीयों में विदेशियो तक के लिए कर्मचारी नियुक्त होते हैं, जिनका काम यह देखना होता है कि किसी विदेशी को हानि न पहुँचने पाये। यदि उन (विदेशियों) में से कोई रोगग्रस्त हो जाता है, तो वे उसकी चिकित्सा के निमित्त वैद्य भेजते हैं तथा और प्रकार से भी उसकी रक्षा करते हैं। यदि वह विदेशी मर जाता है, तो उसे दफना देते हैं और जो सम्पत्ति वह पीछे छोडता है, उसे उसके सम्बन्धियो को दे देते हैं। न्यायाधीश लोग भी उन मामलों का, जो विदेशियों से सम्बन्ध रखते हैं, बड़े ध्यान से फैसला करते हैं, और उन लोगों के साथ बड़ी कडाई का बरताव करते हैं, जो उनके साथ बुरा व्यवहार करते हैं।'

'भूमि जोतने वाले, चाहे उनके पड़ोस में युद्ध हो रहा हो, तो भी किसी प्रकार के भय की आशंका से विचलित नहीं होते। दोनों ओर के लड़ने वाले युद्ध के समय एक दूसरे का संहार करते हैं। परन्तु जो लोग खेती मे लगे हुए रहते है, उन्हें पूर्णतया निर्विघ्न अपना कार्य करने देते हैं। इसके अतिरिक्त, न तो वे शत्रु के देश का अग्नि से सत्यानाश करते हैं, और न उनके पेड़ काटते हैं।'

'ब्राह्मण लोग दर्शन के ज्ञान को स्त्रियों को नहीं बताते। उन्हें भय रहता है, कहीं वे दुश्चरित्र न हो जाएँ, निषेध किये गये रहस्यो मे से किसी को खोल न दें, अथवा यदि वे कही उत्तम दार्शनिक हो जाएँ, तो उन्हें छोड़ न दें।'

(५) शिक्षणालय

मौर्यकाल में शिक्षा का कार्य आचार्य, पुरोहित, श्रोत्रिय आदि करते थे। उन्हे राज्य की ओर से सहायता दी जाती थी। उन्हे इतनी भूमि दे दी जाती थी, कि वे निश्चिन्त होकर उसकी आमदनी से अपना निर्वाह करे और अध्यापन कार्य में व्यापृत रहें। इस तरह की भूमि को 'ब्रह्मदेय' कहते थे। इससे कोई कर आदि नही लिया जाता था। स्वतन्त्र रूप से अध्यापन करने वाले इन ब्राह्मणो के अतिरिक्त इस युग मे अनेक ऐसे शिक्षाकेन्द्र भी थे, जिनमे बहुत-से आचार्य शिक्षा का कार्य करते थे। मौर्यकाल का ऐसा सबसे प्रसिद्ध केन्द्र तक्षशिला था, जहाँ आचार्य चाणक्य नीतिशास्त्र का अध्यापन करते रहे थे।

तक्षशिला मे शिक्षा का क्या ढग था, इस विषय में एक जातक कथा को यहाँ उद्धृत करना बहुत उपयोगी है। "एक बार की बात है, कि वाराणसी के राजा के एक पुत्र उत्पन्न हुआ, जिसका नाम कुमार ब्रह्मदत्त रखा गया। पुराने समय मे राजा लोगों में यह प्रथा थी, कि चाहे उनके अपने शहर मे कोई प्रसिद्ध अध्यापक विद्यमान हो, तो भी वे अपने कुमारों को दूर देशो मे शिक्षा पूर्ण करने के लिए भेजना उपयोगी समझते थे। इससे वे यह लाभ समझते थे, कि कुमार निरभिमान होना व दर्प को वश मे करना सीखेंगे, गरमी और सरदी को सहन करेंगे, साथ ही दुनिया के रीति-रिवाजो से भी जानकारी प्राप्त कर सकेंगे। राजा ने भी यही किया। उसने अपने कुमार को बुलाकर, जिसकी आयु अब सोलह वर्ष की हो चुकी थी, उसे एकतलिक जूते, पत्तों का छाता और एक हजार कार्षापण देकर कहा—'तात! तक्षशिला जाओ, और विद्या का अभ्यास करो।' माता-पिता से विदा लेकर वह समय पर तक्षशिला पहुँच गया। वहाँ जाकर उसने आचार्य का घर पूछा। आचार्य विद्यार्थियो के सम्मुख अपना व्याख्यान समाप्त कर चुके थे और अपने घर द्वार पर घूम रहे थे। आचार्य को देखते ही कुमार ने अपने जूते उतार दिये, छाता बन्द कर दिया और सम्मानपूर्वक वन्दना करके खडा हो गया। आचार्य ने देखा कि वह थका हुआ है, अत उसके भोजन का प्रबन्ध कर उसे आराम करने का आदेश दिया। भोजन करके कुमार ने कुछ देर विश्राम किया और फिर आचार्य के सम्मुख सम्मानपूर्वक प्रणाम करके खडा हो गया। आचार्य ने पूछा— 'तात! तुम कहाँ से आये हो?' 'वाराणसी से।' 'तुम किसके पुत्र हो?' 'मैं वाराणसी के राजा का पुत्र हूँ।' 'तुम यहाँ किसलिये आये हो?' 'विद्याध्ययन के लिए।' 'क्या तुम आचार्य के लिए उपयुक्त शुल्क लाये हो, या शिक्षा के बदले सेवा की इच्छा रखते हो?' 'मैं आचार्य के लिए उपयुक्त शुल्क लाया हूँ।' यह कहकर उसने एक हजार कार्षापणों की थैली आचार्य के चरणों में रख दी। दो तरह के अन्तेवासी आचार्य से शिक्षा ग्रहण करते थे। पहले 'धम्मन्तेवासिक', जो दिन में आचार्य का काम करते थे, और रात को शिक्षा प्राप्त करते थे। दूसरे 'आचारिय भागदायक' जो आचार्य के घर

में ज्येष्ठ पुत्र की तरह शिक्षा प्राप्त करते थे, और सारा समय विद्याध्ययन मे व्यतीत करते थे। क्योंकि कुमार ब्रह्मदत्त आवश्यक शुल्क साथ लाया था, और वह आचार्य के घर पर ही रहता था, अतः उसे नियमपूर्वक शिक्षा दी गयी। इस प्रकार ब्रह्मदत्त ने शिक्षा समाप्त की।

तक्षशिला में अनेक संसारप्रसिद्ध आचार्य शिक्षादान का कार्य करते थे। एक आचार्य के पास प्रायः ५०० विद्यार्थी पढ़ते थे। सम्भवतः, यह कल्पना अनुचित नहीं है, कि तक्षशिला में अनेक कालिज थे, जिनमे से प्रत्येक में ५०० के लगभग विद्यार्थी शिक्षा ग्रहण करते थे। इन कालिजो के प्रधान को आचार्य कहते थे, जो प्रायः 'ससारप्रसिद्ध' व्यक्ति होता था। एक जातक के अनुसार एक आचार्य के पास एक सौ एक राजकुमार शिक्षा प्राप्त कर रहे थे। अनेक राजकुमारों के तो नाम भी वहाँ दिये गये हैं। न केवल राजकुमार, पर ब्राह्मण और क्षत्रिय आदि सभी जातियो के छात्र भारत के दूरवर्ती जनपदों से विद्या प्राप्त करने के लिए तक्षशिला आते थे। केवल नीच जातियो के लोग तक्षशिला के 'ससार प्रसिद्ध' आचार्यों से लाभ नही उठा सकते थे। एक जातककथा के अनुसार एक चाण्डाल ने वेश बदल कर तक्षशिला मे शिक्षा प्राप्त की थी।

तक्षशिला में तीनों वेद, अष्टादश विद्या, विविध शिल्प, धनुर्विद्या, हस्ति विद्या, मन्त्रविद्या, प्राणियों की बोलियो को समझने की विद्या और चिकित्सा शास्त्र की विशेष रूप से शिक्षा दी जाती थी। शैशुनाग, नन्द और मौर्य युगो के अनेक प्रसिद्ध व्यक्तियों ने तक्षशिला मे ही शिक्षा पायी थी। राजा बिम्बिसार का राजवैद्य जीवक तक्षशिला का ही आचार्य था। कोशलराज प्रसेनजित् तक्षशिला मे विद्यार्थी के रूप मे रह चुका था। चन्द्रगुप्त मौर्य भी कुछ समय तक तक्षशिला मे आचार्य चाणक्य का शिष्य बनकर रहा था।

मौर्यकाल मे काशी भी शिक्षा का महत्त्वपूर्ण केन्द्र था। तक्षशिला मे विद्या प्राप्त कर अनेक आचार्यों ने वहाँ शिक्षण का कार्य शुरू किया, और धीरे-धीरे वह भी एक प्रसिद्ध विद्यापीठ बन गया।

अठारहवाँ अध्याय

शुङ्ग और कण्व वंश

(१) सेनानी पुष्यमित्र शुङ्ग

मगध में फिर राज्यक्रान्ति—२१० ई० पू० के लगभग मौर्य-वंश की शक्ति क्षीण होने लग गयी थी, और साम्राज्य के दूरवर्ती प्रदेशों में विद्रोह प्रारम्भ हो गये थे। कलिंग, आन्ध्र और महाराष्ट्र मौर्य साम्राज्य की अधीनता से मुक्त हो चुके थे, और उत्तर-पश्चिमी भारत पर यवनों ने आक्रमण करना शुरू कर दिया था। मौर्य-वंश के अन्तिम राजा निर्बल और विलासी थे। साथ ही, शालिशुक जैसे राजाओं ने अशोक द्वारा प्रतिपादित धर्मविजय की नीति का दुरुपयोग करना भी प्रारम्भ कर दिया था। इस दशा मे मौर्य वंश की वह शक्ति नही रही थी, जिसके कारण चन्द्रगुप्त और बिन्दुसार जैसे राजा एक विशाल साम्राज्य स्थापित कर सके थे।

मौर्यवंश का अन्तिम राजा बृहद्रथ था। उसके प्रधान सेनापति का नाम पुष्यमित्र था। एक दिन उसने अपनी सब सेना को एकत्र कर उसके प्रदर्शन की व्यवस्था की। सम्राट् बृहद्रथ को भी इस प्रदर्शन के अवसर पर निमंत्रित किया गया। सेना पुष्यमित्र के प्रति अनुरक्त थी। उसके सम्मुख ही बृहद्रथ की हत्या कर दी गयी, और सेनानी पुष्यमित्र विशाल मागध-साम्राज्य का अधिपति बन गया। हर्षचरित्र में बृहद्रथ को 'प्रतिज्ञादुर्बल' कहा गया है। इसका अभिप्राय यह है, कि राज्याभिषेक के समय प्राचीन आर्य-परम्परा के अनुसार राजा को जो प्रतिज्ञा करनी होती थी, बृहद्रथ उसके पालन मे दुर्बल था। सेना उसके प्रति अनुरक्त नही थी। इसीलिए सेनानी पुष्यमित्र का षड्यन्त्र सफल हो गया। बृहद्रथ की हत्या कर पुष्यमित्र का राजा बन जाना ठीक उस प्रकार की घटना है, जैसी कि राजा बालक को मारकर श्रेणिय भट्टिय का और राजा रिपुञ्जय को मारकर अमात्य पालक का राजा बनना था। महापद्म नन्द भी इसी ढंग से मगध के राजसिंहासन का स्वामी बना था। मागध-साम्राज्य की शक्ति उसकी सुसंगठित सेना पर ही आश्रित थी। वहाँ जिस किसी के हाथ मे सेना हो, वह राजगद्दी को अपने अधिकार में कर सकता था। जिस षड्यन्त्र या क्रान्ति द्वारा मौर्य-वंश का अन्त हुआ, वह १८५ ई० पू० में हुई थी।

पुष्यमित्र शुङ्ग—पुष्यमित्र वर्ण से ब्राह्मण था, और शुङ्गकुल मे उत्पन्न हुआ था। शुङ्ग लोग मूलतः बिदिशा (पूर्वी मालवा मे बेसनगर) के रहनेवाले थे। मौर्यवंश के अन्त से पूर्व भी पुष्यमित्र का पुत्र अग्निमित्र विदिशा का शासक था। पुष्यमित्र के राजा बन जाने के पश्चात् भी अग्निमित्र विदिशा के शासक-पद पर कायम रहा।

विदर्भ की विजय—पुष्यमित्र के राजा बन जाने पर मागध-साम्राज्य को बहुत बल मिला। निर्बल मौर्य-राजाओ के शासन-काल मे जो अनेक प्रदेश साम्राज्य की अधीनता से स्वतन्त्र हो गये थे, पुष्यमित्र ने उन्हे फिर अपने अधीन किया। उस समय विदर्भ (बरार) का शासक यज्ञसेन था। सम्भवत, वह मौर्यों की ओर से विदर्भ के शासक-पद पर नियुक्त हुआ था, पर मागध-साम्राज्य की निर्बलता से लाभ उठाकर इस समय स्वतत्र हो गया था। पुष्यमित्र के आदेश से अग्निमित्र ने उसपर आक्रमण किया, और उसे परास्त कर विदर्भ को फिर से मागध-साम्राज्य के अधीन कर दिया। कालिदास के प्रसिद्ध नाटक 'मालविकाग्निमित्र' मे यज्ञसेन की चचेरी बहन मालविका और अग्निमित्र के स्नेह की कथा के साथ-साथ विदभ-विजय का वृत्तान्त भी उल्लिखित है।

खारवेल से युद्ध—मौर्य-वश की निर्बलता से लाभ उठाकर कलिङ्ग देश (उडीसा) भी स्वतन्त्र हो गया था। उसका राजा खारवेल बडा प्रतापी और महत्त्वाकाक्षी था। उसने दूर-दूर तक आक्रमण कर कलिंग की शक्ति का विस्तार किया। खारवेल के हाथीगुम्फा शिलालेख द्वारा ज्ञात होता है, कि उसने मगध पर भी आक्रमण किया था। मगध के जिस राजा पर आक्रमण कर खारवेल ने उसे परास्त किया, हाथीगुम्फा शिलालेख मे उसका जो नाम दिया गया है, अनेक विद्वानो ने उसे बहसतिमित्र (बृहस्पतिमित्र) पढा है। बृहस्पति और पुष्य पर्यायवाची शब्द है, अत जायसवालजी ने यह परिणाम निकाला था, कि खारवेल ने मगध पर आक्रमण करके पुष्यमित्र को ही परास्त किया था। पर अनेक ऐतिहासिक जायसवालजी के इस विचार से सहमत नही है। उनका विचार है कि खारवेल ने मगध के जिस राजा पर आक्रमण किया था, वह मौयवश का ही कोई राजा था। उसका नाम बहसतिमित्र था, यह भी सदिग्ध है। हाथीगुम्फा शिलालख म यह अश अस्पष्ट है और इसे बहसतिमित्र पढ सकना भी निर्विवाद नही है। सम्भवत, खारवेल का मगध पर आक्रमण मौय शालिशुक या उसके किसी उत्तराधिकारी के शासनकाल मे ही हुआ था।

यवन-आक्रमण—मौर्य-सम्राटो की निर्बलता से लाभ उठाकर यवनो ने भारत पर आक्रमण शुरू कर दिये थ। पुष्यमित्र के शासन-काल मे उन्होने फिर भारत पर आक्रमण किया। यवनो का यह आक्रमण सम्भवत डेमेट्रियस (दिमित्र) के नेतृत्व मे हुआ था। प्रसिद्ध वैयाकरण पतञ्जलि ने, जो पुष्यमित्र के समकालीन थे, इस आक्रमण का 'अरुणत् यवन साकेतम्, अरुणत् यवन माध्यमिकाम्' (यवन ने साकेत पर हमला किया, यवन ने माध्यमिका पर हमला किया) लिख कर निर्देश किया है। 'अरुणत्' प्रयोग अनद्यतन भूतकाल को सूचित करता है। यह प्रयोग उस दशा मे होता है जब कि किसी ऐसी भूतकालिक घटना का कथन करना हो, जो प्रयोक्ता के अपने जीवन-काल मे घटी हो। अत यह स्पष्ट है, कि पतञ्जलि और पुष्यमित्र के समय मे भी भारत पर यवनो का आक्रमण हुआ था, और इस बार यवन-सेनाएँ साकेत और माध्यमिका तक चली आई थी। मालविकाग्निमित्र के अनुसार भी पुष्यमित्र केयवनो के साथ युद्ध हुए थे, और उसके पोते वसुमित्र ने सिन्धु नदी के तट पर यवनो को परास्त किया था। जिस सिन्धु नदी के तट पर शुङ्ग सेना द्वारा यवनो की पराजय

हुई थी, वह कौन-सी है—इस विषय पर भी ऐतिहासिकों मे मतभेद है। श्री वी० ए० स्मिथ ने यह प्रतिपादित किया था, कि मालविकाग्निमित्र की सिन्धु नदी राजपूताने की सिन्ध या काली सिन्ध नदी है, और उसी के दक्षिणी तट पर वसुमित्र का यवनों के साथ युद्ध हुआ था। पर अब बहुसंख्यक ऐतिहासिको का यही विचार है, कि सिन्धु से पंजाब की प्रसिद्ध सिन्ध नदी का ही ग्रहण करना चाहिए। पर यह निर्विवाद है, कि यवनो को परास्त कर मागध-साम्राज्य की शक्ति को कायम रखने मे पुष्यमित्र शुङ्ग को असाधारण सफलता मिली थी।

अश्वमेध—अयोध्या मे पुष्यमित्र का एक शिलालेख प्राप्त हुआ है, जिसमे उसे 'द्विरश्वमेधयाजी' कहा गया है। इससे सूचित होता है, कि पुष्यमित्र ने दो बार अश्वमेध-यज्ञ का अनुष्ठान किया था। हरिवंशपुराण के अनुसार राजा जनमेजय के बाद उसी ने अश्वमेध-यज्ञ किये थे। अहिंसा-प्रधान बौद्ध और जैन धर्मों के उत्कर्ष के कारण इस यज्ञ की परिपाटी भारत में विलुप्त हो गई थी। अब पुष्यमित्र ने इसे पुनरुज्जीवित किया। सम्भवतः, पतञ्जलि मुनि इन यज्ञों मे पुष्यमित्र के पुरोहित थे। इसीलिए उन्होने महाभाष्य मे लिखा है—'इह पुष्यमित्र याजयाम' (हम यहाँ पुष्यमित्र का यज्ञ करा रहे है)। अश्वमेध के लिए जो घोड़ा छोडा गया, उसकी रक्षा का कार्य वसुमित्र के सुपुर्द किया गया था। सिन्धु नदी के तट पर यवनो ने इस घोडे को पकड लिया और वसुमित्र ने यवनो को परास्त कर इसे उनसे छुडवाया। किन विजयों के उपलक्ष मे पुष्यमित्र ने दो बार अश्वमेध-यज्ञ का अनुष्ठान किया, यह निश्चित रूप से नही कहा जा सकता।

वैदिक धर्म का पुनरुत्थान—शुङ्ग सम्राट् प्राचीन वैदिक धर्म के अनुयायी थे। उनके समय मे बौद्ध और जैन-धर्मों का ह्रास होकर वैदिक धर्म का पुनरुत्थान आरम्भ हुआ। 'दिव्यावदान' के अनुसार पुष्यमित्र बौद्धो से द्वेष करता था, और उसने बहुत-से बौद्ध स्तूपो का ध्वंस कराया था, और बहुत-से बौद्ध-श्रमणो की हत्या करायी थी। दिव्यावदान मे तो यहाँ तक लिखा है, कि साकल (सियालकोट) मे जाकर उसने घोषणा की थी, कि जो कोई किसी श्रमण का सिर लाकर देगा, उसे मैं सौ दीनार पारितोषिक दूंगा। सम्भव है, बौद्ध ग्रंथ के इस कथन में अत्युक्ति हो, पर इसमे सन्देह नही कि पुष्यमित्र के समय मे यज्ञप्रधान वैदिक धर्म का पुनरुत्थान शुरू हो गया था। उस द्वारा किये गये अश्वमेध यज्ञ ही इसके प्रमाण हैं।

शुङ्ग-साम्राज्य की सीमा—विदर्भ को जीतकर और यवनो को परास्त कर पुष्यमित्र शुङ्ग मागध-साम्राज्य के विलुप्त गौरव का पुनरुद्धार करने मे समर्थ हुआ था। उसके साम्राज्य की सीमा पश्चिम मे सिन्ध नदी तक अवश्य थी। दिव्यावदान के अनुसार साकल (सियालकोट) उसके साम्राज्य के अन्तर्गत था। अयोध्या मे प्राप्त उसके शिलालेख से इस बात मे कोई सन्देह नही रह जाता, कि मध्यदेश पर उसका शासन भलीभाँति स्थिर था। विदर्भ की विजय से उसके साम्राज्य की दक्षिणी सीमा नर्मदा नदी तक पहुँच गयी थी। इस प्रकार पुष्यमित्र का साम्राज्य हिमालय से नर्मदा तक और सिन्धु से प्राच्य समुद्र तक विस्तृत था।

पुराणों के अनुसार पुष्यमित्र ने ३६ वर्ष (१८५–१४९ ई० पू०) तक राज्य किया।

(२) यवन आक्रमण

यवन-साम्राज्य का ह्रास—सिकन्दर की मृत्यु के बाद उसके अन्यतम सेनापति सैल्युकस ने सिकन्दर के एशियन प्रदेशों मे अपने जिस साम्राज्य की स्थापना की थी, उसका उल्लेख हम पहले कर चुके है। जिस प्रकार २१० ई० पू० के लगभग विशाल मौर्य साम्राज्य की शक्ति क्षीण हो गयी थी, और कलिंग, आंध्र आदि अनेक देश उसकी अधीनता से मुक्त होकर स्वतंत्र हो गये थे, वैसे ही इसी काल के लगभग सैल्युकस द्वारा स्थापित सीरियन साम्राज्य की शक्ति भी क्षीण होने लग गयी, और उसकी अधीनता से भी अनेक देश मुक्त हो गये। सीरियन साम्राज्य की अधीनता से मुक्त हुए इन देशों मे बैक्ट्रिया (बाल्ह्री) और पार्थिया (पार्थव) के नाम विशेषरूप से उल्लेखनीय हैं।

बैक्ट्रिया की स्वतन्त्रता—बैक्ट्रिया विशाल सीरियन साम्राज्य का एक प्रान्त था, और वहाँ का शासन करने के लिए सीरियन सम्राटो की ओर से क्षत्रपो की नियुक्ति की जाती थी। इस प्रदेश की आबादी मे ग्रीक (यवन) लोगो का महत्त्वपूर्ण स्थान था। २५० ई० पू० के लगभग बैक्ट्रिया के क्षत्रप के पद पर डायोडोटस (दियोदोत) नियुक्त था। सीरियन सम्राट् की निर्बलता से लाभ उठाकर वह स्वतन्त्र हो गया, और इस प्रकार बैक्ट्रिया के स्वतन्त्र यवन-राज्य की स्थापना हुई।

पार्थिया की स्वतन्त्रता—बैक्ट्रिया के पश्चिम और कैस्पियन सागर के दक्षिण-पूर्व मे पार्थिया का प्रदेश था, जिसके निवासी जातीय दृष्टि से ग्रीक लोगो से सर्वथा भिन्न थे। सीरियन साम्राज्य की निर्बलता से लाभ उठाकर उन्होने विद्रोह कर दिया और २४८ ई० पू० के लगभग स्वतन्त्र पार्थियन राज्य की स्थापना हुई। पार्थियन लोगो के इस विद्रोह के नेता अरसक और तिरिदात नामक दो भाई थे। इन भाइयों ने धीरे-धीरे पार्थियन राज्य की शक्ति को बहुत बढा लिया, और कुछ समय बाद सम्पूर्ण ईरान उनकी अधीनता मे आ गया।

एण्टीयोकस तृतीय—बैक्ट्रिया और पार्थिया की स्वतन्त्रता के कारण सीरियन साम्राज्य की शक्ति बहुत क्षीण हो गयी थी। २२३ ई० पू० मे सीरिया के राजसिंहासन पर सम्राट् एण्टियोकस तृतीय आरूढ हुआ। वह बडा महत्त्वाकांक्षी था, और उसने अपने वंश के लुप्त गौरव के पुनरुद्धार का प्रयत्न किया। पार्थिया पर आक्रमण कर उसने उसे जीतने का प्रयत्न किया, पर सफल नही हो सका। पार्थियन राजा अरसक तृतीय को परास्त कर सकने मे असफल होकर एण्टियोकस ने उसके साथ सन्धि कर ली, और फिर बैक्ट्रिया पर आक्रमण किया। इस समय बैक्ट्रिया की राजगद्दी पर युथिडिमास विराजमान था, जो बड़ा वीर और शक्तिशाली राजा था। दो वर्ष वह निरन्तर एण्टियोकस के साथ युद्ध करता रहा, और सीरियन सम्राट् उसे परास्त करने मे असमर्थ रहा। अन्त मे विवश होकर एण्टियोकस ने युथिडिमास के साथ भी सन्धि कर ली, और इस सन्धि को स्थिर करने के लिए अपनी पुत्री का विवाह बैक्ट्रियन राजा के पुत्र डेमेट्रियस (दिमित्र) के साथ कर दिया। पार्थिया और बैक्ट्रिया के साथ

सन्धि कर एण्टियोकस तृतीय ने भारत पर आक्रमण किया। इस आक्रमण का उल्लेख इस ग्रन्थ के सोलहवें अध्याय मे क्यिा जा चुका है।

डेमेट्रियस का आक्रमण—सीरियन सम्राट् एण्टियोकस के साथ सन्धि और विवाह-सम्बन्ध हो जाने के अनन्तर बैक्ट्रिया के राजवश की बहुत उन्नति हुई। उसने समीप के अनेक प्रदेशो को जीतकर अपने साम्राज्य का विस्तार किया। बैक्ट्रिया के इस उत्कर्ष का प्रधान श्रेय डेमेट्रियस को है, जो सीरियन सम्राट् एण्टियोकस का जामाता था। बैक्ट्रिया के राजाओ के इतिहास का परिज्ञान उनके सिक्को द्वारा होता है, जो अच्छी बडी सख्या मे भारत व अन्य देशो मे प्राप्त हुए है। ग्रीक लेखक स्ट्रैबो के अनुसार डेमेट्रियस और मिनाडर के समय बैक्ट्रिया के यवन राज्य की सीमाएँ दूर-दूर तक पहुँच गई थी। उत्तर मे चीन की सीमा स लगाकर दक्षिण मे सौराष्ट्र तक इन बैक्ट्रियन राजाओ का साम्राज्य विस्तृत था।

१६० ई० पू० मे या इससे कुछ पूर्व डेमेट्रियस बैक्ट्रिया के राजसिहासन पर आरूढ हुआ। उसके राज्यारोहण से पूर्व ही युथिडिमास ने हिन्दुकुश पर्वत को पार कर उस राज्य को जीत लिया था, जिस पर सुभागसेन का शासन था। इसीलिए हीरात, कन्धार, सीस्तान आदि म उसके सिक्के बडी सख्या मे उपलब्ध हुए है। डेमेट्रियस ने भी एक बडी सना के साथ भारत पर आक्रमण किया। ग्रीक विवरणा म उसे भारत का राजा लिखा गया है, और इसमे सन्देह नही कि भारत की विजय करते हुए वह दूर तक मध्यदेश मे चला आया था। इस समय भारत मे मौयवश के निर्बल राजाओ का शासन था, और मगध की सैन्यशक्ति क्षीण हो चुकी थी। सिकन्दर के आक्रमण के समय पजाब मे कठ, मालव क्षुद्रक आदि जो शक्तिशाली गणराज्य थे, इस समय वे अपनी स्वतन्त्रता खो चुके थे, और उनकी सैन्यशक्ति नष्ट हो गयी थी। यवनो के आक्रमण को रोकने की उत्तरदायिता अब उन मौय सम्राटो पर थी, जिन्हे भारतीय साहित्य मे 'अधार्मिक और प्रतिज्ञादुबल' कहा गया है। ये सम्राट् यवना का मुकाबला कर सकने मे असमथ रहे। पतञ्जलि मुनि ने महाभाष्य मे 'अरुणत् यवन साकेतम्, अरुणत् यवन माध्यमिकाम्' लिखकर जिस यवन आक्रमण का सकेत किया है, वह सम्भवत डेमेट्रियस का ही वह आक्रमण था, जा सम्भवत उस समय (१८५ ई० पू० के लगभग) हुआ था, जबकि अन्तिम मौ यराजा बृहद्रथ मगध के राजसिहासन पर आरूढ था। सेनानी पुष्यमित्र ने उसे मारकर जो स्वय राज्य प्राप्त कर लिया, उसका कारण भी सम्भवत यही था कि यवन आक्रमण का मुकाबला न कर सकने से सना और जनता बृहद्रथ के विरुद्ध हो गई थी। श्री जायसवाल आदि कतिपय ऐतिहासिको के अनुसार कलिगराज खारवल के हाथीगुम्फा शिलालेख मे भी डेमेट्रियस के आक्रमण का उल्लेख है। श्रीजायसवाल ने इस शिलालेख के पाठ को जिस रूप मे सम्पादित किया है, उसके अनुसार वहाँ लिखा है—'आठवें वर्ष महासेना गोरथगिरि को तोडकर राजगृह को घेर दबाया। इन कर्मो के अवदान (वीरकथा) के सनाद से यवनराजा दिमित घबराई सेना और वाहनो को कठिनता से बचाकर मथुरा को भाग गया।' पर बहुसख्यक ऐतिहासिको को श्री जायसवाल का यह पाठ स्वीकार्य नही है। वे इस लेख मे 'दिमित' के पाठ को सही नही मानते। पर इसमे सन्देह नही, कि

हाथीगुम्फा लेख में एक ऐसे यवनराजा का उल्लेख अवश्य है, जो खारवेल के आक्रमण के समाचार से घबरा कर मथुरा की ओर भाग गया था। यह असम्भव नहीं है, कि यह यवनराजा डेमेट्रियस ही हो। अनेक ऐतिहासिकों का मत है, कि गार्ग्यसंहिता के युग पुराण में जिस यवनराजा के आक्रमण का उल्लेख है, और जो मथुरा, पाञ्चाल और साकेत को विजय करता हुआ पाटलिपुत्र तक पहुँच गया था, वह भी यही दिमित या डेमेट्रियस था। यद्यपि गार्ग्यसंहिता में इस यवन आक्रमण का उल्लेख मौर्यराजा शालिशुक के वृत्तान्त के साथ किया गया है, पर यह असम्भव नहीं, कि यह डेमेट्रियस के आक्रमण का ही निर्देश करता हो, क्योंकि प्राचीन साहित्य के ये विवरण पूर्णतया स्पष्ट नहीं हैं।

डेमेट्रियस जो मगध या मध्य देश में नहीं टिक सका, उसका एक प्रधान कारण कलिंगराज खारवेल की सैन्यशक्ति थी। यवन सेना के भारत में दूर तक चले आने पर खारवेल अपनी सेना के साथ उसका मुकाबला करने के लिए आगे बढ़ा, और उसने यवनों को पश्चिम में मथुरा की ओर खदेड़ दिया। यही समय है, जब कि पाटलिपुत्र में सेनानी पुष्यमित्र ने निर्बल मौर्य राजा बृहद्रथ की हत्या कर स्वयं राज्य प्राप्त कर लिया था। डेमेट्रियस का आक्रमण १८५ ई० पू० के लगभग हुआ था, और मौर्य राजा उसका मुकाबला करने में असमर्थ रहे थे। मौर्य वंश के पतन का यही प्रधान कारण था। सम्भवतः खारवेल ने इसी समय दूर पश्चिम की ओर आगे बढ़कर यवनों को परास्त किया था। पर इस प्रसंग में यह नहीं भूलना चाहिए, कि डेमेट्रियस का आक्रमण और खारवेल का समय आदि विषयों पर ऐतिहासिकों में बहुत मतभेद है।

डेमेट्रियस के भारतीय आक्रमण के सम्बन्ध में कतिपय अन्य निर्देश भी उपलब्ध होते हैं। 'सिद्धान्तकौमुदी' में दात्तामित्री नामक एक नगरी का उल्लेख है, जो सौवीर देश में स्थित थी। सम्भवतः, यह दात्तामित्री नगरी डेमेट्रियस द्वारा ही बसायी गई थी। गार्ग्यसंहिता के युगपुराण ने धर्ममीत नामक यवनराजा का उल्लेख है, जिसे जायसवालजी ने डेमेट्रियस या दिमित्र का रूपान्तर माना है।

मिनाण्डर—डेमेटियस के समान मिनाण्डर नामक यवनराजा के भी अनेक सिक्के उत्तर पश्चिमी भारत में उपलब्ध हुए हैं। उसकी राजधानी शाकल (सियालकोट) थी। भारत में राज्य करते हुए वह बौद्ध श्रमणों के सम्पर्क में आया और आचार्य नागसेन से उसने बौद्ध धर्म की दीक्षा भी ले ली। बौद्ध-ग्रन्थों में उसका नाम 'मिलिन्द' आया है। 'मिलिन्द पञ्हो' नाम के पालिग्रन्थ में उसके बौद्ध-धर्म को स्वीकृत करने का विवरण दिया गया है। मिनाण्डर के अनेक सिक्कों पर बौद्ध-धर्म के धर्मचक्र प्रवर्तन का चिह्न 'धर्मचक्र' बना हुआ है, और उसने अपने नाम के साथ ध्रमिक (धार्मिक) विशेषण दिया है। यूनानी लेखक स्ट्रैबो के लेखों से सूचित होता है, कि डेमेट्रियस के भारत-आक्रमण में मिनाण्डर उसका सहयोगी था। स्ट्रैबो के अनुसार 'इन विजयों का लाभ कुछ मिनाण्डर ने और कुछ युथिडिमास के पुत्र डेमेट्रियस ने प्राप्त किया।' इससे अनेक ऐतिहासिकों ने यह परिणाम निकाला है कि मिनाण्डर और डेमेट्रियस ने एक ही समय में सम्मिलित रूप में भारत पर आक्रमण किया था, और मिनाण्डर डेमेट्रियस का ही

सेनापति था। श्री टार्न इस मत के प्रमुख प्रतिपादकों में हैं। बाद में मिनाण्डर ने भी अपना पृथक् व स्वतन्त्र राज्य स्थापित किया।

युक्रेटीदस—जिस समय डेमेट्रियस और मिनाण्डर भारत विजय में संलग्न थे, उनके अपने देश बैक्ट्रिया में उनके विरुद्ध क्रान्ति हो गई, और युक्रेटीदस (Eukratides) नामक एक सेनापति ने बैक्ट्रिया के राजसिंहासन पर अपना अधिकार कर लिया। टार्न के अनुसार यह युक्रेटीदस, सम्भवत, सीरियन सम्राट् एण्टियोकस चतुर्थ का भाई था। जब डेमेट्रियस को यह समाचार मिला, तो वह तुरन्त भारत से बैक्ट्रिया वापस गया, पर उसे युक्रेटीदस के विरुद्ध युद्ध मे सफलता नही मिली। अब डेमेट्रियस और मिनाण्डर का बैक्ट्रिया के साथ कोई सम्बन्ध नही रह गया, और वे उत्तर-पश्चिमी भारत मे ही दो स्वतन्त्र राजाओं के समान शासन करने लगे। इन दोनों यवन राजाओं के राज्यों मे कौन-कौन से प्रदेश अन्तर्गत थे, यह निश्चित रूप से नही कहा जा सकता।

डेमेट्रियस के समान बैक्ट्रिया के नये यवनराजा युक्रेटीदस ने भी भारत पर आक्रमण किया। ग्रीक विवरणों के अनुसार उसने भी भारत मे बहुत-से नगरों को जीतकर अपने अधीन किया था। सम्भवत, युक्रेटीदस ने उत्तर-पश्चिमी भारत के कुछ प्रदेशो को जीत लिया था, और उसके आक्रमणो के कारण डेमेट्रियस और मिनान्डर के हाथ से पश्चिमी पजाब और गान्धार के प्रदेश निकल गये थे।

पर युक्रेटीदस देर तक अपने जीते हुए राज्य का उपभोग नही कर सका। ग्रीक लेखक जस्टिन के अनुसार उसके पुत्र हेलिओक्लीज ने उसका घात कर स्वय राज्य प्राप्त कर लिया। युक्रेटीदस का घातक कौन था, इस विषय में भी ऐतिहासिकों मे मतभेद हैं। श्री स्मिथ ने उसके घातक का नाम अपोलोडोटस लिखा है।

हेलिओक्लीज—हेलिओक्लीज बैक्ट्रिया का अन्तिम यवन राजा था। उसके शासन-काल मे बैक्ट्रिया पर शकों के आक्रमण शुरू हो गये, और उन्होंने शीघ्र ही वहाँ से यवन-शासन का अन्त कर दिया। शकों के सम्बन्ध मे हम आगे चलकर प्रकाश डालेंगे। यद्यपि शकों के आक्रमणो के कारण बैक्ट्रिया से युक्रेटीदस के राजवश का अन्त हो गया था, पर उसके साम्राज्य के भारतीय प्रदेश बाद में भी हेलिओक्लीज की अधीनता मे रहे, और वह वहाँ स्वतन्त्र राजा के रूप मे शासन करता रहा। हेलिओक्लीज के वंश मे ही आगे चलकर एण्टिआल्कीडस (Antialkidas) और हारमाओस (Harmaous) नामक राजा हुए, जिनका शासन सम्भवत काबुल व उसके समीपवर्ती प्रदेशो मे विद्यमान था। इन राजाओं के अनेक सिक्के इस प्रदेश मे उपलब्ध हुए है। प्रथम सदी ई० पू० मे कुशाण आक्रान्ताओं ने इनको अपने अधीन किया।

डेमेट्रियस के उत्तराधिकारी—युक्रेटीदस के विद्रोह के कारण बैक्ट्रिया में डेमेट्रियस के शासन का अन्त हो गया था, पर भारत के उत्तर-पश्चिमी प्रदेशो मे उसके कुल का शासन बाद मे भी स्थिर रहा। इन यवन-राजाओं का वृत्तान्त केवल उनके सिक्कों द्वारा ही ज्ञात होता है। अत. स्वाभाविक रूप से उनके पौर्वापर्य और शासन-काल आदि के सम्बन्ध मे अनेक मत हैं। डेमेट्रियस के कुल के भारतीय यवन राजाओं के विषय मे अधिक लिखना निरर्थक है, क्योंकि उनके समय की किसी ऐतिहासिक घटना का हमे परिज्ञान नही है।

यवन-शासन के परिणाम—सीरियन सम्राट् एण्टियोकस और बैक्ट्रियन राजा डेमेट्रियस द्वारा भारत पर जो आक्रमण हुए, वे सिकन्दर और सैल्युकस के आक्रमणों की अपेक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण थे। यह दुर्भाग्य की बात है, कि इन आक्रान्ताओं की दिग्विजयो के सम्बन्ध मे हमे उतने विशदरूप में परिज्ञान नही है, जितना कि सिकन्दर के आक्रमण के विषय मे है। सिकन्दर आँधी के समान भारत में आया था, और आँधी की तरह से ही इस देश से वापस लौट गया था। वह भारत के किसी भी प्रदेश में यवनो का स्थिर शासन स्थापित नही कर सका था। सैल्युकस ने भारत पर जो आक्रमण किया, उसमे वह सफल नही हुआ। पर डेमेट्रियस जैसा यवन विजेता न केवल भारत मे बहुत दूर तक चला आया, अपितु पश्चिमी और उत्तर-पश्चिमी भारत मे स्थिररूप से यवन-शासन स्थापित करने मे भी समर्थ हुआ। यद्यपि डेमेट्रियस, मिनाण्डर और युक्रेटीदस जैसे यवन आक्रान्ताओं का भारत से बाहर के किसी यवन-राज्य के साथ सम्बन्ध नही रहा था, पर वे इस देश मे अपने स्वतन्त्र राज्य स्थापित करने में समर्थ हुए थे। इन आक्रान्ताओ ने विशाल यवन सेना को साथ लेकर भारत पर आक्रमण किया था, और यह सर्वथा निश्चित है कि बहुत से यवन सैनिक भी इनके साथ ही भारत मे बस गये थे। इस दशा मे यह सर्वथा स्वाभाविक है, कि इन यवनो का भारतीय इतिहास और संस्कृति पर गहरा प्रभाव पड़ा हो। डेमेट्रियस और युक्रेटीदस के राज-कुलो द्वारा स्थापित यवन-राज्य भारत मे डेढ सदी के लगभग तक कायम रहे, और इस सुदीर्घ काल मे इस देश को उन्होने अनेक प्रकार से प्रभावित किया। यवनो और भारतीयो के इस सम्पर्क से जो परिणाम उत्पन्न हुए, उनका सक्षिप्त रूप से दिग्दर्शन कराना उपयोगी है—

(१) भारत के सम्पर्क मे आकर अनेक यवनो ने इस देश के धर्मो को स्वीकार कर लिया। राजा मिनाण्डर ने आचार्य नागसेन से बौद्ध-धर्म की दीक्षा ग्रहण की और अपने को 'ध्रमिक' लिखकर और अपने सिक्को पर धर्मचक्र को चिह्नित कर गर्व अनुभव किया। बौद्ध धर्म के इतिहास मे मिनाण्डर, मिलिन्द या मेनन्द्र का स्थान बहुत महत्त्व-पूर्ण है। बौद्ध धर्म को स्वीकार कर लेने के बाद वह इतना लोकप्रिय हो गया था, कि मरने पर विविध नगरो के लोग उसकी राख को अपने यहाँ ले गये थे। मिनाण्डर के अनुकरण मे सम्भवत उसके साथ के अन्य भी बहुत-से यवनो ने बौद्ध-धर्म की दीक्षा ग्रहण कर ली थी।

यवनो ने भारतीयो के सम्पर्क मे आकर न केवल बौद्ध धर्म को ग्रहण किया, अपितु भागवत वैष्णव धर्म की भी दीक्षा ली। बेसनगर मे प्राप्त एक स्तम्भ लेख से ज्ञात होता है, कि हेलियोडोरस (Heliodorus) ने वैष्णव धर्म को स्वीकार किया था, और विष्णु के प्रति अपनी श्रद्धा को प्रदर्शित करने के लिए ही उसने इस स्तम्भ की स्थापना करायी थी। यह हेलियोडोरस स्वय राजा नही था, पर तक्षशिला के अन्यतम यवन-राजा ने इसे अपना दूत बना कर शुंग वश के राजा भागभद्र के पास भेजा था।

(२) यवनो के सम्पर्क मे आकर भारत ने ज्योतिष-शास्त्र के सम्बन्ध मे अनेक बाते उनसे सीखी। ग्रीस के प्राचीन नगर-राज्यो मे अनेक तत्त्ववेत्ता और वैज्ञानिक उत्पन्न हुए थे, और ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र मे ग्रीस के यवन लोग बहुत उन्नत थे। इसी-

लिए भारत के एक प्राचीन ज्योतिष-ग्रन्थ मे उनके सम्बन्ध में यह लिखा गया है, कि यद्यपि यवन लोग म्लेच्छ हैं, पर ज्योतिष-शास्त्र मे वे ऋषियों के समान पूज्य हैं। इसीलिए भारतीय ज्योतिषियों ने यवन ज्योतिषियो मे ग्रनेक सिद्धान्तों को ग्रहण किया। प्राचीन भारतीय ज्योतिष-ग्रन्थों मे जिन पौलिस सिद्धान्तो का उल्लेख है, वे सम्भवतः यवन ग्राचार्यों की ही देन हैं।

(३) भरत के नाट्य-शास्त्र मे 'यवनिका' का उल्लेख ग्राता है, ग्रौर नाटक खेलने के परदे के लिए इसी शब्द का प्रयोग होता है। ग्रनेक ऐतिहासिको का मत है, कि नाटको में परदे का प्रयोग भारतीयो ने यवनो द्वारा ही सीखा, ग्रौर इसी कारण उन्होंने इसके लिए 'यवनिका' शब्द को प्रयुक्त किया। यह सर्वथा सम्भव है, कि उत्तर-पश्चिमी भारत के नगरो में ग्रच्छी बडी सख्या मे बसे हुए यवन लोगो द्वारा ही भारत में 'यवनिका' का प्रयोग ग्रौर प्रवेश हुग्रा हो।

(४) इस युग के सिक्को पर भी यवन प्रभाव की सत्ता स्वीकृत की जाती है। यवनों से पहले भारत में जो सिक्के प्रचलित थे, उन्हे 'पच मार्क्ड' कहा जाता है। पर डेमेट्रियस ग्रादि यवन राजाग्रो ने जो सिक्के इस देश मे जारी किये, वे सुन्दर ग्रौर सुडौल होते थे। बाद के भारतीय नरेशो ने भी इसी ढग के सुडौल व ढले हुए सिक्के जारी किये। इसी प्रकार इस युग मे जिस ढग की मूर्तिया बनने लगी, वे भी यवन-प्रभाव से प्रभावित थी। मूर्ति-निर्माण की इस नयी शैली को 'गान्धार-शैली' के नाम से कहा जाता है, ग्रौर उसपर यवनो के प्रभाव को माना जाता है। इस विषय पर हम ग्रागे ग्रधिक विस्तार से विचार करेंगे।

(३) कलिंगराज खारवेल

मौर्यवंश की शक्ति के शिथिल होने पर जब मागध साम्राज्य के ग्रनेक सुदूर-वर्ती प्रदेश मौर्य सम्राटो की ग्रधीनता से मुक्त होने लगे, तो कलिंग भी स्वतन्त्र हो गया। उडीसा के भुवनेश्वर नामक स्थान से तीन मील दूर उदयगिरि नाम की पहाडी है, जिसकी एक गुफा मे एक शिलालेख उपलब्ध हुग्रा है जो 'हाथीगुम्फा लेख' के नाम से प्रसिद्ध है। इसे कलिंगराज खारवेल ने उत्कीर्ण कराया था। यह लेख प्राकृत भाषा मे है, ग्रौर प्राचीन भारतीय इतिहास के लिए इसका बहुत ग्रधिक महत्त्व है। इसके ग्रनु-सार कलिंग के स्वतन्त्र राज्य के राजा प्राचीन ऐल वश के चेति या चेदि क्षत्रिय थे। चेदि वश मे महामेघवाहन नाम का प्रतापी राजा हुग्रा, जिसने मौर्यों की निर्बलता से लाभ उठाकर कलिंग मे ग्रपना स्वतन्त्र शासन स्थापित किया। महामेघवाहन की तीसरी पीढी में खारवेल हुग्रा, जिसका वृत्तान्त हाथीगुम्फा शिलालेख मे विशद रूप से उल्लिखित है। खारवेल जैन धर्म का ग्रनुयायी था, ग्रौर सम्भवतः उसके समय मे कलिंग की बहुसख्यक जनता भी वर्धमान महावीर के धर्म को ग्रपना चुकी थी।

हाथीगुम्फा के शिलालेख (प्रशस्ति) के ग्रनुसार खारवेल के जीवन के पहले पन्द्रह वर्ष विद्या के ग्रध्ययन में व्यतीत हुए। इस काल मे उसने धर्म, ग्रर्थ, शासन, मुद्रापद्धति, कानून, शस्त्रसचालन ग्रादि की शिक्षा प्राप्त की। पन्द्रह साल की ग्रायु में वह युवराज के पद पर नियुक्त हुग्रा, ग्रौर नौ वर्ष तक इस पद पर रहने के ग्रनन्तर

चौबीस वर्ष की आयु में वह कलिंग के राजसिंहासन पर आरूढ़ हुआ। राजा बनने पर उसने 'कलिंगाधिपति' और 'कलिंग चक्रवर्ती' की उपाधियाँ धारण कीं। राज्याभिषेक के दूसरे वर्ष उसने पश्चिम की ओर आक्रमण किया, और राजा सातकर्णि की उपेक्षा कर कन्हवेना (कृष्णा) नदी के तट पर स्थित मूसिक नगर को उसने त्रस्त किया। सातकर्णि सातवाहन राजा था, और आन्ध्र प्रदेश मे उसका स्वतन्त्र राज्य विद्यमान था। मौर्यों की अधीनता से मुक्त होकर जो प्रदेश स्वतन्त्र हो गए थे, आन्ध्र भी उनमें से एक था। अपने शासनकाल के चौथे वर्ष में खारवेल ने एक बार फिर पश्चिम की ओर आक्रमण किया, और भोजकों तथा रठिको (राष्ट्रिकों) को अपने अधीन किया। भोजको की स्थिति बरार के प्रदेश मे थी, और रठिको की पूर्वी खानदेश व अहमदनगर मे। रठिक-भोजक सम्भवत: ऐसे क्षत्रिय कुल थे, प्राचीन अन्धक-वृष्णियो के समान जिनके अपने गणराज्य थे। ये गणराज्य सम्भवत: सातवाहनो की अधीनता स्वीकृत करते थे।

अपने शासनकाल के आठवें वर्ष मे खारवेल ने उत्तर दिशा की ओर विजययात्रा की। उत्तरापथ मे आगे बढती हुई उसकी सेना ने बराबर पहाडियो (गया जिले) मे स्थित गोरथगिरी के दुर्ग पर आक्रमण किया, और उसे जीतकर वे राजगृह पहुँच गई। जिस समय खारवेल इन युद्धो मे व्यापृत था, बैक्ट्रिया (बाल्ह्री) के यवन भी भारत पर आक्रमण कर रहे थे। भारत के पश्चिम चक्र को अपने अधीन कर वे मध्य देश मे पहुँच गये थे। हाथीगुम्फा के लेख के अनुसार यवनराज खारवेल की विजयों के समाचार से भयभीत हो गया, और उसने मध्यदेश पर आक्रमण करने का विचार छोडकर मथुरा की ओर प्रस्थान कर दिया। अनेक ऐतिहासिकों ने यह प्रतिपादित किया है, कि खारवेल से भयभीत होकर मध्यप्रदेश से वापस चले जानेवाले इस यवनराजा का नाम दिमित (डेमेट्रियस) था। अपने शासनकाल के ग्यारहवे वर्ष मे खारवेल ने दक्षिण दिशा को आक्रान्त किया, और विजययात्रा करता हुआ वह तमिल-देश पहुँच गया। वहाँ उसने पिथुण्ड (पितुन्द्र) को जीता, और उसके राजा को भेंट-उपहार प्रदान करने के लिए विवश किया। हाथीगुम्फा के शिलालेख मे खारवेल द्वारा परास्त किये गये तमिल देश-सघात (राज्य-सघ) का उल्लेख है। अपने शासन-काल के बारहवे वर्ष मे खारवेल ने एक बार फिर उत्तरापथ पर आक्रमण किया, और अपनी सेना के घोडो और हाथियो को गंगाजल से स्नान कराया। मगध के राजा को उसने अपने पैरो पर गिरने के लिए विवश किया, और राजा नन्द कलिंग मे महावीर स्वामी की जो मूर्ति पाटलिपुत्र ले गया था, उसे वह फिर कलिंग वापस ले आया। इस जिन मूर्ति के अतिरिक्त अन्य भी बहुत-सी लूट खारवेल मगध से अपने राज्य मे ले गया, और उसका उपयोग उसने भुवनेश्वर मे एक विशाल मन्दिर के निर्माण के लिए किया, जिसका उल्लेख ब्रह्माण्ड पुराण की उडीसा मे प्राप्त एक हस्तलिखित प्रति मे भी विद्यमान है। मगध के जिस राजा को खारवेल ने अपने चरणो पर गिरने के लिये विवश किया था, अनेक ऐतिहासिको के अनुसार उसका नाम बहसतिमित (बृहस्पति-मित्र) था। उन्होने हाथीगुम्फा शिलालेख में इस राजा के नाम को पढने का प्रयत्न भी किया है। पर सब विद्वान् इस पाठ से सहमत नहीं है। श्री जायसवाल ने

हाथीगुम्फा शिलालेख मे उल्लिखित मगध के राजा के नाम को बहसतिमित (बृहस्पतिमित्र) मानकर उसे पुष्यमित्र (शुग) का पर्यायवाची प्रतिपादित किया है, और यह माना है कि कलिगराज खारवेल ने शुंगवंशी पुष्यमित्र पर आक्रमण कर उसे परास्त किया था। पर अनेक ऐतिहासिक हाथीगुम्फा शिलालेख मे आये नाम को न बहसतिमित स्वीकार करने को उद्यत हैं, और न उसे पुष्यमित्र के साथ मिलाने को। पर इसमे सन्देह नही, कि हाथीगुम्फा शिलालेख के अनुसार खारवेल ने उत्तरापथ पर आक्रमण करते हुए मगध की भी विजय की थी, और वहाँ के राजा को अपने सम्मुख भुकने के लिए विवश किया था।

खारवेल की शक्ति के उत्कर्ष और दिग्विजय का यह वृत्तान्त निस्सन्देह बहुत महत्त्व का है। चेदि क्षत्रियों के शौर्य के कारण कलिंग न केवल मौर्य साम्राज्य की अधीनता से मुक्त होकर स्वतन्त्र हो गया था, अपितु उनके अन्यतम राजा खारवेल ने भारत के सुदूर प्रदेशों को जीतकर अपने अधीन भी कर लिया था। ऐसा प्रतीत होता है, कि खारवेल अपने विजित प्रदेशो पर स्थिर रूप से शासन नही कर सका, और उसने किसी स्थायी साम्राज्य की स्थापना नही की।

ऐतिहासिक अभी यह निर्णय नही कर सके है कि खारवेल का समय कौन-सा है। श्री काशीप्रसाद जायसवाल ने सबसे पूर्व हाथीगुम्फा शिलालेख को प्रकाशित कराया था, और उन्होंने उसका जो पाठ पढा था, उसमे खारवेल के समकालीन मगधराज के नाम को बहसतिमित पढकर और बृहस्पतिमित्र को पुष्यमित्र का पर्यायवाची मानकर उन्होंने यह प्रतिपादित किया था, कि खारवेल शुगवशी राजा पुष्यमित्र का समकालीन था। साथ ही, जो यवनराज खारवेल के आक्रमण के भय से मध्यदेश को छोड़कर वापस चला गया था, उसका नाम भी जायसवाल जी ने हाथीगुम्फा शिलालेख में 'दिमित' पढा था, जिसे उन्होंने बैक्ट्रिया के यवन राजा डेमोट्रियस से मिलाया था। पर बाद मे अनेक ऐतिहासिकों ने हाथीगुम्फा शिलालेख के इन पाठो से असहमति प्रगट की। उनके अनुसार इस शिलालेख मे न बहसतिमित का नाम है, और न दिमित का।

प्रश्न यह है, कि दिग्विजयी चक्रवर्ती कलिगराज का काल कौन-सा था? हाथी-गुम्फा शिलालेख मे कोई ऐसा सवत्सर नही दिया गया है, जिससे खारवेल के समय का निर्धारण किया जा सके। इस लेख की लिपि और भाषा के आधार पर अब ऐतिहासिक यह मानते है, कि वह दूसरी सदी ईस्वी पूर्व के प्रारम्भ से पुराना नही है, और न इसके समय को प्रथम सदी ई० पू० के पश्चात् का माना जा सकता है। क्योंकि हाथीगुम्फा लेख मे खारवेल द्वारा उत्तरापथ के आक्रमणों का उल्लेख है, और एक बार तो वह मगध के राजा को अपने सम्मुख सिर झुका देने के लिये विवश करने मे भी समर्थ हुआ था, अत उसका काल ऐसा ही हो सकता है, जबकि मगध के राजा शक्तिहीन हो, और जब भारत के मध्यदेश पर यवनों के आक्रमण हो रहे हो। ऐसा समय वही था, जबकि मौर्यों की शक्ति क्षीण हो गई थी, और पुष्यमित्र शुंग ने जब मगध के राजसिहासन पर अपना अधिकार स्थापित नही किया था। शालिशुक आदि मौर्य राजा अत्यन्त निर्बल थे, और उनके समय मे यवन सेनाएँ भी भारत को आक्रान्त

करती हुई मध्यदेश मे दूर तक चली आई थी। सम्भवतः, किसी ऐसे अशक्त मौर्य राजा को ही खारवेल ने अपने सम्मुख झुकने के लिए विवश किया होगा। पुष्यमित्र के शासनकाल में मगध में एक बार फिर शक्ति का संचार हो गया था, और अपने शत्रुओं को परास्त कर इस शुग राजा ने अश्वमेध यज्ञो का भी अनुष्ठान किया था। अतः इस कल्पना को संगत नही माना जा सकता कि खारवेल ने पुष्यमित्र के समय में मगध पर आक्रमण किया हो। खारवेल द्वारा कलिंग के जिस उत्कर्ष का सूत्रपात हुआ था, वह जो स्थायी नही रह सका, इसका कारण भी सम्भवतः पाटलिपुत्र मे पुष्यमित्र जैसे प्रतापी राजा की सत्ता ही थी। पुष्यमित्र ने न केवल सम्पूर्ण उत्तरापथ मे अपने शासन की स्थापना की थी, अपितु दक्षिणापथ के कतिपय प्रदेशो को भी वह अपने साम्राज्य के अन्तर्गत करने मे समर्थ हुआ था। पुष्यमित्र शुंग के साम्राज्य-विस्तार को दृष्टि मे रखकर ही ऐतिहासिको ने यह निष्कर्ष निकाला है, कि खारवेल का काल उसके राजसिंहासनारूढ होने से पूर्व मौर्यवश के पतन-युग मे ही कभी होना चाहिये। यह निर्विवाद है, कि इस काल मे यवन लोग भारत पर आक्रमण कर रहे थे, और पाटलिपुत्र की शक्ति के क्षीण हो जाने के कारण मागध साम्राज्य के अनेक प्रदेश उसकी अधीनता से स्वतन्त्र हो गये थे। कलिगराज खारवेल ने इस स्थिति का ही दिग्विजयो के लिए प्रयोग किया, पर वह इसी कारण अपनी विजयो को स्थायी रूप नही दे सका, क्योकि पुष्यमित्र द्वारा मगध की राजशक्ति मे नवजीवन का सचार कर दिया गया था।

पर इस प्रसग मे यह नही भूलना चाहिये, कि भारतीय इतिहास के इस युग की प्राय सभी घटनाएँ अभी अनिश्चित व अस्पष्ट है। खारवेल के काल के सम्बन्ध मे जो मत ऐतिहासिको ने स्थिर किया है, वह भी अनुमान पर ही आश्रित है।

(४) सातवाहन राज्य

मौर्यवश की निर्बलता से लाभ उठाकर जो अनेक राज्य मागध साम्राज्य की अधीनता से स्वतन्त्र हुए, उनमे दक्षिण का सातवाहन-राज्य भी एक था। पुराणो मे सातवाहन-वश को आन्ध्र-वश कहा गया है। पर इस वश का मूल स्थान पश्चिमी महाराष्ट्र व कर्णाटक मे था। बेल्लारि मे उपलब्ध हुए एक शिलालेख मे उस प्रदेश को 'सातवाहनिहार' कहा गया है। सातवाहन-वश के लेख प्राकृत भाषा मे लिखे गये है, और इस वश के राजाओ की भाषा तेलगू न होकर प्राकृत ही थी। बाद में जब पश्चिमी महाराष्ट्र के सातवाहनो ने दक्षिण मे अपनी शक्ति का विस्तार किया, तो उन्होने आन्ध्र देश को जीत लिया। आन्ध्र के शासक होने के कारण ही शायद सातवाहन-वश को पुराणो मे आन्ध्र-वश कहा गया है।

सातवाहन-वश के सस्थापक का नाम सिमुक था। उसकी राजधानी महाराष्ट्र में गोदावरी नदी के तट पर स्थित प्रतिष्ठान या पैठन थी। नासिक तथा उसके समीप के प्रदेश सिमुक के राज्य के अन्तर्गत थे। सिमुक के बाद उसका भाई कृष्ण और कृष्ण के बाद उसका पुत्र सातकर्णि राजा बना। उसने महाराष्ट्र के एक प्रमुख सरदार की कन्या नायनिका के साथ विवाह किया। इससे उसकी शक्ति बहुत बढ़ गयी। सातकर्णि

बड़ा शक्तिशाली राजा था। धीरे-धीरे वह सम्पूर्ण महाराष्ट्र और कर्णाटक का स्वामी हो गया। पश्चिमी घाट के सब प्रदेश और कोकण के बन्दरगाह उसके अधीन थे। सातकर्णि ने अपनी विजयों के उपलक्ष में दो बार अश्वमेध-यज्ञ किये। वह मगधराज पुष्यमित्र शुंग और कलिंगराज खारवेल का समकालीन था, और १७५ ई० पू० के लगभग राज-सिंहासन पर आरूढ हुआ था। खारवेल के साथ भी उसके अनेक युद्ध हुए थे। उसकी शक्ति की उपेक्षा करके ही कलिंगराज खारवेल पश्चिम में दूर-दूर तक अपनी विजयपताका को फहरा सका था।

सातकर्णि के बाद लगभग एक सदी तक सातवाहन-वंश ने कोई विशेष उन्नति नहीं की। इस राजवश का शासन केवल दक्षिणापथ तक ही सीमित रहा। बाद में इस वंश मे एक ऐसे वीर पुरुष का जन्म हुआ, जिसने अपने कुल की शक्ति को बहुत बढ़ा लिया। इसका नाम गौतमीपुत्र सातकर्णि था। इसके इतिहास पर हम यथास्थान प्रकाश डालेंगे।

(५) गणराज्यों का पुनरुत्थान

मौर्य-वंश के पतन और यवनो के आक्रमण के समय भारत मे जो अनेक स्वतन्त्र राज्य कायम हुए, उनमे गणराज्यो का विशेष स्थान है। सिकन्दर के आक्रमण के समय पंजाब मे अनेक गणराज्य विद्यमान थे। चाणक्य और चन्द्रगुप्त ने इन्हे मौर्य-साम्राज्य के अधीन किया, पर इनकी अन्तःस्वतन्त्रता और पृथक् अनुभूति नष्ट होने नही पाई। यही कारण है, कि मौर्य-वंश की शक्ति के क्षीण होते ही ये फिर स्वतन्त्र हो गये। इन स्वतन्त्र गणराज्यो के बहुत-से सिक्के उपलब्ध हुए हैं, जो दूसरी सदी ई० पू० व उसके आस-पास के माने जाते हैं। ये सिक्के निम्नलिखित गणो के हैं—यौधेय, राजन्य, औदुम्बर, आर्जुनायन, आग्रेय, शिवि, मालव, त्रिगर्त, कुणिन्द और महाराज। भारत के इतिहास मे इन गणराज्यो का बहुत अधिक महत्त्व है। अतः इनपर कुछ अधिक विस्तार से विचार करना उपयोगी होगा।

आर्जुनायन गण—इस गणराज्य के सिक्के दूसरी और पहली सदी ईस्वी पूर्व के है, और उनपर उत्कीर्ण लेख ब्राह्मी लिपि मे है। ये सिक्के जिन स्थानो से प्राप्त हुए है, उनके आधार पर यह अनुमान किया गया है, कि आर्जुनायन गण का क्षेत्र पूर्व में आगरा तक और पश्चिम मे जयपुर तक विस्तृत था। इस गण का उल्लेख पाणिनि की अष्टाध्यायी मे भी मिलता है। इसका अभिप्राय यह है, कि मौर्य साम्राज्य की स्थापना से पूर्व भी यह विद्यमान था, और जब मौर्यों की शक्ति क्षीण हो गई, तो यह पुनः स्वतन्त्र हो गया। प्रथम शताब्दी ई० पू० के बाद के इसके कोई सिक्के नही मिलते। इससे यह परिणाम निकाला गया है, कि शकों के आक्रमण के कारण इस गणराज्य की स्वतन्त्र सत्ता का अन्त हो गया था।

शिवि गण—इस गणराज्य के भी अनेक सिक्के उपलब्ध हुए हैं, जो दूसरी सदी ईस्वी पूर्व के है। ये चित्तौड और नगरी (राजस्थान मे) से मिले हैं। इससे ज्ञात होता है, कि मगध की शक्ति के शिथिल होने पर शिवि गण ने भी पुनः अपनी स्वतन्त्र सत्ता स्थापित कर ली थी। आर्जुनायन गण के समान शिवि गण भी अत्यन्त प्राचीन

है। जातक कथाओं और पतञ्जलि के महाभाष्य मे इसका उल्लेख आया है, और सिकन्दर को जिन गणराज्यों के साथ युद्ध करना पड़ा था, शिवि गण भी उनमे से एक था। सिकन्दर के समय मे इस गण की स्थिति जेहलम और चनाब नदियों के संगम के समीपवर्ती प्रदेश में थी। बाद में यह मौर्यों की अधीनता मे आ गया, और यवनो के आक्रमण के पुन: प्रारम्भ होने पर इसने राजपूताना मे प्रवास कर लिया।

औदुम्बर गण—इस गण की स्थिति रावी और व्यास नदियो के मध्यवर्ती उत्तरी प्रदेश में थी। इसके सिक्के पठानकोट और कागड़ा जिले मे उपलब्ध हुए है, जिनका काल पहली सदी ई० पू० का है। इनपर जो लेख अंकित हैं, वे ब्राह्मी और खरोष्ठी दोनों लिपियो मे हैं।

कुणिन्द गण—इस गण के सिक्के कागडा और लुधियाना जिलो से प्राप्त हुए है, जिससे यह अनुमान किया जाता है कि इसकी स्थिति शिवालिक पर्वतमाला के साथ-साथ के प्रदेश मे थी। ये सिक्के भी पहली सदी ई० पू० के है, और इनपर भी ब्राह्मी और खरोष्ठी लिपियो मे लेख अंकित है। प्रथम सदी ई० पू० के बाद के इसके सिक्के प्राप्त नही होते, जिससे यह परिणाम निकाला जाता है कि आर्जुनायन गण के समान कुणिन्द गण की स्वतन्त्रता का भी शको द्वारा अन्त कर दिया गया था। पर दूसरी सदी ईस्वी के अन्तिम भाग के भी इस गण के सिक्के प्राप्त हुए हैं, जिससे प्रतीत होता है कि कुशाण साम्राज्य के नष्ट होने के अनन्तर एक बार फिर इस गण ने अपनी स्वतन्त्रता स्थापित कर ली थी।

त्रिगर्त गण—यह गणराज्य बहुत प्राचीन था। पाणिनि की अष्टाध्यायी में इसका उल्लेख है। इसका भी एक सिक्का उपलब्ध है, जिनपर ब्राह्मी लिपि मे 'त्रकत-जनपदास' यह लेख अंकित है। यह सिक्का दूसरी सदी ई० पू० का है। त्रिगर्त गण की स्थिति पंजाब मे रावी और सतलुज नदियो के मध्यवर्ती प्रदेश मे थी।

यौधेय गण—सतलुज और यमुना नदियो के मध्यवर्ती प्रदेश मे यौधेय गण की स्थिति थी। इसी प्रदेश मे आजकल अम्बाला, करनाल, रोहतक और हिसार के जिले है। यह गण भी अत्यन्त प्राचीन है, और पाणिनि की अष्टाध्यायी मे भी इसका उल्लेख है। इसके बहुत-से सिक्के इस समय उपलब्ध होते है, जो दूसरी सदी ई० पू० के अन्तिम भाग और पहली सदी ई० पू० के है। मौर्य साम्राज्य की शक्ति के क्षीण होने पर यौधेयो ने भी अपनी स्वतन्त्र सत्ता स्थापित कर ली थी, जो अनेक सदियो तक कायम रही। यह गण आर्जुनायन, औदुम्बर, कुणिन्द और त्रिगर्त गणो की तुलना मे बहुत अधिक शक्तिशाली था। इसी कारण शक और कुशाण विजेताओं का भी यह सफलतापूर्वक मुकाबला करता रहा, और ये इसकी सत्ता को नष्ट नही कर सके। कुशाणों की शक्ति के शिथिल पडने पर यौधेयों ने अपने राज्य का और भी अधिक विस्तार कर लिया था, और न केवल यमुना के पूर्व के देहरादून और सहारनपुर जिले अपितु उत्तरी राजस्थान के भी कतिपय प्रदेश उनके शासन मे आ गये थे।

आग्रेय गण—यौधेय गण के समीप ही आग्रेय की स्थिति थी, जिसकी राजधानी का नाम अग्रोदक नगरी था। इसके अवशेष हिसार जिले के अगरोहा नामक स्थान पर प्राप्त हुए हैं। आग्रेय गण के भी अनेक सिक्के मिलते हैं, जिनका काल

दूसरी और पहली सदी ईस्वी पूर्व का है। यह गण भी अत्यन्त प्राचीन हैं। महाभारत मे इसका उल्लेख मिलता है, और सिकन्दर के समय मे भी इसकी सत्ता थी। पजाब के अन्य गणराज्यों के समान आर्ग्रेय गण ने भी मौर्यों की शक्ति के शिथिल पडने पर अपनी स्वतन्त्र सत्ता को पुन. स्थापित कर लिया था।

मालव गण—भारत पर आक्रमण करते हुए सिकन्दर को पजाब मे जिन गण-राज्यो के साथ युद्ध करना पडा था, मालव गण उनमे प्रमुख था। मौर्य साम्राज्य के क्षीण हो जाने पर यह भी पुन स्वतन्त्र हो गया। पर शिवि गण के समान मालव गण ने भी अपने प्राचीन अभिजन को छोडकर राजपूताना मे प्रवास कर लिया। यह प्रवास सम्भवतः यवन आक्रमणो के कारण किया गया था। राजपूताना मे मालव गण की राजधानी मालव नगरी थी, जिसे वर्तमान समय का कर्कोट नगर सूचित करता है। यह नगर टोक से २५ मील दक्षिण-पूर्व मे और बूंदी से ४५ मील उत्तर-पूर्व मे है। राजस्थान मे प्रवास के कारण मालव गण अपनी स्वतन्त्र सत्ता को कायम रखने मे समर्थ रहा, और कुशाणो की शक्ति के क्षीण होने के अनन्तर इसने अपनी शक्ति का विशेष रूप से उत्कर्ष किया।

राजन्य गण—इस गण के सिक्के पंजाब के होशियारपुर जिले मे मिले हैं, जिनपर 'राजन्य-जनदपस' लेख अकित है। ये सिक्के भी दूसरी और पहली सदी ईस्वी पूर्व के है।

इस इतिहास मे हम उन अनेक गणराज्यो का उल्लेख कर चुके हैं, जो मागध साम्राज्य के विकास से पूर्व उत्तरी बिहार और पजाब के क्षेत्रों मे विद्यमान थे। मगध के सम्राटो ने इन्हे जीत कर अपने साम्राज्य के अन्तर्गत किया। पर उन्होने इनकी आन्तरिक स्वतन्त्रता को नष्ट नही किया। कौटल्य के अर्थशास्त्र मे उस नीति का विशद रूप से प्रतिपादन किया गया है, जो विजिगीषु राजा को गणो व सघो के प्रति प्रयुक्त करनी चाहिये। इस नीति का सार यही है, कि गणो व सघो के धर्म, चरित्र और व्यवहार को अक्षुण्ण रखा जाए। इससे प्रतीत होता है, कि मौर्यों के शासन मे भी भारत के प्राचीन गणो की आन्तरिक स्वतन्त्रता कायम रही, और वे अपनी स्वतन्त्र स्थिति की स्मृति को भुला नही सके। इसी का यह परिणाम हुआ, कि मौर्यो की शक्ति के क्षीण होते ही प्राचीन गणराज्यो ने अपनी स्वतन्त्रता को पुन. स्थापित कर लिया।

(६) पुष्यमित्र के उत्तराधिकारी

शुंग-वंश मे कुल दस राजा हुए। पुष्यमित्र के बाद अग्निमित्र राजगद्दी पर बैठा। उसने कुल आठ वर्ष तक राज्य किया। उसके बाद वसुज्येष्ठ या सुज्येष्ठ ने सात वर्ष और फिर वसुमित्र ने दस वर्ष राज्य किया। ये दोनो अग्निमित्र के पुत्र थे।

वसुमित्र को पुराणो और बाणभट्ट के हर्षचरित मे सुमित्र नाम से भी लिखा गया है। युवावस्था मे यह अत्यन्त वीर व साहसी था। पुष्यमित्र ने अश्वमेध यज्ञ करते हुए वसुमित्र को ही एक सेना लेकर यज्ञीय अश्व के साथ भेजा था, और उसी ने सिन्धु नदी के तट पर यवनो को परास्त किया था। पर राजसिंहासन पर आरूढ

हो जाने के बाद वसुमित्र (सुमित्र) भोग विलास मे व्यस्त हो गया था, जिसका परिणाम यह हुआ कि शुंग साम्राज्य की शक्ति क्षीण होने लग गई और अनेक प्रदेश उसकी अधीनता से मुक्त होकर स्वतन्त्र हो गये। बाणभट्ट ने हर्षचरित मे लिखा है कि एक बार जब सुमित्र नृत्य और गान मे मस्त था, मूलदेव ने उसका घात कर दिया। सम्भवत, सुमित्र की हत्या कर मूलदेव ने कोशल मे अपना स्वतन्त्र राज्य स्थापित कर लिया था। अयोध्या से इस राजा के अनेक सिक्के भी उपलब्ध हुए हैं, जिनसे इस बात मे कोई सन्देह नही रह जाता कि मूलदेव का कोशल मे स्वतन्त्र राज्य विद्यमान था।

सुमित्र (वसुमित्र) की हत्या के साथ ही शुङ्ग साम्राज्य खण्ड-खण्ड होना प्रारम्भ हो गया, और मगध के पश्चिम के सब प्रदेश उसकी अधीनता से स्वतन्त्र हो गये। यही समय था, जब कि पाञ्चाल, कौशाम्बी और मथुरा मे विभिन्न वीरों ने अपने-अपने स्वतन्त्र राज्य स्थापित किये। ये राज्य या तो इन प्रदेशो के शासको ने स्थापित किये थे, और या शुंग राजकुल के ही व्यक्तियो ने। इन राजाओ की स्वतन्त्र सत्ता का परिचय हमे उन सिक्को मे प्राप्त होता है, जो पाञ्चाल, कोशल आदि के क्षेत्र से बडी संख्या मे उपलब्ध हुए है। वसुमित्र के पश्चात् शुंग वश का शासन केवल मगध और मध्य भारत के कतिपय प्रदेशो तक ही सीमित रह गया था।

पुराणो मे वसुमित्र के बाद क्रमश आन्ध्रक (आर्द्रक), पुलिदक, घोष, वज्र-मित्र, भागभद्र (भागवत), और देवभूति—इन राजाओ के नाम दिये गये है। इनमें आन्ध्रक का शासन काल २ वर्ष, पुलिदक का ३ वर्ष और घोष का ३ वर्ष लिखा गया है। सम्भवत, ये तीनो राजा शुंग वश के नही थे। सुमित्र की हत्या के कारण मगध मे जो अव्यवस्था उत्पन्न हो गई थी, उससे लाभ उठाकर पहले आन्ध्रो ने पाटलिपुत्र पर आक्रमण किया, फिर पुलिन्दो ने और फिर घोष ने जो कि पाञ्चाल देश का राजा था, और जिसके अनेक सिक्के भी अहिच्छत्र व अन्य स्थानो से मिले हैं। ८ वर्ष तक इनके आक्रमणो के कारण मगध मे अव्यवस्था रही, और बाद मे वज्रमित्र पाटलिपुत्र मे पुन: शुंग वश की सत्ता को स्थापित करने मे समर्थ हुआ।

वज्रमित्र के बाद भागभद्र राजा बना। उस समय उत्तर-पश्चिमी भारत मे अनेक यवनराज्य स्थापित हो चुके थे। इनमे से एक तक्षशिला का यवन राज्य था, जहाँ अब एटिआल्किडस राज्य करता था। उसने शुंग राजा भागभद्र के पास विदिशा मे एक राजदूत भेजा था, जिसका नाम हेरिउदोर (हेलियोडोरस) था। इस दूत ने वहाँ भगवान् वासुदेव का गरुडध्वज बनवाया था। इस स्तम्भ पर प्राकृत भाषा मे एक लेख खुदा हुआ है, जो निम्न प्रकार है—'देवों के देव वासुदेव का यह गरुडध्वज, महाराज अंतलिकित के यहाँ से राजा कासीपुत भागभद्र त्राता के, जो अपने राज्य के चौदहवें वर्ष मे वर्तमान है, पास आये हुए तक्षशिला के निवासी दिये के पुत्र योनदूत भागवत हेरिउदोर ने यहाँ बनवाया।'

भारत के यवन-आक्रान्ता इस काल मे किस प्रकार भारतीय धर्म और संस्कृति के प्रभाव में आ रहे थे, इसपर इस स्तम्भ-लेख से अनुपम प्रकाश पडता है। योनदूत हेलिउदोर ने भागवत वैष्णव धर्म की दीक्षा ग्रहण कर ली थी, और अपनी श्रद्धा को

प्रकट करने के लिए गरुड्ध्वज का निर्माण कराया था। उस समय के हिन्दू-धर्म में म्लेच्छ यवनों को अपने अन्दर हजम कर लेने की शक्ति विद्यमान थी। भागभद्र ने कुल ३२ वर्ष राज्य किया। उसके बाद देवभूति राजा बना। यह बडा विलासी था। इसके समय मे मगध मे फिर राज्यक्रांति हुई। उसके अमात्य वासुदेव कण्व ने उसके विरुद्ध षड्यन्त्र किया और देवभूति को कत्ल कर स्वयं मगध के राजसिंहासन पर अधिकार कर लिया। शुंग वंश का प्रारम्भ इसी प्रकार के षड्यंत्र द्वारा हुआ था। उसका अन्त भी इसी प्रकार हुआ।

पुष्यमित्र के उत्तराधिकारी मागध-साम्राज्य को अक्षुण्ण बना रखने में समर्थ नही रहे। पुष्यमित्र के समय मे मागध-साम्राज्य की पश्चिमी सीमा सिन्धु नदी तक थी। पर उसके बाद शीघ्र ही यवनों के आक्रमण फिर प्रारम्भ हो गये। उत्तर-पश्चिमी भारत मे अनेक नए यवन-राज्यो की स्थापना हुई, और उस समय की राजनीतिक उथल-पुथल से लाभ उठाकर पजाब के प्राचीन गणराज्यो ने भी फिर सिर उठा लिया। कोशल, कौशाम्बी और मथुरा मे भी स्वतन्त्र राज्यो की स्थापना हो गई। परिणाम यह हुआ, कि इन शुंग-सम्राटो के शासन-काल मे मागध साम्राज्य की पश्चिमी सीमा कोशल के पूर्व तक ही रह गई। उसके पश्चिम मे कोशल और मथुरा के स्वतन्त्र राज्य थे, और उनसे आगे यौधेय, आग्रेय, मालव आदि गणो के स्वतन्त्र जनपद थे और उनके और अधिक पश्चिम मे यवन-राज्य।

पुराणो के अनुसार शुंगो ने कुल ११२ वर्ष तक राज्य किया। १८५ ई० पू० से शुरू करके ६३ ई० पू० तक उनका शासन-काल रहा।

(७) कण्व-वंश

अन्तिम शुंग-राजा देवभूति के विरुद्ध षड्यन्त्र कर उसके अमात्य वासुदेव ने मगध के राजसिंहासन पर अधिकार कर लिया था। अपने स्वामी की हत्या करके वासुदेव ने जिस साम्राज्य को प्राप्त किया था, वह एक विशाल शक्तिशाली साम्राज्य का ध्वंसावशेष ही था। इस समय भारत की पश्चिमोत्तर-सीमा को लाँघ कर शक आक्रान्ता बडे वेग से भारत पर आक्रमण कर रहे थे, जिनके कारण न केवल मागध साम्राज्य के सुदूरवर्ती जनपद ही साम्राज्य से निकल गये थे, बल्कि मगध के समीपवर्ती प्रदेशों मे भी अव्यवस्था मच गयी थी। वासुदेव और उसके उत्तराधिकारी केवल स्थानीय राजाओ की हैसियत रखते थे। उनका राज्य पाटलिपुत्र और उसके समीप के प्रदेशो तक ही सीमित था।

कण्व-वंश के कुल चार राजा हुए—वासुदेव, भूमिमित्र, नारायण और सुशर्मा। इन चारो ने कुल मिलाकर ४५ वर्ष तक राज्य किया। इनका शासनकाल ६३ ई० पू० से १८ ईस्वी पूर्व तक समझा जा सकता है। पुराणो मे इन कण्व या काण्वायन राजाओ को शुंग-भृत्य के नाम से कहा गया है। यह तो स्पष्ट ही है, कि वासुदेव कण्व शुंग-राजा देवभूति का अमात्य था। पर चारो कण्व-राजाओ को शुंग-भृत्य कहने का अभिप्रायः शायद यह है, कि नाम को इनके समय में भी शुंगवंशी राजा ही सिंहासन पर विराजमान थे, यद्यपि सारी शक्ति इन भृत्यो के हाथ में थी। संभवतः,

इसीलिए कण्वों के बाद जब आन्ध्रों के मागध-साम्राज्य पर अधिकार कर लेने का उल्लेख आता है, तो यह लिखा गया है कि उन्होंने कण्व और शुंग—दोनों को परास्त कर शक्ति प्राप्त की।

पुराणों मे एक स्थान पर कण्व राजाओ के लिए 'प्रणत-सामन्त' विशेषण भी दिया गया है, जिससे यह सूचित होता है कि किसी कण्व राजा ने अन्य राजाओं को अपनी अधीनता स्वीकार कराने मे भी सफलता प्राप्त की थी। पर यह राजा कौन-सा था, इस विषय मे कोई सूचना उपलब्ध नही है।

(८) उत्तर भारत के विविध राज्य

चन्द्रगुप्त मौर्य और उसके उत्तराधिकारियो ने भारतवर्ष मे जिस राजनीतिक एकता की स्थापना की थी, अशोक के बाद वह कायम नही रह सकी थी। अशोक के उत्तराधिकारी मौर्य सम्राट् निर्बल थे, और उनके शासनकाल मे मागध साम्राज्य खण्ड-खण्ड होना प्रारम्भ हो गया था। पुष्यमित्र शुंग ने एक बार फिर मगध की शक्ति के पुनरुत्थान का प्रयत्न किया, और उत्तरापथ के बड़े भाग को वह अपनी अधीनता मे लाने में समर्थ भी हुआ। पर वसुमित्र (सुमित्र) के पश्चात् भारत की राजनीतिक एकता कायम नहीं रह सकी, और मागध साम्राज्य के भग्नावशेषों पर अनेक छोटे-बड़े राज्य स्थापित हो गए। हम इसी अध्याय में ऊपर लिख चुके हैं कि यमुना के पश्चिम मे अनेक गणराज्य इस काल मे स्थापित हो गये थे, और उनसे पश्चिम के प्रदेशो मे विभिन्न यवन राजाओ ने स्वतन्त्र रूप से शासन करना प्रारम्भ कर दिया था। इसी काल मे यमुना के पूर्व मे भी अनेक नये राज्य स्थापित हुए, जो मगध की अधीनता को स्वीकार नही करते थे। इनका परिचय हमे सिक्को और शिलालेखो द्वारा प्राप्त होता है। इनके सम्बन्ध मे कुछ प्रकाश डालना भी इस युग के इतिहास को जानने के लिए उपयोगी है।

कोशल—मगध के शुंगवशी राजा सुमित्र (वसुमित्र) को मारकर मूलदेव ने कोशल मे अपने को स्वतन्त्र राजा घोषित कर दिया था, यह ऊपर लिखा जा चुका है। अयोध्या मे इस राजा के सिक्के मिले है, और इसमे सन्देह नही कि इसने कोशल मे एक नये राजवंश का प्रारम्भ किया था, जिसमे वासुदेव, विशाखदेव, धनदेव आदि अनेक राजा हुए। इन सब के सिक्के एकसदृश हैं, और ये सब अयोध्या मे ही राज करते थे। अयोध्या से प्राप्त एक शिलालेख मे धनदेव को पुष्यमित्र की छठी पीढी मे उत्पन्न बताया गया है, जिससे यह सूचित होता है कि मूलदेव द्वारा स्थापित राजवश शुंगवंश की ही एक शाखा थी, और मूलदेव शुङ्गकुल का ही था। कोशल के इन राजाओं के जो सिक्के मिले हैं, वे प्रथम सदी ई० पू० के अन्तिम भाग तक के है, जिससे यह परिणाम निकाला गया है, कि पहली सदी ई० पू० का अन्त होने से पूर्व ही कोशल राज्य की स्वतन्त्र सत्ता का अन्त हो गया था, और यह राज्य कुशाण साम्राज्य के अन्तर्गत हो गया था। दूसरी सदी ईस्वी पश्चात् के अन्तिम भाग से इस राज्य के सिक्के पुन. उपलब्ध होने लगते हैं, जो सत्यमित्र, आर्यमित्र, सघमित्र, विजयमित्र, देवमित्र और अजवर्मा नाम के राजाओं के हैं। इन राजाओं का मूलदेव द्वारा

स्थापित राजवंश के साथ कोई सम्बन्ध था या नहीं, यह कह सकना कठिन है। ऐसा प्रतीत होता है, कि कुशाणों की शक्ति के क्षीण होने पर कोशल में एक बार फिर एक स्वतन्त्र राज्य की स्थापना हुई, जिसका अन्त गुप्त सम्राटों द्वारा किया गया।

पाञ्चाल—मागध साम्राज्य की शक्ति के क्षीण होने पर जो अनेक राज्य उत्तरापथ में स्थापित हुए, पाञ्चाल का राज्य भी उनमें एक था। इसकी राजधानी अहिच्छत्र थी। बरेली जिले के रामनगर, आंवला आदि नगरों में, चदौसी में, और बदायूं में बहुत-से सिक्के मिले हैं, जो पहली सदी ई० पू० या उससे भी कुछ पहले के हैं। ये सिक्के निम्नलिखित राजाओं के हैं—भद्रघोष, भानुमित्र, भूमित्र, ध्रुवमित्र, इन्द्रमित्र, जयमित्र, फाल्गुनीमित्र, सूर्यमित्र, विष्णुमित्र, वरुणमित्र और प्रजापतिमित्र। इन सब राजाओं के नामों में 'मित्र' होने से जहाँ पाञ्चाल के इस राजवंश को मित्रवंश का नाम दिया गया है, वहाँ यह अनुमान भी किया गया है, कि इनका पुष्यमित्र शुंग द्वारा स्थापित मगध के राजवंश के साथ भी सम्बन्ध था। कोशल के समान पाञ्चाल राज्य की स्वतन्त्रता का अन्त भी कुशाणों द्वारा ही किया गया था।

कौशाम्बी (इलाहाबाद जिले में) के समीप पभोसा नामक स्थान पर एक शिलालेख मिला है जिसमें अहिच्छत्र के तीन अन्य राजाओं का उल्लेख है। इनके नाम वंगपाल, भागवत और आषाढसेन हैं। इन राजाओं का कौशाम्बी के राजवंश के साथ वैवाहिक सम्बन्ध था। पाञ्चाल के क्षेत्र में प्राप्त सिक्कों से जिन मित्र राजाओं की सत्ता सूचित होती है, उनका वंगपाल आदि इन राजाओं के साथ क्या सम्बन्ध था, या इन्होंने कब शासन किया, इस विषय में कोई सूचना अभी प्राप्त नहीं हुई है।

कौशाम्बी—दूसरी सदी ई० पू० में ही कौशाम्बी का प्रदेश भी मगध के शुंग सम्राटों की अधीनता से स्वतन्त्र हुआ, और वहाँ बहसतिमित (बृहस्पतिमित्र) नाम के वीर पुरुष ने अपने पृथक् राज्य की स्थापना की। बहसतिमित के अनेक सिक्के प्राप्त हुए हैं, जो ब्राह्मी लिपि में हैं। कौशाम्बी के अन्य अनेक राजाओं की सत्ता भी सिक्कों द्वारा सूचित होती है, यथा ज्येष्ठमित्र, प्रौढमित्र, वरुणमित्र और पुष्पश्री। कुशाणों द्वारा ही कौशाम्बी के राज्य का भी अन्त किया गया।

मथुरा—मथुरा के क्षेत्र से बहुत-से ऐसे सिक्के प्राप्त हुए हैं, जिन्हें दूसरी सदी ईस्वी पूर्व से पहली सदी ई० पू० के मध्य तक का माना जाता है। इन सिक्कों से मथुरा में दो पृथक् राजवंशों की सत्ता सूचित होती है। पहले राजवंश के राजा निम्नलिखित थे—ब्रह्ममित्र, दृढमित्र, सूर्यमित्र और विष्णुमित्र। दूसरे राजवंश के राजाओं के नाम पुरुषदत्त, उत्तमदत्त, रामदत्त, शेषदत्त और भवदत्त थे। मथुरा के इन राजवंशों में क्या सम्बन्ध था, यह ज्ञात नहीं है। शुंग साम्राज्य की शक्ति के क्षीण पड़ने पर कौशाम्बी, कौशल और पाञ्चाल के समान मथुरा का प्रदेश भी मगध की अधीनता से मुक्त हो गया था, और वहाँ के राजाओं ने अपने नाम से सिक्के जारी किये थे, यह निर्विवाद है। ७५ ई० पू० के लगभग मथुरा शकों के हाथ में चला गया, और तीन सदी तक यह प्रदेश विदेशी शासकों के अधीन रहा।

शुंगवंश के ह्रास काल में (वसुमित्र के पश्चात्) पाटलिपुत्र के साम्राज्य का क्षेत्र बहुत सीमित रह गया था। राजनीतिक दृष्टि से भारत इस समय एक बार फिर बहुत-से छोटे-बड़े राज्यों में विभक्त हो गया था, जिनमें से कुछ पर वंशक्रमानुगत राजाओं का शासन था, और कुछ में गणशासनों की सत्ता थी।

उन्नीसवाँ अध्याय

भारत के पार्थियन और शक राज्य

(१) शकों का भारत प्रवेश

मगध के विशाल साम्राज्य की शक्ति के क्षीण होने पर जिन विदेशी आक्रान्ताओं के आक्रमण भारत पर शुरू हुए, उनमे से यवनो का उल्लेख पिछले अध्याय मे किया जा चुका है। डेमेट्रियस और मिनाण्डर सदृश यवन-विजेताओ ने भारत के उत्तर-पश्चिमी प्रदेशो मे अपने अनेक राज्य कायम किये, और उनके वशधरो ने उनका शासन किया।

पर इस युग मे (दूसरी सदी ई० पू० और उसके बाद) यवनो (बैक्ट्रिया के ग्रीक) के अतिरिक्त पार्थियन और शक लोगो ने भी इस देश पर अनेक आक्रमण किए। पार्थिया का जिक्र हम पिछले अध्याय मे भी कर चुके है। विशाल सीरियन साम्राज्य की अधीनता से मुक्त होकर जिन राज्यो ने अपनी स्वतन्त्र सत्ता स्थापित की थी, उनमे से एक बैक्ट्रिया था और दूसरा पार्थिया। पार्थिया राज्य मे वह देश अन्तर्गत था, जिसे अब ईरान कहा जाता है।

शक जाति—पिछले अध्याय मे हमने यह भी लिखा था, कि बैक्ट्रिया के यवन-राज्य का अन्त शक जाति के आक्रमण द्वारा हुआ था। इन शक-लोगो का मूल निवास-स्थान सीर नदी की घाटी मे था। दूसरी सदी ई० पू० मे उनपर उत्तर-पूर्व की ओर से युइशि-जाति ने आक्रमण किया। युइशि लोग तिब्बत के उत्तर-पश्चिम मे तकला-मकान की मरुभूमि के सीमान्त पर निवास करते थे। ये बडे वीर और योद्धा थे। हूणो के आक्रमण के कारण ये अपने प्राचीन अभिजन को छोडकर आगे बढ जाने के लिए विवश हुए थे। प्राचीन काल मे हूण जाति उत्तरी चीन मे निवास करती थी, और चीन के सभ्य राज्यो पर आक्रमण करती रहती थी। उन्ही के हमलो से अपने देश की रक्षा करने के लिए चीन के शक्तिशाली सम्राट् शी-हुआंग-ती (२४६-२१० ई० पू०) ने उस विशाल दीवार का निर्माण कराया था, जो अब तक भी उत्तरी चीन मे विद्यमान है। इस दीवार के कारण हूण लोगो के लिए चीन पर आक्रमण कर सकना सम्भव नही रहा, और उन्होने पश्चिम की ओर बढना शुरू किया। हूण लोग असभ्य और बर्बर थे, और लूट-मार द्वारा ही अपना निर्वाह करते थे। हूणो ने प्रचण्ड आँधी के समान पश्चिम की ओर बढ़ना शुरू किया, और युइशि लोगो को जीत लिया। उनके राजा की युद्ध-क्षेत्र मे मृत्यु हुई। विधवा रानी के नेतृत्व मे युइशि लोग अपने प्राचीन अभिजन को छोडकर आगे बढने को विवश हुए। सीर नदी की घाटी मे उस समय शको का निवास था। युइशि जाति ने उन पर हमला कर दिया, और शक उनसे परास्त हो गए। विवश होकर शकों को अपना प्रदेश छोडना पड़ा, और उनके विविध जन (कबीले) विविध

दिशाओं मे आगे बढे। हूणों ने युइशियों को धकेला, और युइशियों ने शकों को। हूणों की बाढ़ ने युइशि जाति के प्रदेश को आक्रांत कर दिया, और शको के प्रदेश पर युइशि छा गये। यही समय था, जब शको की एक शाखा ने बैक्ट्रिया पर आक्रमण किया और वहाँ के यवन-राजा हेलिओक्लीज को परास्त किया। शक लोगों की जिस शाखा ने बैक्ट्रिया की विजय की थी, वह हिंदूकुश पर्वत को पार कर भारत में प्रविष्ट नही हुई। इसीलिए हेलिओक्लीज का शासन उत्तर-पश्चिमी भारत मे कायम रहा।

शकों का पार्थिया पर आक्रमण—बैक्ट्रिया को जीत कर शक लोग दक्षिण-पश्चिम की ओर मुडे। वक्षु नदी के पार उस समय पार्थिया का राज्य था। वहाँ के राजाओ के लिए यह सुगम नही था, कि वे शक आक्रमण का भली-भाँति मुकाबला कर सकते। १२८ ई० पू० के लगभग पार्थियन राजा फ्रावत द्वितीय ने शको की बाढ को रोकने का प्रयत्न किया। पर वह सफल नही हो सका। शको के साथ युद्ध करते हुए रणक्षेत्र मे ही उसकी मृत्यु हुई। उसके उत्तराधिकारी राजा आर्तेबानस के समय मे शक लोग पार्थियन राज्य मे घुस गए और उसे उन्होने बुरी तरह से लूटा। आर्तेबानस भी शको से लडते हुए मारा गया। आर्तेबानस के बाद मिथ्रिदातस द्वितीय (१२३-८८ ई० पू०) पार्थिया का राजा बना। उसने शको के आक्रमणो से अपने राज्य की रक्षा करने के लिए घोर प्रयत्न किया और उसे सफलता भी हुई। मिथ्रिदातस की शक्ति से विवश होकर शको का प्रवाह पश्चिम की तरफ से हटकर दक्षिण-पूर्व की ओर हो गया। परिणाम यह हुआ, कि अब शको ने भारत पर आक्रमण शुरू किया। उनके भारत-आक्रमण का समय १२३ ई० पू० के लगभग है।

भारत में प्रवेश—पार्थिया को जीत सकने मे असमर्थ होकर शको ने सीस्तान और सिन्ध के मार्ग से भारत मे प्रवेश किया। भारत के जिस प्रदेश को शको ने पहले-पहल अपने अधीन किया, वह मागध साम्राज्य के अन्तर्गत नही था। सम्भवत:, वहाँ भी यवनों के छोटे-छोटे राज्य स्थापित थे। सिन्ध नदी के तट पर स्थित मीननगर को उन्होंने अपनी राजधानी बनाया। भारत का यह पहला शक राज्य था। यही से उन्होने भारत के अन्य प्रदेशो मे अपना प्रसार किया। एक जैन अनुश्रुति के अनुसार भारत मे शकों को आमन्त्रित करने का श्रेय आचार्य कालक को है। यह जैन आचार्य उज्जैन के निवासी थे, और वहाँ के राजा गर्दभिल्ल के अत्याचारो से तग आकर सुदूर पश्चिम के पार्थियन राज्य (पारस कुल) मे चले गए थे। जब पार्थिया के शक्तिशाली राजा मिथ्रिदातस द्वितीय की शक्ति के कारण शक लोग परेशानी अनुभव कर रहे थे, तो कालकाचार्य ने उन्हें भारत आने के लिए प्रेरित किया। कालक के साथ शक लोग सिन्ध मे प्रविष्ट हुए, और वहाँ उन्होंने अपना राज्य स्थापित किया। इसके बाद उन्होने सौराष्ट्र को जीतकर उज्जयिनी पर भी आक्रमण किया और वहाँ के राजा गर्दभिल्ल को परास्त किया। यद्यपि शको की मुख्य राजधानी मीननगर थी, पर भारत के विविध प्रदेशो मे उन्होंने अपने अनेक स्वतन्त्र राज्य स्थापित किये, जो सम्भवत: मीननगर के शकराज की अधीनता स्वीकार करते थे। ये विविध शकराज्य या शकक्षत्रपों के कुल निम्नलिखित थे—(१) सिन्ध और पश्चिमी भारत का शक कुल, (२) महाराष्ट्र का

शक-क्षत्रप कुल, (३) मथुरा का शक-क्षत्रप कुल और (४) गान्धार का शक कुल। हम अब इन चारों शककुलों पर संक्षेप के साथ विचार करेंगे।

(२) भारत के शक राज्य

सिन्ध और पश्चिमी भारत का शक-राज्य—मीननगर को राजधानी बनाकर शक-आक्रान्ताओं ने सिन्ध में अपना जो राज्य स्थापित किया था, वह भारत के शक-राज्यों में सर्वप्रधान था। अन्य शक-राज्यो के शासक क्षत्रप या महाक्षत्रप कहाते थे, जिससे यह परिणाम निकलता है, कि वे स्वतन्त्र राजा न होकर किसी शक्तिशाली महाराजा की अधीनता स्वीकार करते थे। शको के इस महाराजा की राजधानी मीननगर ही थी। मीननगर के इन शक-महाराजाओं के विषय मे हमें अधिक परिज्ञान नही है। वहाँ के एक महाराजा का नाम मोग्र था। पजाब के जेलहम जिले मे मैरा नामक गाँव के एक कुएँ से एक शिला प्राप्त हुई है, जिसपर उत्कीर्ण लेख से मोग्र नाम के शक-राजा का परिचय मिलता है। इसी प्रकार तक्षशिला के भग्नावशेषो मे एक ताम्र-पात्र पर मोग नाम के एक शक-राजा का उल्लेख है, जिसके नाम के साथ 'महाराज' और 'महान्' विशेषण दिए गए है। सम्भवत, मोग्र और मोग एक ही व्यक्ति के सूचक है। इस मोग के बहुत-से सिक्के पश्चिमी पंजाब मे उपलब्ध हुए हैं, जो कि यवन-सिक्को के नमूने पर बने हुए है। इन सिक्को का लेख इस प्रकार है—'राजाधिराजस महतस मोग्रस्'। इस लेख से इस बात में कोई सन्देह नही रह जाता, कि शक-राजा मोग्र या मोग की स्थिति क्षत्रप या महाक्षत्रप से अधिक ऊँची थी। वह राजाधिराज और महान् था, और शको के अन्य राजकुल उसकी अधीनता को स्वीकार करते थे। इस शक राजाधिराज का शासन पश्चिम मे पुष्कलावती मे लगाकर पूर्व में तक्षशिला और दक्षिण मे सिन्ध तक विस्तृत था।

महाराष्ट्र का शक-क्षत्रप कुल—मीननगर के शक महाराज की अधीनता मे जो सबसे अधिक शक्तिशाली शक-क्षत्रप थे, उनका शासन काठियावाड, गुजरात, कोकण, पश्चिमी महाराष्ट्र और मालवा तक के प्रदेशो मे विद्यमान था। इस विशाल राज्य पर शासन करने वाले शक-कुल को 'क्षहरात' कहते थे। इसकी राजधानी सम्भवत भरुकच्छ (सौराष्ट्र) मे थी। पर इनके बहुत-से उत्कीर्ण लेख महाराष्ट्र मे उपलब्ध हुए हैं, इसी कारण इन्हें महाराष्ट्र का शक कुल भी कहा जाता है। शको के क्षहरात कुल का पहला क्षत्रप भूमक था। उसके अनेक सिक्के उपलब्ध हुए हैं, जो महाराष्ट्र और काठियावाड़ से मिले है। इससे अनुमान किया जाता है, कि महाराष्ट्र और काठियावाड़—दोनों उसके शासन मे थे।

पर क्षहरात कुल का सबसे प्रसिद्ध शक-क्षत्रप नहपान था। इसके सात उत्कीर्ण लेख और हजारों सिक्के उपलब्ध हुए हैं। सम्भवत, यह भूमक का ही उत्तराधिकारी था, पर इसका भूमक के साथ क्या सम्बन्ध था, यह निश्चित रूप से नही कहा जा सकता। नहपान का राज्य बहुत विस्तृत था, यह बात उसके जामाता उषावदात के एक लेख से ज्ञात होती है। इस लेख के कुछ अंश निम्नलिखित हैं—'सिद्धि हो। राजा क्षहरात क्षत्रप नहपान के जामाता, दीनाक के पुत्र, तीन लाख गौओं का दान

करने वाले, बार्णासा (नदी) पर सुवर्णदान करने वाले, देवताओं और ब्राह्मणों को सोलह ग्राम देने वाले, सम्पूर्ण वर्ष लाख ब्राह्मणो को भोजन करानेवाले, पुण्यतीर्थ प्रभास मे ब्राह्मणो को आठ भार्याएँ देने वाले, भरुकच्छ दशपुर गोवर्धन और शोर्पारण में चतु.शाल वरुध और प्रतिश्रय देने वाले, आराम, तडाग, उदपान बनवाने वाले, इवा पारातापी करवेणा दाहानुका (नदियों पर) नावों और पुण्यतर करनेवाले···धर्मात्मा उषावदात ने गोवर्धन मे त्रिरश्मि पर्वत पर यह लेण बनवाई···"

उषावदात का यह लेख नासिक के पास एक गुहा की दीवार पर उत्कीर्ण है। इसी गुहा पर एक अन्य लेख मे उषावदात ने लिखा है, कि "मैं पोक्षर को गया हूँ, और वहाँ मैंने अभिषेक (स्नान) किया, तीन हजार गौएँ और गाँव दिया।" नासिक गुहा के इन लेखो से क्षत्रप नहपान के राज्य की सीमा के सम्बन्ध मे अच्छे निर्देश प्राप्त होते है। उषावदात ने पोक्षर (पुष्कर) मे अभिषेक स्नान किया था, अतः सम्भवत अजमेर के समीपवर्ती प्रदेश नहपान के राज्य के अन्तर्गत थे। इस लेख में उल्लिखित प्रभास (सोमनाथ पाटन) सौराष्ट्र (काठियावाड) मे है। भरुकच्छ की स्थिति भी इसी प्रदेश मे है। गोवर्धन नासिक का नाम है। शोर्पारण (सोपारा) कोकण मे है। इस प्रकार इस लेख से यह स्पष्ट हो जाता है, कि काठियावाड, महाराष्ट्र और कोकण अवश्य ही क्षत्रप नहपान के राज्य के अन्तर्गत थे। नासिक के लेख मे जिन नदियों का उल्लेख है, उनका सम्बन्ध गुजरात से है। अत इस प्रदेश को भी नहपान के राज्य के अन्तर्गत माना जाता है।

नासिक के इस गुहालेख के समीप ही उषावदात का एक अन्य लेख भी उपलब्ध हुआ है, जिसमे दाहनक नगर और ककापुर के साथ उजेनि (उज्जयिनी) का भी उल्लेख है। इन नगरो मे भी उषावदात ने ब्राह्मणों को बहुत कुछ दान-पुण्य किया था। इससे यह भी अनुमान किया जाता है, कि उज्जयिनी भी नहपान के राज्य के अन्तर्गत थी। उज्जयिनी के नहपान के अधीन होने की बात जैन और पौराणिक अनुश्रुतियो द्वारा भी पुष्ट होती है। जैन अनुश्रुति म उज्जयिनी के राजाओ का उल्लेख करते हुए गर्दभिल्ल के बाद नहवाण नाम दिया गया है। इसी प्रकार पुराणो मे अन्तिम शुग-राजाओं के समकालीन विदिशा के राजा को नखपानज (नखवान का पुत्र) कहा गया है। सम्भवत, ये नहवाण व नखवान क्षहरात वशी क्षत्रप नहपान के ही रूपान्तर हैं। इसमे सन्देह नही, कि नहपान बहुत शक्तिशाली क्षत्रप था, और उसका राज्य काठियावाड से मालवा तक विस्तृत था। सम्भवत, नहपान ने अपनी शक्ति का विस्तार करने के लिए बहुत-से युद्ध किये थे, और इन्ही के कारण उसकी स्थिति 'क्षत्रप' से बढकर 'महाक्षत्रप' की हो गयी थी। उषावदात के नासिकवाले लेख मे उसे केवल 'क्षत्रप' कहा गया है। पर पूना के समीप उपलब्ध हुए एक अन्य गुहालेख मे उसके नाम के साथ 'महाक्षत्रप' विशेषण आता है।

महाक्षत्रप नहपान के उत्तराधिकारियो के सम्बन्ध मे कुछ विशेष ज्ञात नही होता। सातवाहन-वश के प्रतापी राजा गौतमीपुत्र सातकर्णि ने क्षहरात कुल द्वारा शासित प्रदेशो को शको के शासन से स्वतन्त्र किया था।

मथुरा के शक क्षत्रप—सिन्ध से शकों की शक्ति का विस्तार काठियावाड़, गुजरात, कोंकण, महाराष्ट्र और मालवा में हुआ, और वहाँ से उत्तर की ओर मथुरा में। सम्भवत, उज्जयिनी की विजय के बाद ही शकों ने मथुरा पर अपना आधिपत्य स्थापित किया था। मथुरा के शक क्षत्रप भी क्षहरात-कुल के थे। इन क्षत्रपों के बहुत-से सिक्के मथुरा व उसके समीपवर्ती प्रदेशों से उपलब्ध हुए हैं। मथुरा के प्रथम शक-क्षत्रप हगमाश और हगान थे। उनके बाद रञ्जुबुल और उसका पुत्र शोडास क्षत्रप या महाक्षत्रप-पद पर अधिष्ठित हुए। शोडास के बाद मेवकि मथुरा का महाक्षत्रप बना। मथुरा के इन शक क्षत्रपो ने पूर्वी पंजाब को जीतकर अपने अधीन किया था। वहाँ अनेक यवन-राज्य विद्यमान थे, जिनकी स्वतंत्र सत्ता इन शकों द्वारा नष्ट की गयी। साथ ही कुणिन्द गण को भी इन्होने विजय किया। गार्ग्यसहिता के युगपुराण मे शको द्वारा कुणिन्द गण के विनाश का उल्लेख है। शोडास ने जो 'महाक्षत्रप' का पद ग्रहण किया था, वह सम्भवतः इन्ही विजयो का परिणाम था।

मथुरा के इन शक क्षत्रपो की बौद्ध-धर्म मे बहुत भक्ति थी। मथुरा के एक मन्दिर की सीढियो के नीचे दबा हुआ एक सिहध्वज मिला है, जिसकी सिहमूर्तियो के आगे-पीछे तथा नीचे खरोष्ठी लिपि मे एक लेख उत्कीर्ण है। इस लेख मे महाक्षत्रप रञ्जुबुल या रजुल की अग्रमहिषी द्वारा शाक्य मुनि बुद्ध के शरीर-धातु को प्रतिष्ठापित करने और बौद्ध बिहार को एक जागीर दान देने का उल्लेख है। मथुरा से प्राप्त हुए एक अन्य लेख मे महाक्षत्रप शोडास के शासन-काल मे 'हारिती के पुत्र पाल की भार्या' मोहिनी द्वारा अर्हत् की पूजा के लिए एक मूर्ति की प्रतिष्ठा का उल्लेख किया गया है। इसमे सन्देह नही, कि महाराष्ट्र के क्षहरात शक क्षत्रपो के समान मथुरा के शको ने भी इस देश के धर्मों को अगीकार कर लिया था।

गान्धार का शक कुल—शक लोगो की शक्ति केवल कठियावाड, गुजरात, कोकण, महाराष्ट्र, मालवा, मथुरा और पूर्वी पजाब तक ही सीमित नही रही, उन्होने गान्धार तथा पश्चिमी पजाब पर भी अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया। इन प्रदेशो मे शको के बहुत-से सिक्के उपलब्ध हुए है, और साथ ही अनेक उत्कीर्ण लेख भी। इनमे सबसे अधिक महत्वपूर्ण लेख तक्षशिला मे प्राप्त हुआ है, जो एक ताम्रपत्र पर उत्कीर्ण है। इस लेख के अनुसार महाराज महान् मोग के राज्य मे क्षहरात चुक्ष के क्षत्रप लिअक कुसुलक के पुत्र पतिक ने तक्षशिला मे भगवान् शाक्य मुनि के अप्रतिष्ठापित शरीर-धातु को प्रतिष्ठापित किया था। इस लेख से यह स्पष्ट है, कि तक्षशिला के शक-क्षत्रप भी क्षहरात-वश के थे, और उनके अन्यतम क्षत्रप का नाम 'लिअक कुसुलक' था, जिसके पुत्र पतिक ने शाक्य मुनि के शरीर धातु की प्रतिष्ठा करने की स्मृति मे यह लेख उत्कीर्ण कराया था। तक्षशिला या गान्धार के क्षत्रप स्वतन्त्र राजा नही थे, अपितु महाराज महान् मोग की अधीनता स्वीकृत करते थे। क्षत्रप लिअक कुसुलक के अनेक सिक्के भी उपलब्ध हुए है।

उज्जैन के क्षत्रप—मालवा मे शक-क्षत्रपों का एक अन्य कुल भी शासन करता था, जिसका प्रथक शासक यसामोतिक का पुत्र चष्टन था। इसी के वंश मे आगे चलकर रुद्रदामन् हुआ, जिसने दूर-दूर तक अपनी शक्ति का विस्तार किया।

शक शासन का काल—भारत के शक क्षत्रपो और शक महाराजाओं का जो वृत्तान्त हमने ऊपर लिखा है, उसमे कही काल या तिथि का निर्देश नहीं किया गया। इसका कारण यह है, कि इन शक शासको के काल के सम्बन्ध मे बहुत विवाद है। इनके लेखों व सिक्को पर बहुधा किसी संवत् का उल्लेख मिलता है। तक्षशिला में उपलब्ध जिस ताम्रपत्र का जिक्र हमने अभी ऊपर किया है, उसपर संवत् ७८ लिखा है। पर शकों के लेखों व सिक्को पर उल्लिखित ये वर्ष किस संवत् का निर्देश करते हैं, यह अभी निश्चित नही हो सका है। कोई भी दो ऐतिहासिक इन शक-राजाओं व क्षत्रपों के काल के सम्बन्ध मे अविकल रूप से एकमत नहीं हो सके हैं। इस दशा में इनके काल को निर्धारित करने का प्रयत्न व्यर्थ-सा ही है। पर स्थूल रूप से यह कहा जा सकता है, कि दूसरी सदी ई० पू० के अन्त और पहली सदी ई० पू० के प्रारम्भिक भाग में शकों ने भारत मे अपनी शक्ति का विस्तार किया, और अपने विविध राज्य कायम किये। पहली सदी ई० पू० के मध्यभाग मे सातवाहन-वंशी राजा गौतमीपुत्र सातकर्णि और मालवगण के प्रयत्न से शको की शक्ति क्षीण होनी शुरू हो गयी, और धीरे-धीरे उनके स्वतन्त्र व पृथक् राज्यो का अन्त हो गया।

(३) भारत के पार्थियन राज्य

जिस प्रकार बैक्ट्रिया के यवनो ने भारत पर आक्रमण कर अपने अनेक राज्य इस देश मे स्थापित किये थे, वैसे ही पार्थिया के पार्थियन लोगो ने भी भारत के उत्तर-पश्चिमी कोने मे अपने शासन को कायम किया। सैल्युकस द्वारा स्थापित सीरियन साम्राज्य के विरुद्ध विद्रोह कर पार्थिया ने किस प्रकार स्वतन्त्रता प्राप्त की थी, इसका उल्लेख पिछले अध्याय मे किया जा चुका है। पार्थिया के शक्तिशाली राजा मिथ्रिदातस द्वितीय की शक्ति से पराभूत होकर ही शक लोग भारत मे प्रवेश करने के लिए विवश हुए थे। मिथ्रिदातस द्वितीय के शासनकाल मे पार्थिया की शक्ति बहुत अधिक बढी हुई थी, और शक-आक्रमणो को उसके विरुद्ध सफलता नही प्राप्त हो सकी थी।

ऐसा प्रतीत होता है, कि मिथ्रिदातस द्वितीय के किसी उत्तराधिकारी राजा के समय मे पार्थियनों ने भारत पर आक्रमण किया, और आर्कोशिया (कन्धार) व सीस्तान के प्रदेशों को जीत लिया। भारत के उत्तर-पश्चिमी कोने मे पार्थियन लोगो का जो शासन इस विजय द्वारा स्थापित हुआ, उसका मूल पार्थियन राज्य के साथ सम्बन्ध नही रह सका, और वहाँ एक स्वतन्त्र पार्थियन वश शासन करने लगा। इस स्वतन्त्र पार्थियन वश का प्रथम राजा वोनोनस (वनान) था। उसके सिक्को पर जो लेख है, वे ग्रीक भाषा मे हैं। कन्धार मे कुछ ऐसे सिक्के भी प्राप्त हुए है, जिनमे एक ओर तो वोनोनस (वनान) का नाम ग्रीक भाषा मे दिया गया है, और दूसरी ओर भारतीय प्राकृत भाषा मे 'महाराजभ्रातस ध्रमिग्रस स्पलहोरस' लिखा है। इससे यह अनुमान किया जाता है, कि वनान सम्पूर्ण पार्थियन साम्राज्य का स्वामी था, और उसका भाई स्पलहोर कन्धार व उसके समीपवर्ती भारतीय प्रदेशो पर शासन करने के लिए नियुक्त था। भारत के पार्थियन राज्य का शासक यह स्पलहोर पहली सदी ई० पू० के मध्य-भाग मे हुआ था।

स्पलहोर के बाद भारत के पार्थियन राज्य का स्वामी उसका पुत्र स्पलगदम बना, उसके सिक्कों पर 'स्पलहोरपुत्रस ध्रमिअस स्पलगदमस' लिखा है। पार्थियन राजाओं ने अपने नाम के साथ 'ध्रमिक' या 'ध्रमिअ' विशेषण लगाया है। इससे सूचित होता है, कि ये भी भारतीय धर्म के प्रभाव मे आ गये थे।

भारत के ये पार्थियन राजा केवल कन्धार और सीस्तान के प्रदेशो से ही संतुष्ट नही रहे। इन्होंने काबुल पर आक्रमण कर उसे भी जीत लिया, और वहाँ के यवन राज्य का अन्त किया। इसके बाद वे पुष्करावती (पश्चिमी गान्धार) की ओर बढ़े, और उसे भी अपने अधीन कर लिया। पार्थियन लोगो की शक्ति को इस प्रकार विस्तृत करने वाले राजा का नाम अय (एजस) था, जो सम्भवतः स्पलगदम के बाद पार्थियन राज्य का स्वामी बना था। इसके सिक्को पर 'महाराज राजराज महान् अय' लेख अंकित है। इससे यह सूचित होता है, कि वह बहुत शक्तिशाली था और राजाधिराज कहाता था। अनेक ऐतिहासिको के मत मे यह अय पार्थियन न होकर शक था, और शक-महाराज मोग या मोअ का उत्तराधिकारी था। पार्थियन और शक राजाओ के विषय मे जो कुछ भी ज्ञान हमें है, उसका आधार केवल उनके सिक्के ही हैं। इसी कारण इस विषय मे मतभेद की गुञ्जाइश रहना स्वाभाविक है।

अय के बाद पार्थियन राज्य का स्वामी गोडोफारस (गुदफर) हुआ। उसकी राजधानी पश्चिमी गान्धार में थी, और वह बहुत शक्तिशाली राजा था। उसका नाम ईसाई धर्म की प्राचीन अनुश्रुति मे भी पाया जाता है। उसके अनुसार ईसाई मिशनरी सेन्ट टामस ने गुदफर के राज्य मे ईसाई-धर्म का प्रचार किया था। सन्त टामस ईसाई धर्म का एक ऐसा प्रचारक था, जिसने भारत मे पहले-पहल अपने धर्म का प्रचार किया।

गुदफर के बाद भारत के पार्थियन राज्य की शक्ति क्षीण होने लग गई। इसका मुख्य कारण यह था, कि इस समय युइशि-जाति ने भारत पर आक्रमण शुरू कर दिये थे। युइशि-जाति का उल्लेख हम पहले कर चुके है। हूणों के आक्रमण के कारण युइशि लोग अपने मूल अभिजन को छोडकर शकों पर आक्रमण करने के लिए विवश हुए थे, और शक लोगो ने आगे बढ़कर बैक्ट्रिया को जीत लिया था। शको की अन्य शाखा इन्ही युइशि लोगो से धकेली जाकर पार्थिया के समीप से होती हुई भारत मे प्रविष्ट हुई थी। पर शक लोग बैक्ट्रिया मे देर तक नही टिक सके। युइशियों ने वहाँ भी उनपर आक्रमण किया, और बैक्ट्रिया को जीतकर वे भारत की तरफ बढ़ आये। पार्थियन लोगो के भारतीय राज्य का अन्त करना इन युइशि आक्रान्ताओ का ही कार्य था।

भारतीय इतिहास मे पार्थियन लोगो को पह्लव कहा गया है। पुराणो मे शको और पह्लवो का नाम प्रायः साथ-साथ आता है। इसका कारण यही है, कि शक लोग पार्थिया होकर ही भारत मे प्रविष्ट हुए थे, और यह सर्वथा सम्भव है कि उनकी सेना मे पार्थियन सैनिक भी अच्छी बडी संख्या मे हो। सम्भवतः, पार्थियन लोग भी विशाल शक-जाति को ही एक शाखा थे, जो अपने अन्य जाति-भाइयो से पहले ईरान मे प्रविष्ट हो गये थे।

बीसवाँ अध्याय

आन्ध्र-सातवाहन वंश

(१) सातवाहन साम्राज्य का प्रारम्भ

मौर्य साम्राज्य की शक्ति के क्षीण होने पर प्रतिष्ठान (गोदावरी नदी के तट पर स्थित पैंठन) को राजधानी बनाकर जिस सातवाहन वंश ने अपनी शक्ति का उत्कर्ष प्रारम्भ किया था, उसका उल्लेख इस ग्रन्थ मे पहले किया जा चुका है। इस वंश का प्रथम राजा सिमुक (श्रीमुख) था, जिसने २१० ई० पू० के लगभग अपने स्वतन्त्र राज्य की नीव डाली थी। तीसरी सदी ई० पू० के अन्तिम चरण मे प्रारम्भ होकर सातवाहनो का यह स्वतन्त्र राज्य चार सदी के लगभग तक कायम रहा। भारत के इतिहास मे अन्य कोई राजवंश इतने दीर्घकाल तक अबाधित रूप से शासन नही कर सका। इस सुदीर्घ समय मे सातवाहन राजाओ ने न केवल दक्षिणापथ मे स्थायी रूप से शासन किया, अपितु उत्तरापथ पर आक्रमण कर कुछ समय के लिए मगध को भी अपने अधीन कर लिया। यही कारण है, कि पौराणिक अनुश्रुति मे कण्व वंश के पश्चात् आन्ध्र वंश के शासन का उल्लेख किया गया है। सातवाहन वंश के अनेक प्रतापी सम्राटो ने विदेशी शक आक्रान्ताओ के विरुद्ध भी अनुपम सफलता प्राप्त की। दक्षिणापथ के इन राजाओ का वृत्तान्त न केवल उनके सिक्को और शिलालेखो से जाना जाता है, अपितु अनेक ऐसे साहित्यिक ग्रन्थ भी उपलब्ध है, जिनसे इस राजवंश के कतिपय राजाओ के सम्बन्ध मे महत्त्वपूर्ण बाते ज्ञात होती है।

पुराणो के अनुसार सिमुक ने कण्व वंश के अन्तिम राजा सुशर्मा को मार कर मगध के राजसिंहासन पर अपना अधिकार स्थापित किया था। इसमे तो सन्देह नही कि सातवाहन वंश के अन्यतम राजा ने कण्व वंश का अन्त कर मगध को अपने साम्राज्य के अन्तर्गत किया था। पर सम्भवत, यह राजा सातवाहन वंश का प्रारम्भ करने वाला सिमुक नही था। हाथीगुम्फा शिलालेख के अनुसार कलिंगराज खारवेल सातवाहन वंश के सातकर्णि का समकालीन था, और खारवेल के समय को पहली सदी ईस्वी-पूर्व के पश्चात् कदापि नही रखा जा सकता। कण्व वंश का अन्त १८ ईस्वी-पूर्व मे हुआ था। यदि सिमुक के शासन का प्रारम्भ उस समय मे हुआ, तो उसके पर्याप्त समय बाद का सातवाहन राजा सातकर्णि खारवेल का समकालीन कैसे हो सकता है। यदि सातकर्णि खारवेल का समकालीन था, तो राजा सिमुक का काल उससे पूर्व ही होना चाहिये। पौराणिक अनुश्रुति मे कण्व वंश का अन्त करने वाले सातवाहन राजा का नाम देने मे अवश्य भूल हुई है। सिमुक का शासन काल २३ वर्ष था। २१० ई० पू० मे उसने मौर्य शासनतन्त्र के विरुद्ध विद्रोह किया, और प्रतिष्ठान को राजधानी

बनाकर १८७ ई० पू० तक स्वतन्त्र रूप से शासन किया। जैन गाथाओं के अनुसार सिमुक ने अनेक बौद्ध और जैन मन्दिरों का निर्माण कराया था। सिमुक के बाद उसका भाई कृष्ण या कन्ह सातवाहन राज्य का स्वामी बना। सिमुक का पुत्र सातकर्णि था, जो सम्भवतः अपने पिता की मृत्यु के समय तक वयस्क नहीं हुआ था। इसी कारण सिमुक की मृत्यु के अनन्तर उसका भाई कृष्ण राजगद्दी पर बैठा। पुराणों के अनुसार उसने १८ वर्ष तक शासन किया। कृष्ण ने भी अपने भाई के समान विजय की प्रक्रिया को जारी रखा।

राजा सातकर्णि—कृष्ण के बाद उसका भतीजा (सिमुक का पुत्र) प्रतिष्ठान के राजसिंहासन पर आरूढ हुआ। उसने सातवाहन राज्य का बहुत विस्तार किया। उसका विवाह नायनिका या नागनिका नाम की कुमारी के साथ हुआ था, जो एक बड़े महारठी सरदार की दुहिता थी। इस विवाह के कारण सातकर्णि की शक्ति बहुत बढ़ गई, क्योंकि एक शक्तिशाली महारठी सरदार की सहायता उसे प्राप्त हो गई। सातकर्णि के सिक्कों पर उसके श्वसुर अंगीयकुलीन महारठी त्रणकयिरो का नाम भी अंकित है। शिलालेखों में उसे 'दक्षिणापथपति' और 'अप्रतिहतचक्र' विशेषणों से विभूषित किया गया है। अपने राज्य का विस्तार कर इस प्रतापी राजा ने राजसूय यज्ञ किया, और दो बार अश्वमेध यज्ञ का अनुष्ठान किया। क्योंकि सातकर्णि का शासन काल मौर्य वंश के ह्रास-काल में था, अतः स्वाभाविक रूप से उसने अनेक ऐसे प्रदेशों को जीत कर अपने अधीन किया होगा जो पहले मौर्य साम्राज्य के अन्तर्गत थे। अश्वमेध यज्ञों का अनुष्ठान इन विजयों के उपलक्ष में ही किया गया होगा। सातकर्णि के राज्य में भी प्राचीन वैदिक धर्म का पुनरुत्थान हो रहा था। शिलालेखों में इस राजा द्वारा किये गये अन्य भी अनेक यज्ञों का उल्लेख है। इनमें जो दक्षिणा सातकर्णि ने ब्राह्मण पुरोहितों को प्रदान की, उसमें अन्य वस्तुओं के साथ ४७,२०० गौओं, १० हाथियों, १००० घोड़ों, १ रथ और ६८,००० कार्षापणों का भी दान किया गया था। इसमें सन्देह नहीं कि सातकर्णि एक प्रबल और शक्तिसम्पन्न राजा था। कलिंगराज खारवेल ने विजय-यात्रा करते हुए उसके विरुद्ध शस्त्र नहीं उठाया था, यद्यपि हाथी-गुम्फा शिलालेख के अनुसार वह सातकर्णि की उपेक्षा कर दूर-दूर तक आक्रमण कर सकने में समर्थ हो गया था।

सातकर्णि देर तक सातवाहन राज्य का संचालन नहीं कर सका। सम्भवतः, एक युद्ध में उसकी मृत्यु हो गई थी, और उसका शासन काल केवल दस वर्ष (१७२ से १६२ ई० पू० के लगभग) तक रहा था। अभी उसके पुत्र वयस्क नहीं हुए थे, अतः उसकी मृत्यु के अनन्तर रानी नायनिका ने शासन-सूत्र का संचालन किया।

पुराणों में सातवाहन राजाओं को आन्ध्र और आन्ध्रभृत्य भी कहा गया है। इसका कारण इन राजाओं का या तो आन्ध्र जाति का होना है, और या यह भी सम्भव है कि इनके पूर्वज पहले किसी आन्ध्र राजा की सेवा में रहे हों। पर इनकी शक्ति का केन्द्र आन्ध्र में न होकर महाराष्ट्र के प्रदेश में था। पुराणों में सिमुक या सिन्धुक को 'आन्ध्रजातीय' कहा गया है। इसीलिए इस वंश को 'आन्ध्र-सातवाहन' संज्ञा दी जाती है।

(२) सातवाहन राज्य का उत्कर्ष

गौतमीपुत्र सातकर्णि—राजा सातकर्णि के उत्तराधिकारियों के केवल नाम ही पुराणों द्वारा ज्ञात होते हैं। ये नाम पूर्णोत्संग (शासन-काल १८ वर्ष), स्कन्धस्तम्भि (१८ वर्ष), मेघस्वाति (१८ वर्ष), लम्बोदर (१८ वर्ष) और गौतमीपुत्र सातकर्णि (५६ वर्ष) हैं। इनमे गौतमीपुत्र सातकर्णि के सम्बन्ध मे उसके शिलालेखों से बहुत-कुछ परिचय प्राप्त होता है। यह प्रसिद्ध शक महाक्षत्रप नहपान का समकालीन था, और इसने अपने समीपवर्ती प्रदेशों से शक-शासन का अन्त किया था। नासिक जिले के जोगलथम्बी नामक गाँव से सन् १९०६ ई० मे १३,२५० सिक्कों का एक ढेर प्राप्त हुआ था। ये सब सिक्के शक क्षत्रप नहपान के हैं। इनमे से लगभग दो तिहाई सिक्कों पर गौतमीपुत्र का भी नाम अंकित है, जिससे यह सूचित होता है कि गौतमीपुत्र सातकर्णि ने नहपान को परास्त कर उसके सिक्को पर अपनी छाप लगवाई थी। इसमें सन्देह नहीं, कि शको के उत्कर्ष के कारण पश्चिमी भारत मे सातवाहन-राज्य की शक्ति बहुत क्षीण हो गयी थी, और बाद में गौतमीपुत्र सातकर्णि ने अपने वश की शक्ति और गौरव का पुनरुद्धार किया।

गौतमीपुत्र सातकर्णि की माता का नाम गौतमी बालश्री था। उसने नासिक मे त्रिरश्मि पर्वत पर एक गुहा दान की थी, जिसकी दीवार पर एक प्रशस्ति उत्कीर्ण है। इस प्रशस्ति द्वारा गौतमी बालश्री के प्रतापी पुत्र के सम्बन्ध में बहुत-सी महत्त्व-पूर्ण बातें ज्ञात होती हैं। उसमे राजा गौतमीपुत्र सातकर्णि के जो विशेषण दिये है, उसमे से निम्नलिखित विशेष रूप से ध्यान देने योग्य है—"असिक असक मुलक सुरठ कुकुर अपरान्त अनूप विदभ आकर (और) अवन्ति के राजा, विझ छवत पारिजात सह्य कण्हगिरि मच सिरिटन मलय महिद सेटगिरि चकोर पर्वतों के पति, जिसके शासन को सब राजाओ का मडल स्वीकार करता था, क्षत्रियो के दर्प और मान का मर्दन करने वाले, शक यवन पह्लवो के निषूदक, सातवाहन-कुल के यश के प्रतिष्ठापक, सब मंडलो से अभिवादितचरण, अनेक समरो मे शत्रुसंघ को जीतने वाले, एकशूर, एक-ब्राह्मण, शत्रुजनो के लिए दुर्धर्ष सुन्दरपुर के स्वामी" आदि। इस लेख से स्पष्ट है, कि असक (अश्मक) मूलक (मूलक, राजधानी प्रतिष्ठान), सुरठ (सौराष्ट्र), कुकुर (काठियावाड के समीप एक प्राचीन गण-जनपद), अपरान्त (कोकण), अनूप (नर्मदा की घाटी का प्रदेश), विदभ (विदर्भ, बरार), आकर (विदिशा का प्रदेश) और अवन्ति गौतमीपुत्र सातकर्णि के साम्राज्य के अन्तर्गत थे। जिन पर्वतो का वह स्वामी था, वे भी उसके साम्राज्य के विस्तार को सूचित करते हैं। विझ (विन्ध्य) छवत (ऋक्षवत् या सातपुडा), पारिजात (पश्चिमी विन्ध्याचल), सह्य (सह्याद्रि), कण्हगिरि (कान्हेरी या कृष्णगिरी), सिरिटन (श्रीपर्वत), मलय (मलयाद्रि), महिद (महेन्द्र पर्वत) और चकोर (पुराणो मे श्रीपर्वत के समीप की अन्यतम पर्वतमाला) उसके राज्य के विस्तार पर अच्छा प्रकाश डालते हैं। इस प्रशस्ति से यह निश्चित हो जाता है, कि गौतमी-पुत्र सातकर्णि सच्चे अर्थों मे दक्षिणापथपति था, और काठियावाड़, महाराष्ट्र और अवंति के प्रदेश अवश्य ही उसके साम्राज्य के अन्तर्गत थे।

गौतमीपुत्र सातकर्णि जो इतने विशाल साम्राज्य का निर्माण कर सका था, उसका प्रधान कारण 'शक यवन पल्हवों' की पराजय थी। शक, यवन और पार्थियन लोगों ने बाहर से आकर भारत में जो अनेक राज्य कायम कर लिए थे, उनके साथ सातकर्णि ने घोर युद्ध किये, और उन्हें परास्त कर सातवाहन-कुल की शक्ति और गौरव को प्रतिष्ठापित किया। विदेशी शकों की भारत मे बढती हुई शक्ति का दमन करना सातकर्णि का ही कार्य था। अवन्ति, अश्मक, सौराष्ट्र आदि जिन अनेक प्रदेशो को सातकर्णि ने अपने अधीन किया था, वे पहले क्षहरात-कुल के शक क्षत्रप नहपान के अधीन थे। शकों को परास्त करके ही सातकर्णि ने इन पर अपना आधिपत्य स्थापित किया था।

गौतमीपुत्र सातकर्णि के इतिहास पर प्रकाश डालनेवाले अनेक शिलालेख व सिक्के खोज द्वारा प्राप्त हुए हैं। इस प्रतापी राजा से सम्बन्ध रखने वाली एक जैन-अनुश्रुति का उल्लेख करना भी इस प्रसंग मे उपयोगी होगा। जैन-ग्रन्थ आवश्यक-सूत्र पर भद्रबाहुस्वामी-विरचित निर्युक्ति नामक टीका में एक पुरानी गाथा दी गयी है, जिसके अनुसार भरुकच्छ का राजा नहवाण कोष का बडा धनी था। दूसरी ओर प्रतिष्ठान का राजा सालवाहन सेना का धनी था। सालवाहन ने नहवाण पर चढाई की, किन्तु दो वर्ष तक उसकी पुरी को घेरे रहने पर भी वह उसे जीत नही सका। भरुकच्छ में कोष की कमी नही थी, अतः सालवाहन की सेना का घेरा उसका कुछ नही बिगाड सका। अब सालवाहन ने कूटनीति का आश्रय लिया। उसने अपने एक अमात्य से रुष्ट होने का नाट्य कर उसे निकाल दिया। यह अमात्य भरुकच्छ गया और शीघ्र ही नहवाण का विश्वासपात्र बन गया। उसकी प्रेरणा से नहवाण ने अपना बहुत-सा धन देवमन्दिर, तालाब, बावडी आदि बनवाने तथा दान-पुण्य मे व्यय कर दिया। अब जब फिर सालवाहन ने भरुकच्छ पर चढाई की, तो नहवाण का कोष खाली था। वह परास्त हो गया, और भरुकच्छ भी सालवाहन के साम्राज्य मे शामिल हो गया। शक-क्षत्रप नहवाण (नहपान) के दान-पुण्य का कुछ परिचय उसके जामाता उषावदात के लेखो से मिल सकता है। उसके एक लेख का निर्देश हम पहले कर चुके है।

कालकाचार्य-कथानक के अनुसार जिस राजा विक्रमादित्य ने शको का सहार किया था, वह प्रतिष्ठान का राजा था। सालवाहन या सातवाहन-वंश की राजधानी भी प्रतिष्ठान ही थी। इस बात को दृष्टि मे रखकर श्री जायसवाल व अन्य अनेक ऐतिहासिको ने यह स्थापना की है, कि भारत की दन्त-कथाओ और प्राचीन साहित्य का शकारि विक्रमादित्य और सातवाहनवशी प्रतापी राजा गौतमीपुत्र सातकर्णि एक ही थे, और इस शकनिषूदक राजा का शासन-काल ९९ ई० पू० से ४४ ई० पू० तक था। पुराणो के अनुसार इसने ५६ साल और जैन-अनुश्रुति के अनुसार ५५ साल राज्य किया था। यदि सातवाहन-वंश के प्रथम राजा का शासन-काल २१० ई० पू० के लगभग माना जाय, तो पुराणो की वंशतालिका के अनुसार सातकर्णि का शासन-समय यही बनता है। विक्रमी संवत् का प्रारम्भ ५७ ई० पू० मे होता है। यह सवत् शकों की पराजय सदृश महत्त्वपूर्ण घटना की स्मृति में ही प्रारम्भ हुआ था, और

अनुश्रुति के अनुसार जिस राजा विक्रमादित्य के साथ इसका सम्बन्ध है, वह यदि गौतमीपुत्र सातकर्णि ही हो, तो इसमे आश्चर्य की कोई बात नही। पर इससे यह नही समझना चाहिए, कि विक्रम-सवत् का प्रारम्भ गौतमीपुत्र सातकर्णि द्वारा किया गया था। इस सवत् का प्रारंभ मालवगण की स्थिति से हुआ माना जाता है। शक-आक्रान्ताओ ने जिस प्रकार सातवाहन के गौरव को क्षीण किया था, वैसे ही गणराज्यों को भी उन्होने पराभूत किया था। शको की शक्ति के क्षीण होने पर भारत के प्राचीन गणराज्यो का पुनरुत्थान हुआ। शको की पराजय का श्रेय केवल सातवाहनवंशी सातकर्णि को ही नही है। मालवगण के वीर योद्धाओं का भी इस सम्बन्ध मे बहुत कर्तृत्व था। उनके गण की पुन स्थिति से एक नये सवत् का प्रारम्भ हुआ, जो बाद मे विक्रम-संवत् कहाया। पर जायसवाल जी की यह स्थापना भी बड़े महत्त्व की है, कि गौतमीपुत्र सातकर्णि का ही अन्य नाम या उपनाम विक्रमादित्य भी था, और वही भारतीय अनुश्रुति का शकारि या शकनिषूदक विक्रमादित्य था। पर यह मत पूर्णतया निर्विवाद नही है। सातकर्णि के काल के सम्बन्ध मे भी ऐतिहासिको मे मतभेद है। अनेक ऐतिहासिक उसे दूसरी सदी ई० पू० का मानते है।

मागध-सम्राट् वासिष्ठीपुत्र श्री पुलुमावि—गौतमीपुत्र सातकर्णि के बाद उसका पुत्र वासिष्ठीपुत्र श्री पुलुमावि विशाल सातवाहन-साम्राज्य का स्वामी बना। उसका शासन-काल ४४ ई० पू० के लगभग शुरू हुआ। पुराणो मे उसका शासन-काल ३६ वर्ष बताया गया है। उसके समय मे सातवाहन-राज्य की और भी अधिक वृद्धि हुई। उसने पूर्व और दक्षिण मे आन्ध्र तथा चोल देशो की विजय की। उसके सिक्के सुदूर दक्षिण मे भी अनेक स्थानो पर उपलब्ध हुए है। चोल-मण्डल के तट से पुलुमावि के जो सिक्के मिले है, उनपर दो मस्तूलवाले जहाज का चित्र बना है। इससे सूचित होता है, कि सुदूर दक्षिण मे जारी करने के लिए जो सिक्के उसने बनवाये थे, वे उसकी सामुद्रिक शक्ति को भी सूचित करते थे। आन्ध्र और चोल के समुद्र-तट पर अधिकार हो जाने के कारण सातवाहन-राजाओं की सामुद्रिक शक्ति भी बहुत बढ गई थी, और इसीलिए जहाज के चित्रवाले ये सिक्के प्रचलित किये गये थे। इस युग मे भारत के निवासी समुद्र को पार कर अपने उपनिवेश स्थापित करने मे तत्पर थे, और पूर्वी एशिया के अनेक क्षेत्रो मे भारतीय बस्तियो का सूत्रपात हो रहा था।

मगध की विजय—पुराणो के अनुसार अन्तिम कण्व-राजा सुशर्मा को मारकर आन्ध्र-वश के राजा सिमुक ने मगध पर अपना अधिकार स्थापित कर लिया था। जिसे पुराणो मे आन्ध्र-वश कहा गया है, वही शिलालेखो का सातवाहन वश है, यह पहले लिखा जा चुका है। कण्व वश के शासन का अन्त सिमुक द्वारा नही हुआ था, यह भी पहले प्रतिपादित किया जा चुका है। कण्ववशी सुशर्मा का शासन-काल ३८ से २८ ई० पू० तक था। सातवाहन-वश के जिस तिथिक्रम का हम इस इतिहास मे प्रयोग कर रहे है, उसके अनुसार उस काल मे सातवाहन-वश का राजा वासिष्ठीपुत्र श्री-पुलुमावि ही था। अतः कण्व-वश का अन्त कर मगध को अपनी अधीनता मे लाने वाला सातवाहन राजा पुलुमावि ही होना चाहिए। इसमे सन्देह नही कि आन्ध्र या सातवाहन साम्राज्य मे मगध भी सम्मिलित हो गया था, और उसके राजा केवल

दक्षिणापथपति न रहकर उत्तरापथ के भी स्वामी बन गये थे। गौतमीपुत्र सातकर्णि के समय सातवाहन-वंश के जिस उत्कर्ष का प्रारम्भ हुआ था, अब उसके पुत्र पुलुमावि के समय मे वह उन्नति की चरम सीमा को पहुँच गया। किसी समय जो स्थिति प्रतापी मौर्य व शुङ्ग-सम्राटो की थी, वही अब सातवाहन सम्राटो की हो गयी थी।

(३) अन्य सातवाहन राजा

वासिष्ठीपुत्र श्रीपुलुमावि के बाद कृष्ण द्वितीय सातवाहन साम्राज्य का स्वामी बना। इसने कुल २४ वर्ष तक (८ ई० पू० से १६ ईस्वी तक) राज्य किया। उसके बाद हाल राजा हुआ। प्राकृत भाषा के साहित्य मे इस राजा हाल का बडा महत्त्व है। वह प्राकृत भाषा का उत्कृष्ट कवि था, और अनेक कवि व लेखक उसके आश्रय मे रहते थे। हाल की लिखी हुई गाथासप्तशती प्राकृत भाषा की एक प्रसिद्ध पुस्तक है। राजा हाल का दरबार साहित्य और संस्कृति का बड़ा आश्रयस्थान था। उसके संरक्षण और प्रोत्साहन से प्राकृत साहित्य की बडी उन्नति हुई।

हाल के बाद क्रमशः पत्तलक, पुरिकसेन, स्वाति और स्कदस्याति सातवाहन-साम्राज्य के राजा हुए। इन चारो का शासन-काल कुल ५१ वर्ष था। राजा हाल ने १६ ई० से शुरू कर २१ ईस्वी तक पाच साल राज्य किया था। स्कदस्याति के शासन का अंत ७२ ई० मे हुआ। इन राजाओ के समय की कोई ऐतिहासिक घटना हमे ज्ञात नही है। पर इतना निश्चित है, कि इनके समय मे सातवाहन-साम्राज्य अक्षुण्ण रूप मे बना रहा। स्कंदस्याति के बाद महेन्द्र सातकर्णि राजा बना। 'परिप्लस आफ एरिथियन सी' के ग्रीक लेखक ने इसी महेन्द्र को मबर के नाम से सूचित किया है। प्राचीन पाश्चात्य ससार के इस भौगोलिक यात्रा-ग्रथ मे भरुकच्छ के बन्दरगाह से शुरू करके मबर द्वारा शासित आर्यदेश का उल्लेख मिलता है।

विदेशी आक्रमण—महेन्द्र सातकर्णि के बाद कुन्तल सातकर्णि (७४ ई० से ८३ ई० तक) राजा बना। इसके समय मे फिर विदेशियो के आक्रमण भारत मे प्रारम्भ हो गये। जिन युइशि लोगो के आक्रमणो से शक लोग सीर नदी की घाटी के अपने पुराने निवास-स्थान को छोडकर आगे बढने के लिए विवश हुए थे, वे ही कालान्तर मे हिन्दूकुश के पश्चिम मे प्राचीन कबोज-जनपद मे बस गये थे। वहाँ के यवन निवासियो के सम्पर्क से युइशि लोग भी धीरे-धीरे सभ्य हो गये थे, और उन्नति के मार्ग पर बढने लगे थे। जिस समय राजा वासिष्ठीपुत्र पुलुमावि ने कण्व-वश का अंत कर मगध को विजय किया, लगभग उसी समय इन युइशियो मे एक वीर पुरुष का उत्कर्ष हुआ, जिसका नाम कुशाण था। इस समय तक युइशियो के पाँच छोटे-छोटे जनपद थे, कुशाण ने उन सब को जीतकर एक सूत्र मे सगठित किया और एक शक्तिशाली युइशि-राज्य की नीव डाली। युइशियो को सगठित करके ही कुशाण सतुष्ट नही हो गया, धीरे-धीरे उसने अफगानिस्तान और तक्षशिला तक गान्धार-राज्य को भी जीतकर अपने अधीन कर लिया।

कुशाण के बाद उसका पुत्र विम युइशि साम्राज्य का स्वामी बना। वह ३५ ईस्वी के लगभग राजगद्दी पर बैठा था। उसने युइशि साम्राज्य को और विस्तृत

किया। पंजाब को अपने अधीन कर उसने मथुरा पर आक्रमण किया। मथुरा जीत लिया गया, और उत्तर-पश्चिमी भारत सातवाहनों के साम्राज्य से निकलकर युइशि या कुशाण-साम्राज्य के अधीन हो गया। विम ने यह राज्यविस्तार उस समय में किया, जब कि उज्जयिनी के राजसिंहासन पर राजा हाल के उत्तराधिकारी, जिनके हमें केवल नाम ही उपलब्ध होते हैं, विराजमान थे। संभवतः, ये राजा इतने प्रतापी नहीं थे, कि विम की प्रबल सेनाओं का सामना कर सकते। परिणाम यह हुआ कि सातवाहन साम्राज्य का क्षय और कुशाणो के उत्कर्ष का प्रारम्भ हुआ। विम स्वयं हिन्दूकुश के उत्तर-पश्चिम मे कम्बोज देश मे रहता था, भारत के जीते हुए प्रदेश में उसके क्षत्रप राज्य करते थे। इन युइशि व कुशाण विजेताओं पर हम अगले अध्याय मे विशद रूप से प्रकाश डालेंगे।

शकारि विक्रमादित्य द्वितीय—युइशि लोग शको से भिन्न थे। पर भारत की प्राचीन ऐतिहासिक अनुश्रुति मे उन्हें स्थूल रूप से शक ही कह दिया गया है। सातवाहन राजाओ ने देर तक 'शको' के इन नवीन आक्रमणो को सहन नही किया। शीघ्र ही उनमें एक द्वितीय विक्रमादित्य का प्रादुर्भाव हुआ, जिसने कि इन अभिनव शको को परास्त कर दूसरी बार 'शकारि' की उपाधि ग्रहण की। इस प्रतापशाली राजा का नाम कुन्तल सातकर्णि था। इसने मुलतान के समीप युइशि राजा विम की सेनाओ को परास्त कर एक बार फिर सातवाहन साम्राज्य का गौरव स्थापित किया।

विक्रमादित्य द्वितीय बडा प्रतापी राजा था। उसकी रानी का नाम मलयवती था। वात्स्यायन के कामसूत्र मे उसका उल्लेख आया है। कुन्तल सातकर्णि (विक्रमादित्य द्वितीय) के राजदरबार में गुणाढ्य नाम का प्रसिद्ध लेखक व कवि रहता था, जिसने प्राकृत भाषा का प्रसिद्ध ग्रथ बृहत्कथा लिखा था। सातवाहन-राजा प्राकृत भाषा बोलते थे, पर कुन्तल सातकर्णि की रानी मलयवती की भाषा संस्कृत थी। राजा सातकर्णि उसे भली-भाँति समझ नही सकता था। परिणाम यह हुआ, कि उसने संस्कृत सीखनी प्रारम्भ की, और उसके अमात्य सर्ववर्मा ने सरल रीति से संस्कृत सिखाने के लिए कातन्त्र व्याकरण की रचना की। इस व्याकरण से राजा विक्रमादित्य इतना प्रसन्न हुआ, कि उसने पुरस्कार के रूप में भरुकच्छ प्रदेश का शासन सर्ववर्मा को दे दिया।

गुणाढ्यलिखित बृहत्कथा इस समय उपलब्ध नही होती, पर सोमदेव द्वारा किया हुआ उसका संस्कृत रूपान्तर 'कथासरित्सागर' इस समय प्राप्तव्य है। यह बृहत्कथा का अक्षरानुवाद न होकर साररूप से अनुवाद है। कथासरित्सागर प्राचीन संस्कृत-साहित्य का एक अनुपम रत्न है, जिसमे प्राचीन समय की बहुत-सी कथाएं सग्रहीत है। बृहत्कथा के आधार पर लिखा हुआ एक और ग्रथ क्षेमेंद्र-विरचित बृहत्कथा-मजरी भी इस समय उपलब्ध है। बृहत्कथा का एक तमिल अनुवाद दक्षिण भारत में भी मिलता है। कथासरित्सागर और बृहत्कथामजरी के लेखक काश्मीर के निवासी थे, और सोमदेव ने अपना ग्रंथ काश्मीर की रानी सूर्यमती की प्रेरणा से लिखा था। इस प्रकार सातवाहन सम्राट् के आश्रय में कवि गुणाढ्य द्वारा लिखी हुई बृहत्कथा उत्तर मे काश्मीर से लगाकर दक्षिण में तमिल-संस्कृति के केन्द्र मदुरा तक प्रचलित हो गयी।

यह सातवाहन-साम्राज्य के वैभव का ही परिणाम था, कि उसके केन्द्र में लिखी गयी इस बृहत्कथा की कीर्ति सारे भारत मे विस्तीर्ण हुई।

गुणाढ्यरचित बृहत्कथा के आधार पर लिखे गये संस्कृत-ग्रंथ कथासरित्सागर के अनुसार विक्रमादित्य द्वितीय का साम्राज्य सम्पूर्ण दक्खन, काठियावाड़, मध्य-प्रदेश, बंग, अंग और कलिंग तक विस्तृत था, तथा उत्तर के सब राजा, यहाँ तक कि काश्मीर के राजा भी उसके करद थे। अनेक दुर्गों को जीतकर म्लेच्छों (शक व युइशि) का उसने संहार किया था। म्लेच्छों के संहार के बाद उज्जयिनी में एक बडा उत्सव किया गया, जिसमे गौड़, कर्णाटक, लाट, काश्मीर, सिन्ध आदि के अधीनस्थ राजा सम्मिलित हुए। विक्रमादित्य का एक बहुत शानदार जुलूस निकला, जिसमे इन सब राजाओं ने भाग लिया।

निस्सन्देह, कुन्तल सातकर्णि एक बडा प्रतापी राजा था। युइशियो को परास्त कर उसने प्रायः सारे भारत में अपना अखण्ड साम्राज्य कायम किया।

कुन्तल सातकर्णि के बाद सुन्दर सातकर्णि ने एक वर्ष, और फिर वासिष्ठीपुत्र पुलोमावि द्वितीय ने चार वर्ष तक राज्य किया। इनके शासन-काल की कोई घटना हमे ज्ञात नही है। संभवत, इनके समय मे सातवाहन-साम्राज्य की शक्ति क्षीण होनी आरम्भ हो गयी थी, और उसके दिगन्त मे विपत्ति के बादल फिर घिरने शुरू हो गये थे। इन राजाओ ने बहुत थोडे समय तक राज्य किया। इससे यह भी सूचित होता है, कि इस समय सातवाहन राजकुल की आन्तरिक दशा भी बहुत सुरक्षित नहीं थी।

विक्रमादित्य द्वितीय ने युइशि विम को परास्त तो कर दिया था, पर सातवाहन-वंश की स्थिति देर तक सुरक्षित नही रह सकी। युइशि-साम्राज्य मे विम का उत्तराधिकारी कनिष्क था, जो बडा प्रतापी और महत्त्वाकांक्षी राजा था। उसने युइशि-शक्ति को पुन सगठित कर सातवाहन-साम्राज्य पर आक्रमण किया। सातवाहनो को परास्त कर कनिष्क ने किस प्रकार भारत मे अपने विशाल साम्राज्य की स्थापना की, इसपर हम अगले अध्याय मे प्रकाश डालेगे।

(४) उज्जैन का शक कुल

जिस समय उत्तर-पश्चिमी भारत पर आक्रमण कर कुशाण राजा सातवाहन साम्राज्य को खण्ड-खण्ड करने मे तत्पर थे, इधर उज्जयिनी मे शक लोगों ने अपनी शक्ति का पुनरुत्थान किया। सातवाहन-सम्राटों ने ही शको की शक्ति का नाश किया था। युइशि व कुशाणो के आक्रमणो के कारण उन्हे अपने उत्कर्ष का सुअवसर हाथ लग गया, और उन्होने सातवाहन-साम्राज्य की निर्बलता व विपत्ति से लाभ उठाकर अपनी शक्ति का पुनरुद्धार किया। इस नई शक-शक्ति का संस्थापक चष्टन था। उसने दूसरी सदी ई० प० के प्रारम्भिक भाग मे (११० ई० प० के लगभग) अवन्ति मे अपने राज्य की स्थापना की। कच्छ मे अन्धो नामक स्थान पर चार ऐसे उत्कीर्ण लेख उपलब्ध हुए हैं, जिनमे चष्टन के साथ राजा शब्द का (राज्ञो चष्टनस) प्रयोग किया गया है। इससे सूचित होता है, कि चष्टन की स्थिति एक स्वतंत्र राजा की थी।

युइशि लोगों के आक्रमणों के कारण यद्यपि चष्टन अवन्ति में स्वतन्त्र शक-राज्य स्थापित करने में समर्थ हुआ था, पर इस राज्य की सत्ता देर तक कायम नहीं रह सकी। शीघ्र ही सातवाहन राजा ने उसे जीत लिया, और शकराज्य की स्वतन्त्र सत्ता नष्ट हो गयी। जिस वीर सातवाहन राजा ने चष्टन या उसके पुत्र जयदामन को जीतकर अपने वंश के गौरव की पुन: प्रतिष्ठा की थी, उसका नाम सम्भवत गौतमीपुत्र पुलोमावि तृतीय या गौतमीपुत्र विलिवायुकुर था। जायसवाल जी ने इसका शासन-काल ११६ से १४४ ई० प० तक माना है।

राजा रुद्रदामा—पर शीघ्र ही शकों मे एक ऐसे वीर पुरुष का प्रादुर्भाव हुआ, जिसने शको की शक्ति का पुनरुद्धार किया। इस वीर पुरुष का नाम रुद्रदामा था, जो चष्टन का पौत्र व जयदामन का पुत्र था। रुद्रदामा की एक प्रशस्ति गिरनार पर्वत के पास सुदर्शन झील के तट पर स्थित चट्टान पर उत्कीर्ण है, जिससे उसके इतिहास के सम्बन्ध में बहुत-सी महत्त्वपूर्ण बातें ज्ञात होती है। यह प्रशस्ति शुद्ध संस्कृत भाषा में है, और प्राचीन सस्कृत गद्य का उत्कृष्ट उदाहरण है। सुदर्शन झील का निर्माण मौर्य-युग में हुआ था। अत्यधिक वर्षा के कारण इस झील का बाँध टूट गया था, और रुद्रदामा ने उसकी मरम्मत करायी थी। इसी घटना की स्मृति मे रुद्रदामा ने यह प्रशस्ति उसी शिला पर उत्कीर्ण करायी थी, जिसपर अशोक के चतुर्दश शिलालेख उत्कीर्ण थे। इस प्रशस्ति के कुछ अश हम यहाँ उद्धृत करते है—"यह राजा महाक्षत्रप सुगृहीतनामा स्वामी चष्टन के पोते···महाक्षत्रप रुद्रदामा के बहत्तरवे (७० + २) वर्ष मे···समुचित राजलक्ष्मी के धारण के गुण के कारण सब वर्णो के द्वारा रक्षण के लिए स्वामी रूप मे वरण किये गये, युद्ध के अतिरिक्त मरते दम तक कभी पुरुष का वध न करने की अपनी प्रतिज्ञा को सत्य कर दिखाने वाले, ··अपने आप शरण मे आये झुके जनपद को आयु और शरण देनेवाले···अवन्ति अनूप नीवृत आनर्त्त सुराष्ट्र श्वभ्र मरु-कच्छ सिन्धु सौवीर कुकुर अपरान्त निषाद आदि सब प्रदेशो के स्वामी, सब क्षत्रियों मे प्रगट की हुई वीर पदवी के कारण अभिमानी बने हुए और किसी तरह वश में न आने वाले यौधेयो को बलपूर्वक उखाड फेंकने वाले, दक्षिणापथपति सातकर्णि को दो बार खुली लडाई मे जीतकर भी निकट सम्बन्ध के कारण न उखाडने से यश प्राप्त करने वाले·· अपने आप पाये महाक्षत्रप नाम वाले, राज-कन्याओ के स्वयवरों मे अनेक मालाएँ पाने वाले, महाक्षत्रप रुद्रदामा ने हजारों वर्षों के लिये·· पौर जानपद जन को कर विष्टि प्रणय आदि से पीडित किये बिना, अपने ही कोश से विपुल धन लगाकर थोडे ही काल मे तीन गुना दृढतर लम्बाई-चौडाई वाला सेतु बनवा कर सब ओर पहले से सुदर्शनतर कर दिया·· "

इस प्रशस्ति द्वारा अनेक महत्त्वपूर्ण बातें ज्ञात होती हैं। दक्षिणापथपति सातकर्णि और रुद्रदामा निकट सम्बन्धी थे। कान्हेरी गुहा के एक खंडित लेख में वासिष्ठीपुत्र श्रीसातकर्णि की देवी कार्दमक राजाओ के वश मे उत्पन्न महाक्षत्रप रु··· की पुत्री का नाम आया है। दुर्भाग्य से रु के आगे का लेख खण्डित है। पर रु का अभिप्राय रुद्रदामा से है, इसमे सन्देह की गुञ्जाइश नहीं है। इससे ज्ञात होता है, कि वासिष्ठीपुत्र श्री सातकर्णि रुद्रदामा का जामाता था, और इसी कारण युद्ध मे दो बार

परास्त करके भी शकराज ने सातवहन राजा का उच्छेद नही किया था। यह वासिष्ठी-पुत्र श्री सातकर्णि सम्भवतः गौतमीपुत्र पुलुमावि तृतीय का पुत्र था, जिसने अवन्ति से शकशासन का अन्त करने में सफलता प्राप्त की थी। विजेता राजा के साथ विजित राजा अपनी कन्या का विवाह प्राचीन समय मे किया करते थे, यह सैल्युकस की कन्या के चन्द्रगुप्त मौर्य के साथ विवाह होने की बात से स्पष्ट है। सम्भवत:, शको को परास्त कर सातवाहन-राजा गौतमीपुत्र पुलुमावि तृतीय ने उन्हे इस बात के लिए विवश किया था, कि अपनी एक राजकुमारी का विवाह अपने पुत्र वासिष्ठीपुत्र सातकर्णि के साथ कर दे। पर बाद में शकवीर रुद्रदामा ने अपनी शक्ति का उत्कर्ष किया, और अपने जामाता को दो बार युद्ध मे परास्त कर अपने साम्राज्य का विस्तार किया।

रुद्रदामा जिन प्रदेशो का अधिपति था, उनके नाम गिरनार की प्रशस्ति मे स्पष्ट रूप से दिये गये है। इनमे से बहुसख्यक प्रदेश पहले सातवाहन साम्राज्य के अन्तर्गत थे। अवन्ति अनूप आनर्त्त सौराष्ट्र मरु (मारवाड) कच्छ सिन्ध (सिन्धु) कुकुर और अपरान्त पहले सातवाहनो के अधीन थे, और अब रुद्रदामा ने उन्हे जीतकर अपने साम्राज्य के अन्तर्गत कर लिया था। रुद्रदामा ने यौधेय गण को जीतकर एक ऐसी वीर जाति की स्वतन्त्रता को नष्ट किया, जो देर से अपनी स्वतन्त्रता को कायम रखे हुए थी। इस गण का उल्लेख हम इस इतिहास मे पहले कर चुके है। इसमे सन्देह नही, कि रुद्रदामा एक महान् विजेता था, और उसकी विजयो के कारण सातवाहन-वश की शक्ति बहुत क्षीण हो गई थी।

एक ओर कुशाण विजेता कनिष्क के आक्रमणों से और दूसरी ओर रुद्रदामा के उत्कर्ष के कारण सातवाहन-साम्राज्य अब सर्वथा निर्बल पड गया था। पर वासिष्ठीपुत्र श्री सातकर्णि के बाद भी इस वंश के कुछ राजाओ की सत्ता कायम रही। सम्भवत:, वे स्थानीय राजाओं के स्थिति मे शासन करते रहे। पर सातवाहन वश के इन अन्तिम राजाओ का भारतीय इतिहास मे कोई महत्त्वपूर्ण स्थान नही है।

रुद्रदामा के बाद उसका शक-राज्य भी निर्बल हो गया। वस्तुत:, इस युग में भारत की राजशक्ति प्रधानतया कुशाण-सम्राट् कनिष्क के हाथो मे आ गई थी, और वही भारत मे अपना विशाल साम्राज्य स्थापित करने मे समर्थ हुआ था।

इक्कीसवाँ अध्याय

कुशाण साम्राज्य

(१) युइशि-जाति का भारत-प्रवेश

इस इतिहास मे हम अनेक बार युइशि-जाति का जिक्र कर चुके है। हूणों के आक्रमण के कारण युइशि लोग अपने प्राचीन अभिजन को छोडकर अन्यत्र जाने के लिए विवश हुए थे, और इसीलिए मध्य एशिया के क्षेत्र मे निवास करने वाली विविध जातियो मे एक प्रकार की उथल-पुथल मच गयी थी। युइशि-जाति का मूल अभिजन तिब्बत के उत्तर-पश्चिम मे तकला मकान की मरुभूमि के सीमान्त क्षेत्र मे था। उस समय हूण लोग उत्तरी चीन मे निवास करते थे। जब चीन के शक्तिशाली सम्राट् शी-हुआंग-ती (२४६–२१० ई० पू०) ने उत्तरी चीन मे विशाल दीवार बनवाकर हूणो के लिए अपने राज्य पर आक्रमण कर सकना असम्भव बना दिया, तो हूण लोग पश्चिम की ओर बढे, और उस प्रदेश पर टूट पडे, जहाँ युइशि-जाति का निवास था। युइशि लोगो के लिए यह सम्भव नही था, कि वे बर्बर और प्रचण्ड हूण आक्रान्ताओ का मुकाबला कर सकते। वे अपने अभिजन को छोडकर पश्चिम व दक्षिण की ओर जाने के लिए विवश हुए। उस समय सीर नदी की घाटी मे शक-जाति का निवास था। युइशि लोगो के आक्रमण के कारण वह अपने प्रदेश को छोड देने के लिए विवश हुई, और सीर नदी की घाटी पर युइशि-जाति का अधिकार हो गया। युइशियो से धकेले जाकर ही शको ने बैक्ट्रिया और पार्थिया पर आक्रमण किये और उनकी एक शाखा भारत मे भी प्रविष्ट हुई। शको द्वारा बैक्ट्रिया के यवन-राज्य का अन्त हुआ, और पार्थिया भी उनकी अधीनता मे आ जाता, यदि राजा मिथिदातस द्वितीय उनके आक्रमणो से अपने राज्य की रक्षा करने मे समर्थ न होता। पार्थिया को जीत सकने मे समर्थ न होने के कारण ही शको की एक शाखा सीस्तान होती हुई सिन्ध मे प्रविष्ट हुई थी।

युइशि-जाति का बैक्ट्रिया में प्रवेश—सीर नदी की घाटी से शको को निकालकर युइशि लोग वहाँ पर आबाद हो गये थे। पर वे वहाँ भी देर तक नही टिक सके। जिन हूणो के आक्रमण के कारण युइशि लोग अपने मूल अभिजन को छोडने के लिए विवश हुए थे, उन्होने उन्हे सीर नदी की घाटी मे भी चैन से नही रहने दिया। हूणो ने यहाँ भी उनका पीछा किया, जिससे कि वे शको के पीछे-पीछे बैक्ट्रिया मे प्रविष्ट हुए। बैक्ट्रिया और उसके समीपवर्ती प्रदेशो पर उन्होने कब्जा कर लिया, और वहाँ अपने पाँच राज्य कायम किये। एक चीनी ऐतिहासिक के अनुसार युइशि-जाति के इन राज्यों के नाम निम्नलिखित थे—हिउ-मी शुआंग-मी-कुएई-शुआंग, ही-तू और काओ-फू। पहली सदी ई० पू० से पूर्व ही युइशि लोग अपने ये पाँच राज्य स्थापित कर चुके

थे। इन राज्यों में परस्पर संघर्ष चलता रहता था। बैक्ट्रिया के यवन निवासियों के सम्पर्क मे आकर युइशि लोग सभ्यता के मार्ग पर भी अग्रसर होने लगे थे, और वे उस दशा से उन्नति कर गये थे, जिसमें कि वे तकलामकान की मरुभूमि के समीपवर्ती अपने मूल अभिजन मे रहा करते थे।

कुशाण—युइशि लोगों के पाँच राज्यो में अन्यतम का कुएई-शुआग था। २५ ई० पू० के लगभग इस राज्य का स्वामी कुशाण नाम का वीर पुरुष हुआ, जिसके शासन मे इस राज्य की बहुत उन्नति हुई। उसने धीरे-धीरे अन्य युइशि राज्यों को जीतकर अपने अधीन कर लिया। वह केवल युइशि राज्यों को जीतकर ही संतुष्ट नहीं हुआ, अपितु उसने समीप के पार्थियन और शक-राज्यो पर भी आक्रमण किये। अनेक ऐतिहासिको का मत है, कि कुशाण किसी व्यक्ति-विशेष का नाम नही था। यह नाम युइशि-जाति की उस शाखा का था, जिसने अन्य चारो युइशि-राज्यो को जीतकर अपने अधीन कर लिया था। जिस राजा ने पाँचो युइशि-राज्यो को मिलाकर अपनी शक्ति का उत्कर्ष किया, उसका अपना नाम कुजुल कसस या कुजुल कदफिसस था। पर्याप्त प्रमाण के अभाव मे यह निश्चित कर सकना कठिन है, कि जिस युइशि-वीर ने अपनी जाति के विविध राज्यो को जीतकर एक सूत्र मे सगठित किया, उसका वैयक्तिक नाम कुशाण था या कुजुल था। यह असंदिग्ध है, कि बाद के युइशि-राजा भी कुशाण-वंशी थे। राजा कुशाण के वशज होने के कारण वे कुशाण कहाए, या युइशि-जाति की कुशाण शाखा मे उत्पन्न होने के कारण—यह निश्चित न होने पर भी इसमे सन्देह नही कि ये राजा कुशाण कहाते थे और इन्ही के द्वारा स्थापित साम्राज्य को कुशाण-साम्राज्य कहा जाता है।

राजा कुजुल कुशाण ने किस प्रकार धीरे-धीरे अपनी शक्ति का विकास किया, यह बात उसके उन सिक्को द्वारा भली-भाँति प्रगट हो जाती है, जो काबुल व भारत के उत्तर-पश्चिमी कोने से अच्छी बडी सख्या मे उपलब्ध हुए है। उसके कुछ सिक्के ऐसे हैं, जिनके एक ओर 'हेरमय' अंकित है, और दूसरी ओर इस राजा का नाम। हेरमय या हरमाय्रोस यवन-राजा था, जो काबुल के प्रदेश पर शासन करता था। एक ही सिक्के पर यवन-राजा हेरमय और कुजुल कुशाण दोनो का नाम होने से ऐतिहासिकों ने यह परिणाम निकाला है, कि प्रारम्भ मे युइशि-आक्रान्ताओ ने काबुल के प्रदेश से यवन-राजवंश का अन्त नही किया था, वे केवल उनसे अधीनता स्वीकृत कराके ही संतुष्ट हो गये थे। कुशाण राज्य के काबुल के प्रदेश से इस प्रकार के भी सिक्के मिले है, जिनपर केवल कुजुल का नाम है, यवनराज हेरमय का नही। इससे सूचित होता है, कि बाद मे इस प्रदेश से यवन-शासन का अन्त हो गया था।

इसी समय पार्थियन लोग भी उत्तर-पश्चिमी भारत मे अपनी शक्ति का विस्तार कर रहे थे, और पूर्वी तथा पश्चिमी गान्धार मे उन्होने अपना शासन स्थापित कर लिया था। इस प्रदेश का पार्थियन राजा गुदफर था, पर उसके उत्तराधिकारी पार्थियन राजा अधिक शक्तिशाली नही थे। उनकी निर्बलता से लाभ उठाकर राजा कुशाण ने पार्थियन लोगो के भारतीय राज्य पर आक्रमण कर दिया, और उसके अनेक प्रदेशो को जीतकर अपने अधीन कर लिया। यद्यपि कुछ निर्बल पार्थियन राजा गुदफर के बाद

भी पश्चिमी पंजाब के कतिपय प्रदेशो पर शासन करते रहे, पर इस समय उत्तर-पश्चिमी भारत की राजशक्ति कुशाणो के हाथ मे चली गयी थी।

राजा कुजुल कुशाण के शुरू के सिक्के जो काबुल के प्रदेश मे मिले हैं, उनमें उसके नाम के साथ न राजा विशेषण है, और न कोई ऐसा विशेषण जो उसकी प्रबल शक्ति का सूचक हो। पर बाद के जो सिक्के तक्षशिला मे मिले हैं, उनमे उसका नाम इस प्रकार से अंकित है—"महरजस रजतिरजस खुषणस यवुगस" और "महरयस रयरयस देवपुत्रस कयुल कर कफस" आदि। इन सिक्को के अनुशीलन से इस बात में कोई सन्देह नही रह जाता, कि काबुल, कान्धार, उत्तर-पश्चिमी पंजाब आदि को पार्थियन राजाओ से जीत लेने पर कुशाण राजा की स्थिति बहुत ऊँची हो गयी थी, और वह महाराज, राजाधिराज आदि उपाधियो से विभूषित हो गया था। उसके नाम के साथ देवपुत्र विशेषण से यह भी सूचित होता है, कि भारत के सम्पर्क मे आकर उसने बौद्ध-धर्म को स्वीकृत कर लिया था। उसके कुछ सिक्को पर उसके नाम के साथ ध्रमथिद विशेषण भी प्रयुक्त हुआ है, जो धर्मस्थित का अपभ्रंश है।

कुजुल कुशाण ने सुदीर्घ समय तक राज्य किया। उसकी मृत्यु अस्सी साल की आयु मे हुई थी। इसीलिए वह अपने शासन-काल मे एक छोटे-से राजा से उन्नति करता हुआ एक विशाल साम्राज्य का स्वामी हो सका था। इस राजा के शासन के समय के सम्बन्ध मे भी ऐतिहासिको मे अनेक मत है। स्थूल रूप से यह स्वीकार करना उचित होगा, कि कुजुल कुशाण का शासन-काल पहली सदी ई० पू० के चतुर्थ चरण (२५ ई० पू० के लगभग) मे शुरू हुआ और पहली सदी ई० प० के द्वितीय चरण (३५ ई० प० लगभग) मे उसका अन्त हुआ।

राजा विम कथफिश—युइशि राजा कुजुल कुशाण का उत्तराधिकारी उसका पुत्र विम कथफिश था। इसके भी बहुत-से सिक्के अफगानिस्तान, उत्तर-पश्चिमी सीमा-प्रान्त और पजाब से उपलब्ध हुए है, और इनसे इसके राज्य के विस्तार को जानने मे सहायता मिलती है। इन सिक्को पर जो लेख अंकित है, वे प्राय इस ढग के है—"महरजस रजदिरजस सर्व लोग ईश्वरस महिश्वरस विम कथफिशस भरतस।" इस राजा के अनेक सिक्के इस प्रकार के है, जिन पर राजा का पूरा नाम न देकर केवल 'वि' अंकित है, जो स्पष्टतया विम को सूचित करता है, और 'वि' अक्षर से पहले महरजस रजदिरजस आदि विशेषण प्राकृत या ग्रीक भाषा मे दिये हुए है। चीन की ऐतिहासिक अनुश्रुति के अनुसार इस राजा ने भारत को फिर से विजय किया था, और इसके समय मे युइशियो की शक्ति बहुत बढ गयी थी। इसने भारत के अनेक राज्यो को जीतकर उनका शासन करने के लिए अपने प्रतिनिधि नियत किये थे। इसमे सदेह नही, कि गान्धार से आगे बढकर पजाब और भारत के अन्य पश्चिमी प्रदेशो की विजय राजा विम द्वारा ही की गयी थी, और उसकी विजयो से युइशि लोगो का शासन भारत मे भली-भाँति स्थापित हो गया था। चीनी अनुश्रुति का यह कथन बहुत महत्त्वपूर्ण है, कि राजा विम ने भारत के राजाओ को मारकर शासन के लिए अपने प्रतिनिधि नियुक्त किये थे। राजा कुजुल कुशाण के समय मे उत्तर-पश्चिमी भारत और पजाब मे जो बहुत-से छोटे-छोटे राज्य थे, और जिनके शासक यवन, शक और

पार्थियन जातियों के थे, विम ने उनका मूलोच्छेद किया, और उनके स्थान पर अपनी ओर से शासक नियुक्त किये, यही इस अनुश्रुति का अभिप्राय है।

राजा विम केवल पंजाब तक ही अपनी शक्ति का विस्तार करके संतुष्ट नहीं हुआ, वह पंजाब से मथुरा की दिशा मे और आगे उन प्रदेशों की ओर भी बढ़ा जो आजकल उत्तर-प्रदेश के अन्तर्गत हैं। उसके सिक्के वाराणसी तक उपलब्ध हुए हैं। मथुरा मे एक मूर्ति मिली है, जिसके नीचे यह लेख है—"महाराजो राजाधिराजो देवपुत्रो कुशाणपुत्रो वेम···" मथुरा में राजा विम की मूर्ति प्राप्त होने से यह अनुमान किया गया है, कि यह प्रदेश भी उसके राज्य मे सम्मिलित था।

ऐसा प्रतीत होता है, कि राजा विम ने भारत के सम्पर्क मे आकर यहाँ के अन्यतम धर्म शैवधर्म को स्वीकार कर लिया था। उसके कुछ सिक्को पर शिव तथा नन्दी की मूर्ति और त्रिशूल अंकित हैं। ऐसे भी सिक्के मिले है, जिनमे विम के साथ महिश्वरम भी अंकित है, जो उसके शैव-धर्मानुयायी होने का प्रमाण है।

मथुरा मे विम की जो मूर्ति मिली है, उसकी वेश-भूषा भी ध्यान देने योग्य है। इस मूर्ति का परिधान लम्बा चोगा, कमरबन्द, घुटनो तक के जूते और उनमें टंका हुआ पायजामा तथा सिर पर नुकीली टोपी है। युइशि लोगों का शायद यही परिधान होता था। विम का शासन-काल ३५ से ६५ ई० प० के लगभग तक था।

कुशाण राज्य की पराजय—राजा विम ने पंजाब और उत्तर-प्रदेश के जिन प्रदेशों को जीतकर अपने अधीन किया था, उनपर उसका शासन देर तक स्थिर नही रह सका। भारत की प्रधान राजशक्ति इस समय सातवाहन-राजाओ की थी, जो मगध पर भी अपना आधिपत्य स्थापित कर चुके थे। विम का समकालीन सातवाहन राजा कुन्तल सातकर्णि था, जो विक्रमादित्य द्वितीय के नाम से प्रसिद्ध है। कुशाण राजा के भारत के मध्यदेश मे प्रविष्ट होने की बात को यह सातवाहन राजा सहन नही कर सका। उसने विदेशी युइशि-आक्रान्ताओ से भारत की रक्षा करने के लिए उनपर चढाई की, और उन्हे परास्त कर शकारि की पदवी धारण की। सातवाहन राजा गौतमीपुत्र सातकर्णि के बाद कुन्तल सातकर्णि दूसरा 'शकारि' और दूसरा 'विक्रमादित्य' हुआ। प्राचीन भारतीय साहित्य की इस अनुश्रुति की पुष्टि पंजाब की उन दन्तकथाओ द्वारा भी होती है, जो अब तक वहाँ प्रचलित हैं, और जिनका संग्रह कैप्टिन आर० सी० टैम्पल ने 'द लीजेन्ड्स आफ पंजाब' नामक पुस्तक मे किया है। इन दन्तकथाओ के अनुसार राजा सातवाहन ने सिरकप नाम के प्रजापीडक राजा पर आक्रमण करके पंजाब मे उसे परास्त किया था। सिरकप सम्भवत. श्रीकपस या श्रीकथफिश का ही अपभ्रंश है।

(२) सम्राट् कनिष्क

विम के बाद कुशाण साम्राज्य का अधिपति कौन बना, इस सम्बन्ध मे ऐतिहासिको मे बहुत मतभेद है। वैसे तो सभी कुशाण राजाओं के तिथिक्रम का विषय विवादग्रस्त है, और अनेक ऐतिहासिक राजा कुजुल और विम तक को कनिष्क का पूर्ववर्ती न मानकर परवर्ती मानते हैं, पर अब बहुसंख्यक ऐतिहासिको का यही मत है,

कनिष्क ने कुजुल और विम के बाद ही शासन किया, पहले नहीं। विम और कनिष्क के बीच में किसी अन्य कुशाण राजा ने भी शासन किया या नहीं, यह बात भी विवाद-ग्रस्त है। पर यदि इन दो के बीच मे कोई अन्य राजा रहा हो, तो उसके इतिहास की कोई घटना इस समय तक ज्ञात नही हुई है। विम के राज्य-काल का अन्त ६५ ईस्वी के लगभग हुआ था, और कनिष्क ७८ ईस्वी के लगभग कुशाण-राज्य का स्वामी बना। इस बीच के कुशाण-इतिहास को अज्ञात ही समझना चाहिये।

कनिष्क का इतिहास जानने के लिए ऐतिहासिक सामग्री की कमी नही है। उसके बहुत-से सिक्के उपलब्ध हैं, और ऐसे अनेक उत्कीर्ण लेख भी मिले हैं जिनका कनिष्क के साथ सम्बन्ध है। इसके अतिरिक्त बौद्ध अनुश्रुति में भी कनिष्क को बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। बौद्ध-धर्म मे उसका स्थान अशोक से कुछ ही कम है। जिस प्रकार अशोक के संरक्षण मे बौद्ध-धर्म की बहुत उन्नति हुई, वैसे ही कनिष्क के समय मे भी हुई। सिक्के, उत्कीर्ण लेख और बौद्ध-साहित्य के आधार पर कनिष्क के विषय में जो बातें ज्ञात होती है, अब हम उनका संक्षेप के साथ उल्लेख करेंगे।

राज्य-विस्तार—कनिष्क ने कुशाण-वंश की शक्ति का पुनरुद्धार किया। सातवाहन-राजा कुन्तल सातकर्णि (विक्रमादित्य द्वितीय) के प्रयत्न से कुशाणो की शक्ति क्षीण हो गयी थी, अब कनिष्क के नेतृत्व मे कुशाण-राज्य का पुनः उत्कर्ष हुआ। उसने उत्तर-दक्षिण-पूर्व-पश्चिम चारो दिशाओ मे अपने राज्य का विस्तार किया। सातवाहनो को परास्त कर उसने न केवल पजाब पर अपना आधिपत्य कायम किया, अपितु भारत के मध्यदेश को जीतकर मगध से भी सातवाहन-वंश के शासन का अन्त किया। कुमारलात नामक एक बौद्ध-पण्डित ने 'कल्पना-मडीतिका' नाम की एक पुस्तक लिखी थी, जिसका चीनी अनुवाद इस समय भी उपलब्ध है। इस पुस्तक मे कनिष्क द्वारा की गयी पूर्वी भारत की विजय का उल्लेख है। 'श्रीधर्मपिटक निदान सूत्र' नामक एक अन्य बौद्ध-ग्रन्थ में (इसका भी अब केवल चीनी अनुवाद ही प्राप्त होता है) लिखा है, कि कनिष्क ने पाटलिपुत्र को जीतकर उसे अपने अधीन किया और वहाँ से प्रसिद्ध बौद्ध-विद्वान् अश्वघोष और भगवान् बुद्ध के कमण्डलु को प्राप्त किया। तिब्बत की बौद्ध-अनुश्रुति मे भी कनिष्क के साकेत (अयोध्या) विजय का उल्लेख है। इस प्रकार साहित्यिक आधार पर यह बात ज्ञात होती है कि कनिष्क एक महान् विजेता था, और उसने उत्तरी भारत के बड़े भाग को जीतकर अपने अधीन कर लिया था। सातवाहन वंश का शासन जो पाटलिपुत्र से उठ गया, वह कनिष्क की विजयो का ही परिणाम था।

बौद्ध-अनुश्रुति की यह बात कनिष्क के सिक्को और उत्कीर्ण लेखो द्वारा भी पुष्ट होती है। कनिष्क के सिक्के उत्तरी भारत मे दूर-दूर तक उपलब्ध हुए है। पूर्व मे राची तक से उसके सिक्के मिले हैं। इसी प्रकार उसके लेख पश्चिम में पेशावर से लेकर पूर्व मे मथुरा और सारनाथ तक प्राप्त हुए है। उसके राज्य के विस्तार के विषय मे ये पुष्ट प्रमाण हैं। सारनाथ मे कनिष्क का जो शिलालेख मिला है, उसमे महाक्षत्रप खरपल्लान और क्षत्रप वनस्पर के नाम आये हैं। पुराणो मे सातवाहन या आन्ध्रवंश के बाद मगध का शासक वनस्पर को ही लिखा गया है। यह वनस्पर कनिष्क

द्वारा नियुक्त मगध का क्षत्रप था। महाक्षत्रप खरपल्लान की नियुक्ति मथुरा के प्रदेश पर शासन करने के लिए की गयी थी।

उत्तरी भारत की यह विजय कनिष्क केवल अपनी शक्ति द्वारा नही कर सका था। तिब्बती अनुश्रुति के अनुसार खोतन के राजा विजयसिंह के पुत्र विजयकीर्ति ने 'गुजान' राजा तथा राजा 'कनिक' के साथ मिलकर भारत पर आक्रमण किया था, और सोकेत (साकेत) नगर जीत लिया था। 'गुजान' का अभिप्राय कुशाण से है, और कनिक का कनिष्क से। सातवाहन वंश की शक्ति को नष्ट करने के लिए कनिष्क को सुदूरवर्ती खोतन-राज्य के राजा से भी सहायता लेनी पडी थी। यह बात सातवाहन-साम्राज्य की शक्ति को सूचित करती है।

नया पुष्पपुर—पाटलिपुत्र को जीतकर कनिष्क ने अपने अधीन कर लिया था। अपने प्राचीन गौरव के कारण इसी नगरी को कनिष्क के साम्राज्य की राजधानी होना चाहिये था। पर कनिष्क का साम्राज्य बहुत विस्तृत था। उसकी उत्तरी सीमा चीन के साथ छूती थी। भारत के क्षेत्र से बाहर कनिष्क ने जिन प्रदेशो को विजय किया था, उनपर हम अभी प्रकाश डालेंगे। चीन की सीमा तक विस्तृत विशाल कुशाण-साम्राज्य के लिए पाटलिपुत्र नगरी उपयुक्त राजधानी नहीं हो सकती थी। अतः कनिष्क ने एक नये कुसुमपुर (पाटलिपुत्र) की स्थापना की, और उसे पुष्पपुर नाम दिया। यही आजकल का पेशावर है।

पुष्पपुर मे कनिष्क ने बहुत-सी नयी इमारते बनवाई। इनमे प्रमुख एक स्तूप था, जो चार सौ फीट ऊँचा था। इसमे तेरह मंजिले थी। जब प्रसिद्ध चीनी यात्री ह्यू-एन-त्सांग महाराज हर्षवर्धन के शासन-काल (सातवी सदी) मे भारत-भ्रमण करने के लिए आया था, तो कनिष्क द्वारा निर्मित इस विशाल स्तूप को देखकर आश्चर्य-चकित रह गया था। कुसुमपुर (पाटलिपुत्र) के मुकाबले मे कनिष्क ने पुष्पपुर को विद्या, धर्म और संस्कृति का केन्द्र बनाया। इसमे सन्देह नही कि कुछ समय के लिए पुष्पपुर के सम्मुख प्राचीन कुसुमपुर का वैभव मन्द पड गया था।

चीन से संघर्ष—कनिष्क केवल उत्तरी भारत की विजय से ही सन्तुष्ट नही हुआ उसने मध्य एशिया के क्षेत्र मे भी अपनी शक्ति के विस्तार का प्रयत्न किया। मध्य एशिया के खोतन राज्य का जिक्र हमने अभी किया था। इसी की सहायता से कनिष्क उत्तरी भारत की विजय कर सका था। इस युग में चीन के सम्राट् इस बात के लिए प्रयत्नशील थे, कि अपने साम्राज्य का विस्तार करे। चीन के सुप्रसिद्ध सेनापति पान-चाऊ ने ७३ ईस्वी के लगभग साम्राज्य-विस्तार के लिए दिग्विजय प्रारम्भ की, और मध्य एशिया पर अपना अधिकार कर लिया। पान-चाऊ की विजयो के कारण चीनी साम्राज्य की पश्चिमी सीमा कैस्पियन सागर तक जा पहुची। इस दशा में यह स्वाभाविक था, कि कनिष्क का कुशाण-राज्य भी चीन के निकट सम्पर्क में आये। पान-चाऊ की इच्छा थी, कि कनिष्क के साथ मैत्री का सम्बन्ध स्थापित करे। इसलिए उसने विविध बहुमूल्य उपहारो के साथ अपने राजदूत कुशाण राजा के पास भेजे। कनिष्क ने इन दूतो का यथोचित स्वागत किया, पर चीन के साथ अपनी मैत्री को स्थिर रखने के लिए यह इच्छा प्रगट की, कि चीनी सम्राट् अपनी कन्या का विवाह

उसके साथ कर दे। कुशाणराज की इस माँग को पान-चाऊ ने अपने सम्राट् के सम्मान के विरुद्ध समझा। परिणाम यह हुआ कि दोनों पक्षों में युद्ध प्रारम्भ हो गया और कनिष्क ने एक बड़ी सेना पान-चाऊ के विरुद्ध लड़ाई के लिए भेजी। पर इस युद्ध में युइशि-सेना की पराजय हुई।

पर कनिष्क इस पराजय से निराश नहीं हुआ। चीनी सेनापति पान-चाऊ की मृत्यु के बाद कनिष्क ने अपनी पहली पराज्य का प्रतिशोध करने के लिए एक बार फिर चीन पर आक्रमण किया। इस बार वह सफल हुआ, और मध्य एशिया के अनेक प्रदेशों पर उसका आधिपत्य स्थापित हो गया। खोतन और यारकन्द के प्रदेश इसी युद्ध मे विजय होने के कारण कुशाणो के साम्राज्य मे सम्मिलित हुए।

धर्म—कनिष्क के बहुत-से सिक्के वर्त्तमान समय मे उपलब्ध होते हैं। इन पर यवन (ग्रीक), जरथुस्त्री (ईरानी) और भारतीय सभी तरह के देवी-देवताओं की प्रतिमाएँ अंकित है। ईरान के अग्नि (आतश), चन्द्र (माह) और सूर्य (मिहिर), ग्रीक देवता हेलिय, प्राचीन एलम की देवी नाना, भारत के शिव स्कन्द वायु और बुद्ध—ये सब देवता उसके सिक्को पर नाम या चित्र द्वारा विद्यमान है। इससे यह सूचित होता है, कि कनिष्क सब धर्मों का सम्मान करता था, और सबके देवी-देवताओ को आदर की दृष्टि मे देखता था। इसका यह कारण भी हो सकता है, कि कनिष्क के विशाल साम्राज्य मे विविध धर्मो के अनुयायी विभिन्न लोगो का निवास था, और उसने अपनी प्रजा को सन्तुष्ट करने के लिए सब धर्मों के देवताओ को अपने सिक्कों पर अंकित कराया था।

पर इस बात मे कोई सन्देह नही कि कनिष्क बौद्ध-धर्म का अनुयायी था, और बौद्ध इतिहास मे उसका नाम अशोक के समान ही महत्त्व रखता है। आचार्य अश्वघोष ने उसे बौद्ध-धर्म मे दीक्षित किया था। इस आचार्य को वह पाटलिपुत्र से अपने साथ लाया था, और इसी से उसने बौद्ध-धर्म की दीक्षा ली थी।

बौद्धो की चौथी सगीति—कनिष्क की सरक्षा मे बौद्ध-धर्म की चौथी सगीति (महासभा) उसके शासन-काल मे हुई। कनिष्क ने जब बौद्ध-धर्म का अध्ययन शुरू किया, तो उसने अनुभव किया कि उसके विविध सम्प्रदायो मे बहुत मतभेद है। धर्म के सिद्धान्तो के स्पष्टीकरण के लिए यह आवश्यक है, कि प्रमुख विद्वान् एक स्थान पर एकत्र हो, और सत्य सिद्धान्तो का निर्णय करे। इसलिए कनिष्क ने काश्मीर के कुण्डल-वनविहार मे एक महासभा का आयोजन किया, जिसमे ५०० प्रसिद्ध बौद्ध-विद्वान् सम्मिलित हुए। अश्वघोष के गुरु आचार्य वसुमित्र और पार्श्व इनमे प्रधान थे। वसुमित्र को महासभा का अध्यक्ष नियत किया गया। महासभा मे एकत्र विद्वानो ने बौद्ध-धर्म के सिद्धान्तो को स्पष्ट करने और विविध सम्प्रदायो के विरोध को दूर करने के लिए 'महाविभाषा' नाम का एक विशाल ग्रन्थ तैयार किया। यह ग्रन्थ बौद्ध-त्रिपिटक के भाष्य के रूप मे था। यह ग्रन्थ संस्कृत-भाषा मे था और इसे ताम्रपत्रों पर उत्कीर्ण कराया गया था। ये ताम्रपत्र एक विशाल स्तूप मे सुरक्षित रूप से रख दिए गए थे। यह स्तूप कहाँ था, यह अभी तक ज्ञात नही हो सका है। यदि कभी इस स्तूप का पता चल सका, और इसमे सुरक्षित ताम्रपत्र उपलब्ध हो गए, तो निःसन्देह कनिष्क के

बौद्ध-धर्म-सम्बन्धी कार्य पर उनसे बहुत अधिक प्रकाश पड़ेगा। 'महाविभाषा' का चीनी संस्करण इस समय उपलब्ध है।

समकालीन विद्वान्—कनिष्क के संरक्षण में न केवल बौद्ध-धर्म की उन्नति हुई, अपितु अनेक प्रसिद्ध विद्वानों ने भी उसके राजदरबार में आश्रय ग्रहण किया। वसुमित्र, पार्श्व और अश्वघोष के अतिरिक्त प्रसिद्ध बौद्ध-विद्वान् नागार्जुन भी उसका समकालीन था। नागार्जुन बौद्ध-धर्म का प्रसिद्ध दार्शनिक हुआ है, और महायान-सम्प्रदाय का प्रवर्तक उसी को माना जाता है। उसे भी कनिष्क का संरक्षण प्राप्त था। आयुर्वेद का प्रसिद्ध आचार्य चरक भी उसके आश्रय में पुष्पपुर में निवास करता था।

कनिष्क ने १०० ईस्वी के लगभग तक शासन किया।

(३) कनिष्क के उत्तराधिकारी

राजा वासिष्क—कनिष्क के बाद विशाल कुशाण-साम्राज्य का स्वामी वासिष्क बना। उसका शासन काल १०० ईस्वी से १०८ ईस्वी के लगभग तक था। इस राजा का कोई सिक्का अब तक उपलब्ध नही हुआ है, पर उसके साथ सम्बन्ध रखने वाले कतिपय उत्कीर्ण लेख प्राप्त हुए हैं, जिनसे उसके इतिहास के सम्बन्ध मे अनेक महत्त्व-पूर्ण बाते ज्ञात होती है। वासिष्क के शासन-काल मे कनिष्क द्वारा स्थापित कुशाण-साम्राज्य अक्षुण्ण दशा मे रहा, और उसमे कोई क्षीणता नही आई। सम्भवतः, वासिष्क ने कुशाण-साम्राज्य को और भी अधिक विस्तृत किया, क्योकि साँची मे प्राप्त एक लेख से सूचित होता है, कि विदिशा भी 'राजतिराज देवपुत्र शाहि वासष्क' की अधीनता में था। इस समय मे दो राजशक्तियाँ प्रधान थी। उत्तरापथ कुशाणो के अधीन था, और दक्षिणापथ पर सातवाहन-वश का शासन था। पहले विदिशा सातवाहनो के अधीन थी, पर वासिष्क के समय मे उस पर भी कुशाण-वश का आधिपत्य स्थापित हो गया था।

कनिष्क द्वितीय—वासिष्क के बाद कनिष्क नाम का एक व्यक्ति कुशाण-साम्राज्य का अधिपति बना, यह बात पेशावर जिले मे अटक से दस मील दक्षिण सिन्ध के तट पर आरा नाम के स्थान से प्राप्त एक लेख से सूचित होती है। इस लेख मे 'महाराज राजाधिराज देवपुत्र कइसर वाझेष्कपुत्र कनिष्क' के शासनकाल मे दशव्हर नामक व्यक्ति द्वारा एक कुआँ खुदवाने की बात लिखी गयी है। इस लेख मे कनिष्क को वाझेष्कपुत्र लिखा गया है। इससे ऐतिहासिको ने यह परिणाम निकाला है, कि कनिष्क नाम के एक अन्य राजा ने वासिष्क के बाद शासन किया था, और यह वाझेष्कपुत्र कनिष्क प्रथम से भिन्न था। पर अनेक ऐतिहासिक इससे सहमत नहीं है। उनकी सम्मति में कनिष्क नाम का केवल एक राजा हुआ था, और इसीलिए वे वासिष्क का समय कनिष्क से पहले रखते हैं। पर कुशाण-राजाओं के सिक्को पर दिए गए संवतो को दृष्टि मे रखते हुए इस मत को स्वीकृत करना सम्भव प्रतीत नही होता। आजकल बहुसख्यक ऐतिहासिक दो कनिष्को की सत्ता स्वीकृत करते है और यह मानते हैं कि कनिष्क द्वितीय ने वासिष्क के बाद १०८ से १२० ईस्वी तक शासन किया।

कनिष्क द्वितीय के समय के जिस लेख का हमने ऊपर उल्लेख किया है, उसमे यह बात ध्यान देने योग्य है, कि कनिष्क के नाम के साथ अन्य विशेषणो के अतिरिक्त

'कइसर' का भी प्रयोग किया गया है। कइसर, कैसर या सीजर प्राचीन रोमन-सम्राटों की उपाधि थी। इस युग में भारत का रोमन-साम्राज्य के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध था, इसीलिए भारत के उत्तरापथपति ने अन्य उपाधियों के साथ इसे भी ग्रहण किया था। इस समय भारत और रोम में व्यापार-सम्बन्ध भी विद्यमान था, और इसी कारण पहली सदी ईस्वी के बहुत-से रोमन सिक्के दक्षिणी भारत मे उपलब्ध हुए हैं। कुशाण-राजाओं के सिक्कों की बनावट और तोल रोमन सिक्कों से बहुत सादृश्य रखते हैं।

हुविष्क—कनिष्क द्वितीय के बाद हुविष्क कुशाण-साम्राज्य का स्वामी बना। उसके भी बहुत-से सिक्के भारत तथा अफगानिस्तान मे उपलब्ध हुए हैं। अत्यन्त विस्तृत क्षेत्र मे हुविष्क के सिक्कों की प्राप्ति से यह अनुमान किया जाता है, कि उसके समय में भी कुशाण-साम्राज्य अविकल रूप मे कायम रहा। यह आश्चर्य की बात है कि अब तक हुविष्क का कोई ऐसा सिक्का नही मिलता, जिसपर भगवान् बुद्ध की प्रतिमा या नाम अंकित हो। हुविष्क के सिक्कों पर जहाँ उसकी अपनी सुन्दर प्रतिमा अंकित है, वहाँ साथ ही स्कन्द, विशाख आदि पौराणिक देवताओ के चित्र भी विद्यमान हैं।

हुविष्क के समय का एक लेख काबुल से तीस मील पश्चिम मे खवत नामक स्थान पर एक स्तूप की खुदाई मे उपलब्ध हुआ है, जिसे कमगुल्मपुत्र वमग्ररेग नामक व्यक्ति ने भगवान् शाक्य मुनि के शरीर की प्रतिष्ठा के उपलक्ष मे लिखवाया था। काबुल के पश्चिम मे बौद्ध-धर्म की सत्ता और प्राकृत भाषा के प्रचलन का यह ज्वलन्त प्रमाण है। इसी युग के बहुत-से लेख खोतन देश से प्राप्त हुए है, जो कीलमुद्राओं (विशेष प्रकार की लकडी की तख्तियो) पर लिखे गए है। ये लेख प्राकृत भाषा में हैं, और खरोष्ठी लिपि मे लिखित हैं।

हुविष्क ने काश्मीर में अपने नाम से एक नगर (हुविष्कपुर) भी बसाया था, जिसके अवशेष बारामूला के दर्रे के समीप उस्कूल गाँव मे अब भी विद्यमान हैं।

हुविष्क ने १२० से १४५ ईस्वी के लगभग तक शासन किया।

वासुदेव—हुविष्क के बाद वासुदेव कुशाण-साम्राज्य का स्वामी बना। उसके सिक्को पर शिव और नदी की प्रतिमाएँ अकित हैं। यवनो आदि के विदेशी देवताओं से अकित उसके कोई सिक्के उपलब्ध नही हुए। इससे सूचित होता है, कि उसने प्राचीन हिन्दू धर्म को पूर्ण रूप से अपना लिया था। उसका वासुदेव नाम भी इसी बात का निर्देश करता है।

ऐसा प्रतीत होता है, कि राजा वासुदेव के शासन-काल मे कुशाण-साम्राज्य की शक्ति क्षीण होनी शुरू हो गयी थी। उत्तरापथ मे इस समय अनेक ऐसी राजशक्तियो का प्रादुर्भाव हुआ, जिन्होने कुशाणो के गौरव का अन्त कर अपनी शक्ति का विकास किया था। इनके सम्बन्ध मे हम अगले अध्याय मे प्रकाश डालेंगे।

इस प्रसग मे यह भी लिख देना उचित है, कि हुविष्क के शासन-काल में ही दक्षिणापथ मे शको ने एक बार फिर अपना उत्कर्ष किया था। रुद्रदामा के नेतृत्व में शक-लोग किस प्रकार एक बार फिर दक्षिणापथ की प्रधान राजशक्ति बन गए, यह हम पहले लिख चुके हैं।

बाईसवाँ अध्याय

भारशिव और वाकाटक वंश

(१) विदेशी शासन और उसके विरुद्ध संघर्ष

विदेशी आक्रान्ता—मौर्य वंश की शक्ति के क्षीण होने पर सम्राट् अशोक के बाद विदेशी जातियों के भारत पर आक्रमण हुए। ये आक्रमण दूसरी सदी ई० पू० के प्रारम्भ में शुरू हुए थे, और दूसरी सदी ईस्वी तक जारी रहे। यद्यपि इस काल में भारत का बड़ा भाग विदेशी आक्रमणों से आक्रान्त नहीं हुआ, दक्षिणी भारत के अतिरिक्त पूर्वी भारत भी इन विदेशियों के शासन मे नहीं आया, पर यह स्वीकार करना होगा कि इस युग में भारत मे कोई ऐसी प्रबल राजशक्ति नहीं रह गयी थी, जो विदेशियों का स्थिरतापूर्वक मुकाबला कर सकती। कलिंगराज खारवेल और पुष्यमित्र शुंग ने कुछ समय के लिए यवनों की बाढ को रोकने मे सफलता प्राप्त की, सातवाहनवंशी सम्राट् भी कुछ समय तक शकों को परास्त करने मे समर्थ रहे, पर इस युग मे भारत मे कोई शक्तिशाली केन्द्रीय शासन नहीं रह गया था।

गणराज्यों की स्वतन्त्रता— विदेशियो के आक्रमण और मगध की शक्ति की क्षीणता का एक महत्त्वपूर्ण परिणाम यह हुआ, कि वाहीक देश के गणराज्य फिर से स्वतन्त्र हो गए। केवल वाहीक देश (पंजाब) मे ही नहीं, अपितु अन्यत्र भी अनेक गण-राज्यो ने फिर से स्वतन्त्रता स्थापित की। मौर्य-युग मे ये गणराज्य मगध की अधीनता मे आ गए थे, पर इनकी आन्तरिक स्वतन्त्रता कायम रही थी। अत. इनमें अपनी पृथक् सत्ता और स्वतन्त्रता की अनुभूति नष्ट नहीं हुई थी। यही कारण है, कि ज्यों ही मगध की राजशक्ति कमजोर हुई, बहुत-से गणराज्यों ने अपने को स्वतन्त्र कर लिया। यवनों के आक्रमणो के शुरू होने पर (दूसरी सदी ई० पू० के लगभग) जो गणराज्य स्वतन्त्र हुए, उनमे यौधेय, आर्जुनायन, मालव, कुणिन्द और मद्र के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। ये सब राज्य भारत के मध्यदेश के पश्चिम मे पंजाब-हरयाणा मे स्थित थे। यवनो ने उत्तर-पश्चिमी भारत मे अपने अनेक राज्य स्थापित कर लिए थे, पर मध्यदेश और पूर्वी भारत पर वे जो स्थिरता के साथ अपना शासन कायम नहीं कर सके, उसका मुख्य कारण यही था, कि यवन और शक राज्यो के पूर्व में इन गणराज्यों की सत्ता थी और इन्हे अपनी स्वतन्त्रता बहुत प्रिय थी। विदेशियो के विरुद्ध अपनी स्वतन्त्रता कायम रखने मे इन्हें सफलता हुई, और भारत के बड़े भाग की स्वतन्त्रता की रक्षा के लिए इन्होंने एक मजबूत दीवार का काम किया।

मालव गण की जय—शकों का उच्छेद करने के लिए सातवाहनवंशी राजा गौतमीपुत्र सातकर्णि (लगभग ७६ ई० पू० से ४४ ई० पू० के लगभग तक) ने बहुत

महत्त्वपूर्ण कार्य किया था। इसीलिये वह 'शकारि' और 'विक्रमादित्य' कहाया। पर शको का उच्छेद करने में गणराज्यो का भी बहुत हाथ था। विशेषतया, मालव गण ने इसमे बहुत कर्तृत्व प्रदर्शित किया। सिकन्दर के आक्रमण के समय इस गण की स्थिति मध्य पजाब मे थी। पर दूसरी सदी ई० पू० मे मालव लोग अपने मूल अभिजन का त्याग कर चम्बल नदी की उत्तरी घाटी मे जा बसे थे। उन्हे स्वतन्त्रता से बहुत प्रेम था, इसीलिये उन्होंने अपना मूल प्रदेश छोड़कर नये प्रदेश मे प्रवास किया था। शको की शक्ति के बढ़ने पर मालवो के साथ भी उनका संघर्ष हुआ, और इस संघर्ष मे मालवगण को सफलता हुई। इसी विजय के उपलक्ष में मालव गण ने नये प्रकार के सिक्के जारी किये, जिन पर 'मालवाना जय' और 'मालवगणस्य जय' आदि लेख अकित है।

विक्रम-संवत् का प्रारम्भ—अनेक ऐतिहासिकों का यह मत है, कि विक्रम-सवत् का प्रारम्भ भी मालवों की इस विजय के उपलक्ष में ही हुआ था। इस का पुराना नाम 'मालवगणाम्नात' था, और शुरू की अनेक सदियो में जहाँ कही इस संवत् का प्रयोग हुआ है, इमे 'मालवगणस्थित्या' (मालवगण के कायम होने से) या 'मालवगणाम्नात' द्वारा ही सूचित किया गया है। अनेक ऐतिहासिको का मत है, कि जिस वीर पुरुष ने शको को परास्त कर मालव गण का उत्कर्ष किया, उसका नाम विक्रम था। मालवों द्वारा शको की पराजय एक ऐसी महत्त्व की घटना थी, कि इससे प्रारम्भ हुए सम्वत् का भारत मे देर तक उपयोग होता रहा। भारत के अनेक प्रतापी राजा भी 'विक्रमादित्य' की उपाधि धारण करते रहे, और उन्होने मालव गण की स्थिति से प्रारम्भ हुए इस संवत् को अपनाकर इसे भारत में चिरस्थायी बना दिया।

कुशाणों की सफलता—यवन, शक और पार्थियन आक्रान्ता भारत के मध्यदेश की विजय करने मे विशेष सफल नही हुए। पर कुशाण-सम्राट् कनिष्क के समय मे प्राय. सम्पूर्ण उत्तरापथ युइशि-साम्राज्य के अधीन हो गया था। सातवाहन वश की शक्ति को नष्ट कर दक्षिणापथ के बडे भाग पर भी कुशाण-राजाओं ने शासन किया। कुछ समय के लिये गणराज्य भी इन प्रबल विजेताओं का मुकाबला कर सकने मे असमर्थ रहे। पहली सदी ईस्वी के अन्तिम चरण मे कनिष्क ने भारत मे जिस विशाल साम्राज्य की स्थापना की थी, वह एक सदी के लगभग कायम रहा। ईस्वी सन् की दूसरी सदी मे भारत की राजशक्ति बहुत क्षीण दशा को प्राप्त कर गयी थी, और कुशाण लोग इस देश मे बहुत प्रबल हो गये थे। केवल कुशाण ही नही, अपितु शक भी इस समय मे एक बार फिर अपना उत्कर्ष करने मे समर्थ हुए थे और महाक्षत्रप रुद्रदामा के नेतृत्व मे उज्जैन को केन्द्र उनाकर उन्होने एक शक्तिशाली राज्य की स्थापना कर ली थी। यौधेय सदृश प्रबल गणराज्य को भी परास्त करने मे रुद्रदामा सफल हुआ था, और कुछ समय के लिये विन्ध्याचल के उत्तर का प्राय: सम्पूर्ण भारत कुशाणों और शको के आधिपत्य मे आ गया था।

विदेशी शासक—यवनो, शको, पल्हवो और कुशाणो को हमने विदेशी कहा है। इसमें सन्देह नही कि वे भारत मे बाहर से आये थे, और उन्होंने विजय द्वारा इस देश मे अपने राज्य स्थापित किये थे। पर इस सम्बन्ध में यह बात ध्यान देने योग्य

है, कि भारत में आकर ये विदेशी जातियाँ पूर्णरूप से भारतीय बन गयी थी। इन्होंने भारत के धर्मों (बौद्ध, शैव या वैष्णव) को अपना लिया था, और अपने सिक्को व उत्कीर्ण लेखो में प्राकृत या संस्कृत भाषा का उपयोग शुरू कर दिया था। भारत में आकर ये लोग विदेशी नही रह गये थे। पर भारत के पुराने राजकुलो और गणराज्यों की दृष्टि मे इनकी स्थिति विजेताओं की ही थी। यही कारण हैं, कि भारत की पुरानी राजशक्तियो ने इसके विरुद्ध फिर सिर उठाया और इन शासको का अन्त कर अपनी स्वतन्त्रता को पुनःस्थापित किया।

कुशाण शासन के विरुद्ध संघर्ष—कुशाण राजा कनिष्क द्वारा स्थापित विशाल साम्राज्य एक सदी के लगभग कायम रहा। पर शीघ्र ही उसके विरुद्ध संघर्ष प्रारम्भ हो गया। इस सघर्ष का नेतृत्व निम्नलिखित राजशक्तियो ने किया—(१) सातवाहन वंश, (२) नाग-भारशिववंश, और (३) यौधेय कुणिन्द आदि गणराज्य।

दक्षिणापथपति सातवाहन वंश के राजा कुशाणो और शको (रुद्रदामा व उसके वंशजो) के उत्कर्ष के कारण अपने पुराने वैभव को बहुत-कुछ खो चुके थे। पर उन्होने अपनी सत्ता के लिए संघर्ष को निरन्तर जारी रखा। यही कारण है, कि वे पश्चिम मे शको से और उत्तर मे कुशाणो से निरन्तर युद्ध करते रहे। यद्यपि वे कुशाणो से मगध को जीत सकने मे असमर्थ रहे, पर शको को परास्त करने मे उन्हें अवश्य सफलता हुई। रुद्रदामा के उत्तराधिकारी उसके समान प्रतापी नही थे। उनके मुकाबले मे सातवाहन राजाओ ने अपनी सत्ता को कायम रखा। यौधेय आदि गणराज्यो ने एक बार फिर कुशाणो के साथ लोहा लिया, और दूसरी सदी ईस्वी का अन्त होने से पूर्व ही अपनी खोयी हुई स्वतन्त्रता को पुनः प्राप्त कर लिया। पर कुशाण-शासन का अन्त करने का प्रधान श्रेय नाग-भारशिव राजाओ को प्राप्त है।

(२) कुशाण साम्राज्य का पतन

मगध के क्षत्रप—हम पहले लिख चुके हे, कि ६० ई० के लगभग कुशाणवशी सम्राट् कनिष्क ने लगभग सारे उत्तरी भारत को जीतकर अपने अधीन कर लिया था। पाटलिपुत्र भी इस समय सातवाहन वंश के स्थान पर कुशाणो के हाथ में चला गया था। कुशाण-साम्राज्य की राजधानी पुष्पपुर (पेशावर) थी, और पाटलिपुत्र पर शासन करने के लिए क्षत्रप वनस्पर की नियुक्ति की गई थी। एक पुरानी अनुश्रुति के अनुसार नपुसकों की-सी आकृतिवाले पर युद्ध में विष्णु के समान बली इस महासत्त्व विश्वस्फूर्ति (वनस्पर) ने सब राजाओं का उत्सादन कर कैवर्त्त, पचकान, पुलिंद, यवन आदि दूसरे नीच वर्णों को पार्थिव बनाया। बहुसंख्यक प्रजा को उसने ब्राह्मणों का विरोधी बना दिया। क्षत्र का उत्सादन कर उसने नया क्षत्र बनाया और जाह्नवी-तीर पर देवो और पितरों का भली-भाँति तर्पण कर संन्यास ले शरीर त्याग किया। इस अनुश्रुति के अनुसार वनस्पर बडा प्रतापी शासक था। पुराने क्षत्रियों और ब्राह्मणों के लिए यह स्वाभाविक था, कि वे उसका आदर न करते। वह नपुंसकों की-सी शकल वाला (सम्भवतः, मंगोल खून के कारण दाढ़ी-मूंछ से रहित) म्लेच्छ यदि ब्राह्मणों और क्षत्रियों की सद्भावना न प्राप्त कर सका हो, तो इसमे क्या आश्चर्य है? पर कैवर्त्त आदि

नीच समझे जानेवाले लोगों को राजपद दे (पार्थिव बना) कर उसने नया क्षत्र (शासक वर्ग) प्रादुर्भूत कर दिया, और जनता मे ब्राह्मणो के लिए अश्रद्धा उत्पन्न कर दी। वह स्वय भारतीय धर्म-परम्परा का अनुयायी हो गया था, जैसा कि उस काल के सभी शक, यवन, युइशि आदि म्लेच्छ लोगो की प्रवृत्ति थी। इसीलिए आर्य-मर्यादा का अनुसरण करते हुए अन्त में सन्यास ले उसने शरीर का त्याग किया था।

वनस्पर के बाद जो व्यक्ति पाटलिपुत्र के महाक्षत्रप बने, उनके नाम हमें ज्ञात नही हैं। पर इसमे सन्देह नही, कि लगभग एक शताब्दी तक वनस्पर के उत्तराधिकारी महाक्षत्रप पाटलिपुत्र को राजधानी बनाकर उत्तरी भारत में राज्य करते रहे। इस बीच मे कुशाणो का संघर्ष सातवाहन राजाओ के साथ चलता रहा, पर उत्तरी भारत मे उनका शासन निर्विघ्न रूप से जारी रहा।

यौधेयों की स्वतन्त्रता—पर दूसरी सदी ईस्वी का अन्त होते-होते कुशाण साम्राज्य का पतन प्रारम्भ हो गया था। कुशाणो के शासन को उत्तरी भारत से नष्ट करने का श्रेय दो शक्तियो को है, एक तो यौधेय आदि गणराज्यों को और दूसरा कातिपुरी के नाग-भारशिव राजाओ को। कुशाण-साम्राज्य के विकास से पूर्व ही मागध-सम्राटो की निर्बलता से लाभ उठाकर यौधेय गण ने अपनी स्वाधीनता कायम कर ली थी। पर कनिष्क ने उन्हे अपने अधीन किया और उनका प्रदेश कुशाण-साम्राज्य के अन्तर्गत हो गया। पर दूसरी सदी ईस्वी के मध्य भाग मे यौधेयो ने फिर अपना सिर ऊँचा किया, यद्यपि वे अपनी स्वतन्त्रता को देर तक कायम नही रख सके। शक महाक्षत्रप रुद्रदामा ने उन्हे परास्त किया। रुद्रदामा ने बड़े अभिमान के साथ अपने एक शिलालेख मे यह लिखा है, कि किस प्रकार उसने सब क्षत्रियो मे बलशाली यौधेयो को परास्त किया था। पर कुछ ही समय के बाद यौधेयो ने फिर स्वतन्त्रता के लिए यत्न किया। दूसरी सदी के समाप्त होने से पूर्व ही वे फिर स्वतन्त्र हो गये थे। शक्तिशाली कुशाण-साम्राज्य को परास्त कर देना एक गण-राज्य के लिए बडे अभिमान की बात थी। इसी के उपलक्ष में उन्होंने अपने नये सिक्के प्रचलित किये, जिनपर 'यौधेयगणस्य जय' उत्कीर्ण कराया गया। इन सिक्को पर कार्तिकेय का चित्र भी दिया गया, जिसे देवताओ का सेनापति माना गया है। यौधेयों ने जो विजय प्राप्त की थी, वह देवताओ के ही योग्य थी। जनता का विश्वास था, कि यौधेयो को विजय का एक मंत्र आता है। इसीलिए उनके लिए 'विजयमंत्रधराणाम्' यह विशेषण दिया गया है। कुशाणो के विरुद्ध इस विद्रोह मे कुणिन्द, आर्जुनायन आदि अन्य गणराज्यो ने भी यौधेयो का साथ दिया था। ये सब गण इस समय स्वतन्त्र हो गये थे, और सम्भवत: उन्होंने यौधेयो के साथ मिलकर एक संघ बना लिया था। उत्तर में अम्बाला और देहरादून से प्रारम्भ कर उत्तरी राजपूताना तक इस संघराज्य का शासन था। इन गणो का स्वतन्त्र शासन चौथी सदी के प्रारम्भ तक कायम रहा। इनके प्रमुख 'महाराज-महासेनापति' कहलाते थे, और उन्हे सम्पूर्ण गण निर्वाचित करता था।

जिस प्रकार हरयाणा-पंजाब मे यौधेयो ने कुशाण-शक्ति का अन्त किया, वैसे ही वर्तमान उत्तर-प्रदेश, ग्वालियर और पूर्व के प्रदेशो मे नाग-भारशिव राजाओ द्वारा कुशाणों की शक्ति की इतिश्री हुई। कुछ समय पश्चात् तीसरी सदी के उत्तरार्द्ध में

पाटलिपुत्र से भी कुशाण-क्षत्रपों के शासन का अन्त सम्भवतः इन्ही भारशिव-नागों द्वारा किया गया।

(३) भारशिव वंश

नाग वंश—मागध-साम्राज्य के निर्बल हो जाने पर भारत के विविध प्रदेशों में जो अनेक राजवंश स्वतन्त्र हो गये थे, उनमें विदिशा का नाग वंश भी एक था। बाद में यह वंश पहले शकों की और फिर कुशाणो की अधीनता में चला गया। अब यौधेयो द्वारा कुशाणो के विरुद्ध विद्रोह करने से जो अव्यवस्था उत्पन्न हो गयी थी, उससे लाभ उठाकर नागो से अपनी शक्ति का विस्तार करना प्रारम्भ किया। ग्वालियर के समीप पद्मावती को उन्होंने अपना केन्द्र बनाया, और वहाँ से बढते-बढ़ते कौशाम्बी से मथुरा तक के सब प्रदेशों को अपने अधीन कर लिया। इन प्रदेशों में उस समय कुशाणों का राज्य था। उन्हे परास्त कर नाग राजाओं ने अपने स्वतन्त्र राज्य की नीव डाली। बाद में नाग लोग पूर्व की ओर और आगे बढ़े, और मिर्जापुर जिले मे विद्यमान कांतिपुरी को उन्होने अपनी राजधानी बनाया।

भारशिव—ये नाग राजा शैव-धर्म को मानने वाले थे। इनके किसी प्रमुख राजा ने शिव को प्रसन्न करने के लिए धार्मिक अनुष्ठान करते हुए शिवलिंग को अपने सिर पर धारण किया था, इसीलिए ये भारशिव भी कहलाने लगे थे। इसमें सन्देह नहीं, कि शिव के प्रति अपनी भक्ति प्रदर्शित करने के लिए ये राजा निशान के रूप में शिवलिंग को सिर पर रखा करते थे। इस प्रकार की एक मूर्ति भी उपलब्ध हुई है, जो इस अनुश्रुति की पुष्टि करती है। नवनाग (दूसरी सदी के मध्य में) से भवनाग (तीसरी सदी के अन्त मे) तक इनके कुल सात राजा हुए, जिन्होंने अपनी विजयों के उपलक्ष में काशी मे दस बार अश्वमेध-यज्ञ किया। सम्भवतः, इन्ही दस यज्ञों की स्मृति काशी के दशाश्वमेध-घाट के रूप मे अब भी सुरक्षित है। भारशिव राजाओं का साम्राज्य पश्चिम मे मथुरा और पूर्व मे काशी से भी कुछ परे तक अवश्य विस्तृत था। इस सारे प्रदेश में बहुत-से स्थानो पर इनके सिक्के पाये जाते हैं। गंगा-यमुना के प्रदेश का कुशाण-शासन से उद्धार करने के कारण गंगा-यमुना को ही इन्होंने अपना राजचिह्न बनाया था। गंगा-यमुना के जल से अपना राज्याभिषेक कर इन राजाओं ने बहुत काल बाद इन पवित्र नदियों के गौरव का पुनरुद्धार किया था।

राजा वीरसेन—भारशिव राजाओं मे सबसे प्रसिद्ध राजा वीरसेन था। कुशाणों को परास्त कर अश्वमेध-यज्ञों का सम्पादन उसी ने किया था। उत्तरप्रदेश के फर्रुखाबाद जिले मे एक शिलालेख मिला है, जिसमे इस प्रतापी राजा का उल्लेख है। सम्भवतः, इसने एक नये सम्वत् का भी प्रारम्भ किया था।

मगध की विजय—गंगा-यमुना के प्रदेश के कुशाण-शासन से विमुक्त हो जाने के बाद भी कुछ समय तक पाटलिपुत्र पर महाक्षत्रप वनस्पर के उत्तराधिकारियों का शासन जारी रहा। वनस्पर के वंश को पुराणों में मुरुण्ड-वंश कहा गया है। इस मुरुण्ड-वंश में कुल १३ राजा या क्षत्रप हुए, जिन्होंने पाटलिपुत्र पर शासन किया। २४५ ई० के लगभग फूनान उपनिवेश का एक राजदूत पाटलिपुत्र आया था। उस

समय वहाँ मुलुन (मुरुण्ड) राजा का शासन था। पाटलिपुत्र के उस मुलुन-राजा ने युइशि देश के चार घोड़ों के साथ अपने राजदूत को फूनान भेजा था। मुरुण्ड शब्द का अर्थ स्वामी या शासक है। यह शब्द क्षत्रप के सदृश ही शासक अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। पाटलिपुत्र के ये कुशाण-क्षत्रप मुरुण्ड भी कहाते थे।

२७८ ई० के लगभग पाटलिपुत्र से भी कुशाणों का शासन समाप्त हुआ। इसका श्रेय वाकाटक वंश के प्रवर्तक विंध्यशक्ति को है। पर इस समय वाकाटक लोग भारशिवों के सामन्त थे। भारशिव-राजाओं की प्रेरणा से ही विंध्यशक्ति ने पाटलिपुत्र से मुरुण्ड-शासकों का उच्छेद कर उसे कान्तिपुर के साम्राज्य के अन्तर्गत कर लिया था। मगध को जीत लेने के बाद भारशिवो ने और अधिक पूर्व की ओर भी अपनी शक्ति का विस्तार किया। अग देश की राजधानी चम्पा भी बाद मे उनकी अधीनता में आ गयी। वायुपुराण के अनुसार नाग राजाओ ने चम्पापुरी पर भी राज्य किया था।

पर मगध और चम्पा के भारशिव लोग देर तक पाटलिपुत्र में शासन नहीं कर सके। जिस प्रकार हरियाणा-पंजाब मे यौधेय, आर्जुनायन आदि गण स्वतन्त्र हो गये थे, वैसे ही इस काल की अव्यवस्था से लाभ उठाकर उत्तरी बिहार में लिच्छवि गण ने फिर से अपनी स्वतन्त्र सत्ता स्थापित कर ली थी। यौधेयो के सदृश लिच्छवि गण भी इस समय शक्तिशाली हो गया था। कुछ समय पश्चात् लिच्छवियो ने पाटलिपुत्र को जीतकर अपने अधीन कर लिया। पुराणो मे पाटलिपुत्र के शासकों मे मुरुण्डो के साथ वृषलो को भी परिगणित किया गया है। सम्भवत:, ये वृषल व्रात्य लिच्छवि ही थे। व्रात्य मौर्यों को विशाखदत्त ने वृषल कहा है। इसी प्रकार व्रात्य लिच्छवियो को पुराणों के इस प्रकरण में वृषल कहकर निर्दिष्ट किया गया है।

(४) वाकाटक वंश

राजा प्रवरसेन—हम ऊपर लिख चुके हैं, कि वाकाटक विंध्यशक्ति भारशिव नागों का सामन्त था। उसके पुत्र का नाम प्रवरसेन था। भारशिव राजा भवनाग की इकलौती लडकी प्रवरसेन के पुत्र गौतमीपुत्र को ब्याही थी। इस विवाह से गौतमीपुत्र के जो पुत्र हुआ, उसका नाम रुद्रसेन था। क्योकि भवनाग के कोई पुत्र नही था, अत: उसका उत्तराधिकारी उसका दौहित्र रुद्रसेन ही हुआ। गौतमीपुत्र की मृत्यु प्रवरसेन के जीवनकाल में ही हो गयी थी। अत: रुद्रसेन जहाँ अपने पितामह के राज्य का उत्तराधिकारी बना, वहाँ साथ ही अपने नाना का विशाल साम्राज्य भी उसी के हाथ मे आ गया। धीरे-धीरे भारशिव और वाकाटक-राज्यो का शासन एक हो गया। रुद्रसेन के संरक्षक के रूप में प्रवरसेन ने वाकाटक और भारशिव दोनों वंशो के राज्य के शासन सूत्र को अपने हाथ में ले लिया।

यह प्रवरसेन बड़ा शक्तिशाली राजा हुआ है। इसने चारों दिशाओं में दिग्विजय करके चार बार अश्वमेध यज्ञ किये, और वाजसनेय यज्ञ करके सम्राट् का गौरवमय पद प्राप्त किया। प्रवरसेन की विजयों के मुख्य क्षेत्र मालवा, गुजरात और काठियावाड़ थे। पंजाब और उत्तरी भारत से कुशाणो का शासन इस समय तक समाप्त हो चुका था। पर गुजरात-काठियावाड़ मे अभी तक भी शक-महाक्षत्रप राज्य कर रहे थे।

प्रवरसेन ने इनका अन्त किया। यही उसके शासन-काल की सबसे महत्त्वपूर्ण घटना है। गुजरात और काठियावाड़ के महाक्षत्रपों को प्रवरसेन ने चौथी सदी के प्रारम्भ में परास्त किया था।

रुद्रसेन—३३५ ई० के लगभग प्रवरसेन की मृत्यु के बाद उसका पोता रुद्रसेन वाकाटक-राजगद्दी पर बैठा। अपने नाना भारशिव भवनाग की इसे बड़ी सहायता थी। प्रवरसेन के तीन अन्य पुत्र भी थे, जो उसके राज्य मे प्रान्तीय शासकों के रूप में शासन करते थे। सम्भवतः, प्रवरसेन की मृत्यु के बाद उन्होंने स्वतन्त्र होने का प्रयत्न किया। पर भवनाग की सहायता से रुद्रसेन अपने साम्राज्य को अक्षुण्ण रखने में सफल हुआ। भवनाग की मृत्यु के बाद रुद्रसेन भारशिव राज्य का भी स्वामी हो गया। वर्तमान उत्तर-प्रदेश, मध्य प्रदेश, दक्षिणापथ, गुजरात और काठियावाड—ये सब प्रदेश इस समय वाकाटक साम्राज्य में सम्मिलित थे। पर रुद्रसेन के शासन-काल के अंतिम वर्षों में गुजरात और काठियावाड में फिर शक-महाक्षत्रपों का शासन हो गया। रुद्रदामा द्वितीय ने वहाँ फिर से शक-शासन की स्थापना की, और स्वयं महाक्षत्रप रूप मे शासन करना प्रारम्भ किया। सम्भवतः, अपने चाचाओ के साथ संघर्ष करने के कारण वाकाटक राजा रुद्रसेन की शक्ति कमजोर पड गयी थी, और वह गुजरात-काठियावाड़ जैसे सुदूरवर्ती प्रदेश को अपनी अधीनता में नही रख सका था।

पृथ्वीसेन—रुद्रसेन के बाद पृथ्वीसेन (३५० से ३६५ ई० तक) वाकाटक-राजा बना। इसका पुत्र रुद्रसेन द्वितीय था। इस समय पाटलिपुत्र के गुप्त-सम्राट् अपनी शक्ति का विस्तार करने मे व्यापृत थे। गुप्त-सम्राटों की यह प्रबल इच्छा थी, कि गुजरात-काठियावाड से शक-महाक्षत्रपों के शासन का अन्त कर भारत को विदेशी आधिपत्य से सर्वथा मुक्त कर दिया जाय। वाकाटक-राजा इस कार्य मे उनके सहायक हो सकते थे, क्योंकि इनके राज्य की सीमाएँ शक-महाक्षत्रपों के राज्य से मिलती थी। वाकाटक-राजा इस समय तक किसी-न-किसी रूप मे गुप्त-सम्राटो की अधीनता स्वीकार कर चुके थे, यद्यपि शक्तिशाली सामन्तों के रूप में अपने राज्य पर उनका पूरा अधिकार था। शकों का पराभव करने मे वाकाटकों की पूरी सहायता प्राप्त करने के लिए गुप्त-सम्राट् चन्द्रगुप्त द्वितीय ने यह उपयोगी समझा, कि उनके साथ और भी घनिष्ठ मैत्री का सम्बन्ध स्थापित किया जाय। सम्भवत., इसी लिए उसने अपनी कन्या प्रभावती-गुप्ता का विवाह रुद्रसेन द्वितीय के साथ कर दिया था। इस राजा की मृत्यु केवल पाँच वर्ष शासन करने के बाद ३९० ई० के लगभग हो गयी थी, और उसके पुत्रों की आयु बहुत छोटी होने के कारण शासनसूत्र का संचालन प्रभावतीगुप्ता ने स्वयं अपने हाथो में ले लिया था।

इन वाकाटक राजाओं के सम्बन्ध में अधिक लिखने की हमें आवश्यकता नहीं है। इस समय पाटलिपुत्र में जिस शक्तिशाली गुप्त-साम्राज्य का विकास हो रहा था, उसके प्रताप के सम्मुख इन वाकाटकों की शक्ति सर्वथा मन्द पड़ गयी थी, और ये गुप्त-साम्राज्य के अन्तर्गत अधीनस्थ राजाओं के रूप में रह गये थे।

तेईसवाँ अध्याय

शुंग-सातवाहन-शक युग की सभ्यता और संस्कृति

(१) शुंग-सातवाहन-शक युग

दूसरी सदी ई० पू० से तीसरी सदी ईस्वी तक भारत में कोई एक ऐसी प्रधान राजशक्ति नही थी, जो भारत के बड़े भाग को अपने शासन में रख सकने मे समर्थ होती। बार्हद्रथ, शैशुनाग, नन्द और मौर्य वंशो ने जिस विशाल मागध-साम्राज्य का निर्माण किया था, उसकी शक्ति इस युग मे क्षीण हो गयी थी। पुष्यमित्र शुंग यवनों को सिन्ध नदी के पार धकेलने में समर्थ हुआ, पर वह कलिंग के चेदि-वंश और प्रतिष्ठान के सातवाहन-वश की शक्ति का दमन नही कर सका। जिस समय शुग-वंश के राजा मगध और मध्यदेश पर शासन कर रहे थे, सातवाहन-वंश के राजा दक्षिणापथ में अपनी शक्ति के विस्तार मे तत्पर थे, उत्तर-पश्चिमी भारत में यवन लोग अपनी शक्ति बढा रहे थे, और शक-आक्रान्ता सिन्ध व राजपूताना को अपनी अधीनता में लाने के लिए प्रयत्नशील थे। बाद मे पल्हवो (पार्थियन) और कुशाणों ने शकों का अनुसरण कर भारत में प्रवेश किया, और अपने-अपने राज्य स्थापित किये। भारत में किसी एक प्रबल राजशक्ति के अभाव मे इस युग को हमने शुग-सातवाहन-शक युग कहा है। पर इससे यह नही समझना चाहिये, कि इस काल मे भारत केवल इन तीन राजनीतिक शक्तियो मे विभक्त था। शको के समय मे ही यवनों और पल्हवों के राज्य भी इस देश मे विद्यमान थे, और बाद में कुशाणो ने मध्यदेश व मगध तक को अपनी अधीनता में कर लिया था।

इस युग की विशेषताएँ—भारतीय इतिहास मे शुग-सातवाहन-शक युग का बहुत अधिक महत्त्व है। इस युग की विशेषताओ को हम संक्षेप मे इस प्रकार लिख सकते हैं—(१) यवन, शक, पल्हव व कुशाण आक्रान्ता शीघ्र ही पूर्णरूप से भारतीय बन गये। उन्होने भारत के बौद्ध, शैव व वैष्णव धर्मों को अपना लिया, और संस्कृत व प्राकृत भाषाओ का राज्यकार्य व अपने वैयक्तिक जीवन मे प्रयोग प्रारम्भ कर दिया। भारत मे उनकी स्थिति विदेशी शासको की न रहकर अन्य भारतीयो के समान ही हो गयी। (२) इस युग में भारत के धर्म, सभ्यता व सस्कृति का विदेशों में प्रसार हुआ। सम्राट् अशोक के समय मे बौद्ध धर्म के अन्य देशो मे प्रचार की जो प्रक्रिया प्रारम्भ हुई थी, इस युग मे उसे बहुत बल मिला। कुशाण राजा कनिष्क का साम्राज्य केवल भारत में ही नही था, हिन्दुकुश पर्वत के पश्चिम व उत्तर मे चीन की सीमा तक उसका शासन

था। कनिष्क के संरक्षण में बौद्ध-धर्म ने बहुत उन्नति की, और सम्पूर्ण मध्य एशिया भारत के सांस्कृतिक प्रभाव में आ गया। चीन आदि अन्य एशियन देशों मे भी इस युग में बौद्ध-धर्म का प्रसार हुआ। केवल बौद्ध-धर्म ही नहीं, अपितु शैव और वैष्णव धर्मों ने भी इस काल में बहुत उन्नति की। भारतीयों के अनेक नये उपनिवेश पूर्वी व दक्षिण-पूर्वी एशिया में बसने शुरू हुए, और इन धर्मों ने वहाँ के मूल निवासियों को भी प्रभावित किया। (३) प्राचीन वैदिक धर्म का पुनरुत्थान इस युग की अत्यन्त महत्त्वपूर्ण विशेषता है। बौद्ध और जैन धर्म न ईश्वर को मानते थे, और न ही वेदों की अपौरुषेयता में विश्वास रखते थे। ये धर्म भारत की प्राचीन आर्य-परम्परा के अनुकूल नही थे। इसीलिए इस युग में इनके विरुद्ध प्रतिक्रिया हुई, और भागवत-धर्म के रूप में प्राचीन आर्य-धर्म का पुनरुद्धार हुआ। (४) यवन, शक, कुशाण आदि विदेशी जातियों के सम्पर्क से भारत के विज्ञान और कला आदि भी प्रभावित हुए बिना नही रह सके, और उन्होंने एक ऐसा रूप धारण किया, जिसपर विदेशी प्रभाव स्पष्टरूप से दृष्टिगोचर होता है। विदेशियो के आक्रमण से भारत के विदेशी व्यापार में भी सहायता मिली, और प्राचीन ग्रीस व रोम से उसका सम्बन्ध बहुत घनिष्ठ हो गया। (५) भारत में किसी एक शक्तिशाली केन्द्रीय शासन के न रहने के कारण इस युग में गणराज्यों को अपनी स्वतन्त्रता स्थापित करने का अवसर प्राप्त हुआ। मालव, यौधेय, कुणिन्द, अर्जुनायन, शिवि, लिच्छवि आदि पुराने गणराज्यों का पुनरुत्थान इस युग की एक महत्त्वपूर्ण विशेषता है। विदेशी आक्रान्ताओ का मुकाबला करने में इन्होंने अपूर्व कर्तृत्व प्रदर्शित किया। इसमें सन्देह नही, कि ये गणराज्य भी इस युग की भारतीय राजशक्तियों में बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान रखते थे।

(२) विदेशियों का भारतीय बनना

दूसरी सदी ई० पू० मे यवन, शक, पल्हव और कुशाण जातियों के रूप में जिन विदेशी लोगों ने भारत मे अपने राज्य स्थापित किये, वे इस देश के सम्पर्क मे आकर पूर्णतया भारतीय बन गये। उन्होने न केवल भारत के धर्म को अपितु इस देश की भाषा को भी अपना लिया। सभ्यता की दृष्टि से शक लोग बहुत उन्नत नही थे, पर बैक्ट्रिया के जिन यवनों ने भारत में प्रवेश किया था, वे प्राचीन ग्रीक (यवन) लोगो के समान ही सभ्य व सुसंस्कृत थे। इसी प्रकार पार्थिया के पार्थियन (पल्हव) लोग ग्रीस के सम्पर्क मे आकर सभ्य बन चुके थे। इन उन्नत सभ्य लोगों का भारतीय धर्म और भाषा को अपना लेना भारत के लिए बहुत गौरव की बात थी, और इससे यह सूचित होता है कि इस युग के भारतीय धर्म, सभ्यता और संस्कृति के क्षेत्र में ग्रीक लोगों की अपेक्षा अधिक उन्नत थे। जिस प्रकार जल की धारा ऊपर से नीचे की ओर बहती है, वैसे ही सभ्यता का बहाव भी ऊँचाई से निचाई की तरफ होता है। जब कोई दो जातियाँ एक दूसरे के सम्पर्क में आती हैं, तो उनमें जो सभ्यता की दृष्टि से अधिक उन्नत होती है, वह अवनत जाति को अपने प्रभाव में ले आती है। यह इतिहास का एक सत्य सिद्धान्त है। यवन, शक, पल्हव व कुशाण लोग भारत के धर्म, भाषा व

संस्कृति के किस प्रकार प्रभाव में आये, इसे स्पष्ट करने के लिए उनके कुछ उत्कीर्ण लेखों को उद्धृत करना पर्याप्त होगा।

यवन—नासिक की एक गुफा में एक यवन द्वारा उत्कीर्ण यह लेख विद्यमान है—"सिद्धि! ओतराह (उत्तरापथ) के दातामितियक (दिमित्र द्वारा स्थापित दात्तामित्री नगरी के निवासी) योनक (यवन) धम्मदेव के पुत्र इन्द्राग्निदत्त का (दान)। (उस) धर्मात्मा ने यह गुहा तिरन्हु पर्वत में खुदवाई,और गुहा के भीतर चैत्यगृह तथा पोडियाँ।" इस लेख को लिखवाने वाले यवन ने न केवल बौद्ध-धर्म को स्वीकार कर लिया था, अपितु उसका नाम भी इन्द्राग्निमित्र था। उसके पिता का नाम यवन धम्मदेव था।

तक्षशिला के यवन-राजा ने हेलिउदोर नाम के जिस यवन को अपना राजदूत बनाकर मगध के शुग राजा की राजसभा में भेजा था, उसने भागवत धर्म को स्वीकार कर भगवान् विष्णु के एक गरुड़ध्वज (प्रस्तर का स्तम्भ जिसके शीर्ष भाग पर गरुड़ की मूर्ति थी) का निर्माण कराया था। उसपर यह लेख उत्कीर्ण है—"देवों के देव वासुदेव का यह गरुडध्वज यहाँ बनवाया। महाराज अन्तलिकित के यहाँ से राजा कासीपुत भागभद्र त्राता के—जो कि अपने शासन के चौदहवे वर्ष मे वर्तमान है—पास आये हुए तखशिला (तक्षशिला) के रहने वाले दिये के पुत्र योनदूत भागवत हेलिउदोर ने।"

यवनराजा मिनान्डर (मिलिन्द) ने बौद्ध-धर्म को स्वीकार कर इस धर्म के इतिहास मे महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त किया था। नागसेन से दीक्षा लेकर मिनाण्डर ने न केवल बौद्ध-धर्म को अंगीकार किया, अपितु सियाम की अनुश्रुति के अनुसार अर्हत्-पद को भी प्राप्त कर लिया। इसीलिए उसके मरने पर लोग उसकी अस्थियो को अपने नगरो मे ले गये और वहाँ उन्होने आदरपूर्वक उनकी प्रतिष्ठा की। अपने गुरु नागसेन से बौद्ध-धर्म के विषय मे जो प्रश्न यवनराज मिनान्डर ने पूछे थे, वे ही 'मिलिन्द-पन्हो' (मिलिन्द्र प्रश्ना:) नामक पुस्तक मे संगृहीत है।

भारत मे कितने ही ऐसे लेख मिले हैं, जो यवन-शासकों और यवन-नागरिकों के धर्मदान के साथ सम्बन्ध रखते है। अनेक यवन-राजाओ के सिक्को पर प्राकृत भाषा का प्रयोग, धर्मचक्र का चिह्न और 'ध्रमिक' (धार्मिक) विशेषण इस तथ्य को सूचित करते है, कि यवन लोग भारत मे आकर इस देश के धर्म व संस्कृति से बहुत अधिक प्रभावित हुए थे, और उन्होने इन्हे स्वीकार कर लिया था।

शक—शक-आक्रान्ता जैन, बौद्ध और वैदिक तीनों धर्मों से प्रभावित हुए थे। उनमे कुछ ने बौद्ध धर्म को स्वीकार किया था, कुछ ने जैन धर्म को और कुछ ने वैदिक धर्म को। इस सम्बन्ध में भी कतिपय लेखों को यहाँ उद्धृत करना उपयोगी होगा :—

शक-महाक्षत्रप नहपान के जामाता उषवदात का यह लेख नासिक की एक गुहा में विद्यमान है—"सिद्धि हो! राजा क्षहरात क्षत्रप नहपान के जामाता, दीनाक के पुत्र, तीन लाख गौओं का दान देनेवाले, वर्णासा (नदी) पर सुवर्णदान करने और तीर्थ बनवाने वाले, देवताओं और ब्राह्मणो को सोलह ग्राम देने वाले, पूरे सात लाख ब्राह्मणों को खिलाने वाले···धर्मात्मा उषावदात ने गोवर्धन मे त्रिरश्मि पर्वत पर यह गुहा बनवाई।"

शक-क्षत्रप नहपान का जामाता प्राचीन वैदिक व हिन्दू धर्म का अनुयायी था, यह इस लेख से स्पष्ट हो जाता है।

मथुरा का शक-महाक्षत्रप रजुल बौद्ध-धर्म का अनुयायी था। उसकी पटरानी (अग्रमहिषी) का यह लेख मथुरा से उपलब्ध हुआ है—"महाक्षत्रप रजुल की अग्रमहिषी, युवराज खरओस्त्र की बेटी'''की माँ अयसिम्र अमुइज ने'''शाक्य मुनि बुद्ध का शरीर-धातु प्रतिष्ठापित किया और स्तूप व संघाराम भी, सर्वास्तिवादियों के चातुर्दिश संघ के परिग्रह के लिए।"

मथुरा के शक-महाक्षत्रप शोडास के समय का मथुरा में एक लेख मिला है, जिसमें लिखा है—"अर्हत् वर्धमान को नमस्कार! स्वामी महाक्षत्रप शोडास के ४२वें वर्ष में'''हारिती के पुत्र पाल की भार्या श्रमणों की श्राविका कोछी अमोहिनी ने अपने पुत्रों'''के साथ आर्यवती प्रतिष्ठापित की। आर्यवती अर्हत् की पूजा के लिए (है)।" जैन-मूर्ति को प्रतिष्ठापित कराने वाली कोछी अमोहिनी निःसन्देह शक-जाति की थी।

शकों के भारतीय धर्मों के स्वीकृत करने की बात की पुष्टि में कितने ही अन्य लेख भी उद्धृत किये जा सकते हैं, पर ये ही पर्याप्त हैं।

पार्थियन—पार्थियन लोगो के विषय में नासिक की अन्यतम गुहा में उत्कीर्ण यह लेख महत्त्वपूर्ण है—"सिहि! '''अबुलामा के निवासी सोवसक सेतफरण के पुत्र हरफरण का यह देयधर्म नवगर्भ मण्डप महासांधिको के चातुर्दिश संघ के परिग्रह मे दिया गया।" अबुलामा या अम्बुलिम सिन्ध नदी के तट पर एक नगरी थी, और सेतफरण व हरफरण पार्थियन नाम हैं।

कुशाण—कुशाण राजाओ ने भारत मे आकर बौद्ध व वैदिक धर्मों को स्वीकृत कर लिया था। कुशाण-वंश की शक्ति के संस्थापक राजा कुजुल कुशाण के सिक्कों पर अन्य विशेषणो के साथ 'सचध्रमथितस' (सत्यधर्मस्थितस्य या सद्धर्मस्थितस्य) विशेषण भी विद्यमान है। उसके कुछ सिक्को में 'देवपुत्रस' विशेषण भी आया है, जो उसके बौद्ध होने को सूचित करता है। कुजुल कुशाण का उत्तराधिकारी राजा विम 'माहेश्वर' था। राजा कनिष्क का तो बौद्ध-धर्म के इतिहास मे बहुत ही महत्त्वपूर्ण स्थान है। उसने न केवल स्वयं बौद्ध-धर्म की दीक्षा ग्रहण की थी, अपितु अन्य देशो मे बौद्धधर्म के प्रचार करने व उसके संरक्षण केलिए भी बहुत महत्त्वपूर्ण कार्य किया था। कनिष्क के उत्तराधिकारियों में वासुदेव शैव-धर्म का अनुयायी था और हुविष्क बौद्ध-धर्म का।

इसमें सन्देह नहीं, कि यवन, शक, पार्थियन और कुशाण राजा भारतीय धर्मों के अनुयायी थे। पर इन सबने भारत मे आने के बाद ही यहाँ के धर्मों को अपनाया हो, यह निश्चित नही है। यह भी सम्भव है, कि शक, पार्थियन और कुशाण लोग उस समय से ही भारतीय धर्मों के प्रभाव मे आने लग गये हों, जब कि वे सीस्तान, पार्थिया और मध्य एशिया मे थे।

(३) साहित्य

इस मौर्योत्तर-युग की सभ्यता और संस्कृति के सम्बन्ध में इस काल के साहित्य से हमें बहुत-कुछ परिचय मिलता है। प्राचीन संस्कृत-साहित्य के बहुत-से ग्रन्थों का इस

काल मे ही संकलन हुआ था। बौद्ध और जैन-साहित्य के भी बहुत-से ग्रंथ इसी समय में बने। इन सबके अनुशीलन से इस समय की जनता के जीवन-पर बड़ा उत्तम प्रकाश पडता है। पर पहले इस साहित्य का संक्षेप से परिचय देना आवश्यक है।

पतञ्जलि—पतञ्जलि मुनि पुष्यमित्र शुंग के समकालीन थे। उन्होंने पाणिनि की अष्टाध्यायी पर महाभाष्य लिखा। इसमे शुंगकालीन भारत की दशा के सम्बन्ध में बडे महत्त्व के निर्देश मिलते हैं। महाभाष्य एक विशाल ग्रन्थ है, जिसमे पाणिनीय व्याकरण की विस्तृत रूप से व्याख्या की गयी है।

स्मृति-ग्रंथ—स्मृति-ग्रंथो का निर्माण शुंग-काल मे प्रारम्भ हुआ। सबसे प्राचीन स्मृति मनुस्मृति है। उसका निर्माण १५० ई० पू० के लगभग हुआ था। इसके प्रवक्ता आचार्य भृगु थे। नारदस्मृति के अनुसार सुमति भार्गव ने इस स्मृति का प्रवचन किया था। प्राचीन भारत मे विचारको के अनेक सम्प्रदाय थे। किसी बडे आचार्य द्वारा जो विचारधारा प्रारम्भ होती थी, उसके शिष्य उसी का विकास करते जाते थे, और एक पृथक् सम्प्रदाय (नया धार्मिक मत नही अपितु, विचार-सम्प्रदाय) बन जाता था। इसी प्रकार का एक सम्प्रदाय मानव था। कौटलीय अर्थशास्त्र और कामन्दक नीतिसार में मानव सम्प्रदाय का उल्लेख है, और उसके अनेक मत उद्धृत किये गये हैं। इसी सम्प्रदाय मे आगे चलकर मनु के एक परम्परागत शिष्य आचार्य सुमति भार्गव ने मनुस्मृति की रचना की, और उसमे मानव-सम्प्रदाय के विचारो को सकलित किया। अपने समय की परिस्थितियो का भी इन विचारो पर प्रभाव पडा, और इसीलिये मनुस्मृति के अनुशीलन से हमे शुंग-काल की सामाजिक दशा का भली-भाँति परिचय मिल जाता है।

मनुस्मृति के बाद विष्णुस्मृति की रचना हुई। फिर याज्ञवल्क्य स्मृति बनी, जिसका निर्माण-काल १५० ईस्वी के लगभग है। इसके बाद भी अनेक आचार्य नई स्मृतियाँ बनाते रहे। स्मृतियों के निर्माण की यह प्रकिया गुप्त सम्राटों के काल में और उसके बाद भी जारी रही। पर मनु-स्मृति और याज्ञवल्क्य-स्मृति का भारतीय स्मृति-ग्रन्थो मे जो महत्त्व है, वह अन्य किसी स्मृति को प्राप्त नही हुआ। इन दोनो ग्रन्थो के अनुशीलन से हम शुंग और सातवाहन-राजाओ के समय के भारतीय जीवन का परिचय उत्तम रीति से प्राप्त कर सकते है।

महाभारत—महाभारत और रामायण के वर्तमान रूप भी प्रधानतया इसी काल मे सकलित हुए। महाभारत प्राचीन भारतीय साहित्य का सबसे विशाल और महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। प्राचीन ऐतिहासिक अनुश्रुति, धर्म-अर्थ-काम और मोक्ष सम्बन्धी विचार, राजधर्म और पुरातन गाथाओ का जैसा उत्तम सग्रह इस ग्रन्थ मे है, वह अन्यत्र कही उपलब्ध नही होता। महाभारत मौर्य-काल से भी पहले विद्यमान था, पर उसके नये-नये सस्करण निरन्तर होते रहते थे और विविध आचार्य उसमे लगातार वृद्धि करते जाते थे। शुंग और सातवाहन राजाओ के समय मे उसमे बहुत कुछ वृद्धि हुई, और उसके बहुत-से संदर्भ नि.सदेह इस काल की दशा पर प्रकाश डालते है।

काव्य और नाटक—इस काल में संस्कृत और प्राकृत भाषाओ में अनेक काव्यों और नाटकों का निर्माण हुआ। संस्कृत का सुप्रसिद्ध कवि भास कण्व-वंश के समय में

हुआ था। वह मगध का रहने वाला था। उसके लिखे 'प्रतिज्ञायौगन्धरायण' आदि नाटक संस्कृत साहित्य में अद्वितीय स्थान रखते हैं। उन्हें कालिदास और भवभूति के नाटकों के समकक्ष माना जाता है। भास द्वारा विरचित नाटकों की संख्या १३ है। आचार्य अश्वघोष कनिष्क का समकालीन था। उसने 'बुद्धचरितम्' नाम का महाकाव्य और अनेक नाटक लिखे। प्रसिद्ध नाटक 'मृच्छकटिक' का लेखक कवि शूद्रक भी सातवाहन-वंश के शासनकाल में हुआ। नाट्य-शास्त्र का लेखक भरतमुनि और कामसूत्र का रचयिता आचार्य वात्स्यायन भी इसी काल में हुए।

प्राकृत-साहित्य के भी अनेक ग्रन्थ इस समय मे बने। सातवाहन-राजा प्राकृत-भाषा के बड़े संरक्षक थे। राजा हाल स्वयं उत्तम कवि और लेखक था। गुणाढ्य जैसा प्राकृत का सर्वोत्कृष्ट कवि इसी काल में हुआ था। संस्कृत साहित्य के समान प्राकृत-साहित्य ने भी इस युग में बहुत उन्नति की।

बौद्ध और जैन साहित्य—बौद्ध और जैन साहित्य का भी इस काल मे बहुत विकास हुआ। सम्राट् कनिष्क के संरक्षण मे जिस महायान-सम्प्रदाय का विकास हुआ था, उसका बहुत-सा साहित्य इसी समय में बना। बौद्धत्रिपिटक पर महाविभाषा नाम का एक नया भाष्य इस युग मे लिखा गया। बौद्ध-धर्म के प्रसिद्ध विद्वान् अश्वघोष, पार्श्व और वसुमित्र इसी काल मे हुए। आचार्य नागार्जुन ने महायान के अनेक सूत्रों (सुत्तों) की रचना की। जैन-साहित्य का भी इस काल मे बहुत विकास हुआ। पहले छः श्रुतकेवली (पूर्णज्ञानी) आचार्यों के बाद सात दशपूर्वी आचार्य हुए, जिनमें से अन्तिम वज्रस्वामी का समय ७० ई० के लगभग था। इन आचार्यों ने जैन-साहित्य में निरन्तर वृद्धि की। वज्रस्वामी के शिष्य का नाम आर्यरक्षित था। उसने जैन-सूत्रों को अग, उपाग आदि चार भागों में विभक्त किया था।

षड्दर्शन—प्राचीन भारत के षड्दर्शनो का उनके वर्तमान रूप में सकलन भी इसी काल मे हुआ। सांख्य, योग, न्याय, वैशेषिक, वेदान्त और मीमासा—ये छः दर्शन भारतीय विचार तथा तत्त्वचिन्तन के स्तम्भ-रूप हैं। इन विचारधाराओं का प्रारम्भ तो इस युग से बहुत पहले हो चुका था। तत्त्वदर्शी आचार्यों द्वारा जो विचार-सम्प्रदाय प्रारम्भ किये गये थे, उनमें शिष्य-परम्परा द्वारा बहुत पुराने समय से तत्त्व-चिन्तन चला आ रहा था। पर षड्दर्शनों का जो रूप वर्तमान समय मे उपलब्ध है, उसका निर्माण इसी मौर्योत्तर युग में हुआ।

विज्ञान—वैद्यक और ज्योतिष-शास्त्र ने भी इस काल में बहुत उन्नति की। चरकसंहिता का लेखक आचार्य चरक कनिष्क का समकालीन था। नागार्जुन भी उत्कृष्ट चिकित्सक था। प्रसिद्ध वैद्यक ग्रन्थ सुश्रुत जिस रूप में आजकल मिलता है, वह नागार्जुन द्वारा ही सम्पादित हुआ था। प्राचीन भारतीय इतिहास मे नागार्जुन का बड़ा महत्त्व है। यह महापुरुष केवल वैद्य ही नही था, अपितु सिद्ध रसायनशास्त्र, लौहशास्त्र और रसायन-विज्ञान का भी पंडित था। उसने जननविज्ञान पर भी ग्रथ लिखा था। बाद में वह बौद्ध-संघ का प्रमुख बना। बौद्ध पण्डित के रूप में भी उसने अनेक पुस्तकें लिखीं, जिनमे माध्यमिकसूत्रवृत्ति विशेष रूप से उल्लेखनीय है। अश्वघोष के बाद महायान-सम्प्रदाय का वही नेता बना था।

ज्योतिष-शास्त्र की प्रसिद्ध पुस्तक गर्गसंहिता इसी युग में लिखी गयी। इसके रचयिता गर्गाचार्य थे। उन्होंने यवन लोगों के आक्रमणों का इस प्रकार उल्लेख किया है, जैसे कि ये घटनाएं उनके अपने समय मे हुई हों। खेद यही है, कि इस ग्रंथ के कुछ अंश ही इस समय में प्राप्त होते हैं। पूरा ग्रंथ अभी तक उपलब्ध नहीं हो सका है। आचार्य वराहमिहिर द्वारा ज्योतिष-शास्त्र सम्बन्धी जिन सिद्धान्तों का संग्रह आगे चलकर गुप्तकाल मे पंचसिद्धांतिका ग्रन्थ मे किया गया, उनका विकास व प्रतिपादन इस मौर्योत्तर काल में ही प्रारम्भ हो गया था।

इस प्रकार यह स्पष्ट है, कि यद्यपि यह काल राजनीतिक दृष्टि से अव्यवस्था, विद्रोह और अशांति का था, पर साहित्य, ज्ञान और संस्कृति के क्षेत्र में इस समय में भी निरन्तर उन्नति हो रही थी। इस युग के विशाल साहित्य द्वारा इस समय के सामाजिक जीवन, धर्म, सभ्यता, संस्कृति और आर्थिक दशा के सम्बन्ध मे जो अनेक महत्त्वपूर्ण बातें ज्ञात होती हैं, उनका अब हम संक्षेप से उल्लेख करेंगे।

(४) वैदिक-धर्म का उत्थान

बौद्ध-धर्म के विरुद्ध प्रतिक्रिया—मौर्योत्तर काल की सबसे महत्त्वपूर्ण घटना भारत मे बौद्ध धर्म का ह्रास और सनातन वैदिक धर्म का पुनरुत्थान है। अशोक ने धम्मविजय की जिस जीवनपूर्ण नीति का अवलम्बन किया था, निर्बल हाथों में वह नाशकारिणी भी हो सकती थी। आखिर, विशाल मागध-साम्राज्य का आधार उसकी सैनिकशक्ति ही थी। सेना से ही अधीनस्थ जनपदों, नष्टीभूत गणराज्यों और विविध सामन्त सरदारो को एक साम्राज्य के अधीन रखा जा सकता था। अशोक के समय मे यह मागध-सेना (मौल, भृत और श्रेणीबल) अक्षुण्ण रूप मे विद्यमान थी। कलिंग के शक्तिशाली जनपद को इसीलिए वह अपने अधीन कर सका था। यद्यपि अशोक स्वयं अस्त्रो द्वारा विजय की अपेक्षा धर्म द्वारा स्थापित की गयी विजय को अधिक महत्त्व देने लगा था, पर उसके समय मे मागध-सेना शक्तिहीन नही हुई थी। पर जब उसके उत्तराधिकारी भी इसी प्रकार शस्त्र-विजय की अपेक्षा धर्म-विजय को महत्त्व देते रहे, तो यह स्वाभाविक था, कि मागध-साम्राज्य की सेना शक्तिहीन होने लगती। इसीलिए अन्तिम मौर्य सम्राटो के समय मे यवनो के आक्रमण प्रारम्भ हो गये, और मागध सेना उनकी बाढ को नही रोक सकी। अशोक की धर्म-विजय की नीति उसके निर्बल उत्तराधिकारियो के हाथो मे असफल और बदनाम हो गयी। सर्वसाधारण जनता मे उससे बहुत असन्तोष हुआ। इसीलिए एक प्राचीन ग्रंथकार ने कहा था, कि राजाओं का काम शत्रुओ का दमन व प्रजा का पालन करना है, सिर मुंडाकर चैन से बैठना नहीं। यह स्वाभाविक था, कि मौर्य-राजाओं की इस असफल नीति से जनता में बौद्ध-धर्म के प्रति भी असन्तोष का भाव उत्पन्न होने लगे। भिक्षुसंघ इस समय बडा ऐश्वर्यशाली हो गया था। सर्वत्र विशाल व वैभवपूर्ण विहारों की स्थापना हो गयी थी, जिनमें बौद्ध भिक्षु बडे आराम के साथ निवास करते थे। मनुष्यमात्र की सेवा करने वाले, प्राणिमात्र का हित सम्पादन करने वाले, भिक्षावृत्ति से दैनिक भोजन प्राप्त करने वाले और निरन्तर घूम-घूमकर जनता को कल्याण-मार्ग का उपदेश करने वाले बौद्ध-भिक्षुओं का स्थान

अब सम्राटों के आश्रय में सब प्रकार का सुख भोगने वाले भिक्षुओं ने ले लिया था। सर्वसाधारण जनता के हृदय में भिक्षुओं के प्रति जो आदर था, यदि अब उसमें न्यूनता आने लगी, तो इसमें आश्चर्य ही क्या है? इसी का परिणाम यह हुआ, कि भारत में बौद्ध-धर्म के प्रतिकूल एक प्रतिक्रिया का प्रारम्भ हुआ और लोगों की दृष्टि उस प्राचीन सनातन धर्म की ओर आकृष्ट हुई, जो शत्रुओं को परास्त कर और सर्वत्र दिग्विजय कर अश्वमेध-यज्ञ के अनुष्ठान का विधान करता था। यही कारण है, कि सेनानी पुष्यमित्र ने अन्तिम मौर्य राजा बृहद्रथ को मार जब राजसिंहासन प्राप्त किया, तो मागध-साम्राज्य के शत्रुओं के विरुद्ध उसने तलवार उठाई और अश्वमेध का आयोजन किया। सातवाहन राजा सातकर्णि ने भी इसी काल में दो बार अश्वमेध-यज्ञ किए थे। इस समय अश्वमेध-यज्ञ करने की एक प्रवृत्ति-सी उत्पन्न हो गयी थी और इस प्रवृत्ति के पीछे प्राचीन वैदिक धर्म का पुनरुत्थान करने की प्रबल भावना काम कर रही थी।

एक बौद्ध अनुश्रुति के अनुसार शुंग सम्राट् पुष्यमित्र ने तलवार के बल से भी बौद्ध लोगों का दमन किया था। उसने बहुत-से बौद्ध भिक्षुओं का कत्ल करा दिया था, और अनेक स्तूपों व विहारों को गिरवा दिया था। इस वर्णन में चाहे अतिशयोक्ति से काम लिया गया हो, पर इसमें सन्देह नहीं कि शुंगकालीन भारत में बौद्धों के विरुद्ध एक प्रबल प्रतिक्रिया हो रही थी।

पर बौद्ध धर्म का यह ह्रास केवल मगध और उसके समीपवर्ती प्रदेशों तक ही सीमित था। सुदूर उत्तर-पश्चिम में बौद्ध-भिक्खु अब भी प्राचीन आदर्शों का पालन करते हुए प्राणीमात्र का कल्याण करने की आकांक्षा से हिन्दुकुश और पामीर की पर्वत-मालाओं को लाँघते हुए आगे बढ रहे थे। शक, युइशि और हूण जातियों में अष्टांगिक आर्य मार्ग का सन्देश पहुँचाने के लिए वे भारी उद्योग कर रहे थे। इसी प्रकार लंका, बरमा और उससे भी परे के प्रदेशों मे बौद्ध भिक्खुओ का आर्य-मार्ग के प्रसार का प्रयत्न जारी था। इन सब प्रदेशों मे बौद्ध-भिक्खु एक नयी सभ्यता, एक ऊँचे धर्म और एक परिष्कृत संस्कृति के संदेशवाहक बनकर परिभ्रमण कर रहे थे। इन सब स्थानों मे बौद्ध-धर्म का उत्कर्ष इस काल में भी जारी रहा। पर वैभवशाली मौर्य सम्राटों का संरक्षण पाकर मगध तथा उत्तरी भारत के अन्य जनपदों मे बौद्ध-भिक्खु कुछ निश्चेष्ट-से हो गए थे। उनके विहारों मे अपार धन था। जब अशोक और अनाथपिंडक जैसे धनिकों ने अपना कोटि-कोटि धन इन बौद्ध-विहारों के अर्पण कर दिया हो, तो यदि उनमे पतन का प्रारम्भ हो जाए और वे सुख-समृद्धि के कारण अपने कर्त्तव्य से विमुख हो जाएँ, तो इसमें आश्चर्य की कोई बात नही। यही कारण है, कि पुष्यमित्र ने विहारों के धन-वैभव को अपना शिकार बनाया, और पथभ्रष्ट बौद्ध-भिक्षुओं की हत्या करने मे भी संकोच नहीं किया।

वैदिक धर्म पर बौद्ध धर्म का प्रभाव—शुंग-काल में जिस वैदिक धर्म का पुनरुत्थान हुआ, वह प्राचीन वैदिक धर्म से बहुत कुछ भिन्न था। बौद्ध और जैन धर्मों ने जिन विचारधाराओं का प्रसार किया था, वे अन्य धर्मावलम्बियों के विचारों पर प्रभाव न डालतीं, यह सम्भव नहीं था। बौद्ध-विचारों का असर इस काल के दर्शनों और धार्मिक विश्वासों पर स्पष्टतया दृष्टिगोचर होता है। बौद्ध और जैन सृष्टि के कर्त्तारूप

मे किसी ईश्वर को नही मानते थे। सांख्यदर्शन में भी किसी सृष्टि-कर्त्ता ईश्वर को स्थान नही है। योग-दर्शन भी सृष्टि के निर्माण के लिए किसी ईश्वर की आवश्यकता नही समझता। वेदान्त का ब्रह्म सृष्टि का उपादान कारण है, निमित्त कारण नहीं। जैसे मिट्टी से घट बनता है, घट मिट्टी का ही एक रूप है, घट मिट्टी से भिन्न कुछ नहीं है, ऐसे ही सृष्टि ब्रह्म से बनी है, सृष्टि ब्रह्म का ही एक रूप है, और सृष्टि ब्रह्म से भिन्न कोई सत्ता नहीं रखती। वैदिक षड्दर्शनों में से ही तीन के ईश्वर-सम्बन्धी विचार बौद्ध-विचारो के बहुत समीप हैं। वैदिक युग के ईश्वर के विचार से इनकी विचार-प्रणाली मे भारी भेद है। बौद्ध और जैन लोग लोकोत्तर-पुरुषो मे विश्वास रखते थे। बोधिसत्व और तीर्थंकर परम पूर्णपुरुष थे, जो सत्य-ज्ञान के भंडार, पूर्ण ज्ञानी और बुद्ध व जिन कहलाते थे। सांख्यो ने इसी विचारसरणी का अनुसरण कर कपिल को लोकोत्तर ज्ञानी माना। योग ने जिस ईश्वर का प्रतिपादन किया, वह केवल 'सबसे बड़ा ज्ञानी' है। ईश्वर की सत्ता के लिए योगदर्शन की यह युक्ति है, 'निरतिशयं सर्वज्ञबीजम्'। हमे ज्ञान के बारे मे अतिशयता नजर आती है। एक व्यक्ति दूसरे की अपेक्षा अधिक ज्ञान रखता है। कोई अन्य उससे भी अधिक ज्ञान रखता है। ऐसे ही विचार करते-करते एक ऐसी सत्ता की कल्पना की जा सकती है, जिससे अधिक ज्ञानवान् कोई नहीं होगा और जो सर्वज्ञ होगा, वही ईश्वर है। ऐसा व्यक्ति बुद्ध भी हो सकता है, वर्धमान महावीर भी, कपिल भी, श्रीकृष्ण भी या अन्य कोई भी। बौद्ध और जैन ऐसे ही भगवान् को मानते थे। साख्य और योग शास्त्रों पर इन सम्प्रदायों के विचारो का असर कितना प्रत्यक्ष है।

वैदिक धर्म का नया रूप—प्राचीन वैदिक धर्म मे प्रकृति की विविध शक्तियों के रूप मे ईश्वर की पूजा की जाती थी। इन्द्र, मित्र, वरुण, अग्नि आदि उस धर्म के प्रधान देवता थे। पर अब उनका स्थान उन महापुरुषों ने ले लिया, जिनका कि सर्व-साधारण मे अपने लोकोत्तर गुणो के कारण अनुपम आदर था। शुंग-काल मे जिस सनातन वैदिक धर्म का पुनरुत्थान हुआ, उसके उपास्य देव वासुदेव, संकर्षण और शिव थे। बौद्ध और जैन धर्मों मे जो स्थान बोधिसत्वो और तीर्थंकरों का था, वही इस सनातन धर्म मे इन महापुरुषो का हुआ। बुद्ध और महावीर सर्वज्ञ थे, पूर्ण पुरुष थे। उनके गुणों को प्रत्येक मनुष्य जान सकता था, उनके चरित्र का अनुशीलन कर शिक्षा ग्रहण कर सकता था, और उनकी मूर्ति के सम्मुख बैठकर उनका साक्षात्कार कर सकता था। अब प्राचीन परिपाटी का अनुसरण कर अश्वमेध-यज्ञ का पुनरुद्धार करने वाले शुंगो और सातवाहनो के धर्म मे संकर्षण और वासुदेव पूर्ण पुरुष थे, पूर्ण ज्ञानी थे और उनकी मूर्तियाँ दर्शनों के लिए विद्यमान थीं। इस काल के धार्मिक नेताओं ने प्राचीन महापुरुषों मे देवत्व की कल्पना कर उनको बुद्ध और महावीर के समकक्ष बना दिया। निर्गुण और निराकार ईश्वर के स्थान पर सगुण और अवतार ग्रहण करने वाले ईश्वर की कल्पना हुई। इन अवतारो की मूर्तियाँ बनने लगी, और उन्हे मन्दिरों में प्रतिष्ठापित कर उनकी पूजा प्रारम्भ हो गई। प्राचीन वैदिक धर्म में यज्ञों के कर्मकांड की प्रधानता थी। कुण्ड में अग्नि की प्रतिष्ठा कर विविध देवताओं का आवाहन किया जाता था, और घृत, अन्न, समिधा आदि की आहुति देकर इन देवताओं को सन्तुष्ट

किया जाता था। पर बौद्ध और जैन धर्मों के प्रभाव से जब एक बार यज्ञों की परिपाटी शिथिल पड़ गयी, तो उसका इस युग में भी पूर्णतया पुनरुत्थान नहीं हुआ। उपलक्षण के रूप में अश्वमेध-यज्ञ अब अवश्य किये जाने लगे, पर सर्वसाधारण जनता में यज्ञो का पुनः प्रचलन नही हुआ। यज्ञों का स्थान इस समय मूर्तिपूजा ने ले लिया। शुंग-युग में जिस प्राचीन सनातन धर्म का पुनरुद्धार हुआ, वह शुद्ध वैदिक नहीं था, उसे पौराणिक कहना अधिक उपयुक्त होगा।

भागवत-धर्म—इस नये पौराणिक धर्म की दो प्रधान शाखाएं थी, भागवत और शैव। शूरसेन जनपद के सात्वत लोगों मे देर से वासुदेव कृष्ण की पूजा चली आ रही थी। पुराने युग में कृष्ण शूरसेन देश के महापुरुष व वीर नेता हुए थे। कृष्ण जहाँ अंधक-वृष्णि-संघ के प्रमुख थे, वहाँ बड़े विचारक, दार्शनिक और धर्मोपदेशक भी थे। कुरुक्षेत्र के रणक्षेत्र मे अपने निकट सम्बन्धियों को युद्ध के लिए सम्मुख खडा देख जब अर्जुन दुविधा मे पड़ गया था, तो कृष्ण ने उन्हे गीता का उपदेश दिया था। उन्ही के उपदेश से अर्जुन मे बल का संचार हुआ, और वह कर्त्तव्यपालन के लिए तत्पर हुआ। वृद्धावस्था में कृष्ण योगी हो गए थे, और अंधक-वृष्णि-संघ का नेतृत्व छोड उन्होने मुनियो का जीवन व्यतीत किया था। जिस प्रकार वर्धमान महावीर ज्ञातृकगण में उत्पन्न हुए और गौतम बुद्ध शाक्यगण मे, उसी प्रकार कृष्ण अन्धक-वृष्णि गण में प्रादुर्भूत हुए थे। उनके गण मे गीता की विचारधारा इसी समय प्रचलित हो गई थी। शूरसेनवासी न केवल कृष्ण की शिक्षाओ को मानते थे, पर साथ ही उन्हें लोकोत्तर पुरुष के रूप मे पूजते भी थे। अब जब कि बौद्ध और जैन धर्मों के प्रभाव से सनातन आर्य-धर्मावलम्बी लोग भी लोकोत्तर सर्वज्ञ पुरुषों मे ईश्वरीय शक्ति का आभास देखने के लिए उद्यत थे, कृष्ण की पूजा का लोकप्रिय हो जाना सर्वथा स्वाभाविक था। सात्वतो का यह भागवत-धर्म अब सर्वत्र फैलने लगा। निःसन्देह, कृष्ण लोकोत्तर पुरुष थे। उनका जीवन आदर्श था, उनकी शिक्षाएँ अपूर्व थी। यदि उनमे ईश्वरीय भावना करके, उन्हे ईश्वर का अवतार मान के, उनके रूप में सगुण परमेश्वर की पूजा की प्रवृत्ति प्रारम्भ हो, तो यह सर्वथा स्वाभाविक था। कृष्ण को बुद्ध और महावीर के समकक्ष रखा जा सकता था। बुद्ध और महावीर के रूप मे जिस प्रकार के महापुरुषों की पूजा का जनता को सदियो से अभ्यास था, कृष्ण का इस युग का रूप उसी के अनुकूल था। धीरे-धीरे कृष्ण को वैदिक विष्णु का अवतार माना जाने लगा, और उनके सम्बन्ध में बहुत-सी गाथाओं का प्रारम्भ हुआ। श्रीमद्भगवद्गीता इस भागवत-सम्प्रदाय का मुख्य धर्मग्रन्थ था। महाभारत और भागवतपुराण में कृष्ण के दैवी रूप और माहात्म्य के साथ सम्बन्ध रखने वाली बहुत-सी कथाएँ संगृहीत हैं।

बौद्ध-धर्म आचार-प्रधान था। याज्ञिक कर्मकाण्ड को उसमे कोई स्थान न था। वह अहिंसा का प्रतिपादक था। बुद्ध के अनुयायी यद्यपि ईश्वर को नही मानते थे, पर बुद्ध की उपासना उन्होंने पूर्णपुरुष के रूप मे प्रारम्भ कर दी थी। चार सदियों तक निरन्तर बौद्ध-धर्म भारत का प्रधान धर्म रहा था। इस सुदीर्घ काल में भारत की जनता में जिन विचारों ने भली-भाँति घर कर लिया था, वे निम्नलिखित थे—(१) याज्ञिक कर्मकाण्ड उपयोगी नहीं है। (२) यज्ञ व धार्मिक अनुष्ठनों में पशुओं की हिंसा व

बलिदान उचित नहीं है। (३) मनुष्य को अपनी उन्नति के लिए एक पूर्ण पुरुष को आदर्श के रूप में सम्मुख रखना चाहिए। निर्गुण, निराकार और अरूप ब्रह्म की पूजा से काम नहीं चल सकता। उन्नति के पथ पर आरूढ़ होने के लिए मनुष्य के सम्मुख बुद्ध या महावीर सदृश पूर्ण सगुण पुरुष आदर्श के रूप में रहने चाहिएँ, जिनके चरित्र व जीवन से मनुष्य लाभ उठा सके।

ये विचार भारतीय जनता मे इतने दृढ़ हो चुके थे, कि दूसरी सदी ई० पू० में जब वैदिक धर्म का पुनरुत्थान होने लगा, तो पुराने याज्ञिक कर्मकाण्डों का उद्धार नहीं हुआ। भागवत-धर्म के रूप में पुरानी वैदिक मर्यादा का जो संस्करण अन्धक-वृष्णि लोगों में प्रचलित था, जनता ने उसे अपनाया। यह भागवत-धर्म उस समय के लोगों के विचारों के बहुत अनुकूल था। इसकी मुख्य विशेषताएँ निम्नलिखित थीं—(१) भागवत लोग यज्ञों में पशु-हिंसा को उचित नहीं मानते थे। कृष्ण ने यज्ञों का विरोध नहीं किया। पर उनके जटिल अनुष्ठानों और हिंसात्मक विधानों का भी उन्होंने समर्थन नहीं किया। (२) यदि बौद्धों और जैनों के पास बुद्ध और महावीर के रूप में आदर्श पुरुष थे, तो भागवतों के पास वासुदेव कृष्ण के रूप में एक ऐसा पूर्ण पुरुष था जो आदर्श बालक, आदर्श युवा, आदर्श राजनीतिज्ञ, आदर्श योगीराज और आदर्श तत्त्वज्ञानी था। अब वैदिक धर्म के अनुयायियों को निर्गुण निराकार ब्रह्म की उपासना की आवश्यकता नहीं थी। उनके सम्मुख एक ऐसा देवता विद्यमान था, जो ब्रज मे शरीर धारण कर ग्वाल-बालों के साथ खेलता है, जरासंध और कंस जैसे अत्याचारियो का वध करता है, कुरुक्षेत्र के मैदान मे गीता का उपदेश करता है, और योगीराज होकर अपने शरीर का त्याग करता है। इस देवता के सुदर्शन चक्र मे अपार शक्ति है। यह अपने भक्तों की सहायता व उद्धार के लिए सदा तत्पर रहता है। उसकी भक्ति व उपासना करने से मनुष्य अपना अभिलषित फल प्राप्त कर सकता है। (३) यह वासुदेव कृष्ण साधारण पुरुष नही था, वह विष्णु का अवतार था। यदि गौतम बुद्ध ने अनेक पूर्वजन्मों की साधना द्वारा पूर्णता को प्राप्त किया था, तो कृष्ण के रूप में साक्षात् विष्णु भगवान् ने अवतार लिया था। (४) पुराने वैदिक धर्म में ईश्वर व देवताओं की पूजा के लिए यज्ञों का अनुष्ठान होता था। इस भागवत-धर्म में उनकी पूजा के लिए मन्दिर और मूर्तियाँ बनने लगीं। जिस प्रकार बौद्ध लोग बुद्ध की मूर्तियाँ बनाते थे, उसी प्रकार भागवतों ने कृष्ण, विष्णु व अन्य वैदिक देवताओं की मूर्तियाँ बनानी प्रारम्भ की। इन मूर्तियों की मन्दिरो में प्रतिष्ठा की जाती थी। मन्दिरों में पूजा की जो नयी पद्धति शुरू हुई, उसमें विधि-विधान या कर्मकाण्ड की अपेक्षा भक्ति का मुख्य स्थान था। भक्त लोग मन्दिरो में एकत्र होते थे, गीत गाकर, नैवेद्य चढ़ाकर, और पूजा कर वे अपने उपास्य देव को रिझाते थे। सर्वसाधारण जनता के लिए यज्ञों के अनुष्ठानों की अपेक्षा धर्म का यह रूप बहुत सरल और क्रियात्मक था।

पर यह ध्यान में रखना चाहिए, कि वैष्णव या भागवत-धर्म का जो रूप आजकल प्रचलित है, वह दूसरी सदी ई० पू० मे नहीं था। उस समय तक भागवत-धर्म में कृष्ण की गोपी-लीलाओं की कहानियाँ नहीं जुड़ पायी थीं। कृष्ण के सम्बन्ध में जो बहुत-सी गाथाएँ आजकल प्रचलित हैं, जिनमें उसकी प्रेम-लीलाओं का वर्णन

है, वे सब उस समय तक विकसित नहीं हुई थी। दूसरी सदी ई० पू० के कृष्ण एक आदर्श पुरुष थे, जिनमें विष्णु, नर-नारायण आदि वैदिक देवताओं के गुण अविकल रूप में प्रकट हुए थे। इसीलिए उनकी इन देवताओं के साथ अभिन्नता थी।

शैव धर्म—शैव-धर्म का प्रवर्त्तक लकुलीश नाम का आचार्य था। पुराणों के अनुसार वह शिव का अवतार था। वह गुजरात देश में भरुकच्छ के पास कारोहण या कायावरोहण नामक स्थान पर प्रगट हुआ था। लकुलीश ने जो ग्रंथ लिखा, उसका नाम पंचाध्यायी या पंचार्थविद्या था। दूसरी सदी ई० पूर्व तक शैव-धर्म भी भारत में भली-भाँति विकसित होने लगा था, और उसके अनुयायियों को 'शिवभागवत' या शैव कहा जाता था।

शिव भी वैदिक देवताओं में से एक है। अनेक वेदमन्त्रों में उसका वर्णन व स्तुति की गयी है। उसी का एक अन्य नाम रुद्र था। जब वह दुष्टों का दमन व सृष्टि का प्रलय करता है, तो रुद्र रूप धारण करता है। जब वही देव प्रसन्न होकर सृष्टि का पालन और धारण करता है, तो शिव व शंकर कहाता है। जिस प्रकार वासुदेव कृष्ण के अनुयायियों ने विष्णु को अपना उपास्य देव माना और कृष्ण से उसकी अभिन्नता स्थापित की, उसी प्रकार शिव भागवतो ने रुद्र या शिव को अपना उपास्य देव माना और लकुलीश से उसकी अभिन्नता प्रतिपादित की। शुरू मे शैव-धर्म को शिव-भागवत, लाकुल (लकुलीश के नाम पर), पाशुपत और माहेश्वर नामो से जाना जाता था। आगे चलकर इसके अनेक सम्प्रदायों का विकास हुआ, जिनमें कापालिक और कालमुख विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

शैव लोग भी विधर्मियों को अपने धर्म में दीक्षित करते थे। अनेक विदेशी आक्रान्ता शैव-धर्म की ओर भी आकृष्ट हुए। इनमे कुशाण-राजा विम मुख्य है। उसके कुछ सिक्कों पर त्रिशूलधारी शिव की प्रतिमा है, जो अपने वाहन नन्दी के समीप खड़ा है। विम के समान अन्य भी अनेक विदेशियों ने शैव-धर्म की दीक्षा ली। वैष्णव भागवतो के समान शैव भागवत धर्म का भी बौद्ध धर्म के ह्रास के बाद विशेष रूप से प्रचार होने लगा था।

शैव-मंदिरों मे पहले शिव की मूर्ति स्थापित की जाती थी। शैव लोग उसकी भक्ति व उपासना करते थे। बाद में शिव का स्थान लिंग ने ले लिया। शैव लोग लिंग की पूजा करने लगे। इस परिवर्तन के दो कारण हुए। ऐसा प्रतीत होता है, कि शैव-धर्म को किसी ऐसी विदेशी जाति ने विशेष रूप से अपनाया, जिसमे लिंग की पूजा प्रचलित थी। जब कोई जन-समाज किसी नये धर्म को अपनाता है, तो उस जन-समाज के पुराने विश्वास व प्रथाएँ भी नये रूप में उस धर्म में समाविष्ट हो जाती हैं। जब इस्लाम का प्रचार ईरान में हुआ, तो वहाँ की अनेक बातें इस्लाम-धर्म में आ गयीं। इसी से शिया-सम्प्रदाय का विकास हुआ। इसी प्रकार किसी लिंग-पूजक जाति के शैव-सम्प्रदाय को अपना लेने पर वह पूजा शैव-धर्म में आ गयी, और लिंग को भगवान् शिव का चिह्न या लिंग मान लिया गया। साथ ही, संसार की जो सर्वोपरि उत्पादन शक्ति है, लिंग उसका प्रतीक है। भगवान् शिव सृष्टि का पालन व संहार करते हैं। उनका चिह्न सृष्टि की इस रहस्यमयी मूलशक्ति से बढ़कर कौन-सा हो सकता है?

शैव-धर्म को जिन लोगों ने अपनाया, उनमे यौधेयों का उल्लेख करना उपयोगी है। प्राचीन भारत के गणराज्यों में यौधेय गण का बहुत प्रमुख स्थान था। इन यौधेयों के सिक्कों पर भी नन्दी सहित शिव की प्रतिमा पायी जाती है। यौधेय लोग 'शिव भागवत' थे।

सूर्य की पूजा—विष्णु और शिव के समान सूर्य की पूजा भी इस समय भारत में प्रचलित हुई। सूर्य भी वैदिक देवताओं में से एक है। वैदिक काल मे उसकी भी मान्यता भारत में विद्यमान थी। पर सूर्य की पूजा के लिए मंदिरों की स्थापना नहीं की जाती थी। अब इस युग मे भारत मे सूर्य के भी मंदिर बनाये गये और उनमें सूर्य की मूर्ति स्थापित की गयी। ऐसा प्रतीत होता है, कि सूर्य की इस नये रूप में पूजा का श्रेय भारत और प्राचीन ईरान (शाकद्वीप) के सम्बन्ध को है। भविष्यपुराण के अनुसार सूर्य की पूजा के लिए शाकद्वीप से मग ब्राह्मणों को बुलाया गया था। प्राचीन ईरान मे सूर्य की पूजा देर से प्रचलित थी। ईरान के लोग भी आर्य-जाति के थे, और उनके धर्म व संस्कृति का भारत के आर्यों से सन्निकट सम्बन्ध था। इन मग व ईरानी ब्राह्मणो ने भारत मे सूर्य व मिहिर की पूजा की व्यवस्था की। कनिष्क के अनेक सिक्को पर मिहिर की प्रतिमा भी अंकित है। वर्तमान समय में जो सूर्य के मंदिर विद्यमान है, उनमे मुलतान (मूलस्थानपुर) का सूर्यमंदिर सबसे प्राचीन है। प्राचीन समय मे अन्यत्र भी बहुत-से सूर्य-मंदिर विद्यमान थे। इनके बहुत-से खण्डहर इस समय काश्मीर, अलमोडा आदि में मिलते है।

बौद्ध-धर्म के ह्रास के बाद भारत मे जिस धर्म का प्रचार हुआ, वह वैदिक परम्परा के अनुकूल था, वह वेदो मे विश्वास रखता था। पर उसका स्वरूप यज्ञ-प्रधान पुराने वैदिक धर्म से बहुत भिन्न था। उसमें कर्मकाण्ड का स्थान भक्ति व पूजा ने ले लिया था। वासुदेव कृष्ण, शिव और सूर्य के अतिरिक्त शक्ति, स्कन्द, गणपति आदि अन्य भी अनेक देवताओ की मूर्तियाँ इस समय बनी, और उनके मंदिर भी स्थापित किये गये। इस सब प्रवृत्ति की तह मे वही भक्ति-भावना काम कर रही थी, जिसका प्रतिपादन कृष्ण ने इन शब्दों मे किया था, 'सब धार्मिक अनुष्ठानो को छोडकर एक मेरी शरण मे आओ'। वैदिक देवताओ की पूजा का यह एक नया प्रकार इस समय भारत मे प्रचलित हो गया था।

(५) बौद्ध धर्म की प्रगति

बौद्ध साहित्य के अनुसार पुष्यमित्र शुंग बौद्ध धर्म का कट्टर शत्रु था। उसने बौद्धो पर अनेकविध अत्याचार किये, और शाकल (सियालकोट) मे यह आदेश दिया कि जो कोई किसी बौद्ध भिक्षु का संहार करके उसका सिर प्रस्तुत करेगा, उसे १०० सुवर्ण मुद्राएँ प्रदान की जाएँगी। इसमें सन्देह नहीं, कि पुष्यमित्र के समय में प्राचीन वैदिक धर्म का पुनरुत्थान हुआ था, और शुंग, कण्व व सातवाहन राजा बौद्ध धर्म के अनुयायी व संरक्षक नही थे। पर इससे यह परिणाम निकालना सही नहीं है, कि दूसरी सदी ई० पू० से भारत मे बौद्ध धर्म का ह्रास प्रारम्भ हो गया, और इस देश

की जनता बुद्ध द्वारा प्रतिपादित अष्टांगिक आर्य मार्ग से विमुख हो गई। शुंग-कण्व-सातवाहन युग में न केवल सर्वसाधारण जनता में बौद्ध धर्म का भली-भांति प्रचार था, अपितु इस काल के बहुसंख्यक विदेशी (यवन, शक और कुशाण) शासकों ने भी इस धर्म को अपना लिया था। यही कारण है कि इस युग के अनेक शिलालेखों में बौद्ध विहारों, स्तूपों और चैत्यों को दिये गये दान का उल्लेख पाया जाता है। अनेक प्रसिद्ध बौद्ध स्तूप शुंग-कण्व युग में ही बने थे। भरहुत स्तूप, कार्ले के गुफागृह और सांची का प्रसिद्ध स्तूप प्रधानतया इसी युग की कृति हैं। यद्यपि उनका निर्माण मौर्य युग मे प्रारम्भ हो चुका था, पर वे इसी काल में अपने वर्तमान रूप में आये थे। प्रसिद्ध यवन राजा मिनान्डर (मिलिन्द) ने न केवल बौद्ध धर्म की दीक्षा ग्रहण कर ली थी, अपितु उसके प्रचार व उत्कर्ष का भी उसने उद्योग किया था। उसके कतिपय सिक्कों पर धर्मचक्र अंकित है, और उसने अपने साथ 'त्रात' और 'ध्रमिग्र' (धार्मिक) विशेषणों का प्रयोग किया है। मिनान्डर के अनुकरण में बहुत-से अन्य यवन राजाओं ने भी बौद्ध धर्म को स्वीकार किया था। अगथोक्लीज नामक यवन राजा ने अपने सिक्कों पर स्तूप और बोधि-वृक्ष को अंकित किया है। प्रसिद्ध कुशाण सम्राट् कनिष्क भी बौद्ध धर्म का अनुयायी था, और उसने इस धर्म के प्रचार के लिए विशेष रूप से उद्योग भी किया था।

बौद्ध धर्म के आन्तरिक विकास की दृष्टि से भी शुंग-कण्व-सातवाहन युग का बहुत महत्त्व है। विभिन्न प्रदेशों और राज्यों में बौद्ध धर्म के प्रसार का यह परिणाम स्वाभाविक था, कि उसमे विविध आचार-विचार और मन्तव्यों का भेद उत्पन्न होने लगे। विभिन्न मनुष्यों, जातियो व समाजों में जो आचार-विचार, विश्वास व संस्कार बद्धमूल होते हैं, किसी नये धर्म मे दीक्षित हो जाने से वे पूर्णतया मिट नहीं जाते। उनके कारण एक ही धर्म मे विभिन्न सम्प्रदायो का प्रादुर्भाव हो जाता है। महात्मा बुद्ध की मृत्यु के एक सदी पश्चात् जब वैशाली मे बौद्ध धर्म की द्वितीय संगीति (महा-सभा) हुई, तो पारस्परिक मतभेद के कारण बौद्ध लोग दो सम्प्रदायों में विभक्त हो गये, जिन्हे महासाधिक और स्थविरवाद (थेरवाद) कहते हैं। स्थविरवाद के केन्द्र कौशाम्बी और उज्जैनी थे, और महासांघिक सम्प्रदाय वैशाली व पाटलिपुत्र में केन्द्रित था। अगली एक सदी में महासांघिक सम्प्रदाय आठ निकायो मे विभक्त हो गया, जिनमे एकव्यावहारिक और लोकोत्तर प्रमुख थे। इसी प्रकार बाद में स्थविरवाद मे भी अनेक सम्प्रदायो का विकास हुआ, और अशोक के समय तक बौद्ध धर्म अठारह सम्प्रदायों मे विभक्त हो चुका था। बौद्ध धर्म की तृतीय सगीति में अशोक ने इन भेदों को दूर करने का प्रयत्न किया, और उसमे सफल न होने पर उसने स्थविरवाद को बुद्ध की मूलशिक्षाओं के अनुरूप घोषित किया। अशोक ने जिस बौद्ध धर्म को देश-विदेश में प्रसारित करने के लिए महान् उद्योग किया था, वह स्थविरवाद ही था। इसी के सिद्धान्तों को मोग्गलिपुत्त तिस्स ने 'कथावत्थु' नामक ग्रन्थ मे युक्तिपूर्वक प्रतिपादित किया था।

महासांघिक सम्प्रदाय के अनुयायी बुद्ध के लोकोत्तर स्वरूप मे विश्वास करते थे। बुद्ध के लौकिक रूप का उनके सिद्धान्त में कोई स्थान नहीं था। उनका विश्वास

था, कि बुद्ध सर्वज्ञ थे और मानव निर्बलताओं से सर्वथा विमुक्त थे। उन्होंने दार्शनिक सिद्धान्तों का भी विकास किया, और यह प्रतिपादित किया कि 'मूलविज्ञान' एक ऐसा तत्त्व है जो प्राणीरूप से पुनर्जन्म लेता है। यह महासांघिक सम्प्रदाय ही था, जिससे कि आगे चलकर महायान का विकास हुआ। प्रारम्भ में इस सम्प्रदाय का केन्द्र वैशाली में था, पर बाद मे यह भारत में अनेक प्रदेशो में फैल गया, और अमरावती और नागार्जुनकोण्ड इसके प्रधान केन्द्र हो गये। महासांघिक सम्प्रदाय का प्रवर्तक महाकस्सप को माना जाता है।

स्थविरवाद का प्रवर्तक महाकच्छपायन था, जो उज्जैनी का निवासी था। क्योंकि राजा अशोक द्वारा संगठित तृतीय संगीति ने इसे ही बुद्ध की शिक्षाओं के अनुरूप स्वीकृत किया था, अतः अशोक के पुत्र महेन्द्र ने इसी का श्रीलंका में प्रचार किया, और मोग्गलिपुत्त तिस्स द्वारा प्रेषित अन्य प्रचारक भी इसी को विविध प्रदेशों मे ले गये। मथुरा, गान्धार, काश्मीर आदि मे इसी सम्प्राय का प्रचार हुआ।

स्थविरवाद के विभिन्न सम्प्रदायो में सर्वास्तिवाद सर्वप्रधान है। यह संम्प्रदाय तत्त्वों की अनित्यता में विश्वास न कर उन्हे उसी प्रकार से नित्य स्वीकार करता है, जैसे कि वैशेषिक दर्शन के अनुयायी परमाणुओं को नित्य मानते हैं। कुशाण सम्राट् कनिष्क सर्वास्तिवाद मे ही विश्वास रखता था, और उसके समय मे इस सम्प्रदाय का मध्य एशिया और चीन मे भी प्रवेश हुआ।

सम्राट् कनिष्क के समय मे बौद्ध धर्म की चौथी संगीति (महासभा) हुई। काश्मीर के कुण्डलवन विहार में ५०० बौद्ध विद्वान् एकत्र हुए, जिनमे आचार्य वसुमित्र और पार्श्व प्रधान थे। महासभा मे एकत्र विद्वानो ने बौद्ध धर्म के सिद्धान्तो को स्पष्ट करने और विविध सम्प्रदायों के मतभेद को दूर करने के लिए 'महाविभाषा' नाम का एक विशाल ग्रन्थ तैयार किया। यह ग्रन्थ बौद्ध त्रिपिटक के भाष्य के रूप मे लिखा गया था।

महायान सम्प्रदाय का प्रादुर्भाव—यद्यपि बौद्ध धर्म मे विभिन्न सम्प्रदायों का विकास बहुत पहले ही प्रारम्भ हो गया था, पर दूसरी सदी ई० पू० के लगभग बौद्धों मे एक नवीन सम्प्रदाय का प्रादुर्भाव हुआ, जिसे 'महायान' कहते हैं। जैसा कि हमने अभी ऊपर लिखा है, महायान का विकास महासांघिक सम्प्रदाय से हुआ था, जिसके प्रधान केन्द्र अमरावती और नागार्जुन-कोण्ड (आन्ध्र में) थे। अष्टसाहस्रिका-प्रज्ञा-पारमिता मे लिखा है, कि महायान की उत्पत्ति दक्षिणापथ में हुई, जहाँ से वह प्राच्य देश मे गया और फिर उत्तरापथ में जाकर भली-भाँति विकसित हुआ। इसमें सन्देह नहीं, कि महायान का प्रादुर्भाव आन्ध्र प्रदेश में हुआ था, जो चिरकाल से महासांघिक सम्प्रदाय का प्रधान केन्द्र था। अन्यत्र उसका प्रसार वहीं से हुआ। जिन आचार्यों ने इसका विशेष रूप से प्रतिपादन किया, उनमे नागार्जुन, आर्यदेव, असंग और वसुबन्धु के नाम उल्लेखनीय है। नागार्जुन का जन्म विदर्भ के एक ब्राह्मण परिवार में हुआ था, और अपने ज्ञान व शील के कारण बौद्ध जगत् मे उसने प्रमुख स्थान प्राप्त कर लिया था। असंग भी जन्म से ब्राह्मण था और पेशावर का निवासी था। वसुबन्धु उसी का भाई था।

महायान के अनुसार मनुष्य के जीवन का उद्देश्य बोधिसत्त्व के आदर्श को प्राप्त करना है। चाहे कोई भिक्षु हो या उपासक (गृहस्थ), प्रत्येक को बोधिसत्त्व का पद प्राप्त करने के लिए प्रयत्न करना चाहिए। इसके लिए मनुष्यों को निम्नलिखित पारमिताओं को अपने जीवन में क्रियान्वित करना चाहिए—दान, शील, शान्ति, वीर्य, ध्यान, प्रज्ञा, उपायकौशल्य, प्रणिधान, बल और ज्ञान। इन पारमिताओं का अविकल रूप से पालन करने पर ही बोधिसत्त्व का पद प्राप्त किया जा सकता है, और बोधिसत्त्व हुए बिना कोई बुद्धत्व को प्राप्त नहीं कर सकता। गौतम को भी बुद्धत्व प्राप्त करने से पूर्व बहुत-से पूर्वजन्मों में इन पारमिताओं का पालन कर बोधिसत्त्व की स्थिति प्राप्त करनी पड़ी थी। जातक और अवदान साहित्य मे गौतम द्वारा पूर्वजन्मों मे किये गये उन सुकृतों का ही उल्लेख है, जिनके कारण उसने पहले बोधिसत्त्व पद प्राप्त किया और अन्त में बुद्धत्व।

महासांघिकों के समान महायान के अनुयायी भी बुद्ध के लोकोत्तर स्वरूप में विश्वास करते थे। इसी कारण समयान्तर में उन्होंने बुद्ध की मूर्तियाँ बनाना और उन्हे चैत्यों व मन्दिरों मे प्रतिष्ठित कर उनकी पूजा प्रारम्भ की। बौद्धों में मूर्त्ति-पूजा का जो इतना अधिक प्रचार हुआ, उसका श्रेय महासांघिकों और महायान को ही है। बुद्ध की मूर्त्ति की पूजा द्वारा अपनी धार्मिक भावना की संतुष्टि करना एक ऐसा साधन था, जिस के कारण यह धर्म सर्वसाधारण जनता में बहुत लोकप्रिय हुआ, और धीरे-धीरे न केवल भारत में अपितु अन्य देशों मे भी बहुत-से ऐसे बौद्ध विहार व चैत्य स्थापित हो गये, जिनमें एकत्र होकर सर्वसाधारण उपासक भी अपनी धार्मिक क्षुधा को शान्त कर सकते थे।

महायान के अनुयायी अपने से भिन्न सम्प्रदायों के लिए 'हीनयान' संज्ञा का प्रयोग करते थे। परिणाम यह हुआ, कि महायान के प्रादुर्भाव के अनन्तर बौद्ध धर्म दो प्रधान विभागों में विभक्त हो गया, महायान और हीनयान। अन्य सब सम्प्रदाय इन्हीं के अन्तर्गत हो गये।

क्योकि महायान के विकास के साथ-साथ मूर्तिपूजा का विशेष रूप से प्रचार हुआ, अतः भारत में मूर्त्ति कला भी विशेष रूप से विकसित होने लगी। इस कला के विकास पर हम इसी अध्याय मे आगे प्रकाश डालेंगे।

(६) जैन धर्म की प्रगति

वर्धमान महावीर की जीवनी, उनकी शिक्षाओं और जैन साहित्य के सम्बन्ध में इस इतिहास में पहले लिखा जा चुका है। बौद्ध धर्म के साथ-साथ जैन धर्म का भी भारत के विभिन्न प्रदेशों में प्रचार होता रहा, और बहुत-से नरनारी उसके अनुयायी हो गये। जैन धर्म के अनुसार मनुष्य के जीवन का चरम लक्ष्य 'केवलित्व' प्राप्त करना है। वर्धमान महावीर 'केवली' पद को प्राप्त करने में समर्थ हुए थे, और उनके पश्चात् गौतम इन्द्रभूति, सुधर्मा और जम्बूस्वामी आदि अन्य भी अनेक ऐसे मुनि हुए, जिन्होने कैवल्य पद को प्राप्त किया था। पर इनके पश्चात् कोई मनुष्य केवलित्व पद को प्राप्त नहीं कर सका। बाद के जैन मुनि या तो श्रुतकेवली हुए और या देशपूर्वी।

श्रुतकेवली उन मुनियो को कहते थे जो शास्त्रों के तो पूर्ण पण्डित हों, पर जो केवलित्व के चरम लक्ष्य को प्राप्त न कर सके हो। दशपूर्वी मुनि शास्त्रों के दस 'पूर्वों' में ही दक्ष होते थे। जैन अनुश्रुति में इन केवली, श्रुतकेवली और दशपूर्वी मुनियों का वृत्तान्त पर्याप्त विस्तार के साथ दिया गया है। पर इस इतिहास मे उसका उल्लेख करना निरर्थक है।

जैन धर्म के इतिहास की प्रधान उल्लेखनीय घटना उसका दिगम्बर और श्वेताम्बर सम्प्रदायो में विभक्त होना है। जैन अनुश्रुति के अनुसार आचार्य भद्रबाहु ने यह भविष्यवाणी की थी, कि शीघ्र ही उत्तरी भारत मे एक घोर दुर्भिक्ष पड़ने वाला है जो बारह वर्ष तक रहेगा। इस भावी विपत्ति को दृष्टि मे रखकर उन्होने यह निश्चय किया कि अपने अनुयायियो के साथ दक्षिण भारत मे प्रवास कर लिया जाए, जहाँ दुर्भिक्ष की कोई सम्भावना नही थी। पर भद्रबाहु के सब अनुयायी उनके साथ सुदूर दक्षिण जाने के लिए तैयार नही हुए। ऐसे व्यक्तियों को मगध मे ही छोड़कर आचार्य भद्रबाहु ने अपने १२,००० साथियों के साथ दक्षिण की ओर प्रस्थान कर दिया, और कर्णाटक राज्य में श्रवणबेलगोला नामक स्थान पर जाकर आश्रय लिया। वहाँ पहुँचकर भद्रबाहु ने अनुभव किया कि उनका अन्त समय समीप आ गया है, अतः मुनियों की परम्परा का अनुसरण कर उन्होंने अनशन व्रत द्वारा प्राणो का त्याग किया। भद्रबाहु के पश्चात् आचार्य विशाख उनके स्थान पर जैनों के नेता बने। जैन अनुश्रुति के अनुसार जिन लोगो ने दुर्भिक्ष के इस अवसर पर मगध से दक्षिण के लिए प्रस्थान किया था, उनमे राजा चन्द्रगुप्त मौर्य भी थे। यह चन्द्रगुप्त अशोक के पितामह चन्द्रगुप्त मौर्य थे, या अशोक के पौत्र सम्प्रति (चन्द्रगुप्त द्वितीय), इस प्रश्न पर मतभेद है। यहाँ जिस तथ्य की ओर हमे निर्देश करना है, वह यह है कि जो बहुत-से जैन इस समय दक्षिण की ओर न जाकर मगध व उत्तरापथ मे ही रहते रहे थे, उनके आचरण व आचार-विचार मे कुछ अन्तर आना प्रारम्भ हो गया था। उनके मुनियों ने इस समय से श्वेत वस्त्र पहनना प्रारम्भ कर दिया, जब कि पुराने मुनि निर्वसन होकर ही रहा करते थे। उन्होंने एक विशेष परिधान द्वारा, जिसे अर्धफालक कहते थे, अपने सिर भी ढकने प्रारम्भ कर दिये। उत्तरापथ के इन जैन मुनियो के नेता आचार्य स्थूलभद्र थे। दुर्भिक्ष की समाप्ति पर जब दक्षिण मे प्रवासी हुए जैन उत्तरापथ वापस लौटे, तो उनके नेता विशाख ने मुनियों के उन मतभेदो को दूर करने का बहुत प्रयत्न किया, जो पिछले वर्षों में विकसित हो गये थे। पर उन्हें सफलता नही मिली। उनके मतभेदों में निरन्तर वृद्धि होती गई, जिसके कारण प्रथम सदी ई० प० का अन्त होने से पूर्व ही जैनों मे दो सम्प्रदाय स्पष्ट रूप से विकसित हो गये, जिन्हे श्वेताम्बर और दिगम्बर कहते हैं। भद्रबाहु का काल तीसरी सदी ई० पू० मे है, और उसी समय से जैनों में उन मतभेदों का प्रादुर्भाव होने लग गया था, जिनके कारण आगे चलकर वे दो सम्प्रदायों में विभक्त हो गये।

श्वेताम्बर सम्प्रदाय की अनुश्रुति के अनुसार वर्धमान महावीर के निर्वाण के ६०९ वर्ष पश्चात् (प्रथम सदी ई० प० मे) शिवभूति नाम का एक आचार्य हुआ, जिसे मुनि आर्यरक्षित ने जैन धर्म मे दीक्षित किया था। एक बार रथवीरपुर (जहाँ का

शिवभूति निवासी था) के राजा ने शिवभूति को एक बहुमूल्य पोशाक भेंट रूप से प्रदान की। जब मुनि आर्यरक्षित ने अपने शिष्य को बहुमूल्य पोशाक पहने देखा, तो उन्होंने उस पोशाक को फाड़कर टुकड़े-टुकड़े कर दिया। शिवभूति ने अपने गुरु के अभिप्राय को समझ कर तब से निर्वसन होकर रहना प्रारम्भ कर दिया। इसी से दिगम्बर सम्प्रदाय का प्रादुर्भाव हुआ।

जैन ग्रन्थों में उन आचार्यों और मुनियों का विशद रूप से वर्णन मिलता है, जिन्होंने न केवल अपने मन्तव्यों व सिद्धान्तों के प्रतिपादन के लिए विद्वत्तापूर्ण ग्रन्थों की रचना की, अपितु अपने धर्म के प्रचार के लिए भी विशेष रूप से उद्योग किया। पर इस इतिहास मे उनका उल्लेख कर सकना सम्भव नहीं है। इसमे सन्देह नहीं कि जैन मुनि भी बौद्ध स्थविरों और भिक्षुओं के समान ही अपने धर्म के प्रचार के लिए प्रयत्नशील रहे, और भारत के बड़े भाग को वे अपने प्रभाव में लाने में भी समर्थ हुए।

(७) जातिभेद का विकास

प्राचीन आर्य बहुत-से जनों (कबीलों) में बँटे हुए थे। जन के सब लोगों को 'विशः' कहा जाता था। शुरू में उसमें कोई वर्ण या जातियाँ नहीं थी। सारे आर्यजन खेती, पशुपालन आदि से अपना निर्वाह करते थे। युद्ध के अवसर पर वे सब हथियार उठाकर लडने के लिए प्रवृत्त हो जाते और धार्मिक अनुष्ठान के अवसर पर सब लोग स्वयं कर्मकांड का अनुष्ठान करते। पर जब 'जन' एक निश्चित प्रदेश मे बसकर 'जनपद' बन गये, तब उन्हे निरन्तर युद्धों मे व्यापृत रहने की आवश्यकता हुई। आर्यों को उन अनार्य जातियों से निरन्तर युद्ध करना होता था, जिन्हे परास्त कर वे अपने जनपद बसा रहे थे। विविध जनपदों मे आपस का संघर्ष भी जारी था। परिणाम यह हुआ, कि एक ऐसी विशेष श्रेणी बनने लगी, जिसका कार्य केवल युद्ध करना था, जो जनपद की 'क्षत' से रक्षा करती थी। इस प्रकार धीरे-धीरे एक पृथक् वर्ण का विकास हुआ, जिसे क्षत्रिय कहते हैं। इसी तरह जब यज्ञो के कर्मकाण्ड ज्यादा जटिल होने लगे, ऐहलौकिक और पारलौकिक सुख के लिए विविध अनुष्ठानों का प्रारम्भ हुआ, तो ऐसे वर्ग का भी पृथक् विकास होने लगा, जो इन धार्मिक विधि-विधानों में अधिक निपुणता रखते थे। ये लोग ब्राह्मण कहलाये। साधारण 'विशः' से ब्राह्मणों और क्षत्रियों के वर्ण पृथक् होने लग गये। जो आर्य-भिन्न लोग आर्य-जनपदो मे बसे रह गये थे, वे आर्यों की सेवा करके ही अपनी आजीविका चला सकते थे। ये लोग शूद्र कहलाये। इस प्रकार प्रत्येक आर्य-जनपद की जनता को मोटे तौर पर चार वर्णों में बाँटा जा सकता था। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र वर्णों का यह विभाग गुण और कर्म के ही आधार पर था।

पर आर्य लोग ज्यों-ज्यों पूर्व की ओर बढ़ते गये, उनके जनपदों मे आर्य-भिन्न लोगों की संख्या अधिकाधिक होती गयी। पंजाब और गंगा-यमुना की घाटियों में विद्यमान आर्य-जनपदों में अनार्य लोगों की संख्या बहुत कम थी। शूद्र के रूप में उन्हें सुगमता से अपने समाज का ही एक अंग बनाया जा सकता था। पर पूर्व और दक्षिण में आगे बढ़ने पर आर्यों को एक नयी परिस्थिति का सामना करना पड़ा। मगध, अंग,

वंग, कलिंग और अवन्ति जैसे जनपदों में अनार्य लोग बहुत बड़ी संख्या में थे। उनका न जड़ से उन्मूलन किया जा सकता था, और न उन्हें आगे-आगे खदेड़ा ही जा सकता था। पूर्व और दक्षिण में बहुत दूर तक आगे बढ़ आने वाले आर्य-विजेताओं ने विवश होकर इन अनार्यों की स्त्रियों से विवाह-सम्बन्ध भी स्थापित किये थे। परिणाम यह हुआ, कि अनेक वर्णसंकर जातियों का विकास हुआ। मगध और उसके समीपवर्ती जनपदों मे बौद्ध और जैन धर्मों के रूप में जिन नवीन धार्मिक आन्दोलनों का प्रारम्भ हुआ था, उनके वर्णभेद और जातिभेद-सम्बन्धी विचार इसी नयी परिस्थिति के परिणाम थे। ब्राह्मण व किसी विशेष श्रेणी की उत्कृष्टता की बात उन्हें समझ में नहीं आती थी। वहाँ जो सैनिक लोग थे, वे भी शुद्ध आर्य क्षत्रिय न होकर व्रात्य थे। व्रात्यों को भी प्राचीन ग्रन्थों मे वर्णसंकर गिना गया है। वज्जि, मल्ल, लिच्छवि आदि सब व्रात्य ही थे। पूर्व और दक्षिण के इन जनपदों मे न केवल क्षत्रिय अपितु ब्राह्मण भी वर्णसंकर थे। सातवाहन-राजा जाति से ब्राह्मण समझे जाते थे, पर उनमे अनार्य रक्त विद्यमान था। जब मागध-साम्राज्य का विकास हुआ, और मगध की अनार्य-प्रधान सेनाओं ने सारे भारत को जीत लिया, तो प्राचीन आर्यजनो के शुद्ध ब्राह्मणो व क्षत्रियों की उत्कृष्टता कैसे कायम रह सकती थी। बौद्ध और जैन ब्राह्मण व क्षत्रियो की उत्कृष्टता को नहीं मानते थे। उनकी दृष्टि मे कोई व्यक्ति अपने गुणो व चरित्र से ही ऊँचा होता था, जन्म या जाति से नहीं। मागध-साम्राज्य के विकास की नयी परिस्थितियो में यह सिद्धान्त कितना समयानुकूल था।

बाद मे शक, यवन और युइशि लोगों के आक्रमणो से एक और नयी परिस्थिति उत्पन्न हुई। इन विजेताओ ने भारत के बडे भाग को जीतकर अपने अधीन कर लिया था। ये उत्कृष्ट योद्धा थे। बहुत बडी सख्या मे ये लोग भारत के विविध जनपदों में विजेता के रूप में बस गये थे। इनकी राजनीतिक और सामाजिक स्थिति बहुत ऊँची थी। बौद्ध और जैन-विचारधारा के अनुसार इनके कारण सामाजिक जीवन मे कोई कठिनाई उत्पन्न नहीं होती थी। भारत मे आकर इन्होंने बौद्ध या जैन धर्म को अपनाना शुरू कर दिया था। जाति-पाँति व वर्णभेद के विचारो से शून्य इन धर्मों के लिये इन म्लेच्छ विजेताओ को अपने समाज का अग बना लेना विशेष कठिन नहीं था।

पर सनातन आर्य-धर्म के पुनरुत्थान के इस काल मे इस नयी परिस्थिति का सामना चातुर्वर्ण्य में विश्वास रखने वाले पौराणिक धर्मावलम्बियो ने किस प्रकार किया? चातुर्वर्ण्य का सिद्धान्त प्राचीन आर्य-धर्म की एक विशेषता थी। बौद्धों के उत्कर्ष के काल मे भी उसका सर्वथा परित्याग कर सकना सम्भव नहीं था। पर इन शक्तिशाली आर्य-भिन्न योद्धाओ, यवनो, शको व अन्य बहुत-सी जातियो को चातुर्वर्ण्य मे किस प्रकार स्थान दिया जाता? किस प्रकार ऐसी व्यवस्था की जाती, कि इस युग की नयी भावना से चातुर्वर्ण्य का सिद्धान्त पुन. अनुप्राणित हो जाता? वैदिक धर्म के पुनरुत्थान के नेताओ ने इस सम्बन्ध मे जिस नीति का अनुसरण किया, वह बड़े महत्त्व की है। उन्होने कहा—यवन, शक, पारद, पल्हव, कम्बोज, द्रविड, पौण्ड्रक आदि ये सब जातियाँ मूलतः क्षत्रिय थी, पर ब्राह्मणों का सम्पर्क न रहने से ये वृषलत्व (म्लेच्छत्व) को प्राप्त हो गयीं। पर अब जब इन्हे फिर ब्राह्मणो का सम्पर्क मिला और इन्होंने

वैदिक सम्प्रदायों को अपना लिया, तो इन्हें क्षत्रिय क्यों न समझ लिया जाय ? भारत में जो शक, पल्हव, यवन आदि आये, वे सब इस समय क्षत्रियों में शामिल कर लिये गये। हमारे पुरखाओं की यह युक्ति कितनी सुन्दर थी ! जो ये मलेच्छ आक्राता भारत पर आक्रमण कर यहाँ अपनी राजनीतिक शक्ति को स्थापित करने में सफल हुए थे, वे सब मनु के इस सिद्धान्त के अनुसार क्षत्रियवर्ग में शामिल हो गये। ब्राह्मणों के पुनः सम्पर्क से अब उन्होंने वासुदेव कृष्ण और शिव की उपासना प्रारम्भ कर दी थी। उनमें वृषलत्व कुछ शेष नहीं रह गया था। इसी तरह इन विदेशी मलेच्छों के पुरोहित ब्राह्मणवर्ग में सम्मिलित कर लिये गये, क्योंकि उन्होंने भी प्राचीन आर्य-विचारधारा को अपना लिया था। मुलतान के सूर्य-मंदिर में शाकद्वीप (शकस्थान) के 'ब्राह्मणों' को पुजारी के रूप में नियत करना इसका स्पष्ट उदाहरण है।

मगध, अवंति, अंग आदि जनपदों में आर्य अपनी रक्तशुद्धि को कायम रखने में समर्थ नहीं हुए थे। उन्होंने आर्य-भिन्न जातियों के साथ रक्त सम्बन्ध स्थापित किये थे। इन्हें इस काल मे व्रात्य और वर्णसंकर कहा गया। मनुस्मृति के अनुसार भूर्जकंटक और आवन्त्य व्रात्य ब्राह्मणों की सन्तान थे, और भल्ल, मल्ल व लिच्छवियों की उत्पत्ति व्रात्य क्षत्रियों से हुई थी। कारूष और सात्वत व्रात्य वैश्यों की संतति थे। वैश्यों और क्षत्रियो के सम्मिश्रण से मागध तथा वैश्यो और ब्राह्मणों के सम्मिश्रण से वैदेह लोगों का विकास हुआ था। मनु के इस मत मे कोई सचाई हो या न हो, पर इस वैदिक पुनरुत्थान-युग के विचारक इस तथ्य को दृष्टि मे ला रहे थे, कि मागध, वैदेह, आवन्त्य, लिच्छवि, सात्वत आदि शुद्ध आर्य नहीं है, यद्यपि समाज में उनका महत्त्व है। उन्हे वे व्रात्य ब्राह्मण, व्रात्य क्षत्रिय, व्रात्य वैश्य व वर्णसंकर बताकर चातुर्वर्ण्य के दायरे मे शामिल करने का प्रयत्न कर रहे थे।

इस समय के विचारकों ने एक और सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। अपने कर्म से शूद्र ब्राह्मण बन जाता है, और ब्राह्मण शूद्र। इसी प्रकार क्षत्रिय और वैश्य भी अपने कर्म से ही होते है। युग की परिस्थितियों के अनुसार यह सिद्धान्त कितना क्रियात्मक और समयानुकूल था। जब शक, यवन और कुशाण जैसी म्लेच्छ जातियाँ आर्य-क्षत्रियों को परास्त कर शासन करने में व्यापृत थी, शूद्र-जाति मे उत्पन्न हुए बौद्ध-भिक्षु जनता के धर्मगुरु बने हुए थे, तब यदि कर्म के अनुसार चातुर्वर्ण्य का प्रतिपादन किया जाए, तो इसमें आश्चर्य की क्या बात है ?

पर यहाँ यह भी स्पष्ट करने की आवश्यकता है, कि वर्ण और जाति दो भिन्न-भिन्न वस्तुएँ है। किसी भी आर्य 'जन' मे चारों वर्ण हो सकते थे। गुण और कर्म के अनुसार किसी भी मानवसमूह को इन चार वर्णों मे बाँटा जा सकता है। जब प्राचीन विचारको को एक छोटे-से आर्य-जनपद के क्षेत्र से निकलकर विशाल भारत के जनसमाज में इस चातुर्वर्ण्य के सिद्धान्त का प्रयोग करना पड़ा, तो उन्हें नई परिस्थितियो के कारण कठिनाइयों का सामना करना पडा, यह हम ऊपर प्रदर्शित कर चुके हैं। पर इस युग में बहुत-सी जातियों का एक अन्य प्रकार भी विकास हो रहा था। वर्तमान भारत में खत्री, अरोड़ा, जाट, कोली, मुरई आदि जो सैकड़ों जातियाँ पाई जाती हैं, उन्हें किसी वर्ण में सम्मिलित कर सकना सुगम नहीं है। कोली और मुरई शूद्रों में

शामिल किये जाने से एतराज करते है। पर क्षत्रिय लोग उन्हें क्षत्रिय मानने को तैयार नहीं हैं। यही बात अन्य बहुत-सी जातियो के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है।

वास्तविकता यह है कि, प्राचीन भारत मे जो सैकड़ों छोटे-बड़े गणराज्य थे, वे ही इस युग में धीरे-धीरे जातियों का रूप धारण करने लगे। अब मगध के साम्राज्य विस्तार के साथ इन गणों की राजनीतिक स्वतन्त्रता का अन्त हो गया था। पर मागध-सम्राटों की नीति यह थी, कि वे गणों के अपने धर्मों को नष्ट न करें। इन गणराज्यों में जो अपने रीति-रिवाज व स्थानीय कानून प्रचलित थे, उन्हें मागध-सम्राटों ने न केवल स्वीकार ही किया था, अपितु उन्हें साम्राज्य के कानून का एक अंग भी मान लिया था। यही कारण है कि इन विविध स्थानीय कानूनों को राजकीय रजिस्टरों मे रजिस्टर्ड (निबन्धपुस्तकस्थ) करने की भी व्यवस्था की गई थी। भारत के प्राचीन आचार्यों ने 'स्वधर्म' के सिद्धान्त पर बहुत जोर दिया है। जैसे प्रत्येक मनुष्य को 'स्वधर्म' का पालन करना चाहिये, वैसे ही साम्राज्य के प्रत्येक अंग—ग्राम, कुल, गण और जनपद को भी 'स्वधर्म' मे दृढ रहना चाहिये। जिसके जो अपने व्यवहार, रीति-रिवाज व कानून हो, उनका उसे उल्लंघन नही करना चाहिए। प्राचीन सम्राटों की इस नीति का परिणाम यह हुआ, कि राजनैतिक स्वाधीनता के नष्ट हो जाने पर भी गणों की सामाजिक व आर्थिक स्वाधीनता कायम रही। इसी से वे धीरे-धीरे जाति व बिरादरी के रूप मे परिणत हो गए।

वर्तमान समय की बहुत-सी जातियों की उत्पत्ति प्राचीन गणराज्यो में ढूँढी जा सकती है। पंजाब के आरट्ट और क्षत्रिय गण इस समय के अरोडा और खत्री जातियों में बदल गये। कौटलीय अर्थशास्त्र का श्रेणी-गण इस समय के सैनियों के रूप में अब भी जीवित है। बौद्ध-काल के पिप्पलिवन के मोरिय इस समय भी मोरई जाति के रूप मे विद्यमान है। प्राचीन रोहितक गण इस समय के रस्तोगियों, रुस्तगियों व रोहतगियो के रूप मे, आग्रेयगण अग्रवालों के रूप में, कम्बोज गण कम्बोह जाति के रूप मे, कोलिय गण कोरी जाति के रूप मे, और आर्जुनायनगण अरायन जाति के रूप में इस समय भी स्वतन्त्र रूप से विद्यमान हैं। भारत की बहुत सी वर्तमान जातियो में यह किंवदंती चली आती है, कि उनका उद्भव किसी प्राचीन राजा से हुआ है, और किसी समय उनका भी पृथिवी पर अपना राज्य था। ये किंवदंतियाँ इसी सत्य पर आश्रित हैं, कि किसी समय ये जातियाँ स्वतन्त्र गणराज्यों के रूप में विद्यमान थी, और ये इन गणराज्यो की ही उत्तराधिकारी है।

(८) विवाह-सम्बन्धी नियम

मौर्य-युग में तलाक की प्रथा प्रचलित थी। कौटलीय अर्थशास्त्र मे तलाक के लिए 'मोक्ष' शब्द का प्रयोग किया गया है। स्त्री और पुरुष, दोनो खास-खास अवस्थाओं में तलाक कर सकते थे। पर इस युग मे यह प्रथा कमजोर पड़ गयी थी। मनुस्मृति के अनुसार पुरुष स्त्री का त्याग कर सकता है, पर त्यक्त हो जाने के बाद भी वह पति की भार्या बनी रहेगी। पति से त्यागी जाने पर स्त्री को यह अधिकार नही है, कि वह दूसरा विवाह कर सके। दूसरी ओर स्त्री को यह अधिकार नहीं, कि वह पति का

त्याग कर सके। स्त्री यदि रोगिणी हो, तो उससे अनुमति लेकर पुरुष दूसरा विवाह कर सकता था।

नियोग की प्रथा इस समय में भी जारी थी। सन्तान न होने की दशा में देवर या किसी अन्य सपिण्ड व्यक्ति के साथ नियोग किया जा सकता था। मनु को विधवा-विवाह पसन्द नहीं था। यद्यपि कुछ अवस्थाओं मे स्त्रियों के पुनर्विवाह का विधान किया गया है, पर मनु का मंतव्य यही था कि स्त्री का दूसरा विवाह नहीं होना चाहिए।

यह स्पष्ट है, कि स्त्रियों की स्थिति इस युग में मौर्यकाल की अपेक्षा हीन थी। आगे चलकर स्मृतिकार स्त्रियों की स्थिति को और भी हीन करते गए। बौद्ध लोगों में भिक्षुणियों ने जो अपने पृथक् संघ बनाए थे, उनमें अनाचार की मात्रा बहुत बढ़ गयी थी। स्वयं महात्मा बुद्ध को इस बात का भय था। भिक्षुणी-संघ के अनाचार को देख कर ही शायद इन स्मृतिकारों में यह प्रवृत्ति हुई थी, कि स्त्रियों की स्वाधीनता को कम करें और आर्य-स्त्रियों को उनके पतियों का अधिक वशवर्ती बनाएँ।

(६) राज्य-शासन

मौर्योत्तर-युग के राज्यों मे शासन का प्रकार प्रायः वही रहा, जो मौर्यकाल में था। मागध-सम्राट् इस समय मे भी एकतन्त्र शासक थे। पर बंगाल की खाड़ी से लगाकर मथुरा तक विस्तीर्ण (पुष्यमित्र के बाद के शुंगकाल में) इस साम्राज्य में बहुत-से जनपद अन्तर्गत थे। अनेक जनपदों के अपने पृथक् राजा भी थे, जिनकी स्थिति शुंग-सम्राटो के अधीनस्थ राजाओं की थी। इस प्रकार के दो सामंतों, अहिच्छत्र के इन्द्रमित्र और मथुरा के ब्रह्ममित्र के सिक्के भी उपलब्ध हुए हैं। साम्राज्य के अन्तर्गत इन जनपदो का शासन प्राचीन परम्परा के अनुसार होता था। जनपद के धर्म, कानून, व्यवहार और आचार को मागध-सम्राट् न केवल अक्षुण्ण रखते थे, अपितु उनका भली-भाँति अनुसरण किया जाए, इसका भी पूरा ध्यान रखते थे। पर इन जनपदों से मागध-सम्राट् कर या बलि वसूल किया करते थे। जनपदों का शासन बहुत पुराने समयो से पौर और जानप दसभाओं द्वारा होता चला आता था। प्रत्येक जनपद का एक केन्द्रीय नगर होता था, जिसे पुर कहते थे। यह सारे जनपद के जीवन का केन्द्र-स्वरूप होता था। इसके अग्रणियों की सभा को 'पौर' कहते थे। जनपदों के अन्य निवासियों के अग्रणी जानपद-सभा मे एकत्र होते थे। विविध जनपदो मे ये सभाएँ अब तक भी जीवित थीं। यही कारण है, कि शक रुद्रदामा ने अपने शिलालेख मे 'पौर जानपद' का उल्लेख किया है। इसी प्रकार कलिंग-चक्रवर्ती खारवेल ने भी पौर-जानपदो के साथ किए गए अनुग्रहों को अपने हाथीगुम्फा के शिलालेख मे उत्कीर्ण कराया है। जनपदों के अतिरिक्त 'देशों' के संघों का भी उल्लेख स्मृति-ग्रन्थों में आया है। राजा को उनके भी चरित्र, व्यवहार और धर्म को स्वीकार करना चाहिए। अभिप्राय यह है, कि मागध-साम्राज्य शासन की दृष्टि से एक इकाई नहीं था, वह जनपदों और देशों के रूप में अनेक विभागो में विभक्त था। प्रत्येक विभाग के अपने धर्म, चरित्र और व्यवहार होते थे, जिन्हें मागध-सम्राट् स्वीकार करते थे।

इस काल के सम्राट् एकतंत्र अवश्य थे, पर वे परम्परागत राजधर्म के अनुसार ही शासन करने का प्रयत्न करते थे। राजा के सम्बन्ध में मनुस्मृति का सिद्धान्त यह था, कि अराजक दशा में सब तरफ से पीड़ा होने के कारण जनता की रक्षा के लिए प्रभु ने राजा की सृष्टि की। उसके निर्माण के लिए इन्द्र, वायु, यम, सूर्य, अग्नि, वरुण, चन्द्रमा और धनेश—सब की मात्राएँ ली गयी। क्योंकि राजा देवताओं की मात्रा से बना है, इसलिए उसका तेज सब मनुष्यों में अधिक है।

पर जिस प्रकार राजा ईश्वरीय है, देवताओं की मात्राओं से बना है, वैसे ही 'दंड' भी ईश्वरीय है। मनुस्मृति के अनुसार दंड ही असली राजा है, वही नेता है, और वही शासन करने वाला है। दण्ड सब प्रजा का शासन करता है, दण्ड ही सबकी रक्षा करता है, सबके सोते हुए दण्ड ही जागता है, दण्ड को ही बुद्धिमान् लोग धर्म मानते हैं। दण्ड का अभिप्राय राजधर्म से है। जो परम्परागत धर्म और व्यवहार चले आते हैं, वही दण्ड है, वही वस्तुत: दैवी है। इसीलिए यदि राजा भली-भाँति दण्ड (राजधर्म) का प्रणयन करे, तब तो वह उन्नति करता है, अन्यथा कामात्मा, विषयी और क्षुद्र राजा दण्ड से ही मारा जाता है। दण्ड का बड़ा तेज है। धर्म से विचलित राजा को वह बन्धु-बान्धवसहित मार डालता है। इस प्रकार मनु के अनुसार वास्तविक शक्ति दण्ड की है, न कि राजा की। राजा के लिए उचित यही है, कि वह परम्परागत राजधर्म के अनुसार न्याययुक्त शासन करे। पर यह वही राजा कर सकता है, जो विषयासक्त न हो, जिसकी बुद्धि निश्चित और क्रियाशील हो, जो मूढ और लुब्ध न हो, और जिसको अच्छे सहायकों (मन्त्रियों व अमात्यों) का साहाय्य प्राप्त हो।

मनु के विचार ठीक वैसे ही है, जैसे कि आचार्य चाणक्य ने अपने राजर्षि राजा के सम्बन्ध मे प्रकट किये है। मनु ने एक अन्य स्थान पर लिखा है, कि जो राजा मोह या बेपरवाही से अपने राष्ट्र को सताता है, वह शीघ्र ही राज्य से च्युत हो जाता है, और अपने बन्धु-बान्धवो सहित जीवन से हाथ धो बैठता है। जैसे शरीर के कर्षण से प्राणियो के प्राण क्षीण हो जाते है, उसी प्रकार राष्ट्र के कर्षण से राजाओ के प्राण भी क्षीण हो जाते है। जिस राजा के देखते हुए चीखती-पुकारती प्रजा को दस्यु लोग पकडते हैं, वह मरा हुआ है, जीवित नहीं है।

मनु के इन सन्दर्भों मे मौर्यों के बाद के निर्बल राजाओं के समय की दशा का कैसा सुन्दर आभास है! अधार्मिक राजाओ के विरुद्ध क्रांति करके बार-बार उन्हें पदच्युत किया गया। शक और कुशाण सदृश दस्युओं द्वारा सतायी हुई चीखती-पुकारती भारतीय प्रजा विपद्ग्रस्त हो रही थी। उसकी रक्षा करने मे असमर्थ पिछले शुग व कण्व राजा मरे हुए थे, जीवित नही थे।

शासन-कार्य मे राजा की सहायता करने के लिए 'मंत्रिपरिषद्' इस युग मे भी विद्यमान थी। मनु के अनुसार सात या आठ सचिव होने चाहिएँ, जिनसे कि राज्य के प्रत्येक कार्य के विषय मे परामर्श लेना चाहिए। मालविकाग्निमित्र के अनुसार राजा अग्निमित्र (शुगवंशी) युद्ध और संधि के प्रत्येक विषय पर अमात्यपरिषद् से परामर्श किया करता था।

(१०) आर्थिक जीवन

मौर्य-युग के समान इस काल में भी आर्थिक जीवन का आधार 'श्रेणी' थी। शिल्पी-लोग श्रेणियों (Guilds) में संगठित थे, और इसी प्रकार व्यापारी भी। इस युग के अनेक शिलालेखों में इन श्रेणियों का उल्लेख किया गया है, और उनसे श्रेणियों के आर्थिक जीवन पर बड़ा उत्तम प्रकाश पड़ता है। ऐसे लेखो में नासिक के गुहामंदिर में उत्कीर्ण शक उषावदात का यह लेख विशेष महत्त्व का है—

"सिद्धि ! बयालीसवें वर्ष मे, वैशाख मास में राजा क्षहरात क्षत्रप नहपान के जामाता दीनाकपुत्र उषावदात ने यह गुहामंदिर चातुर्दिश संघ के अर्पण किया, और उसने अक्षयनीवी तीन हजार पण चातुर्दिश संघ को दिए, जो इस गुहा में रहने वालों के कपड़े के खर्च और विशेष महीनों मे मासिक वृत्ति के लिए होगा। और ये कार्षापण गोवर्धन मे रहने वाली श्रेणियों के पास जमा किए गए। कोलिकों के निकाय में दो हजार एक फीसदी सूद पर; दूसरे कोलिक निकाय के पास एक हजार पौन फीसदी सूद पर। और ये कार्षापण लौटाये नहीं जाएँगे, केवल उनका सूद लिया जायगा। इनमें से जो एक फीसदी पर दो हजार कार्षापण रखाये गए हैं, उनसे गुहामन्दिर में रहने वाले बीस भिक्षुओं मे से प्रत्येक को बारह चीवर दिये जाएँ। और जो पौन फीसदी पर एक हजार कार्षापण हैं, उनसे कुशनमूल्य का खर्च चलेगा। कापुर प्रदेश के गाँव चिखलपद्र को नारियल के ८००० पौद भी दिए गए। यह सब निगमसभा मे सुनाया गया, और फलकवार (लेखा रखने के दफ्तर) मे चरित्र के अनुसार निबद्ध किया गया।"

इस लेख से यह स्पष्ट है, कि कोलिक (जुलाहे) आदि व्यवसायियो के संगठन श्रेणियो के रूप मे थे। ये श्रेणिया जहाँ अपने व्यवसाय का संगठित रूप में संचालन करती थी, वहाँ दूसरे लोगों का रुपया भी धरोहर के रूप मे रखकर उसपर सूद देती थी। उनकी स्थिति समाज में इतनी ऊँची और सम्मानास्पद थी, कि उनके पास ऐसा रुपया भी जमा करा दिया जाता था, जिसे फिर लौटाया न जाए, जिसका केवल सूद ही सदा के लिए किसी धर्मकार्य में लगता रहे। यही कार्य आजकल ट्रस्टी रूप में बैंक करते हैं। सूद की दर एक फीसदी और पौन फीसदी (सम्भवत., मासिक) होती थी, और नगरसभा (निगम) में इस प्रकार की धरोहर को बाकायदा निबद्ध (रजिस्टर्ड) कराया जाता था, यह भी इस लेख से स्पष्ट हो जाता है।

श्रेणियो का इसी प्रकार का उल्लेख अन्य अनेक शिलालेखो में भी उपलब्ध होता है। श्रेणियों के पास केवल रुपया ही नही जमा किया जाता था, अपितु उनको भूमि भी धरोहर के रूप में दी जाती थी, जिसकी आय को वे आदिष्ट धर्मकार्य में प्रयुक्त करती थी। शिल्पियों की श्रेणियो का वर्णन कौटलीय अर्थशास्त्र, मनुस्मृति व अन्य सभी प्राचीन राजशास्त्र-सम्बन्धी साहित्य मे विद्यमान है, पर उनके कार्यों का ऐसा सजीव चित्र इन गुहा-लेखों से ही प्राप्त होता है।

शिल्पियो के समान व्यापारी भी पूगों व निगमों में संगठित होते थे। उनके धर्म, व्यवहार और चरित्र को भी राज्य द्वारा स्वीकार किया जाता था। स्मृतिग्रंथों में लेन-देन के नियमों का विस्तार से वर्णन है। किस प्रकार ऋणलेख तैयार किया जाय,

कैसे उसके साक्षी हों, कैसे प्रतिभू (जामिन) बने, कैसे कोई वस्तु आधि (रहन) रखी जाए, और कैसे इन सब के करण (कागज) तैयार किए जाएँ, इन सब के नियमों का विवरण यह सूचित करता है, कि उस युग में वाणिज्य-व्यापार भली-भाँति उन्नति कर चुका था। कौटलीय अर्थशास्त्र मे जैसे 'संभूय-समुत्थान' का उल्लेख है, वैसे ही स्मृतियों में भी है। अधिक लाभ के लिए व्यापारी लोग मिलकर वस्तुओं को बाजार में रोक लिया करते थे, और इस उपाय से अधिक नफा उठाने में सफल होते थे। एक स्मृति के अनुसार केवल व्यापारी ही नही, अपितु किसान, मजदूर और ऋत्विक् भी इस उपाय का आश्रय लिया करते थे।

विदेशी व्यापार की भी इस युग में खूब उन्नति हुई। मौर्यवंश के निर्बल होने पर जो यवन-राज्य उत्तर-पश्चिमी भारत मे कायम हो गए थे, उनके कारण भारत का पश्चिमी संसार से सम्बन्ध और भी अधिक दृढ़ हो गया था। भारत के पश्चिमी समुद्र-तट के व्यापारी अरब और मिस्र तक जाकर व्यापार किया करते थे। उन दिनों मिस्र की राजधानी अलक्जेण्ड्रिया विद्या, व्यापार और संस्कृति का बडी भारी केन्द्र थी। भारतीय व्यापारी वहाँ तक पहुँचते थे। लाल सागर और नील नदी के रास्ते पर एक भारतीय व्यापारी का ग्रीक भाषा मे लिखा हुआ एक शिलालेख भी उपलब्ध हुआ है। इस व्यापारी का नाम सोफोन था, जो शायद शोभन का ग्रीक रूपान्तर है।

दूसरी सदी ई० पू० मे एक घटना ऐसी हुई, जिसके कारण मिस्र और भारत का व्यापारिक सम्बन्ध और भी अधिक बढ गया। भारत से एक व्यापारी अपने साथियो के साथ समुद्र-यात्रा को गया था। वह समुद्र में मार्ग भूल गया, और महीनों तक जहाज पर ही इधर-उधर भटकता रहा। उसके सब साथी एक-एक करके भूख से मर गए। पर वह लहरों के साथ बहता हुआ मिस्र के निकटवर्ती समुद्र मे जा पहुंचा, जहाँ मिस्र के राजकर्मचारियों ने उसे आश्रय दिया। इस भारतीय व्यापारी की सहायता और मार्ग-प्रदर्शन से मिस्र के लोगो ने जहाज द्वारा सीधे भारत आना-जाना प्रारम्भ किया, और इन दोनों देशों मे व्यापारिक सम्बन्ध और भी दृढ़ हो गया। इस युग के भारतीय व्यापारी मिस्र से भी बहुत आगे यूरोप में व्यापार के लिए आया-जाया करते थे। प्राचीन रोमन अनुश्रुति के अनुसार गॉल (वर्तमान फ्रांस) के प्रदेश में, एल्ब नदी के मुहाने पर कुछ भारतीय जहाज भटक जाने के कारण पहुँच गए थे। अटलांटिक महासमुद्र तक भारतीय व्यापारियो का पहुँच जाना बडे महत्त्व की बात है। यह घटना पहली सदी ई० पू० की है। रोमन साम्राज्य के साथ इस व्यापारिक सम्बन्ध का ही यह परिणाम है, कि हजारा, रावलपिंडी, कन्नौज, इलाहाबाद, मिर्जापुर, चुनार आदि के बाजारो में वर्तमान समय मे प्राचीन रोमन सिक्के उपलब्ध हुए है। अनेक स्तूपों की खुदाई मे भारतीय राजाओ के सिक्को के साथ-साथ रोमन सिक्के भी मिलते हैं, जो इस बात का स्पष्ट प्रमाण है, कि भारत और रोम का व्यापारिक सम्बन्ध इस युग में बडा घनिष्ठ था। भारत से समुद्र के रास्ते हाथीदाँत का सामान, मोती, वैदूर्य, काली-मिर्च, लौंग, अन्य मसाले, सुगन्धियाँ, औषधियाँ, रेशमी और सूती कपडे बडी मात्रा में रोम भेजे जाते थे। रोम मे मिर्च-मसालो के लिए एक गोदाम बना हुआ था, जिसमें भारत का यह माल लाकर जमा किया जाता था। रोम में काली मिर्च बहुत मँहगी

बिकती थी। काली मिर्च का मूल्य दो दीनार एक सेर था। एक रोमन लेखक ने लिखा है, कि भारतीय माल रोम में आकर सौगुनी कीमत पर बिकता है, और उसके द्वारा भारत रोम से हर साल छः लाख के लगभग सुवर्ण-मुद्राएँ खींच ले जाता है। एक अन्य रोमन लेखक ने लिखा है, कि रोमन स्त्रियाँ हवा की जाली की तरह बारीक बुनी हुई भारतीय मलमल को पहनकर अपना सौन्दर्य प्रदर्शित करती हैं। रोम और भारत के इस सामुद्रिक व्यापार का सबसे बड़ा केन्द्र केरल प्रदेश मे था। इसीलिए वहाँ कई स्थानों पर खुदाई में रोमन सिक्के बहुत बड़ी संख्या में उपलब्ध हुए हैं।

मिस्र और रोम की अपेक्षा बरमा, जावा, सुमात्रा, चम्पा और चीन आदि के साथ भारत का विदेशी व्यापार और भी अधिक था। इन सुदूरवर्ती देशो को बड़े-बड़े जहाज माल भरकर जाया करते थे। उस युग के संसार मे तीन साम्राज्य सबसे अधिक शक्तिशाली थे—रोमन, भारतीय और चीनी। भारत इन तीनों के बीच मे पड़ता था। यही कारण है, कि इसका रोम और चीन दोनों के साथ व्यापारिक सम्बन्ध था। चीन और रोम का पारस्परिक व्यापार भी उस समय भारत के व्यापारियो द्वारा ही संचालित किया जाता था।

(११) वास्तु और मूर्ति-कला

इस मौर्योत्तर-युग की बहुत-सी मूर्तियाँ, गुहामंदिर और स्तूप इस समय उपलब्ध होते हैं, जिनसे इस समय की वास्तुकला और मूर्तिकला पर अच्छा प्रकाश पड़ता है। भरहुत का वह प्रसिद्ध स्तूप, जिसके तोरणो और जंगलों के अवशेष कलकत्ता म्यूजियम में सुरक्षित हैं, शुंग-काल में ही बना था। उसके एक तोरण पर यह उत्कीर्ण भी है, कि यह स्तूप शुंगो के राज्य मे निर्मित हुआ बना था। बोधगया के मंदिर के चारो ओर का एक जंगला भी इस युग की कृति है उस पर अहिच्छत्र के राजा इन्द्रमित्र और मथुरा के राजा ब्रह्ममित्र की रानियो के नाम उत्कीर्ण हैं। ये दोनों राजा शुंगो के सामन्त थे। इससे यह सूचित होता है, कि बोधगया के प्रसिद्ध मंदिर के अनेक प्राचीन अंश शुग-काल बने थे। साँची के प्राचीन स्तूप के अनेक अंश भी इसी काल में बने। वहाँ के बड स्तूप दक्षिणी के तोरण पर राजा सातकर्णि का नाम उत्कीर्ण है। भरहुत, साँची, बोधगया आदि के ये प्राचीन विशाल स्तूप सुदीर्घ समय तक धीरे-धीरे बनते रहे। उनके निर्माण का प्रारम्भ मौर्य-काल में ही हो गया था, पर शुंग और सातवाहन-राजाओं के समय मे उनमे निरन्तर वृद्धि होती चली गयी, और जिन विविध दानियों के दान से जो-जो अंश समय-समय पर बनते गए, उनके नाम बहुधा उन पर उत्कीर्ण भी कर दिए गये।

इस युग के बहुत-से गुहामंदिर उड़ीसा और महाराष्ट्र में विद्यमान है। पहाड़ को काटकर उसके अन्दर से विशाल मंदिर, विहार या चैत्य खोदे गए हैं। ऊपर से देखने पर ये पहाड़ ही प्रतीत होते हैं। पर द्वार से अन्दर जाने पर विशाल भवन दिखायी पड़ते हैं, जिन्हें पहाड़ को काट-काट कर बाकायदा सुन्दर भवनों के रूप में बनाया गया है। उडीसा के ये गुहामंदिर जैनों के हैं। इनमें हाथीगुम्फा सबसे प्रसिद्ध है। कलिंग-चक्रवर्ती खारवेल का सुप्रसिद्ध शिलालेख यहीं पाया गया है। हाथीगुम्फा के अतिरिक्त, मंचापुरी-गुम्फा, रानीगुम्फा, गणेशगुम्फा, जयविजय-गुम्फा, अलकापुरी-गुम्फा

आदि और भी कितने ही गुहामंदिर उड़ीसा में पाए गए हैं। मंचापुरी-गुम्फा में खारवेल की रानी तथा राजा वक्रदेवश्री के लेख पाये गये है। यह सम्भवतः खारवेल का कोई वंशज था। रामगड़ मे सीताबेंगा नामक स्थान पर एक गुहामंदिर उपलब्ध हुआ है, जिसका किसी धर्म-विशेष से सम्बन्ध नही था। वह एक प्रेक्षागार था, और यही कारण है, कि उसकी दीवार पर किसी रसिक कवि का एक छन्द खुदा हुआ है। सीताबेंगा के पड़ोस मे ही जोगीमारा का गुहामंदिर है, जो प्राचीन काल मे वरुणदेवता का मंदिर था।

महाराष्ट्र के गुहामंदिरो में अजन्ता की गुफाएँ सबसे प्रसिद्ध और प्राचीन हैं। इनमें भी गुहा नं० १० सबसे पुरानी समझी जाती है। अजन्ता के ये गुहामंदिर भारतीय वास्तुकला और चित्रकला के अनुपम उदाहरण है। पहाड़ो को काटकर बनाए गए विशाल गुहामंदिरों की दीवारों पर इतने सुन्दर रंगीन चित्र बनाए गऐ हैं, कि हजारों साल बीत जाने पर भी वे अपने आकर्षण मे जरा भी कम नही हुए। अजन्ता की इन प्रसिद्ध गुफाओं का निर्माण इसी काल मे प्रारम्भ हुआ था। अजन्ता के अतिरिक्त महाराष्ट्र मे वेडमा, नासिक, कार्ले, जुन्नर, कोडानें आदि अनेक स्थानों पर इस काल के गुहामदिर विद्यमान है। नासिक के एक गुहामदिर मे एक लेख है, जिसके अनुसार उसे सातवाहन-कुल के राजा कण्ह के समय उसके महामात्र ने बनवाया था। राजा कण्ह सातवाहन-वश के संस्थापक सिमुक का भाई था, और उसके बाद प्रतिष्ठान का राजा बना था। इसका समय तीसरी सदी ई० पू० मे था, और यह स्पष्ट है कि नासिक का यह गुहामंदिर तीसरी सदी ई० पू० मे ही बना था। वेडसा और कार्ले के प्रसिद्ध गुहामंदिर ईसवी सन् के शुरू होने से पूर्व ही बन चुके थे। सातवाहन राजाओं को गुहानिर्माण का बडा शौक था। उन्ही के शासनकाल मे महाराष्ट्र की ये विशाल गुहाएँ निर्मित हुई। मौर्य-युग में भी गुहामंदिर बनने प्रारम्भ हो गए थे, पर वे अधिक विशाल नही होते थे। बिहार की बराबर और नागार्जुनी पहाडियों में मौर्य सम्राट् अशोक और राजा दशरथ के समय के जो गुहामंदिर हैं, वे बहुत छोटे-छोटे हैं। पर सातवाहन-राजाओ की प्रेरणा और सरक्षण से मौर्योत्तर-युग मे जो गुहामंदिर बने, वे बहुत ही विशाल हैं। वे तो पूरे बौद्ध-विहार है, जिन्हे भूमि के ऊपर लकडी, पत्थर या ईंट से बनाने के बजाय पहाड़ काट कर और उसे अन्दर से खोद कर गुहा के रूप मे बनाया गया है।

इस काल की मूर्तियाँ भी पर्याप्त संख्या मे उपलब्ध होती हैं। भरहुत और साँची के स्तूपो के जंगलो और तोरणो मे पत्थर काट-काट कर बहुत-सी मूर्तियाँ बनायी गयी हैं। गुहामदिरो की दीवारो पर भी खोदकर बनायी गयी मूर्तियाँ पायी जाती है। महात्मा बुद्ध के जीवन के साथ सम्बन्ध रखने वाली घटनाओ को मूर्तियाँ बनाकर अनेक स्थानो पर प्रदर्शित किया गया है।

मूर्तिकला की दृष्टि से इस युग की प्रधान घटना गान्धारी शैली का प्रारम्भ है। यवनों ने गान्धार मे जो अपने राज्य कायम किए थे, उनके कारण यूनानी लोगों और भारतीयों का परस्पर सम्बन्ध बहुत घनिष्ठ हो गया था। यह स्वाभाविक था, कि यूनानी (ग्रीक) कला का भारतीय कला पर असर पड़े। गान्धार के ये यवन, शक और युइशि

राजा बाद में बौद्ध व अन्य भारतीय धर्मों के अनुयायी हो गए थे। भारतीय भाषा और संस्कृति को उन्होंने बहुत अंशों में अपना लिया था। इसलिए यूनानी और भारतीय मूर्तिकलाओं के सम्मिश्रण से जिस अपूर्व सुन्दर मूर्तिकला का प्रारम्भ हुआ, उसे गान्धारी शैली कहते हैं। इस शैली की मूर्तियाँ बहुत सुन्दर व परिमार्जित है। धीरे-धीरे यह शैली गान्धार से मथुरा आदि होती हुई सुदूर आन्ध्र में अमरावती तक पहुँच गयी। भारत में दूर-दूर तक इस शैली की मूर्तियाँ उपलब्ध होती हैं।

गान्धार-शैली का प्रारम्भ पेशावर से हुआ था। इस प्रदेश पर यवनों का प्रभाव बहुत अधिक था। मौर्यों के पतन के समय अफगानिस्तान और गान्धार के प्रदेश यवनों के शासन मे आ गये थे, और यवनों की शक्ति के क्षीण होने पर वहाँ शक और कुशाण सदृश विदेशियों का राज्य रहा था। ये विदेशी म्लेच्छ उन पश्चिमी देशों से भारत में प्रविष्ट हुए थे, जहाँ यवनों (ग्रीकों) की भाषा, सभ्यता और कला का बहुत प्राधान्य था। ग्रीक लोग मूर्ति-निर्माण कला में बहुत प्रवीण थे। इसकी उनकी अपनी पृथक् शैली थी। गान्धार में पाये जाने वाले भूरे रंग के पत्थरो का गान्धार-शैली की मूर्तियों मे प्रयोग किया जाना था। कनिष्क के समय में बौद्ध-धर्म का मुख्य तत्त्व निवृत्ति थी। पर महायान के अनुयायी भक्ति और उपासना पर बल देते थे। इनके लिए बुद्ध और बोधिसत्वों की मूर्तियों का निर्माण प्रारम्भ हुआ। पेशावर के कारीगरो ने हजारो की संख्या में मूर्तियाँ बनाई, और धीरे-धीरे ये सारे भारत में फैल गयीं। यवन-प्रभाव के होते हुए भी इन मूर्तियो पर भारतीय आध्यात्मिकता की गहरी छाप है। बुद्ध के मुखमण्डल पर एक अनुपम तेज प्रदर्शित किया जाता है, जिसकी अनुभूति निर्वाण की भावना से ही हो सकती है। गान्धार-शैली की बहुत-सी मूर्तियाँ काले सलेटी पत्थर की भी हैं।

पेशावर से यह कला मथुरा मे गयी। इस युग मे मथुरा मूर्तिकला का सबसे बड़ा केन्द्र था। कनिष्क का साम्राज्य वंक्षु नदी से पाटलिपुत्र तक विस्तृत था। मथुरा इस विशाल साम्राज्य के मध्य में था। कुशाणो के क्षत्रप वहाँ शासन करते थे। वहाँ की मूर्तियाँ लाल पत्थर से बनायी गयी हैं, जो आगरा के समीप प्रभूत मात्रा में उपलब्ध होता था। मथुरा की कला पर गान्धार-शैली का प्रभाव अवश्य है, पर उसे पूर्णतया गान्धार-शैली की नकल नही कहा जा सकता। इसमें सन्देह नहीं, कि मथुरा के आर्य शिल्पियो ने पेशावर की रचनाओं को दृष्टि में रखकर एक मौलिक शैली का विकास किया था, जो बाह्य और आभ्यतर दोनो दृष्टियो से शुद्ध आर्य प्रतिभा की प्रतीक थी। भारतीय कल्पना मे एक परमयोगी के मुख पर जो दैवी भावना होनी चाहिये, उसकी वृत्ति किस प्रकार अन्तर्मुखी होनी चाहिये और उपासक के हृदय मे अपने उपास्य देव का कैसा लोकोत्तर रूप होना चाहिये—इस सबको पत्थर की मूर्ति में उतारकर मथुरा के ये शिल्पी चिर यश के भागी हुए हैं।

इस काल में मथुरा मे जो मूर्तियाँ बनीं, वे अनेक प्रकार की थी। प्राचीन भारत मे यह परिपाटी थी, कि प्रत्येक राजवंश अपना एक 'देवकुल' स्थापित करता था। इसमें मृत राजाओं की मूर्तियाँ रखी रहती थी। शिशुनाग-वंश के राजाओं की मूर्तियां ऐसे ही देवकुल के लिए मथुरा मे बनी थीं, क्योंकि यह नगर बहुत पुराने समय

से मूर्तिकला का प्रसिद्ध केन्द्र चला आ रहा था। इस युग मे कुशाण-राजाओं की मूर्तियाँ भी मथुरा मे बनायी गईं। ऐसी अनेक मूर्तियाँ अब भी उपलब्ध हैं। खेद की बात है, कि वे सभी प्रायः खण्डित दशा में हैं। इनमे सम्राट् कनिष्क की मूर्ति विशेष महत्त्व की है। उसकी पोशाक मे लम्बा कोट और पायजामा है, और उसका आकार बड़ा विशाल है।

मथुरा में बनी इस युग की एक मूर्ति इस समय काशी के कलाभवन में सुरक्षित है। यह मूर्ति एक स्त्री की है, जो प्रसाधिका का काम करती थी। इसका मुख गम्भीर, प्रसन्न व सुन्दर है, नेत्रों में विमल चंचलता है, सब अंग-प्रत्यंग अत्यन्त सुडौल हैं, और खड़े होने का ढंग बहुत सरल और अकृत्रिम है। उसके दाएँ हाथ में शृंगारदान है, जिसमे सुगंधित जल रखा जाता था। बाएँ हाथ मे एक पिटारी है, जिसका ढक्कन कुछ खुला हुआ है, और एक पुष्पमाला थोडी-सी बाहर निकली हुई है। यह स्त्री शृंगार की सामग्री लेकर किसी रानी या अन्य सम्पन्न महिला का शृंगार करने के लिए प्रस्थान करने को उद्यत है। मथुरा मे इस प्रकार की मूर्तियाँ उपासना के लिए नहीं, अपितु सजावट के लिए बनायी जाती थी।

बौद्ध-धर्म के साथ सम्बन्ध रखने वाला मूर्तियाँ तो मथुरा मे हजारों की संख्या में बनी थी। मथुरा की यह कला कुशाणो के बाद भी निरन्तर उन्नति करती रही। गुप्त-वंश के समय मे इसका पूर्ण विकास हुआ, और उसने वे उज्ज्वल रत्न उत्पन्न किये, जिनके लिए कोई भी जाति या देश सदा अभिमान कर सकता है। गुप्तों के समय मे मथुरा की मूर्तिकला से गान्धार की शैली का प्रभाव पूर्णतया हट गया था।

(१२) बृहत्तर भारत का विकास

मौर्य-युग में भारत से बाहर भारतीय उपनिवेशों का विस्तार प्रारम्भ हो चुका था इन उपनिवेशों के दो क्षेत्र थे, पूर्व मे सुवर्णभूमि और उत्तर-पश्चिम में हिन्दूकुश और पामीर की पर्वतमालाओ के परे तुर्किस्तान। अशोक की धर्मविजय की नीति के कारण भारतीय भिक्षु जिस प्रकार इन सुदूर देशों में गये, और उन्होंने वहाँ जाकर न केवल वहाँ के निवासियों को आर्य-मार्ग का अनुयायी ही बनाया, पर वहाँ अनेक भारतीय बस्तियाँ भी बसाईं, यह हम पहले प्रदर्शित कर चुके हैं। मौर्योत्तर-युग में भारतीय उपनिवेशो के विस्तार की यह प्रक्रिया जारी रही। विशेषतया, भारत के पूर्व में बरमा से सुदूर चीन तक हिन्द-महासागर मे जो बहुत-से छोटे-बडे द्वीप व प्रायद्वीप हैं, वे सब इस युग मे भारतीय बस्तियो से ढक गये। इस युग के इतिहास की वह बहुत ही महत्त्वपूर्ण घटना है। यह प्रक्रिया गुप्त-साम्राज्य के समय में और उसके कुछ बाद तक भी जारी रही। हम भारतीय उपनिवेशों के विस्तार का विशेष विवरण अगले एक अध्याय में देंगे, पर यहाँ यह निर्देश कर देना उचित है, कि इन उपनिवेशों का श्रीगणेश इसी युग मे हुआ था।

चौबीसवाँ अध्याय

गुप्त साम्राज्य

(१) गुप्त-वंश का प्रारम्भ

प्राचीन गुप्त कुल—गुप्त-कुल भारत के प्राचीन राजकुलों में से एक था। मौर्य चन्द्रगुप्त ने गिरनार के प्रदेश मे शासक के रूप में जिस 'राष्ट्रीय' (प्रान्तीय शासक) की नियुक्ति की थी, उसका नाम वैश्य पुष्यगुप्त था। शुंग-काल के प्रसिद्ध बरहुत स्तम्भ-लेख मे एक राजा विसदेव का उल्लेख है, जो गोप्तिपुत्र (गुप्त-कुल की स्त्री का पुत्र) था। अन्य अनेक शिलालेखों में भी 'गोप्तिपुत्र' व्यक्तियों का उल्लेख है, जो राज्य में विविध उच्च पदों पर नियुक्त थे। इसी गुप्त-कुल के एक वीर पुरुष श्रीगुप्त ने उस वंश का आरम्भ किया, जिसने आगे चलकर भारत के बहुत बड़े भाग में मागध-साम्राज्य का फिर से विस्तार किया।

राजा श्रीगुप्त—कुशाण-साम्राज्य के पतन के समय उत्तरी भारत में जो अव्यवस्था उत्पन्न हो गयी थी, उससे लाभ उठाकर बहुत-से प्रान्तीय शासक व सामन्त राजा स्वतन्त्र हो गये थे। सम्भवत:, इसी प्रकार का एक व्यक्ति श्रीगुप्त भी था। उसने मगध के कुछ पूर्व में, चीनी यात्री इत्सिंग के अनुसार नालन्दा से प्राय: चालीस योजन पूर्व की तरफ, अपने राज्य का विस्तार किया था। अपनी शक्ति को स्थापित कर लेने के कारण उसने 'महाराज' की पदवी धारण की। चीनी बौद्ध यात्रियों के निवास के लिए उसने मृगशिखावन के समीप एक विहार का निर्माण कराया था और उसका खर्च चलाने के लिए चौबीस गाँव प्रदान किये थे। गुप्त राजा स्वयं बौद्ध नहीं थे, पर क्योंकि बौद्ध तीर्थस्थानों का दर्शन करने के लिए बहुत-से चीनी इस समय भारत में आने लगे थे, अत: महाराज श्रीगुप्त ने उनके आराम के लिए यह महत्त्वपूर्ण दान किया था। दो मुद्राएँ ऐसी मिली हैं, जिनमें से एक पर 'गुतस्य' और दूसरी पर 'श्रीगुप्तस्य' लिखा है। सम्भवत:, ये इसी महाराज श्रीगुप्त की हैं।

महाराज घटोत्कच—श्रीगुप्त का उत्तराधिकारी महाराज घटोत्कच था। कुछ मुद्राएँ ऐसी मिली हैं, जिनपर 'श्रीघटोत्कचगुप्तस्य' या केवल 'घट' लिखा है।

महाराजाधिराज चन्द्रगुप्त—घटोत्कच के बाद महाराजाधिराज चन्द्रगुप्त प्रथम हुए। गुप्त-वंश के पहले दो राजा केवल 'महाराज' कहे गये हैं। पर चन्द्रगुप्त को 'महाराजाधिराज' कहा गया है। इससे प्रतीत होता है, कि उसके समय में गुप्तवंश की शक्ति बहुत बढ़ गयी थी। प्राचीन समय में महाराज विशेषण तो अधीनस्थ सामन्त राजाओं के लिए भी प्रयुक्त होता था। पर महाराजाधिराज केवल ऐसे ही राजाओं के लिए प्रयोग किया जाता था, जो पूर्णतया स्वाधीन व शक्तिशाली शासक हों। प्रतीत

होता है, कि अपने पूर्वजों के पूर्वी भारत में स्थित छोटे-से राज्य को चन्द्रगुप्त ने बहुत बढा लिया था, और महाराजाधिराज की पदवी ग्रहण कर ली थी। पाटलिपुत्र निश्चय ही चन्द्रगुप्त के अधिकार मे आ गया था, और मगध तथा उत्तर-प्रदेश के बहुत-से प्रदेशों को जीत लेने के कारण चन्द्रगुप्त के समय में गुप्त-साम्राज्य बहुत विस्तृत हो गया था। इन्ही विजयों और राज्यविस्तार की स्मृति मे चन्द्रगुप्त ने एक नया सम्वत् चलाया था, जो गुप्त सम्वत् के नाम से इतिहास मे प्रसिद्ध है।

मगध के उत्तर मे लिच्छवियों का जो शक्तिशाली गणराज्य था, चन्द्रगुप्त ने उसके साथ मैत्री और सहयोग का सम्बन्ध स्थापित किया। कुशाण-काल के पश्चात् इस प्रदेश मे सबसे प्रबल भारतीय शक्ति लिच्छवियों की ही थी। कुछ समय तक पाटलिपुत्र भी उनके अधिकार मे रहा था। लिच्छवियों का सहयोग प्राप्त किये बिना चन्द्रगुप्त के लिए अपने राज्य का विस्तार कर सकना सम्भव नही था। इस सहयोग और मैत्रीभाव को स्थिर करने के लिए चन्द्रगुप्त ने लिच्छविकुमारी कुमारदेवी के साथ विवाह किया, और अन्य रानियों के अनेक पुत्र होते हुए भी लिच्छवि-दौहित्र (कुमारदेवी के पुत्र) समुद्रगुप्त को अपना उत्तराधिकारी नियत किया। ऐसा प्रतीत होता है कि इस काल मे लिच्छवि गण के राजा वंशक्रमानुगत होने लगे थे। गणराज्यों के इतिहास मे यह कोई अनहोनी बात नही है। कुमारदेवी लिच्छवि-राजा की पुत्री और उत्तराधिकारिणी थी। इसीलिए चन्द्रगुप्त के साथ विवाह हो जाने के बाद गुप्त-राज्य और लिच्छवि गण मिलकर एक हो गये थे। चन्द्रगुप्त के सिक्कों पर उसका अपना और कुमारदेवी का चित्र एक साथ अंकित है। इन सिक्को पर चन्द्रगुप्त तथा श्री कुमारदेवी दोनों का नाम भी एक साथ दिया गया है। सिक्के के दूसरी ओर 'लिच्छवयः' शब्द भी उत्कीर्ण है। इससे यह भलीभाँति सूचित होता है, कि लिच्छवि-गण और गुप्त-वंश का पारस्परिक विवाह-सम्बन्ध बडे महत्त्व का था। इसके कारण इन दोनो के राज्य मिलकर एक हो गये थे, और चन्द्रगुप्त तथा श्रीकुमारदेवी का सम्मिलित शासन इन प्रदेशो पर माना जाता था।

श्रीगुप्त के वंशजों का शासन किन प्रदेशो पर स्थापित हो गया था, इस सम्बन्ध मे पुराणों मे लिखा है, कि गंगा के साथ-साथ प्रयाग तक व मगध तथा अयोध्या मे इन्होंने राज्य किया। चन्द्रगुप्त के उत्तराधिकारी समुद्रगुप्त ने अपने साम्राज्य को बहुत बढा लिया था। अतः पुराणों का यह निर्देश उसके पूर्वजो के विषय मे ही है। सम्भवतः, महाराजाधिराज चन्द्रगुप्त प्रथम बगाल से प्रारम्भ कर पश्चिम मे अयोध्या और प्रयाग तक के विशाल प्रदेश का स्वामी था, और लिच्छवियों के सहयोग से ही इसपर अबाधित रूप से शासन करता था। इस प्रतापी गुप्त-सम्राट् का शासनकाल ३१५ से ३२८ ईस्वी तक था।

(२) सम्राट् समुद्रगुप्त (३२८-३७८ ई० प०)

चन्द्रगुप्त के अनेक पुत्र थे। पर गुण और वीरता मे चन्द्रगुप्त सबसे बड़ा-चढ़ा था। लिच्छविकुमारी श्रीकुमारदेवी का पुत्र होने के कारण भी उसका विशेष महत्त्व था। चन्द्रगुप्त ने उसे ही अपना उत्तराधिकारी चुना, और अपने इस निर्णय को राजसभा

बुलाकर सब सभ्यों के सम्मुख उद्घोषित किया। यह करते हुए प्रसन्नता के कारण उसके सारे शरीर में रोमांच हो आया था, और आंखो मे आंसू आ गये थे। उसने सबके सामने समुद्रगुप्त को गले लगाया, और कहा—तुम सचमुच आर्य हो और अब राज्य का पालन करो। इस निर्णय से राजसभा मे एकत्र हुए सब सभ्यों को परम प्रसन्नता हुई।

गृहकलह—सम्भवतः, चन्द्रगुप्त ने अपने जीवन-काल मे ही समुद्रगुप्त को राज्यभार सम्भलवा दिया था। प्राचीन आर्य राजाओं की यही परम्परा थी। चन्द्रगुप्त के इस निर्णय से उसके अन्य पुत्र प्रसन्न नही हुए। उन्होने समुद्रगुप्त के विरुद्ध विद्रोह किया। इनका नेता काच था। प्रतीत होता है, कि उन्हे अपने विद्रोह मे सफलता भी हुई। काच के नाम के कुछ सोने के सिक्के भी उपलब्ध हुए है। इनमे गुप्त-काल के अन्य सोने के सिक्कों की अपेक्षा सोने की मात्रा बहुत कम है। इससे अनुमान होता है, कि भाइयो की इस कलह में राज्यकोष के ऊपर बुरा असर पडा था, और इसीलिए काच ने अपने सिक्को मे सोने की मात्रा को कम कर दिया था। पर काच देर तक समुद्रगुप्त का मुकाबला नही कर सका। समुद्रगुप्त अनुपम वीर था। उसने शीघ्र ही भाइयो के इस विद्रोह को शान्त कर दिया, और पाटलिपुत्र के सिंहासन पर दृढता के साथ अपना अधिकार जमा लिया। काच ने एक साल के लगभग राज्य किया। काच नामक गुप्त-राजा की सत्ता को मानने का आधार केवल वे सिक्के हैं, जिन पर उसका नाम 'सर्वराजोच्छेत्ता' विशेषण के साथ दिया गया है। अनेक विद्वानो का मत है, कि काच समुद्रगुप्त का ही नाम था। ये सिक्के उसी के हैं, और बाद मे दिग्विजय करके जब वह 'आसमुद्रक्षितीश' बन गया था, तब उसने काच के स्थान पर समुद्रगुप्त नाम धारण कर लिया था।

दिग्विजय—गृहकलह को शान्त कर समुद्रगुप्त ने अपने साम्राज्य के विस्तार के लिये सघर्ष प्रारम्भ किया। इस विजययात्रा का वर्णन प्रयाग मे अशोक मौर्य के प्राचीन स्तम्भ पर बडे सुन्दर ढंग से उत्कीर्ण है। सबसे पहले आर्यावर्त के तीन राजाओं को जीत कर अपने अधीन किया गया। इनके नाम ये है—अहिच्छत्र का राजा अच्युत, पद्मावती का राजा नागसेन और राजा कोटकुलज। सम्भवत, अच्युत और नागसेन भारशिव वश के साथ सम्बन्ध रखने वाले राजा थे। यद्यपि भारशिव-नागो की शक्ति का पहले ही पतन हो चुका था, पर कुछ प्रदेशो मे इनके छोटे-छोटे राजा अब भी राज्य कर रहे थे। गुप्तों के उत्कर्ष के समय इन्होने चन्द्रगुप्त प्रथम जैसे शक्तिशाली राजा की अधीनता मे सामन्त की स्थिति स्वीकार कर ली थी। पर समुद्रगुप्त और उसके भाइयों की गृहकलह से लाभ उठा कर ये अब फिर स्वतत्र हो गये थे। यही दशा कोटकुल मे उत्पन्न राजा की भी थी, जिसका नाम प्रयाग के स्तम्भ की प्रशस्ति मे मिट गया है। 'कोट' नाम से अकित सिक्के पंजाब और दिल्ली से उपलब्ध हुए है। इस कुल का राज्य सम्भवतः इसी प्रदेश मे था। सबसे पूर्व समुद्रगुप्त ने इन तीनो राजाओ को जीतकर अपने अधीन किया, और इन विजयों के बाद बडी धूमधाम के साथ पुष्पपुर (पाटलिपुत्र) में पुनः प्रवेश किया।

आर्यावर्त्त में अपनी शक्ति को भली-भाँति स्थापित कर समुद्रगुप्त ने दक्षिण

दिशा की ओर प्रस्थान किया। इस विजययात्रा में उसने कुल बारह राजाओं को जीतकर अपने अधीन किया। जिस क्रम से इनको जीता गया था, उसी के अनुसार इनका उल्लेख भी प्रशस्ति मे किया गया है। ये राजा निम्नलिखित थे—

(१) कोशल का महेन्द्र—यहाँ कोशल का अभिप्राय दक्षिण कोशल से है, जिसमें आधुनिक मध्यप्रदेश के बिलासपुर, रायपुर और सम्बलपुर प्रदेश सम्मिलित थे। इसकी राजधानी श्रीपुर (वर्तमान सिरपुर) थी। दक्षिण कोशल से उत्तर की ओर का सब प्रदेश गुप्त-साम्राज्य के अन्तर्गत था, और अच्युत तथा नागसेन की पराजय के बाद यह पूर्णतया उसके अधीन हो गया था। आर्यावर्त्त मे पराजित हुए नागसेन की राजधानी ग्वालियर क्षेत्र में पद्मावती थी। अब दक्षिण की ओर विजययात्रा करते हुए सबसे पहले दक्षिण कोशल का ही स्वतत्र राज्य पडता था। इसके राजा महेन्द्र को जीतकर समुद्रगुप्त ने अपने अधीन किया। (२) महाकान्तार का व्याघ्रराज—महाकोशल के दक्षिण-पूर्व मे महाकान्तार (जगली प्रदेश) था। इसी स्थान मे आजकल गोंडवाना के सघन जगल है। (३) कौराल का मत्रराज—महाकातार के बाद कौराल राज्य की बारी आई। यह राज्य दक्षिणी मध्यप्रदेश के सोनपुर प्रदेश के आसपास था। (४) पिष्टपुर का महेद्रगिरि—गोदावरी जिले मे स्थित वर्तमान पीठापुरम् ही प्राचीन समय मे पिष्टपुर कहलाता था। वहाँ के राजा महेन्द्रगिरि को भी परास्त कर के समुद्रगुप्त ने अपने अधीन किया गया। (५) कोट्टूर का राजा स्वामिदत्त—कोट्टूर का राज्य गंजाम जिले मे था। (६) ऐरण्डपल्ल का दमन—ऐरण्डपल्ल का राज्य कलिंग के दक्षिण मे था। इसकी स्थिति पिष्टपुर और कोट्टूर के पडोस मे सम्भवतः विजगापट्टम् जिले मे थी। (७) काञ्ची का विष्णुगोप—काञ्ची का अभिप्राय दक्षिण भारत के काञ्जीवरम् से है। आन्ध्रप्रदेश के पूर्वी जिलो और कलिंग को जीतकर समुद्रगुप्त ने सुदूर दक्षिण मे काञ्जीवरम् पर आक्रमण किया और उसे जीतकर अपने अधीन किया। (८) अवमुक्त का नीलराज—यह राज्य काञ्ची के ही समीप मे था। (९) वेङ्गी का हस्तिवर्मन्—यह राज्य कृष्णा और गोदावरी नदियों के बीच में स्थित था। वेङ्गी नाम की नगरी इस प्रदेश मे अब भी विद्यमान है। (१०) पाल्लक का उग्रसेन—यह राज्य नेल्लोर जिले मे था। (११) देवराष्ट्र का कुबेर—इस राजा के प्रदेश के सम्बन्ध मे ऐतिहासिको मे मतभेद है। कुछ विद्वान् इसे सतारा जिले मे मानते है, और अन्य विजगापट्टम् जिले में। काँची, वेङ्गी और अवमुक्त राज्यो के शासक पल्लव वंश के थे। सम्भवतः, उन सब की सम्मिलित शक्ति को समुद्रगुप्त ने एक साथ ही परास्त किया था। देवराष्ट्र का प्रदेश दक्षिण से उत्तर की ओर लौटते हुए मार्ग मे आया था। (१२) कौस्थलपुर का धनजय—यह राज्य उत्तरी आर्कोट जिले में था। इसकी स्मृति कुट्टलूर के रूप में अब भी सुरक्षित है।

दक्षिणी भारत के इन विविध राज्यो को जीतकर समुद्रगुप्त वापस लौट आया। दक्षिण मे वह काँची से आगे नही गया था। इन राजाओं को केवल परास्त ही किया गया था, उनका मूल से उच्छेद नही हुआ था। समुद्रगुप्त ने इस विजययात्रा में प्राचीन आर्य-मर्यादा का पूर्णतया पालन किया था। प्रयाग की समुद्रगुप्त-प्रशस्ति के अनुसार

इन राजाओं को हराकर पहले कैद कर लिया गया था, पर बाद में अनुग्रह करके उन्हें मुक्त कर दिया गया था।

ऐसा प्रतीत होता है, कि जब समुद्रगुप्त विजय यात्रा के लिए दक्षिण गया हुआ था, उत्तरी भारत (आर्यावर्त्त) के अधीनस्थ राजाओं ने फिर विद्रोह का झंडा खड़ा कर दिया। उन्हें फिर दुबारा जीता गया। इस बार समुद्रगुप्त उनसे अधीनता स्वीकार कराके ही संतुष्ट नही हुआ, अपितु उसने उनका मूल से उच्छेद कर दिया। इस प्रकार जड से उखाड़े हुए राजाओं के नाम ये हैं—रुद्रदेव, मतिल, नागदत्त, चन्द्रवर्मा, गणपतिनाग, नागसेन, अच्युतनन्दी और बलवर्मा। इनमे से नागसेन और अच्युत के साथ पहले भी समुद्रगुप्त के युद्ध हो चुके थे। उन्ही को परास्त करने के बाद समुद्रगुप्त ने धूमधाम के साथ पाटलिपुत्र (पुष्पपुर) मे प्रवेश किया था। अब ये राजा फिर स्वतन्त्र हो गये थे, और इस बार समुद्रगुप्त ने इनका समूलोन्मूलन करके इनके राज्यो को अपने साम्राज्य मे मिला लिया था। रुद्रदेव वाकाटकवंशी प्रसिद्ध राजा रुद्रसेन प्रथम था। मतिल की एक मुद्रा बुलन्दशहर के समीप मिली है। इसका राज्य सम्भवतः इसी प्रदेश मे था। नागदत्त और गणपतिनाग के नामों से यह सूचित होता है, कि वे भारशिव नागो के वंश के थे, और उनके छोटे-छोटे राज्य आर्यावर्त्त मे ही विद्यमान थे। गणपतिनाग के कुछ सिक्के बेसनगर में उपलब्ध भी हुए हैं। चन्द्रवर्मा पुष्करण का राजा था। दक्षिणी राजपूताना मे सिमुनिया की एक चट्टान पर उसका एक शिलालेख भी मिला है। सम्भवत, बलवर्मा कोटकुलज नृपति था, जिसे पहली बार भी समुद्रगुप्त ने परास्त किया था। ये सब आर्यावर्त्ती राजा इस बार पूर्ण रूप से गुप्त-सम्राट् द्वारा परास्त हुए, और इनके प्रदेश पूरी तरह गुप्त-साम्राज्य मे शामिल कर लिये गये।

आटविक राजाओं के प्रति समुद्रगुप्त ने प्राचीन मौर्य-नीति का प्रयोग किया। कौटलीय अर्थशास्त्र के अनुसार आटविक राजाओ को अपना सहयोगी और सहायक बनाने का उद्योग करना चाहिए। आटविक सेनाएँ युद्ध के लिए बहुत उपयोगी होती थी। समुद्रगुप्त ने इन राजाओं को अपना 'परिचारक' बना लिया था।

इसके बाद समुद्रगुप्त को युद्धो की आवश्यकता नही हुई। इन विजयों से उसकी धाक ऐसी बैठ गई थी, कि अन्य प्रत्यन्त (सीमा-प्रान्तों में वर्तमान) नृपतियो तथा यौधेय, मालव आदि गणराज्यों ने स्वयमेव उसकी अधीनता स्वीकृत कर ली थी। ये सब कर देकर, आज्ञाओ का पालन कर, प्रणाम कर, तथा राजदरबार मे उपस्थित होकर सम्राट् समुद्रगुप्त की अधीनता को स्वीकृत करते थे। इस प्रकार करद बनकर रहने वाले प्रत्यन्त राज्यों के नाम हैं—(१) समतट या दक्षिण-पूर्वी बंगाल, (२) कामरूप या असम, (३) नेपाल, (४) डवाक या असम का नौगाव प्रदेश, (५) कर्तृपुर या कुमायूँ और गढवाल के पार्वत्य प्रदेश। निःसन्देह, ये सब गुप्त-साम्राज्य के प्रत्यन्त या सीमा-प्रदेश मे स्थित राज्य थे।

इस प्रकार जिन गणराज्यों ने गुप्त-सम्राट् की अधीनता को स्वीकार किया, वे निम्नलिखित थे—मालव, आर्जुनायन, यौधेय, मद्रक, आभीर, प्रार्जुन, सनकानिक, काक और खरपरिक। इनमें से मालव, आर्जुनायन, यौधेय, मद्रक और आभीर प्रसिद्ध

गणराज्य थे। कुशाण साम्राज्य के विरुद्ध विद्रोह कर इन्होंने अपनी स्वतन्त्रता को पुनः स्थापित किया था, और धीरे-धीरे अपनी शक्ति बहुत बढा ली थी। अब समुद्रगुप्त ने इन्हे अपने अधीन कर लिया, पर उसने इनको जड से उखाड़ने का प्रयत्न नही किया। वह केवल कर, प्रणाम, राजदरबार में उपस्थिति तथा आज्ञावर्तिता से ही संतुष्ट हो गया। इन गणराज्यो ने भी सम्राट् की अधीनता स्वीकार कर अपनी पृथक् सत्ता को बनाये रखा। प्रार्जुन, काक, सनकानिक और खरपरिक छोटे-छोटे गणराज्य थे, जो विदिशा के समीपवर्ती प्रदेश मे स्थित थे। अनेक विद्वानों के मत में इनकी स्थिति उत्तर-पश्चिम के गन्धार सदृश राज्यों के क्षेत्र मे थी।

दक्षिण और पश्चिम के अन्य बहुत-से राजा भी सम्राट् समुद्रगुप्त के प्रभाव मे थे, और उसे आदरसूचक उपहार आदि भेजकर संतुष्ट रखते थे। इस प्रकार के तीन राजाओ का तो समुद्रगुप्त-प्रशस्ति मे उल्लेख भी किया गया है। ये दैवपुत्र शाहिशाहानुशाहि, शक-मुरुण्ड और सेंहलकहैं। दैवपुत्र शाहानुशाहि से कुशाण-राजा का अभिप्राय है। शक-मुरुण्ड मे उन शक-क्षत्रपों का ग्रहण किया जाता है, जिनके अनेक छोटे-छोटे राज्य इस युग मे भी उत्तर-पश्चिमी भारत मे विद्यमान थे। उत्तरी भारत से भारशिव, वाकाटक और गुप्त वशो ने शको और कुशाणो के शासन का अन्त कर दिया था। पर उनके अनेक राज्य उत्तर-पश्चिमी भारत मे अब भी विद्यमान थे। सिंहल के राजा को सेंहलक कहा गया है। इन शक्तिशाली राजाओ द्वारा समुद्रगुप्त का आदर करने का प्रकार भी प्रयाग की प्रशस्ति मे स्पष्ट लिखा गया है। ये राजा आत्मनिवेदन, कन्योपायन, दान, गरुड़ध्वज से अंकित आज्ञापत्रो के ग्रहण आदि उपायो से सम्राट् समुद्रगुप्त को सतुष्ट करने का प्रयत्न करते थे। आत्मनिवेदन का अभिप्राय है, अपनी सेवाओ को सम्राट् के लिए अर्पित करना। कन्योपायन का अर्थ है, कन्या विवाह मे देना। राजा लोग किसी शक्तिशाली सम्राट् से मैत्री सम्बन्ध बनाये रखने के लिए इस उपाय का प्राय. प्रयोग किया करते थे। सम्भवतः, सिंहल, शक और कुशाण-राजाओ ने भी समुद्रगुप्त को अपनी कन्याएं विवाह मे प्रदान की थी। दान का अभिप्राय भेंट-उपहार से है। सम्राट् चन्द्रगुप्त से ये राजा शासन (आज्ञापत्र) भी ग्रहण करते थे। इन सब उपायो से वे महाप्रतापी गुप्त-सम्राट् को संतुष्ट रखते थे, और उसके कोप से बचे रहते थे। इस प्रकार पश्चिम मे गान्धार से लगाकर पूर्व मे असम तक और दक्षिण मे सिंहल (लका) द्वीप से शुरू कर उत्तर मे हिमालय के कीर्तिपुर जनपद तक, सर्वत्र समुद्रगुप्त का डका बज रहा था। आर्यावर्त के प्रदेश सीधे उसके शासन मे थे, दक्षिण के राजा उसके अनुग्रह से अपनी सत्ता कायम किये हुए थे, सीमाप्रदेशो के जनपद और गणराज्य उसे बाकायदा कर देते थे और सुदूरस्थ राजा भेंट-उपहार से तथा अपनी सेवाए समर्पण कर उसके साथ मैत्री सम्बन्ध स्थापित किये हुए थे। प्रयाग की प्रशस्ति मे गुप्त-सम्राट् की इस अनुपम शक्ति को कितने सुन्दर शब्दो मे यह कहकर प्रकट किया है, कि पृथ्वी भर मे कोई उसका 'प्रतिरथ' (खिलाफ खडा हो सकने वाला) नही था, सारी धरणी को उसने एक प्रकार से अपने बाहुबल से बाँध-सा रखा था।

अश्वमेध—सम्पूर्ण भारत मे अपना एकच्छत्र अबाधित शासन स्थापित कर और दिग्विजय को पूर्ण कर समुद्रगुप्त ने अश्वमेध-यज्ञ किया। शिलालेखो मे 'उसे

'चिरोत्सन्न अश्वमेधाहर्ता' (देर से न हुए अश्वमेध को फिर से प्रारम्भ करने वाला) और 'अनेकाश्वमेधयाजी' (अनेक अश्वमेध-यज्ञ करने वाला) कहा गया है। इन अश्वमेधों मे केवल एक पुरानी परिपाटी का ही अनुसरण नही किया गया था, अपितु इस अवसर से लाभ उठाकर कृपण, दीन, अनाथ और आतुर लोगों को भरपूर सहायता देकर उनके उद्धार का भी प्रयत्न किया गया था। प्रयाग की प्रशस्ति में इसका बहुत स्पष्ट सकेत है। समुद्रगुप्त के कुछ सिक्को मे यज्ञीय अश्व का भी चित्र दिया गया है। ये सिक्के अश्वमेध-यज्ञ के उपलक्ष मे ही जारी किये गये थे। इन सिक्कों में एक तरफ जहाँ यज्ञीय अश्व का चित्र है, वहाँ दूसरी तरफ अश्वमेध की भावना को इन सुन्दर शब्दों में प्रकट किया गया है—'राजाधिराजः पृथिवीमवजित्य दिवं जयति अप्रतिवार्यवीर्यः'—राजाधिराज पृथ्वी को जीत कर अब स्वर्ग की जय कर रहा है, उसकी शक्ति और तेज अप्रतिम हैं।

गुण और चरित्र—सम्राट् समुद्रगुप्त के वैयक्तिक गुणों और चरित्र के सम्बन्ध मे प्रयाग की प्रशस्ति मे बड़े सुन्दर सदर्भ पाये जाते है। इसे महादण्ड-नायक ध्रुवभूति के पुत्र, सधिविग्रहिक महादण्डनायक हरिषेण ने तैयार किया था। हरिषेण के शब्दो में समुद्रगुप्त का चरित्र इस प्रकार का था—

"उसका मन विद्वानो के सत्सग-सुख का व्यसनी था। उसके जीवन मे सरस्वती और लक्ष्मी का अविरोध था। वह वैदिक मार्ग का अनुयायी था। उसका काव्य ऐसा था, कि कवियो की बुद्धि के विभव का भी उससे विकास होता था। कौन-सा ऐसा गुण है, जो उसमें नही था? सैकडों देशो मे विजय प्राप्त करने की उसमे अपूर्व क्षमता थी। अपनी भुजाओ का पराक्रम ही उसका सबसे उत्तम साथी था। परशु, बाण, शकु, शक्ति आदि अस्त्रों के सैकडो घावों से उसका सारा शरीर सुशोभित था। उसकी नीति यह थी, कि साधु का उदय और असाधु का प्रलय हो। उसका हृदय इतना कोमल था, कि भक्ति और झुक जाने मात्र से वश मे आ जाता था।"

समुद्रगुप्त के सात प्रकार के सिक्के इस समय मे मिलते है। पहले प्रकार के सिक्को मे उसका जो चित्र है, उसमे वह युद्ध की पोशाक पहने हुए है। उसके बाएं हाथ में धनुष है, और दाए हाथ मे बाण। सिक्के के दूसरी तरफ लिखा है—'समरशतवितत-विजयी जितारि अपराजितो दिव जयति' सैकडो युद्धो द्वारा विजय का प्रसार कर, सब शत्रुओ को परास्त कर, अब स्वर्ग को विजय करता है। दूसरे प्रकार के सिक्को मे उसका जो चित्र है, उसमे वह एक परशु लिए खडा है। इन सिक्को पर लिखा है—कृतान्त (यम) का परशु लिए हुए अपराजित विजयी की जय हो। तीसरे प्रकार के सिक्को पर उसका जो चित्र है, उसमे उसके सिर पर उष्णीष है, और वह एक सिह के साथ युद्ध कर उसे बाण से मारता हुआ दिखाया गया है। ये तीन प्रकार के सिक्के समुद्रगुप्त के वीर रूप को चित्रित करते हैं। पर इनके अतिरिक्त उसके बहुत-से सिक्के ऐसे भी हैं, जिनमे वह आसन पर आराम से बैठकर वीणा बजाता हुआ प्रदर्शित किया गया है। इन सिक्को पर समुद्रगुप्त का केवल नाम ही है, उसके सम्बन्ध में कोई उक्ति नहीं लिखी गयी है। इसमें सन्देह नही, कि जहाँ समुद्रगुप्त वीर योद्धा था, वहाँ वह संगीत और कविता का भी प्रेमी था।

सिहल से सम्बन्ध—समुद्रगुप्त के इतिहास की कुछ अन्य बातें भी उल्लेख-योग्य हैं। इस काल में सीलोन (सिंहल) का राजा मेघवर्ण था। उसके शासनकाल में दो बौद्ध-भिक्षु बोधगया की तीर्थयात्रा के लिए आये थे। वहाँ उनके रहने के लिए समुचित प्रबन्ध नही था। जब वे अपने देश को वापस गये, तो उन्होंने इस विषय में राजा मेघवर्ण से शिकायत की। मेघवर्ण ने निश्चय किया, कि बोधगया में एक बौद्ध-विहार सिंहली यात्रियों के लिए बनवा दिया जाय। इसकी अनुमति प्राप्त करने के लिए उसने एक दूत-मण्डल समुद्रगुप्त की सेवा मे भेजा। समुद्रगुप्त ने बड़ी प्रसन्नता से इस कार्य के लिए अपनी अनुमति दे दी, और राजा मेघवर्ण ने बोधिवृक्ष के उत्तर में एक विशाल विहार का निर्माण करा दिया। जिस समय प्रसिद्ध चीनी यात्री ह्य् न्त्सांग बोधगया की यात्रा के लिए आया था, यहाँ एक हजार से ऊपर भिक्षु निवास करते थे।

सम्राट् समुद्रगुप्त की अनेक रानियाँ थी, पर पटरानी (अग्रमहिषी पट्ट-महादेवी) का पद दत्तदेवी को प्राप्त था। इसी से चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य का जन्म हुआ था। पचास वर्ष के लगभग शासन करके ३७८ ई० मे समुद्रगुप्त स्वर्ग को सिधारे।

(३) सम्राट् चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य (३७८-४१४ ई० प०)

रामगुप्त—प्राचीन काव्यग्रथो से यह सकेत मिलता है, कि समुद्रगुप्त के बड़े लडके का नाम रामगुप्त था, और पिता की मृत्यु के बाद शुरु मे वही राज्यसिहासन पर आरूढ हुआ था। वह बडा निर्बल, कामी तथा नपुंमक व्यक्ति था। उसका विवाह ध्रुवदेवी के साथ हुआ था। पर पति के नपुंसक तथा निर्बल होने के कारण वह उससे सतुष्ट नहीं थी। रामगुप्त की निर्बलता से लाभ उठाकर साम्राज्य के अनेक सामंतों ने विद्रोह का झण्डा खडा कर दिया। विशेषतया, शाहानुशाहि कुशाण या शक राजा, जो समुद्रगुप्त की शक्ति के कारण आत्मनिवेदन, भेंट-उपहार, कन्योपायन आदि उपायो से उसे संतुष्ट रखने का प्रयत्न करते थे, अब रामगुप्त की कमजोरी से लाभ उठाकर उद्दण्ड हो गये, और उन्होने गुप्त-साम्राज्य पर आक्रमण कर दिया। हिमालय की उपत्यका मे युद्ध हुआ, जिसमें रामगुप्त हार गया। एक पहाडी दुर्ग मे गुप्त-सेनाएं घिर गयी, और नपुंसक रामगुप्त ने शक-राज की सेवा मे संधि के लिए याचना की। जो संधि की शर्ते शकराज की ओर से पेश की गयी, उनमें से एक यह थी कि पट्ट-महादेवी ध्रुवदेवी को शकराज के सुपुर्द कर दिया जाय। नपुंसक रामगुप्त इसके लिए भी तैयार हो गया। पर उसका छोटा भाई चन्द्रगुप्त इसे न सह सका। उसने स्वयं ध्रुवदेवी का स्त्रीरूप धारण किया। अन्य बहुत-से सैनिकों को भी परिचारिका-रूप में स्त्री-वेश पहनाया गया। शकराज के अन्त.पुर मे पहुँचकर स्त्री-वेशधारी चन्द्रगुप्त ने शकराज का घात कर दिया। इसके बाद निर्बल रामगुप्त को भी मारकर चन्द्रगुप्त ने राजगद्दी पर अधिकार कर लिया, और अपनी भाभी ध्रुवदेवी के साथ विवाह किया। ध्रुवदेवी चन्द्रगुप्त द्वितीय की पट्टमहादेवी बनी।

इस कथा के निर्देश न केवल प्राचीन काव्य-साहित्य मे, अपितु शिलालेखों में भी उपलब्ध होते हैं। प्राचीन समय में यह कथा इतनी लोकप्रिय थी, कि प्रसिद्ध कवि

विशाखदत्त ने भी इसे लेकर 'देवीचन्द्रगुप्तम्' नाम का एक नाटक लिखा था। यह नाटक इस समय उपलब्ध नहीं होता, पर इसके उद्धरण अनेक ग्रन्थों में दिये गये हैं, जिनसे इस कथा की रूपरेखा का परिचय मिल जाता है। बाण के 'हर्षचरितम्' में भी इस कथा का निर्देश यह लिखकर किया है, कि "दूसरे की पत्नी का कामुक शकपति कामिनी-वेशधारी चन्द्रगुप्त द्वारा मारा गया।" राजा अमोघवर्ष के ताम्रपत्र में भी इस कथा का निर्देश किया गया है। अरब-लेखकों ने भी इस कथा को लेकर पुस्तकें लिखी थी। बाद में अरबी के आधार पर फारसी में भी इस कथानक को लिखा गया। बारहवी सदी में अब्दुलहसन अली नाम के एक लेखक ने इस कथा को 'मजमलुतवारीख' नामक पुस्तक में लिखा। यह पुस्तक इस समय भी उपलब्ध है।

चन्द्रगुप्त द्वितीय—राजगद्दी पर आरूढ होने के बाद चन्द्रगुप्त के सम्मुख दो कार्य मुख्य थे, रामगुप्त के समय में उत्पन्न हुई अव्यवस्था को दूर करना और उन म्लेच्छ शकों का उन्मूलन करना, जिन्होने न केवल गुप्तश्री के अपहरण का प्रयत्न किया था, अपितु जिन्होंने गुप्त-कुलवधू की ओर भी दृष्टि उठाई थी। चन्द्रगुप्त के सम्राट् बनने पर शीघ्र ही साम्राज्य मे व्यवस्था कायम हो गयी। वह अपने पिता का योग्य और अनुरूप पुत्र था। अपनी राजशक्ति को सुदृढ़ कर उसने शको के विनाश के लिए युद्धों का प्रारम्भ किया।

शक-विजय—विदेशी जातियो की शक्ति के इस समय दो बडे केन्द्र थे—काठियावाड और गुजरात के शक-महाक्षत्रप और गान्धार-कम्बोज के कुशाण। शक-महाक्षत्रप सम्भवत: शाहानुशाहि कुशाण-राजा के ही प्रान्तीय शासक थे, यद्यपि उनकी स्थिति स्वतन्त्र राजाओ के समान थी। भारतीय साहित्य मे कुशाण-राजाओं को भी शक-मुरुण्ड (शकस्वामी या शको के स्वामी) संज्ञा से कहा गया है। पहले चन्द्रगुप्त द्वितीय ने काठियावाड-गुजरात के शक-महाक्षत्रपों के साथ युद्ध किया। उस समय महाक्षत्रप रुद्रसिह तृतीय इस शक-राज्य का स्वामी था। चन्द्रगुप्त द्वारा वह परास्त हुआ, और गुजरात-काठियावाड के प्रदेश भी गुप्त साम्राज्य मे सम्मिलित हो गये।

शको की पराजय मे वाकाटको से बडी सहायता मिली। दक्षिणापथ में वाकाटकों का शक्तिशाली राज्य था, यह हम पहले प्रदर्शित कर चुके है। समुद्रगुप्त ने वहाँ के राजा रुद्रदेव या रुद्रसेन को परास्त किया था, पर अधीनस्थ रूप मे वाकाटक-वंश की सत्ता वहाँ अब भी विद्यमान थी। वाकाटक-राजा बडे प्रतापी थे, और उनकी अधीनता मे अनेक सामन्त राजा राज्य करते थे। वाकाटक-राजा रुद्रसेन द्वितीय के साथ चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य की कन्या प्रभावती गुप्त का विवाह भी हुआ था। रुद्रसेन द्वितीय के साथ गुप्त वंश की राजकुमारी का विवाह हो जाने से गुप्तो और वाकाटको में मैत्री और घनिष्ठता स्थापित हो गयी थी। इस विवाह के कुछ समय बाद तीस वर्ष की आयु में रुद्रसेन द्वितीय की मृत्यु हो गयी। उसके पुत्र अभी छोटी आयु के थे, अतः राज्यशासन प्रभावती गुप्त ने अपने हाथों में लिया और वह वाकाटक-राज्य की स्वामिनी बन गयी। इस स्थिति में उसने ३९० ईस्वी से ४१० ई० के लगभग तक राज्य किया। अपने प्रतापी पिता चन्द्रगुप्त द्वितीय का पूरा साहाय्य और सहयोग

प्रभावती गुप्त को प्राप्त था। जब चन्द्रगुप्त ने महाक्षत्रप शक-स्वामी रुद्रसिंह पर आक्रमण किया, तो वाकाटक राज्य की सम्पूर्ण शक्ति उसके साथ थी।

गुजरात-काठियावाड के शकों का उच्छेद कर उनके राज्य को गुप्त-साम्राज्य के अन्तर्गत कर लेना चन्द्रगुप्त द्वितीय के शासनकाल की सबसे महत्त्वपूर्ण घटना है। इसी कारण वह भी 'शकारि' और 'विक्रमादित्य' कहलाया। कई सदी पहले शकों का इसी प्रकार उच्छेद कर सातवाहन सम्राट् गौतमीपुत्र सातकर्णि ने 'शकारि' और 'विक्रमादित्य' की उपाधिया ग्रहण की थी। अब चन्द्रगुप्त द्वितीय ने भी एक बार फिर उसी गौरव को प्राप्त किया। गुजरात और काठियावाड की विजय के कारण अब गुप्त साम्राज्य की सीमा पश्चिम मे अरब सागर तक विस्तृत हो गयी थी। नये जीते हुए प्रदेशों पर भली-भाँति शासन करने के लिये पाटलिपुत्र बहुत दूर पड़ता था। इसलिये चन्द्रगुप्त द्वितीय ने उज्जयिनी को अपनी दूसरी राजधानी बनाया।

गुजरात-काठियावाड के शक-महाक्षत्रपों के अतिरिक्त गाधार-कम्बोज के शक-मुरुण्डों (कुशाणों) का भी चन्द्रगुप्त ने सहार किया था। दिल्ली के समीप महरौली मे लोहे का एक विष्णुध्वज (स्तम्भ) है, जिस पर चन्द्र नाम के एक प्रतापी सम्राट् का लेख उत्कीर्ण है। ऐतिहासिकों का मत है, कि यह लेख गुप्तवंशी चन्द्रगुप्त द्वितीय का ही है। इस लेख में चन्द्र की विजयों का वर्णन करते हुए कहा गया है, कि उसने सिन्धु के सप्तमुखों (प्राचीन सप्तसैन्धव देश की सात नदियों) को पार कर बाल्हीक (बल्ख) देश तक युद्ध मे विजय प्राप्त की थी। पजाब की सात नदियाँ (यमुना, सतलुज व्यास, रावी, चिनाब, जेलहम और सिन्धु) का प्रदेश प्राचीन समय मे सप्तसैन्धव कहाता था। इसके परे के प्रदेश मे उस समय शक-मुरुण्डों या कुशाणों का राज्य विद्यमान था। सम्भवत., इन्ही शक-मुरुण्डों ने ध्रुवदेवी पर हाथ उठाने का दुस्साहस किया था। अब ध्रुवदेवी और उसके पति चन्द्रगुप्त द्वितीय के प्रताप ने बल्ख तक इन शक-मुरुण्डों का उच्छेद किया, और गुप्त-साम्राज्य की पश्चिमोत्तर-सीमा को सुदूर वंक्षु नदी तक पहुँचा दिया।

बंगाल के युद्ध—महरौली के इसी स्तम्भलेख मे यह भी लिखा है, कि बगाल मे प्रतिरोध करने के लिये इकट्ठे हुए अनेक राजाओं को भी चन्द्र ने परास्त किया था। सम्भव है, कि जब चन्द्रगुप्त द्वितीय काठियावाड-गुजरात के शकों को परास्त करने में व्यापृत था, बंगाल के कुछ पुराने राजकुलों ने उसके विरुद्ध विद्रोह कर दिया हो, और उसे बंगाल जाकर भी अपनी तलवार का प्रताप दिखाने की आवश्यकता हुई हो।

साम्राज्य का विस्तार—चन्द्रगुप्त द्वितीय के समय मे गुप्त-साम्राज्य अपनी शक्ति की चरम सीमा को पहुँच गया था। दक्षिणी भारत के जिन राजाओं को समुद्र-गुप्त ने अपने अधीन किया था, वे अब भी अविकल रूप से चन्द्रगुप्त की अधीनता स्वीकार करते थे। शक-महाक्षत्रपों और गान्धार-कम्बोज के शक-मुरुण्डों के परास्त हो जाने से गुप्त-साम्राज्य का विस्तार पश्चिम मे अरब सागर तक और हिन्दूकुश के पार वंक्षु नदी तक हो गया था।

चन्द्रगुप्त की उपाधि केवल विक्रमादित्य ही नही थी। शिलालेखों में उसे

सिंह-विक्रम, सिंहचन्द्र, साहसांक, विक्रमांक, देवराज आदि अनेक उपाधियों से विभूषित किया गया है। उसके भी अनेक प्रकार के सिक्के मिलते हैं। शक-महाक्षत्रपों को जीतने के बाद उसने उनके प्रदेश में जो सिक्के चलाये थे, वे पुराने शक-सिक्कों के नमूने के थे। उत्तर पश्चिमी भारत में उसके जो बहुत-से सिक्के मिले है, वे कुशाण नमूने के हैं। चन्द्रगुप्त की वीरता उसके सिक्कों द्वारा भी प्रकट होती है। सिक्कों पर उसे भी सिंह के साथ लड़ता हुआ प्रदर्शित किया गया है, और साथ मे यह वाक्य दिया गया है—"क्षितिमवजित्य सुचरितैः दिवं जयति विक्रमादित्यः' पृथिवी का विजय प्राप्त कर विक्रमादित्य अपने सुकार्य से स्वर्ग को जीत रहा है। अपने पिता के समान चन्द्रगुप्त ने भी अश्वमेधयज्ञ किया।

(४) सम्राट् कुमारगुप्त प्रथम महेन्द्रादित्य (३१४-४५५ ई० प०)

चन्द्रगुप्त द्वितीय की मृत्यु के बाद उसका पुत्र कुमारगुप्त राजगद्दी पर बैठा। यह पट्टमहादेवी ध्रुवदेवी का पुत्र था। इसके शासनकाल मे विशाल गुप्त-साम्राज्य अक्षुण्ण रूप मे कायम रहा। बल्ख से बंगाल की खाडी तक इसका अबाधित शासन था। सब राजा, सामंत, गणराज्य और प्रत्यन्तवर्ती जनपद कुमारगुप्त के वशवर्ती थे। गुप्त-वंश की शक्ति इस समय अपनी चरम सीमा को पहुँची हुई थी। कुमारगुप्त को विद्रोही राजाओं को वश मे लाने के लिए कोई युद्ध नही करने पडे। उसके शासनकाल मे विशाल गुप्त-साम्राज्य मे सर्वत्र शांति विराजती थी। इसीलिये विद्या, धन, कला आदि की समृद्धि की दृष्टि से यह काल वस्तुतः भारतीय इतिहास का सुवर्ण युग था।

अपने पिता और पितामह का अनुकरण करते हुए कुमारगुप्त ने भी अश्वमेध-यज्ञ किया। उसने यह अश्वमेध किसी नई विजययात्रा के उपलक्ष मे नही किया था। कोई सामन्त या राजा उसके विरुद्ध शक्ति दिखाने का साहस तो नही करता, यही देखने के लिये यज्ञीय अश्व छोडा गया था, जिसे रोकने का साहस किसी राजशक्ति ने नही किया था।

कुमारगुप्त ने कुल ४० वर्ष राज्य किया। उसके राज्यकाल के अंतिम भाग मे मध्य भारत की नर्मदा नदी के समीप पुष्यमित्र नाम की एक जाति ने गुप्त-साम्राज्य की शक्ति के विरुद्ध एक भयंकर विद्रोह खडा किया। ये पुष्यमित्र लोग कौन थे, इस विषय मे बहुत विवाद है, पर यह एक प्राचीन जाति थी, जिसका उल्लेख पुराणो में भी आया है। पुष्यमित्रो को कुमार स्कन्दगुप्त ने परास्त किया।

(५) सम्राट् स्कन्दगुप्त (४५५-४६७ ई० प०)

कुमारगुप्त की पटरानी का नाम महादेवी अनन्तदेवी था। उसका पुत्र पुरुगुप्त था। स्कन्दगुप्त की माता सम्भवतः पटरानी या महादेवी नही थी। ऐसा प्रतीत होता है, कि कुमारगुप्त की मृत्यु के बाद राजगद्दी के सम्बन्ध में कुछ झगडा हुआ, और अपनी वीरता तथा अन्य गुणो के कारण स्कन्दगुप्त गुप्त-साम्राज्य का स्वामी बना। अपने पिता के शासनकाल मे ही पुष्यमित्रों को परास्त कर उसने अपनी अपूर्व प्रतिभा और वीरता का परिचय दिया था। पुष्यमित्रों का विद्रोह इतना भयंकर रूप धारण कर

चुका था, कि गुप्तकुल की लक्ष्मी विचलित हो गयी थी और उसे पुनः स्थापित करने के लिए स्कन्दगुप्त ने अपने बाहुबल से शत्रुओं का नाश करते हुए कई रातें जमीन पर सोकर बिताईं। जिस प्रकार शत्रुओं को परास्त कर कृष्ण अपनी माता देवकी के पास गया था, वैसे ही स्कन्दगुप्त भी शत्रुवर्ग को नष्ट कर अपनी माता के पास गया। इस अवसर पर उसकी माता की आँखों में आँसू छलक आए थे। राज्यश्री ने स्वयं ही स्कन्दगुप्त को स्वामी के रूप में वरण किया था। सम्भवतः, बड़ा लड़का होने से राजगद्दी पर अधिकार तो पुरुगुप्त का था, पर शक्ति और वीरता के कारण राज्यश्री स्वयं ही स्कन्दगुप्त के पास आ गयी थी।

हूणों की पराजय—स्कन्दगुप्त के शासनकाल की सबसे महत्त्वपूर्ण घटना हूणों की पराजय है। हूण बड़े भयंकर योद्धा थे। उन्ही के आक्रमणों के कारण युइशि लोग अपने प्राचीन निवास-स्थान को छोडकर शकस्थान की ओर बढने को बाध्य हुए थे, और युइशियो से खदेडे जाकर शक लोग ईरान और भारत की तरफ आ गए थे। हूणों के हमलों का ही परिणाम था, कि शक और युइशि लोग भारत में प्रविष्ट हुए थे। उधर सुदूर पश्चिम मे इन्ही हूणों के आक्रमण के कारण विशाल रोमन साम्राज्य छिन्न-भिन्न हो गया था। हूण राजा एट्टिला के अत्याचारो और बर्बरता के कारण पाश्चात्य ससार मे त्राहि-त्राहि मच गयी थी। अब इन हूणो की एक शाखा ने गुप्त-साम्राज्य पर हमला किया, और कम्बोज जनपद को जीतकर गान्धार में प्रविष्ट होना प्रारम्भ किया। हूणो की इस बाढ का मुकाबला कर गुप्त साम्राज्य की रक्षा करना स्कन्दगुप्त के राज्यकाल की सबसे बडी घटना है। एक स्तम्भलेख के अनुसार स्कन्दगुप्त की हूणो से इतनी जबर्दस्त मुठभेड हुई, कि सारी पृथिवी काँप उठी। अन्त मे स्कन्दगुप्त की विजय हुई, और उसी के कारण उसकी अमल शुभ्र कीर्ति कुमारी अन्तरीप तक सारे भारत में गायी जाने लगी, और इसीलिए वह सम्पूर्ण गुप्त-वश मे 'एकवीर' माना जाने लगा। बौद्ध-ग्रन्थ चन्द्रगर्भपरिपृच्छा के अनुसार हूणो के साथ हुए इस युद्ध में गुप्त-सेना की सख्या दो लाख थी। हूणों की सेना तीन लाख थी। तब भी विकट और बर्बर हूण योद्धाओ के मुकाबले मे गुप्त-सेना की विजय हुई। स्कन्दगुप्त के समय मे हूण लोग गान्धार से आगे नही बढ सके। गुप्त-साम्राज्य का वैभव उसके शासन-काल मे प्रायः अक्षुण्ण रहा। स्कन्दगुप्त के समय के सोने के सिक्के कम पाए गए हैं। उसकी जो सुवर्ण-मुद्राएँ मिली हैं, उनमे भी सोने की मात्रा पहले गुप्तकालीन सिक्कों के मुकाबिले मे कम है। इससे अनुमान किया जाता है, कि हूणो के साथ युद्धो के कारण गुप्त-साम्राज्य का राज्य-कोष बहुत-कुछ क्षीण हो गया था, और इसी लिए सिक्को मे सोने की मात्रा कम कर दी गयी थी।

सुदर्शन-झील—स्कन्दगुप्त के समय मे सुराष्ट्र (काठियावाड) का प्रान्तीय शासक पर्णदत्त था। उसने गिरिनार की प्राचीन सुदर्शन झील की फिर से मरम्मत करायी थी। इस झील का निर्माण सम्राट् चन्द्रगुप्त मौर्य के समय मे हुआ था। तब सुराष्ट्र का शासक वैश्य पुष्यगुप्त था। पुष्यगुप्त ही इस झील का निर्माता था। बाद मे अशोक के समय मे प्रान्तीय शासक यवन तुषास्प ने और फिर महाक्षत्रप रुद्रदामा ने इस झील का पुनरुद्धार कराया था। गुप्त-काल में यह झील फिर खराब हो गयी थी।

अब स्कन्दगुप्त के आदेश से पर्णदत्त ने इस झील का फिर जीर्णोद्धार किया। उसके शासन के पहले ही साल में इस झील का बाँध टूट गया था, जिससे प्रजा को बड़ा कष्ट हो गया था। स्कन्दगुप्त ने उदारता के साथ इस बाँध पर खर्च किया। पर्णदत्त का पुत्र चक्रपालित भी इस प्रदेश में राज्य-सेवा में नियुक्त था। उसने झील के तट पर विष्णु भगवान् के मंदिर का निर्माण कराया।

स्कन्दगुप्त ने किसी नए प्रदेश को जीतकर गुप्त-साम्राज्य का विस्तार नहीं किया। सम्भवतः, इसकी आवश्यकता भी नही थी, क्योंकि गुप्त-सम्राट् 'आसमुद्र क्षितीश' थे।

(६) गुप्त साम्राज्य का ह्रास

पुरुगुप्त—स्कन्दगुप्त के बाद गुप्त-साम्राज्य का ह्रास प्रारम्भ हो गया। उसके कोई सन्तान नही थी, अतः उसकी मृत्यु के बाद पुरुगुप्त सम्राट् बना। वह स्कन्दगुप्त का भाई था, और कुमारगुप्त की पट्टमहारानी का पुत्र था। इस समय तक वह वृद्ध हो चुका था। उसके राजगद्दी पर बैठते ही गुप्त-साम्राज्य में अव्यवस्था प्रारम्भ हो गयी। हूणों के आक्रमणो से पहले ही गुप्त साम्राज्य को जबर्दस्त चोटें लग रही थीं, अब वाकाटक-वंश ने भी सिर उठाया। समुद्रगुप्त ने इन्ही वाकाटकों को परास्त कर गुप्त-साम्राज्य के अधीन किया था। पर अपने प्रदेश मे वाकाटक-राजा सामन्तों के रूप मे विद्यमान थे। चन्द्रगुप्त द्वितीय ने अपनी कन्या प्रभावती गुप्त का वाकाटक-राजा से विवाह कर इनके साथ मैत्री तथा घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित किया था। हूणों के आक्रमणो के समय इन्होने फिर अपनी शक्ति को बढाना शुरू किया, और प्रतापी स्कन्दगुप्त के मरते ही वाकाटक-राजा नरेन्द्रसेन ने अपने को स्वतंन्त्र उद्घोषित कर दिया। एक शिलालेख से सूचित होता है, कि नरेन्द्रसेन ने अपने वंश की डूबी हुई शक्ति का पुनरुद्धार किया था। इस प्रकार स्कन्दगुप्त के निर्बल भाई पुरुगुप्त के शासन मे वाकाटक-राज्य फिर से स्वतन्त्र हो गया। पुरुगुप्त बौद्ध-धर्म का अनुयायी था।

नरसिंहगुप्त—पुरुगुप्त के बाद उसका पुत्र नरसिंहगुप्त राजा बना। उसकी माता का नाम वत्सदेवी था। उसके बौद्ध पिता ने एक बौद्ध आचार्य को उसकी शिक्षा के लिए नियत किया था। नरसिंहगुप्त ने अपने नाम के साथ बालादित्य उपाधि प्रयुक्त की थी। उसके सिक्कों पर एक तरफ उसका चित्र है और 'नर' लिखा है, दूसरी तरफ 'बालादित्य' लिखा गया है। अपने गुरु के शिक्षाओं के कारण नरसिंहगुप्त ने भी बौद्ध-धर्म को स्वीकार कर लिया था। उसके शासनकाल मे भी गुप्त-साम्राज्य का ह्रास जारी रहा। पुरुगुप्त और नरसिंहगुप्त दोनो का राज्यकाल ४६७ से ४७३ ईस्वी तक है।

कुमारगुप्त द्वितीय—इसके बाद कुमारगुप्त द्वितीय पाटलिपुत्र के राजसिंहासन पर आरूढ हुआ। उसने भी विक्रमादित्य की उपाधि ग्रहण की। वह अन्य गुप्त-सम्राटों समान वैष्णवधर्म का अनुयायी था, और उसे भी 'परम भागवत' लिखा गया है। उसने कुल चार वर्ष राज्य किया। ४७७ ईस्वी में उसकी मृत्यु हो गयी। सम्राट् स्कन्दगुप्त के बाद दस वर्षों में गुप्त-वंश के तीन राजा हुए। इससे स्पष्ट प्रतीत होता है, कि

यह काल अव्यवस्था और अशान्ति का था। पर अपने चार वर्ष के शासनकाल में कुमारगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य ने अनेक महत्त्वपूर्ण कार्य किए। उसने वाकाटक-राजा से युद्ध किए, और मालवा के प्रदेश को जीतकर फिर अपने साम्राज्य मे मिला लिया। वाकाटको की शक्ति अब फिर क्षीण होने लगी।

बुधगुप्त—कुमारगुप्त द्वितीय के बाद बुधगुप्त सम्राट् बना। उसके समय के जो अनेक शिलालेख उपलब्ध हुए है, उनसे प्रतीत होता है, कि वह एक शक्तिशाली राजा था, और उसके द्वारा नियुक्त प्रान्तीय शासक बंगाल से लगाकर मालवा तक शासन कर रहे थे। धर्म से वह बौद्ध था, और नालन्दा बौद्ध-विहार की वृद्धि के लिए उसने बहुत प्रयत्न किया था। ४९५ ईस्वी मे उसके शासनकाल का अन्त हुआ।

वैण्यगुप्त—बुधगुप्त के बाद वैण्यगुप्त पाटलिपुत्र के राजसिंहासन पर आरूढ हुआ। उसने ४९५ से ५०७ ईस्वी तक राज्य किया। उसके सिक्के तोल आदि मे चन्द्रगुप्त द्वितीय और समुद्रगुप्त के सिक्को के सदृश हैं। सिक्कों पर एक ओर वैण्यगुप्त का चित्र है, जिसमे वह बाएँ हाथ मे धनुष और दाएँ हाथ मे बाण लिए हुए है। राजा के चित्र के एक ओर गरुडस्तम्भ है, और दूसरी ओर वैण्य लिखा है। सिक्के के दूसरी ओर कमलासन पर विराजमान लक्ष्मी की मूर्ति है। साथ ही वैण्य की उपाधि द्वादशादित्य उत्कीर्ण है। वैण्य के सिक्को मे सोने की मात्रा का फिर बढ जाना यह सूचित करता है, कि उसका काल समृद्धि का था, और सम्भवत, उसे युद्धों मे अधिक रुपया खर्च करने की आवश्यकता नहीं हुई थी।

ऐसा प्रतीत होता है, कि बुधगुप्त के बाद गुप्त-साम्राज्य अपनी एकता को कायम नही रख सका था। साम्राज्य के पूर्वी भाग मे इस समय वैण्यगुप्त का शासन था, और पश्चिमी भाग मे भानुगुप्त बालादित्य का। सम्भवत, ये दोनों समकालीन गुप्तवंशी राजा थे।

(७) हूणों के आक्रमण

बुधगुप्त के बाद गुप्त-साम्राज्य के पश्चिमी भाग की बागडोर भानुगुप्त बालादित्य के हाथ मे आई। उसके समय मे हूणो के आक्रमण भारत मे फिर प्रारम्भ हो गए। स्कन्दगुप्त से परास्त होकर हूण लोग गान्धार मे रुक गए थे। उससे आगे बढने का प्रयत्न लगभग तीस वर्ष तक उन्होने नही किया। पर इस बीच मे उन्होंने गान्धार में अपनी शक्ति को भली-भाँति दृढ कर लिया था। इस समय उनका राजा तोरमाण था, जो बडा शक्तिशाली योद्धा था। उसने फिर हूण-सेनाओं को साथ लेकर भारत पर आक्रमण शुरू किए। कुछ ही समय मे वह पूर्व की तरफ बढता हुआ मालवा तक पहुँच गया। भानुगुप्त बालादित्य ने अपने पूर्वज स्कन्दगुप्त के समान फिर एक बार हूणो को परास्त किया। तोरमाण बहुत थोडे समय तक भारत के इस प्रदेश पर अधिकार रख सका।

तोरमाण के बाद हूणो का नेता मिहिरगुल बना। उसने फिर पूर्व की तरफ आगे बढ़कर मध्य भारत पर आक्रमण किया। पर इस समय उसका मुकाबला करने के लिए एक और प्रबल शक्ति उठ खड़ी हुई, जिसका नाम यशोधर्मा था। मालवा में

बहुत पहले समय से एक वंश का राज्य था, जिसके राजा पहले वाकाटकों के सामन्त थे, और बाद में गुप्तों के सामन्त होकर शासन करते थे। इस वंश का राजा इस समय यशोधर्मा था। हूणों के आक्रमण मालवा पर हो रहे थे, अतः वहाँ के पुराने राजाओं को उनका सामना करने की आवश्यकता हुई। यशोधर्मा ने बड़ी वीरता के साथ अपने कर्त्तव्य का पालन किया, और हूणों के विरुद्ध जो लड़ाई शुरू हुई, उसका नेतृत्व कर अपनी शक्ति को बढ़ा लिया। मध्यभारत के राजनीतिक आकाश में उसका अभ्युदय धूमकेतु के समान अकस्मात् ही हुआ। इस समय हूणों के आक्रमणों के कारण मध्य भारत मे जो उथल-पुथल मची हुई थी, उसका लाभ उठाकर कोई भी महत्त्वाकांक्षी वीर व्यक्ति अपनी शक्ति को बढ़ा सकता था। यशोधर्मा ने इस अवसर का पूरी तरह उपयोग किया, और मध्य भारत की सैनिक शक्ति का संगठन कर मिहिरगुल को युद्ध मे परास्त किया। उसने बडे अभिमान के साथ अपने एक शिलालेख मे लिखा है, कि मिहिरगुल ने उसके पैरो मे सिर रखकर और विविध उपहार देकर उसकी पूजा की थी। इसमें सन्देह नहीं, कि मिहिरगुल को परास्त करने मे यशोधर्मा को पूरी सफलता प्राप्त हुई थी। हूणो को परास्त करने के लिए जो भारी सैनिक शक्ति यशोधर्मा ने सगठित की थी, उसका उपयोग उसने अन्य प्रदेशो को जीतने के लिए भी किया। कुछ समय के लिए वह भारत का सबसे अधिक प्रतापी राजा हो गया, और गुप्त-राजा उसके सम्मुख फीके पड गए। सम्भवतः, इसी लिए उसकी प्रशस्ति मे लिखा गया है, कि ब्रह्मपुत्र से महेन्द्रपर्वत तक और हिमालय से पश्चिम पयोधि तक सब जगह के राजा सामन्त के रूप मे उसके आगे सिर झुकाते है।

यशोधर्मा ने मिहिरगुल को ५३० ईस्वी के लगभग परास्त किया था। जिस प्रकार अकस्मात् उसका अभ्युदय हुआ, वैसे ही अकस्मात् वह अस्त भी हो गया। सम्भवत:, अपनी वैयक्तिक वीरता के कारण जो गौरवपूर्ण स्थान उसने प्राप्त किया था, उसकी मृत्यु के साथ ही उसका भी अन्त हो गया। वह कोई स्थिर साम्राज्य नहीं बन सका। गुप्त-सम्राट् फिर पहले के समान अपने विस्तृत पर शिथिल साम्राज्य का शासन करने लगे।

यशोधर्मा की मृत्यु के बाद मिहिरगुल ने फिर सिर उठाया। अपनी राजधानी साकल (सियालकोट) से आगे बढ उसने पुनः आर्यावर्त्त पर आक्रमण प्रारम्भ कर दिए। गुप्त-साम्राज्य का स्वामी सम्भवत: अब भी सम्राट् बालादित्य था, जिसने कि राजगद्दी पर बैठते ही ५१० ईस्वी के लगभग हूण-राजा तोरमाण को परास्त किया था। वह बौद्ध-धर्म का अनुयायी था। उधर मिहिरगुल बौद्धो का शत्रु था, और उनपर भयंकर अत्याचार करता था। जब बालादित्य ने देखा कि मिहिरगुल साकल से आगे बढ रहा है, तो उसने एक भारी सेना लेकर हूणों का मुकाबला किया। पंजाब की किसी नदी (सम्भवत:, चनाव) के किसी टापू मे घनघोर युद्ध हुआ, और एक बार फिर मिहिरगुल की पराजय हुई।

गुप्त-साम्राज्य की सेनाओं से परास्त होकर मिहिरगुल ने आर्यावर्त्त में आगे बढ़ सकने की आशा छोड़ दी, और उत्तर में काश्मीर पर आक्रमण किया। वहाँ के राजा को मार कर वह स्वयं काश्मीर का राजा बन गया। काश्मीर में उसने बहुत-से

स्तूपों और संघारामो को नष्ट किया, और जनता पर घोर अत्याचार किए। इस प्रकार काश्मीर और गान्धार के प्रदेशो पर हूणों का अधिकार स्थापित हो गया। पर वे भारत मे और आगे नही बढ़ सके। हूणों को अंतिम रूप से भारत से खदेड़ने का श्रेय सम्राट् बालादित्य को ही है।

पर हूणों के निरन्तर आक्रमणो और यशोधर्मा की विजयो के कारण गुप्त-साम्राज्य में शिथिलता आने लग गई थी। यशोधर्मा ने हूणों को परास्त करने के लिए तो बड़ा गौरवपूर्ण कार्य किया, पर जिस सगठन ने सारे उत्तरी भारत को एक शासन-सूत्र मे बाँधा हुआ था, उसे उसने निर्बल भी बना दिया। यदि वह गुप्तों के ध्वंसावशेष पर एक नए शक्तिशाली राजवंश और साम्राज्य को स्थापित कर सकता, तो कोई हानि न होती। साम्राज्य का आधिपत्य गुप्त-वश के स्थान पर यशोधर्मा के कुल के हाथ में आ जाता। पर यशोधर्मा की विजयो का स्थिर परिणाम केवल यह हुआ, कि गुप्त-साम्राज्य की शक्ति क्षीण हो गयी, और विविध सामन्त राजा तथा जनपद स्वतन्त्र हो गए। यही कारण है, कि भानुगुप्त बालादित्य के बाद गुप्त-साम्राज्य छिन्न-भिन्न हो गया।

पच्चीसवाँ अध्याय

गुप्त-युग का भारत

(१) साहित्य और विज्ञान

महाकवि कालिदास—मौर्योत्तर-काल में संस्कृत-साहित्य के विकास की जो प्रक्रिया प्रारम्भ हुई थी, गुप्तकाल मे वह उन्नति की चरम सीमा तक पहुँच गयी। भास, शूद्रक सदृश कवियो ने संस्कृत में नाटक और काव्य की जिस परम्परा को प्रारम्भ किया था, अब कालिदास और विशाखदत्त जैसे कवियो ने उसे पूर्णता तक पहुँचा दिया। सस्कृत का सबसे महान् कवि कालिदास गुप्त सम्राट् चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य के नवरत्नों में से एक था। एक शिलालेख से सूचित होता है, कि विक्रमादित्य ने उसे कुतलनरेश ककुत्स्थवर्मन् के पास राजदूत के रूप में भी भेजा था। एक साहित्यिक अनुश्रुति के अनुसार कालिदास ने वाकाटक-राजा प्रवरसेन द्वारा लिखित सेतुबन्ध काव्य का परिष्कार किया था। कालिदास के लिखे हुए ऋतुसंहार, मालविकाग्निमित्र, कुमारसम्भव, विक्रमोर्वशीय, मेघदूत, अभिज्ञानशाकुतलम् और रघुवंश इस समय उपलब्ध है। निःसन्देह, ये ग्रन्थ संस्कृत-साहित्य के सबसे उज्ज्वल रत्न हैं। ओज, प्रसाद आदि गुणो और उपमा आदि अलंकारो की दृष्टि से संस्कृत का अन्य कोई भी काव्य इनका मुकाबला नही कर सकता। कालिदास की कृतियाँ इतिहास और साहित्य में सदा अमर रहेंगी। रघुवंश मे रघु की दिग्विजय का जो वर्णन किया गया है, उसे लिखते हुए समुद्रगुप्त की विजययात्रा सम्भवतः कालिदास के सम्मुख थी। उसके ग्रन्थों पर गुप्त-काल की समृद्धि और गौरव की स्पष्ट छाप है।

विशाखदत्त—मुद्राराक्षस का लेखक कवि विशाखदत्त भी गुप्त-काल में पाँचवी सदी में हुआ था। नन्द को परास्त कर चन्द्रगुप्त मौर्य ने किस प्रकार पाटलिपुत्र की राजगद्दी पर अपना अधिकार जमाया, इस कथानक को विशाखदत्त ने बड़े सुन्दर रूप से इस नाटक मे वर्णित किया है। मुद्राराक्षस की सस्कृत नाटकों में अद्वितीय स्थिति है। मागध-परम्परा के अनुसार राजनीति के दावपेचों का जो वर्णन इस नाटक मे है, वह संस्कृत-साहित्य मे अन्यत्र कहीं नही मिलता। मुद्राराक्षस के भरतवाक्य में विशाखदत्त ने म्लेच्छों से आक्रात हुई पृथिवी की रक्षा करने के लिए 'बन्धुभृत्य' चन्द्रगुप्त का आवाहन किया है। इस भरतवाक्य मे शक और कुशाणों के उस प्रचण्ड आक्रमण की ओर इशारा है, जो समुद्रगुप्त की मृत्यु के बाद रामगुप्त के समय मे हुआ था। इन म्लेच्छ आक्रांताओ ने मागध-सेनाओ को परास्त कर पट्टमहादेवी ध्रुवदेवी तक पर आँख उठायी थी। पर अपने बडे भाई के सेवक के रूप में चन्द्रगुप्त ने शक-कुशाणो को परास्त कर भारत भूमि की रक्षा की थी। इस प्रकार म्लेच्छों का भारत को सताना बन्द हुआ। इसी विशाखदत्त ने 'देवीचन्द्रगुप्तम्' की रचना की थी, जिसमें चन्द्रगुप्त द्वितीय और ध्रुवदेवी के कथानक का विशद रूप से वर्णन किया गया है।

अन्य कवि—किरातार्जुनीय का लेखक महाकवि भारवि और भट्टिकाव्य का रचयिता भट्टि भी गुप्त-वंश के अन्तिम काल मे छठी सदी मे हुए। इन दोनो महाकवियों के काव्य संस्कृत-साहित्य में बहुत ऊँचा स्थान रखते हैं। द्रौपदी के मुख से राजनीति का जो ओजस्वी वर्णन किरातार्जुनीय में मिलता है, उसका उदाहरण संस्कृत-साहित्य अन्यत्र दुर्लभ है। भट्टिकाव्य में व्याकरण के कठिन नियमों को उदाहरणों द्वारा श्लोकों के रूप मे से जिस प्रकार सरल रीति से समझाया गया है, वह भी वस्तुतः अनुपम है। अन्य अनेक कवि भी इस युग में हुए, जिनमें मातृगुप्त, सौमिल्ल और कुलपुत्र के नाम उल्लेखनीय हैं।

प्रशस्तियाँ—गुप्त-काल के शिलालेख भी काव्य के उत्तम उदाहरण हैं। प्रयाग के अशोककालीन स्तम्भ पर समुद्रगुप्त की जो प्रशस्ति कुमारामात्य महादण्डनायक हरिषेण ने उत्कीर्ण कराई थी, वह कविता की दृष्टि से बहुत उच्च कोटि की है। यशोधर्मा की प्रशस्ति भी कविता की दृष्टि से बहुत उत्कृष्ट है। उसे वसुल नाम के कवि ने लिखा था। इसी तरह रविशान्ति, वत्सभट्टि और कुब्ज आदि कवियो द्वारा लिखी गयी अन्य अनेक प्रशस्तियाँ भी उपलब्ध हुई है, जो गुप्तकाल की है। इनके अनुशीलन से ज्ञात होता है, कि काव्य की शैली गुप्त-काल मे बहुत उन्नत और परिष्कृत हो गयी थी।

पञ्चतन्त्र—ऐतिहासिकों के अनुसार संस्कृत के प्रसिद्ध नीतिकथा-ग्रन्थ पञ्चतन्त्र का निर्माण भी गुप्त-काल में ही हुआ था। पञ्चतन्त्र की कथाएँ बहुत पुरानी हैं, और उनमे से बहुतो का सम्बन्ध तो महाजनपद-काल की राजनीतिक घटनाओं मे है। इस ग्रन्थ मे कोशल, मगध और वज्जि आदि जनपदो के राजाओं का स्थान पशुओं ने ले लिया है, और मनोरंजक रीति से अनेक पुरानी ऐतिहासिक कथाओ को लिखा गया है। ये कथाएँ चिरकाल से परम्परागत रूप से भारत मे प्रचलित थी। गुप्त-काल मे उन्होने बाकायदा एक ग्रन्थ का रूप धारण किया। ५७० ईस्वी से पहले भी पञ्चतन्त्र का पहलवी भाषा मे अनुवाद हो चुका था। ग्रीक, लेटिन, स्पेनिश, इटालियन, जर्मन, इंगलिश और संसार की प्रायः सभी पुरानी भाषाओ मे इसके अनुवाद सोलहवी सदी से पूर्व ही हो चुके थे। इस समय संसार की पचास से भी अधिक विभिन्न भाषाओं में इसके अनुवाद पाये जाते हैं। थोडे-बहुत रूपान्तर से २०० से अधिक ग्रन्थ इसके आधार पर लिखे जा चुके हैं।

व्याकरण और कोष—व्याकरण और कोष-सम्बन्धी भी अनेक ग्रन्थ इस काल मे लिखे गये। चन्द्रगोमिन् नाम के एक बौद्ध पडित ने चान्द्र-व्याकरण की रचना की। पाणिनि के व्याकरण मे वैदिक प्रयोगो की भी सिद्धियाँ थी, पर इसमे उन्हे निकाल दिया गया। इस व्याकरण की पद्धति पाणिनि से भिन्न है। बौद्धो मे इसका बहुत प्रचार हुआ। महायान-सम्प्रदाय के सभी ग्रन्थ सस्कृत मे लिखे गये थे। गान्धार और उत्तर-पश्चिमी प्रदेशों में बौद्धों की भाषा संस्कृत ही थी। वे इस चान्द्र-व्याकरण का अध्ययन करते थे। संस्कृत का मूल चान्द्र व्याकरण अब नही मिलता। पर तिब्बती भाषा में उसका जो अनुवाद हुआ था, वह पिछले दिनो मे उपलब्ध हो गया है। प्रसिद्ध कोषकार अमरसिंह भी इसी काल मे हुआ। वह बौद्ध-धर्म का अनुयायी था। उसका लिखा

अमरकोष संस्कृत के विद्यार्थियों में बहुत लोकप्रिय है। अमरसिंह की गणना भी चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य की राजसभा के नवरत्नों में की जाती है।

स्मृतियाँ—स्मृति-ग्रंथों मे मनुस्मृति, विष्णुस्मृति और याज्ञवल्क्यस्मृति की रचना गुप्तकाल से पहले हो चुकी थी। अब नारदस्मृति, कात्यायनस्मृति और बृहस्पति-स्मृति की रचना हुई। नीतिग्रंथो मे कामन्दक नीतिसार इसी काल की रचना है।

ज्योतिष और गणित—गणित, ज्योतिष आदि विज्ञानो की भी इस काल में बहुत उन्नति हुई। आर्यभट्ट और वराहमिहिर जैसे प्रसिद्ध गणितज्ञ और ज्योतिषी इसी युग में हुए। वराहमिहिर की गणना भी चन्द्रगुप्त द्वितीय के नवरत्नो में की गयी है। गणित-शास्त्र में दशमलव का सिद्धान्त बड़े महत्त्व का है। गुप्त-काल तक यह सिद्धान्त भारत मे विकसित हो चुका था। रोमन लोग इससे सर्वथा अपरिचित थे। यूरोप के लोगों को ग्यारहवी सदी तक इसका ज्ञान नही था। यही कारण है कि गणित की वहाँ अधिक उन्नति नही हो सकी। अरब लोग पहले-पहल इस सिद्धान्त को यूरोप मे ले गए। पर अरबों ने इसे भारत से सीखा था। इब्न वाशिया (नवी सदी), अलमसूदी (दसवीं सदी) और अलबरूनी (ग्यारहवी सदी) जैसे अरब लेखको ने यह स्पष्ट स्वीकार किया है, कि दशमलव का सिद्धान्त हिन्दुओ ने आविष्कृत किया था, और अरबों ने इसे उन्हीं से सीखा था। आर्यभट्ट के ग्रंथ आर्यभट्टीयम् में इसका स्पष्टतया उल्लेख है। यह ग्रथ गुप्त-काल मे पाँचवी सदी मे लिखा गया था। पर भारतीय लोग पाँचवी सदी से पहले भी इस सिद्धान्त से परिचित थे। पेशावर के समीप बक्शली नाम के गाँव मे एक बहुत पुराना हस्तलिखित ग्रंथ मिला है। यह ग्रन्थ गणित विषय पर है। इसकी भाषा के आधार पर यह निश्चित किया गया है, कि यह ग्रन्थ चौथी सदी का है। इसमें न केवल दशमलव के सिद्धान्त का स्पष्टरूप से प्रतिपादन है, अपितु गणित के अच्छे ऊँचे सूत्रो का भी इसमे उल्लेख है। इसके अनुशीलन से सूचित होता है, कि गुप्तकालीन भारत में गणित-विज्ञान अच्छी उन्नति कर चुका था। आर्यभट्ट का ग्रन्थ आर्यभट्टीयम् भी गणित के सम्बन्ध मे उस युग के ज्ञान को भली-भाँति प्रकट करता है। यह ग्रन्थ खास पाटलिपुत्र मे लिखा गया था, और इसमें अकगणित, अलजेबरा और ज्योमेट्री, सबके अनेक सिद्धान्तो व सूत्रों का प्रतिपादन किया गया है।

ज्योतिष विषय पर पहला ग्रंथ इस युग में वैशिष्ठ सिद्धान्त लिखा गया। इसका काल ३०० ईस्वी माना जाता है। इससे पहले भारत में एक साल मे ३६६ दिन माने जाते थे। पर वैशिष्ठ सिद्धान्त मे यह प्रतिपादन किया गया, कि एक साल मे ३६६ दिन न होकर ३३५·२५६१ दिन होते है। गुप्तकाल में दिनगणना के विषय मे भारतीय लोग सत्य के बहुत समीप पहुँच गये थे। ३८० ईस्वी मे पौलिस सिद्धान्त लिखा गया। इसमें सूर्यग्रहण और चन्द्रग्रहण के नियमो का भली-भाँति प्रतिपादन किया गया है। पौलिस सिद्धान्त के कुछ वर्षों बाद ४०० ईस्वी में रोमक सिद्धान्त लिखा गया। सम्भवतः, यह रोमन लोगो के ज्योतिष-ज्ञान के आधार पर लिखा गया था। भारत और रोम का उस समय घनिष्ठ सम्बन्ध था। इस ग्रन्थ में २८५० वर्ष का एक युग माना गया है, जो ग्रीक और रोमन ज्योतिष के अनुसार ही है। आचार्य वराहमिहिर ने ज्योतिष के सम्बन्ध में जो ग्रंथ लिखे, उनके नाम ये हैं—पंचसिद्धांतिका,

बृहज्जातक, बृहत्संहिता और लघुजातक । इनमे से पिछले दो का अनुवाद अलबरूनी ने अरबी भाषा में किया था । वराहमिहिर की पुस्तकों मे फलित ज्योतिष का बड़े विस्तार से प्रतिपादन किया गया है ।

पर गुप्त-काल के वैज्ञानिकों मे सबसे बडा आर्यभट्ट था । इस विख्यात ज्योतिषी का जन्म पाँचवी सदी मे पाटलिपुत्र में हुआ था । जब उसकी आयु केवल २३ वर्ष की थी, तभी उसने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ आर्यभट्टीयम् की रचना की थी । उस युग मे अलेग्जेण्ड्रिया ज्योतिष के अध्ययन का बडा केन्द्र था । मिस्र के राजाओं के सरक्षण मे ग्रीक ज्योतिषी वहाँ नई खोजो मे निरन्तर लगे रहते थे । पाश्चात्य संसार ने ज्योतिष के क्षेत्र में जो उन्नति की थी, आर्यभट्ट को उससे पूरा-पूरा परिचय था । उसने भारतीय और पाश्चात्य, सब विज्ञानो का भली-भाँति अनुशीलन किया था, और उन सब का भली-भाँति मंथन कर, सत्य को असत्य से अलग करने और सत्य सिद्धान्तो का प्रतिपादन करने के लिए अपना ग्रथ लिखा था । सूर्य और चन्द्र का ग्रहण राहु और केतु नाम के राक्षसो द्वारा ग्रसने के कारण नही होता, अपितु जब चन्द्रमा सूर्य और पृथिवी के बीच मे या पृथिवी की छाया मे आ जाता है, तब चन्द्रगहण होता है, इस सिद्धान्त का आर्यभट्ट ने स्पष्ट रूप से वर्णन किया है । पृथिवी अपने व्यास के चारो ओर घूमती है, दिन और रात क्यो छोटे-बडे होते रहते हैं, भिन्न-भिन्न नक्षत्रो और ग्रहों की गति किस प्रकार से रहती है—इस प्रकार के बहुत-से विषयों पर ठीक-ठीक सिद्धान्त आर्यभट्ट ने प्रतिपादित किये है । वर्ष मे कितने दिन होते हैं, इस विषय मे आधुनिक ज्योतिषियो का मत यह है, कि ३६५.२५६३६०४ दिनो का वर्ष होता है । आर्यभट्ट की गणना के अनुसार साल में ३६५.२५८६८०५ दिन होते थे । आर्यभट्ट की गणना वर्तमान ज्योतिषियो की गणना के बहुत समीप है । प्राचीन ग्रीक ज्योतिषी भी इस सम्बन्ध मे सत्य के इतने समीप नही पहुँचे थे । ज्योतिष मे आर्यभट्ट के अनेक शिष्य थे । इनमे निःशक, पाडुरंग स्वामी और लाटदेव के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं । इनमे भी लाटदेव आगे चलकर बहुत प्रसिद्ध हुआ । उसे 'सर्वसिद्धांतगुरु' माना जाता था । उसने पौलिस और रोमक सिद्धान्तो की व्याख्या बड़े सुन्दर रूप से की थी । इसी काल का ज्योतिषसम्बन्धी ग्रन्थ सूर्यसिद्धान्त भी बहुत प्रसिद्ध है । इसके लेखक का नाम ज्ञात नही है । भारतीय ज्योतिषी इसे बडे आदर की दृष्टि से देखते है । इसमे सदेह नही कि इस ग्रन्थ की रचना भी गुप्त-काल मे ही हुई थी ।

भारत के प्राचीन विद्वान् विदेशियो से विद्याग्रहण मे कोई संकोच नही करते थे । अलेग्जेंड्रिया मे ग्रीक पण्डितो द्वारा ज्योतिष की जो उन्नति की जा रही थी, गुप्तकाल के भारतीय ज्योतिषी उससे भली-भाँति परिचित थे । वे उनकी विद्या का आदर भी करते थे । यही कारण है, कि वराहमिहिर ने लिखा है, कि यद्यपि यवन (ग्रीक) लोग म्लेच्छ है, पर वे ज्योतिष विद्या मे बडे प्रवीण है, अतः उनका ऋषियो के समान ही आदर करना चाहिए । भारतीय पडितों की इसी वृत्ति का परिणाम था कि जहाँ उन्होंने स्वयं खोज और चिन्तन द्वारा ज्योतिष के अनेक सिद्धान्तों का आविष्कार किया, वहाँ उन्होने ग्रीक लोगो से भी बहुत कुछ सीखा । अनेक आधुनिक विद्वानों की दृष्टि मे भारतीय ज्योतिष के केन्द्र, हारिज, लिप्त आदि अनेक शब्द ग्रीक भाषा से

लिए गए हैं। रोमक सिद्धान्त-ग्रंथ से भारतीय ज्योतिष पर पाश्चात्य प्रभाव स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है। अतः यदि कुछ पारिभाषिक शब्द प्राचीन भारतीय ज्योतिषियों ने ग्रीक से लिए हों, तो इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं। पर यह ध्यान में रखना चाहिए, कि गुप्त-काल की भारतीय ज्योतिष अलेग्जेण्ड्रिया की ग्रीक ज्योतिष की अपेक्षा अधिक उन्नत थी।

आयुर्वेद—आयुर्वेद के क्षेत्र में गुप्त-युग मे अच्छी उन्नति हुई। चरक और सुश्रुत की रचना गुप्त-युग से पहले ही हो चुकी थी। पर छठी सदी के शुरू में प्रसिद्ध आयुर्वेदाचार्य वाग्भट्ट ने अष्टांगहृदय की रचना की। यह आयुर्वेद का प्रसिद्ध ग्रंथ है, और इससे सूचित होता है, कि चरक और सुश्रुत ने जिस चिकित्सा-प्रणाली का प्रारम्भ किया था, वह इस काल मे निरन्तर उन्नति करती रही। प्राचीन साहित्यिक अनुश्रुति के अनुसार चन्द्रगुप्त द्वितीय की राजसभा में विद्यमान नवरत्नो मे धन्वन्तरि भी एक था। धन्वन्तरि को आयुर्वेद का मुख्य आचार्य समझा जाता है, और वैद्य लोग उसे अपने विज्ञान का देवता-सा मानते हैं। यह कहना बहुत कठिन है, कि आयुर्वेद का यह प्रथम प्रधान आचार्य गुप्त-काल मे हुआ था। सम्भवतः, इस नाम का कोई अन्य वैद्य चन्द्रगुप्त द्वितीय के नवरत्नो मे होगा, पर उसका लिखा कोई ग्रंथ इस समय उपलब्ध नहीं होता। गुप्त-काल की एक अन्य चिकित्सा-सम्बन्धी पुस्तिका पूर्वी तुर्किस्तान में मिली है। इसका नाम 'नावनीतकम्' है। इसे श्रीयुत् बाबर ने सन् १८६० मे तुर्किस्तान के पुराने खडहरों से प्राप्त किया था। यह छोटा-सा ग्रथ चरक, सुश्रुत, हारीत, जातुकर्ण क्षारपाणि और पाराशरसहिता आदि के आधार पर लिखा गया है। इनमें से अनेक ग्रंथ इस समय उपलब्ध नही होते, पर नावनीतकम् मे उनके आधार पर जो नुस्खे (प्रयोग) संकलित हैं, वे भारत से बाहर तुर्किस्तान में मिल गये हैं।

हस्त्युपवेद नाम से भी एक ग्रन्थ गुप्त-काल मे लिखा गया था। इसका रचयिता पालकाप्य नाम का एक पशु-चिकित्सक था। यह एक विशाल ग्रन्थ है, जिसमे १६० अध्याय हैं। हाथियो के रोग, उनके निदान और चिकित्सा का इसमे विस्तृत वर्णन है। प्राचीन भारत की सैन्यशक्ति मे हाथियो का बडा महत्त्व था। अतः उनकी चिकित्सा के सम्बन्ध मे इतने ज्ञान का विकास हो जाना एक स्वाभाविक बात थी।

रसायन—रसायन-विज्ञान मे भी गुप्तकाल मे बहुत उन्नति हुई। दुर्भाग्यवश, रसायन-विद्या के इस युग के कोई भी ग्रन्थ उपलब्ध नही होते। पर इस विद्या ने गुप्त-काल मे किस हद तक उन्नति कर ली थी, इसका जीता-जागता प्रत्यक्ष उदाहरण दिल्ली के समीप महरौली मे प्राप्त लौहस्तम्भ है। यह स्तम्भ २४ फीट ऊँचा और १८० मन के लगभग भारी है। इतना भारी और बडा लौहस्तम्भ किस प्रकार तैयार किया गया, यह एक गूढ रहस्य है। लोहे को गरम कर के चोट देकर इतना विशाल स्तम्भ कभी भी तैयार नही किया जा सकता, क्योकि गरम करने से जो आंच पैदा होगी, उसके कारण इतनी दूर तक कोई आदमी खडा नही हो सकेगा, कि चोट देकर उसे एक निश्चित आकृति का बनाया जा सके। दूसरा तरीका यह हो सकता है, कि इस लाट को ढालकर बनाया गया हो। यदि गुप्त-काल के भारतीय शिल्पी इतनी बडी लोहे की लाट को ढाल सकते थे, तो निस्संदेह वे धातु-विज्ञान और शिल्प में बहुत अधिक उन्नति

कर चुके थे। इस लौह-स्तम्भ में आश्चर्य की एकबात यह है, कि १६०० वर्ष के लगभग बीत जाने पर भी इसपर जंग का नाम-निशान तक नहीं है। यह स्तम्भ इतने दीर्घकाल से वर्षा, आँधी, गरमी, सरदी सब सहता रहा है, पर पानी या ऋतु का इसपर कोई प्रभाव नहीं पड़ा। लोहे को किस प्रकार ऐसा बनाया गया कि इस पर जंग भी न लगे, यह एक ऐसा रहस्य है, जिसे वर्तमान वैज्ञानिक भी नहीं समझ सके है। विज्ञान ने गुप्त-काल में कैसी उन्नति की थी, इसका यह ज्वलन्त उदाहरण है।

वराहमिहिरकृत बृहत्संहिता मे गणित और ज्योतिष के अतिरिक्त अन्य बहुत-से विषयो का भी प्रतिपादन किया गया है। तलवारो को किस प्रकार तीक्ष्ण बनाया जाए, सोने व रत्नों के आभूषण कैसे तैयार किए जाएँ, मुक्ता, वैदूर्य, रत्न आदि की क्या पहचान हैं; वृक्ष किस प्रकार मौसम से भिन्न दूसरे समय मे भी फल दे सकते है; घोड़े, हाथी, कुत्ते आदि मे अच्छे या बुरे की पहचान कैसे की जाय; मन्दिर, राजप्रासाद आदि कैसे बनाए जाएँ; भूमि मे नीचे कहाँ जल की धारा है यह कैसे जाना जाय; बादलों के कितने प्रकार होते हैं, और वर्षा या मौसम के भविष्य का पता कैसे लगाया जाय; आदि सब विषयो पर वराहमिहिर ने अपने ग्रन्थ मे विचार किया है। इससे सूचित होता है, कि गुप्त-काल के विचारक इन सब बातो के विषय मे जानकारी प्राप्त करने मे व्यापृत रहते थे।

(२) दार्शनिक साहित्य

षड्दर्शनों का निर्माण मौर्य युग व उससे पूर्व हो चुका था। पर दार्शनिक विचारो का विकास गुप्त-काल मे भी जारी रहा। मीमांसा पर शबरभाष्य ३०० ई० के लगभग लिखा गया था। मीमासा-सूत्रो मे जिन विचारो को सूक्ष्म रूप से प्रकट किया गया था, शबरभाष्य मे उन्ही का बहुत विकास किया गया है। साख्यदर्शन का प्रसिद्ध ग्रन्थ साख्यकारिका चौथी सदी के शुरू मे लिखा गया था। इसका लेखक ईश्वरकृष्ण था। योगसूत्रो पर भी इस युग मे व्यासभाष्य लिखा गया। यह माना जाता है, कि योगसूत्रो का रचयिता महर्षि पतजलि था, पर उनकी विशद रूप से व्याख्या आचार्य व्यास ने की। योग के इस व्यासभाष्य का रचनाकाल तीसरी सदी के अन्त में माना गया है।

न्यायसूत्रों पर भी इस युग मे वात्स्यायन-भाष्य लिखा गया। इस भाष्य में बौद्धो के माध्यमिक और योगाचार सम्प्रदायो के मतव्यो का खण्डन किया गया है। बौद्धो के इन सम्प्रदायो का विकास गुप्त-काल से पहले हो चुका था, अतः यह स्पष्ट है, कि उनके मन्तव्यो का खण्डन करने वाला यह वात्स्यायन भाष्य गुप्त-काल की ही कृति है। वैशेषिक दर्शन के प्राचीन सूत्रों की विशद-व्याख्या करने के लिए आचार्य प्रशस्तपाद ने एक बहुत ही महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ इस युग मे लिखा। यह 'पदार्थ-धर्म-संग्रह' वैशेषिक दर्शन का एक अत्यन्त उपयोगी ग्रन्थ है।

बौद्धों के भी दार्शनिक साहित्य का इस युग में बहुत विकास हुआ। कनिष्क के समय तक बौद्ध-धर्म दो प्रमुख सम्प्रदायो मे विभक्त हो गया था—महायान और हीनयान। इस काल में इन दोनों मे बहुत-से नये दार्शनिक विचारो का विकास हुआ।

पाँचवी सदी के प्रारम्भ में बुद्धघोष नाम का एक बड़ा विद्वान् हुआ था। यह मगध का रहने वाला था। वैदिक धर्म का परित्याग कर इस पण्डित ने बौद्धधर्म स्वीकार किया, और लंका में अनुराधपुर के विहार को अपना कार्यक्षेत्र विश्चित किया। इसकी कृतियो में सबसे प्रसिद्ध विसुद्धिमग्ग (विशुद्धि मार्ग) है, जिसमें यह प्रतिपादित किया गया है, कि शील, समाधि और प्रज्ञा से मनुष्य किस प्रकार निर्वाणपद को प्राप्त कर सकता है। त्रिपिटक पर भी बुद्धघोष ने भाष्य लिखे। हीनयान सम्प्रदाय की उन्नति मे बुद्धघोष का बडा हाथ है। उसके कुछ समय बाद बुद्धदत्त नाम के मागध पण्डित ने लंका जाकर अभिधम्मावतार, रूपारूपविभाग और विनयविनिच्चय नाम के ग्रन्थ लिखे। हीनयान के धार्मिक व दार्शनिक साहित्य में इन पण्डितों के ग्रन्थों का बहुत ऊँचा स्थान है।

उत्तर-पश्चिमी भारत मे वसुबन्धु नाम का प्रकाण्ड बौद्ध पण्डित इसी युग में हुआ, जिसके लिखे ग्रन्थ अभिधर्मकोष मे बौद्ध-धर्म के मौलिक सिद्धान्तो को इतने सुन्दर रूप मे प्रतिपादित किया गया है, कि बौद्धों के सभी सम्प्रदाय उसे प्रामाणिक रूप मे स्वीकार करते है। पर उत्तर-पश्चिमी भारत मे मुख्यतया महायान का ही प्रचार रहा। इसके भी दो मुख्य सम्प्रदाय थे—माध्यमिक और योगाचार। माध्यमिक सम्प्रदाय का प्रवर्त्तक नागार्जुन था। उसका प्रमुख शिष्य आर्यदेव था, जिसने तीसरी सदी मे चतुःशतक नामक प्रसिद्ध दार्शनिक ग्रन्थ लिखा। महायान के दो अन्य प्रसिद्ध ग्रंथ वज्रच्छेदिका-प्रज्ञापारमिता और प्रज्ञापारमिताहृदयसूत्र भी इसी सदीमे लिखे गये। योगाचार-सम्प्रदाय का प्रवर्त्तक मैत्रेयनाथ दूसरी सदी के अन्त मे हुआ था। पर उस के दार्शनिक विचारों का विकास गुप्त-काल मे ही हुआ। इस विकास में आचार्य असंग का बडा हाथ है। बुद्धघोष के समान वह भी पहले वैदिकधर्म का अनुयायी था पर बाद मे बौद्ध हो गया था। उसने तीसरी सदी के अन्त मे महायान-सम्परिग्रह, योगाचार-भूमिशास्त्र और महायान-सूत्रालकार नाम के प्रसिद्ध ग्रन्थ लिखे। असग प्रकाण्ड पण्डित था। बौद्धो मे दार्शनिक विचारो के विकास का बहुत-कुछ श्रेय असंग और वसुबन्धु को ही है। वसुबन्धु ने जहाँ अभिधर्मकोष लिखा जो सब बौद्धों को समानरूप से मान्य था, वहाँ अनेक दार्शनिक ग्रन्थों की भी रचना की। विज्ञानवाद का वही महान् प्रवक्ता हुआ। इस बौद्ध-दर्शन के अनुसार संसार मिथ्या है। सत्य सत्ता केवल 'विज्ञान' है। अन्य सब पदार्थ शशशृंग व बन्ध्यापुत्र के समान मिथ्या हैं। जलती हुई लकडी को घुमाने से जैसे आग का चक्कर-सा नजर आता है, पर वस्तुतः उसकी कोई सत्ता नही होती, ऐसे ही ससार मे जो कुछ दृष्टिगोचर हो रहा है, उसकी वस्तुतः कोई सत्ता नही है। यह विचारधारा वेदान्त के अद्वैतवाद से बहुत-कुछ मिलती-जुलती है। वसुबन्धु ने विंशतिका और त्रिंशतिका ग्रन्थों मे इसी विज्ञानवाद का सुचारु रूप से प्रतिपादन किया है। उसने अपने अन्य ग्रंथो मे साख्य, योग, वैशेषिक और मीमासा दर्शनों के सिद्धान्तो का खण्डन भी किया है। बौद्धों के पृथक् तर्कशास्त्र का प्रारम्भ भी वसुबन्धु द्वारा ही हुआ, पर बौद्ध-तर्कशास्त्र के विकास का प्रधान श्रेय आचार्य दिङ्नाग को है। दिङ्नाग गुप्त-काल मे चौथी सदी के अन्त में हुआ था। उसने न्याय और तर्कशास्त्र पर बहुत-सी पुस्तकें लिखी। दुर्भाग्यवश ये इस समय उपलब्ध नही होती, यद्यपि इनके अनेक उद्धरण उद्योतकर और कुमारिलभट्ट

सदृश पण्डितों ने अपने ग्रन्थों मे दिये हैं। दिङ्नाग की एक पुस्तक न्यायमुख चीनी और तिब्बती भाषाओं में मिली है।

पुराने जैन धर्म-ग्रंथों पर अनेक भाष्य इस समय लिखे गये, जिन्हें निर्युक्ति और चूर्णि कहते हैं। इस युग के जैन-भाष्यकारो मे भद्रबाहु द्वितीय का नाम विशेष-रूप से उल्लेखनीय है। उसने बहुत-से प्राचीन ग्रन्थो पर निर्युक्ति लिख कर न केवल उनके आशय को अधिक स्पष्ट किया, अपितु नवीन शैली मे दार्शनिक विचारों को भी प्रकट किया। जैनों के ग्रन्थ पहले प्रायः प्राकृत-भाषा मे थे। पर गुप्त-काल मे संस्कृत का पुनरुत्थान हुआ था। इस युग मे जैनो ने भी संस्कृत मे अपनी पुस्तकों को लिखना शुरू किया। आचार्य उमास्वाति ने अपना प्रसिद्ध ग्रन्थ तत्त्वार्थाधिगमसूत्र और सिद्धसेन ने अपना न्यायावतार सस्कृत मे ही लिखा।

(३) धार्मिक दशा

यज्ञों का प्रचार—मौर्योत्तर-युग में प्राचीन वैदिक धर्म के पुनरुद्धार की जो प्रक्रिया प्रारम्भ हुई थी, गुप्त-काल मे उसने और भी जोर पकड़ा। प्रायः सभी गुप्त सम्राट् भागवत वैष्णव धर्म के अनुयायी थे। पर अहिंसावाद-प्रधान वैष्णव धर्म को मानते हुए भी उन्होंने प्राचीन वैदिक परम्परा के अनुसार अश्वमेध यज्ञ किये। महाभारत, मनुस्मृति और मीमासा सूत्रों मे यज्ञो की उपयोगिता पर बहुत बल दिया गया है। इस काल के आर्य पण्डित वैदिक धर्म का पुनः प्रचार करने में व्यापृत थे। यही कारण है, कि यज्ञो की परिपाटी इस युग मे फिर से शुरू हो गयी थी। न केवल गुप्त-सम्राटो ने, अपितु इस युग के अन्य अनेक राजाओ ने भी अश्वमेध यज्ञो का अनुष्ठान किया था। दक्षिणी भारत मे शालंकायन-वश के राजा विजयदेव वर्मन् और त्रैकूटक-वश के राजा दह्रसेन ने इसी काल में अश्वमेध यज्ञ किये। केवल अश्वमेध ही नही, अग्निष्टोम, बाजपेय, वाजसनेय, बृहस्पतिसव आदि प्राचीन वैदिक यज्ञो के अनुष्ठान का भी इस युग मे उल्लेख आता है। इन यज्ञो के अवसर पर जो यूप बनाये गये थे, उनमे से कतिपय के अवशेष भी वर्तमान समय मे उपलब्ध हुए हैं। न केवल बडे-बडे सम्राट्, अपितु विविध सामन्त राजा भी इस युग मे विविध यज्ञो के अनुष्ठान मे तत्पर थे। बौद्ध-धर्म के प्रबल होने के समय मे इन यज्ञो की परिपाटी बहुत कुछ नष्ट हो गयी थी। यही कारण है, कि शैशुनाग, नन्द और मौर्य राजाओं ने इन प्राचीन यज्ञों का अनुष्ठान नहीं किया था। यज्ञो से कोई लाभ नही है, यह विचार उस समय प्रबल हो गया था। पर वैदिक धर्म के पुनरुत्थान के इस युग मे अब याज्ञिक परिपाटी फिर प्रारम्भ हुई। यज्ञो को निमित्त बनाकर मनुष्य दीन, अनाथ, आतुर और दुखी लोगो की बहुत सहायता कर सकता है, यह विचार इस समय बहुत जोर पकड गया था। सम्भवतः इसीलिए समुद्रगुप्त ने लिखा था, कि पृथिवी का जय करने के बाद अब वह अपने सुकर्मो से स्वर्ग की विजय करने मे तत्पर है।

वैष्णव और शैव-धर्म—पुराने वैदिक धर्म मे परिवर्तन होकर जिन नये पौराणिक सम्प्रदायो का प्रादुर्भाव हुआ था, उनपर हम पहले प्रकाश डाल चुके है। भागवत और शैव धर्म इस युग में बहुत जोर पकड़ रहे थे। गुप्त-सम्राट् वैष्णव भागवत धर्म के

अनुयायी थे। उनके संरक्षण के कारण इस धर्म की बहुत उन्नति हुई। इस युग में बहुत-से वैष्णव मन्दिरों का निर्माण हुआ। अनेक शिलालेखों मे धर्मप्राण भक्त लोगो द्वारा बनवाये गये विष्णु मंदिरो और विष्णुध्वजों का उल्लेख है। विष्णु के दस अवतारो मे से वराह और कृष्ण की पूजा इस समय अधिक प्रचलित थी। अनुश्रुति के अनुसार वराह ने प्रलय के समय मग्न होती हुई पृथिवी का उद्धार किया था। दस्युओं और म्लेच्छो के आक्रमणों से भारतभूमि में जो एक प्रकार का प्रलय-सा उपस्थित हो गया था, उसका निराकरण करने वाले सम्राटो के इस शासनकाल में यदि भगवान् के वराहावतार की विशेष रूप से पूजा हो, तो इसमे आश्चर्य ही क्या है। राम को भगवान् विष्णु का अवतार मानकर पूजा करने की प्रवृत्ति इस समय तक प्रचलित नही हुई थी। कृष्ण की पूजा का उल्लेख इस युग के बहुत-से शिलालेखो मे पाया जाता है। पर राम की पूजा के सम्बन्ध मे कोई ऐसा निर्देश इस युग के अवशेषो मे उपलब्ध नही होता, यद्यपि राम के परम पावन चरित्र के कारण उसमें भगवान् के अंश का विचार इस समय में विकसित होना आरम्भ हो गया था। कालिदास ने इसका निर्देश किया है। पर राम की पूजा भारत में छठी सदी के बाद में ही शुरू हुई।

गुप्त काल मे बहुत-से शिव मंदिरो का भी निर्माण हुआ। गुप्त-सम्राटों के शिलालेखो मे दो अमात्यो का उल्लेख आया है, जो शैव धर्म के अनुयायी थे। इनके नाम शाब और पृथ्वीषेण हैं। इन्होंने अपने नाम को अमर करने के लिए शिव के मंदिरो का निर्माण कराया था। गुप्तो के पूर्ववर्ती भारशिव और वाकाटक राजा शैव धर्म के अनुयायी थे। गुप्त-काल मे भी वाकाटक, मैत्रक, कदम्ब और परिव्राजक वंशो के राजा मुख्यतया शैव धर्म का अनुसरण करते थे। हूण राजा मिहिरगुल ने भी शैव धर्म ग्रहण किया था। इस प्रकार यह स्पष्ट है, कि वैष्णव धर्म के साथ-साथ शैव धर्म भी गुप्त-काल मे प्रचलित था। शैव मदिरो में जहाँ शिवलिंग की स्थापना की जाती थी, वहाँ जटाजूटधारी, सर्प, गंगा और चन्द्रमा से युक्त शिव की मानवी मूर्ति को भी प्रतिष्ठापित किया जाता था। शैव राजाओ के सिक्को पर प्रायः त्रिशूल और नन्दी के चित्र अंकित रहते है।

मौर्योत्तर-काल मे सूर्य के भी मन्दिरो की स्थापना शुरू हो गई थी। ऐसा पहला मदिर सम्भवतः मुलतान मे बना था। पर गुप्तकाल मे मालवा, ग्वालियर, इन्दौर और बघेलखण्ड मे भी सूर्य के मन्दिरो का निर्माण हुआ। इससे सूचित होता है, कि सूर्य की पूजा भी इस युग मे अधिकाधिक लोकप्रिय होती जा रही थी।

बौद्ध-धर्म—सनातन वैदिक धर्म के पुनरुद्धार से बौद्ध और जैन धर्मों का जोर कुछ कम अवश्य हो गया था, पर अभी भारत मे उनका काफी प्रचार था। काश्मीर, पजाब और अफगानिस्तान के प्रदेशो मे प्रायः सभी लोग बौद्ध धर्म के अनुयायी थे। जब चीनी यात्री फाइयान भारत मे यात्रा के लिए आया, तो उसने देखा कि इन प्रदेशों मे हजारों बौद्ध-विहार विद्यमान थे, जिनमें लाखो की संख्या मे भिक्षु निवास करते थे। वर्तमान उत्तर-प्रदेश, बिहार, बंगाल और मध्यप्रदेश मे भी बौद्ध-धर्म बहुत समृद्ध दशा में था। फाइयान के अनुसार कपिलवस्तु, श्रावस्ती, वैशाली सदृश पुरानी नगरियाँ अब बहुत कुछ क्षीण दशा मे थी। पर इसका कारण बौद्ध-धर्म का क्षय नही था।

भारत के राजनैतिक जीवन में पुराने गणराज्यो और जनपदों का स्थान अब शक्तिशाली मागध-साम्राज्य ने ले लिया था। अब भारत की वैभवशाली नगरियाँ पाटलिपुत्र और उज्जयिनी थीं। पर मथुरा, कौशाम्बी, कसिया (कुसीनगर) और सारनाथ मे अब भी बौद्ध-विहार बड़ी समृद्ध दशा मे विद्यमान थे। अजन्ता, एल्लोरा, कन्हेरी, जुन्नार आदि के गुहामन्दिरों में अब भी बौद्ध-भिक्षु हजारों की संख्या मे रहते थे। खास मगध में ही नालन्दा के प्रसिद्ध बौद्ध-विहार के अनुपम गौरव का प्रारम्भ गुप्तकाल में ही हुआ था। इस युग मे आन्ध्र देश बौद्ध-धर्म का बहुत महत्त्वपूर्ण केन्द्र था। उसे आचार्य नागार्जुन ने अपना प्रधान कार्यक्षेत्र चुना था, और उसकी शिष्य-परम्परा के प्रयत्नों के कारण वह प्रदेश बौद्ध धर्म का गढ-सा बन गया था। नागार्जुनीकोण्ड नाम का बडा समृद्ध विहार वहाँ विद्यमान था, जिसमे हजारो की सख्या मे भिक्षु लोग निवास करते थे। इस वैभवपूर्ण विहार के भग्नावशेष अब तक भी विद्यमान है। काँची और वलभी मे भी बडे-बड़े विहार इस काल में विद्यमान थे, जो बौद्ध दर्शन, धर्म और शिक्षा के बडे केन्द्र माने जाते थे। इनमे भिक्षुओं को भोजन, वस्त्र आदि सब जनता की तरफ से दिये जाते थे। राजा और प्रजा—सब इनकी सहायता के लिए उदारता के साथ दान देते थे। वैष्णव और शैव-धर्मों के प्रचार के बावजूद भी गुप्त-काल में बौद्ध-धर्म पर्याप्त उन्नत और विस्तीर्ण था।

जैन-धर्म—जैन-धर्म के इतिहास मे भी गुप्त-काल का बहुत महत्त्व है। इस समय तक जैनों मे दो मुख्य सम्प्रदाय थे—दिगम्बर और श्वेताम्बर। श्वेताम्बर सम्प्रदाय की दो प्रसिद्ध महासभाएँ गुप्त-काल में ही हुई। पहली महासभा वलभी मे ३१३ ईस्वी में हुई थी। इसके अध्यक्ष आचार्य नागार्जुन (जैन नागार्जुन, बौद्ध नागार्जुन नही) थे। दूसरी महासभा भी वलभी में ही ४५३ ईस्वी मे आचार्य क्षमा-श्रमण के सभापतित्व मे की गयी। इन महासभाओं मे यह निश्चय किया गया, कि जैन-धर्म के मान्य ग्रन्थो के शुद्ध पाठ कौन-से है, और जैनो के कौन-से सिद्धान्त प्रामाणिक है। श्वेताम्बर सम्प्रदाय मुख्यतया पश्चिमी भारत मे प्रचलित था। वलभी और मथुरा उसके सर्वप्रधान केन्द्र थे। दिगम्बर सम्प्रदाय का प्रचार प्रधानतया पूर्वी भारत मे था, और बगाल की पुण्ड्रवर्धन नगरी इस काल मे उसका केन्द्र थी। दक्षिण भारत मे भी दिगम्बर सम्प्रदाय का ही प्रचार था। मैसूर या कर्णाटक के निवासी प्रायः जैन-धर्म के ही अनुयायी थे। सुदूर दक्षिण मे तमिल लोगों मे भी इस समय तक जैन-धर्म फैल चुका था। पल्लव और पाड्य-वंशो के अनेक राजाओं ने भी जैन-धर्म को स्वीकार किया था। तमिल भाषा मे जैन-धर्म की बहुत-सी पुस्तके इस काल में लिखी गयी। तमिल-संस्कृति का सर्वप्रधान केन्द्र मदुरा था। वहाँ के 'संगमो' मे तामिल काव्य और साहित्य का बहुत उत्तम विकास हुआ था। ४७० ईस्वी मे जैन लोगों ने मदुरा मे एक विशेष 'संगम' का आयोजन किया। इसका अध्यक्ष आचार्य वज्रनन्दी था। जैन-धर्म के तमिल ग्रन्थो के निर्माण में इस संगम ने महत्त्व का कार्य किया। दक्षिणी आरकोट जिले की पाटलिकापुरी मे जैनों का एक प्रसिद्ध मन्दिर था, जहाँ मुनि सर्वनन्दी ने ४५८ ईस्वी में लोकविभंग नाम के प्रसिद्ध ग्रन्थ की रचना की थी। जैन-दर्शन का भी विकास गुप्तकाल मे हुआ। आचार्य सिद्धसेन ने न्यायवार्त्ता की

रचना कर उस तर्कप्रणाली का प्रारम्भ किया, जिसके कारण आगे चलकर जैन-पण्डित दर्शन और न्याय में अन्य सम्प्रदायों के समकक्ष हो गये।

धार्मिक सहिष्णुता—इस प्रकार यह स्पष्ट है, कि गुप्त-काल मे पौराणिक आर्य-धर्म, बौद्ध-धर्म और जैन-धर्म भारत में साथ-साथ फल-फूल रहे थे। तीन मुख्य धर्मों और उनके बहुत-से सम्प्रदायों व मतमतान्तरो के एक साथ रहते हुए भी इस काल में साम्प्रदायिक विद्वेष का प्रभाव था। सब मतों के आचार्य व पण्डित आपस में शास्त्रार्थों में व्यापृत रहते थे। अपने ग्रन्थों मे वे जहाँ एक दूसरे का युक्ति व तर्क द्वारा खण्डन करते थे, वहाँ पण्डित-मण्डलियों और जनसाधारण के समक्ष भी उनमे शस्त्रार्थ व वाद-विवाद होते रहते थे। पर इनके कारण जनता में धार्मिक विद्वेष उत्पन्न नहीं होता था। इस काल के राजा धर्म के मामले में सहिष्णु थे। सम्राट् चन्द्रगुप्त परम-भागवत थे, वे वैष्णव धर्म के अनुयायी थे। पर उन्होंने अपने राजकुमारो की शिक्षा के लिए आचार्य वसुबन्धु को नियत किया था, जो अपने समय का प्रख्यात बौद्ध-विद्वान् था। एक ही परिवार में भिन्न-भिन्न व्यक्ति भिन्न-भिन्न धर्मों के अनुयायी हो सकते थे। राजा शान्तमूल स्वयं वैदिक धर्म का मानने वाला था, पर उसकी बहिन, लडकियाँ और पुत्रवधुएँ बौद्ध-धर्म की अनुयायी थी। गुप्तवंश मे भी कई सम्राट् बौद्ध हुए। पुरु-गुप्त, नरसिंहगुप्त और बुधगुप्त धर्म की दृष्टि से बौद्ध थे। सम्राट् कुमारगुप्त प्रथम का बडा लडका पुरुगुप्त बौद्ध था, और छोटा लडका स्कंदगुप्त परमभागवत था। यह इस युग की धार्मिक सहिष्णुता का ज्वलन्त उदाहरण है। दान के अवसर पर राजा लोग सब सम्प्रदायो को दृष्टि मे रखते थे। सम्राट् वैण्यगुप्त स्वयं शैव था, पर उसने महायान सम्प्रदाय के वैवर्तक संघ को उदारतापूर्वक दान दिया था। नालन्दा के प्रसिद्ध बौद्ध-विहार के वैभव का सूत्रपात वैष्णव-धर्मावलम्बी गुप्त-सम्राटो के दान से ही हुआ था। उच्च राजकीय कर्मचारियों को नियुक्त करते समय भी धर्म-भेद को कोई महत्त्व नहीं दिया जाता था। वैष्णव गुप्त-सम्राटो के कितने ही उच्च राजकर्मचारी बौद्ध थे। ये बौद्ध कर्मचारी अपने धर्म का स्वतन्त्रता के साथ अनुसरण करते थे और अपनी श्रद्धा के अनुसार बौद्ध-विहारो और चैत्यो को सहायता देते थे।

सनातन पौराणिक धर्म के विविध सम्प्रदायो मे भी इसी प्रकार सौमनस्य की भावना विद्यमान थी। प्राचीन आर्य-धर्म के इतिहास मे यह युग समन्वय का था। शिव, विष्णु, सूर्य, दुर्गा आदि देवी-देवता एक ही भगवान् के विविध रूप हैं, यह स्मार्त भावना इस काल मे प्रारम्भ हो गयी थी। साधारण आर्य गृहस्थ सब मन्दिरों को, सब देवी-देवताओं को और सब धर्माचार्यों को सम्मान की दृष्टि से देखता था।

पर बौद्ध और जैन धर्म सनातन पौराणिक धर्म से इस युग मे पृथक् होते जा रहे थे। मौर्योत्तर-काल मे बौद्ध-भिक्षुओं और जैन-मुनियो के प्रति श्रद्धा की जो भावना सर्वसाधारण भारतीय जनता मे थी, वह अब क्षीण हो रही थी। इसका कारण यह है, कि पौराणिक धर्म के पुनरुत्थान के युग में जो प्रबल धार्मिक आन्दोलन शुरू हुए थे, उन्होंने जनता में बौद्धो और जैनो के प्रति विरोध की भावना को बहुत कुछ प्रज्वलित कर दिया था। पुष्यमित्र शुंग ने बौद्धों पर जो अत्याचार किये, वे इसी भावना के परिणाम थे। अब समय के साथ-साथ विधर्मियों के प्रति विरोध तो मन्द पड़ गया था,

पर बौद्ध लोग पौराणिक हिन्दुओं से पृथक् हैं, यह विचार जनता मे भलीभांति उद्बुद्ध होने लग गया था।

(४) गुप्त-साम्राज्य की शासन-व्यवस्था

साम्राज्य का सुशासन—मौर्य-वंश के शासनकाल के सम्बन्ध में जैसा परिचय कौटलीय अर्थशास्त्र से मिलता है, वैसा परिचय गुप्तो के शासन के सम्बन्ध में किसी ग्रंथ से नही मिलता। मैगस्थनीज जैसा कोई विदेशी यात्री भी इस काल में नहीं आया। चीनी यात्री फाइयान पाँचवी सदी के शुरू मे भारत-यात्रा के लिए आया था। वह पाटलिपुत्र में रहा भी था। उसके भ्रमणकाल मे चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य का शासन था। भारत के बहुत बड़े क्षेत्र मे उसका साम्राज्य विस्तृत था। फाइयान पेशावर से बंगाल की खाडी तक सर्वत्र गया, पर उसे राज्य, शासन, आर्थिक दशा आदि बातों से कोई दिलचस्पी नही थी। वह बौद्ध-भिक्षु था, बौद्धधर्म के तीर्थस्थानो के दर्शन तथा धार्मिक ग्रन्थों के अनुशीलन के लिए ही वह इस देश मे आया था। उसने भारत के प्रतापी सम्राट् तक का नाम अपने यात्रा-विवरण मे नही लिखा। इसीलिए उसके विवरण से हमे गुप्त-साम्राज्य के शासन का कुछ भी परिचय नही मिलता। पर फाइयान के निम्नलिखित वाक्य गुप्त-काल के शासन की उत्कृष्टता को प्रदर्शित करने के लिए पर्याप्त है—

"प्रजा प्रभूत और सुखी है। व्यवहार की लिखा-पढी और पंचायत कुछ नही है। वे राजा की भूमि जोतते हैं, और उसका अंश देते हैं। जहाँ चाहे रहे। राजा न प्राणदण्ड देता है, न शारीरिक दण्ड देता है। अपराधी की अवस्था के अनुसार उत्तम साहस या मध्यम साहस का अर्थदण्ड (जुर्माना) दिया जाता है। बार-बार दस्युकर्म करने पर दक्षिण करच्छेद किया जाता है। राजा के प्रतीहार और सहचर वेतनभोगी होते है। सारे देश मे सिवाय चाण्डाल के कोई अधिवासी न जीवहिंसा करता है, न मद्य पीता है, और न लहसुन खाता है। दस्यु को चाण्डाल कहते है। वे नगर के बाहर रहते है और नगर मे जब आते हैं, तो सूचना के लिए लकडी बजाते चलते है, कि लोग जान जायँ और बचकर चलें, कही उनसे छू न जायँ। जनपद मे सूअर और मुर्गी नही पालते, न जीवित पशु बेचते हैं, न कही सूनागार (बूचडखाने) और मद्य की दूकाने है। क्रय-विक्रय मे कौडियो का व्यवहार है। केवल चाण्डाल मछली मारते, मृगया करते और मांस बेचते हैं।"

फाइयान जिन लोगो के साथ रहा था, उनका जीवन सचमुच ऐसा ही था। पर मांस, मद्य आदि का सेवन सर्वसाधारण जनता मे था या नही, इस विषय मे बारीकी से परिचय प्राप्त करने का अवसर फाइयान को नही मिला। बौद्ध, जैन और वैष्णव धर्मों के प्रचार के कारण भारत का सामाजिक और वैयक्तिक जीवन उस युग मे नि.सन्देह बहुत ऊँचा था। राज्यशासन की उत्कृष्टता के विषय मे फाइयान के निर्देश वस्तुतः बडे महत्त्व के है। फाइयान भारत मे हजारों मीलों तक भ्रमण करता रहा। पर उसे कही भी चोर, डाकू व दस्युओ का सामना नही करना पडा। लगभग दो सदी बाद जब ह्युएनत्सांग भारत-यात्रा को आया, तो कई जगह उस पर डाकुओं ने हमले

किए। उस समय भारत मे किसी एक प्रतापी राजवंश का शासन नही था, और राजनीतिक अव्यवस्था के कारण देश में शान्ति नही रह गयी थी। पर फाइयान के समय में प्रतापी गुप्त-सम्राटों का शासन था, और सब जगह शाति विराज रही थी। यही कारण है, कि फाइयान ने देश को सुखी और समृद्ध पाया।

साम्राज्य का स्वरूप—कौटलीय अर्थशास्त्र जैसे ग्रंथ और मैगस्थनीज जैसे विदेशी यात्री के अभाव मे भी हमारे पास अनेक ऐसे साधन हैं, जिनसे हम गुप्त-साम्राज्य के शासन के सम्बन्ध मे बहुत-सी उपयोगी बातें जान सकते हैं। गुप्त-सम्राटों के जो बहुत-से शिलालेख व सिक्के मिले हैं, वे इस युग के शासन के विषय मे प्रकाश डालते है। गुप्त-साम्राज्य के अन्तर्गत सब प्रदेशों पर गुप्त-सम्राटों का सीधा शासन नही था। उनके अधीन अनेक महाराजा, राजा तथा गणराज्य थे, जो अपने आन्तरिक शासन मे स्वतन्त्र थे। सामन्तों को उनके राज्य व शक्ति के अनुसार महाराजा व राजा कहते थे। सब सामन्तों की स्थिति भी एक समान नहीं थी। आर्यावर्त्त या मध्यदेश के सामन्त गुप्त-सम्राटो के अधिक प्रभाव मे थे। सुदूरवर्ती सामन्त प्रायः स्वतन्त्र स्थिति रखते थे, यद्यपि वे गुप्त-सम्राटो की अधीनता को स्वीकार करते थे। यही दशा गण-राज्यों की थी। शासन की दृष्टि से हम गुप्त-साम्राज्य को निम्नलिखित भागों में बाँट सकते हैं—

(१) गुप्त सम्राटों के शासन में विद्यमान प्रदेश—ये शासन की सुगमता के लिए भुक्तियो (प्रान्तों या सूबों) मे विभक्त थे। प्रत्येक भुक्ति मे अनेक 'विषय' और उनके भी विविध विभाग होते थे।

(२) आर्यावर्त्त व मध्यदेश के सामन्त—इनकी यद्यपि पृथक् व स्वतन्त्र सत्ता थी, पर ये सम्राट् की अधीनता में ही शासन-कार्य करते थे।

(३) गणराज्य—प्राचीन यौधेय, मालव, आर्जुनायन, प्रार्जुन, काक, खर्परिक मद्र आदि अनेक गणराज्य गुप्तों के शासन-काल मे भी विद्यमान थे। वे गुप्त-सम्राटो के प्रभुत्व को स्वीकार करते थे।

(४) अधीनस्थ राजा—दक्षिण कोशल, महाकांतार, पिष्टपुर, कोट्टूर, ऐरंड-पल्ल, देवराष्ट्र, अवमुक्त आदि बहुत-से राज्य इस काल मे पृथक् रूप से विद्यमान थे। पर उनके राजाओ ने गुप्त-सम्राटो की शक्ति के सम्मुख सिर झुका दिया था।

(५) सीमावर्ती राज्य—असम, नैपाल, समतट, कर्तृपुर आदि के सीमावर्ती राज्य प्रायः स्वतन्त्र सत्ता रखते थे। पर ये भेंट-उपहार भेजकर व आज्ञाओ का पालन कर गुप्त सम्राटों को सन्तुष्ट रखते थे।

(६) अनुकूल मित्र-राज्य—सिंहलद्वीप और भारत के उत्तर-पश्चिमी सीमा के कुशाण-राजा गुप्त-सम्राटो को भेंट-उपहार व कन्यादान आदि उपायो से मित्र बनाये रखने के लिए उत्सुक रहते थे। यद्यपि उनके राज्य गुप्त-साम्राज्य के अन्तर्गत नही थे, तथापि वे गुप्त-सम्राटो को अपना अधिपति मानते थे।

केन्द्रीय शासन—गुप्त-साम्राज्य का शासन सम्राट् मे केन्द्रित था। मौर्यों के समान गुप्तो ने भी अपनी वैयक्तिक शक्ति, साहस और प्रताप से एक विशाल साम्राज्य की स्थापना की थी, जिसका शासन भी वे स्वयं ही 'एकराट्' रूप मे करते थे। ये

गुप्त-राजा अपने को 'महाराजाधिराज', 'परमेश्वर', 'परम भागवत', 'परम दैवत' आदि विरुदों से विभूषित करते थे। विविध देवताओं और लोकपालों के अंशों से राजा शक्ति प्राप्त करता है, यह विचार उस समय बल पकड गया था। समुद्रगुप्त को एक शिलालेख में 'लोकधाम्नो देवस्य' भी कहा गया है। इस लेख के अनुसार समुद्रगुप्त 'लोक-नियमों के अनुष्ठान और पालन करने भर के लिए ही मनुष्यरूप था, वस्तुतः वह संसार में रहने वाला 'देवता' ही था। राजाओं के प्रति यह दैवी भावना इस युग की स्मृतियों से भी प्रगट होती है। राजा देवताओं के अंश से बना होने के कारण दैवी होता है, यह भाव याज्ञवल्क्य और नारद-स्मृतियो में विद्यमान है। कौटलीय अर्थशास्त्र के समय में यह विचार था अवश्य, पर इसका प्रयोग गुप्तचर लोग सर्व-साधारण लोगों में राजा का प्रभाव उत्पन्न करने के लिए ही करते थे। पर गुप्त-काल तक यह एक सर्वसम्मत सिद्धान्त हो गया था, और शिलालेखों तक में इसका उल्लेख होने लगा था।

सम्राट् को शासन कार्य में सहायता देने के लिए मन्त्री या सचिव होते थे, जिनकी कोई संख्या निश्चित नहीं थी। नारदस्मृति ने राज्य की एक सभा का उल्लेख किया है, जिसके सभासद् धर्मशास्त्र में कुशल, अर्थज्ञान मे प्रवीण, कुलीन, सत्यवादी और शत्रु व मित्र को एक दृष्टि से देखने वाले होने चाहिएँ। राजा अपनी राजसभा के इन सभासदों के साथ राज्यकार्य की चिन्ता करता था, और उनके परामर्श के अनुसार कार्य करता था। देश का कानून इस काल मे भी परम्परागत धर्म, चरित्र और व्यवहार पर आश्रित था। जनता के कल्याण और लोकरंजन को ही राजा लोग अपना उद्देश्य मानते थे। इसका परिणाम यह था, कि गुप्त-सम्राट् भी स्वेच्छाचारी व निरंकुश नहीं हो सकते थे।

साम्राज्य के मुख्य-मुख्य पदों पर काम करने वाले कर्मचारियों को 'कुमारामात्य' कहते थे। कुमारामात्य राजघराने के भी होते थे और दूसरे भी। साम्राज्य के विविध अंगों—भुक्ति, विषय आदि का शासन करने के लिए जहाँ इनकी नियुक्ति की जाती थी, वहाँ सेना, न्याय आदि के उच्च पदो पर भी ये कार्य करते थे। कुमारामात्य साम्राज्य की स्थिर सेवा मे होते थे, और शासन-सूत्र का सचालन इन्ही के हाथो मे रहता था।

केन्द्रीय शासन के विविध विभागों को 'अधिकरण' कहते थे। प्रत्येक अधिकरण की अपनी-अपनी मुद्रा (सील) होती थी। गुप्त-काल के शिलालेखो व मुद्राओं आदि से निम्नलिखित अधिकरणों और प्रधान राजकर्मचारियों के विषय में परिचय मिलता है—

(१) महासेनापति—गुप्त-सम्राट् स्वय कुशल सेनानायक और योद्धा थे। वे दिग्विजयों व विजययात्राओ के अवसर पर स्वय सेना का सचालन करते थे। पर उनके अधीन महासेनापति भी होते थे, जो साम्राज्य के विविध भागो मे, विशेषतया सीमान्त प्रदेशों में, सैन्यसचालन के लिए नियत रहते थे। सेना के ये सबसे बड़े पदाधिकारी 'महासेनापति' कहाते थे।

(२) महादण्डनायक—महासेनापति के अधीन अनेक महादण्डनायक होते थे, जो युद्ध के अवसर पर सेना का नेतृत्व करते थे। गुप्तकाल की सेना के तीन प्रधान विभाग होते थे, पदाति, घुड़सवार और हाथी। महादण्डनायकों के अधीन महाश्वपति,

अश्वपति, महापीलपति, पीलपति आदि अनेक सेनानायक रहते थे। साधारण सैनिक को 'चाट' और सेना की छोटी टुकड़ी को 'चमू' कहते थे। चमू का नायक 'चमूप' कहलाता था। युद्ध के लिए परशु, शर, अंकुश, शक्ति, तोमर, भिंदिपाल, नाराच आदि अनेकविध अस्त्रों को प्रयुक्त किया जाता था।

(३) रणभांडागारिक—सेना के लिए सब प्रकार की सामग्री (अस्त्र-शस्त्र, भोजन आदि) को जुटाने का विभाग रणभांडागारिक के अधीन होता था।

(४) महाबलाधिकृत—सेना, छावनी और व्यूहरचना का विभाग महाबलाध्यक्ष या महाबलाधिकृत के हाथ मे होता था। उसके अधीन अनेक 'अधिकृत' रहते थे।

(५) दण्डपाशिक—पुलिस विभाग का सर्वोच्च अधिकारी दण्डपाशिक कहाता था। इसके नीचे खुफिया विभाग का अधिकारी 'चौरोद्धरणिक' व 'दूत' आदि अनेक कर्मचारी रहते थे। पुलिस के साधारण सिपाही को भट कहते थे।

(६) महासान्धिविग्रहिक—इस उच्च अधिकारी का कार्य पड़ोसी राज्यो, सामन्तो और गणराज्यों के साथ संधि या विग्रह की नीति का अनुसरण करना होता था। यह सम्राट् का अत्यन्त विश्वस्त कर्मचारी होता था, जो साम्राज्य की नीति का निर्धारण करता था। किन देशो पर आक्रमण किया जाय, अधीनस्थ राजाओं व सामन्तो से क्या व्यवहार किया जाय, ये सब बातें इसी के द्वारा तय की जाती थी।

(७) विनय-स्थिति-स्थापक—मौर्यकाल मे जो कार्य धर्म-महामात्र करते थे, वही गुप्त-काल मे विनय-स्थिति-स्थापक करते थे। देश मे धर्मनीति की स्थापना, जनता के चरित्र को उन्नत रखना, और विविध सम्प्रदायों में मेल-जोल रखना इन्हीं अमात्यों का कार्य था।

(८) भाडागाराधिकृत—यह कोषविभाग का अध्यक्ष होता था।

(९) महाक्षपटलिक—राज्य के सब आदेशों का रिकार्ड रखना इसके 'अधिकरण' का कार्य था। राजकीय आय-व्यय आदि के सब लेखे भी इसी अमात्य द्वारा रखे जाते थे।

(१०) सर्वाध्यक्ष—यह सम्भवत: साम्राज्य के केन्द्रीय कार्यालय का प्रधान अधिकारी होता था।

इन मुख्य पदाधिकारियो के अतिरिक्त, राज्य-कर को वसूल करने का विभाग 'ध्रुवाधिकरण' कहलाता था। इस अधिकरण के अधीन शौल्किक (भूमिकर वसूल करने वाला), गौल्मिक (जंगलो से विविध आमदनी प्राप्त करने वाला), तलवाटक व गोप (ग्रामों के विविध कर्मचारी) आदि अनेक राजपुरुष होते थे। राजप्रासाद का विभाग बहुत विशाल होता था। महाप्रतीहार और प्रतीहार नाम के अनेक कर्मचारी उसके विविध कार्यों को संभालते थे। सम्राट् के प्राइवेट सेक्रेटरी को 'रहसि-नियुक्त' कहते थे। युवराजभट्टारक और युवराज के पदों पर राजकुल के व्यक्ति ही नियत किये जाते थे। सम्राट् का बड़ा लड़का 'युवराजभट्टारक' और अन्य लडके 'युवराज' कहाते थे। शासन में इन्हें अनेक महत्त्वपूर्ण पद दिये जाते थे। यदि कोई युवराज (राजपुत्र) कुमारामात्य के रूप में कार्य करे, तो वह 'युवराज कुमारामात्य' कहाता था। सम्राट् के निजी स्टाफ में नियुक्त कुमारामात्य 'परमभट्टारकपादीय कुमारामात्य' कहाते थे।

इसी प्रकार युवराज भट्टारक के स्टाफ के बड़े पदाधिकारी 'युवराजभट्टारकपादीय कुमारामात्य' कहे जाते थे। राजा के विविध पुत्र प्रान्तीय शासक व इसी प्रकार के अन्य ऊँचे राजपदों पर नियुक्त होकर शासन-कार्य मे सम्राट् की सहायता करते थे।

विविध राजकर्मचारियो के नाम गुप्तकाल मे सर्वथा नये हो गए थे। मौर्यकाल में सम्राट् को केवल 'राजा' कहते थे। बौद्ध-धर्म के अनुयायी अशोक सदृश राजा अपने साथ 'देवाना प्रिय: प्रियदर्शी' विशेषण लगाते थे। पर गुप्त सम्राट् 'महाराजाधिराज' कहलाते थे, और अपने धर्मके अनुसार 'परमभागवत' या 'परममाहेश्वर' या 'परमसौगत' विशेषण प्रयुक्त करते थे। पुराने मौर्यकालीन 'तीर्थों' का स्थान अब 'अधिकरणों' ने ले लिया था। उनके प्रधान कर्मचारी अब 'अधिकृत' कहाते थे।

प्रान्तीय शासन—विशाल गुप्त-साम्राज्य अनेक राष्ट्रो या देशों मे विभक्त था। साम्राज्य मे कुल कितने देश या राष्ट्र थे, इसकी ठीक सख्या ज्ञात नहीं है। प्रत्येक राष्ट्र में अनेक 'भुक्तियाँ' और प्रत्येक 'भुक्ति' मे अनेक 'विषय' होते थे। भुक्ति को हम वर्तमान समय की कमिश्नरी के समान समझ सकते है। गुप्तकालीन शिलालेखों मे तीर, भुक्ति (तिरहुत), 'पुण्ड्रवर्धन, भुक्ति (दीनाजपुर, राजशाही आदि), मगध, भुक्ति आदि अनेक भुक्तियो का उल्लेख मिलता है। 'विषय' वर्तमान समय के जिलों के समान थे। प्राचीन काल के महाजनपदो और जनपदो का अब अन्त हो गया था। सैकडों वर्षों तक मागध साम्राज्य के अधीन रहने के कारण अपनी पृथक् सत्ता की स्मृति अब उनमे बहुत मन्द पड गई थी। अब उनका स्थान भुक्तियो ने ले लिया था, जिनका निर्माण शासन की सहूलियत को दृष्टि मे रखकर किया जाता था।

देश या राष्ट्र के शासक के रूप मे प्रायः राजकुल के व्यक्ति नियत होते थे। इन्हे 'युवराज कुमारामात्य' कहते थे। इनके अपने-अपने महासेनापति, महादंडनायक आदि प्रधान कर्मचारी होते थे। युवराज-कुमारामात्यो के अधीन भुक्तियों का शासन करने के लिए 'उपरिक' नियत किये जाते थे। उपरिको की नियुक्ति भी सम्राट् द्वारा की जाती थी। इस पद पर राजकुल के कुमार भी नियुक्त होते थे। प्रत्येक भुक्ति अनेक 'विषयों' में विभक्त होती थी। विषय के शासक 'विषयपति' कहाते थे। इनकी नियुक्ति भी सम्राट् द्वारा ही की जाती थी।

गुप्तकाल के जो लेख मिले है, उनसे सुराष्ट्र, मालवा, मन्दसौर और कौशाम्बी, इन चार राष्ट्रो का परिचय मिलता है। सुराष्ट्र का राष्ट्रिक (राष्ट्र का शासक) समुद्रगुप्त के समय मे पर्णदत्त था, और मन्दसोर का शासन बन्धुवर्मा के हाथो में था। इसमें सन्देह नही, कि विशाल गुप्त-साम्राज्य मे अन्य भी अनेक राष्ट्र रहे होगे, पर उनका उल्लेख इस काल के शिलालेखो मे नही हुआ है।

भुक्ति के शासक को उपरिक के अतिरिक्त भोगिक, भोगपति और गोप्ता भी कहते थे। दामोदरगुप्त के समय मे पुण्ड्रवर्धनभुक्ति का शासक 'उपरिकर महाराज राजपुत्र देवभट्टारक' था। वह राजकुल का था। उससे पूर्व इस पद पर चिरतिदत्त रह चुका था, जो कि राजकुल का नही था। इसी तरह चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य के शासनकाल मे तीर, भुक्ति का शासक सम्राट् का पुत्र गोविन्दगुप्त था। इन उपरिक महाराजाओं की बहुत-सी मोहरें इस समय उपलब्ध होती हैं।

विषय (जिले) के शासक 'विषयपति' को अपने कार्य में परामर्श देने के लिए एक सभा होती थी, जिसके सभासद् 'विषय-महत्तर' (जिले के बड़े लोग) कहाते थे। इनकी संख्या तीस के लगभग होती थी। नगरश्रेष्ठी, सार्थवाह (व्यापारियों का मुखिया), प्रथम कुलीन (शिल्पियों का मुखिया) और प्रथम कायस्थ (लेखक-श्रेणी का मुखिया), इस विषय-सभा में अवश्य रहते थे। इनके अतिरिक्त जिले में रहनेवाली जनता के अन्य मुख्य लोग भी इसमें 'महत्तर' के रूप में सम्मिलित होते थे। सम्भवतः, इन महत्तरोंकी नियुक्ति चुनाव द्वारा नहीं की जाती थी। विषयपति अपने प्रदेश के मुख्य-मुख्य व्यक्तियों को इस कार्य के लिए नियुक्त कर लेता था। इन महत्तरों के कारण जिले के शासन में सर्वसाधारण जनता का पर्याप्त हाथ रहता था। विषयपति को यह भली-भाँति मालूम होता रहता था, कि उसके क्षेत्र की जनता क्या सोचती और क्या चाहती है।

विषय के शासक कुमारात्यों (विषयपतियों) का गुप्त-साम्राज्य के शासन में बड़ा महत्त्व था। अपने प्रदेश की सुरक्षा, शांति और व्यवस्था के लिए वे ही उत्तरदायी थे। उनके अधीन राजकीय करों को एकत्र करने के लिए अनेक कर्मचारी रहते थे, जिन्हें युक्त, आयुक्त, नियुक्त आदि अनेक नामों से कहा जाता था। मौर्यकाल में भी जिले के इन कर्मचारियों को 'युक्त' ही कहते थे। गुप्तकाल में बड़े पदाधिकारियों की संज्ञा बदल गयी थी, पर छोटे राजपुरुषों की अब भी वही संज्ञा थी, जो कम-से-कम सात सदियों से भारत मे प्रयुक्त होती आ रही थी। विषयपति के अधीन दण्डपाशिक (पुलिस के कर्मचारी), चौरोद्धरणिक (खुफिया पुलिस), आरक्षाधिकृत (जनता के रक्षार्थ नियुक्त कर्मचारी) और दण्डनायक (जिले की सेना के अधिकारी) रहते थे।

'विषय' में अनेक शहर और ग्राम होते थे। शहरों के शासन के लिए 'पुरपाल' नाम का कर्मचारी होता था, जिसकी स्थिति कुमारामात्य की मानी जाती थी। पुरपाल केवल बड़े-बडे नगरों मे ही नियुक्त होते थे। विषय के महत्तर इसे भी शासनकार्य में परामर्श देते थे। पुरो की निगम-सभाएँ तथा व्यापारियों और शिल्पियों के संघ इस काल में भी विद्यमान थे। ग्रामों के शासन में पंचायत का बड़ा हाथ रहता था। इस युग मे पंचायत को 'पंच-मंडली' कहते थे। चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य के अन्यतम सेनापति आम्रकार्दव ने एक ग्राम की पंच-मण्डली को २५ दीनारें एक विशेष प्रयोजन के लिए दी थीं। इसका उल्लेख साँची के एक शिलालेख मे किया गया है।

राजकीय कर—गुप्तकाल के लेखो के अनुशीलन से ज्ञात होता है, कि इस युग मे राजकीय आय के निम्नलिखित साधन मुख्य थे—

(१) भाग कर—खेती मे प्रयुक्त होनेवाली जमीन से पैदावार का निश्चित भाग राज्यकर के रूप में लिया जाता था। इस भाग की मात्रा १८ फी सदी से २५ फी सदी तक होती थी। यह भागकर प्रायः पैदावार के रूप में ही लिया जाता था।

(२) भोग कर—मौर्यकाल में चुंगी के लिए शुल्क शब्द प्रयुक्त होता था, उसी को गुप्तकाल में भोग-कर कहते थे।

(३) भूतोवात प्रत्याय—विदेशों से स्वदेश में आने वाले और देश मे उत्पन्न होनेवाले विविध पदार्थों पर जो कर लगता था, उसे भूतोवात-प्रत्याय कहते थे।

अधीनस्थ राज्यों का शासन—गुप्त-साम्राज्य के अन्तर्गत जो अधीनस्थ सामन्त राजा थे, उनपर सम्राट् के प्रभुत्व का स्वरूप यह था, कि छोटे सामन्त 'विषयपति कुमारामात्यों' के और बड़े सामन्त भुक्ति के शासक 'उपरिक महाराज कुमारामात्यों' के अधीन होते थे। अपने इन कुमारामात्यों द्वारा गुप्त सम्राट् विविध सामन्तों पर अपना नियंत्रण व निरीक्षण रखते थे।

इस काल में भारत मे एक प्रकार की जागीरदारी प्रथा या सामन्तपद्धति (फ्यूडलिज्म) का विकास हो गया था। बड़े सामन्तों के अधीन छोटे सामन्त और उनके भी अधीन और छोटे सामन्त होते थे। सम्राट् बुधगुप्त के अधीन महाराजा सुरश्मिचन्द्र एक बड़ा सामन्त था, जिसके अधीनस्थ एक अन्य सामन्त मातृविष्णु था। गुप्त-सम्राटों के अधीन परिव्राजक, उच्छकल्प और वर्मन् आदि विविध वंशों के शक्तिशाली सामन्त महाराज अपने-अपने राज्यो मे शासन करते थे। इनकी अपनी सेनाएँ भी होती थीं। ये अपना राजकीय कर स्वयं वसूल करते थे और अपने आन्तरिक मामलो मे प्रायः स्वतंत्र थे। साम्राज्य के सांधिविग्रहिक के निरीक्षण मे ये महाराज अपने शासन का स्वयं संचालन करते थे। अनेक सामन्त महाराज ऐसे भी थे, जिन पर सम्राट् का नियन्त्रण अधिक कठोर था, और जिन्हे राजकीय कर को वसूल करने का भी पूरा अधिकार नही था। यूरोप के मध्यकालीन इतिहास मे जिस प्रकार 'फ्यूडल सिस्टम' का विकास हो गया था, वैसा ही इस युग मे भारत में भी हुआ। गुप्तकाल में बडे और छोटे सब प्रकार के सामन्त थे, जो अपनी पृथक् सेनाएँ रखते थे। प्रतापी गुप्त-सम्राटों ने इन्हें जीतकर अपने अधीन कर लिया था, पर इनकी **पृथक्** व स्वतत्र सत्ता को नष्ट नहीं किया था।

शक, यवन, कुशाण आदि म्लेच्छों के आक्रमणो से भारत में जो अव्यवस्था और अशांति उत्पन्न हो गयी थी, उसी ने इस पद्धति को जन्म दिया था। पुराने मागध-साम्राज्य के उच्च महामात्रो ने इस परिस्थिति से लाभ उठाकर अपनी शक्ति को बढ़ा लिया और वे वंशक्रमानुगत रूप से अपने-अपने प्रदेश मे स्वतन्त्र रूप से राज्य करने लगे। अव्यवस्था के युग मे अनेक महत्त्वाकांक्षी शक्तिशाली व्यक्तियों ने भी अपने पृथक् राज्य कायम कर लिए थे। गुप्त-सम्राटों ने इन सब राजा-महाराजाओं का अन्त नही किया। यही कारण है, कि उनकी शक्ति के शिथिल होते ही ये न केवल पुन. स्वतन्त्र हो गये, पर परस्पर युद्धो और विजययात्राओं द्वारा अपनी शक्ति के विस्तार मे भी तत्पर हो गए। इसी का परिणाम हुआ, कि सारे उत्तरी भारत मे अव्यवस्था छा गयी, और एक प्रकार के 'मात्स्यन्याय' का प्रारम्भ हो गया। इसीलिए तिब्बती लामा तारानाथ को यह लिखने का अवसर मिला, कि इस काल मे 'हर एक ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य अपनी-अपनी जगह राजा बन बैठा।' सामन्त-महाराजाओं के आपस के युद्धों ने सचमुच ही मात्स्यन्याय की अवस्था उत्पन्न कर दी थी। गुप्त-काल की सामन्त-पद्धति का ही यह परिणाम था, कि भारत में यशोधर्मा और हर्षवर्धन जैसे 'आसमुद्र-क्षितीश' तो बाद में भी हुए, पर वे स्थिर रूप से किसी विशाल साम्राज्य की स्थापना नही कर सके। गुप्तों के साथ ही भारत भर मे एक शक्तिशाली विशाल साम्राज्य की कल्पना भी समाप्त हो गयी। सामन्त-पद्धति का यह एक स्वाभाविक परिणाम था।

गुप्त-साम्राज्य के अधीन जो यौधेय, कुणिन्द, मालव, आर्जुनायन आदि अनेक गणराज्य थे, उनमें भी इस युग में लोकतन्त्र शासन की परम्परा का ह्रास हो रहा था। कुछ विशेष शक्तिशाली कुलों में इन गणराज्यों की राजशक्ति केन्द्रित होती जा रही थी। ये कुलीन लोग अपने को 'महाराज' और 'महासेनापति' कहते थे। अपने युग की प्रवृत्ति के प्रभाव से गणराज्य भी नहीं बच सके, और धीरे-धीरे वे भी एक प्रकार के ऐसे महाराजाओं के अधीन हो गये, जो सामन्तों की-सी स्थिति रखते थे।

(५) गुप्त-काल के सिक्के

गुप्त-सम्राटों के बहुत-से सिक्के इस समय में उपलब्ध हुए है। इस वंश का इतिहास ही मुख्यतया इन सिक्कों के आधार पर तैयार किया गया है। चन्द्रगुप्त प्रथम के केवल एक ही प्रकार के सिक्के मिले हैं। इनके एक ओर चन्द्रगुप्त मुकुट, कोट पायजामा और आभूषण पहने खडा है, उसके बाएँ हाथ में ध्वजा और दाहिने हाथ मे अंगूठी है। सामने वस्त्र और आभूषणों से सज्जित रानी कुमारदेवी है। राजा अपनी पत्नी को अगूठी दे रहा है। इस सिक्के के बाँयी ओर 'चन्द्रगुप्त' और दाँयी ओर 'श्रीकुमारदेवी' लिखा है। सिक्के की दूसरी तरफ लक्ष्मी का चित्र है, जो सिंह पर सवार है। लक्ष्मी के पैर के नीचे कमल है। साथ ही, नीचे 'लिच्छवयः' लिखा गया है। लिच्छविगण की सहायता से चन्द्रगुप्त ने पाटलिपुत्र पर अधिकार किया था, और अपने साम्राज्य की नींव डाली थी। लिच्छविकुमारी श्री कुमारदेवी से विवाह के कारण ही उसके उत्कर्ष का प्रारम्भ हुआ था। इसीलिए चन्द्रगुप्त प्रथम के इन सिक्कों पर लिच्छवियो और कुमारदेवी को इतनी प्रधानता दी गयी है। चन्द्रगुप्त के ये सिक्के सोने के हैं, और तोल में १११ ग्रेन हैं।

समुद्रगुप्त के सिक्के अनेक प्रकार के मिले हैं। वे सोने और ताम्बे दोनों के बने हुए है। समुद्रगुप्त ने छः प्रकार के सोने के सिक्के प्रचारित किये थे। (१) गरुड़-ध्वजांकित—इनमें एक तरफ मुकुट, कोट और पायजामा पहने सम्राट् की खड़ी मूर्ति है। उसके बाँएँ हाथ में ध्वजा और दाएँ हाथ में अग्निकुण्ड में डालने के लिए आहुति दिखाई पड़ती है। कुण्ड के पीछे गरुड़ध्वज है। सम्राट् के बाएँ हाथ के नीचे उसका नाम 'समुद्र' या समुद्रगुप्त लिखा है। सिक्के के दूसरी ओर 'समरशत विततविजयी जितारि-पुरजितो दिवं जयति' लिखा है। सिक्के के दूसरी ओर सिंहासन पर बैठी लक्ष्मी की मूर्ति है। यह वस्त्र और आभूषणों से सुसज्जित है, तथा साथ ही 'पराक्रमः' लिखा है। (२) इन सिक्कों में धनुष-बाण लिए हुए सम्राट् की मूर्ति गरुडध्वज के साथ है। दाएँ हाथ के नीचे सम्राट् का नाम 'समुद्र' लिखा है, और चारों ओर 'अप्रतिरथो विजित्य क्षितिं सुचरितैः दिवं जयति' लिखा है। सिक्के के दूसरी ओर सिंहासन पर विराजमान लक्ष्मी की मूर्ति है, और 'अप्रतिरथः' लिखा है। (३) इन सिक्कों में एक ओर परशु लिए सम्राट् की मूर्ति है। साथ ही दाहिनी तरफ एक छोटे बालक का चित्र है। बाँयी तरफ समुद्र' या 'समुद्रगुप्त' लिखा है, और चारों ओर 'कृतांतपरशुर्जयत्यजितराजजेता-जितः' लिखा है। सिक्के के दूसरी ओर सिंहासन पर विराजमान लक्ष्मी की मूर्ति है, और नीचे 'परशुः' लिखा है। (४) इन सिक्कों में एक ओर धनुष-बाण से सज्जित

सम्राट् का चित्र है, जिसे एक व्याघ्र का संहार करते हुए दिखाया गया है। सम्राट् के बाएँ हाथ के नीचे 'व्याघ्रपराक्रमः' लिखा है। सिक्के के दूसरी ओर मकर पर खड़ी हाथ में कमल लिए गंगा देवी का चित्र है, और नीचे 'राजा समुद्रगुप्त' लिखा है। (५) इन सिक्कों में एक ओर संगीतप्रेमी सम्राट् का चित्र है, जो एक पृष्ठयुक्त पर्यङ्क पर बैठा हुआ जाँघ मोडे हुए वीणा बजा रहा है। चारों ओर 'महाराजाधिराज श्री समुद्रगुप्त' लिखा है। सिक्के के दूसरी ओर आसन पर बैठी हुई एक देवी की मूर्ति है, और साथ में 'समुद्रगुप्तः' लिखा है। (६) ये सिक्के अश्वमेध यज्ञ के उपलक्ष में प्रचारित किए गए थे। इनमें एक ओर यूप से बँधे हुए यज्ञीय अश्व की मूर्ति है, और चारों ओर 'राजाधिराजः पृथिवी विजित्वा दिवं जयत्याहृतवाजिमेधः लिखा है। सिक्के के दूसरी ओर चंवर लिए हुए राजमहिषी का चित्र है, और 'अश्वमेधपराक्रमः' लिखा है। समुद्रगुप्त के सोने के सिक्के भार में ११८-१२२ ग्रेन हैं। उसके ताम्बे के भी सिक्के मिले हैं, जिनपर गरुड का चित्र और 'समुद्र' लिखा है।

चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के सोने के सिक्के भार की दृष्टि से तीन प्रकार के हैं, १२१ ग्रेन, १२५ ग्रेन और १३२ ग्रेन के। चित्रों की दृष्टि से ये पाँच प्रकार के हैं— (१) इनके एक ओर धनुष-बाण लिए हुए चन्द्रगुप्त द्वितीय की खडी हुई मूर्ति है, और साथ में गरुडध्वज है। दूसरी ओर कमलासन पर बैठी हुई लक्ष्मी की मूर्ति है। (२) इन सिक्कों के एक ओर खड़े हुए रूप मे राजा की मूर्ति है, जिसका एक हाथ तलवार की मूठ पर है, और पीछे एक वामन छत्र पकड़ हुए खडा है। दूसरी ओर कमल पर खड़ी लक्ष्मी की मूर्ति है। (३) इन सिक्कों में एक तरफ सम्राट् पर्यंक पर बैठा है, उसके दाएँ हाथ मे कमल है, और बायाँ हाथ पर्यङ्क पर टिका हुआ है। सिक्के के दूसरी ओर सिंहासन पर आसीन लक्ष्मी का चित्र है। (४) इनमें एक ओर सम्राट् को धनुष-बाण द्वारा सिंह को मारते हुए दिखाया गया है, और दूसरी ओर सिंह पर विराजमान लक्ष्मी का चित्र है। (५) इन सिक्कों मे एक ओर घोडे पर चढे हुए सम्राट् का चित्र है, और दूसरी ओर आसन पर विराजमान देवी की मूर्ति है, जिसके हाथ में कमल है। इन सब सिक्को पर 'महाराजाधिराज चन्द्रगुप्त', 'क्षितिमवजित्य सुचरितैः दिवं जयति विक्रमादित्यः', 'नरेन्द्रचन्द्र-प्रथितदिव जयत्यजेय भुवि सिंहविक्रमः', 'नरेन्द्रसिंहचन्द्रगुप्तः पृथिवीं जित्वा दिवं जयति' आदि अनेक प्रकार की उक्तिया उल्लिखित हैं।

चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के अनेक सिक्के चाँदी के भी मिले हैं। इनमें सम्राट् के अर्धशरीर (बस्ट) की मूर्ति है, और दूसरी ओर गरुड का चित्र है। इनपर 'परमभागवत महाराजाधिराज श्रीचन्द्रगुप्तस्य विक्रमादित्यः, अथवा 'श्रीगुप्तकुलस्य महाराजाधिराज श्रीचन्द्रगुप्त विक्रमांकस्य' लिखा है। इस सम्राट् के ताम्बे के बने हुए भी कुछ सिक्के मिले हैं, जिन पर गरुड का चित्र है।

गुप्त-सम्राटों मे सबसे अधिक सिक्के कुमारगुप्त प्रथम के मिले हैं। ये सिक्के भार मे १२४ और १२६ ग्रेन हैं। चित्रों की दृष्टि से ये नौ प्रकार के है—(१) इनके एक ओर धनुष-बाण लिए सम्राट् का चित्र है, और दूसरी ओर कमलासन पर बैठी देवी की मूर्ति है। (२) इनके एक ओर तलवार की मूठ पर हाथ टेके हुए सम्राट् की मूर्ति है, और साथ में गरुड़ध्वज भी है। दूसरी ओर कमल पर विराजमान लक्ष्मी का

चित्र है। (३) इनमें एक ओर यज्ञीय अश्व है, दूसरी ओर अस्त्रों और आभूषणों से सुसज्जित राजमहिषी की मूर्ति है। (४) इनमें एक ओर घोड़े पर सवार सम्राट् का चित्र है, और दूसरी ओर हाथ में कमल का फूल लिए एक देवी बैठी है। (५) इनमें एक ओर सिंह को मारते हुए सम्राट् का चित्र है, और दूसरी ओर सिंह पर आरूढ़ अम्बिका की मूर्ति है। (६) इनमें एक ओर धनुष-बाण से व्याघ्र को मारते हुए सम्राट् का चित्र है, दूसरी ओर मोर को फल खिलाती हुई देवी की खड़ी मूर्ति है। (७) इनमें एक ओर मोर को फल खिलाते हुए सम्राट् खड़ा है, और दूसरी ओर मयूर पर विराजमान कार्तिकेय की मूर्ति है। (८) इनमें एक ओर बीच मे एक पुरुष खडा है, जिसके दोनों तरफ दो स्त्रियाँ हैं। सिक्के के दूसरी ओर एक देवी बैठी हुई है। (९) इनमे एक ओर हाथी पर सवार सम्राट् का चित्र है, और दूसरी ओर हाथ मे कमल लिए हुए लक्ष्मी की खडी मूर्ति है।

इन सिक्कों पर 'क्षितिपतिरजितमहेंद्रः कुमारगुप्तो दिवं जयति', 'गुप्तकुलव्योमराशि: जयत्यजेयो जितमहेन्द्रः' 'कुमारगुप्तो विजयी सिंहमहेंद्रो दिवं जयति' आदि अनेक लेख उत्कीर्ण है। कुमारगुप्त के चाँदी और ताम्बे के भी बहुत-से सिक्के उपलब्ध हुए है।

स्कन्दगुप्त के सोने के सिक्के भार मे १३२ और १४४ ग्रेन के मिले हैं। ये दो प्रकार के हैं—(१) इनमे एक ओर धनुष-बाण धारण किए सम्राट् का चित्र है, और दूसरी ओर पद्मासन पर विराजमान लक्ष्मी की मूर्ति है। (२) इनमे एक ओर सम्राट् और राजमहिषी के चित्र हैं, बीच में गरुडध्वज है, और दूसरी ओर कमल हाथ मे लिए हुए देवी की मूर्ति है। सिक्कों पर भी अनेक लेख उत्कीर्ण हैं। स्कन्दगुप्त के भी चाँदी और ताम्बे के अनेक सिक्के उपलब्ध हुए है।

स्कन्दगुप्त के उत्तराधिकारियो में पुरुगुप्त, नरसिंहगुप्त, कुमारगुप्त द्वितीय, बुधगुप्त, वैण्यगुप्त आदि प्रायः सभी गुप्त-सम्राटो के सिक्के मिलते है। इन सब मे प्रायः 'विजितावनिरवनिपतिः कुमारगुप्तो दिवं जयति' के सदृश लेख उत्कीर्ण हैं। सम्राट् का नाम बदलता जाता है, पर लेख प्रायः इसी के सदृश रहता है।

(६) गुप्त साम्राज्य के प्रधान नगर

पाटलिपुत्र—गुप्त-साम्राज्य की राजधानी पाटलिपुत्र थी। इसके विषय में चीनी यात्री फाइयान ने लिखा है—"मध्यदेश में यह नगर सबसे बडा है। इसके निवासी सम्पन्न और समृद्धिशाली है। दान और सत्य मे स्पर्धालु हैं। प्रतिवर्ष रथयात्रा होती है। दूसरे मास की आठवी तिथि को यात्रा निकलती है। चार पहिये के रथ बनते हैं। यह यूप पर ठाटी जाती है, जिसमें धुरी और हर्से लगे रहते है। यह २० हाथ ऊँचा और सूप के आकार का बनता है। ऊपर से सफेद चमकीला ऊनी कपडा मढा जाता है। भाँति-भाँति की रंगाई होती है। देवताओं की मूर्तियाँ सोने-चाँदी और स्फटिक की भव्य बनती है। रेशम की ध्वजा और चाँदनी लगती है। चारो कोनो पर कलगियाँ लगती है। बीच में बुद्धदेव की मूर्ति होती है, और पास मे बोधिसत्व खडा किया जाता है। बीस रथ होते हैं, एक से एक सुन्दर और भडकीले, सब के रंग न्यारे। नियत दिन आस-पास के यति और गृही इकट्ठे होते हैं। गाने-बजाने वाले साथ लेते

हैं। फूल और गंध से पूजा करते हैं। फिर ब्राह्मण आते है, और बुद्धदेव को नगर में पधारने के लिए निमन्त्रण करते हैं। पारी-पारी नगर मे प्रवेश करते हैं। इसमें दो रात बीत जाती हैं। सारी रात दीपा जलता है। गाना-बजाना होता है। पूजा होती है। जनपद-जनपद में ऐसा ही होता है। जनपद के वैश्यों के मुखिया लोग नगर में सदावर्त और औषधालय स्थापित करते है। देश के निर्धन, अपंग, अनाथ, विधवा, निःसंतान, लूले, लंगड़े और रोगी लोग इस स्थान पर आते हैं, उन्हे सब प्रकार की सहायता मिलती है। वैद्य रोगों की चिकित्सा करते है। वे अनुकूल औषध और पथ्य पाते है। अच्छे होते हैं, तब जाते हैं।"

फाइयान को बौद्ध-धर्म के अनुष्ठानों व तीर्थस्थानों को देखने के अतिरिक्त अन्य किसी काम के लिए अवकाश नही था। पाटलिपुत्र आकर उसने अशोक के पुराने राज-प्रासाद, स्तूपो और विहारों को ही देखा। पर उसके विवरण से इसमें कोई सन्देह नहीं रह जाता, कि गुप्त-सम्राटो के शासनकाल में पाटलिपुत्र बहुत समृद्ध नगर था, और उसके निवासी भी सम्पन्न और समृद्धिशाली थे। वे रथयात्राओ मे बडे शौक से शामिल होते थे, और खूब दिल खोलकर दान-पुण्य करते थे।

वैशाली—पाटलिपुत्र के समीप ही वैशाली गुप्तकाल की एक अत्यन्त समृद्धि-शाली नगरी थी। इसके अवशेषों में बहुत-सी मोहरो के साँचे मिले है, जिन्हे वैशाली के 'श्रेष्ठीसार्थवाहकुलिकनिगम' की ओर से काम मे लाया जाता था। ऐसा प्रतीत होता है, कि इस विशाल नगरी के श्रेष्ठी (साहूकार), सार्थवाह (व्यापारी) और कुलिक (शिल्पी) लोगो का एक बड़ा (निगम) सघ था, जो अपनी मोहर से मुद्रित कर विविध व्यापारिक आदेश जारी किया करता था।

उज्जयिनी—गुप्त-काल मे उज्जयिनी भी बहुत समृद्ध दशा मे थी। गुप्त-सम्राट् प्रायः वहाँ ही निवास करते थे। विशेषतया, शको को परास्त करने के बाद जब साम्राज्य पश्चिम में गुजरात-काठियावाड़ तक विस्तृत हो गया था, तब उज्जयिनी ने साम्राज्य की द्वितीय राजधानी का पद प्राप्त कर लिया था। ज्योतिष के अनुशीलन का यह बडा महत्त्वपूर्ण केन्द्र था। प्रसिद्ध ज्योतिषी वराहमिहिर ने यहीं अपनी वेध-शाला बनाई थी, और देश तथा काल की गणना इसी को आधार बनाकर की थी। गुप्तो के बाद भी भारतीय ज्योतिषी उज्जयिनी को ही आधार बनाकर देश और काल की गणना करते रहे, और यहाँ की वेधशाला भारत मे अत्यन्त प्रसिद्ध रही।

दशपुर—गुप्त-काल में मालवा का दशपुर भी एक अत्यन्त समृद्ध नगर था। सम्राट् कुमारगुप्त के समय के मन्दसौर में प्राप्त एक शिलालेख मे इस नगर के सौन्दर्य और वैभव का बडा उत्तम वर्णन किया गया है। इसके गगनचुम्बी सुन्दर प्रासादो की माला, रमणीक वाटिकाओं की छटा, मदमत्त हाथियो की क्रीडा, पिंजरबद्ध हंसों के विलास और रमणियो के सगीत के वर्णन को पढ़कर ऐसा प्रतीत होता है, कि दशपुर एक बहुत ही समृद्ध नगर था। इस शिलालेख के रचयिता कवि वत्सभट्टि ने दशपुर का वर्णन करते हुए लिखा है—इस नगरी में कैलाश के शिखर के समान ऊँचे मकानों की पंक्तियाँ ऐसे शोभित होती थी, मानो गगन को छूते हुए विमानो की मालाएँ हो।

नगर में बहुत से उद्यान और तालाब थे, जिनमें विविध प्रकार के पक्षी हर समय कलरव करते रहते थे।

इनके अतिरिक्त, कौशाम्बी, मथुरा, वाराणसी, चम्पा, ताम्रलिप्ति, कान्यकुब्ज आदि अन्य बहुत-सी नगरियाँ भी इस काल में सम्पन्न अवस्था में विद्यमान थीं। फाइयान ने इन सबकी यात्रा की थी। इनके विहारों, स्तूपों, भिक्षुओं आदि के सम्बन्ध में तो फाइयान ने बहुत कुछ लिखा है, पर खेद यही है कि इनके वैभव, समृद्धि, आर्थिक दशा व सामाजिक जीवन के विषय में इस चीनी यात्री ने कुछ भी विवरण नहीं दिया।

(७) चीनी यात्री फाइयान

फाइयान का उल्लेख पहले किया जा चुका है। वह चीन के अन्यतम प्रदेश शेन-सी की राजधानी चांग-गान का रहने वाला था। उसके समय तक चीन मे बौद्धधर्म का प्रचार हो चुका था, और बहुत-से लोग भिक्षु-जीवन को भी स्वीकार कर चुके थे। फाइयान बचपन में प्रव्रज्या ग्रहण करके बौद्ध-धर्म के अध्ययन में ही अपना सम्पूर्ण समय व्यतीत कर रहा था। उसने विचार किया, कि चीन में जो विनयपिटक हैं, वे अपूर्ण हैं। प्रामाणिक धर्म-ग्रन्थों की खोज में उसने भारत यात्रा का संकल्प किया। चीन से चलकर भारत पहुँचने और यहाँ से अपने देश को वापस लौटने तक उसे कुल १५ वर्ष लगे। चौथी सदी के अन्त मे वह चीन से चला था, और सम्राट् चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य के शासनकाल में पाँचवी सदी के शुरू मे उसने भारत के विविध प्रदेशों का भ्रमण किया था। उसके यात्रा-विवरण मे से हम यहाँ कुछ ऐसे प्रसंग उद्धृत करते हैं, जो इस युग के भारत के जीवन पर प्रकाश डालते हैं।

"इस देश (शेन-शेन, पूर्वी तुर्किस्तान में) के राजा का धर्म हमारा ही है। यहाँ लगभग चार हजार से अधिक श्रमण रहते है। सब के सब हीनयान सम्प्रदाय के अनुयायी हैं। इधर के देश के सब लोग क्या गृहस्थ और क्या भिक्षु, सब भारतीय आचार और नियम का पालन करते है। यहाँ से पश्चिम मे जिन-जिन देशों मे गये, सभी मे ऐसा ही पाया। सब गृहत्यागी विरक्त भारतीय ग्रन्थों और भारतीय भाषा का अध्ययन करते है।

"खोतन जनपद सुखप्रद और सम्पन्न है। अधिवासी धार्मिक हैं।

"कुफेन (काबुल) मे एक सहस्र से अधिक भिक्षु हैं। सब महायान के अनुयायी हैं।"

"किचा के श्रमणो का आचार आश्चर्यजनक है, इतना विधिनिषेधात्मक कि वर्णनातीत है।

"गांधार देश के निवासी सब हीनयान के अनुयायी हैं। तक्षशिला में राजा, मन्त्री और जनसाधारण सब उनकी (स्तूपों की) पूजा करते हैं। इन स्तूपों पर पुष्प और दीप चढ़ाने वालों का ताँता कभी नहीं टूटता।

"यहाँ (पुष्पपुर या पेशावर में) सात सौ से अधिक श्रमण होंगे। जब मध्याह्न होता है, श्रमण भिक्षापात्र लेकर निकलते हैं।

"(पेशावर से) दक्षिण दिशा में १६ योजन चलकर जनपद की सीमा पर हेलो (हेड्डा) नगर में पहुँचे, यहाँ विहार पर सोने के पत्र चढे हैं, और सप्तरत्न जडे हैं।

"(मथुरा को जाते हुए) मार्ग में लगातार बहुत-से विहार मिले, जिनमें लाखों श्रमण मिले। सब स्थानों में होते हुए एक जनपद मे पहुँचे, जिसका नाम मथुरा था। नदी के दाएँ-बाएँ किनारे बीस विहार थे, जिनमे तीस हजार से अधिक भिक्षु थे। अब तक बौद्ध-धर्म का अच्छा प्रचार है। मरुभूमि से पश्चिम भारत के सभी जनपदों के अधिपति बौद्ध-धर्म के अनुयायी मिले। भिक्षुसंघ को भिक्षा कराते समय वे अपने मुकुट उतार डालते हैं। अपने बन्धुओं और अमात्यो सहित अपने हाथों से भोजन परोसते हैं। परोस कर प्रधान महासंघ (स्थविर) के आगे आसन बिछाकर बैठ जाते हैं। संघ के सामने खाट पर बैठने का साहस नहीं करते। तथागत के समय मे जो प्रथा राजाओं में भिक्षा कराने की थी, वही अब तक चली आती है।

"यहाँ से दक्षिण मध्यदेश कहलाता है। यहाँ शीत और उष्ण सम है। प्रजा प्रभूत और सुखी है। व्यवहार की लिखा-पढी और पचायत कुछ नही है। लोग राजा की भूमि जोतते हैं, और उपज का अंश देते हैं। जहाँ चाहें जायँ जहाँ चाहे रहे। राजा न प्राणदण्ड देता है, और न शारीरिक दण्ड देता है। अपराधी को अवस्थानुसार उत्तम साहस व मध्यम साहस का अर्थदण्ड दिया जाता है। बार-बार दस्युकर्म करने पर दक्षिण करच्छेद किया जाता है। राजा के प्रतिहार और सहचर वेतनभोगी हैं। सारे देश मे कोई अधिवासी न जीवहिंसा करता है, न मद्य पीता है, और न लहसुन-प्याज खाता है, सिवाय चाण्डाल के। दस्यु को चाण्डाल कहते है। वे नगर के बाहर रहते है, और नगर में जब बैठते है, तो सूचना के लिए लकडी बजाते चलते है, कि लोग जान जायँ और बचकर चलें, कही उनसे छू न जाएँ। जनपद मे सूअर और मुर्गी नही पालते, न जीवित पशु बेचते है, न कहीं सूनागार और मद्य की दूकानें है। क्रय-विक्रय मे कौड़ियों का व्यवहार है। केवल चाण्डाल मछली मारते, मृगया करते और मास बेचते हैं।

"श्रमणो का कृत्य शुभ कर्मो से धनोपार्जन करना, सूत्रो का पाठ करना और ध्यान लगाना है। आगंतुक (अतिथि) भिक्षु आते है, तो रहने वाले (स्थायी) भिक्षु उन्हे आगे बढ कर लेते है। उनके भिक्षापात्र और वस्त्र स्वय ले आते है। उन्हे पैर धोने को जल और सिर मे लगाने को तेल देते हैं। विश्राम ले लेने पर उनसे पूछते हैं, कि कितने दिनों से प्रव्रज्या ग्रहण की है। फिर उन्हे उनकी योग्यता के अनुसार आवास देते है, और यथानियम उनसे व्यवहार करते है।

"जब भिक्षु वार्षिकी अग्रहार पा जाते हैं, तब सेठ और ब्राह्मण लोग वस्त्र और अन्य उपहार बाँटते हैं। भिक्षु उन्हे लेकर यथाभाग विभक्त करते हैं। बुद्धदेव के बोधि-प्राप्ति-काल से ही यह रीति, आचार-व्यवहार और नियम अविच्छिन्न लगातार चले आते हैं। हियंतु (सिन्धु नदी) उतरने के स्थान से दक्षिण भारत तक और दक्षिण समुद्र तक चालीस-पचास हजार ली तक चौरस (भूमि) है। इसमे कही पर्वत झरने नही है, नदी का ही जल है।

"(कान्यकुब्ज—कन्नौज) नगर गंगा के किनारे है। जो संघाराम हैं, सब हीन-यान के अनुयायियों के हैं। नगर से पश्चिम सात ली पर गंगा के किनारे बुद्ध ने अपने शिष्यों को उपदेश दिया था।

"दक्षिण दिशा में चले। आठ योजन चलकर कोशल जनपद के नगर श्रावस्ती में पहुँचे। नगर में बहुत कम अधिवासी हैं, और जो हैं, तितर-वितर हैं। सब मिलाकर दो सौ से कुछ अधिक घर होंगे।

"मध्यदेश में ९६ पाषण्डों (सम्प्रदायों) का प्रचार है। सब लोक-परलोक को मानते हैं। उनके साधुसंघ हैं। वे भिक्षा करते हैं, केवल भिक्षापात्र नहीं रखते। सब नाना रूप से धर्मानुष्ठान करते हैं। मार्गों पर धर्मशालाएँ स्थापित की हैं। वहाँ आये-गये को आवास, खाट, बिस्तर, खाना-पीना मिलता है। यति भी वहाँ आते-जाते और निवास करते हैं।

"कपिलवस्तु नगर में न राजा है, न प्रजा। केवल खण्डहर और उजाड है। कुछ श्रमण रहते है, और दस घर अधिवासी हैं। कपिलवस्तु जनपद जनशून्य है। अधिवासी बहुत कम है। मार्ग में श्वेत हस्ती और सिंह से बचने की आवश्यकता है, बिना सावधानी के जाने योग्य नहीं है।

"राजगृह नगर के भीतर सुनसान है, कोई मनुष्य नही।

"दक्षिण जनपद बड़े निराले हैं। मार्ग भयावह और दुस्तर हैं। कठिनाइयो को झेलकर जाने के इच्छुक सदा धन और उपहार वस्तु साथ ले जाते हैं, और जनपद के राजा को देते हैं। राजा प्रसन्न होकर रक्षक मनुष्य साथ भेजता है, जो एक बस्ती से दूसरी बस्ती तक पहुँचाते और सुगम मार्ग बताते है।

"ताम्रलिप्ति नगर एक बन्दरगाह है, इस जनपद में २४ संघाराम है। श्रमण संघ में रहते है। बौद्ध-धर्म का अच्छा प्रचार है।"

फाइयान के इन उद्धरणों मे भी यद्यपि बौद्ध-धर्म की दशा का ही चित्रण अधिक है, पर उस समय के भारत का कुछ-न-कुछ निदर्शन इनसे अवश्य मिल जाता है। पाटलिपुत्र उस समय भारत का सबसे बडा नगर था, वहाँ के निवासी सम्पन्न और समृद्ध थे। फाइयान वहाँ तीन साल तक रहा। बौद्ध-धर्म के जिन ग्रन्थों का वह अध्ययन करना चाहता था, वे सब उसे वही मिले। पर श्रावस्ती, कपिलवस्तु, राजगृह आदि अनेक पुराने नगर इस समय खण्डहर हो चुके थे।

(८) आर्थिक जीवन

व्यवसायी और व्यापारी गुप्तकाल मे भी श्रेणियो और निगमों मे सगठित थे। गुप्तकाल के शिलालेखों और मोहरों से सूचित होता है, कि उस समय में न केवल श्रेष्ठियो और सार्थवाहो के निगम थे, अपितु जुलाहे, तेली आदि विविध व्यवसायी भी अपनी-अपनी श्रेणियो मे संगठित थे। जनता का इन पर पूर्ण विश्वास था। यही कारण है, कि इनके पास रुपया विविध प्रयोजनो से धरोहर (अक्षयनीवि रूप में या सामयिक रूप मे) रखा दिया जाता था, और ये उसपर सूद दिया करते थे। इन निगमों व श्रेणियों का एक मुखिया और उसको परामर्श देने के लिए चार या पाँच व्यक्तियों की

एक समिति रहती थी। कुमारगुप्त प्रथम के समय के एक शिलालेख में पटकारों (जुलाहों) की एक श्रेणी का उल्लेख है, जो लाट (गुजरात) देश से आकर दशपुर मे बस गयी थी। स्कन्दगुप्त के एक शिलालेख में 'इन्द्रपुरनिवासिनी तैलिक श्रेणी' का उल्लेख है। इसी प्रकार मृत्तिकार (कुम्हार), शिल्पकार, वणिक् आदि की भी श्रेणियों का उल्लेख इस युग के लेखों में है। अकेले वैशाली से २७४ मिट्टी की मोहरें मिली है, जो विविध लेखों को मुद्रित करने के काम में आती थी। ये मोहरें 'श्रेष्ठीसार्थवाहकुलिकनिगम' की है। उस काल में वैशाली में साहूकार, व्यापारी और शिल्पयों की श्रेणियों का यह सम्मिलित शक्तिशाली निगम था। इसका कार्य भारत के बहुत-से नगरों में फैला हुआ था। जो पत्र इस निगम द्वारा भेजे जाते थे, उन्हें बन्द करके ऊपर से ये मोहरें लगाई जाती थीं, ताकि पत्र सुरक्षित रहें। निगम की मोहर (कामन-सील) के अतिरिक्त इन पत्रो पर एक और मोहर भी लगाई जाती थी, जो सम्भवतः विविध नगरो में विद्यमान निगमशाखाओ के अध्यक्ष की निजी मोहर होती थी।

वैशाली के इस निगम के अतिरिक्त अन्यत्र भी इसी प्रकार के विविध निगम गुप्तकाल मे विद्यमान थे। वर्तमान समय के बेंकों का कार्य इस काल मे ये श्रेणियाँ और निगम ही करते थे। अपने झगडो का निर्णय भी वे स्वयं करते थे। उनका अपना न्यायालय होता था, जिसमे धर्म, चरित्र और व्यवहार के अनुसार निर्णय किया जाता था। इनके मुखिया या प्रतिनिधि विषयपति की राजसभा में भी सभासद् रहते थे। गुप्तकाल के आर्थिक जीवन मे इन श्रेणियो व निगमो का बडा महत्त्व था।

श्रेणियाँ छोटी और बडी सब प्रकार की होती थीं। श्रेणी का मुखिया आचार्य कहलाता था। उसके साथ बहुत-से शागिर्द (अंतेवासी) रहते थे, जो आचार्य के घर में पुत्रो की तरह निवास करते थे। नारदस्मृति ने इस विषय को बहुत अच्छी तरह स्पष्ट किया है। वहाँ लिखा है–जिस किसी को कोई शिल्प सीखना हो, वह अपने बाधवो की अनुमति लेकर आचार्य के पास जाय और उससे समय आदि का निश्चय कर उसी के पास रहे। यदि शिल्प को जल्दी भी सीख लिया जाय, तो भी जितने काल का फैसला किया गया हो, उतने समय तक अवश्य ही गुरु के घर मे निवास करे। आचार्य अपने अन्तेवासी के साथ पुत्र की तरह व्यवहार करे, कोई दूसरा काम उससे न ले, उसे अपने पास से भोजन देवे और उसे भली-भाँति शिल्प की शिक्षा दे। जब अंतेवासी शिल्प को सीख ले, और निश्चित किया हुआ समय समाप्त हो जाय, तब आचार्य को दक्षिणा देकर वह अपने घर लौट आये।

नारदस्मृति के इस सन्दर्भ से एक छोटी श्रेणी का स्वरूप स्पष्ट हो जाता है। आचार्य के घर मे जो अंतेवासी रहते थे, वे एक निश्चित समय तक शागिर्दी करने के लिए प्रतिज्ञा करते थे। इस बीच मे आचार्य उनसे शिल्प-सम्बन्धी सब काम लेता था, बदले मे केवल भोजन या निर्वाह का खर्चा देता था। आचार्य के अधीन बहुत-से अंतेवासी रहा करते थे। उसे मजदूर रखने की आवश्यकता नही होती थी। निर्धारित समय समाप्त हो जाने पर ये अंतेवासी अपना स्वतन्त्र व्यवसाय कर सकते थे। भारत मे ऐसी श्रेणियाँ मौर्यकाल व उससे भी पहले से चली आ रही थी। पर गुप्त-युग मे अनेक व्यवसायो मे छोटी-छोटी श्रेणियों का स्थान बड़े पैमाने की सुसंगठित श्रेणियों ने ले

लिया था। मन्दसौर की प्रशस्ति में जिस पटकार श्रेणी के लाटदेश से दशपुर आकर बस जाने का उल्लेख है, उसके सम्बन्ध में यह लिखा गया है कि उसके बहुत-से सदस्य थे, जो भिन्न-भिन्न विद्याओं में निपुण थे। वस्त्र बुनने में तो सभी दक्ष थे, पर साथ ही उनमें से अनेक व्यक्ति गान, कथा, धर्मप्रसंग, ज्योतिष, शील, विनय और युद्धविद्या में भी प्रवीण थे। इस प्रकार की बड़ी-बड़ी श्रेणियों और निगमों का विकास गुप्तकाल की एक महत्त्वपूर्ण विशेषता है। विविध श्रेणियों व निगमों के संघ भी इस समय तक बन गए थे, जो केवल एक नगर में ही नहीं, अपितु बहुत विस्तृत क्षेत्र मे अपना कार्य करते थे। ये बड़ी-बड़ी श्रेणियाँ इतनी समृद्ध थी, कि दशपुर की तंतुवायश्रेणी ने स्वयं अपने कमाये हुए धन से एक विशाल सूर्य-मन्दिर का निर्माण कराया था, और उसी की प्रतिष्ठा के उपलक्ष मे मन्दसौर की प्रशस्ति उत्कीर्ण करायी थी।

गुप्तकाल मे व्यापार भी बहुत विकसित था। न केवल भारत के विविध प्रदेशों मे, अपितु पूर्व और पश्चिम दोनों ओर के समुद्र-पार के देशों के साथ इस युग मे भारत का व्यापारिक सम्बन्ध विद्यमान था। पाटलिपुत्र से कौशाम्बी और उज्जयिनी होते हुए एक सडक भड़ोंच को गयी थी, जो इस युग में पश्चिमी भारत का बहुत समृद्ध नगर और बन्दरगाह था। यहाँ से मिस्र, रोम, ग्रीस, ईरान और अरब के साथ व्यापार होता था। पूर्व मे बंगाल की खाडी के तट पर ताम्रलिप्ति बहुत बडा बन्दरगाह था। यहाँ से भारतीय व्यापारी बरमा, जावा, सुमात्रा, चीन आदि सुदूर-पूर्व के देशो मे व्यापार के लिए आया-जाया करते थे। फाइयान ने यही से अपने देश के लिए प्रस्थान किया था। इस युग में हिन्द महासागर के विविध द्वीपों और सुदूर पूर्व के अनेक प्रदेशों मे बृहत्तर भारत का विकास हो चुका था। भारतीयो का अपने इन उपनिवेशो के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध था। इन उपनिवेशो मे आने-जाने के लिए ताम्रलिप्ति (वर्तमान ताम-लूक) का बन्दरगाह बहुत काम मे आता था। इसके अतिरिक्त भारत के पूर्वी समुद्र तट पर कदूर, घंटशाली, कावेरी-पट्टनम, तोदई, कोरकई आदि अन्य भी अनेक बन्दरगाह थे।

मिस्र और रोमन साम्राज्य के साथ जो व्यापार गुप्तवंश के शासन से पहले प्रारम्भ हो चुका था, वह अब तक भी जारी था। रोम की शक्ति के क्षीण हो जाने के बाद पूर्व मे कोंस्टैन्टिनोपल (पुराना बाइजेण्टियम) पूर्वी रोमन साम्राज्य का प्रधान केन्द्र हो गया था। कोंस्टैन्टिनोपल के सम्राटों के शासनकाल मे भी भारत के साथ पश्चिमी दुनिया का व्यापार-सम्बन्ध कायम रहा, और यवन जहाज भडौच तथा पश्चिमी तट के अन्य बन्दरगाहो पर आते रहे। रोम की शक्ति के क्षीण होने के बाद भारत के पश्चिमी विदेशी व्यापार में अरब लोगों ने अधिक दिलचस्पी लेनी शुरू की, और भारत का माल अरब व्यापारियों द्वारा ही पश्चिमी दुनिया में जाने लगा। भारत से बाहर जाने वाले माल में मोती, मणि, सुगंधि, सूती वस्त्र, मसाले, नील, औषधि, हाथीदाँत आदि प्रमुख थे। इनके बदले में चाँदी, ताम्बा, टिन, रेशम, काफूर, घोड़े और खजूर आदि भारत में आते थे।

छब्बीसवां अध्याय

गुप्तकाल की कृतियाँ और अवशेष

(१) मूर्तियाँ और स्तम्भ

शिलालेखों और सिक्कों के अतिरिक्त गुप्तकाल की बहुत-सी मूर्तियाँ, मन्दिर, स्तम्भ व अन्य अवशेष इस समय उपलब्ध हैं। इनसे उस युग की कला और शिल्प का अच्छा ज्ञान होता है। इस काल की मूर्तियाँ बौद्ध, शैव, वैष्णव और जैन—सब सम्प्रदायों की मिलती है। बौद्ध-धर्म की मुख्य मूर्तियाँ निम्नलिखित हैं—

(१) सारनाथ की बुद्ध-मूर्ति—इस मूर्ति में पद्मासन बाँधकर बैठे हुए भगवान् बुद्ध सारनाथ में धर्मचक्र का प्रवर्त्तन करते हुए दिखाए गये हैं। बुद्ध के मुखमण्डल पर अपूर्व शांति, प्रभा, कोमलता और गम्भीरता है। अंग-प्रत्यंग में सौकुमार्य और सौन्दर्य होते हुए भी ऐहलौकिकता का सर्वथा अभाव है। ऐसा प्रतीत होता है कि बुद्ध लोकोत्तर भावना को लिए हुए, अपने ज्ञान (बोध) को संसार को प्रदान करने के लिए ही ऐहलौकिक व्यवहार मे तत्पर है। मूर्ति मे दोनों कंधे महीन वस्त्र से ढके हुए प्रदर्शित किए गए हैं। ये वस्त्र पैरो तक है, और आसन के समीप पैरों से इनका भेद स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है। सिर के चारों ओर सुन्दर अलकृत प्रभामण्डल है, जिसके दोनो ओर दो देवो की मूर्तियाँ बनी हैं। देव हाथ में पत्र-पुष्प लिए हुए है। आसन के मध्य भाग मे एक चक्र बनाया गया है, जिसके दोनो ओर दो मृग हैं। यह मूर्ति गुप्तकालीन मूर्तिकला का अत्यन्त सुन्दर उदाहरण है। ऐसी ही अनेक मूर्तियाँ कलकत्ता म्यूजियम मे सुरक्षित है। इनमे सारनाथ की मूर्ति से बहुत समता है। ऐसा प्रतीत होता है, कि भक्तो ने बुद्ध के प्रति अपनी श्रद्धा को प्रदर्शित करने के लिए इन विविध मूर्तियो की प्रतिष्ठा करायी थी।

(२) मथुरा की खडी हुई बुद्ध-मूर्ति—इसके मुखमण्डल पर भी शांति, करुणा और आध्यात्मिक भावना का अपूर्व सम्मिश्रण है। बुद्ध निष्कम्प प्रदीप के समान खडे है, और उनके मुख पर एक दैवी स्मिति भी है। इस मूर्ति मे बुद्ध ने जो वस्त्र पहने है, वे बहुत ही महीन है,। उनमे से उनके शरीर का प्रत्येक अंग स्पष्ट रूप से दिखायी देता है। सिर के चारो ओर अलकृत प्रभामण्डल है। यह मूर्ति इस समय मथुरा के म्यूजियम मे सुरक्षित है। इसी के नमूने की भी अन्य बहुत-सी बुद्ध-मूर्तियाँ उपलब्ध हुई हैं।

(३) ताम्र की बुद्ध-मूर्ति—यह बिहार प्रान्त के भागलपुर जिले मे सुलतानगंज से प्राप्त हुई थी, और अब इग्लैण्ड मे बरमिंघम के म्यूजियम में रखी है। ताम्बे की बनी हुई खड़े प्रकार की यह मूर्ति साढे सात फीट ऊँची है। इसमे बुद्ध का स्वरूप समुद्र की तरह गम्भीर, महान्, पूर्ण और लोकोत्तर है। उनका दाहिना हाथ अभयमुद्रा मे कुछ आगे बढा हुआ है। मुखमण्डल पर अपूर्व शान्ति, करुणा और दिव्य तेज है। गुप्तकाल

की मूर्तियों में ताम्र की यह प्रतिमा वस्तुतः बड़ी अद्भुत और अनुपम है। धातु को ढालकर इतनी सुन्दर मूर्ति जो शिल्पी बना सकते थे, उनकी दक्षता, कला और प्रतिभा की सचमुच प्रशंसा करनी पड़ती है।

गुप्तकाल में मूर्तिनिर्माण कला के तीन बड़े केन्द्र थे—मथुरा, सारनाथ और पाटलिपुत्र। तीनों केन्द्रों की कुछ अपनी-अपनी विशेषताएँ थी। ऊपर लिखी तीनों मूर्तियाँ इन केन्द्रों की कला की प्रतिनिधि समझी जा सकती हैं। इन्हीं के नमूने की बहुत-सी मूर्तियाँ भारत के विविध स्थानों पर पायी जाती हैं। खेद यह है, कि इनमें से अधिकांश भग्न दशा मे हैं। किसी का दायाँ हाथ टूटा है, तो किसी का बायाँ। किसी का सिर टूट गया है, और किसी के कान, नाक आदि तोड़ दिये गये हैं। समय की गति और कुछ मूर्तिपूजा-विरोधी सम्प्रदायों के कोप का ही यह परिणाम हुआ है।

प्रस्तर-फलक—भगवान् बुद्ध की सम्पूर्ण मूर्तियों के अतिरिक्त इस काल के बहुत-से ऐसे प्रस्तर-फलक भी मिलते हैं, जिन पर बुद्ध के जीवन की विविध घटनाओं को उत्कीर्ण करके प्रदर्शित किया गया है। ऐसे बहुत-से-प्रस्तरखंड सारनाथ में उपलब्ध हुए हैं, जिन पर लुम्बिनीवन मे महात्मा बुद्ध का जन्म, बोधिवृक्ष के नीचे बुद्ध की ज्ञानप्राप्ति, सारनाथ में धर्मचक्र का प्रवर्तन और कुशीनगर में बुद्ध का महापरिनिर्वाण आदि प्रस्तरखण्ड को तरास कर सुन्दर रीति से चित्रित किये गये हैं। इसी तरह बुद्ध की माता का स्वप्न, कुमार सिद्धार्थ का अभिनिष्क्रमण, बुद्ध का विश्व-रूप-प्रदर्शन आदि बहुत-सी अन्य घटनाएँ भी मूर्तियों द्वारा प्रदर्शित की गयी हैं। पत्थर तरास कर उसे जीवित-जागृत रूप दे देने की कला मे गुप्तकाल के शिल्पी बहुत ही प्रवीण थे।

बुद्ध की मूर्तियो के अतिरिक्त अनेक बोधिसत्वो और बौद्ध देवी-देवताओं की मूर्तियाँ भी इस युग मे बनाई गयी। बौद्ध-धर्म में इस समय तक अनेक देवताओं व बोधिसत्वों की पूजा का प्रारम्भ हो चुका था, और उनके सम्बन्ध में बहुत-सी गाथाएँ बन गयी थीं। यही कारण है, कि इन गाथाओं की अनेक घटनाओ को भी मूर्तियो द्वारा अंकित किया गया; और बोधिसत्वों की बहुत-सी छोटी-बड़ी मूर्तियाँ बनाई गयी। अवलोकितेश्वर, मैत्रेय, मञ्जुश्री आदि की अनेक और विविध प्रकार की मूर्तियाँ इस समय में बनी।

पौराणिक मूर्तियाँ—पौराणिक धर्म के साथ सम्बन्ध रखने वाली गुप्तयुग की जो बहुत-सी मूर्तियाँ अब उपलब्ध हैं, उनमे निम्नलिखित उल्लेखनीय है—

(१) मध्यभारत में भिलसा के पास उदयगिरि में चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य द्वारा बनवाये हुए मन्दिरो के बाहर पृथिवी का उद्धार करते हुए वराह अवतार की एक विशाल मूर्ति मिली है। पौराणिक कथा के अनुसार प्रलय के जल में मग्न होती हुई पृथ्वी का उद्धार करने के लिये भगवान् विष्णु ने वराह का रूप धारण किया था। इस मूर्ति में भगवान् के इसी वाराह रूप को अंकित किया गया है। इस में वराह के बाएँ पैर के नीचे शेष की आकृति बनी हुई है, और पृथ्वी को वराह अपनी दंष्ट्राओं पर उठाये हुए हैं। मूर्ति का शरीर मनुष्य का है, पर मुख वराह का है।

(२) गोवर्धनधारी कृष्ण—यह मूर्ति काशी के समीप एक टीले से मिली थी,

और अब सारनाथ के संग्रहालय में सुरक्षित है। इसमें कृष्ण ने गोवर्धन पर्वत को गेंद की तरह उठाया हुआ है।

(३) शेषशायी विष्णु—झाँसी जिले में देवगढ़ नामक स्थान पर गुप्तकाल के एक विष्णु-मन्दिर में विष्णु भगवान् की एक मूर्ति है, जो शेषनाग पर शयन करती हुई दिखाई गयी है। इसमें एक ओर शेषशायी विष्णु हैं, जिनके नाभिकमल पर ब्रह्मा स्थित हैं, चरणों के पास लक्ष्मी बैठी हैं, ऊपर आकाश में कार्तिकेय, इन्द्र, शिव, पार्वती आदि उनके दर्शन कर रहे है। विष्णु के सिर पर मुकुट, कानों मे कुण्डल, गले मे हार तथा हाथों में कंगन हैं। साथ ही, अन्य अनेक देवी-देवताओं की मूर्तियाँ हैं।

(४) कौशाम्बी की सूर्य-मूर्ति—प्राचीन भारत मे सूर्य की भी मूर्ति बनाई जाती थी, और उसके अनेक मन्दिर विविध स्थानों पर विद्यमान थे। दशपुर में सूर्य का एक मन्दिर तंतुवायों की श्रेणी ने गुप्तकाल मे भी बनवाया था। कौशाम्बी मे प्राप्त सूर्य की यह मूर्ति भी बडी भव्य और सुन्दर है।

(५) कार्तिकेय—यह मूर्ति काशी के कलाभवन में सुरक्षित है। यह मोर पर बैठी हुई बनाई गयी है, जिस मे कीर्तिकेय के दोनों पैर मोर के गले में पडे हुए हैं। इसके भी सिर पर मुकुट, कानों मे कुण्डल, गले मे हार तथा अन्य बहुत-से आभूषण हैं। कार्तिकेय देवताओं की सेना का सेनापति था। अतः उसके हाव-भाव में गाम्भीर्य और पौरुष होना ही चाहिये। ये सब गुण इस मूर्ति में सुन्दरता के साथ प्रकट किये गये हैं।

(६) भरतपुर राज्य में रूपवास नामक स्थान पर चार विशालकाय मूर्तियाँ विद्यमान हैं, जिनमें से एक बलदेव की है। इसकी ऊँचाई सत्ताईस फीट से भी अधिक है। दूसरी मूर्ति लक्ष्मीनारायण की है। इसकी ऊँचाई नौ फीट से कुछ ऊपर है।

(७) गुप्तकाल में निर्मित शिव की भी अनेक मूर्तियाँ मिली हैं। सारनाथ के संग्रहालय में लोकेश्वर शिव का एक सिर है, जिसका जटाजूट भारतीय प्रभाव से प्रभावित चीन की मूर्तियो के सदृश है। इसके अतिरिक्त गुप्तकाल के अनेक शिवलिंग व एकमुखलिंग भी इस समय प्राप्त हुए हैं। एकमुखलिंग वे हैं, जिनमें लिंग के एक ओर मनुष्य के सिर की आकृति बनी होती है। ऐसी एक एकमुखलिंग प्रतिमा नागोद के क्षेत्र से मिली है, जिसके सिर पर रत्न-जटित मुकुट है, और जटाजूट के ऊपर अर्धचन्द्र विद्यमान है। ललाट पर शिव का तृतीय नेत्र भी प्रदर्शित किया गया है।

(८) बंगाल के राजशाही जिले से कृष्णलीला-सम्बन्धी भी अनेक मूर्तियाँ मिली हैं, जो गुप्तकाल की मानी जाती हैं।

जैन-मूर्तियाँ—बौद्ध तथा पौराणिक मूर्तियों के अतिरिक्त गुप्त-काल की जैन-मूर्तियाँ भी पाई गयी हैं। मथुरा से वर्धमान महाबीर की एक मूर्ति मिली है, जो कुमारगुप्त के समय की है। इसमे महावीर पद्मासन लगाये ध्यानमग्न बैठे हैं। इसी तरह की मूर्तियाँ गोरखपुर जिले व अन्य स्थानों से भी प्राप्त हुई हैं।

मूर्तिनिर्माण कला की मौलिकता—भारत मे मूर्तिनिर्माण की कला बहुत प्राचीन है। शैशुनाग और मौर्य वंशो के शासन-समय मे इस कला ने विशेष रूप से उन्नति प्रारम्भ की थी। यवन और शक लोगों के सम्पर्क से इस कला ने और अधिक उन्नति

की। अध्यात्मवाद और पाश्चात्य भौतिकवाद ने मिलकर एक नई शैली को जन्म दिया, जिसने इस देश की मूर्तियों में एक अपूर्व सौन्दर्य ला दिया। गुप्तकाल की मूर्तियो में विदेशी प्रभाव का सर्वथा अभाव है। वे विशुद्ध भारतीय हैं। आकृति मुद्रा और भाव-भंगी पूर्णतया भारतीय होते हुए भी उनमें अनुपम सौन्दर्य है। भौतिक सौन्दर्य की अपेक्षा भी उनमें आन्तरिक शान्ति, ओज और आध्यात्मिक आनन्द की जो झलक है, वह वर्णनातीत है। मूर्तिनिर्माण कला की दृष्टि से गुप्तकाल वस्तुतः अद्वितीय है।

प्रस्तर मूर्तियों के अतिरिक्त गुप्तकाल में मिट्टी व मसाले की मूर्तियो का भी रिवाज था। इस युग की अनेक नक्काशीदार ईंटें पहले साँचे से ढाली जाती थी, फिर उनपर औजार से तरह-तरह की चित्रकारी की जाती थी। फिर सुखाकर उन्हें पका लिया जाता था। गुप्तकाल की ये नक्काशीदार ईंटे बहुत ही सुन्दर है, और उनपर अनेक प्रकार के चित्र अंकित है। ईंटो की तरह ही नक्काशीदार खम्भे तथा अन्य इमारती साज भी इस काल मे तैयार किये जाते थे। गुप्तकाल की मिट्टी की जो मूर्तियाँ मिली हैं, वे भी बौद्ध और पौराणिक देवी-देवताओ की हैं। इनका सौन्दर्य पत्थर की मूर्तियो से किसी भी प्रकार कम नही है। पकी हुई ईंटो का चूरा तथा चूना भी मूर्तियो को बनाने के लिए प्रयुक्त होता था। इस प्रकार की बहुत-सी मूर्तियाँ सारनाथ, कौशाम्बी, मथुरा, राजघाट, अहिच्छत्र, श्रावस्ती आदि प्राचीन स्थानों से उपलब्ध हुई हैं। मूर्तियों के अतिरिक्त इन स्थानों से मिट्टी पकाकर बनाये हुए खिलौने व मिट्टी के बैल, हाथी, घोडे व अन्य छोटे-छोटे प्राणी भी बड़ी संख्या मे प्राप्त हुए है। गुप्तकाल मे यह कला बहुत उन्नत दशा मे थी। देवी-देवताओ के अतिरिक्त सब प्रकार के स्त्री-पुरुषो की छोटी-छोटी मूर्तियाँ भी इस काल में बनती थी। शक, यवन, हूण आदि जो विदेशी इस काल के भारतीय समाज में प्रचुर सख्या मे दिखाई देते थे, कलाकारो का ध्यान उनकी ओर भी आकृष्ट होता था। यही कारण है, कि इस युग की मिट्टी की छोटी-छोटी मूर्तियों में इन विदेशियों की मूर्तियो की संख्या बहुत अधिक है।

(२) प्रस्तर-स्तंभ

अशोक के समान गुप्त-सम्राटो ने भी बहुत से प्रस्तर-स्तम्भ बनवाये थे। ये किसी महत्त्वपूर्ण विजय की स्मृति मे या किसी सम्राट् की कीर्ति को स्थिर करने के लिए या विविध प्रदेशों की सीमा निश्चित करने के लिए और धार्मिक प्रयोजन से बनाये गए थे। गुप्तकाल के अनेक स्तम्भ इस समय उपलब्ध हुए हैं। गोरखपुर जिले में कहौम नामक स्थान पर स्कन्दगुप्त का एक प्रस्तर-स्तम्भ है, जिसपर इस प्रतापी सम्राट् की कीर्ति उत्कीर्ण है। गुप्तकाल में भगवान् विष्णु की प्रतिष्ठा मे ध्वजस्तम्भ बनाने का बहुत रिवाज था। सम्राट् बुधगुप्त के समय में सामंत राजा मातृविष्णु व धन्यविष्णु द्वारा बनवाया हुआ ऐसा एक स्तम्भ एरण में विद्यमान है। कुमारगुप्त के समय का ऐसा ही एक स्तम्भ भिलसद में स्थित है, जिसे स्वामी महासेन के मन्दिर के स्मारक रूप में बनवाया था। गाजीपुर जिले के भिटरी गाँव में भगवान् विष्णु की एक प्रतिमा की प्रतिष्ठा के अवसर पर उसके उपलक्ष में स्थापित किया हुआ एक स्तम्भ

उस गाँव में अब तक विद्यमान है। इसी तरह का एक स्मृतिस्तम्भ पटना जिले के बिहार नगर में है, जिसे सेनापति गोपराज की यादगार में स्थापित किया गया था।

मौर्यकाल के स्तम्भ गोल होते थे, और उनपर चिकना चमकदार वज्रलेप होता था। पर गुप्तकाल के स्तम्भ गोल व चिकने नहीं हैं। गुप्तों के स्तम्भ अनेक कोणों से युक्त हैं। एक हीं स्तम्भ के विविध भागों में विविध कोण हैं। कोई स्तम्भ नीचे आधार में यदि चार कोणों का है, तो बीच में आठ कोणो का हो गया है। कई स्तम्भ ऐसे भी हैं, जो नीचे चार कोणों के और बीच में गोल हैं। किसी-किसी स्तम्भ में ऊपर सिंह व गरुड़ की मूर्तियाँ भी हैं। प्रस्तर के अतिरिक्त धातु का २४ फीट ऊँचा जो विशाल स्तम्भ दिल्ली के समीप महरौली में है, वह भी गुप्तकाल का ही है। यह लौहस्तम्भ संसार के आश्चर्यों में गिना जाना चाहिये। इसका निर्माण भी विष्णुध्वज के रूप में हुआ था।

(३) भवन और मंदिर

गुप्त-काल के कोई राजप्रासाद या भवन अब तक उपलब्ध नहीं हुए। पाटलिपुत्र, उज्जयिनी आदि किसी भी प्राचीन नगरी में गुप्त-सम्राटों व उनके सामंत राजाओं या धनी पुरुषों के महलों के कोई खण्डहर अभी तक नहीं पाए गए। पर अमरावती, नागार्जुनी-कोंड और अजंता की गुफाओं मे विद्यमान विविध चित्रों व प्रतिमाओं में प्राचीन राजप्रासादों को भी चित्रित किया गया है। इस काल के साहित्य मे भी सुन्दर प्रासादों के वर्णन हैं, जिनसे सूचित होता है, कि गुप्तकाल के भवन बहुत विशाल और मनोरम होते थे।

सौभाग्यवश, गुप्तकाल के अनेक स्तूप, विहार, मन्दिर और गुफाएँ अब तक भी विद्यमान है, यद्यपि ये भग्न दशा मे हैं। गुप्तकाल मे पौराणिक धर्म प्रधान था। यही कारण है, कि इस युग में वैष्णव, शैव और सूर्य देवताओं के बहुत-से मंदिर बनाये गए। अब तक गुप्त युग के जो पौराणिक मंदिर मिले हैं, उनमे सर्वप्रधान निम्नलिखित हैं—

(१) मध्यप्रदेश के नागोद क्षेत्र मे भूमरा नामक स्थान पर प्राचीन समय का एक शिवमंदिर है। अब यह बहुत भग्न दशा में है। इसका केवल चबूतरा और गर्भगृह ही अब सुरक्षित दशा में हैं। चबूतरा प्रदक्षिणापथ के काम मे आता था। मंदिर के गर्भगृह मे एकमुख शिवलिंग की मूर्ति स्थापित है, जो मूर्तिकला का एक अत्यन्त सुन्दर उदाहरण है। मंदिर के द्वार-स्तम्भ के दाँयी ओर गंगा और बाँयीं ओर यमुना की मूर्तियाँ हैं। अनेक सुन्दर मूर्तियाँ भी यहाँ प्रस्तर पर उत्कीर्ण हैं।

(२) मध्यप्रदेश के जबलपुर जिले में तिगवां के समीप गुप्तकाल का एक मंदिर पाया गया है, जो एक टीले पर स्थित है। यह पाँचवी सदी के शुरू में बना था। इसकी चौखट आदि की कारीगरी बहुत सुन्दर है।

(३) भूमरा से दस मील दूर अजयगढ के समीप नचना-कूथना नामक स्थान पर पार्वती का एक पुराना मन्दिर है। इसकी बनावट भूमरा के मन्दिर के ही समान है।

(४) झाँसी जिले के देवगढ़ नामक स्थान पर गुप्तकाल का दशावतार का

मंदिर है। गुप्त-युग के मन्दिरों मे यह सबसे प्रसिद्ध और उत्कृष्ट है। एक ऊँचे चबूतरे पर बीच में मन्दिर बना हुआ है। इसके गर्भगृह मे चार द्वार हैं, जिनके प्रस्तरस्तम्भों पर सुन्दर मूर्तियाँ अंकित की गयी हैं। अनंतशायी विष्णु की प्रसिद्ध मूर्ति यहीं पर विद्यमान है, और इस मन्दिर के ऊपर शिखर भी है। भारत के आधुनिक मन्दिरों के ऊपर शिखर अवश्य होता है। पर गुप्त-काल मे शुरू-शुरू मे जो मंदिर बने थे, उनकी छत चपटी होती थी, और ऊपर शिखर नही रहता था। गुप्त-काल के समाप्त होने से पूर्व ही मंदिरो पर शिखरों का निर्माण शुरू हो गया था। देवगढ़ के इस दशावतार के मंदिर का शिखर सम्भवतः भारत मे सबसे पुराना है, और इसी कारण इस मंदिर का बहुत महत्त्व है।

(५) कानपुर के समीप भिटरगाँव में गुप्तकाल का एक विशाल मंदिर अब तक विद्यमान है, जो ईंटो का बना है। ऊपर जिन मंदिरों का उल्लेख किया गया है, वे प्रस्तर-शिलाओं द्वारा निर्मित है। पर भिटरगाँव का यह मंदिर ईंटों का बना है, और उसकी दीवारो का बाहरी अश मिट्टी के पकाये हुए फलकों से बनाया गया है। इन फलको पर तरह-तरह की चित्रकारी व मूर्तियाँ अंकित की हुई है।

(६) महाराष्ट्र के बीजापुर जिले मे अयहोल या ऐहोल नामक स्थान पर एक पुराना मंदिर है, जो गुप्तकाल का है। इसके भी प्रमुख द्वार पर गंगा और यमुना की मूर्तियाँ हैं, और इसकी खिड़कियाँ नक्काशीदार पत्थर की बनी हैं।

इन के अतिरिक्त मुकन्द-दर्रा (राजस्थान), साची, एरण (मध्य प्रदेश के सागर जिले मे), रामगढ (बिहार), अहिच्छत्र आदि में गुप्तकाल के अन्य भी अनेक मन्दिर ध्वंसावशेष रूप मे विद्यमान है।

पौराणिक धर्म के साथ सम्बन्ध रखने वाले इन मन्दिरों के अतिरिक्त गुप्तकाल के बौद्ध-धर्म के अनेक स्तूप व विहार भी आजकल विद्यमान है। सारनाथ का धमेख-स्तूप गुप्तकाल मे ही बना था। इसके बाहरी भाग मे जो प्रस्तर हैं, वे अनेक प्रकार के चित्रो व प्रतिमाओ से अंकित हैं। चित्रो के बेल व बूँटे बहुत सुन्दर बनाये गये हैं। सारनाथ मे ही एक प्राचीन विहार के खंडहर मिले हैं, जो गुप्तकाल के माने जाते है। इसी तरह बिहारशरीफ (पटना जिला) के समीप नालंदा मे पुराने विहारों के जो बहुत से खडहर अब उपलब्ध हैं, वे गुप्तकाल के ही समझे जाते हैं।

गुहाभवन—गुप्तकाल के गुहाभवनों मे भिलसा के समीप की उदयगिरि की गुहा सबसे महत्त्व की है। यही पर विष्णु के वाराह-अवतार की विशाल प्रतिमा खडी है, जिसका उल्लेख हम पहले कर चुके हैं। उदयगिरि की इस गुहा के द्वार-स्तम्भों तथा अन्य दीवारों पर भी बहुत-सी प्रतिमाएँ उत्कीर्ण हैं। अजंता की विश्वविख्यात गुफाओं मे से भी कम-से-कम तीन गुप्तकाल मे बनी थी। अजंता में छोटी-बड़ी कुल उनतीस गुहाएँ हैं। इनके दो भेद है, स्तूपगुहा और विहारगुहा। स्तूपगुहाओ में केवल उपासना की जाती थी। ये लम्बाई मे अधिक हैं, और इनके आखिरी सिरे पर एक स्तूप होता है, जिसके चारों ओर प्रदक्षिणा करने की जगह रहती है। विहारगुहाओ में भिक्षुओं के रहने और पढने-लिखने के लिए भी जगह बनाई गयी है। इन गुफाओं को पहाड़ काट कर बनाया गया है। बाहर से देखने पर पहाड़ ही दृष्टिगोचर होता है, पर अंदर

विशाल भवन बने हैं, जिनकी रचना पहाड़ काटकर की गयी है। गुप्तकाल में बनी १६ नं० की गुहा ६५ फीट लम्बी और इतनी ही चौड़ी है। इसमे रहने के छः कमरे हैं, और कुल मिलाकर सोलह स्तम्भ हैं। १७ नं० की गुहा भी आकार मे इतनी ही बड़ी है। अजन्ता के अतिरिक्त एलोरा, बाघ और मन्दारगिरि आदि के गुहाभवनो में से भी कतिपय का निर्माण गुप्तयुग में हुआ था।

(४) चित्रकला

गुप्तकाल की चित्रकला के सबसे उत्तम अवशेष अजता की गुहाओं में विद्यमान हैं। ऊपर अजंता की नं० १६ और नं० १७ की जिन गुहाओं का उल्लेख हुआ है, उनकी दीवारों पर बडे सुन्दर चित्र बने हुए है, जो कला की दृष्टि से अनुपम हैं। न० १६ की गुहा में चित्रित एक चित्र मे रात्रि के समय कुमार सिद्धार्थ गृहत्याग कर रहे हैं। यशोधरा और उनके साथ शिशु राहुल सोये हुए है। समीप में परिचारिकाएँ भी गहरी नीद मे सो रही हैं। सिद्धार्थ इन सब पर अंतिम दृष्टि डाल रहे हैं। उस दृष्टि मे मोह-ममता नही है, इन सबके प्रति निर्मोहबुद्धि उस दृष्टि की विशेषता है, जिसे चित्रित करने मे चित्रकार को अपूर्व सफलता हुई है। १६वी गुहा के एक अन्य चित्र मे एक मरणासन्न कुमारी का चित्र अंकित है, जिसकी रक्षा के सब प्रयत्न व्यर्थ हो चुके हैं। मरणासन्न राजकुमारी की दशा और समीप के लोगो की विकलता को इस चित्र मे बड़ी सुन्दरता के साथ प्रकट किया गया है। १७वी गुहा में माता-पुत्र का एक प्रसिद्ध चित्र है। सम्भवत', यह चित्र यशोधरा का है, जो अपने पुत्र राहुल को बुद्ध के अर्पण कर रही है। बुद्ध हो जाने के बाद सिद्धार्थ एक बार फिर कपिलवस्तु गये थे। जब वे भिक्षा माँगते हुए यशोधरा के घर गये, तो उसने राहुल को उनकी भेंट किया। उसी दृश्य को इस चित्र में प्रदर्शित किया गया है। माता यशोधरा के मुख पर जो आग्रह और विवशता का भाव है, वह सचमुच अनुपम है। बालक राहुल के मुख पर भी आत्म-समर्पण का भाव बडे सुन्दर रूप में अकित है।

इसी गुहा मे एक अन्य चित्र एक राजकीय जलूस का है, जिसमे बहुत-से आदमी अनुपम रूप से सज-धज कर जा रहे है। किसी के हाथ मे ऊँचा छत्र है, किसी के हाथ मे बजाने की शृगी। स्त्रियो के शरीर पर सुन्दर आभूषण हैं, और उनके वस्त्र इतने महीन हैं, कि सारा शरीर दिखाई पडता है। इस गुहा के अनेक चित्र जातक ग्रन्थो के कथानको को दृष्टि मे रखकर बनाये गये है। वेस्सतर जातक के अनुसार बनाये गये एक चित्र मे एक वानप्रस्थ राजकुमार से एक याचक ब्राह्मण उनके एकमात्र अल्पवयस्क पुत्र को माँग लेता है। वचनबद्ध राजकुमार अपने पुत्र को सहर्ष दे देता है। चित्र का ब्राह्मण बहुत क्षीणकाय है, उसके दाँत बाहर निकले हुए है। तपस्वी राजकुमार बिना किसी क्षोभ व दु:ख के अपने बालक को देने के लिए उद्यत है, और बालक का शरीर अतीव हृष्टपुष्ट और सुन्दर है। एक अन्य चित्र मे चार दिव्य गायक प्रदर्शित किये गये हैं, जिनकी गान में तल्लीनता देखते ही बनती है। अजन्ता की नं० १७ की गुहा में इसी तरह के बहुत-से चित्र हैं, जिन्हें देखते हुए मनुष्य कभी तृप्त नहीं होता।

वे दर्शक को एक कल्पनामयी मधुर दुनिया में ले जाते हैं, जहाँ पहुँचकर मनुष्य अपने को पूर्णतया भूल जाता है।

अजन्ता के समान ही ग्वालियर के अमझेरा क्षेत्र मे बाघ नामक स्थान पर अनेक गुहामन्दिर मिले हैं, जो विन्ध्याचल की पहाडियों को काटकर बनाये गये हैं। इन्हें गुप्तकाल के अन्तिम भाग का माना जाता है। इनमे भी अजन्ता के समान ही बडी सुन्दर चित्रकारी की गयी है। इन गुहाओं की सख्या नौ है। इनमे से चौथी गुहा रंग-महल कहाती है। इस समय इसके बहुत-से चित्र नष्ट हो चुके है। विशेषतया छत के चित्र तो बिल्कुल ही मिट गये है। इस रंगमहल तथा पाँचवी गुहा में कुल मिलाकर छः चित्र इस समय सुरक्षित हैं, जो सौन्दर्य और कला की दृष्टि से अजन्ता के चित्रो से किसी भी प्रकार कम नही हैं।

गुप्तकाल के साहित्यिक ग्रन्थो मे भी चित्रलेखन का अनेक-स्थानो पर उल्लेख आता है। कवि विशाखदत्त-रचित मुद्राराक्षस मे आचार्य चाणक्य द्वारा नियुक्त जिस गुप्तचर को अमात्य राक्षस की मुद्रा उपलब्ध हुई थी, वह यमराज का पट फैलाकर भिक्षा माँग रहा था। इस पट पर यमराज का चित्र अंकित था। अजन्ता के गुहाचित्रों मे एक ऐसा भी है, जिसमे क्षपणको का एक दल चित्रपट हाथ मे लिए भीख माँगता फिर रहा है। ये क्षपणक नंगे हैं, और हाथ मे चित्रपट लिये हुए है। गुप्तकाल मे क्षपणकों का एक ऐसा सम्प्रदाय था, जो इस तरह भिक्षा माँगा करता था। पर उस युग में चित्र केवल दीवारो पर ही नही बनाये जाते थे, अपितु कपडे पर भी अनेक प्रकार के चित्र चित्रित किये जाते थे, यह इससे अवश्य सूचित होता है। कालिदास के काव्यो को पढने से ज्ञात होता है, कि उस युग मे प्रेमी और प्रेयसी एक दूसरे के चित्रों को बनाते थे, और विवाह-सम्बन्ध स्थिर करने से पूर्व चित्रों को भी देखा जाता था। कालिदास ने चित्र की कल्पना तथा उन्मीलन (रग भरना) का उल्लेख अनेक स्थानों पर किया है।

गुप्तकाल मे चित्रकला इतनी अधिक उन्नति कर चुकी थी, कि बृहत्तर भारत के विविध उपनिवेशों में भी अनेक गुहाचित्र व रेशमी कपडे आदि पर बनाये हुए ऐसे चित्र मिले है, जो इसी काल के है, और उसी शैली के है, जो भारत मे प्रचलित थी। भारत के ही चित्रकारों ने सुदूर देशों में जाकर अपनी कला के चमत्कार दिखाये थे।

(५) संगीत

समृद्धि और वैभव के इस युग में सगीत, अभिनय आदि का भी लोगो को शौक था। गुप्त-सम्राट् स्वयं संगीत के बड़े प्रेमी थे। इसीलिये समुद्रगुप्त और चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य जैसे प्रतापी सम्राटों ने अपने कुछ सिक्के ऐसे भी जारी किये, जिनमें वे वीणा या अन्य वाद्य का रसास्वादन कर रहे हैं। बाघ गुहामन्दिरो के एक चित्र मे नृत्य करने वाली दो मण्डलियाँ दिखाई गयी हैं। प्रथम मण्डली मे एक नर्तक नाच रहा है, और सात स्त्रियों ने उसे घर रखा है। इनमे से एक स्त्री मृदग, तीन झाँझ

श्रौर बाकी तीन कोई अन्य बाजा बजा रही हैं। दूसरी मण्डली के मध्य में भी एक नर्त्तक नाच रहा है, श्रौर छः स्त्रियाँ विविध बाजे बजा रही हैं। सारनाथ में प्राप्त एक प्रस्तरखण्ड पर भी ऐसा ही दृश्य उत्कीर्ण है। इसमें नृत्य करने वाली भी स्त्री है, श्रौर बाजा बजाने वाली भी स्त्रियाँ हैं। इन चित्रों को देखकर इसमें कोई सन्देह नहीं रह जाता, कि गुप्तकाल में संगीत श्रौर नृत्य का बड़ा प्रचार था। इसी काल में कालिदास, विद्याखदत्त श्रादि अनेक कवियों ने अपने नाटक लिखे। ये जहाँ काव्य की दृष्टि से अनुपम हैं, वहाँ अभिनयकला की दृष्टि से भी अत्यन्त सुन्दर श्रौर निर्दोष हैं। ये नाटक जहाँ स्वयं इस काल के संगीत श्रौर अभिनयकला के उत्कृष्ट प्रमाण हैं, वहाँ इनके अन्दर भी नृत्य, गायन श्रौर अभिनय का जगह-जगह उल्लेख किया गया है।

सताईसवाँ अध्याय

भारतीय सभ्यता और धर्म का विदेशों में विस्तार

(१) बृहत्तर भारत का विकास

भारत के प्राचीन इतिहास में 'बृहत्तर भारत' का बहुत अधिक महत्त्व है। सम्राट् अशोक के समय मे आचार्य मोद्गलिपुत्र तिष्य के नेतृत्व में बौद्ध-धर्म के विदेशों में प्रचार का जो प्रयत्न हुआ था, आगे चलकर उसे बहुत सफलता मिली। तीसरी सदी ई० पू० में बौद्ध-धर्म की तीसरी संगीति (महासभा) द्वारा जिस बीज का आरोपण किया गया था, सात सदियो में (पाँचवी सदी ई० प० तक) वह एक विशाल वृक्ष के रूप मे विकसित हो गया था, और उसकी शाखाएँ पश्चिम में ईरान से लेकर पूर्व मे इण्डोनेशिया और जापान तक, और उत्तर में साइबेरिया की सीमा से दक्षिण में सिहल द्वीप तक फैल गयी थी। इसमे सन्देह नही, कि भारतीय सभ्यता और धर्म के विदेशो मे प्रसार-कार्य मे सबसे महत्त्वपूर्ण कार्य बौद्ध लोगों ने किया था। पर उनका अनुसरण कर वैष्णव और शैव धर्मों के प्रचारक भी अन्य देशों मे गये, और वहाँ उन्होंने अपने धर्म की विजयपताका फहराई। भारत के प्राचीन निवासी समुद्रयात्रा को पाप नही समझते थे। वे प्रधानतया तीन प्रयोजनो से विदेश-यात्रा करते थे—(१) व्यापार के लिए, (२) धर्मप्रचार के लिए, और (३) उपनिवेश बसाने के लिए।

व्यापार—प्राचीन समय मे पृथिवी के जिन प्रदेशो में सभ्य जातियो का निवास था, भारत की स्थिति उनके ठीक मध्य मे है। चीन, भारत, ईरान और ग्रीस प्राचीन काल में सभ्यता के मुख्य केन्द्र थे। भारत के व्यापारी पूर्व मे चीन से शुरू कर पश्चिम मे सिकन्दरिया (नील नदी के मुहाने पर स्थित अलेग्जेण्ड्रिया नगरी) तक व्यापार के लिए आया-जाया करते थे। भारतीयो का ख्याल था, कि बरमा, मलाया आदि धन-धान्य से परिपूर्ण हैं, और वहाँ सोने की खाने भी है, अत: अनेक महत्त्वाकाक्षी व साहसी युवक इन प्रदेशो मे धन कमाने के उद्देश्य से जाया करते थे, और इन प्रदेशों का नाम ही 'सुवर्णभूमि' पड़ गया था। जातक-ग्रन्थो में अनेक ऐसी कथाएँ आती है, जिनसे ज्ञात होता है कि भारतीय लोग इन प्रदेशों की यात्रा कर धन कमाने के लिए बहुत उत्सुक रहते थे। एक जातक-कथा के अनुसार विदेह का राजा लडाई मे मारा गया, था और उसकी रानी चम्पा चली गयी थी। उसका कुमार जब बडा हुआ, तो उसने माँ से कहा—"अपने कोश का आधा मुझे दे दे, मैं सुवर्णभूमि जाऊँगा। वहाँ खूब धन कमाऊँगा और फिर बाप-दादा के धन को लौटा दूँगा।" एक अन्य जातक कथा के अनुसार वाराणसी के समीप के एक वर्धकि-ग्राम के हजार परिवारो ने जंगल काटकर जहाज बनाये, और गगा से होकर समुद्र पहुँचे, और उसे पार कर सुवर्णभूमि चले गये।

इसी प्रकार की कथाएँ बृहत्कथा और जैन-ग्रन्थों मे भी पायी जाती हैं। भारत के ये साहसी व सभ्य व्यापारी विदेशों में जहाँ कहीं जाते, वहाँ के निवासियों को अपनी संस्कृति मे लाने का प्रयत्न करते। दक्षिण-पूर्वी एशिया के विविध प्रदेशों में न केवल भारतीय राजाओ के ही शिलालेख मिलते हैं, अपितु अनेक व्यापारियों द्वारा उत्कीर्ण कराये हुए लेखो की भी वहाँ से प्राप्ति हुई है। इस प्रकार का एक लेख मलाया के वेल्जली जिले में मिला है, जिसे चौथी सदी मे बुधगुप्त नाम के नाविक ने लिखवाया था।

धर्म-प्रचार—भारत के बहुत-से बौद्ध भिक्षु और धर्माचार्य केवल धर्म-प्रचार के पुनीत उद्देश्य को सम्मुख रखकर विदेशो मे गये। सारनाथ मे धर्मचक्र का प्रवर्त्तन करते समय महात्मा बुद्ध ने अपने शिष्यो को जो उपदेश दिया था, कि "भिक्षुओ! बहुत जनों के हित के लिए, लोक पर दया करने के लिए...विचरण करो, एक साथ दो मत जाओ', भिक्षुओ ने उसका उत्साहपूर्वक पालन किया। हिमालय और हिन्दूकुश की पर्वतमालाओ को लाँघकर और समुद्र को पार कर वे सुदूर देशों मे गये, और बुद्ध के अष्टांगिक आर्य-मार्ग का उन्होने सर्वत्र प्रचार किया। बौद्धो के धर्म-प्रचार का यह परिणाम हुआ, कि चीन, जापान, इण्डोनेशिया, विएत-नाम, बर्मा, सियाम, अफगानिस्तान, लका, तुर्किस्तान आदि सब देश भारतीय संस्कृति के प्रभाव मे आ गये। शुंग, भारशिव और गुप्त-वशो के शासनकाल मे जब भागवत और शैव धर्मों का पुनरुत्थान हुआ, तो इन धर्मों के आचार्यों ने भी बौद्ध भिक्षुओ का अनुसरण किया, और वे भी समुद्र पार कर पूर्वी व दक्षिण-पूर्वी एशिया मे अपने-अपने धर्मो का प्रचार करने के लिए गए। जैन मुनि भी बौद्ध भिक्षुओं के समान विदेशो मे जाते थे, और तीर्थंकर महावीर की शिक्षाओ का वहाँ प्रचार करते थे। भारतीय धर्मों का विदेशो में प्रचार होने के साथ-साथ इस देश की भाषा, साहित्य और सस्कृति का भी वहाँ प्रचार हुआ।

उपनिवेश—साहसी भारतीय युवक उपनिवेश बसाने के लिए भी बडी संख्या मे प्रवास किया करते थे। अशोक के अन्यतम पुत्र कुस्तन द्वारा खोतन मे भारतीय बस्ती बसाये जाने की बात तिब्बत की ऐतिहासिक अनुश्रुति मे विद्यमान है। कौण्डिन्य नामक ब्राह्मण के नेतृत्व मे बहुत से भारतीय सुवर्णभूमि गए थे, और वहाँ उन्होने उस उपनिवेश की स्थापना की थी, जो चीनी इतिहास मे फूनान नाम से प्रसिद्ध था। दक्षिण-पूर्वी एशिया के कम्बोज, चम्पा आदि कितने ही उपनिवेशो की स्थापना भारतीयो द्वारा ही की गयी थी।

व्यापार, धर्म-प्रचार और उपनिवेश-स्थापना—इन तीन प्रयोजनो से धीरे-धीरे भारत का एक विशाल सास्कृतिक साम्राज्य स्थापित हुआ, जिसे स्थूल रूप से 'बृहत्तर भारत' कहा जाता है। इस बृहत्तर भारत को दो भागो मे विभक्त किया जा सकता है—दक्षिण-पूर्वी एशिया का क्षेत्र और उपरला भारत। दक्षिण-पूर्वी एशिया के क्षेत्र के बृहत्तर भारत मे बर्मा, मलाया, सियाम, विएतनाम, इण्डोनेशिया (जावा, सुमात्रा, बाली आदि) और समीप के द्वीपो को सम्मिलित किया जाता है। उपरले या उत्तर-पश्चिमी भारत मे अफगानिस्तान और मध्य एशिया अन्तर्गत थे। इन प्रदेशों का धर्म और संस्कृति प्रायः भारतीय ही थे, और ऐतिहासिक दृष्टि से इन्हें भारत का ही अंग समझा जा सकता है। पर सास्कृतिक प्रभाव की दृष्टि से चीन, तिब्बत और मंगोलिया

भी भारत के धार्मिक या सांस्कृतिक साम्राज्य में सम्मिलित थे, और क्रिश्चिएनिटी तथा इस्लाम के प्रसार से पूर्व ईरान, ईराक आदि पश्चिमी एशिया के देश भी भारतीय सांस्कृतिक प्रभाव से अछूते नहीं रहे थे।

(२) दक्षिण-पूर्वी एशिया का बृहत्तर भारत

बर्मा—प्राचीन भारतीय लोग दक्षिण-पूर्वी एशिया के जिस भाग को 'सुवर्ण-भूमि' कहते थे, दक्षिणी बर्मा भी उसका अंग था। अशोक के समय में स्थविर उत्तर और सोण इस प्रदेश में बौद्ध-धर्म का प्रचार करने के लिए गये थे। पाँचवी सदी ईस्वी तक दक्षिणी बर्मा मे बौद्ध-धर्म का भली-भाँति प्रचार हो चुका था। वर्त्तमान प्रोम से पाँच मील दक्षिण में प्यू जाति की राजधानी श्रीक्षेत्र थी, जिसके अवशेष ह्मावजा नामक स्थान पर विद्यमान हैं। ह्मावजा के समीप मौमेंगन नामक गाँव में सुवर्णपत्र पर उत्कीर्ण दो लेख मिले हैं, जिनमें कदम्ब लिपि और पाली भाषा में बुद्ध के वचन लिखे गये हैं। ह्मावजा के अवशेषों मे न केवल भग्न दशा मे शिलालेख ही मिले हैं, अपितु एक पोथी भी प्राप्त हुई है, जो पाली भाषा मे है। पुरातत्त्व-सम्बन्धी ये अवशेष इस बात के ठोस प्रमाण है, कि पाँचवीं सदी तक दक्षिणी बर्मा भारत के धर्म, भाषा और लिपि को अपना चुका था। बाद मे बौद्ध-धर्म का और अधिक प्रचार हुआ, और धीरे-धीरे बर्मा पूर्णतया बौद्धधर्म का अनुयायी हो गया।

फूनान—विएतनाम के पश्चिम मे स्थित कम्बोडिया राज्य मे प्राचीन समय मे एक भारतीय राज्य की सत्ता थी, जिसका नाम फूनान था। वहाँ के मूल निवासी असभ्य और जंगली थे। ईसा की पहली सदी मे जावा से जाकर कुछ भारतीय वहाँ बसे, और उन्होंने वहाँ सभ्यता का सूत्रपात किया। फूनान में पहला राज्य-संस्थापक राजा कौण्डिन्य नाम का एक ब्राह्मण था। उसने वहाँ के मूल निवासियो की रानी सोमा के साथ विवाह कर एक नये राजवंश की स्थापना की। कौण्डिन्य अकेला फूनान नही गया था, उसके साथ अन्य भी बहुत-से भारतीय वहाँ जाकर बसे थे जो सदा के लिए अपनी मातृभूमि को प्रणाम कर फूनान मे बस गये थे।

कौण्डिन्य के बाद के राजा फान्-चे-मन् (मृत्युकाल २२५ ईस्वी) ने फूनान राज्य का बहुत विस्तार किया, और मलाया तक के प्रदेश को जीत लिया। २४० ई० प० के लगभग फूनान के राजदूत भारत आये थे, और पाटलिपुत्र के मूलुन (मुरुण्ड) राजा के दरबार मे गये थे। कनिष्क के समय में पाटलिपुत्र पर कुशाणों अधिकार हो गया था और वहाँ जो क्षत्रप शासन करते थे, वे शक-मुरुण्ड कहाते थे। पाँचवी सदी के मध्यभाग में फूनान का राजा जयवर्मा था, जो कौण्डिन्य का वंशज था। ४८४ ईस्वी में जयवर्मा ने नागसेन नाम के भिक्षु को चीन के दरबार मे अपना राजदूत बनाकर भेजा था। ५१४ ईस्वी में जयवर्मा की मृत्यु हुई। अब उसका पुत्र रुद्रवर्मा फूनान का राजा बना। ५३६ ईस्वी मे उसने भी अपना राजदूत चीन के सम्राट् की सेवा में भेजा। फूनान के राजाओं का चीन के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध था, इसीलिए चीन की ऐतिहासिक अनुश्रुति से उनके सम्बन्ध में बहुत-सी बातें ज्ञात होती हैं।

फूनान के राजा शैव धर्म के अनुयायी थे, और उनकी भाषा संस्कृत थी।

जयवर्मा की रानी का नाम कुलप्रभावती था। रानी कुलप्रभावती और उसके पुत्र रुद्रवर्मा द्वारा उत्कीर्ण कराये हुए अनेक शिलालेख इस समय उपलब्ध होते हैं। ये लेख शुद्ध संस्कृत भाषा में हैं, और इनके अध्ययन से ज्ञात होता है, कि पाँचवीं-छठी सदियों के फूनान मे शैव धर्म के साथ-साथ वैष्णव और बौद्ध-धर्मों का भी प्रचार था। बौद्ध-धर्म की सत्ता के प्रमाणस्वरूप अनेक उत्कीर्ण लेख भी इस प्रदेश से उपलब्ध हुए हैं, जिनमे विविध स्तूपों के निर्माण का उल्लेख है।

कौण्डिन्य द्वारा स्थापित राजवंश फूनान में छठी सदी के मध्य तक कायम रहा। राजा रुद्रवर्मा के बाद वहाँ अशांति फैल गयी, और समीप के कम्बुज राज्य के राजा (जो पहले फूनान की अधीनता स्वीकृत करते थे) ने उसे अपने अधीन कर लिया।

कम्बुज राज्य—यह राज्य वर्तमान कम्बोडिया के उत्तरी भाग में स्थित था। यह भी भारतीयों का ही एक उपनिवेश था, और शुरू में फूनान के राज्य के अन्तर्गत था। जिस राजा ने फूनान के राजा रुद्रवर्मा को परास्त कर कम्बुज के उत्कर्ष का प्रारम्भ किया उसका नाम भववर्मा था। फूनान को परास्त कर उसने जो अमित सम्पत्ति प्राप्त की थी, वही उसके वश के उत्कर्ष में सहायक हुई। सियाम के सीमान्त पर एक शिवलिङ्ग मिला है, जिसकी पीठिका पर यह लेख उत्कीर्ण है—"धनुष के पराक्रम से जीती निधियों को प्रदान कर उभय लोक कर-धारी राजा श्री भववर्मा ने त्र्यम्बक के इस लिङ्ग की प्रतिष्ठा की।" इसी समय का एक अन्य लेख मिला है, जो इस प्रकार है—"वह श्री भववर्मा की भगिनी तथा श्री वीरवर्मा की पुत्री थी, जो अपने पति और धर्म की भक्ति मे दूसरी अरुन्धती थी। उसी हिरण्यवर्मा की माता को जिसने पत्नी के रूप में ग्रहण किया, उस ब्राह्मणों में सोमममान स्वामी···सामवेदवित् अग्रणी श्री सोमशर्मा ने पूजा विधि और अतुलदान के साथ सूर्य और त्रिभुवनेश्वर की प्रतिष्ठा की। प्रतिदिन अखण्ड पाठ के लिए उसने रामायण और पुराण के साथ सम्पूर्ण (महा) भारत को प्रदान किया।" ये लेख यह समझने के लिए पर्याप्त हैं, कि छठी सदी में कम्बुज देश की सस्कृति और धर्म का क्या स्वरूप था। उस युग में यह प्रदेश पूर्ण-रूप से भारतीय था, और वहाँ के राजा एक भारतीय धर्म (शैव धर्म) के अनुयायी थे। भववर्मा के बाद महेन्द्रवर्मा कम्बुज राज्य का स्वामी बना। उसके एक शिलालेख मे 'शिवपद' के दान का वर्णन है। भारत में विष्णुपद की पूजा तो अब तक होती है, गया मे विष्णुपद विद्यमान भी है, पर 'शिवपद' की पूजा नही होती। परन्तु वर्तमान कम्बोडिया में सातवी सदी मे शिवपद की पूजा भी प्रचलित थी, और राजा महेन्द्रवर्मा ने उसकी प्रतिष्ठा कर एक शिलालेख उत्कीर्ण कराया था।

महेन्द्रवर्मा के बाद ईशानवर्मा कम्बुज राज्य के राजसिंहासन पर आरूढ हुआ। उसकी राजधानी का नाम 'ईशानपुर' था, जिसकी स्थापना सम्भवत उसी ने अपने नाम पर की थी। वह भारत के सम्राट् हर्षवर्धन का समकालीन था, और उसने ६१६ ईस्वी में अपना एक दूतमण्डल चीन भेजा था। चीन की ऐतिहासिक अनुश्रुति मे इस राजा का उल्लेख है। ईशानवर्मा के उत्तराधिकारियों के शासन-काल के भी अनेक उत्कीर्ण लेख कम्बोडिया से उपलब्ध हुए है, जिनमें शकाब्द का प्रयोग किया गया है। भारत के समान कम्बुज के प्राचीन लेखों मे भी शकाब्द का प्रयोग इस बात का स्पष्ट

प्रमाण है, कि दक्षिण-पूर्वी एशिया के सुदूरवर्ती इस राज्य का भारत के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध था, और कम्बुज न केवल धर्म, भाषा और संस्कृति की दृष्टि से ही भारतीय था, अपितु वहाँ की ऐतिहासिक परम्परा भी भारतीय थी।

सातवीं सदी में जावा (यवद्वीप) के शैलेन्द्रवंशी राजाओं ने अपने साम्राज्य का विस्तार करते हुए कम्बुज पर भी आक्रमण किया, और उसे जीतकर अपने अधीन कर लिया। पर कम्बुज देर तक शैलेन्द्र-साम्राज्य की अधीनता में नहीं रहा। नवी सदी के प्रारम्भ (८०२ ईस्वी) में वहाँ एक ऐसे वीर पुरुष का प्रादुर्भाव हुआ, जिसने एक बार फिर कम्बुज को स्वतन्त्र किया। इस वीर पुरुष का नाम जयवर्मा था। इसके शासन-काल से कम्बुज राज्य के सुवर्ण-युग का प्रारम्भ हुआ, और इस देश ने बहुत उन्नति की। जयवर्मा के साथ सम्बन्ध रखने वाले अनेक शिलालेख कम्बुज मे उपलब्ध हुए है, और उनसे उसकी कीर्ति, वीरता और समृद्धि का भली-भाँति परिचय मिलता है।

जयवर्मा के बाद उसके पुत्र जयवर्धन (८६९–८७७) ने और फिर इन्द्रवर्मा (८७७–८८९) ने कम्बुज का शासन किया। इन्द्रवर्मा के बाद उसका पुत्र यशोवर्मा (८८९–९०९) कम्बुज का राजा बना। इन्द्रवर्मा बडा प्रतापी राजा था। उसने पूर्व की ओर आक्रमण कर चम्पा के राज्य को जीत लिया। इस विजय से कम्बुज की शक्ति बहुत बढ गयी। कम्बोडिया में संस्कृत भाषा के बहुत-से शिलालेख उपलब्ध हुए हैं, जो इन राजाओं द्वारा उत्कीर्ण कराये गये थे। इनको पढने से ज्ञात होता है, कि कम्बुज देश मे इन सदियों मे संस्कृत की वही स्थिति थी, जो भारत मे थी। समुद्रगुप्त और रुद्रदामा की प्रशस्तियो के समान कम्बुज देश के ये शिलालेख भी संस्कृत की साहित्यिक शैली के उत्कृष्ट उदाहरण हैं।

तेरहवी सदी के अन्त तक कम्बुज के भारतीय उपनिवेश की स्वतन्त्रता कायम रही। मंगोल सम्राट् कुबले खाँ ने १२९६ मे उसे जीतकर अपने अधीन कर लिया, और तब उसकी स्वतन्त्र सत्ता का अन्त हुआ।

कम्बुज भारतीय संस्कृति का महत्त्वपूर्ण केन्द्र था। शिव, विष्णु, दुर्गा आदि पौराणिक देवी-देवताओ की वहाँ पूजा हुआ करती थी। वेद, पुराण, रामायण, महाभारत आदि का वहाँ उसी प्रकार अध्ययन होता था, जैसा कि भारत मे। राजा ईशानवर्मा ने कम्बुज मे अनेक आश्रम बनवाये। जैसे बौद्ध-धर्म के मठ विहार कहाते थे, वैसे ही पौराणिक धर्म के मठों को आश्रम कहते थे। इनमे संन्यासी लोग निवास करते थे, और बौद्ध भिक्षुओ की तरह धर्म प्रचार, विद्याध्ययन तथा शिक्षण कार्य मे व्यापृत रहते थे। राजा ईशान वर्मा के समय मे ही कम्बुज में शिव (हर) और विष्णु (हरि) की सम्मिलित मूर्ति बनाई गयी। इससे सूचित होता है, कि कम्बुज देश के शैव और वैष्णव शिव और विष्णु मे अभेद और अविरोध मानते थे। नवीं सदी में कम्बुज का राजा यशोवर्मा था। उसने यशोधरपुर नाम से अपनी नयी राजधानी बनायी थी। उसके भग्नावशेष अंगकोरथोम में उपलब्ध हैं। इस नगरी के चारो ओर ३३० फीट चौड़ी खाई है, जिसके भीतर की ओर एक विशाल प्राचीर बनी हुई है। नगर वर्गाकार है, जिसकी प्रत्येक भुजा लम्बाई में दो मील से भी अधिक है। नगर के महाद्वार विशाल व सुन्दर हैं। इनके दोनों ओर रक्षको के लिए मकान बने हैं। तीन सिर वाले विशाल

हाथी द्वारों की मीनारों को अपनी पीठ पर थामे हुए हैं। सौ फीट चौड़े और मील भर लम्बे पाँच राजमार्ग द्वारों से नगर के मध्य तक गये है। पक्की चिनाई के भिन्न-भिन्न आकृतिवाले अनेक सरोवर अब तक भी अंगकोरथोम के खण्डहरों में विद्यमान हैं। नगर के ठीक बीच मे शिव का एक विशाल मन्दिर है। इसके तीन खण्ड हैं। प्रत्येक खण्ड पर एक-एक ऊँची मीनार है। बीच की मीनार की ऊँचाई भग्न दशा में भी १५० फीट के लगभग है। ऊँची मीनार के चारो ओर बहुत-सी छोटी-छोटी मीनारें हैं। इनके चारों ओर एक-एक नरमूर्ति बनी हुई है, जो समाधिस्थ शिव की मूर्तियाँ हैं। इस विशाल शिवमन्दिर मे स्थान-स्थान पर सुन्दर चित्रकारी की गयी है। पौराणिक धर्म के किसी मन्दिर के इतने पुराने और विशाल अवशेष भारत में कहीं उपलब्ध नहीं होते। बारहवी सदी के पूर्वार्ध मे कम्बुज देश का राजा सूर्यवर्मा द्वितीय था। उसने एक विशाल विष्णु मन्दिर का निर्माण कराया, जो अगकोर वात के रूप मे अब तक भी विद्यमान है। इसके चारो ओर की खाई की चौडाई ७०० फीट है। झील के समान चौडी इस खाई को पार करने के लिए पश्चिम की ओर एक पुल बना है। पुल पार करने पर एक विशाल द्वार आता है, जिसकी चौडाई १००० फीट से भी अधिक है। खाई और महाद्वार को पार करने पर जो मन्दिर है, वह भी बहुत विशाल है।

अंगकोरथोम और अगकोरवात के अतिरिक्त अन्य भी बहुत-से प्राचीन अवशेष कम्बोडिया मे विद्यमान है, जो प्राय भग्न मन्दिरो, शीर्ण राजप्रासादो और उजड़ी हुई नगरियों के रूप मे हैं। ये सब अवशेष जिस युग के स्मारक हैं, उसमे कम्बोडिया पूर्ण रूप से भारतीय उपनिवेश था, और उसकी भाषा, धर्म, सस्कृति आदि सब भारतीय थे। इस देश के धर्म मे पहले पौराणिक हिन्दू-धर्म की प्रधानता थी, पर बाद मे उस का ह्रास होकर बौद्ध-धर्म का जोर बढ गया।

चम्पा—विएत-नाम के क्षेत्र मे भारत का सबसे पुराना उपनिवेश चम्पा था। यह ईस्वी सन् के प्रारम्भिक भाग मे स्थापित हुआ था। चीनी ऐतिहासिक अनुश्रुति के अनुसार चम्पा की स्थापना १९२ ईस्वी के लगभग हुई थी। इस उपनिवेश की स्थिति कम्बोडिया (कम्बुज) के पूर्व मे और विएत-नाम के दक्षिणी भाग मे थी। चम्पा का पहला भारतीय राजा श्रीमार था। इसका समय दूसरी सदी ई० प० के अन्तिम भाग मे था। श्रीमार और उसके उत्तराधिकारी विशुद्ध भारतीय राजा थे। उनकी भाषा सस्कृत थी, और उनका धर्म शैव था। इन राजाओं द्वारा उत्कीर्ण कराये हुए संस्कृत भाषा के अनेक शिलालेख दक्षिणी विएत-नाम मे उपलब्ध हुए है।

चीनी ऐतिहासिक अनुश्रुति से ज्ञात होता है, कि फनवेन नाम के चम्पा के एक भारतीय राजा ने ३४० ई० मे चीन के सम्राट् के पास एक राजदूत भेजा था। उसने अपने दूत से यह कहलवाया कि चीन और चम्पा के राज्यो के बीच की सीमा होन-सोन पर्वतमाला को निश्चित कर दिया जाय। इस नई सीमा के अनुसार-न्हुत नाम का उपजाऊ प्रदेश चम्पा के राज्य मे सम्मिलित हो जाता था। चीनी सम्राट् इसके लिए तैयार नहीं हुआ। इसपर ३४७ ई० में फनवेन ने चीन पर आक्रमण कर दिया, और न्हुत-नाम को जीतकर चम्पा के राज्य को होन-सोन पर्वतमाला तक विस्तृत कर दिया। यद्यपि इस युद्ध मे चम्पा के राजा फनवेन की मृत्यु हो गयी, पर उसके प्रयत्नों के

कारण चम्पा का राज्य बहुत समृद्ध तथा शक्तिशाली हो गया। चीन और चम्पा का संघर्ष फनवेन के बाद भी जारी रहा। चम्पा के राजा फन फो (३४९ से ३६० ई० प० तक) के शासनकाल में चीन अपने खोये हुए प्रदेश (न्हुत-नाम) को पुनः जीत लेने के लिए निरन्तर प्रयत्न करता रहा। यह यत्न फन हुता (३६० से ४१३ ई० प० तक) के समय मे भी जारी रहा।

यह ध्यान मे रखना चाहिए, कि चम्पा के राजाओं के फनवेन आदि जो नाम हमने दिए है, वे चीनी अनुश्रुति के अनुसार हैं। राजा फन-हुता का असली नाम धर्म-महाराज श्री भद्रवर्मा था। इस राजा के अनेक लेख चम्पा मे उपलब्ध हुए है। श्री भद्रवर्मा वेदो का परम विद्वान् और महापण्डित था। उसने शिव के एक विशाल मन्दिर का निर्माण करवाया, और उसमे भद्रेश्वरस्वामी शिव की मूर्ति की प्रतिष्ठा की। यह मन्दिर चम्पा मे धर्म और संस्कृति का केन्द्र बन गया, और इसकी कीर्ति देर तक स्थिर रही। भद्रवर्मा का उत्तराधिकारी गंगाराज (४१३ से ४१५ ई० प० तक) था। उसके शासनकाल में चम्पा में अव्यवस्था फैल गयी, और वह राजसिंहासन का परित्याग कर गंगावास के लिए भारत चला आया। चम्पा के ये राजा धर्म, भाषा, सस्कृति आदि मे पूर्णतया भारतीय थे। वहाँ के अन्यतम एक राजा इन्द्रवर्मा तृतीय (९११–९७२) के एक शिलालेख मे उसे षड्दर्शन, बौद्ध-दर्शन, काशिकावृत्ति सहित पाणिनीय व्याकरण, आख्यान तथा शैव उत्तरकल्प का प्रकाण्ड पण्डित कहा गया है। (मीमासा षट्तर्क जिनेन्द्रसूर्मिस्सकाशिकाव्याकरणोदकौघ:। आख्यानशैवोत्तरकल्पमीन: पटिष्ठ एनेष्विति सत्कवीनाम् ॥)।

मलाया—दक्षिण-पूर्वी एशिया के अन्य देशो के समान मलाया (मलयद्वीप) में भी भारतीयो ने अपने अनेक उपनिवेश प्राचीन समय मे स्थापित किये थे। अनुश्रुति के अनुसार पाटलिपुत्र के राजवश का कोई राजकुमार तीसरी सदी ई० प० में समुद्रमार्ग द्वारा मलाया गया था, और वहाँ उसने अपना शासन स्थापित किया था। मलाया मे इस भारतीय राजकुमार का नाम 'मरोङ्' प्रसिद्ध है। मरोङ् के बाद मलाया मे महापोदिसत (महाबोधिसत्व) और श्रीमहावश आदि राजा हुए। मरोङ् द्वारा स्थापित भारतीय उपनिवेश का नाम लंकाशुक था। इसके अतिरिक्त अन्य भी अनेक भारतीय राज्य मलाया में विद्यमान थे। यही कारण है, कि वहाँ बहुत-से ऐसे अवशेष उपलब्ध हुए है, जिनका सम्बन्ध भारतीय धर्म और संस्कृति के साथ है। गनोङ् जिराई के समीप सुंगइवत्त की जमीदारी मे एक हिन्दू मन्दिर के अवशेष और अनेक प्रस्तर-मूर्तियाँ मिली हैं। इसके समीप ही चौथी सदी में बने एक बौद्ध मन्दिर के अवशेष प्राप्त हुए है, जिनके साथ संस्कृत का एक शिलालेख भी है। मलाया के वेल्जली जिले के उत्तरी भाग मे बौद्ध-मन्दिरो के बहुत-से स्तम्भ मिले है, जो उनपर उत्कीर्ण अक्षरो से चौथी-पाँचवीं सदी के माने जाते है। पेराक राज्य के शलिनसिङ् स्थान से गरुडारूढ विष्णु की मूर्ति प्राप्त हुई हैं, जिसके साथ सोने का एक आभूषण भी है। प्राचीन युग के ये और इसी प्रकार के अन्य अवशेष इस बात के ठोस प्रमाण हैं, कि दक्षिण-पूर्वी एशिया

के अन्य प्रदेशों के समान मलाया में भी प्राचीन काल में भारतीय धर्म, भाषा और संस्कृति का प्रचार था।

सुमात्रा (सुवर्णद्वीप)—हिन्द महासागर के द्वीपों में भी प्राचीन समय में भारतीयो ने अपने उपनिवेश स्थापित किये थे। इन द्वीपो को आजकल सामूहिक रूप से इण्डोनेशिया कहते हैं। इण्डोनेशिया के अन्तर्गत द्वीपो में सुमात्रा का स्थान बहुत महत्त्वपूर्ण है। इसे प्राचीन समय में सुवर्णद्वीप कहते थे, और इसका सबसे पुराना राजनीतिक केन्द्र श्रीविजय था, जो कम्पर नदी के तट पर स्थित था। श्रीविजय की स्थापना चौथी सदी ईस्वी से पहले ही हो चुकी थी। पर सातवी सदी में इसने बहुत अधिक उन्नति की, और इसके प्रतापी राजाओं ने पड़ोस के अनेक प्रदेशों को जीतकर अपने अधीन कर लिया। ६८४ ईस्वी में श्रीविजय के राजसिंहासन पर जयनाग का अधिकार था, जो धर्म से बौद्ध था। ६८६ मे उसने जावा (यवद्वीप) की विजय के लिए सेनाएँ भेजी। श्रीविजय के राजनीतिक इतिहास को यहाँ लिखना उपयोगी नहीं है, पर महत्त्व की बात यह है, कि यह नगर धर्म, संस्कृति और ज्ञान का बड़ा केन्द्र था। चीनी यात्री इत्सिग सात साल (६८८ से ६९५ ई० प०) तक यहाँ रहा था, और यही रहकर उसने संस्कृत भाषा का अध्ययन किया था। इत्सिग के अनुसार चीनी यात्री भारत जाते हुए पहले श्रीविजय रहकर संस्कृत का ज्ञान प्राप्त किया करते थे। संस्कृत के बहुत-से शिलालेख श्रीविजय और सुमात्रा के अन्य स्थानो से उपलब्ध हुए है।

जावा (यवद्वीप)—इण्डोनेशिया के अन्तर्गत द्वीपों मे जावा सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है। इसका प्राचीन नाम यवद्वीप था। दूसरी सदी तक वहाँ भारतीय लोग बस चुके थे। चीनी अनुश्रुति के अनुसार ६५ ई० प० के लगभग भारतीयो ने इस द्वीप में बसना प्रारम्भ किया था। १३२ ईस्वी मे जावा का राजा देववर्मा था, जिसने अपना राजदूत चीन के सम्राट् की राजसभा मे भेजा था। पाँचवी सदी के शुरू (४१४ ई० प०) मे जब प्रसिद्ध चीनी यात्री फाइयान भारत से चीन लौटा, तो वह मार्ग मे यवद्वीप भी ठहरा। फाइयान के यात्रा-विवरण से सूचित होता है, कि इस द्वीप मे भारतीय लोग अच्छी बडी संख्या में निवास करते थे, और उनमे से बहुत-से शैव धर्म के अनुयायी थे। फाइयान जिस जहाज से यवद्वीप गया था, उसमें २०० भारतीय व्यापारी भी थे।

पाँचवी सदी मे यवद्वीप व उसके समीपवर्ती अन्य द्वीपो मे बौद्ध धर्म का प्रचार हुआ। इसका प्रधान श्रेय गुणवर्मा को है। गुणवर्मा का स्थान उन प्रचारकों मे बहुत ऊँचा है, जिन्होने विदेशो मे बौद्ध-धर्म का प्रचार किया। तीस वर्ष की आयु में वह लंका गया, और कुछ समय वहाँ रहकर फिर उसने जावा के लिए प्रस्थान किया। जावा की राजमाता शीघ्र ही उसके प्रभाव मे आ गयी, और उसने बौद्ध-धर्म को स्वीकार कर लिया। माता की प्रेरणा से जावा के राजा ने भी बौद्ध-धर्म की दीक्षा ली। इसी समय किसी विदेशी सेना ने जावा पर आक्रमण किया। अहिंसा-प्रधान बौद्ध-धर्म के अनुयायी राजा के सम्मुख यह समस्या उपस्थित हुई, कि इस आक्रमण का मुकाबला करने के लिए युद्ध करना चाहिए या नही। इस समस्या का समाधान गुणवर्मा ने किया। उसने कहा कि दस्युओं को नष्ट करना हिंसा नहीं है, और उनसे

युद्ध करना सबका धर्म है। आक्रमण करने वाली शत्रु-सेनाएँ परास्त हो गयीं, और जावा की स्वतन्त्रता अक्षुण्ण रही। गुणवर्मा की कीर्ति जावा के समीप के सब भारतीय उपनिवेशों में फैल गयी थी। चीन मे भी उसके ज्ञान और गुण का यश पहुँच गया था। चीनी भिक्षुओं ने अपने राजा से प्रार्थना की, कि गुणवर्मा को चीन निमन्त्रित किया जाय। भिक्षुओं का आवेदन स्वीकार कर चीन के सम्राट् ने अपना दूत जावा के राजा और गुणवर्मा के पास भेजा और यह प्रार्थना की कि आचार्य चीन पधारें। चीन के सम्राट् की प्रार्थना को गुणवर्मा ने स्वीकार कर लिया, और ४३१ ईस्वी मे वह दक्षिणी चीन में नानकिंग पहुँच गया। जिस जहाज पर गुणवर्मा चीन गया था, वह नन्दी नाम के भारतीय व्यापारी का था, जो भारत का माल बेचने के लिए चीन जा रहा था। जावा और समीप के अन्य द्वीपों में बौद्ध-धर्म के प्रचार मे गुणवर्मा का कर्तृत्व बहुत अधिक है।

जावा में संस्कृत भाषा में लिखे हुए अनेक शिलालेख उपलब्ध हुए हैं। इनमें से चार लेख पाँचवीं सदी के मध्य भाग के हैं, जिन्हें राजा पूर्णवर्मा ने उत्कीर्ण कराया था। पूर्णवर्मा की राजधानी तारुमा थी, जो वर्तमान जाकर्ता के समीप ही स्थित थी। इन लेखों से यह भी सूचित होता है, कि पूर्णवर्मा के पूर्वज राजाधिराज ने चन्द्रभागा नामक नहर खुदवाकर उसे समुद्र तक पहुँचवाया था। पूर्णवर्मा ने स्वयं भी गोमती नाम की एक नहर खुदवाई थी।

शैलेन्द्र वंश—सातवी सदी मे श्रीविजय (सुमात्रा मे) के प्रतापी शैलेन्द्रवंशी राजाओं ने जावा को जीतकर अपने साम्राज्य के अन्तर्गत कर लिया। शैलेन्द्र वंश के राजा बड़े महत्वाकांक्षी और प्रतापी थे। उन्होंने न केवल जावा को अपने अधीन किया, अपितु मलाया, कम्बोडिया और दक्षिणी बर्मा को भी जीत लिया। सातवी सदी से बारहवी सदी तक शैलेन्द्र वंश के राजा दक्षिण-पूर्वी एशिया के बहुत-से प्रदेशों और द्वीपों का शासन करते रहे। इन राजाओं के शिलालेख न केवल सुमात्रा मे अपितु जावा आदि अन्य द्वीपो मे भी अच्छी बड़ी संख्या मे उपलब्ध हुए है। ये सब लेख संस्कृत में हैं, और इनसे शैलेन्द्र राजाओ के वैभव और शक्ति का सुचारु रूप से परिचय प्राप्त होता है। ये राजा बौद्ध-धर्म के अनुयायी थे, और उनके संरक्षण के कारण दक्षिण-पूर्वी एशिया मे बौद्ध-धर्म का बहुत अधिक उत्कर्ष हुआ। उन्होंने इस क्षेत्र में बहुत-से बौद्ध विहार व चैत्यों का भी निर्माण कराया। शैलेन्द्र वंश की दक्षिण-पूर्वी एशिया के प्राचीन इतिहास में वही स्थिति है, जो कि भारत के इतिहास मे गुप्तवंश की थी। इन राजाओं ने न केवल इण्डोनेशिया के प्रायः सब द्वीपो को अपितु इण्डोचायना के बड़े भाग, मलाया और दक्षिणी बर्मा को भी जीतकर अपने साम्राज्य मे सम्मिलित किया। भारत के साथ भी इन शैलेन्द्र राजाओं का घनिष्ठ सम्बन्ध था। यही कारण है, कि जहाँ इन राजाओं के उत्कीर्ण लेख जावा, सुमात्रा, मलाया आदि मे उपलब्ध होते हैं, वहाँ भारत मे भी इनके साथ सम्बन्ध रखने वाले कुछ लेख मिले हैं। चीनी और अरब लेखको ने भी इनके विषय मे बहुत कुछ लिखा है। अरब लेखक इब्न रोस्ता (९०३ ई० प०) ने लिखा था, कि "जावक (जावा) का महान् शासक महाराज कहलाता है। वह भारत के राजाओं में सबसे बड़ा इसलिए नही माना जाता, क्योंकि वह द्वीपों का स्वामी है। उस जैसा धनी

एवं शक्तिशाली दूसरा कोई राजा नही है, और न किसी की उतनी बड़ी आमदनी ही है।" भारत में नालन्दा की खुदाई से एक ताम्रपत्र मिला है, जिसमें श्रीविजय के शैलेन्द्र राजा का वर्णन है। इस ताम्रपत्र में यह उल्लेख किया गया है, कि शैलेन्द्रवंशतिलक यवभूमिपाल महाराज श्री बालपुत्रदेव ने नालन्दा मे एक विहार का निर्माण कराया, और उसके लिए राजा देवपाल से कहकर राजगृह विषय (जिले) के नन्दिवनक, मणिवाटक, नाटिकाग्राम तथा हस्तिग्राम और गया विषय (जिले) के पामालक गाँव का दान किया। पालवंशी भारतीय राजाओ के समान श्रीविजय के शैलेन्द्र राजा भी नालन्दा के महाविहार के सरक्षक थे, यह इस ताम्रपत्र से सूचित होता है।

शैलेन्द्र वश के राजाओं की कीर्ति और प्रताप के स्मारकरूप अनेक स्तूप व विहार अब तक भी दक्षिण-पूर्वी एशिया के विविध प्रदेशों मे विद्यमान है। उनका सबसे पुराना अवशेष कलसन-मंदिर है, जो आठवी सदी मे बना था। इसे शैलेन्द्र राजा पर्णकरण ने ७७८ ई० मे बनवाया था, और कलसगाँव नाम के एक ग्राम के साथ उसे भिक्षुसंघ को दान किया था। यह मन्दिर बृहत्तर भारत की वास्तु-कला का एक उत्कृष्ट उदाहरण है। पर शैलेन्द्रयुग की सबसे महत्त्वपूर्ण कृति बरोबदूर का महाचैत्य है, जो साँची के स्तूप के समान एक पहाडी पर स्थित है। जावा मे विद्यमान यह विशाल स्तूप चारो ओर एक के ऊपर एक सीढीनुमा नौ चक्करो से मिलकर बना है, जिनमें ऊपर की ओर का प्रत्येक चक्कर अपने से नीचे वाले चक्कर से थोडा भीतर की ओर सिमटा हुआ है। सबसे ऊपर के चक्कर के ऊपर घटाकार चैत्य है। सबसे नीचे के चक्कर की लम्बाई १३१ गज है, और सबसे ऊपर के चक्कर की ३० गज। अंगकोरथोम के मन्दिर के समान बरोबदूर का यह चैत्य भी वस्तुत. एक अद्भुत और विशाल इमारत है, जो दर्शको को आश्चर्य में डालदेती है। इस चैत्य के विविध गलियारो मे सब मिलाकर १५०० चित्रावलियाँ चित्रित हैं, जिनका सम्बन्ध बौद्ध कथाओं के साथ है।

बाली द्वीप--जावा के पूर्व मे बाली नाम का छोटा-सा द्वीप है, जिसकी जनसख्या दस लाख के लगभग है। इन्डोनेशिया के अन्य द्वीपो से तो इस समय हिन्दू-धर्म का लोप हो चुका है, पर बाली मे वह अब तक भी जीवित रूप में विद्यमान है। चीनी अनुश्रुति द्वारा ज्ञात होता है, कि छठी सदी ईस्वी मे बाली द्वीप मे भारतीयो का निवास था, और वहाँ के राजवश का नाम कौण्डिन्य था। ५१८ ई० प० मे बाली के भारतीय राजा ने अपना एक राजदूत चीन के सम्राट् की सेवा मे भी भेजा था। इण्डोनेशिया के अन्य द्वीपो के समान बाली से भी संस्कृत भाषा मे लिखे हुए अनेक शिलालेख उपलब्ध हुए है।

बोर्नियो—इण्डोनेशिया के द्वीपो मे बोर्नियो सबसे बडा है। इस द्वीप के सबसे पुराने उत्कीर्ण लेख महकम नदी के तट पर उपलब्ध हुए हैं, जिनसे सूचित होता है कि प्राचीन समय मे वहाँ भी भारतीयो का उपनिवेश विद्यमान था। ४०० ईस्वी मे लगभग के चार शिलालेख इस द्वीप से मिले हैं, जिनमे राजा अश्ववर्मा के पुत्र मूलवर्मा के दान-पुण्य और यज्ञों का वर्णन है। संस्कृत भाषा के ये लेख जिन स्तम्भो पर उत्कीर्ण हैं, वे राजा मूल वर्मा के यज्ञो मे यूप के तौर पर प्रयुक्त होने के लिए बनाए गए थे। इन यज्ञों के अवसर पर वप्रकेश्वर तीर्थ में बीस हजार गौएँ और बहुत-सा धन दान दिया गया था।

पूर्वी बोर्नियो में भी बहुत-से ऐसे ध्वंसावशेष मिले हैं, जो इस द्वीप में हिन्दू संस्कृति की सत्ता के अकाट्य प्रमाण हैं। इनमें कोम्बेङ की गुफा सबसे महत्त्वपूर्ण है। यह गुफा तेलेन नदी की ऊपरी धारा के पूर्व में स्थित है। गुफा मे दो कोठरियाँ हैं। पिछली कोठरी में बलुए पत्थर से बनी हुई बारह मूर्तियाँ हैं, जो शिव, गणेश, नन्दी, अगस्त्य, नन्दीश्वर, ब्रह्मा, स्कन्द और महाकाल की हैं।

फिलिप्पीन और सेलेबीज द्वीपो में ऐसी मूर्तियाँ मिली हैं, जो इन सुदूरवर्ती द्वीपों में भी भारतीय संस्कृति और धर्म के प्रचार का प्रमाण उपस्थित करती है।

दक्षिण-पूर्वी एशिया में बृहत्तर भारत के विकास का अनुशीलन करते हुए हमें यह दृष्टि मे रखना चाहिए, कि सुदूर पूर्व के इन उपनिवेशो की स्थापना किसी राजा या सम्राट् की कृति नही थी। जिस प्रवृत्ति से आर्य लोग भारत में दूर-दूर तक बसे थे, उसी से वे बंगाल की खाडी को पार कर इन प्रदेशों में भी आबाद हुए थे। प्राचीन समय मे आर्यों मे उत्कट जीवनी शक्ति थी, और वे विघ्न-बाधाओं की परवाह न करते हुए दूर-दूर तक जाकर बसने मे तत्पर रहते थे। राजकुमारों और योद्धाओ की महत्त्वाकाँक्षाएँ, व्यापारियों की धनलिप्सा और मुनियों व भिक्षुओं की धर्मसाधना—इन सब प्रवृत्तियो से मिलकर भारत के इन उपनिवेशों को जन्म दिया था। भारत के साथ इनका बहुत निकट का सम्बन्ध था। धर्म-प्रचारक और व्यापारी इनमे निरंतर आते-जाते रहते थे। समुद्रगुप्त जैसे प्रतापी दिग्विजयी सम्राट् इन उपनिवेशों को भी अपने चातुरंत साम्राज्य मे सम्मिलित करने के लिए प्रयत्न करते थे। वस्तुत., ये उपनिवेश भारत के ही अग थे। यह बात बडे महत्त्व की है, कि सुदूर-पूर्व का यह सारा एशिया इस युग मे भारतीय धर्म और सभ्यता का अनुयायी था। वहाँ अपना पैर जमाकर भारतीय लोग चीन के विशाल भूखंड में अपने धर्म और व्यापार का प्रसार करने में लगे थे, और इस प्रकार एशिया का बहुत बडा भाग इस युग मे भारतीय जीवन और संस्कृति से अनुप्राणित हो रहा था।

(३) उत्तर-पश्चिम का बृहत्तर भारत

उत्तर-पश्चिमी भारत के गांधार और कम्बोज बौद्ध-काल के सोलह महाजनपदो में सम्मिलित थे। कम्बोज का अभिप्राय हिन्दूकुश पर्वत से परे पामीर के पार्वत्य प्रदेश और बदख्शा से है। प्राचीन समय मे गान्धार और कम्बोज भारत के ही अंग थे। पर प्राचीन समय मे भारतीयो ने गान्धार और कम्बोज से भी परे बाल्हीक (बल्ख) से आगे बढकर अपनी सस्कृति और धर्म का विस्तार किया, और इस प्रकार बृहत्तर भारत के एक नये क्षेत्र का निर्माण किया। इस प्रक्रिया का प्रारम्भ मौर्य काल मे हुआ था। सम्राट् अशोक की धर्मविजय की नीति के कारण खोतन तथा उसके समीपवर्ती प्रदेशो मे किस प्रकार भारतीय उपनिवेशों का सूत्रपात हुआ, और कैसे वहाँ बौद्ध-धर्म का प्रचार हुआ, इस पर हम पहले प्रकाश डाल चुके है। अशोक के समय मे जिस प्रक्रिया का प्रारम्भ हुआ था, वह गुप्त-काल में पूर्ण विकास को प्राप्त हुई। इस सारे प्रदेश मे अनेक भारतीय उपनिवेशों का विस्तार हुआ, जिनमें भारतीय लोग बड़ी संख्या मे जाकर

आबाद हुए। मूल निवासियों के साथ विवाह करके उन्होने एक नयी संकर जाति का विकास किया, जो धर्म सभ्यता, भाषा और संस्कृति में भारतीय ही थी।

इस क्षेत्र के राज्य—इस उत्तर-पश्चिमी बृहत्तर भारत मे निम्नलिखित राज्य सम्मिलित थे—(१) शैलदेश (काशगर), (२) चोक्कुक (यारकंद), (३) खोतन्न (खोतन), (४) चल्मद (शान शान), (५) भरुक (पौलुकिया), (६) कुची (कुचर), (७), अग्निदेश (करासहर) और (८) कोचाग (तुर्फान)। इन आठ राज्यों मे खोतन और कुची सबसे मुख्य थे, और इनके भी परे के चीन व अन्य राज्यों मे भारतीय धर्म व संस्कृति के प्रसार मे इन्होने बड़ा महत्त्वपूर्ण कार्य किया था।

चोक्कुक, खोतन्न, शैलदेश और चल्मद मे भारतीयों की आबादी बहुत अधिक थी। कम्बोज और गाधार से इनका व्यापार-सम्बन्ध भी बहुत घनिष्ठ था। व्यापार के कारण ये निरंतर भारत मे आते-जाते रहते थे। यहाँ की भाषा भी प्राकृत थी, जो उत्तर-पश्चिमी भारत की प्राकृत भाषा से बहुत मिलती-जुलती थी। पहले यह भारतीय प्राकृत खरोष्ठी लिपि मे लिखी जाती थी। पर गुप्तकाल मे इन उपनिवेशों मे भी ब्राह्मी लिपि का प्रयोग होने लगा था। ब्राह्मी लिपि के साथ-साथ संस्कृत का भी इन उपनिवेशों मे प्रसार हुआ। चौथी सदी के अन्त मे जब प्रसिद्ध चीनी यात्री फाइयान इस क्षेत्र मे आया, तो यहाँ का वर्णन करते हुए उसने लिखा है, कि इन प्रदेशों के निवासी धर्म और संस्कृति की दृष्टि से भारतीयो के समीप है। भिक्षु लोग सब संस्कृत पढते हैं, और बौद्ध-धर्म की भारतीय पुस्तको का अध्ययन करते हैं। यही कारण है, कि इस समय बहुत-से प्राचीन सस्कृत ग्रन्थ इस प्रदेश से प्राप्त हुए है। अनेक ग्रन्थ सस्कृत के साथ-साथ वहाँ की पुरानी स्थानीय भाषाओं मे भी हैं। इन प्रदेशो की अपनी भाषाओ का परिचय पहले-पहल इन्ही ग्रन्थो मे मिलता है।

खोतन—गुप्त-काल मे खोतन किस प्रकार भारतीय धर्म और संस्कृति का महत्त्व-पूर्ण केन्द्र था, यह बात हमे प्राचीन अनुश्रुति व पुरातत्त्व-सम्बन्धी अवशेषों से ज्ञात होती है। खोतन में बौद्ध-धर्म की दशा का वर्णन फाइयान ने इस प्रकार किया है—"यहाँ के निवासी बौद्ध-धर्म के अनुयायी हैं। भिक्षुओं की संख्या हजारों में है। अधिकाश भिक्षु महायान सम्प्रदाय के अनुयायी है। प्रत्येक घर के सामने बौद्ध-स्तूप बनाए गए हैं। इनमें से कोई भी ऊँचाई मे बीस फीट से कम नही हैं।" फाइयान के समय मे खोतन मे चौदह बडे बौद्ध विहार थे। उनके अतिरिक्त छोटे-छोटे विहार और भी बहुत-से थे। खोतन के ये विहार शिक्षा के बड़े महत्त्वपूर्ण केन्द्र थे। संस्कृत के बहुत-से बौद्ध ग्रन्थ इनमें संगृहीत रहते थे। अनेक महत्त्व के ग्रन्थ जो अन्यत्र नही मिल सकते थे, खोतन मे प्राप्त हो जाते थे। यही कारण है, कि धर्मक्षेत्र नाम का बौद्ध विद्वान् जो इस समय चीन में प्रचार कर रहा था, ४३३ ईस्वी मे महापरिनिर्वाण-सूत्र की खोज मे खोतन आया था।

खोतन मे कई स्थानो पर प्राचीन बौद्ध-काल के अवशेष मिले हैं। इसमे योत्कन, रावक, दण्डन-उलिक और नीया मुख्य हैं। इन सब स्थानों पर जो खुदाई पिछले वर्षों मे हुई है, उससे बौद्धविहारो और चैत्यो के बहुत-से खण्डहर, मूर्तियाँ और प्रतिमाओं के अवशेष तथा बहुत-से हस्तलिखित ग्रन्थ व चित्र उपलब्ध हुए हैं। खोतन मे आठवीं सदी

के अन्त तक भारतीय संस्कृति और धर्म का खूब प्रचार रहा। बाद में इस्लाम में प्रवेश ने इस भारतीय उपनिवेश के स्वरूप को ही बिल्कुल बदल दिया।

खोतन में न केवल बौद्ध-युग के अवशेष मिले है, अपितु बहुत-से लेख भी प्राप्त हुए हैं। इनमे मासी मजार (खोतन नगर से १३ मील दूर), नीया और लोन् लन् में प्राप्त हुए लेख महत्त्वपूर्ण हैं। ये लेख खरोष्ठी लिपि में है, और काष्ठ-पट्टिकाओं पर लिखे गए हैं। पट्टिकाओं की लम्बाई ७ से १५ इंच तक और चौड़ाई १ से २½ इच तक है। कुछ पट्टिकाएँ चौकोर भी है। इनको पत्र के रूप मे भेजते हुए लिफाफे की तरह दूसरी काष्ठ-पट्टिकाओ से ढककर मुहर लगा दी जाती थी। लिफाफे का काम करने वाली पट्टिकाओं पर एक तरफ पानेवाले का नाम और दूसरी तरफ पत्र दूत का नाम रहता था। खरोष्ठी लिपि मे लिखे हुए कुछ पत्र ऐसे भी मिले हैं, जो चमड़े पर लिखे गए हैं। नीया से मिले इन चर्मपत्रों की लम्बाई ६ से १२ इच तक है, और चौडाई २ से ६ इच तक। ये सब पत्र प्राय: राजकीय लिखा-पढ़ी से सम्बन्ध रखते है, और इनकी भाषा धम्मपद की प्राकृत भाषा से मिलती-जुलती है। खोतन मे प्राप्त इन लेखों का समय दूसरी और तीसरी सदी ई० पू० के लगभग का माना जाता है।

कुची या कूचा—खोतन की तरह कुची का राज्य भी भारतीय संस्कृति का केन्द्र था। पुराणो मे सम्भवत. इसी को कुशद्वीप कहा गया है। वराहमिहिर ने बृहत्संहिता मे शक, पल्हव आदि के साथ कुशिक जाति का भी उल्लेख किया है, जो कुची के निवासियो को ही सूचित करती है। कुची या कूचा का यह राज्य उत्तरी तरिम-उपत्यका मे स्थित था। यहाँ के निवासियों मे भी भारतीयों की सख्या बहुत थी। चौथी सदी के शुरू तक यह सारा प्रदेश बौद्ध-धर्म का अनुयायी हो चुका था, और प्राचीन चीनी अनुश्रुति के अनुसार इसमे बौद्ध विहारो और चैत्यो की संख्या दस हजार तक पहुँच गई थी। चीन के प्राचीन इतिवृत्त के अनुसार कुची के राज्य में बहुत-से विहार थे, जो बहुत ही सुन्दर और विशाल बने हुए थे। राजप्रासाद में भी बुद्ध की मूर्तियों की उसी तरह प्रचुरता थी, जैसे किसी विहार मे होती है। तामू के विहार मे १७० भिक्षु रहते थे। पर्वत के ऊपर बने हुए चेली के विहार मे ५० भिक्षुओं का निवास था। राजा ने जो नया विहार बनवाया, उसे किएन मू कहते थे, और उसमे ६० भिक्षु रहते थे। वेनसू के राजकीय विहार मे भिक्षुओं की सख्या ६० थी। ये चारो विहार बुद्धस्वामी नाम के आचार्य द्वारा संचालित हो रहे थे। कोई भिक्षु एक स्थान पर तीन महीने से अधिक समय तक नही रह पाता था। बुद्धस्वामी के निरीक्षण मे तीन अन्य विहार थे, जिनमे क्रमशः १८०, ५० और ३० भिक्षु रहते थे। इनमें से एक विहार मे केवल भिक्षुणियाँ ही रहती थी। ये भिक्षुणियाँ प्रायः राजघरानों की थी। पामीर के प्रदेश मे जो विविध भारतीय उपनिवेश थे, उन्ही के राजकुलो की कुमारियाँ भिक्षुव्रत लेकर इन विहारो में रहती थी, और बौद्ध-धर्म का बडी तत्परता के साथ पालन करती थी।

कुची के राजाओ के नाम भी भारतीय थे। वहाँ के कुछ राजाओं के नाम स्वर्ण-देव, हरदेव, सुवर्णपुष्प और हरिपुष्प है, जो इस राज्य के भारतीय संस्कृति से प्रभावित होने के स्पष्ट प्रमाण है। कुची मे जो खुदाई पिछले दिनों मे हुई है, उसमें विहारों और

चैत्यों के बहुत-से अवशेष मिले है। इसमे सन्देह नही, कि खोतन के समान कुची भी भारत का एक समृद्ध तथा वैभवशाली उपनिवेश था।

इस प्रसंग मे आचार्य कुमारजीव का उल्लेख करना बहुत आवश्यक है। उसके पिता का नाम कुमारायन था। वह भारत के एक राजकुल मे उत्पन्न हुआ था, पर अन्य अनेक राजकुमारो की तरह वह भी युवावस्था मे ही बौद्ध भिक्षु बन गया था। भिक्षु होकर वह कुची गया। वहाँ के राजा ने उसका बड़े समारोह से स्वागत किया और उसकी विद्या तथा ज्ञान से प्रभावित होकर उसे राजगुरु के पद पर नियुक्त किया। पर कुमारायन देर तक भिक्षु नही रह सका। कुची के राजा की बहन जीवा उसपर मोहित हो गयी, और अन्त मे उन दोनो ने विवाह कर लिया। इनके दो संतानें हुई, कुमारजीव और पुष्यदेव। जब कुमारजीव की आयु केवल सात वर्ष की थी, तो उसकी माता जीवा भिक्षुणी हो गयी और अपने योग्य तथा होनहार पुत्र को लेकर भारत आयी। भारत आने पर उसका उद्देश्य यह था, कि कुमारजीव को बौद्ध-धर्म की ऊँची से ऊँची शिक्षा दी जाए। अनेक प्रदेशो का भ्रमण करने के बाद जीवा काश्मीर गई। वहाँ उन दिनों बन्धुदत्त नाम का बौद्ध आचार्य बडा प्रसिद्ध था। वह काश्मीर के राजा का भाई था, और अपने पाडित्य के लिए उसका नाम दूर-दूर तक फैला हुआ था। बन्धुदत्त के चरणो मे बैठकर कुमारजीव ने बौद्ध आगम को पढा, और धीरे-धीरे वह एक प्रकाण्ड पण्डित हो गया। काश्मीर मे विद्याग्रहण करने के बाद कुमारजीव शैलदेश (काशगर) गया, और वहाँ उसने चारो वेदो, वेदांगो, दर्शन और ज्योतिष आदि का अध्ययन किया। उस समय शैलदेश प्राचीन वैदिक धर्म का बहुत बडा केन्द्र था। इसीलिए कुमारजीव ने वैदिक साहित्य का वहाँ जाकर अध्ययन किया था। शैलदेश से वह चोक्कुक (यारकद) गया, और वहाँ उसने नागार्जुन, आर्यदेव आदि सिद्ध आचार्यों के ग्रथो का अनुशीलन किया। उसके बाद उसने चोक्कुक मे ही महायान सम्प्रदाय की दीक्षा ग्रहण की। इस प्रकार बौद्ध और वैदिक साहित्य का पूर्ण पण्डित होकर वह कुची वापस लौटा, और अपनी मातृभूमि मे उसने अध्यापन का कार्य शुरू किया। उसकी विद्वत्ता की कीर्ति सुनकर दूर-दूर के विद्यार्थी उसके पास शिक्षा ग्रहण करने के लिए आने लगे, और थोडे ही समय मे कुची विद्या का एक महत्त्वपूर्ण केन्द्र बन गया।

पर कुमारजीव देर तक कुची मे नही रह सका। ३८३ ईस्वी के लगभग कुची पर चीन ने आक्रमण किया। चीन की प्रबल शक्ति का मुकाबला कर सकना कुची जैसे छोटे-से राज्य के लिए सम्भव नही था। फिर भी वहाँ के राजा ने वीरता के साथ युद्ध किया, पर अन्त मे कुची पर चीन का अधिकार हो गया। जो बहुत-से कैदी कुची से चीन ले जाये गए, उनमे कुमारजीव भी एक था। सूर्य देर तक बादलो मे नही छिपा रह सकता। कुमारजीव की विद्या की ख्याति चीन मे सर्वत्र फैल गयी, और वहाँ के सम्राट् ने उसे अपने राजदरबार में आमंत्रित किया। ४०१ ई० मे कुमारजीव चीन की राजधानी में पहुँचा। वहाँ उसका बडा सत्कार हुआ। वह सस्कृत और चीनी का अनुपम विद्वान् था। शास्त्रो मे उसकी अप्रतिहत गति थी। अत उसे यह कार्य सुपुर्द किया गया, कि वह संस्कृत के प्रामाणिक बौद्ध ग्रन्थों का चीनी भाषा मे अनुवाद करे। इस कार्य में उसकी सहायता के लिए अन्य बहुत-से विद्वान् नियत कर दिये गए। दस

वर्ष के लगभग समय मे उसने १०६ संस्कृत ग्रंथो का चीनी भाषा में अनुवाद किया। महायान सम्प्रदाय का चीन मे प्रसार कुमारजीव द्वारा ही हुआ। उसके पाण्डित्य की कीर्ति सारे चीन मे फैली हुई थी। उससे शिक्षा ग्रहण करने के लिए दूर-दूर से चीनी विद्यार्थी और भिक्षु उसकी सेवा में पहुँचते थे।

अपने कार्य मे सहायता के लिए कुमारजीव ने बहुत-से विद्वानो को भारत से चीन बुलाया। वह भारत मे शिक्षा ग्रहण कर चुका था। काश्मीर के बौद्ध पण्डितों से उसका घनिष्ठ परिचय था। उसके अनुरोध से जो भारतीय विद्वान् चीन गये, उनमे पुण्यत्रात, बुद्धयश, गौतम संघदेव, धर्मयश, गुणवर्मन्, गुणभद्र और बुद्धवर्मन् के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। चीन मे जो बौद्ध-धर्म का प्रसार हुआ, उसमे ये सब कुमारजीव के सहयोगी थे। चीन मे इन विद्वानो का बड़ा ऊँचा स्थान है। ये सब वहाँ धर्मगुरु और धर्माचार्य के रूप मे माने जाते है। इन्ही के साहस, पाण्डित्य और लगन का यह परिणाम हुआ, कि धीरे-धीरे सारा चीन बौद्ध-धर्म का अनुयायी हो गया। आज चीन मे जो सैकडो बौद्ध ग्रन्थ उपलब्ध होते है, यह इन्ही विद्वानो की कृति का परिणाम है। इन ग्रन्थो मे बहुत-से अब अपने संस्कृत के मूलरूप मे नही मिलते, पर चीनी अनुवाद के रूप मे वे अब भी चीन मे विद्यमान है। अब उनका फिर से संस्कृत रूपान्तर किया जा रहा है।

तुर्फान—कुची या कूचा के पूर्व मे तुर्फान नाम का मरु देश है, जिसमे बहुत-से प्राचीन नगरो के ध्वंसावशेष पाये जाते है। इस मरुभूमि मे भी संस्कृत, चीनी, ईरानी और तुर्की भाषाओ के बहुत-से हस्तलेख उपलब्ध हुए है। पाँचवी सदी ईस्वी तक इस देश मे बौद्ध-धर्म का भली-भाँति प्रचार हो गया था, और वहाँ के राजा चाउ (मृत्युकाल ४८० ई० प०) ने मैत्रेय का मन्दिर बनवाकर एक लम्बा अभिलेख उसकी स्थापना की स्मृति मे उत्कीर्ण कराया था। इस प्रदेश से भी बौद्धमूर्तियो और विहारों के भग्नावशेष मिले है।

काशगर—राजा कनिष्क के साम्राज्य में खोतन के समान काशगर का प्रदेश भी सम्मिलित था। सम्भवत., उसी समय मे वहाँ बौद्ध-धर्म का प्रचार हुआ। ४०० ईस्वी के लगभग जब चीनी यात्री फाहियान काशगर आया था, तो वहाँ पंचवार्षिक महोत्सव मनाया जा रहा था, जिसमे भगवान् बुद्ध की अस्थि (धातु या शरीर) के दर्शन किये जाते थे। काशगर मे उस समय एक बौद्ध विहार था, जिसमे १००० भिक्षु निवास करते थे। ये भिक्षु महायान सम्प्रदाय के अनुयायी थे। ४६० ईस्वी मे काशगर के राजा ने चीन के दरबार मे बुद्ध के चीवर को भेजा था।

प्राचीन ऐतिहासिक निधियाँ—उत्तर-पश्चिमी बृहत्तर भारत के वृत्तान्त के प्रसंग मे उन ऐतिहासिक निधियो का जिक्र करना उपयोगी है, जो इस क्षेत्र के विविध प्रदेशों में उपलब्ध हुई हैं। गत वर्षों मे रूस, फ्रांस, जर्मनी, ब्रिटेन आदि पाश्चात्य देशो के पुरातत्त्ववेत्ताओ को इस क्षेत्र मे अनेक स्थानो पर ऐसे अवशेष प्राप्त हुए है, जिनसे इसके प्राचीन इतिहास के विषय मे अत्यन्त महत्त्वपूर्ण सामग्री हाथ लग गयी है। कुची से पूर्व की ओर करासहर, तूर्फान आदि के परे चीन की सीमा के पास तुङ्ह्वा नामक स्थान है। इसके दक्षिण-पश्चिम में नंगे पहाडों की पंक्तियाँ हैं, जो खोदकर

बनाई गयी फाओ के कारण मधुछत्र-सी प्रतीत होती हैं। इन्हें सहस्र-बुद्ध-गुहा।विहार कहते है। तुङ्-ह्वा की गुफाएँ चौथी सदी ईस्वी मे बननी शुरू हुई, और छठी सदी तक बनती रही। सहस्र-बुद्ध-गुहा-विहार की ये गुफाएँ तुङ्-ह्वा से नौ मील हैं, और एक हजार गज से भी अधिक दूरी तक फैली हुई है। इन गुफाओ की भित्तियों पर बहुत-से चित्र हैं, और उनमें बहुत-सी सुन्दर मूर्तियाँ भी विद्यमान हैं। भारत की अजन्ता-गुफाओ मे जिस ढंग के चित्र है, वैसे ही इनमे भी है। भेद यह है, कि सहस्र-बुद्धगुहाओं के चित्र अधिक सुरक्षित दशा मे है। तुङ्-ह्वा के समीप के ये गुहाचित्र भारतीय कला, गान्धार कला और चीनी कला के सम्मिश्रण के परिणाम है। अनेक चित्रो में ग्रीक, ईरानी और नैपाली शैली का प्रभाव भी दृष्टिगोचर होता है। चित्र दो प्रकार के हैं, बोधिसत्वों, अर्हतों और देवताओं के, और सांसारिक जीवन के साथ सम्बन्ध रखनेवाले। इन गुहाओ की मूर्तियाँ प्रधानतया बौद्ध-धर्म के महायान सम्प्रदाय के साथ सम्बन्ध रखती हैं।

तुङ्-ह्वा की गुहाओ मे केवल चित्र और मूर्तियाँ ही उपलब्ध नही हुईं, अपितु वहाँ पुस्तको का एक बहुत बड़ा भण्डार भी प्राप्त हुआ है। सहस्र-बुद्ध-गुहा-विहार की एक गुहा को खोदते हुए अकस्मात् एक छोटी गुफा निकल आई, जो हस्तलिखित पुस्तकों से भरी हुई थी। ये पुस्तके चीनी, तिब्बती, उइगुर और संस्कृत भाषाओ में लिखी हुई है। इनमें बहुत-सी पुस्तको मे ब्राह्मी और खरोष्ठी लिपियों का प्रयोग किया गया है। तुङ्-ह्वा के समीप की गुफाओ मे जो पुस्तक-भण्डार मिला है, उसकी पुस्तक-संख्या हजारो मे है। अभी इसकी सूची पूर्ण रूप से नही बन सकी है। पर फ्रास, ब्रिटेन आदि के विद्वान् इन पुस्तको को अपने देशो मे ले गये है।

तुङ्-ह्वा के समान कूचा, कासगर और लोलन आदि मध्य एशिया के अन्य स्थानो से भी प्राचीन पुस्तके प्राप्त हुई है, और इस प्रदेश के ये पुस्तक-भण्डार मध्य-एशिया मे भारतीय धर्म, भाषा और सस्कृति के प्रचार के ठोस प्रमाण है।

तुङ्-ह्वा की गुफाओ का बडा भाग चौथी सदी से छठी सदी तक बना था। पर बाद मे भी इन गुफाओं का निर्माण होता रहा। चौदहवी सदी तक अनेक श्रद्धालु राजा और सम्पन्न पुरुष यहाँ विहारो, मूर्तियो और चैत्यों के निमित्त गुहाओ का निर्माण कराते रहे। आठवी से चौदहवी सदी तक के भी बहुत-से उत्कीर्ण लेख इस स्थान से मिले है, जिनमे सहस्र-बुद्ध-गुहाविहार के लिए दान, नवनिर्माण और पुनर्निर्माण का उल्लेख है।

(४) हूणों का भारतीय बनना

गुप्त-काल मे भारतीय धर्मों मे अद्वितीय जीवनी शक्ति थी। न केवल बौद्ध अपितु जैन, शैव, वैष्णव आदि अन्य भारतीय धर्मों मे भी उस समय यह शक्ति विद्यमान थी, कि वे विदेशी जातियो को अपने धर्म मे दीक्षित कर उन्हें भारतीय समाज का अंग बना सके। यवन, शक और कुशाण लोग किस प्रकार भारत मे आकर भारतीय बन गये, यह हम पहले प्रदर्शित कर चुके है।

गुप्तकाल मे जो हूण भारत में आक्रांता के रूप में प्रविष्ट हुए, उन्होंने शुरू में बड़ी बर्बरता प्रदर्शित की, पर बाद मे वे भी पूर्णतया भारतीय समाज के अंग बन गये। हूण-राजा मिहिरगुल ने शैव-धर्म को स्वीकार कर लिया था। एक शिलालेख मे लिखा है, कि स्थाणु शिव के अतिरिक्त किसी के सम्मुख वह सिर नही झुकाता था। उसके जो सिक्के मिले है, उनपर त्रिशूल और नन्दी के चिह्न अंकित है, और 'जयतु वृषः' यह उत्कीर्ण किया गया है।

उस युग के भारत की इस प्रवृत्ति को पुराणों मे बडे सुन्दर रूप मे वर्णित किया गया है। शक, यवन, हूण आदि जातियों को गिनाकर पुराणकार ने भक्ति के आवेश मे आकर कहा है, कि ये और अन्य जो भी पापयोनि जातियाँ है, वे सब जिस विष्णु के सम्पर्क मे आकर शुद्ध हो जाती हैं, उस प्रभुविष्णु विष्णु को नमस्कार हो। भगवान् विष्णु की यह पतितपावनी शक्ति भारत मे गुप्त-काल मे कायम थी। मुसलिम धर्म के भारत-प्रवेश के बाद यह शक्ति नष्ट हो गयी, और उस समय के भारतीय अरब और तुर्क आक्राताओ को अपने मे नही मिला सके।

पौराणिक और बौद्ध धर्मों को स्वीकार कर हूण लोग भारतीय समाज के ही अंग बन गए। इस समय यह बता सकना बहुत कठिन है, कि शक, यवन, युइशि और हूण आक्राताओ के वर्तमान प्रतिनिधि कौन लोग है। ये सब जातियाँ बहुत बडी संख्या मे भारत मे प्रविष्ट हुई थी। पर इनके उत्तराधिकारियों की हिन्दू-समाज में कोई पृथक् सत्ता नही है। वस्तुतः, ये हिन्दू समाज मे बिलकुल ही घुल-मिल गयी, और हिन्दुओ की विविध जातियो में गिनी जाने लगी। जहाँ भारत की वर्तमान अनेक जातियाँ पुराने गणराज्यों की प्रतिनिधि है, वहाँ अनेक इन म्लेच्छ आक्राताओं का भी प्रतिनिधित्व करती है। पर इस समय वे क्षत्रियो के अन्तर्गत है, और उनमे पाप या पापयोनिपन कुछ भी शेष नही है।

इस अध्याय को समाप्त करने से पूर्व एक बात और लिखनी आवश्यक है। जहाँ भारतीयो ने सुदूर पूर्व मे और पामीर के उत्तर-पश्चिम मे अपनी बस्तियाँ बसाई थी, वहाँ प्राचीन सीरिया और मैसोपोटामिया मे भी उनके छोटे-छोटे उपनिवेश विद्यमान थे। यूफ्रेटस नदी के तट पर उनके दो बडे मन्दिर थे, जिन्हे सेण्ट ग्रेगरी के नेतृत्व मे ईसाइयों ने नष्ट किया था। वह घटना ३०४ ईस्वी की है। जब ईसाइयो ने अपने धर्मप्रसार के जोश मे इन मन्दिरों पर आक्रमण किया, तो भारतीय लोग बडी वीरता के साथ उनसे लडे। पर ईसाई उनकी अपेक्षा बहुत अधिक सख्या मे थे। भारतीयो को उनसे परास्त होना पडा। मैसोपोटामिया के ये प्राचीन भारतीय मन्दिर नष्ट कर दिये गये, और इस प्रदेश की भारतीय बस्ती भी बहुत कुछ छिन्न-भिन्न हो गयी। पर गुप्त-काल में भारतीयों ने इतनी दूर पश्चिम मे भी अपनी बस्तियाँ कायम की थी, यह एक ऐतिहासिक तथ्य है।

अठाईसवाँ अध्याय

गुप्त साम्राज्य का क्षय और उत्तरी भारत के विविध राज्य

(१) गुप्त साम्राज्य का क्षय

गुप्तवंशी सम्राट् स्कन्दगुप्त के शासन-काल के अन्तिम भाग मे भारत पर हूणों के आक्रमण शुरू हो गए थे। यद्यपि स्कन्दगुप्त हूणो से भारत की रक्षा करने मे समर्थ हुआ, पर उसके निर्बल उत्तराधिकारी इस बर्बर जाति की बाढ को रोक सकने मे असफल रहे। उन्ही के आक्रमणों से पश्चिमी संसार मे विशाल रोमन साम्राज्य छिन्न-भिन्न हुआ, और भारत मे भी शक्तिशाली गुप्त-साम्राज्य उनके मुकाबले में नही टिक सका। यही कारण है, कि स्कन्दगुप्त के बाद गुप्त-साम्राज्य का ह्रास प्रारम्भ हो गया।

हूणो के आक्रमणो से भारत मे जो अव्यवस्था उत्पन्न हो गयी थी, उससे लाभ उठाकर अनेक माण्डलिक व सामन्त राजा स्वतन्त्र हो गए। प्रतापी गुप्त-सम्राटों ने अपने साम्राज्य का विस्तार करते हुए अन्य राजवशो का मूलोच्छेद नही किया था। बहुत-से राजवश गुप्त-सम्राटों की अधीनता मे अपने-अपने क्षेत्र मे शासन करते रहे थे। गुप्तवंश के निर्बल पडते ही वे स्वतन्त्र हो गए, और उन्होने अपने पृथक् राज्य कायम कर लिए। इतना ही नही, उन्होंने समीप के प्रदेशो को जीतकर अपनी शक्ति का विस्तार भी शुरू किया। पाटलिपुत्र के निर्बल गुप्त-सम्राटो के लिए यह सम्भव नही था, कि इन राजवशो को परास्त कर अपनी अधीनता मे ला सकते। हूणो के आक्रमणो को रोकने की शक्ति भी उनमे नही थी। यही कारण है, कि हूणो की शक्ति का सामना करने की मुख्य उत्तरदायिता उन राजवशों पर आ पड़ी, जिन्होने इस समय स्थाण्वीश्वर (थानेसर), कन्नौज व मालवा मे अपने स्वतन्त्र राज्य स्थापित कर लिए थे। इन राज-वशो के अनेक प्रतापी राजाओ ने हूणो के साथ युद्ध करने मे अनुपम वीरता प्रदर्शित की, और उनके मुकाबले मे अपनी सत्ता को कायम रख सकने मे वे समर्थ रहे। अनेक गुप्तवंशी राजाओ ने भी हूणो के विरुद्ध सघर्ष किया। पर इस कार्य का प्रधान श्रेय कन्नौज, मालवा और स्थाण्वीश्वर के राजवंशो को ही प्राप्त है।

इस समय (पाँचवी सदी के अन्त और छठी सदी के प्रारम्भिक भाग मे) जो अनेक राजवश उत्तरी भारत मे स्वतन्त्र हुए, उनमे मुख्य निम्नलिखित थे—(१) कन्नौज का मौखरि-वश, (२) स्थाण्वीश्वर का वर्धनवंश, और (३) वल्लभी का मैत्रक-वंश।

(२) मौखरि-वंश का अभ्युदय

मौखरि-वंश बहुत प्राचीन था। शुंगकाल में भी इसकी सत्ता के प्रमाण मिलते है। इस वंश का मूल स्थान मगध में था। कदम्ब-वंश के संस्थापक मयूर शर्मा के एक शिलालेख से ज्ञात होता है, कि मौखरि लोगों का मगध के क्षेत्र मे भी राज्य रह चुका था। गुप्तवंश के शक्तिशाली राजा चन्द्रगुप्त प्रथम ने लिच्छवि गण की सहायता से जिस मगध-कुल का उच्छेद कर पाटलिपुत्र पर अधिकार जमाया था, सम्भवतः वह मौखरि-वश का ही था। कौमुदी-महोत्सव नाटक में सुन्दरवर्मा और कल्याणवर्मा नाम के मागध-राजाओं का वर्णन है, जिनके विरुद्ध चण्डसेन कारस्कर ने षड्यन्त्र किया था। सम्भवतः, ये राजा मौखरि-वंश के ही थे। उन्होंने कुशाण-साम्राज्य के पतनकाल की अव्यवस्था से लाभ उठाकर मगध मे अपना स्वतन्त्र राज्य कायम कर लिया था। गुप्तों के उत्कर्ष के कारण ये साधारण सामन्तों की स्थिति मे रह गए। गुप्त-साम्राज्य के अन्तर्गत गया के समीपवर्ती प्रदेश में मौखरियो का शासन था। वे गुप्त-सम्राटों की अधीनता स्वीकार करते थे, और उनके करद सामत थे। इस वंश के तीन राजाओं के नाम बराबर और नागार्जुनी पहाड़ियों के गुहामन्दिरों मे उत्कीर्ण लेखों से ज्ञात होते है। ये राजा यज्ञवर्मा, शार्दूलवर्मा और अनन्तवर्मा थे।

मौखरि-वश की एक अन्य शाखा कन्नौज मे राज्य करती थी। ये भी गुप्त-सम्राटो के सामन्त थे, और सम्भवतः गुप्तों के वैभवकाल मे प्रान्तीय शासक के रूप मे नियुक्त होकर मगध से कन्नौज आए थे। पर जब हूणो के आक्रमणों और यशोधर्मा की विजयो के कारण गुप्त-साम्राज्य निर्बल होने लगा, तो कन्नौज के ये मौखरि-राजा भी स्वतन्त्र हो गए। इस मौखरि-वंश के प्रथम तीन राजा हरिवर्मा, आदित्यवर्मा और ईश्वरवर्मा थे। इनमे से पहले दो राजा गुप्त-सम्राटो के सामन्त थे, और उन्ही की तरफ से कन्नौज का शासन करते थे। इनका गुप्त सम्राटों के साथ वैवाहिक सम्बन्ध भी था। आदित्यवर्मा की पत्नी गुप्तवंश की राजकुमारी थी। उसके पुत्र ईश्वरवर्मा का शासनकाल ५२४ से ५५० ईस्वी तक है। इसी के समय यशोधर्मा ने हूणों का पराभव किया था। हूण राजा के विरुद्ध यशोधर्मा ने जिस विशाल सैनिक शक्ति का संगठन किया था, उसमें मौखरि ईश्वरवर्मा भी सम्मिलित था। एक शिलालेख में मौखरि राजा द्वारा हूणो के पराजय का उल्लेख है। हूणो पर यह विजय ईश्वरवर्मा ने किसी स्वतन्त्र युद्ध मे नहीं प्राप्त की थी। उसने हूणों का मुकाबला करने के कार्य मे यशोधर्मा का साथ दिया था, और निःसन्देह इस गौरवपूर्ण विजय मे उसका भी हाथ था। इस सैनिक विजय के कारण ईश्वरवर्मा का महत्त्व बहुत बढ़ गया, और उसने कन्नौज के अपने राज्य मे बहुत-कुछ स्वतन्त्रता प्राप्त कर ली थी। यशोधर्मा के बाद गुप्त-साम्राज्य मे जो उथल-पुथल मच गई थी, उसका लाभ उठाकर ईश्वरवर्मा सामन्त की जगह स्वतन्त्र महाराज बन गया था।

ईश्वरवर्मा के बाद ईशानवर्मा कन्नौज की राजगद्दी पर बैठा। उसका शासन-काल ५५० से ५७६ ईस्वी तक था। उसने अपनी शक्ति को बढ़ाना प्रारम्भ किया, और महाराजाधिराज की पदवी धारण की। परिणाम यह हुआ, कि गुप्त-सम्राट्

कुमारगुप्त तृतीय के साथ उसके अनेक युद्ध हुए। ईशानवर्मा की एक प्रशस्ति के अनुसार उसने आन्ध्र और गौड देशों को भी विजय किया था, और उत्तरी भारत में उसकी शक्ति बहुत विस्तृत हो गयी थी। पर इसमे सन्देह नही, कि उसके साम्राज्य-विस्तार के कारण गुप्तवंशी राजा कुमारगुप्त तृतीय की सत्ता मगध मे नष्ट नही हो सकी थी।

ईशानवर्मा के बाद सर्ववर्मा कन्नौज का मौखरि राजा बना। यह अपने पिता के समान ही वीर और महत्त्वाकाक्षी था। गुप्तो के साथ उसने निरन्तर युद्ध किए। इस समय गुप्त-साम्राज्य का स्वामी दामोदरगुप्त था। उसे सर्ववर्मा ने परास्त किया। सर्ववर्मा ने अपने साम्राज्य की सीमा को पूर्व मे सोन नदी तक विस्तृत कर लिया। मगध और उसकी राजधानी पाटलिपुत्र अब भी गुप्तों के हाथ में रही, पर उनका साम्राज्य अब बहुत क्षीण हो चुका था। उत्तरी भारत की प्रधान राजनीतिक शक्ति अब गुप्तो के हाथ से निकल कर मौखरिवंश के पास आ गयी थी। सर्ववर्मा के समय में ही मौखरि-वंश सच्चे अर्थों मे अपनी स्वतन्त्र शक्ति को कायम करने मे समर्थ हुआ था।

सर्ववर्मा के बाद अवन्तिवर्मा और फिर ग्रहवर्मा कन्नौज के राजा हुए। ग्रहवर्मा का विवाह स्थाण्वीश्वर (थानेसर) के बैसराजा प्रभाकरवर्धन की पुत्री राज्यश्री के साथ हुआ। विवाह के कुछ ही वर्षों के बाद ग्रहवर्मा की मृत्यु हो गयी, और राज्यश्री कन्नौज के शक्तिशाली साम्राज्य की स्वामिनी बन गयी, और उसके नाम पर शासन का वास्तविक संचालन उसके भाई हर्षवर्धन ने करना शुरू किया। हर्षवर्धन स्थाण्वीश्वर का राजा था, और अपनी बहन की ओर से कन्नौज के शासनसूत्र का भी सचालन करता था। इस प्रकार ये दोनो राज्य मिलकर एक हो गए, और इनकी सम्मिलित शक्ति उत्तरी भारत में सर्वप्रधान हो गयी।

(३) गुप्तवंश के पिछले राजा

सम्राट् बालादित्य द्वितीय ने हूणों को परास्त कर अपनी शक्ति को किस प्रकार कायम रखा, इसपर हम पहले प्रकाश डाल चुके है। बालादित्य ने ५३५ ईस्वी के लगभग तक राज्य किया। उसके समय तक गुप्त-साम्राज्य की शक्ति प्राय. अक्षुण्ण थी। उत्तरी भारत मे बगाल से मथुरा तक उसका शासन था। मौखरि राजा उसके सामन्त थे, और यशोधर्मा की विजयो का कोई स्थिर प्रभाव न होने के कारण वह अपने राज्य को पुराने गुप्त-सम्राटो के समान ही सशक्त रूप से संचालित करने में समर्थ था। उसके बाद कुमारगुप्त तृतीय और दामोदरगुप्त पाटलिपुत्र के राजसिंहासन पर आरूढ हुए। उन्होने ५३५ ईस्वी के बाद लगभग पच्चीस वर्ष तक शासन किया। कुमारगुप्त तृतीय के शासनकाल में कन्नौज का मौखरि महाराज ईशानवर्मा स्वतन्त्र हो गया, और उसने मध्यदेश के बडे भाग से गुप्तो के शासन का अन्त कर अपनी शक्ति का उत्कर्ष किया और छठी सदी के मध्य तक प्रतापी गुप्त-सम्राटो का शासन मध्य-देश से उठ गया।

हूणों के आक्रमणो और यशोधर्मा जैसे साहसी योद्धाओ ने गुप्त-साम्राज्य की नीव को जड़ से हिला दिया था। यद्यपि भानुगुप्त बालादित्य जैसे शक्तिशाली सम्राटों

ने कुछ समय तक अपने साम्राज्य को कायम रखा, पर अब सामन्तों व प्रान्तीय शासकों की अपने स्वतन्त्र शासन स्थापित करने की महत्त्वाकांक्षाओं पर काबू पा सकना उनके लिए असम्भव होता जा रहा था। इसी का यह परिणाम हुआ, कि भारत में फिर विविध राज्य कायम हो गए, और कोई एक ऐसी शक्ति नहीं रह गयी, जो 'आसमुद्र' भारत को एक शासन में रख सके।

(४) वलभी, मालवा और स्थाण्वीश्वर

वलभी का मैत्रक-वंश—गुप्त-साम्राज्य का सबसे पश्चिमी प्रान्त सुराष्ट्र था। सम्राट् स्कन्दगुप्त के समय मे वहाँ का शासक पर्णदत्त था। इसी ने गिरनार की सुदर्शन झील का जीर्णोद्धार कराया था। इसी समय में सुराष्ट्र में स्थित गुप्त सेनाओं का सेनानी भटार्क था, जो मैत्रक कुल का था। हूणो के आक्रमण के कारण सेना की महत्ता बहुत बढ गयी थी, और सुराष्ट्र के सेनापति भटार्क के अधिकारो में भी बहुत कुछ वृद्धि हो गयी थी। सम्भवतः, पर्णदत्त के बाद सुराष्ट्र का शासन भी उसी के हाथ में आ गया था। गुप्तकाल मे अनेक ऊँचे पद वंशक्रमानुगत होते थे। भटार्क के बाद सुराष्ट्र का शासक धरसेन हुआ। एक शिलालेख में भटार्क को **'मौलभृतमित्रश्रेणी-बलावाप्तराज्यश्रीः'** कहा गया है। इसका अभिप्राय यह है, कि उसने मौल, भृत, मित्र-बल और श्रेणिबल की सहायता से राज्यश्री प्राप्त की थी। प्राचीन काल की मागध-सेनाओ के ये ही चार विभाग होते थे। भटार्क की अधीनता में सुराष्ट्र में जो सेनाएँ थी, उनमे भी इन्ही चार प्रकारो के सैनिक थे। शिलालेखों मे भटार्क और धरसेन को केवल 'सेनापति' कहा गया है। पर धरसेन का उत्तराधिकारी द्रोणसिंह जहाँ 'सेनापति' था, वहाँ 'महाराज' भी था। अभिप्राय यह है, कि वह सुराष्ट्र में एक पृथक् राज्य स्थापित करने मे सफल हुआ था, जो केवल नाम को ही गुप्तो के अधीन था। पर अभी तक वह गुप्तो के स्वामित्व को स्वीकार करता था, और इसीलिए उसने अपने शिला-लेख मे स्पष्टरूप से लिखा है, कि वह 'परम-भट्टारकपाद' के परमस्वामित्व को मानता था और उसी परम-भट्टारकपाद ने स्वय अपने हाथ से उसका अभिषेक किया था। पर इधर सुराष्ट्र के मैत्रक राजा तो निरन्तर शक्ति प्राप्त करते जाते थे, और उधर गुप्त-सम्राटो का बल क्षीण हो रहा था। परिणाम यह हुआ, कि धीरे-धीरे सुराष्ट्र के ये मैत्रक राजा पूर्णतया स्वतन्त्र हो गए। पहले सुराष्ट्र की राजधानी गिरिनगर (गिरनार) थी, बाद मे मैत्रक राजाओं ने वलभी को अपनी राजधानी बनाया। द्रोणसिंह के बाद तीसरी पीढी मे धरसेन द्वितीय हुआ। वह स्थाण्वीश्वर और कन्नौज के राजा हर्षवर्धन का समकालीन था। हर्ष के साथ उसके अनेक युद्ध हुए थे। बाद मे मैत्रक महाराज धरसेन ने हर्ष की अधीनता स्वीकृत कर ली थी, और इस मैत्री-सम्बन्ध को स्थिर रखने के लिए हर्ष ने अपनी पुत्री का विवाह उसके साथ कर दिया था।

मालवा—सुराष्ट्र की तरह मालवा में भी गुप्त-साम्राज्य के ह्रास के समय एक पृथक् राज्य की स्थापना हुई। मालवा की राजधानी मन्दसौर थी। वहाँ गुप्त-सम्राटों की ओर से प्रान्तीय शासक शासन करते थे। कुमारगुप्त प्रथम के समय मालवा में बन्धुवर्मा इस पद पर नियत था। बाद में वहीं पर यशोधर्मा ने अपनी शक्ति का

विस्तार शुरू किया, और अपने अतुल पराक्रम से उसने सारे गुप्त-साम्राज्य को जड़ से हिला दिया। सम्भवतः, यशोधर्मा मालवा के किसी पुराने राजकुल में उत्पन्न हुआ था, और उसके पूर्वपुरुषों की स्थिति सामन्तों के सदृश थी। यशोधर्मा के बाद मालवा फिर गुप्तो के अधीन नही हुआ।

स्थाण्वीश्वर—कन्नौज के मौखरि-राज्य के पश्चिम मे स्थाण्वीश्वर में भी इस युग मे एक स्वतन्त्र राजवंश का प्रादुर्भाव हुआ। इसका संस्थापक पुष्यभूति था। उसी के कुल मे आगे चलकर नरवर्धन हुआ। वह गुप्त-साम्राज्य का एक सामन्त था, और इसी स्थिति मे स्थाण्वीश्वर तथा उसके समीपवर्ती प्रदेशों का शासन करता था। नरवर्धन के बाद दूसरी पीढ़ी मे आदित्यवर्धन हुआ। इसे 'महाराज' लिखा गया है। इसका अभिप्राय यह है, कि सामन्त के रूप मे इसकी स्थिति अब अधिक ऊँची हो गयी थी। आदित्यवर्धन का विवाह गुप्त-वश की राजकुमारी महासेनगुप्ता के साथ हुआ था। इस कारण उसका प्रभाव तथा वैभव और भी अधिक बढ गये थे। आदित्यवर्धन का काल छठी सदी के पूर्वार्ध मे था। हूणों के आक्रमणो और यशोधर्मा की विजययात्रा के कारण जो अव्यवस्था इस समय उत्पन्न हो गयी थी, उसमे गुप्त-सम्राटो के लिए यह सम्भव नही रहा था, कि वे सुदूरवर्ती स्थाण्वीश्वर के सामन्त महाराजाओ को अपने अधीन रख सकें। परिणाम यह हुआ, कि आदित्यवर्धन स्वतन्त्र राजा के रूप मे राज्य करने लगा, और उसके बाद प्रभाकर-वर्धन, राज्यवर्धन और हर्षवर्धन पूर्णतया स्वतन्त्र हो गए।

बंगाल—सम्राट् कुमारगुप्त तृतीय के समय (छठी सदी के मध्य) तक बगाल गुप्त-साम्राज्य के अन्तर्गत रहा। पर बाद मे वहाँ गुप्त-वश के ही एक पराक्रमी कुमार नरेन्द्रगुप्त शशांक ने अपने स्वतन्त्र राज्य की स्थापना कर ली। शिलालेखो में पहले शशाक को 'श्रीमहासामन्त' शशाकदेव और बाद मे 'महाराजाधिराज' लिखा गया है। सातवी सदी के शुरू तक शशाक बंगाल में अपने स्वतन्त्र राज्य की स्थापना कर चुका था। उसकी राजधानी कर्णसुवर्ण थी। शशाक बडा शक्तिशाली राजा था। कन्नौज के मौखरि राजा ग्रहवर्मा को परास्त कर उसने युद्ध मे मार दिया था। स्थाण्वीश्वर के राजा राज्यवर्धन की मृत्यु भी उसी के हाथो हुई थी।

(५) मागध गुप्तवंश और हर्षवर्धन

महासेनगुप्त—कुमारगुप्त तृतीय के उत्तराधिकारी दामोदरगुप्त के समय मे सोन नदी से पश्चिम का सब प्रदेश मौखरियों के हाथ मे चला गया था। दामोदरगुप्त के बाद महासेनगुप्त राजा हुआ। गुप्तों की निर्बलता से लाभ उठाकर प्राग्ज्योतिष (असम) के राजा सुस्थितवर्मा ने भी स्वतन्त्रता घोषित कर दी। समुद्रगुप्त के समय से असम के राजा गुप्त-सम्राटो की अधीनता स्वीकृत करते चले आ रहे थे, और उनकी स्थिति सामन्तो के सदृश थी। सुस्थितवर्मा ने अपने को 'महाराजाधिराज' घोषित कर गुप्तों के विरुद्ध विद्रोह कर दिया। पर महासेनगुप्त ने चढाई कर लौहित्य नदी के तट पर उसे परास्त किया, और इस प्रकार पूर्वी भारत मे गुप्तो की शक्ति को स्थिर रखा। मौखरियों की शक्ति का मुकाबला करने के लिए उसने स्थाण्वीश्वर के राजा

आदित्यवर्धन से मैत्री स्थापित की, और अपनी बहन महासेनगुप्ता का विवाह उसके साथ कर दिया।

इस प्रकार स्थाण्वीश्वर के राजा से संधि कर महासेनगुप्त ने कन्नौज के मौखरि राजा अवन्तिवर्मा पर चढ़ाई की। पूर्वी मालवा के अनेक प्रदेश इस समय मौखरियों के हाथ से निकल कर गुप्तों के हाथ में चले गए। इन नये जीते हुए प्रदेशों पर शासन करने के लिए महासेनगुप्त ने अपने पुत्र देवगुप्त को नियत किया।

मौखरि वंश का अन्त—महासेनगुप्त के दो पुत्र थे—देवगुप्त और माधवगुप्त। पिता के जीवनकाल में देवगुप्त मालवा का शासक था, और माधवगुप्त अपने पिता की बहिन महासेनगुप्ता के पास स्थाण्वीश्वर में रहता था। महासेनगुप्ता के पोते राज्यवर्धन और हर्षवर्धन माधवगुप्त की आयु के थे। उनके साथ उसकी बहुत घनिष्ठ मैत्री थी। माधवगुप्त का बचपन उन्हीं के साथ व्यतीत हुआ था। राज्यवर्धन और हर्षवर्धन की एक बहिन भी थी, जिसका नाम राज्यश्री था। उसका विवाह मौखरिवंश के राजा ग्रहवर्मा (अवन्तिवर्मा के उत्तराधिकारी) के साथ हुआ था। इस विवाह के कारण कन्नौज और स्थाण्वीश्वर के राज्यों में घनिष्ठ मैत्री स्थापित हो गयी थी। पश्चिमी भारत के इन दोनों शक्तिशाली राज्यों की सधि गुप्त राजाओं को बिलकुल पसन्द नहीं आई। गुप्तों और मौखरियों में देर से शत्रुता चली आती थी। मौखरियों की शक्ति को कमजोर करने के लिए ही गुप्त-राजा महासेन ने स्थाण्वीश्वर के राजा से मैत्री की थी। अब स्थाण्वीश्वर के राजा का सहयोग पाकर कन्नौज के मौखरियों की शक्ति बहुत बढ़ गयी। गुप्त-राजा इसे सहन नहीं कर सके। मालवा के शासक देवगुप्त और गौड़-देश के शासक नरेन्द्रगुप्त शशांक (जो स्वयं गुप्तवंश का था और अभी तक पाटलिपुत्र के गुप्त-सम्राटों के महासामन्त के रूप में राज्य करता था) ने मिलकर कन्नौज पर आक्रमण किया। युद्ध में मौखरि राजा ग्रहवर्मा मारा गया, और राज्यश्री को कारागार में डाल दिया गया। यह समाचार जब स्थाण्वीश्वर पहुँचा, तो वहाँ के राजा राज्यवर्धन ने तुरन्त युद्ध की तैयारी की, और एक बड़ी सेना साथ में लेकर मालवराज देवगुप्त पर हमला बोल दिया। देवगुप्त स्थाण्वीश्वर की सेना का सामना नहीं कर सका। वह परास्त हो गया, और राज्यश्री कारागार से मुक्त हुई। मालवा के गुप्त-शासक को परास्त कर राज्यवर्धन शशांक की ओर मुड़ा। शशांक बड़ा कूटनीतिज्ञ था। उसने सम्मुख युद्ध में राज्यवर्धन का मुकाबला करना उचित न जान चाल से काम लिया। उसने राज्यवर्धन के पास सन्देश भेजा कि मैं सन्धि करना चाहता हूँ, और मैत्री को स्थिर रखने के लिए अपनी कन्या का विवाह राज्यवर्धन के साथ करने के लिए तैयार हूँ। सन्धि की सब बातें तय करने के लिए राज्यवर्धन अपने साथियों के साथ शशांक के डेरे पर गया। वहाँ सब षड्यन्त्र तैयार था। शशांक के सैनिकों ने अकस्मात् राज्यवर्धन और उसके साथियों पर हमला करके उनका घात कर दिया। ये घटनाएँ इतनी शीघ्र और अचानक हुई, कि कन्नौज में सर्वत्र अव्यवस्था फैल गयी। घबराहट और निराशा के कारण राज्यश्री को आत्मघात के अतिरिक्त अन्य कोई उपाय समझ में नहीं आता था। वह भागकर विंध्याचल के जंगलों में चली गयी।

कन्नौज के मौखरियों की सहायता के लिए जब राज्यवर्धन ने स्थाण्वीश्वर से

प्रस्थान किया था, तो शासनकार्य अपने छोटे भाई हर्षवर्धन को दे दिया था। बड़े भाई की हत्या का समाचार सुनकर उसने शशांक से बदला लेने के लिए प्रस्थान किया। अपने ममेरे भाई भंडी को शशांक पर आक्रमण करने का आदेश देकर हर्षवर्धन स्वयं अपनी बहिन की खोज में निकल पड़ा। जंगल के निवासियों की सहायता से राज्यश्री को ढूंढ़ता हुआ वह ठीक उस समय उसके पास पहुँचा, जब वह निराश हो चिताप्रवेश की तैयारी में थी। हर्ष ने अपनी बहिन को बहुत समझाया। उसने कहा, शत्रु के भय से अपने राज्य की जिम्मेदारी को छोड़कर इस प्रकार आत्महत्या करना घोर कायरता है। शत्रुओं से बदला चुकाना पहला और मुख्य कर्त्तव्य है, जिसकी उपेक्षा करना किसी भी दशा में उचित नहीं है। हर्ष के समझाने से राज्यश्री ने आत्महत्या का विचार छोड़ दिया, और कन्नौज की राजगद्दी को सभालने के लिए वह वापस लौट आई।

हर्षवर्धन—अपनी बहिन के प्रतिनिधि रूप में हर्ष ने अब कन्नौज के राज्यभार को भी सम्भाल लिया। स्थाण्वीश्वर का राजा वह अपने अधिकार से था, और कन्नौज के मौखरि-राज्य का शासन वह अपनी बहिन की ओर से करता था। दोनों राज्यों की सम्मिलित शक्ति अब बहुत बढ़ गयी थी। प्राचीन शिलालेखों से सूचित होता है, कि पूरे छः वर्ष तक हर्ष शशांक के साथ युद्ध में व्यापृत रहा। इसी उद्देश्य से असम के राजा के साथ उसने मैत्री स्थापित की। वहाँ के राजा गुप्तों के शासन से स्वतन्त्र होने के प्रयत्न में थे ही। सुस्थितवर्मा के बाद भास्करवर्मा वहाँ का राजा बना था। गुप्त-वंशी शशांक के प्रभाव से मुक्त होने के लिए उसने गुप्तों के परमशत्रु हर्षवर्धन के साथ मैत्री स्थापित की। पर शशांक को परास्त करना सुगम बात नहीं थी। गुप्तों की सब शक्ति उसके साथ थी। अन्त में हर्षवर्धन ने उसके साथ संधि करने में ही लाभ समझा, और उसे बंगाल के स्वतन्त्र राजा के रूप में स्वीकार कर लिया।

माधवगुप्त—इन सब युद्धों में माधवगुप्त हर्ष के साथ रहा था। वह हर्ष का परम मित्र था, और जब अपने पिता महासेनगुप्त की मृत्यु के बाद वह पाटलिपुत्र के राजसिंहासन पर आरूढ़ हुआ, तो भी हर्ष के साथ उसकी मित्रता कायम रही। मालवा का कुमारामात्य देवगुप्त और बंगाल का महासामन्त शशांक दोनों गुप्त-वंश के थे, और दोनों से हर्ष की घोर शत्रुता थी। पर पाटलिपुत्र के गुप्त-सम्राट् का इन युद्धों में कोई भाग नहीं था। इसलिए जब माधवगुप्त स्वयं उस पद पर अधिष्ठित हुआ, तो भी हर्ष के साथ उसका पुराना मित्रभाव यथापूर्व बना रहा। पर यह ध्यान में रखना चाहिये, कि पाटलिपुत्र के गुप्त-सम्राटों की अपेक्षा इस समय कन्नौज और स्थाण्वीश्वर के अधिपति हर्ष का साम्राज्य बहुत अधिक विस्तृत था। माधवगुप्त ने ६०६ से ६४७ ईस्वी तक राज्य किया।

आदित्यसेन—माधव के बाद उसका पुत्र आदित्यसेन पाटलिपुत्र का सम्राट् बना। एक शिलालेख में उसे 'परमभट्टारक महाराजाधिराज' की उपाधि से विभूषित किया गया है। एक अन्य शिलालेखमें उसे 'पृथिवीपति' और 'आसमुद्रांत-वसुन्धरा' का शासक भी कहा गया है। प्रतीत होता है, कि आदित्यसेन ने गुप्त-साम्राज्य का अच्छा विस्तार किया और इसी उपलक्ष में उसने अश्वमेध यज्ञ भी किया। स्कन्दगुप्त के बाद गुप्त-सम्राटों में आदित्यसेन ने ही पहले-पहल अश्वमेध का अनुष्ठान किया था।

लगभग दो सदी के बाद गुप्त-सम्राटो के इस अश्वमेध से यह संकेत मिलता है, कि आदित्यसेन एक शक्तिशाली राजा था, और उसने गुप्त-साम्राज्य की शक्ति का बहुत कुछ पुनरुद्धार कर लिया था।

देवगुप्त—आदित्यसेन के बाद उसका पुत्र देवगुप्त पाटलिपुत्र की राजगद्दी पर बैठा। उसे शिलालेखों में जहाँ 'परमभट्टारक महाराजाधिराज' कहा गया है, वहाँ 'सकलोत्तरापथनाथ' भी कहा गया है। इससे प्रतीत होता है, कि आदित्यसेन द्वारा स्थापित साम्राज्य उसके समय में अक्षुण्ण रहा, और वह उत्तरी भारत के अच्छे बड़े प्रदेश में शासन करता रहा। देवगुप्त शैव धर्म का अनुयायी था। अपने शासनकाल के अंतिम वर्षों में देवगुप्त के चालुक्य राजा विनयादित्य के साथ अनेक युद्ध हुए। इस समय मे दक्षिणापथ के चालुक्य राजा अपने साम्राज्य के विस्तार के लिए भगीरथ प्रयत्न में लगे थे। क्योंकि उत्तरापथ इस समय गुप्तो के हाथ मे था, अतः स्वाभाविक रूप से उनमे परस्पर संघर्ष हुआ, और देवगुप्त को एक बार विनयादित्य से बुरी तरह हार भी खानी पड़ी।

विष्णुगुप्त—देवगुप्त के बाद उसका पुत्र विष्णुगुप्त गुप्त-साम्राज्य का स्वामी हुआ। उसका समकालीन चालुक्य-राजा विजयादित्य था। वह अपने पिता के समान ही प्रतापी और महत्त्वाकाक्षी था। उसने एक बार फिर उत्तरापथ पर आक्रमण किया, और मार्ग के सब प्रदेशो को जीतता हुआ वह मगध तक आ पहुँचा। उसने मागध के राजा को हराकर परमेश्वरत्व के निशान गंगा-यमुना के चिह्नो से अंकित उसके ध्वज को युद्ध मे छीन लिया था। चालुक्य राजा से पराजित होने वाला यह गुप्त-सम्राट् सम्भवतः विष्णुगुप्त ही था। चालुक्यो के आक्रमणो से गुप्तों की शक्ति बहुत क्षीण हो गयी।

जीवितगुप्त—गुप्त-वंश का अंतिम राजा जीवितगुप्त था। इसका एक शिलालेख बिहार में आरा के समीप देववरनार्क नामक स्थान पर प्राप्त हुआ है, जो एक प्राचीन विष्णुमंदिर के द्वार पर उत्कीर्ण है। इसके अध्ययन से ज्ञात होता है, कि जीवितगुप्त की छावनी (विजयस्कधावार) गोमती नदी के तट पर स्थित थी। गोमती नदी वर्तमान उत्तर प्रदेश मे है। वहाँ छावनी का होना इस बात को सूचित करता है, कि गोमती के पश्चिम का प्रदेश अब सम्भवतः गुप्तो के अधिकार में नही रहा था। जीवितगुप्त के साथ गुप्त-वंश की समाप्ति हो गयी। इस समय उत्तरी भारत मे अनेक महत्त्वाकाक्षी राजा अपनी शक्ति बढ़ा रहे थे। काश्मीर का राजा ललितादित्य मुक्तापीड बडा शक्तिशाली था। उसने पूर्व मे दूर-दूर तक हमले किये थे। एक अनुश्रुति के अनुसार उसने गौड देश के राजा को कैद कर लिया था। ललितादित्य का समय ७३३ से ७६६ ईस्वी तक है। इसी समय के लगभग मगध मे गुप्तवंशी राजा जीवितगुप्त का शासन था, जिसकी अधीनता में गौड देश भी था। ललितादित्य द्वारा कैद किया जाने वाला गौडनरेश यदि जीवितगुप्त ही हो, तो कोई आश्चर्य नही। उधर कामरूप और कन्नौज के राजा भी इस काल मे विजय-यात्राओ मे संलग्न थे। यदि इनमें से कोई राजा मौर्यों और गुप्तों के समान भारत मे साम्राज्य की स्थापना कर सकता, तो बहुत उत्तम होता। पर इनकी विजय-यात्राएँ यशोधर्मा की दिग्विजय के

समान क्षणिक और अचिरस्थायी थी। गुप्त-वंश का अन्त आठवीं सदी के मध्य भाग में हुआ।

(६) सम्राट् हर्षवर्धन (६०६ से ६४६ ई० प० तक)

कन्नौज के मौखरिवंश के राजा ग्रहवर्मा की मृत्यु के बाद उसकी विधवा (स्थाण्वीश्वर के राजा हर्षवर्धन की बहिन) राज्यश्री ने राज्य करना शुरू किया, और हर्षवर्धन ही उसके नाम पर उसकी ओर से कन्नौज के राज्य का शासन करने लगा, यह हम पिछले प्रकरण में लिख चुके हैं। क्योंकि ग्रहवर्मा और राज्यश्री की कोई सन्तान नहीं थी, अतः इस समय में स्थाण्वीश्वर और कन्नौज के राज्य मिलकर एक हो गये, और दोनों का शासक हर्षवर्धन ही हो गया। भारत के प्राचीन इतिहास में हर्षवर्धन का बहुत अधिक महत्त्व है। गुप्तवंश की निर्बलता से लाभ उठाकर उसने अपनी शक्ति को बहुत बढ़ा लिया था, और उत्तरी भारत के बहुत-से प्रदेशों पर उसका आधिपत्य स्थापित हो गया था। पर हर्षवर्धन के महत्त्व का कारण केवल यही नहीं है। प्रसिद्ध चीनी यात्री ह्यु एन-त्साग उसी के शासनकाल में भारत की यात्रा के लिए आया था, और हर्ष के साथ उसका घनिष्ठ सम्पर्क रहा था। ह्यु एन-त्सांग के यात्रा-विवरण में हर्षवर्धन और उसके राज्यशासन के सम्बन्ध में बहुत-सी महत्त्वपूर्ण बातें ज्ञात होती हैं। इसके अतिरिक्त संस्कृत के प्रसिद्ध महाकवि बाणभट्ट ने 'हर्षचरितम्' लिखकर हर्षवर्धन के नाम को अमर कर दिया है। 'हर्षचरितम्' संस्कृत का अद्वितीय गद्यकाव्य है, और उसके अनुशीलन से इस राजा के इतिहास का विशदरूप से परिचय मिलता है। इन दो साहित्यिक साधनों के अतिरिक्त अनेक उत्कीर्ण लेखों द्वारा भी हर्षवर्धन के इतिहास का परिज्ञान प्राप्त करने में सहायता मिलती है। यशोधर्मा सदृश अनेक अन्य राजा हर्षवर्धन की अपेक्षा कम वीर व प्रतापी नहीं थे। गुप्त-साम्राज्य के क्षय के समय अन्य भी अनेक ऐसे राजा हुए, जिन्होंने हूणों का मुकाबला कर व दूर-दूर तक के देशों को विजय कर अपनी शक्ति की स्थापना की। राजनीतिक इतिहास की दृष्टि से हर्षवर्धन का महत्त्व उनसे किसी भी प्रकार अधिक नहीं है, पर भारत के प्राचीन इतिहास में जो गौरवपूर्ण स्थान हर्ष को प्राप्त है, उसका मुख्य कारण उसके साथ सम्बन्ध रखने वाली ऐतिहासिक सामग्री की प्रचुरता ही है।

स्थाण्वीश्वर और कन्नौज के राज्यों को अधिगत कर हर्षवर्धन ने अपनी शक्ति के विस्तार के लिए जो युद्ध किये, उनमें मुख्य निम्नलिखित थे—(१) गौड देश के राजा शशांक के विरुद्ध, (२) वलभी के राजा ध्रुवसेन द्वितीय या ध्रुवभट के विरुद्ध, (३) चालुक्यराज पुलकेशी के विरुद्ध, और (४) सिन्ध के राजा के विरुद्ध।

गौड देश के राजा शशांकगुप्त के साथ कन्नौज के मौखरिवंश का जो संघर्ष हुआ, उसका उल्लेख पिछले प्रकरण में किया जा चुका है। शशांक ने ही अन्तिम मौखरि राजा ग्रहवर्मा की हत्या की थी। हर्षवर्धन ने शशांक के साथ अनेक युद्ध किये, और उसी को परास्त करने के लिए उसने कामरूप (असम) के राजा भास्करवर्मा के साथ सन्धि की। पर हर्षवर्धन को गौड देश की पराजय में सफलता नहीं हुई, और अन्त में उसने शशांक के राज्य की स्वतन्त्र सत्ता को स्वीकार कर लिया।

वलभी के राजा ध्रुवसेन द्वितीय को पराजित करने में हर्षवर्धन सफल हुआ, पर उसने वलभी के राज्य की स्वतन्त्र सत्ता का अन्त कर उसे अपने साम्राज्य में सम्मिलित करने का प्रयत्न नहीं किया। ध्रुवसेन हर्ष की अधीनता को स्वीकार करता था, और जब हर्ष ने प्रयाग मे एक महासभा का आयोजन किया, तो वह भी एक मित्र राजा के रूप में उसमे सम्मिलित हुआ। ध्रुवसेन के साथ अपनी मैत्री को स्थिर रखने के लिए हर्षवर्धन ने अपनी पुत्री का विवाह भी उसके साथ कर दिया था।

जिस प्रकार उत्तरी भारत में हर्षवर्धन का आधिपत्य था, उसी प्रकार दक्षिणापथ मे इस समय चालुक्यराज पुलकेशी की प्रधानता थी। चालुक्यवंश के राजाओं के सम्बन्ध मे हम अगले एक अध्याय मे विशदरूप से प्रकाश डालेंगे। पुलकेशी की प्रशस्ति द्वारा ज्ञात होता है, कि हर्ष ने दक्षिणापथ को भी अपने आधिपत्य मे लाने का प्रयत्न किया, पर इसमें उसे सफलता नहीं हुई। हर्ष और पुलकेशी मे जो युद्ध हुआ, उसमें चालुक्यराज विजयी हुआ, और हर्ष के साम्राज्य की सीमा नर्मदा नदी के दक्षिण मे नहीं पहुँच सकी। ह्यु एन-त्साग के यात्रा-विवरण द्वारा भी इस युद्ध मे हर्ष की पराजय विदित होती है।

सिन्ध के राजा के विरुद्ध हर्ष के युद्ध का उल्लेख 'हर्षचरितम्' मे किया गया है। बाणभट्ट के अनुसार इस युद्ध मे हर्ष विजयी हुआ था, और सिन्धुराज की लक्ष्मी को उसने स्वायत्त कर लिया था। सम्भवत:, सिन्ध का राजा भी हर्ष को अपना अधिपति स्वीकार करता था।

इसमे सन्देह नहीं, कि इन विजयो के कारण हर्ष के साम्राज्य का क्षेत्र बहुत अधिक विस्तृत हो गया था। स्थाण्वीश्वर का राज्य उसने अपने पिता से प्राप्त किया था। हरयाणा और उत्तरी राजपूताना के प्रदेश अवश्य ही इस राज्य के अन्तर्गत थे। कन्नौज के मौखरिवंश के शासन पर अधिकार हो जाने के कारण वर्तमान उत्तरप्रदेश भी उसकी अधीनता मे आ गया था। बाँसखेरा और मधुवन में प्राप्त उत्कीर्ण लेखों से अहिच्छत्र (बरेली मे) और श्रावस्ती का उसके शासन मे होना प्रमाणित है। चीनी अनुश्रुति मे हर्ष को 'मगधराज' कहा गया है। इससे विदित होता है, कि मगध भी उसके प्रभाव मे था। गुप्तवंशी मागध राजा माधवगुप्त हर्ष का बालसखा और परम मित्र था। राजसिंहासन पर आरूढ हो जाने के बाद भी माधवगुप्त और हर्ष की मित्रता मे कोई अन्तर नहीं आया। उडीसा (कलिङ्ग) के कुछ प्रदेश भी हर्ष की अधीनता मे थे, क्योंकि चीनी अनुश्रुति के अनुसार जयसेन नामक एक बौद्ध विद्वान् को हर्ष ने उडीसा के अस्सी नगरों की आमदनी दान-रूप मे प्रदान की थी। सुराष्ट्र (वलभी) का राजा ध्रुवसेन और सिन्धुदेश का राजा भी उसकी अधीनता को स्वीकार करते थे। इस दशा मे यदि बाणभट्ट ने 'हर्षचरितम्' मे हर्ष को 'सकलोत्तरापथनाथ' कहा, तो यह सर्वथा ठीक ही था। ह्यु एन-त्साग के अनुसार उसकी सेना में साठ हजार हाथी और एक लाख अश्वारोही सैनिक थे।

हर्ष के साम्राज्य की राजधानी कन्नौज थी। ह्यु एन-त्साग ने इसका वर्णन करते हुए लिखा है, कि इस नगर में हीनयान और महायान दोनों बौद्ध सम्प्रदायो के एक सौ विहार थे, जिनमें दस हजार भिक्षु निवास करते थे। बौद्ध-धर्म के साथ-साथ

पौराणिक हिन्दू-धर्म का भी कन्नौज मे प्रचार था। ह्यु एन-त्सांग के अनुसार इस धर्म के मन्दिरो की सख्या दो सौ थी। इससे ज्ञात होता है, कि बौद्ध और पौराणिक दोनों धर्मों के अनुयायी कन्नौज मे एक साथ निवास करते थे, और उनमे विरोध-भावना नही थी। हर्षवर्धन दोनों धर्मों का आदर करता था, और दोनों के भिक्षुओं व पण्डितो को और विहारों व मन्दिरो को दान द्वारा सन्तुष्ट रखता था। पर इससे यह नही समझना चाहिए, कि सातवी सदी के भारत मे साम्प्रदायिक विद्वेष का सर्वथा अभाव था। जिस समय हर्ष ने कन्नौज मे एक बौद्ध महासभा का आयोजन किया, तो कतिपय बौद्ध-विद्वेषी लोगों ने उसके विरुद्ध षड्यन्त्र किया, और विवश होकर राजा को पाँच सौ ब्राह्मणो को बन्दी कर निर्वासित करना पडा। ह्यु एन-त्साग के अनुसार कन्नौज नगर पाँच मील लम्बे और सवा मील चौड़े क्षेत्र मे बसा हुआ था और उसके भवन स्वच्छ और सुन्दर थे। नागरिक लोग चिकने और रेशमी वस्त्र धारण करते थे, और उनकी भाषा परिमार्जित व मधुर थी।

ह्यु एन-त्साग के विवरण के अनुसार हर्षवर्धन बौद्ध-धर्म का अनुयायी था। बुद्ध के एक दाँत को काश्मीर से लाकर उसने कन्नौज के एक सघाराम में प्रतिष्ठित किया। उसने बहुत-से स्तूपो और विहारो का भी निर्माण कराया। पशुहत्या और मास-भक्षण का निषेध कर उसने यह व्यवस्था की, कि इन अपराधों के लिए दण्ड दिया जाय। बौद्ध सिद्धान्तो के मनन के लिए उसने अनेक महासभाओ का भी आयोजन किया। ह्यु एन-त्साग के इन विवरणो को दृष्टि मे रखकर यही माना जाता है, कि हर्ष बौद्ध-धर्म का अनुयायी था। पर 'हर्षचरितम्' के अनुशीलन से यह सूचित नही होता, कि हर्ष बौद्ध था। बासखेरा और मधुवन के उत्कीर्ण लेखो मे उसके नाम के साथ 'परम-माहेश्वर' विशेषण का प्रयोग किया गया है, जो इस युग मे शैवधर्म के अनुयायियो के लिए ही प्रयुक्त होता था। प्रयाग मे जब उसने बहुत बडे परिमाण में धार्मिक आयोजन किया, तो बौद्ध देवी-देवताओं के साथ-साथ उसने सूर्य और शिव की मूर्तियों की भी पूजा की, और ब्राह्मण पण्डितो को भी दान-दक्षिणा दी। इससे सूचित होता है, कि हर्षवर्धन उन अर्थों मे बौद्ध नही था, जिनमें कि अशोक व कनिष्क थे। वह सब धर्मो का आदर करता था, और सब के धार्मिक नेताओ का दान-दक्षिणा द्वारा सत्कार करता था। सम्भवत., शुरू मे उसका झुकाव पौराणिक हिन्दूधर्म के प्रति अधिक था, पर बाद मे ह्यु एन-त्साग के सत्संग से वह बौद्ध-धर्म के प्रति अधिक अनुरक्त हो गया था।

हर्षवर्धन न केवल विद्वानो का आदर करता था, अपितु स्वय भी सुकवि था। उसने प्रियदर्शिका, रत्नावली और नागानन्द नाम के तीन नाटको की रचना की, जो अब भी उपलब्ध होते है। संस्कृत का प्रसिद्ध गद्यलेखक महाकवि बाणभट्ट उसी के दरबार मे रहता था। हर्षचरितम्, कादम्बरी और चण्डीशतक इस महाकवि की उत्कृष्ट कृतियाँ है। सूर्यशतक का लेखक मयूर कवि भी हर्षवर्धन के ही आश्रय मे रहता था। ज्ञान और विद्या के प्रोत्साहन के लिए हर्ष ने अनेक उपायो का आश्रय लिया। ह्यु एन-त्साग के अनुसार वह राजकीय भूमि की आय का चतुर्थांश विद्वानों को पुरस्कृत करने मे व्यय करता था।

उनकी स्थिति कानून के सदृश होती थी, पर इस प्रकार के कानूनों की संख्या बहुत कम थी। मुगल-युग मे विवाद-ग्रस्त मामलों का निर्णय जिन कानूनों के अनुसार किया जाता था, उन्हें हम निम्नलिखित भागों में विभक्त कर सकते हैं—(१) बादशाह द्वारा जारी की गयी राजाज्ञाएँ। (२) शरायत कानून—क्योंकि न्याय का कार्य प्रधानतया काजियों के सुपुर्दी था, अतः वे न्याय करते हुए शरायत कानून को दृष्टि में रखते थे। कुरान और हदीसो मे जो नियम प्रतिपादित हैं, काजियों के विचार के अनुसार वे सत्य व सनातन कानून होते थे, और न्याय-कार्य में वे उन्हीं का उपयोग करते थे। मुसलमानों के आपसी मुकदमों मे तो शरायत का कानून दृष्टि में रखा ही जाता था, पर जिन मुकदमों में एक पक्ष हिन्दू और दूसरा पक्ष मुसलिम हो, उनमें भी शरायत के कानून का ही प्रयोग होता था। (३) हिन्दुओं के परम्परागत कानून—जिन मुकदमों में वादी और प्रतिवादी दोनो हिन्दू हों, उनका निर्णय करते हुए काजी लोग हिन्दुओं के चरित्र और व्यवहार (परम्परागत कानून) को दृष्टि में रखते थे। पर ऐसा करना उनके लिए अनिवार्य नही था। काजी लोग जो कुछ भी उचित समझें, वही वे करते थे। उनके न्याय कार्य को मर्यादित करने के लिए वर्तमान समय के जाब्ता-दीवानी और जाब्ता-फौजदारी के ढंग के कोई विधान उस समय विद्यमान नहीं थे। कोई भी मनुष्य काजी के फैसले के खिलाफ बादशाह की सेवा मे अपील कर सकता था। अपीलों को सुनने और उनका निर्णय करने के लिए एक पृथक् महकमा था, जिसमें मीर-अर्ज के अधीन अनेक पदाधिकारी होते थे। महत्त्वपूर्ण मामलों का निर्णय बादशाह स्वयं भी करता था, और जब बादशाह विजय-यात्रा पर या अन्य किसी कार्य से राजधानी के बाहर हो, तब भी मीरअर्ज का महकमा उसके साथ-साथ रहता था।

न्याय विभाग के प्रधान अधिकारी को 'काजी-उल्-कजात' कहते थे। यह अधिकारी साम्राज्य के विविध सूबो की राजधानियों में प्रान्तीय काजियों की नियुक्ति करता था। काजी के न्यायालय में तीन कर्मचारी होते थे—काजी, मुफ्ती और मीर-अदल। काजी का यह कार्य था, कि वह मामले की जाँच करे। मुफ्ती मुसलिम कानून का प्रतिपादन करता था, और यह बताता था कि शरायत के अनुसार मामले का क्या फैसला होना चाहिये। मीर-अदल काजी की जाँच और मुफ्ती द्वारा की गई कानून-सम्बन्धी व्याख्या के अनुसार फैसला लिखने का कार्य करता था। काजी की अदालत में दीवानी और फौजदारी दोनों प्रकार के मुकदमे पेश होते थे। हिन्दुओं के पारस्परिक विवादों का निर्णय भी इसी अदालत द्वारा किया जाता था। यह आशा की जाती थी, कि काजी लोग निष्पक्ष, न्यायप्रिय और ईमानदार हों, पर क्रिया में सभी काजी इन गुणो से युक्त नही होते थे।

पर इस प्रसंग में यह ध्यान मे रखना चाहिये कि काजियों की अदालतें केवल साम्राज्य और सूबों की राजधानियों में ही थी। अन्य नगरों में इन अदालतों का प्रायः अभाव था। बाद मे मुगल बादशाहो ने अन्य बड़े नगरों में भी काजी नियुक्त किये। पर छोटे नगरों और ग्रामों मे काजियों की अदालतें कभी कायम नही हुई। इन स्थानों पर न्याय का कार्य इस युग में भी ग्राम-पंचायतों के हाथों में ही रहा, जो स्थानीय परम्परागत कानूनो के अनुसार मामलो का निर्णय करने में तत्पर रहती थी।

(२) मालगुजारी

मुगल-साम्राज्य की राजकीय आमदनी का प्रधान स्रोत मालगुजारी या भूमि-कर था। इसे वसूल करने के लिये जो व्यवस्था शेरशाह सूरी के समय मे शुरू हुई थी, अकबर ने भली-भाँति उसे विकसित किया। जमीन का यथोचित बन्दोबस्त करने और उससे व्यवस्थित रूप से मालगुजारी वसूल करने की जो पद्धति अकबर के समय में शुरू हुई, उसका प्रधान श्रेय राजा टोडरमल को है, जो पहले सहायक दीवान के पद पर नियत था, और बाद मे अकबर का मुख्य दीवान बन गया था। भारत के इतिहास में टोडरमल द्वारा शुरू की गयी इस व्यवस्था का महत्त्व बहुत अधिक है, क्योंकि बाद मे ब्रिटिश लोगों ने भी उसे अनेक अशो मे अपनाया। मालगुजारी वसूल करने के लिए इस समय जमीन को चार वर्गों मे विभक्त किया गया—(१) पोलज—जिस जमीन पर प्रतिवर्ष खेती होती हो, और जो कभी परती न पड़ती हो, उसे पोलज कहते थे। (२) परती—जिस जमीन पर उपज-शक्ति को कायम रखने के लिये उसे कभी-कभी खाली छोड देना आवश्यक हो, उसे 'परती' कहते थे। (३) छाचर—यह वह जमीन होती थी, जो तीन या चार साल तक बिना खेती के पडी रहे। (४) बजर—जो जमीन पाँच साल या अधिक समय तक खाली रहे, उसे बंजर कहते थे। जमीन को इन चार वर्गों मे विभक्त कर यह अन्दाज किया जाता था कि पोलज और परती जमीनो की औसत पैदावार क्या होती है। इसके लिये प्रत्येक किसान की जमीन को तीन भागों में बाँटा जाता था, बढिया, मध्यम और घटिया। यदि बढ़िया जमीन स प्रति बीघा २० मन, मध्यम से १५ मन और घटिया जमीन से १० मन पैदावार मानी जाये, तो उस किसान की औसत पैदावार १५ मन प्रति बीघा मान ली जाती थी। यह सिद्धान्त तय कर लिया गया था, कि प्रत्येक किसान से उसकी औसत पैदावार का तिहाई हिस्सा मालगुजारी के रूप मे वसूल किया जाएगा। जो उदाहरण हमने लिया है उसके अनुसार किसान को पाँच मन प्रति बीघा के हिसाब से मालगुजारी देनी पडती थी। पर माल-गुजारी की मात्रा को तय करते हुए भी ध्यान मे रखा जाता था, कि किसान अपने खेतो मे कौन-सी फसल बोता है। उसे यह हक था, कि मालगुजारी चाहे नकद दे और चाहे फसल के रूप मे। नकद मालगुजारी की मात्रा क्या हो, यह पिछले दस सालो में फसल की जो कीमतें रही हो, उनके आधार पर तय किया जाता था। टोडरमल से पहले नकद मालगुजारी तय करते हुए चालू कीमत को ही दृष्टि मे रखा जाता था। पर इसमे अनेक दिक्कतें पेश आती थी। अतः टोडरमल ने यह व्यवस्था की थी, कि पिछले दस सालो की कीमतो को ध्यान मे रखकर नकद मालगुजारी तय कर दी जाये, और दस सालो के लिये वही मात्रा कायम रहे। दस साल बीत जाने पर जमीन का नया बन्दोबस्त होता था, जिसमे पैदावार और कीमतो की घटाबढी को दृष्टि मे रख कर मालगुजारी की मात्रा तय की जाती थी।

जमीन की पैमाइश के लिये अकबर के समय में एक नये माप को प्रयुक्त किया गया, जिसे 'इलाही गज' कहते थे। यह ३३ इंच के करीब होता था। पहले जमीन को मापने के लिये रस्सी का प्रयोग किया जाता था। अकबर के समय में उसके स्थान

पर जरीब का प्रयोग शुरू हुआ, जिसे बांस के टुकड़ों को लोहे के छल्लों से जोड़कर बनाया जाता था। आज तक भी जमीन की पैमाइश के लिये भारत में जरीब इस्तेमाल की जाती है, यद्यपि आजकल की जरीब लोहे की होती है। जरीब से जमीन की पैमाइश करके यह तय किया जाता था, कि किसान कितनी जमीन पर खेती करता है। फिर यह निश्चित होता था, कि उसकी जमीन पोलज, परती, छाचर या बंजर–किस प्रकार की है। फिर उसकी औसत पैदावार का हिसाब करके उस पर मालगुजारी की मात्रा नियत की जाती थी। जमीन के बन्दोबस्त की इस पद्धति को 'जब्ती' कहते थे। बिहार, इलाहाबाद, मुलतान, अवध, आगरा, मालवा, लाहौर और दिल्ली के सूबो मे इसी पद्धति के अनुसार जमीन का बन्दोबस्त किया गया था। बाद मे गुजरात और अजमेर के सूबो के अनेक प्रदेशो मे भी इस पद्धति का अनुसरण किया गया। पर इसके अतिरिक्त बन्दोबस्त के अन्य कई तरीके भी मुगल युग में प्रचलित थे। उनका हम यहाँ उल्लेख नही करेगे, क्योकि उनका विशेष महत्व नही था।

मालगुजारी को वसूल करने के लिये मुगल बादशाहत के सूबेदार अपने अधीनस्थ विविध राजकर्मचारियो की सहायता लेते थे। सूबे मे शान्ति और व्यवस्था स्थापित रखने के लिये नाजिम या सूबेदार के अधीन अनेक फौजदार होते थे। पर मालगुजारी को वसूल करने की दृष्टि से सूबे को अनेक विभागो में विभक्त किया जाता था, जिन्हे सरकार और परगना कहते थे। प्रत्येक सूबे मे बहुत-से सरकार होते थे, और प्रत्येक सरकार मे बहुत-से परगने। परगना बहुत-से ग्रामों से मिलकर बनता था। मालगुजारी को वसूल करने के काम पटवारी और मुकद्दम नाम के दो कर्मचारी करते थे, जो राजकीय सेवा मे न होकर ग्राम-सस्थाओ के अधीन होते थे। प्राचीन-युग के 'ग्रामणी' को ही इस युग मे 'मुकद्दम' कहा जाने लगा था। पटवारी उसके अधीन होता था, और खेती की पैमाइश का हिसाब रखकर जमीन से मालगुजारी वसूल करता था। राज्य के सबसे निम्न श्रेणी के कर्मचारी कारकुन कहाते थे, जो खेतो की पैमाइश करने और उनकी पैदावार का हिसाब रखने का काम करते थे। कारकुनो द्वारा तैयार किये गये हिसाब के आधार पर कानूनगो मालगुजारी की मात्रा निर्धारित करता था। प्रत्येक ग्राम से कितनी मालगुजारी वसूल होनी है, यह निश्चित करना कानूनगो का ही काम था, जो अपने अधीन कारकुनो द्वारा प्रत्येक ग्राम के खेतो की पैमाइश कराता था और उनमे पैदा होने वाली फसल का हिसाब रखता था। कानूनगो द्वारा निर्धारित की गयी मालगुजारी की रकम को वसूल करना ग्राम के मुकद्दम और पटवारी का काम था, जो मालगुजारी की रकम को पोद्दार के पास जमा करा देते थे। पोद्दार उन खजाचियों को कहते थे, जो राज्य की ओर से मालगुजारी व अन्य राजकीय करो को जमा करने और राज्यकोष मे पहुँचाने के लिये नियुक्त थे। मालगुजारी की वसूली के लिये प्रत्येक सूबा अनेक सरकारो मे विभक्त था, यह ऊपर लिख चुके है। 'सरकार' के राजकर्मचारी को 'आलमगुजार' कहते थे, जिसका प्रधान कार्य अपने क्षेत्र की राजकीय आमदनी को समुचित रूप से वसूल किये जाने की व्यवस्था करना था। प्रत्येक सरकार के प्रधान नगर मे 'फौजदार' भी होते थे, पर उनका मालगुजारी वसूल करने के साथ

कोई सम्बन्ध नहीं होता था। उनका मुख्य कार्य यही था, कि वे अपने क्षेत्र में शान्ति और व्यवस्था को कायम रखें।

इसमें सन्देह नहीं, कि पैदावार का तीसरा भाग मालगुजारी के रूप में वसूल करने की व्यवस्था करके मुगल-सम्राटों ने भारत की उस प्राचीन परम्परा का उल्लंघन किया था, जिसके अनुसार उपज का केवल 'षड्भाग' भूमिकर के रूप मे लिया जाता था। इससे किसानों मे अवश्य ही असन्तोष उत्पन्न हुआ होगा। पर अकबर आदि सभी मुगल बादशाहों ने यह भी यत्न किया था, कि जो अनेक प्रकार के अन्य कर ग्रामों व नगरों से वसूल किये जाते हैं उन्हे अब न लिया जाये। अफगान-युग में इन करों की मात्रा बहुत बढ़ गयी थी, और ये 'अबवाब' कहाते थे। औरंगजेब ने राजाज्ञा द्वारा जिन अबवाब करो को नष्ट करने का आदेश दिया, उनमें से कतिपय का यहाँ उल्लेख करना उपयोगी है। ये अबवाब निम्नलिखित थे—(१) मछली, सब्जी, गोबर के उपले, पेड़ों की छाल और पत्तें, बाँस और ईंधन, तेल, घड़े और कसोरे, तमाखू आदि के क्रय-विक्रय पर वसूल किये जाने वाले कर। (२) जमीन को रहन पर रखने, जायदाद को बेचने और इमारत के मलवे को बेचने पर लिये जाने वाले कर। जब कोई आदमी अपनी जायदाद बेचता था, तो कानूनगो उससे ढाई प्रतिशत के हिसाब से अबवाब वसूल करता था। मलवा बेचने पर एक हजार ईंट पीछे तीन टका अबवाब लिया जाता था। (३) राहदारी-कर, जो विविध मार्गों पर पहरे के इन्तजाम का खर्च चलाने के लिये वसूल किया जाता था। (४) बाजार मे जमीन पर बैठकर शाकसब्जी, फल, कपडा आदि बेचने वाले लोगो से खाली जमीन को इस्तेमाल करने के लिए वसूल किया जाने वाला महसूल। (५) कर्ज की रकम को अदालत द्वारा वसूल कराने पर राजकर्मचारी लोग प्राय. रकम का चौथाई भाग 'शुकराना' के रूप से वसूल कर लेते थे। (६) मल्लाही टैक्स, जो नदियो के नौका द्वारा पार करने पर लिया जाता था। (७) तोल और माप के विविध उपकरणों पर सरकारी मोहर लगाते समय वसूल किया जाने वाला कर। (८) जमीन की चकबन्दी करते हुए जनता से वसूल किया जाने वाला कर। (९) जब किसी इलाके मे कोई नया राजकर्मचारी नियुक्त होकर आता था, तो अपने इलाके के व्यापारियो से पेशकश (भेंट-उपहार) प्राप्त करता था। इसी प्रकार के अन्य बहुत-से कर मुगल-साम्राज्य के विविध कर्मचारी जनता से वसूल करते थे, जिनके कारण सर्व-साधारण लोग सदा परेशान रहते थे। मुगल सम्राटों ने यत्न किया, कि इन अबवाबों को नष्ट कर दे। इसीलिये उन्होने मालगुजारी की मात्रा 'षड्भाग' से बढाकर पैदा-वार का तीसरा हिस्सा नियत कर दी, ताकि उससे आमदनी बढ जाने पर सरकार को अबवाब वसूल करने की आवश्यकता न रहे। पर अपने इस उद्देश्य में मुगल-सम्राट् सफल नहीं हो सके, क्योंकि उनके अधीनस्थ कर्मचारी सब प्रकार के उचित-अनुचित उपायों से अपनी आमदनी वृद्धि के लिये उत्सुक रहते थे, और बादशाह की आज्ञा की उपेक्षा करने मे भी संकोच नहीं करते थे।

(३) सामाजिक दशा

मुगल काल के ऐतिहासिकों ने पर्शियन भाषा में जो इतिहास लिखे हैं, उनमें मुगल बादशाहों की विजय-यात्राओं, उनके राजदरबारों और अन्त.पुर के षड्यन्त्रों का विशद रूप से उल्लेख है। उनके अनुशीलन से इस युग की सामाजिक व आर्थिक दशा के सम्बन्ध मे विशेष परिचय नही मिलता। पर इस काल में अनेक यूरोपियन यात्री भारत मे व्यापार और भ्रमण आदि के लिये आये, और उन्होने मुगल साम्राज्य का जो वृतान्त लिखा है, उससे हमें इस युग की सभ्यता और संस्कृति के सम्बन्ध मे अनेक महत्त्वपूर्ण बातें ज्ञात हो सकती हैं।

मुगल काल का सामाजिक जीवन सामन्त-पद्धति पर आश्रित था, जिसमें बादशाह का स्थान कूटस्थानीय व मूर्धन्य था। बादशाह की स्थिति जन-समाज मे सर्वोच्च थी। उसके बाद उन अमीर-उमराओ का स्थान, जो विविध श्रेणी के मनसब प्राप्त कर राज्य-शासन और समाज मे उच्च पद प्राप्त किये हुए थे। इन अमीर-उमरावो को अनेक ऐसे विशेषाधिकार प्राप्त थे, जिनके कारण इनकी स्थिति सर्वसाधारण जनता से सर्वथा भिन्न हो गयी थी। ये अमीर उमरा बड़े आराम के साथ जीवन व्यतीत करते थे, और भोग विलास में स्वाहा करने के लिये इनके पास धन की कोई कमी नही होती थी। बादशाह का अपना जीवन भी बहुत अनियन्त्रित और विलासपूर्ण होता था, और अमीर-उमरा लोग अपने-अपने क्षेत्र मे अपने मनसब के अनुसार बादशाह का अनुकरण करना अपना जन्म-सिद्ध अधिकार समझते थे। न केवल मुगल बादशाह के, अपितु अमीर-उमराओ के भी बडे-बडे हरम (अन्त.पुर) होते थे, जिनमे सैकड़ों हजारो स्त्रियाँ निवास करती थी। अकबर के हरम मे ५००० स्त्रियाँ थी, जिनके भोजन-आच्छादन व विलास-सामग्री का प्रबन्ध करने के लिये एक पृथक् विभाग था। बादशाह के उदाहरण का अनुकरण कर अमीर-उमरा भी बहुत-सी स्त्रियो, नर्तकियों और पेशलरूपा दासियों को अपने हरम मे रखते थे, और उन पर दिल खोलकर खर्च करते थे। बादशाह व अमीर-उमराओ की ओर से बहुत-सी दावतें सदा होती रहती थी, जिनमे सुरापान और सुस्वादु भोजन के अतिरिक्त नाच-गान भी हुआ करता था। मुगल बादशाहत में 'मनसब' वंशक्रमानुगत नही होती थी। यह आवश्यक नही था, कि पाँच-हजारी का लड़का भी पिता की मृत्यु के बाद पाँचहजारी पद को प्राप्त करे। यही दशा उन जागीरों के सम्बन्ध मे थी, जो बादशाह की ओर से मनसब का खर्च चलाने के लिये किसी मनसबदार को दी जाती थी। इसका परिणाम यह था, कि अमीर-उमरा अपनी जागीर व मनसब को अपनी वैयक्तिक आमदनी का साधनमात्र समझते थे, और इस आमदनी को मौज बहार मे उडा देने मे ही अपनी भलाई मानते थे। सुन्दर पोशाक, उत्कृष्ट सुरा, षड्रस भोजन, भोग-विलास, नृत्य-गायन व द्यूत-क्रीड़ा आदि मे वे रुपये को पानी की तरह बहाते थे। धन-ऐश्वर्य की प्रचुरता ने उन्हे आलसी और विलासी बना दिया था। मोरलैण्ड ने हिसाब लगाकर बताया है, कि पाँचहजारी मनसबदार की मासिक आय १८००० रुपये थी, और एक हजारी मनसबदार की ५००० रुपये मासिक। यह आय उस खर्च को निकालने के बाद थी, जो मनसबदार को अपने पद के अनुरूप सैनिक

और घोडे आदि को रखने के लिए करना पडता था। इस युग मे वस्तुओं का मूल्य इतना कम था, कि जीवन के लिये आवश्यक वस्तुओं के क्रय मे यह रकम खर्च ही नही हो सकती थी। इस दशा मे यदि विविध मनसबदार अपनी प्रचुर आय को ऐशो-इशरत में व्यय करे, तो यह सर्वथा स्वाभाविक ही था।

अमीर-उमरा और सर्वसाधारण जनता के बीच की एक मध्य श्रेणी का विकास भी इस युग में हो गया था, जिसमे निम्न वर्ग के कर्मचारी, व्यापारी और समृद्ध शिल्पियों को अन्तर्गत किया जा सकता है। मुगल साम्राज्य के कारण भारत मे जो शान्ति और व्यवस्था स्थापित हो गयी थी, उसमे यह सर्वथा स्वाभाविक था, कि देश के आभ्यन्तर और बाह्य व्यापार का भली-भाँति विकास हो। बडे-बडे नगरो मे निवास करने वाले व्यापारी एक स्थान के माल को दूसरे स्थान पर बेचकर अच्छी रकम पैदा कर लेते थे, पर वे जानबूझकर अपना रहन-सहन सादा रखते थे, क्योंकि नगरो के कोतवालों का एक कार्य यह भी था, कि वे लोगों की आमदनी और खर्च का पता करते रहे। व्यापारियो को सदा यह भय बना रहता था, कि कही राजकर्मचारी उनके रहन-सहन से उनकी आमदनी का अन्दाज न कर ले, और फिर उचित-अनुचित उपायो से रुपया प्राप्त करने का यत्न न करें। इसीलिये वे बहुत सादे तरीके से रहते थे। बर्नियर ने लिखा है, कि व्यापारी लोगो की आमदनी चाहे कितनी भी क्यों न हो, वे अत्यन्त मित-व्ययिता से खर्च करते थे। यही दशा समृद्ध शिल्पियो की भी थी, जिन्हे कि मुगल-काल के वैभव के कारण अपने शिल्प से अच्छी-खासी आमदनी प्राप्त करने का अवसर मिल गया था। बन्दरगाहो मे निवास करने वाले अनेक ऐसे व्यापारी भी इस युग मे थे, जो विदेशी व्यापार के कारण अत्यन्त धनी हो गये थे। ये अमीर-उमराओं के समान विलास-मय जीवन बिताते थे। इन्हे राजकर्मचारियो का विशेष भय भी नही था, क्योकि अनेक मनसबदार समय-समय पर इनसे भेंट-उपहार और कर्ज प्राप्त कर इनसे सन्तुष्ट रहते थे।

अमीर-उमरा व मध्य श्रेणी की तुलना मे सर्वसाधारण जनता की दशा अत्यन्त हीन थी। इस श्रेणी मे किसान, कर्मकर और शिल्पी लोग शामिल थे, जो अपनी आवश्यकताओं को पूर्ण कर सकने योग्य आमदनी को सुगमता के साथ प्राप्त नही कर सकते थे। इनको तन ढकने के लिये कपड़ा भी कठिनता से प्राप्त हो पाता था। रेशमी व ऊनी कपडो का प्रयोग तो इनकी कल्पना से भी परे था। सर्वसाधारण जनता की दशा के सम्बन्ध मे कतिपय यूरोपियन यात्रियों के विवरणो से बहुत अच्छा प्रकाश पडता है। फ्रासिस्को पल्सेअर्त नामक यात्री ने जहाँगीर के समय मे भारत की यात्रा की थी। उसने लिखा है कि इस देश की जनता मे तीन वर्ग ऐसे हैं, जो नाम को तो स्वतन्त्र हैं, पर जिनकी दशा गुलामों से बहुत भिन्न नही है। ये वर्ग मजदूरों (कर्मकरों), चपरासियो, नौकरो और छोटे दूकानदारों के है। पल्सेअर्त के अनुसार मजदूरो को बहुत कम वेतन दिया जाता था। राजकर्मचारी उनसे स्वेच्छापूर्वक बेगार ले सकते थे। अमीर-उमरा व राजकर्मचारी लोग जिस मजदूर को चाहें, काम के लिये बुला सकते थे। कोई यह साहस नही कर सकता था, कि बेगार देने से इन्कार करे। अमीर-उमरा व राजकर्मचारी काम के बदले में उन्हें क्या वेतन दें, यह उनकी अपनी इच्छा पर निर्भर

था। मजदूर व नौकर लोग उनसे स्वेच्छापूर्वक वेतन व मजदूरी तय नहीं कर सकते थे। छोटे दूकानदारों को भी अमीर-उमराओं और मनसबदारों का भय सदा बना रहता था। शक्ति-सम्पन्न राजकर्मचारी बाजार भाव से कम कीमत पर उनसे माल खरीदते थे, और कीमत की प्राप्ति के लिए वे उनकी कृपा पर ही निर्भर रहते थे। वे जानबूझकर गरीबी का जीवन बिताते थे, क्योंकि वे सदा राजकर्मचारियों की लूट व शोषण से डरते रहते थे।

पर इस सब विवेचन से यह नहीं समझना चाहिये, कि मुगल-काल में सर्वसाधारण जनता की दशा बहुत खराब थी। कीमतों की कमी के कारण इस युग में मनुष्य बहुत कम खर्च में अपना निर्वाह कर सकता था। अनेक प्रकार के अबवाबों का अन्त कर मुगल-सम्राटों ने मालगुजारी की मात्रा पैदावार के एक तिहाई हिस्से के रूप में निर्धारित कर दी थी, जिसे प्रदान करने के बाद किसान निश्चिन्त रूप से उपज के दो तिहाई भाग को अपने खर्च के लिए प्रयुक्त कर सकता था। जमींदारी प्रथा उस युग में नहीं थी। जमीन तीन प्रकार की होती थी—खालसा, जागीर और सयूरघाल। जिन जमीनों पर बादशाह का स्वामित्व था, उन्हें खालसा कहते थे। मनसबदारों को वेतन के बदले में जो भूमि प्रदान की जाती थी, उसे जागीर कहते थे। सयूरघाल जमीन वह थी, जो किसी विशेष प्रयोजन से राज्य की ओर से किसी व्यक्ति को मुफ्त में दी गयी होती थी। इन तीनों प्रकार की जमीनों पर किसान को उपज के तृतीयांश से अधिक कर प्रदान करने की आवश्यकता नहीं थी। शेष में वह अपना निर्वाह भली-भाँति कर सकता था।

सुरापान की इल्लत से सर्वसाधारण लोग मुक्त थे। केवल धनी व अमीर-उमरा लोग ही सुरा के व्यसनी थे। टेरी नामक यूरोपियन यात्री ने लिखा है, कि लोग मदमस्त अवस्था में कभी दिखाई नहीं देते, यद्यपि शराब प्रचुर परिमाण में उपलब्ध है। लोगों का भोजन बहुत सादा होता था, और वे विदेशियों के प्रति भद्रता का व्यवहार करते थे। बाल-विवाह इस युग में भली-भाँति प्रचलित हो चुका था। देल्लावाल नामक एक यात्री ने दो बालकों के विवाह का वर्णन किया है, जिन्हें घोड़े पर सहारा देकर बिठाया गया था, और बरात में भी जिन्हें सहारा देकर घोड़े पर ले जाया गया था। अकबर ने इस बात का प्रयत्न किया था, कि बाल-विवाह की प्रथा बन्द हो। उसकी राजाज्ञाओं में से एक यह भी थी, कि रजस्वला होने से पूर्व किसी कन्या का विवाह न हो सके। उसने दहेज-प्रथा, बहु-विवाह और निकट सम्बन्धियों के विवाह को रोकने के लिये भी आदेश दिये थे। पर अकबर को अपने इन प्रयत्नों में कहाँ तक सफलता हुई थी, यह कह सकना कठिन है। पेशवाओं ने भी विवाह के सम्बन्ध में अनेक ऐसे आदेश जारी किये थे, जिनका उद्देश्य पारिवारिक सम्बन्ध को निर्दोष बनाना था। पर यह स्पष्ट है, कि मुगल काल में बाल-विवाह और दहेज प्रथा भली-भाँति विकसित हो चुकी थी। विधवा-विवाह को इस युग में अच्छा नहीं माना जाता था, यद्यपि महाराष्ट्र की ब्राह्मण भिन्न जातियों और उत्तरी भारत के जाटों में यह प्रचलित था। विधवाओं के सती हो जाने की प्रथा भी इस युग में प्रचलित थी। अनेक मुगल सम्राटों ने इसे रोकने व मर्यादित करने का प्रयत्न किया, पर वे सफल नहीं हो सके। नगरों के

कोतवालों का एक कर्तव्य यह भी था, कि किसी विधवा को वे उसकी इच्छा के विरुद्ध सती न होने दें। विविध हिन्दू जातियों में अपने कुलीन होने का विचार भी इस युग में भली-भाँति विकसित हो गया था, और कुलीन समझे जाने वाली जातियाँ अन्य लोगों को अपने से हीन समझने लगी थी।

फलित ज्योतिष में इस युग के हिन्दू और मुसलमान—दोनों का समान रूप से विश्वास था। विजय-यात्रा के लिये प्रस्थान करते हुए या कोई नया कार्य प्रारम्भ करते हुए लोग शकुन का विचार करते थे। पीरो, फकीरों और साधुओ के प्रति जनता में श्रद्धा का भाव था। टेवर्नियर ने लिखा है, कि इस देश में ८,००,००० मुसलिम फकीर और १२,००,००० हिन्दू साधु हैं, जो जनता से भिक्षा प्राप्त कर अपना निर्वाह करते हैं। टेवर्नियर की दी हुई संख्याएँ कहाँ तक सही हैं, यह निश्चय कर सकना कठिन है, पर वर्त्तमान भारत के साधुओं को दृष्टि में रखते हुए इनको सही न मानने का कोई कारण नही है। हिन्दुओं की नैतिक दशा बहुत उन्नत थी। टेवर्नियर ने उनके विषय मे लिखा है, कि "हिन्दू लोग नैतिक दृष्टि से बहुत उत्कृष्ट है। वैवाहिक जीवन में वे अपनी स्त्रियो के प्रति अनुरक्त रहते है, और उनके साथ धोखा नही करते। उनमें व्यभिचार या अनैतिकता बहुत कम पाई जाती है।" पर मुसलिम अमीर-उमराओ का जीवन इस ढंग का नही था। वे अपने वैयक्तिक जीवन मे नैतिकता के आदर्शों का बहुत कम पालन करते थे।

(४) आर्थिक दशा

बाबर और हुमायूं के समय की आर्थिक दशा के सम्बन्ध मे हमें अधिक परिचय नही है। बाबरनामा मे बादशाह बाबर के काल की आर्थिक दशा के विषय मे जो कुछ लिखा है, अनेक ऐतिहासिक उसे प्रामाणिक नही मानते। इसी प्रकार गुलबदन बेगम के हुमायूँनामा मे उल्लिखित विवरण को भी विश्वास-योग्य नही माना जाता। उसके अनुसार अकबर के जन्मस्थान अमरकोट मे चार बकरियाँ एक रुपये मे खरीदी जा सकती थी, और अन्य वस्तुओ की कीमतें भी इसी प्रकार से अत्यधिक सस्ती थी। पर अकबर के समय की आर्थिक दशा पर जहाँ आइने-अकबरी से बहुत प्रकाश पडता है, वहाँ इस काल के यूरोपियन यात्रियो के विवरणो से भी इस सम्बन्ध मे बहुत-सी बातें ज्ञात होती हैं। बाद के मुगल बादशाहो के शासन-काल के सम्बन्ध में परिचय प्राप्त करने के भी अनेक विश्वसनीय साधन ऐतिहासिको के पास विद्यमान हैं। इस काल में यूरोपियन व्यापारियो ने अपनी कोठियाँ समुद्र तट के नगरों मे स्थापित कर ली थीं, और उनके रिकार्डों से मुगल युग के आर्थिक जीवन के विषय मे बहुत प्रामाणिक जानकारी प्राप्त की जा सकती है।

नगर—मुगल युग मे भारत के अनेक नगर बहुत समृद्ध थे। फिच नामक यूरोपियन यात्री ने १५८५ मे लिखा था—"आगरा और फतहपुर दो बहुत बडे नगर हैं। इन दो में से प्रत्येक विशालता और जनसख्या की दृष्टि से लण्डन की अपेक्षा बहुत बड़ा है। आगरा और फतहपुर के बीच का अन्तर बारह मील है। इस सुदीर्घ मार्ग के दोनों ओर बहुत-सी दुकानें हैं। इस पर चलते हुए इतने मनुष्य मार्ग मे मिलते हैं, कि यह

प्रतीत होता है मानो हम बाजार में घूम रहे हों।" पंजाब के विषय में टैरी ने लिखा है—"यह एक विशाल और उपजाऊ सूबा है। इसका प्रधान नगर लाहौर है, जो बहुत बड़ा है, और जनसंख्या व सम्पत्ति दोनों दृष्टियो से अत्यन्त समृद्ध है। व्यापार के लिये यह भारत के सबसे बड़े नगरों में से एक है।" १५८१ मे मोंसरात ने लाहौर के विषय में लिखा था, कि "यह नगर यूरोप व एशिया के किसी भी अन्य नगर की तुलना में कम नही है।" आगरा, फतहपुर सीकरी और लाहौर के समान बुरहानपुर (खानदेश), अहमदाबाद (गुजरात), बनारस, पटना, राजमहल, बर्दवान, हुगली, ढाका और चटगाँव भी मुगल-युग में अत्यन्त समृद्ध नगर थे।

मुद्रा पद्धति—मुगल-युग की मुद्रा-पद्धति को स्थायी व नियमित रूप देने के लिये अकबर ने बहुत उद्योग किया। १५७७ ई० में उसने अब्दुस्समद शिराजी को टकसाल का दारोगा बनाया, जिसके अधिकार मे दिल्ली की टकसाल दे दी गयी। इस तरह के दारोगा लाहौर, जौनपुर, अहमदाबाद, पटना आदि की टकसालो के लिये भी नियत किये गए। यह व्यवस्था की गयी, कि इन विभिन्न टकसालों मे जिन सिक्को का निर्माण हो, वे तोल, आकार और धातु-शुद्धता आदि की दृष्टि से एकसदृश हो। अकबर के सिक्कों मे रुपया और दाम प्रमुख थे। रुपया चाँदी का होता था, और उसका वजन १७५ ग्रेन या ११ माशा के लगभग था। एक रुपये में ४० दाम होते थे, जिन्हे पैसा भी कहते थे। दाम या पैसे का वजन ३२३ ग्रेन था। आजकल के पैसे के मुकाबले में यह बहुत भारी होता था, और इसके निर्माण के लिये ताम्बे का प्रयोग किया जाता था। दाम या पैसे के उपविभाग को जीतल कहते थे। एक पैसा २५ जीतल के बराबर होता था। अकबर ने चाँदी का एक अन्य सिक्का भी जारी किया था, जिसे 'जलाली' कहते थे। यह आकार मे चौकोर होता था। अकबर के समय मे जो मुद्रापद्धति जारी की गयी, वही थोडे-बहुत अदल-बदल के साथ सम्पूर्ण मुगल युग मे कायम रही।

कीमतें—आइने-अकबरी मे बहुत-सी वस्तुओ की कीमतें दी गयी हैं, जो मुगल-युग की आर्थिक दशा को जानने के लिये बहुत सहायक हैं। इनमे से कुछ का उल्लेख करना उपयोगी होगा। अकबर के समय मे गेहूँ का भाव १२ दाम प्रति मन था। अन्य वस्तुओ का भाव प्रति मन निम्नलिखित प्रकार था—जौ ८ दाम, चना १६॥ दाम, बढ़िया चावल २० दाम, घटिया चावल ११ दाम, बाजरा ८ दाम, मूँग १८ दाम, आटा २२ दाम, घी १०५ दाम, तेल ८० दाम, दूध २५ दाम और चीनी १२८ दाम। शक्कर का भाव ५५ दाम प्रति मन और उड़द की दाल १६ दाम प्रति मन थी। भेड १½ रुपये मे खरीदी जा सकती थी, और गाय का मूल्य १० रुपया था। बकरे का मास ६५ दाम प्रति मन के भाव से बिकता था। इस प्रसग में यह ध्यान मे रखना आवश्यक है, कि अकबर के समय का मन वर्तमान समय के २५ सेर के बराबर होता था। यदि अकबरी रुपये को वर्तमान समय के रुपये (जिसका वजन १२ माशा होता है) के बराबर मान लिया जाय, तो विभिन्न वस्तुओ के मूल्य इस प्रकार होंगे—गेहूँ १ रु० की ८३ सेर, बाजरा १ रु० का १२५ सेर, उड़द या मूँग की दाल १ रु० की ५६ सेर, घी १ रु० का ९ सेर, दूध १ रु० का ४० सेर, बकरे का मास १ रु० का १५ सेर, और चीनी १। रु० की ८ सेर। वर्तमान समय की कीमतों से तुलना करके यह भली-भाँति समझा

जा सकता है, कि अकबर के समय में सर्वसाधारण जनता के उपयोग की सब वस्तुएँ बहुत अधिक सस्ती थीं। पर कीमतों के सस्ती होने के साथ-साथ इस युग में मजदूरी की दर भी बहुत कम थी। मामूली मजदूर की मजदूरी इस समय दो दाम प्रति दिन और मिस्त्री, राज, बढई आदि की मजदूरी ७ दाम प्रति दिन थी। यदि गेहूँ की दृष्टि से देखा जाय, तो अकबर के समय मजदूर अपनी दैनिक मजदूरी से सवा चार सेर के लगभग गेहूँ खरीद सकता था। मिस्त्री, बढ़ई आदि तो अपनी मजदूरी से १३ सेर के लगभग गेहूँ प्रतिदिन प्राप्त कर सकते थे। सस्ती कीमतो के कारण इस युग के लोगों को अपना गुजारा करने मे विशेष कठिनाई नहीं होती थी। मजदूरी की दर कम होते हुए भी लोग प्रसन्न व सन्तुष्ट थे। एडवर्ड टैरी के अनुसार "सम्पूर्ण देश मे खाद्य पदार्थों का बाहुल्य था···और बिना किसी कठिनाई के सब लोग रोटी खा सकते थे।" इसमें सन्देह नहीं, कि मुगलयुग मे सर्वसाधारण जनता आर्थिक दृष्टि से बहुत दुर्दशाग्रस्त नहीं थी, और वह अपने लिये आवश्यक वस्तुएँ सुगमता से प्राप्त कर लेती थी।

दुर्भिक्ष—मुगल-युग मे भारत को अनेक दुर्भिक्षो का सामना करना पड़ा। आगरा और बियाना के समीपवर्ती प्रदेशों में १५५५-५६ में एक भयकर दुर्भिक्ष पडा, जिसका वर्णन करते हुए बदायूँनी ने लिखा है—लोग मानव माँस को खाने मे तत्पर हो गये और दुर्भिक्ष से पीडित नर-नारियो की दशा को आँखों से देख सकना सम्भव नहीं रहा, और यह सम्पूर्ण प्रदेश एक रेगिस्तान के समान दिखाई देने लगा। १५७३-७४ में गुजरात मे दुर्भिक्ष पडा, जिसके साथ ही एक भयंकर महामारी भी फैल गयी। १५९५ से लेकर १५९८ तक एक बार भारत को पुनः दुर्भिक्ष का सामना करना पडा, और नरमाँस तक का भक्षण करने मे लोगो ने संकोच नही किया। इस दुर्भिक्ष मे अनेक नगरो के बाजार लाशो से पट गये थे, और लाशों को दफना सकना भी सम्भव नहीं रह गया था। इन तीन दुर्भिक्षो मे से एक बाबर के समय मे हुआ, एक हुमायूँ के समय में और तीसरा अकबर के समय मे। जहाँगीर के शासनकाल मे भारत को किसी दुर्भिक्ष का सामना नही करना पडा। पर शाहजहाँ के समय में दक्खन और गुजरात मे एक बार फिर दुर्भिक्ष पडा, जिसका वृतान्त एक डच व्यापारी ने इस प्रकार लिखा है—"गलियो मे अर्धमृत दशा में पडे हुए लोगों को दूसरे लोग मार डालते थे, और मनुष्य मनुष्य का भक्षण करने के लिये तत्पर हो गये थे। मनुष्यो के लिए गलियों व मार्गों पर चल सकना कठिन हो गया था, क्योंकि उन्हें सदा यह भय बना रहता था कि कोई उन पर आक्रमण न कर दे।"

मुगल युग में दुर्भिक्षों का प्रधान कारण यह था, कि इस काल मे भारत की अधिकाश भूमि दैवमातृका थी। नहरो व कुओं से सिंचाई का कोई विशेष प्रबन्ध नहीं था। यदि किसी साल वर्षा न होती, तो फसल नष्ट हो जाती और जनता के लिये भोजन प्राप्त कर सकना कठिन हो जाता। इस युग में आवागमन और माल की ढुलाई का वैसा प्रबन्ध नही था, जो रेल, मोटर आदि के कारण आजकल के जमाने में हैं। अतः यदि गुजरात मे अकाल पडता, तो पंजाब या बंगाल से वहाँ अनाज पहुँचा सकना सुगम नही होता था। दुर्भिक्ष की भयंकरता का यही प्रधान कारण था।

शिल्प और व्यवसाय—मुगल-युग में भारत के आर्थिक जीवन का प्रधान आधार

खेती थी। बहुसंख्यक लोग खेती द्वारा अपना निर्वाह करते थे। पर अनेक व्यवसाय व शिल्प इस युग में विकसित हो चुके थे, और भारत में तैयार हुए सूती व रेशमी कपड़ों और अन्य अनेक पदार्थों की न केवल इस देश के सम्पन्न लोगों मे अपितु विदेशों में भी बहुत माँग थी। यह ध्यान में रखना चाहिये, कि यूरोप में भी अभी व्यावसायिक क्रान्ति नहीं हुई थी। भारत के समान इंगलैंड और फ्रांस के कारीगर भी अठारहवीं सदी के प्रारम्भ तक यान्त्रिक शक्ति की सहायता के बिना छोटे-छोटे उपकरणो से ही आर्थिक उत्पत्ति किया करते थे, और बड़े कल-कारखानो का विकास इस समय तक नहीं हुआ था। यदि अठारहवी सदी के पूर्वार्द्ध तक के व्यावसायिक जीवन दृष्टि मे रखा जाय, तो भारत, फ्रास या इंग्लैण्ड से किसी भी प्रकार कम नहीं था, और इम देश में तैयार हुए माल को देश-विदेश में सर्वत्र अत्यन्त आदर की दृष्टि से देखा जाता था।

भारत के इस युग के व्यवसायों में वस्त्र-व्यवसाय सर्वप्रधान था। गुजरात, खानदेश, जौनपुर, बनारस, पटना आदि इस व्यवसाय के केन्द्र थे, और बंगाल मे जिस ढंग का महीन सूती कपडा बनता था, वह ससार मे अपनी तुलना नही रखता था। उडीसा से पूर्वी बंगाल तक का सारा प्रदेश कपडे के कारखानो से छाया हुआ था, और ऐसा प्रतीत होता था, कि मानो यह सब प्रदेश वस्त्र-निर्माण का एक विशाल कारखाना हो। विशेषतया, ढाका का जिला महीन मलमल के लिये सर्वत्र प्रसिद्ध था। फ्रासिस्को पल्सेअर्त के अनुसार पूर्वी बंगाल के सोनारगाँव और चाबासपुर में सब लोग वस्त्र-व्यवसाय द्वारा ही अपना निर्वाह करते थे, और वहाँ तैयार हुआ कपडा अपनी खूबियों के कारण अत्यधिक विख्यात था। बर्नियर ने लिखा है, कि बंगाल मे सूती और रेशमी कपडा इतना अधिक होता है, कि उसे न केवल बगाल व मुगल-साम्राज्य का, अपितु सब पडोसी देशो व यूरोप तक का, इस पण्य के लिये विशाल भण्डार समझा जा सकता है। वस्त्र-व्यवसाय के साथ-साथ कपडे की रंगाई और छपाई का शिल्प भी इस देश में बहुत उन्नत दशा मे था। टैरी के अनुसार सूती कपडे को रंगकर या बिना रंगे ही इस प्रकार सुन्दरता के साथ छापा जाता था, कि पानी द्वारा रग व छपाई को उतार सकना किसी भी तरह सम्भव नही रहता था। भारत की छींट संसार के बाजारों में सर्वत्र दिखाई देती थी, और सब देशो के धनी लोग बडे शौक से उसे क्रय करते थे। सूती वस्त्रो के समान रेशमी कपडो का भी प्रधान केन्द्र बंगाल ही था। टैवर्नियर के यात्रा-विवरण के आधार पर मोरलैण्ड ने लिखा है, कि बंगाल मे २५,००,००० पौण्ड वजन के लगभग का रेशम प्रतिवर्ष तैयार होता था, जिसमे से ७,५०,००० पौण्ड रेशम डच लोग खरीद कर यूरोप भेज देते थे, और शेष बगाल व भारत के अन्य सूबों में बुनाई के लिये प्रयुक्त किया जाता था। इस रेशम का कुछ भाग स्थलमार्ग द्वारा मध्य एशिया को भी जाता था। रेशमी कपड बुनने की खड्डियाँ बगाल के अतिरिक्त लाहौर, आगरा, गुजरात आदि में भी थीं। इसीलिये इन प्रदेशो के व्यवसायी बगाल के रेशम को क्रय करने के लिये सदा उत्सुक रहते थे। अकबर ने शाल और गलीचे के व्यवसाय को भी प्रोत्साहन दिया था। काश्मीर के अतिरिक्त लाहौर और आगरा भी इस व्यवसाय के अच्छे महत्त्वपूर्ण केन्द्र थे। शाल और गलीचो के साथ-साथ अनेक प्रकार के ऊनी वस्त्र व कम्बल भी इन स्थानों के कारखानों मे तैयार होते थे।

मुगल-युग के अन्य व्यवसायों में नौका-निर्माण और शोरे का कारोबार विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। विशाल मुगल-साम्राज्य में नदियों को पार करने के लिये और विशेषतया सेनाओं को नदियों के पार उतारने के लिये नौकाओं का बहुत महत्त्व था। साथ ही, इस युग में व्यापार के लिये भी गंगा जैसी नदियाँ बहुत काम आती थीं। जल-मार्ग द्वारा माल को एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाना बहुत सस्ता पड़ता था। इन सब प्रयोजनों के लिये जो नौकाएँ जरूरी थीं, वे सब भारत में ही बनती थीं। बंगाल की खाड़ी के समीपवर्ती प्रदेशों की अराकानी लोगों व सामुद्रिक डाकुओं से रक्षा करने के लिये मुगल काल मे एक जहाजी बेड़ा भी था, यह हम पहले लिख चुके हैं। ये जहाज भी भारत के शिल्पियों द्वारा ही तैयार किये जाते थे। शोरे का उपयोग बारूद के निर्माण के लिये होता था। मुगल-युग मे बारूद का प्रयोग बड़े पैमाने पर शुरू हो गया था, अतः मुगलो के तोपखाने के लिये आवश्यक बारूद का निर्माण करने के प्रयोजन से शोरे की बहुत माँग रहती थी। डच और इंग्लिश व्यापारी भी भारत से शोरा खरीद कर अपने देशों को भेजते थे और वहाँ उसे बारूद के लिये प्रयोग में लाया जाता था। इस कारण शोरे का व्यवसाय भी इस युग मे अच्छी उन्नत दशा में था।

विदेशी व्यापार—मुगल-युग मे विदेशों के साथ व्यापार स्थल और जल–दोनों मार्गों से होता था। विदेशी व्यापार के दो स्थल-मार्ग प्रधान थे। एक मार्ग लाहौर से काबुल को जाता था, और दूसरा मुलतान से कन्धार को। सामुद्रिक व्यापार के लिये अनेक बन्दरगाह भारत के समुद्र तट पर विद्यमान थे, जिनमे सिन्ध का लाहौरी बन्दर, गुजरात के सूरत, भड़ौच और कैम्बे, रत्नगिरि के तटवर्ती बसीन, चौल और दाभोल, मलाबार के कालीकट और कोचीन, और पूर्वी समुद्र तट के सातगाँव, श्रीपुर, चटगाँव, सोनारगाँव, नेगापटम और मछलीपटम बन्दरगाह विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इनके अतिरिक्त पश्चिमी समुद्र तट का गोआ बन्दरगाह भी इस समय अच्छी उन्नत दशा में था, जो पोर्तुगाजी व्यापारियों का महत्त्वपूर्ण केन्द्र था। इन बन्दरगाहो से भारत का माल विदेशो मे और विदेशी माल भारत मे विक्रय के लिये आता था। राज्य की ओर से इस माल पर महसूल लिया जाता था, जिसकी मात्रा सोना-चाँदी पर दो प्रतिशत और अन्य सब प्रकार के माल पर साढे तीन प्रतिशत थी। यूरोपियन देशों के बहुत-से व्यापारी इस युग मे व्यापार के लिये भारत आने जाने लगे थे, और इनके कारण भारत के विदेशी व्यापार की मात्रा बहुत अधिक बढ गई थी। मुगल बादशाहों की यह नीति थी, कि सोना-चाँदी भारत से बाहर न जाने पाए, और विदेशी व्यापारी जो माल इस देश से खरीदें, उसकी कीमत मे सोना-चाँदी मे अदा किया करें। इसीलिये यूरोपियन व्यापारियों को भारत का माल प्राप्त करने के लिए सोना-चाँदी अपने साथ लाना पड़ता था। जो माल बिक्री के लिये भारत से बाहर जाता था, उसमें विविध प्रकार के सूती व रेशमी वस्त्र, मिर्च-मसाले, नील, अफीम और औषधि मुख्य थे। भारत मे बिकने आने वाले विदेशी माल मे सोना, चाँदी, घोड़े, धातुएँ, हाथी दाँत, मूँगें, अम्बर, मणि-माणिक्य, सुगन्धि आदि प्रधान थे। विदेशी व्यापार के कारण इस देश के बन्दरगाहों में निवास करने वाले व्यापारी बहुत समृद्ध हो गये थे, और भारत के वैभव में भी इससे बहुत सहायता मिली थी।

सताईसवाँ अध्याय

मुगल युग का साहित्य, कला, धर्म और जीवन

(१) शिक्षा

शिक्षणालय—जिस प्रकार आजकल राज्य की ओर से शिक्षणालयों का संचालन व नियन्त्रण होता है, वैसा प्राचीन व मध्यकाल मे नही होता था। इस काल में शिक्षा का कार्य धार्मिक संस्थाओं के अधीन था, और मन्दिरों व मस्जिदो के साथ अनेक इस प्रकार के विद्यालय स्थापित थे, जिनमें विद्यार्थी साधारण व उच्च शिक्षा प्राप्त करते थे। बौद्ध-युग मे जिन विहारों व महाविहारों की स्थापना हुई थी, वे अब नष्ट हो चुके थे। उनका स्थान अब मन्दिरों और मस्जिदों के साथ सम्बद्ध शिक्षा-संस्थाओं ने ले लिया था। हिन्दू-मन्दिर हिन्दू-धर्म, दार्शनिक चिन्तन और भारतीय संस्कृति के केन्द्र थे, और मस्जिदो मे पर्शियन भाषा, कुरान व अन्य मुसलिम धर्मग्रन्थों की शिक्षा की समुचित व्यवस्था थी। इन धार्मिक शिक्षणालयो का खर्च जहाँ जनता द्वारा दिये जाने वाले दान से चलता था, वहाँ मुगल बादशाह व उनके बडे-बड़े मनसबदार व अमीर-उमरा भी इन्हे आर्थिक सहायता व जागीरें प्रदान करते थे और उनकी आमदनी से इनका खर्च भली-भाँति पूरा हो जाता था। मुगल बादशाहों ने मस्जिदों के साथ विद्यमान 'मकतबों' की दिल खोलकर सहायता की, और विद्वानों के सरक्षण व सहायता में भी उन्होने बहुत उदारता दिखाई।

सैयद मकबर अली ने अपनी तवारीख मे बाबर के विषय में लिखा है, कि बादशाह बाबर ने मकतबों व शिक्षणालयों की उन्नति पर बहुत ध्यान दिया, और उसकी सरकार के अन्यतम विभाग शुहरते-आम का एक कर्तव्य यह था, कि शिक्षा-संस्थाओ की उन्नति की व्यवस्था करे। यद्यपि हुमायूँ का अधिकांश समय युद्धों में व्यतीत हुआ, पर उसे भूगोल और ज्योतिष का बहुत शौक था। पुस्तको का वह बडा प्रेमी था, और युद्ध यात्रा के समय भी वह बहुत-सी पुस्तकों को अपने साथ रखता था। उसने दिल्ली में एक मदरसे की स्थापना की, और पुराने किले मे शेरशाह द्वारा निर्मित प्रमोद भवन को पुस्तकालय के रूप में परिणत किया। अकबर के समय मे मुगल साम्राज्य पूर्णतया व्यवस्थित हो गया था। इस कारण बादशाह मकतबों और मदरसों की उन्नति पर विशेष ध्यान दे सका। फतहपुर सीकरी, आगरा व अन्य अनेक नगरों मे उसने मदरसे खुलवाये, जिनमें विविध मुसलिम विद्वान् शिक्षण के कार्य में व्यापृत रहते थे। अकबर ने यह भी व्यवस्था की, कि इन मदरसों में हिन्दू विद्यार्थी भी शिक्षा प्राप्त कर सकें। जहाँगीर पर्शियन और तुर्की भाषाओं का विद्वान् था। उसने यह आदेश जारी किया, कि जिस किसी धनी मनुष्य का कोई वारिस न हो, उसकी सम्पत्ति पर राज्य का

अधिकार हो जाय, और इस सम्पत्ति का उपयोग मकतबों और मदरसों की मरम्मत के खर्च के लिये किया जाए। 'तारीखे-जाँजहाँ' में जहाँगीर के विषय मे लिखा है, कि जो मदरसे वर्षों से उजड़े पड़े थे और जिनमे पशु भी निवास करने लगे थे, बादशाह की कोशिश से वे सब अध्यापकों और विद्यार्थियों से परिपूर्ण हो गये। शाहजहाँ को भी विद्या और ज्ञान से बहुत प्रेम था। वह अपना कुछ समय नियमित रूप से विद्याध्ययन मे व्यतीत करता था, और उसने दिल्ली मे एक नये मदरसे की स्थापना की थी। दार-उलबका नाम का एक पुराना मदरसा इस समय बिल्कुल उजड़ी हुई दशा मे था। शाहजहाँ ने उसका भी जीर्णोद्धार करवाया। शाहजहाँ का ज्येष्ठ पुत्र दाराशिकोह अरबी, पर्शियन और संस्कृत का पण्डित था। उसने उपनिषद्, भगवद्-गीता, योगवासिष्ठ आदि अनेक संस्कृत ग्रन्थों का स्वयं पर्शियन भाषा मे अनुवाद किया, और सूफी सम्प्रदाय सम्बन्धी अनेक मौलिक ग्रन्थ भी लिखे। औरंगजेब स्वयं अच्छा विद्वान् था। पर उसकी सब शक्ति मुगल-साम्राज्य का विस्तार करने और राज्यशासन को मुस्लिम सिद्धान्तों के अनुरूप बनाने में ही लग गयी। वह अपने साम्राज्य मे शिक्षा की उन्नति की ओर ध्यान देने मे असमर्थ रहा, यद्यपि उसने इस्लाम की वृद्धि और मुस्लिम धर्मशास्त्रों के अध्ययन को प्रोत्साहित करने के लिये अनेक महत्त्वपूर्ण कार्य किये।

मुसलिम बादशाहों के शासनकाल में विद्यमान विविध मकतबों और मस्जिदों में बहुत-से विद्यार्थी शिक्षा ग्रहण करते थे। यह शिक्षा प्रधानतया पर्शियन और अरबी भाषाओं और कुरान आदि मुसलिम धर्म-ग्रन्थों की ही होती थी। इस प्रकार हिन्दू-मन्दिरों मे संस्कृत और हिन्दू शास्त्रों का अध्ययन-अध्यापन होता था। गणित, ज्योतिष, चिकित्सा शास्त्र आदि वैज्ञानिक विषयों की पढ़ाई का भी इनमे प्रबन्ध था, पर ये विषय भी धार्मिक साहित्य के अंग-रूप मे ही पढ़ाये जाते थे। शिल्प की शिक्षा के लिये विद्यार्थी प्रायः उस्तादों (आचार्यों) की सेवा मे उपस्थित होते थे, जिनके पास वे शागिर्द (अन्ते-वासी) के रूप मे निवास करते थे। पर मस्जिदों और मन्दिरों के साथ सम्बद्ध शिक्षण-संस्थाओं से लाभ उठाने का अवसर सर्वसाधारण जनता को बहुत कम मिलता था, और इस युग के बहुसंख्यक लोग प्रायः निरक्षर ही होते थे। बड़े घरों के लड़कों के समान उनकी लड़कियाँ भी शिक्षा प्राप्त करती थी। बादशाह के हरम और अमीर-उमरावों के घरों की स्त्रियाँ जहाँ संगीत, कला आदि मे निपुण होती थी, वहाँ साथ ही शिक्षित होने का भी प्रयत्न करती थी। यही कारण है, कि मुगल-युग में हमे अनेक सुशिक्षित व सुसंस्कृत महिलाओं का पता मिलता है। बाबर की लड़की गुलबदन बेगम एक सुशिक्षित महिला थी। उसने 'हुमायूँनामा' नामक पर्शियन पुस्तक मे अपने भाई हुमायूँ का चरित्र लिखा है। हुमायूँ की भतीजी सलीमा सुलतान ने भी पर्शियन भाषा में अनेक पुस्तकें लिखी, जिनमे से कतिपय इस समय भी उपलब्ध हैं। जहाँगीर की प्रेयसी मलिका नूरजहाँ और शाहजहाँ की बेगम मुमताज महल अत्यन्त सुसंस्कृत महिलायें थीं। मुगल खानदान की अन्य सुशिक्षित महिलाओं मे जहाँनारा और जेबुन्निसा के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। ये सब स्त्रियाँ अरबी और फारसी पर अधिकार रखती थीं, और विद्या व ज्ञान से उन्हे बहुत प्रेम था।

(२) साहित्य

पर्शियन साहित्य—मुगल युग के साहित्य में पर्शियन ग्रन्थों का स्थान बहुत महत्त्वपूर्ण है। इस युग के पर्शियन साहित्य को तीन भागों में बाँटा जा सकता है—(१) इतिहास व जीवन चरित्र, (२) अनुवाद ग्रन्थ और (३) काव्यग्रन्थ। ऐतिहासिक ग्रन्थों में मुल्ला दाऊद द्वारा लिखित तवारीखे-अल्फी, अबुल फजल द्वारा लिखित आइने-अकबरी और अकबर नामा, बदाउनी द्वारा लिखित मुन्तखाब-उत्-तवारीख, निजाम-उद्दीन अहमद द्वारा विरचित तबकाते-अकबरी, फैजी सरहिन्दी द्वारा लिखित अकबर-नामा और अब्दुल बकी द्वारा लिखित मआसीरे-रहीमी ग्रन्थ विशेष महत्त्वपूर्ण हैं। मुगल युग का सबसे प्रसिद्ध पर्शियन लेखक अबुल फजल था, जो अकबर का परम मित्र और सहायक था। वह न केवल ऐतिहासिक था, अपितु साथ ही एक सुसंस्कृत कवि, आलोचक और विद्वान् भी था। उसकी आइने-अकबरी का अकबर के समय का ज्ञान प्राप्त करने के लिये उतना ही महत्त्व है, जितना कि मौर्य चन्द्रगुप्त के समय के लिए कौटलीय अर्थशास्त्र का है।

मुगल बादशाहों ने अनेक संस्कृत ग्रन्थों का पर्शियन भाषा में अनुवाद कराने के लिये भी प्रयत्न किया। अकबर के आदेश से महाभारत के बहुत-से भागों का पर्शियन मे अनुवाद हुआ, और इन्हे 'रज्म-नामा' नाम दिया गया। महाभारत का यह अनुवाद मुस्लिम विद्वानों द्वारा किया गया था, जो कि पर्शियन के साथ-साथ संस्कृत के भी पण्डित थे। १५८९ में बदाउनी ने रामायण का पर्शियन मे अनुवाद किया। हाजी इब्राहीम सरहिन्दी ने अथर्ववेद को और फैजी ने लीलावती को पर्शियन भाषा में अनूदित किया। लीलावती गणित का प्रसिद्ध और प्राचीन ग्रन्थ है। इसी प्रकार मुकम्मल खाँ गुजराती ने ज्योतिष के प्राचीन ग्रन्थ 'ताजक' का और मौलाना शाह मुहम्मद शाहबादी ने काश्मीर के इतिहास का पर्शियन मे अनुवाद किया। अकबर की प्रेरणा से अनेक ग्रीक और अरबी पुस्तकें भी पर्शियन मे अनूदित की गयी। इसमे सन्देह नही, कि बादशाह अकबर के संरक्षण मे पर्शियन साहित्य की बहुत उन्नति हुई। जहाँ उसमे अनेक मौलिक पुस्तकें लिखी गयी, वहाँ अन्य भाषाओ की अनेक महत्त्वपूर्ण पुस्तकें अनुवाद द्वारा भी उसमे समाविष्ट हुई। अकबर की सरक्षा मे जिन अनेक कवियो ने पर्शियन भाषा में काव्य-रचना की, उनमे फैजी, गिजली, मुहम्मद हुसैन नजीरी और सैयद जमालुद्दीन उर्फी का बहुत ऊँचा स्थान है।

पर्शियन भाषा के जो अनेक विद्वान् व साहित्यिक जहाँगीर के राजदरबार की शोभा बढाते थे, उनमे गियास बेग ननकीब खाँ, मुतमिद खाँ, निआमतुल्ला और अब्दुल हक देहलवी सर्वप्रधान है। इस काल के ऐतिहासिक ग्रन्थों में मुआसीरे-जहाँगीरी और जुब्दुत्तवारीख विशेष प्रसिद्ध हैं।

अपने पिता और पितामह के समान शाहजहाँ भी विद्वानों का संरक्षक व आश्रय-दाता था। उसके आश्रय में निवास करने वाले ऐतिहासिकों ने जो अनेक इतिहास-ग्रन्थ लिखे, उनमें अब्दुल हमीद लाहौरी द्वारा लिखित पादशाहनामा और इनायत खाँ द्वारा लिखित शाहजहाँनामा बहुत प्रसिद्ध हैं। शाहजहाँ के वृत्तान्त और इस युग के भारत

के सम्बन्ध में परिचय प्राप्त करने के ये ही मुख्य साधन हैं। दाराशिकोह ने जिन अनेक संस्कृत पुस्तकों का पर्शियन भाषा में अनुवाद किया था, उनका उल्लेख हम इसी प्रकरण में ऊपर कर चुके हैं। औरंगजेब को शिक्षा और साहित्य से विशेष प्रेम नहीं था। न उसे संगीत का शौक था, और न कला व कविता का। इतिहास लेखन के भी वह विरुद्ध था। फिर भी उसके समय में पर्शियन भाषा में अनेक इतिहास-ग्रन्थ लिखे गये, जिनमें मिर्जा मुहम्मद काजिम का आलमगीरनामा, मुहम्मद साकी का मग्रासीरे-आलमगीर, सुजानराय खत्री का खुलासातुत्तवारीख, भीमसेन का नुस्काए-दिलकुशा और ईश्वरदास का फतूहाते-आलमगीरी बहुत महत्त्वपूर्ण हैं। जिस प्रकार ब्रिटिश युग में बहुत-से हिन्दू और मुसलमान अंग्रेजी की योग्यता प्राप्त कर इस विदेशी भाषा मे ग्रन्थ प्रणयन करने के लिये प्रवृत्त हुए, वैसे ही मुगल शासन में अनेक हिन्दुओ ने भी पर्शियन भाषा का अच्छा ज्ञान प्राप्त कर लिया था, और उनके लिखे हुए पर्शियन भाषा के ग्रन्थ भाषा और शैली की दृष्टि से बहुत उत्कृष्ट कोटि के हैं। इस युग में राजकीय कार्यों के लिये पर्शियन भाषा का ही उपयोग होता था, और इसी कारण उच्च व सम्पन्न वर्ग के हिन्दू इस भाषा में योग्यता प्राप्त करने के लिए प्रयत्नशील रहते थे।

औरंगजेब के शासनकाल के अन्तिम भाग में मुगल साम्राज्य में अव्यवस्था और अराजकता छा गयी थी। उसके उत्तराधिकारी निर्बल थे, और वे मुगल बादशाहत को अक्षुण्ण रखने में असमर्थ रहे। औरंगजेब के बाद भारत का प्रधान राजशक्ति मुगलों के हाथो से निकलकर मराठों के हाथों में आ गयी। यही कारण है, कि पिछले मुगल बादशाहो के समय में पर्शियन साहित्य का अधिक विकास नहीं हो सका।

हिन्दी-साहित्य—हिन्दी साहित्य की दृष्टि से मुगल-युग को 'सुवर्णीय काल' माना जाता है। इसमे सन्देह नहीं, कि मुगल-साम्राज्य की स्थापना के कारण भारत में जो शान्ति और सुव्यवस्थित शासन कायम हो गया था, उससे लाभ उठाकर अनेक प्रतिभाशाली कवि इस युग में हिन्दी काव्य-साहित्य के विकास मे तत्पर हुए। हिन्दी भाषा का यह साहित्य प्रधानतया धार्मिक था। अफगान युग में हिन्दू धर्म मे जो नई चेतना उत्पन्न हुई थी, उसके कारण सर्वसाधारण जनता में नवजीवन का संचार हो गया था। स्वामी रामानन्द, कबीर, नाटक, चैतन्य आदि सन्त-महात्माओं ने भारत के धार्मिक क्षेत्र मे जो नई लहर चलाई थी, वह निरन्तर जोर पकड़ रही थी, और उससे प्रभावित होकर तुलसी, सूर आदि कवियो ने एक ऐसी भक्तिमयी धारा का प्रवाह शुरू किया, जिससे भारत की सर्वसाधारण जनता ने बहुत शान्ति और सान्त्वना प्राप्त की।

तुलसी, सूर आदि कवियों का इस युग के धार्मिक इतिहास में बहुत अधिक महत्त्व है, क्योकि उन्होंने अपने धार्मिक विचारों के प्रतिपादन के लिये ही काव्य के साधन का उपयोग किया था। उनके धार्मिक विचारों पर हम अगले प्रकरण में प्रकाश डालेगे। पर तुलसीदास जैसे व्यक्ति केवल सन्त महात्मा व धर्मसुधारक ही नहीं थे, अपितु महाकवि भी थे। उनके काव्य हिन्दी साहित्य में बहुत ऊँचा स्थान रखते हैं।

महाकवि तुलसीदास सोलहवीं सदी के उत्तरार्द्ध में हुए थे, और अकबर के समकालीन थे। स्वामी रामानन्द की शिष्यपरम्परा द्वारा रामभक्ति की जो परम्परा निरन्तर पुष्टि पा रही थी, तुलसीदास से उसे बहुत बल मिला। यद्यपि तुलसी का

अकबर के साथ कोई परिचय नहीं था, और उन जैसे सन्त को बादशाह के सम्पर्क व संरक्षण की कोई आवश्यकता भी नहीं थी, तथापि इस युग के अनेक प्रतिष्ठित व समर्थ पुरुषों का ध्यान उनकी ओर आकृष्ट हुआ, जिनमें अब्दुर्रहीम खानखाना और राजा मानसिंह के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। अब्दुर्रहीम खानखाना या 'रहीम' से उनकी समय-समय पर दोहों में लिखा-पढ़ी होती रहती थी, और इसके प्रति वे बहुत आदर का भाव रखते थे। तुलसीदास हिन्दी के सबसे बड़े महाकवि हुए हैं, और उनके रामचरितमानस, विनय-पत्रिका आदि काव्य हिन्दी-साहित्य के अमोल रत्न हैं। तुलसी-रचित काव्य-ग्रन्थों में बारह प्रसिद्ध हैं, जिनमें पाँच बड़े और सात छोटे हैं। रामचरितमानस को केवल काव्य के रूप में ही नहीं पढ़ा जाता, सर्वसाधारण जनता की दृष्टि में वह एक धर्मग्रन्थ की भी स्थिति रखता है। इसमें सन्देह नहीं, कि राजाओं के राजमहलों और गरीबों के झोंपड़ों में रामचरितमानस का समान रूप से आदर है, और इस एक ग्रन्थ ने उत्तरी भारत की जनता को कितना अधिक प्रभावित किया है, उतना सम्भवतः अन्य किसी पुस्तक ने नहीं किया।

तुलसी के समान ही राम की भक्ति का प्रतिपादन करने वाले अनेक अन्य सन्त-कवि इस युग में हुए, जिनमें नाभादास, हृदयराम और प्राणचन्द चौहान के नाम उल्लेखनीय हैं। पर अफगान युग के वैष्णव आचार्यों ने विष्णु की भक्ति केवल 'राम' के रूप में ही शुरू नहीं की थी। पुरुषोत्तम कृष्ण को विष्णु का अवतार मानकर उन्होंने कृष्ण-भक्ति की भी लहर चलाई थी। कृष्ण-भक्ति शाखा के भी बहुत-से सन्त-कवि इस युग में हुए, जिनमें सबसे प्रधान स्थान सूरदास और मीराबाई का है। सूरदास जी बाबर, हुमायूं और अकबर के समकालीन थे, और मुगल बादशाहों के सम्पर्क व सरक्षण में आए बिना ही वे एक ऐसी काव्यधारा का सृजन कर रहे थे, जिसमें स्नान कर आज तक भी करोड़ों नर-नारी अपने को धन्य मानते हैं। सूरदास की कविता में अपूर्व माधुर्य है, और उनका एक-एक पद हृत्तन्त्री को झंकृत कर देने की क्षमता रखता है। कृष्ण की भक्ति में जिस ढंग के पदों का उन्होंने निर्माण किया, वे हिन्दी-साहित्य के उज्ज्वल रत्न हैं। मीराबाई मेड़तिया के राठौर रत्नसिंह की पुत्री थी, और उदयपुर के महाराणा के कुमार भोजराज के साथ उनका विवाह हुआ था। विवाह के कुछ समय बाद ही वे विधवा हो गयी, और उन्होंने अपना सब ध्यान कृष्ण की भक्ति में लगा दिया। वे सोलहवीं सदी के मध्य भाग में हुई थी, और उनके गीत आज तक भी जनता में बहुत लोकप्रिय हैं। कृष्ण-भक्ति मार्ग के अन्य कवियों में कृष्णदास, परमानन्ददास, चतुर्भुज-दास, हितहरिवंश, गदाधर भट्ट, हरिदास, रसखान, ध्रुवदास और श्रीभट्ट के नाम उल्लेखनीय हैं। ये सब कवि मुगल युग में थे, और इन्होंने कृष्ण की भक्ति में जो पद बनाए थे, वे आज तक भारत के भक्त समाज में आदर का स्थान रखते हैं। इनमें रसखान का एक विशेष स्थान है, क्योंकि ये जन्म और धर्म से मुसलिम होते हुए भी कृष्ण के परम भक्त थे। हिन्दुओं के भक्तिमार्ग से मुसलिम लोग भी जिस प्रकार प्रभावित हो रहे थे, रसखान इसके उत्तम उदाहरण हैं।

हिन्दी काव्य का विकास इस युग में केवल सन्त कवियों द्वारा ही नहीं हुआ, अपितु मुगल बादशाहों और उनके अमीर-उमराओं के आश्रय में भी अनेक ऐसे कवि

हुए, जिन्होंने हिन्दी साहित्य को समृद्ध बनाने के लिए बहुत महत्वपूर्ण कार्य किया। इनमें सर्वप्रधान स्थान अब्दुर्रहीम खानखाना का है। वह बैरम खाँ का पुत्र था, और अकबर के समय के सबसे बड़े अमीर-उमराओं में से एक था। अब्दुर्रहीम अरबी, पर्शियन और संस्कृत का प्रकाण्ड पण्डित था, और अनेक विद्वानों व कवियों का आश्रय-दाता था। पर्शियन के अतिरिक्त हिन्दी में भी उसने कविता की। हिन्दी जानने वाला कौन ऐसा मनुष्य होगा, जो रहीम के दोहों से अपरिचित हो। मुगल दरबार में आश्रय पाने वाले अन्य कवियों में नरहरि, टोडरमल और बीरबल के नाम उल्लेखनीय हैं। अकबर के दरबार में नरहरि का बड़ा मान था और बादशाह ने उन्हें 'महापात्र' की उपाधि से विभूषित किया था। रुक्मिणी-मंगल, छप्पयनीति, कवित्त-संग्रह आदि अनेक पुस्तकों की इन्होंने रचना की। गंग अकबर के दरबारी कवि थे, और रहीम इन्हें बहुत मानते थे। कहते हैं, कि अब्दुर्रहीम खानखाना ने उनके एक छप्पय से प्रसन्न होकर उन्हें छत्तीस लाख रुपये दे डाले थे। अकबर के दीवान टोडरमल हिन्दी मे कविता भी करते थे, और वे संस्कृत के भी विद्वान् थे। अकबर के परम सखा बीरबल द्वारा विरचित अनेक हिन्दी कवितायें भी इस समय मिलती हैं। मुगल-साम्राज्य के वास्तविक संस्थापक अकबर के समय मे हिन्दी भाषा का इतना अधिक प्रचार था, कि बहुत-से मुसलमान भी हिन्दी मे कविता करने लग गये थे। हिन्दी के प्रसिद्ध कवि अब्दुर्रहीम खानखाना का उल्लेख ऊपर हो चुका है। अकबर को स्वयं भी हिन्दी कविता का शौक था, और अनेक ऐसे कवित्त अब तक भी विद्यमान हैं जिन्हें 'साहि अकब्बर' का बनाया हुआ माना जाता है। हो सकता है, कि इन्हें बादशाह के नाम से उसके किसी दरबारी कवि ने बना दिया हो। पर इसमें सन्देह नही, कि अकबर हिन्दी का संरक्षक था, और उसके आश्रय में अनेक हिन्दी कवि अपना निर्वाह करते थे। इस काल में अन्य भी अनेक मुसलमान कवियों ने हिन्दी में कविता की। आलम अकबर के समकालीन थे, जिन्होने 'माधवानल काम कंदला' नाम की प्रेम-कहानी दोहा-चौपाइयो में लिखी थी। इसी प्रकार जमाल, कादिर और मुबारक आदि अनेक मुसलमानों ने इस काल में हिन्दी में काव्य-रचना की। ये सभी कवि भक्ति-मार्ग के अनुयायी नही थे, और न इनकी कविता का उद्देश्य धार्मिक विचारों का प्रतिपादन ही था। ये कवि रस की अभिव्यक्ति के लिये काव्य की रचना करते थे, और इसमें सन्देह नही कि काल की दृष्टि से इनकी रचनाओं मे बहुत सौन्दर्य है।

काव्य के विकास के साथ-साथ हिन्दी में अनेक ऐसे लेखक व कवि भी उत्पन्न होने शुरू हुए, जिन्होंने कि संस्कृत के अनुकरण में हिन्दी मे भी अलंकार ग्रन्थो की रचना की। इस प्रकार के साहित्यिकों मे केशवदास सर्वप्रधान हैं। ये भी अकबर के सम-कालीन थे, और ओरछा नरेश महाराजा रामसिंह के भाई इन्द्रजीतसिंह की राजसभा में इन्हे बहुत मान प्राप्त था। ओरछा का राज्य इस समय मुगलों के अधीन था, और उसके राजा की स्थिति मुगलों के सामन्त के सदृश थी। केशवदास संस्कृत के पण्डित थे, और हिन्दी में भी उन्होंने संस्कृत की शास्त्रीय साहित्यिक पद्धति का अनुसरण किया। उन्होंने अलंकारों पर 'कविप्रिया' और रस पर 'रसिक प्रिया' लिखी। इनके अतिरिक्त कतिपय काव्य-ग्रन्थ भी उन्होंने लिखे, जिनमें अलंकार आदि की प्रचुरता है। सेनापति

नाम के एक अन्य कवि भी सतरहवीं सदी में हुए, जिनका हिन्दी काव्य-साहित्य में अच्छा महत्त्वपूर्ण स्थान है। मुगल-युग के बहुत-से हिन्दू और मुसलमान अमीर-उमरा भी बादशाहों के समान ही साहित्य-प्रेमी थे, और कवियों का संरक्षण व प्रोत्साहन करना गौरव की बात समझते थे। विशेषतया, राजपूत राजाओं ने हिन्दी कवियों व साहित्यिकों को आश्रय देने में बहुत उत्साह दिखाया। केशवदास के समान इस युग के अन्य अनेक कवियों ने भी राजपूत राजाओं के दरबार में आश्रय पाकर निश्चिन्तता के साथ साहित्य-सृजन का कार्य किया।

अकबर के काल के बाद हिन्दी के जो कवि हुए, उनमे बिहारी लाल, महाराज जसवन्तसिंह, मतिराम, भूषण और घन आनन्द के नाम उल्लेखनीय हैं। ये सब कवि सतरहवीं सदी में या अठारहवी सदी के प्रारम्भिक भाग में हुए थे। अकबर के समय में हिन्दी कवियों ने जो अपूर्व प्रतिभा प्रदर्शित की थी, वह बाद के कवियों में नही पायी जाती। पर इसमें सन्देह नहीं, कि सम्पूर्ण मुगल-युग मे हिन्दी साहित्य निरन्तर उन्नति करता रहा। औरंगजेब जैसे धर्मान्ध मुसलिम बादशाह से यह आशा नही की जा सकती थी, कि अकबर के समान वह भी हिन्दी कवियो का आदर करता। पर उसकी हिन्दू-विरोधी नीति के कारण भारत मे जो विद्रोह की भावना प्रादुर्भूत हुई, वह भूषण जैसे कवियो के काव्य मे प्रगट हुई, और शिवाजी जैसे वीर द्वारा उन्हें प्रोत्साहन व सरक्षण प्राप्त हुआ।

दक्षिणापथ में भी बहुत-से कवि इस युग में हुए, जिन्होने हिन्दी में काव्य रचना की। ये कवि प्रायः सब मुसलमान थे। दक्षिण की भाषा हिन्दी नही थी। पर वहाँ मुसलिम शासन स्थापित हो चुका था। शासक व सैनिक के रूप मे जो बहुत-से मुसलमान व हिन्दू इस युग में उत्तरी भारत से दक्षिण में गये, उनकी भाषा हिन्दी ही थी। इसी कारण उन्होंने पर्शियन शब्दों से मिश्रित हिन्दी भाषा मे कविता की। इन मुसलिम कवियो की भाषा को उर्दू और हिन्दी दोनों ही समझा जा सकता है, पर उसमें आजकल की उर्दू के समान अरबी व पर्शियन शब्दो की भरमार नही है।

बगाली साहित्य—महाप्रभु चैतन्य द्वारा बंगाल मे भक्ति को जिस लहर का प्रारम्भ हुआ था, उसका उल्लेख हम पिछले एक अध्याय मे कर चुके हैं। वैष्णव धर्म से प्रभावित होकर मुगल-युग मे बंगाल मे अनेक ऐसे साहित्यिक उत्पन्न हुए, जिन्होने नवीन साहित्य का सृजन किया। कृष्णदास कविराज (जन्मकाल १५३१ ई०) ने इसी युग मे चैतन्य-चरितामृत नाम से महाप्रभु का जीवन-चरित्र लिखा। इस काल के वैष्णव-साहित्य में वृन्दावनदास (जन्म काल १५०७ ई०) का चैतन्य-भागवत, जयानन्द (जन्म-काल १५१३ ई०) का चैतन्य-मंगल, त्रिलोचनदास (जन्म १५२३ ई०) का चैतन्यमगल और नरहरि चक्रवर्ती का भक्ति-रत्नाकर विशेष महत्त्व रखते हैं। इसी काल मे अनेक प्राचीन संस्कृत ग्रन्थों का बगाली भाषा में अनुवाद भी किया गया। इन अनुवाद-ग्रन्थों में काशीराम दास की महाभारत और मुकुन्दराम चक्रवर्ती की कवि-कंकणचण्डी उल्लेख-नीय हैं। मुकुन्दराम चक्रवर्ती द्वारा विरचित इस पुस्तक का बगाल मे वही स्थान है, जो कि उत्तरी भारत में तुलसीकृत रामचरितमानस का है।

(३) धर्म

तुलसी और रामभक्ति की लहर—अफगान युग में हिन्दू-धर्म में नवजागृति की जो लहर शुरू हुई थी, मुगल काल मे उसे और अधिक बल मिला। स्वामी रामानन्द द्वारा राम भक्ति की जो परम्परा प्रारम्भ की गयी थी, तुलसीदास ने उसे जन-साधारण तक पहुँचा दिया। भारतीय इतिहास में तुलसी का महत्त्व एक महाकवि के रूप मे उतना नही है, जितना कि एक नवीन धार्मिक लहर को जनसाधारण तक पहुँचाने वाले धर्म-प्रचारक व सुधारक के रूप मे है। आज उत्तरी भारत की बहुसंख्यक जनता संस्कृत भाषा से अनभिज्ञ होने के कारण वेदशास्त्रों के मर्म से परिचित होने के लिये वेद, ब्राह्मणग्रन्थ व उपनिषद् आदि का अध्ययन करने मे असमर्थ है। पर इस कारण उसे भारतीय धर्म की प्राचीन विचारसरणी से अपरिचित रहने की आवश्यकता नही है। राम के चरित्र को निमित्त बनाकर तुलसीदास ने 'रामचरित मानस' मे उस सब ज्ञान को सरल भाषा में लिख दिया है, जो वेद-शास्त्र में विद्यमान है। उपनिषदों का अध्यात्म-वाद, दर्शनो का तत्त्वचिन्तन और पुराणों की गाथाएँ—ये सब रामचरितमानस में उपलब्ध हैं; और वे भी ऐसी सरल भाषा मे जिसे कि सर्वथा निरक्षर व्यक्ति भी सुगमता के साथ समझ सकता है। हिन्दू धर्म, सभ्यता, संस्कृति और विचारसरणी मे जो कुछ भी उत्कृष्ट तत्त्व हैं, तुलसी ने रामचरितमानस में उन सबका अत्यन्त सुन्दर रूप मे समावेश कर दिया है। मध्यकालीन यूरोप मे क्रिश्चियन लोग बाइबिल का अध्ययन लैटिन भाषा में किया करते थे। लैटिन सर्वसाधारण लोगों की भाषा नहीं थी। इसलिए केवल सुशिक्षित पादरी ही अपने धर्म ग्रन्थों के उपदेशो को जान सकने का अवसर प्राप्त कर सकते थे। मध्य काल के अन्त में जब प्रोटेस्टेण्ट आन्दोलन शुरू हुआ, तो उसके नेताओं ने बाइबल का लोकभाषाओ मे अनुवाद किया, ताकि लेटिन से अपरिचित सर्व-साधारण लोग अपने धर्म के मान्य ग्रन्थ का अनुशीलन करने में समर्थ हों। तुलसीदास जी ने यही कार्य हिन्दू धर्म-शास्त्रों के सम्बन्ध मे किया। उन्होंने वेद-शास्त्रों का अनुवाद तो नही किया, पर उन सब के तत्त्व व सार को स्वतन्त्र रूप से सरल कविता मे इस ढंग से अभिव्यक्त किया, कि सर्वसाधारण जनता के लिए अपने धर्म के सिद्धान्तों व आख्यानों को जान सकना बिलकुल सुगम हो गया। धार्मिक क्षेत्र में तुलसी का यह कार्य बहुत महत्त्वपूर्ण है। पर उनका कार्य केवल यही तक सीमित नही था। उन्होंने विष्णु के अवतार भगवान् राम को एक ऐसे रूप मे जनता के सम्मुख रखा, जो धनुष-बाण हाथ में लेकर राक्षसों का संहार करने में तत्पर था। बाँसुरी बजाकर भक्तो के मन को मोह लेने वाले कृष्ण का रूप उन्हें आकृष्ट नही करता था। उनका मस्तक उस भगवान् के सम्मुख झुकता था, जो हाथ मे धनुष-बाण धारण करता है। उस युग की यही सबसे बड़ी आवश्यकता थी। इसमें सन्देह नही, कि तुलसीदास के प्रयत्न से जहाँ भारत में रामभक्ति की लहर लोकप्रिय हुई, वहाँ जनता में वीरता और आशा का भी संचार हुआ। जो हिन्दू जाति अफगान-युग मे तुर्क व अफगान विजेताओं से निरन्तर आक्रान्त होती रही थी, और निरन्तर पराजयो के कारण जिसमें हीन भावना उत्पन्न हो गयी थी, वह अब धनुष-बाण की सहायता से राक्षसों के हाथ मे पड़ी हुई सीता का

उद्धार करने वाले राम को अपना आदर्श मानकर नये जीवन और स्फूर्ति से परिपूर्ण हो गयी, और उसने मुगल साम्राज्य में वह स्थान प्राप्त कर लिया, जो उसके लिये उपयुक्त था। अत्याचारी व अधार्मिक रावण का नाश करने वाले राम के वीर और पुनीत चरित्र को जनता के सम्मुख रखकर तुलसीदास ने कहा—

'राम राज भयो काज सगुन सुभ, राजा राम सदा विजयी हैं'

इस सन्देश से—राम के सदा विजयी होने की बात से हिन्दू जाति मे नवीन उत्साह का संचार हुआ, और वह भारत में अपना उपयुक्त स्थान प्राप्त करने के लिये कटिबद्ध हो गई।

कृष्ण भक्ति—सोलहवीं सदी के प्रारम्भिक भाग में रामनुजाचार्य की शिष्य-परम्परा के अन्यतम आचार्य श्री वल्लभाचार्य ने वृन्दावन को अपना केन्द्र बनाकर कृष्ण के पुरुषोत्तम रूप की भक्ति की जो लहर चलाई थी, उसका उल्लेख हम पहले कर चुके हैं। वल्लभाचार्य के अनुसार श्रीकृष्ण ही परब्रह्म हैं, और सब गुणों से सम्पन्न होने के कारण वे पुरुषोत्तम कहाते हैं। आनन्द की पूर्ण अभिव्यक्ति कृष्ण के इसी पुरुषोत्तम रूप में होती है, और इस रूप में जो लीलायें वे करते हैं, वे भी नित्य हैं। भगवान् कृष्ण की नित्य लीला में अपने को आत्मसात् कर देना ही मनुष्य की सर्वोत्कृष्ट गति है। वल्लभाचार्य ने अपने शिष्य पूरनमल खत्री द्वारा गोवर्धन पर्वत (वृन्दावन में) पर एक विशाल मन्दिर का निर्माण कराया, जो कृष्ण की भक्ति का प्रधान केन्द्र बन गया। वल्लभाचार्य के बाद वृन्दावन व अन्यत्र अनेक ऐसे कृष्णभक्त उत्पन्न हुए, जिन्होने कृष्ण की भक्ति को जन-साधारण में प्रचारित करने के लिये बहुत-से सुन्दर पदों की रचना की। इनमें 'अष्टछाप' के कवि सर्वप्रथम हैं। वल्लभाचार्य के बाद उनके पुत्र विट्ठल-नाथ जी उनकी गद्दी के स्वामी बने थे। उन्होने कृष्ण के भक्त आठ सर्वोत्तम कवियों को चुनकर 'अष्टछाप' की स्थापना की। ये आठ कवि निम्नलिखित थे—सूरदास, कुम्भनदास, परमानन्ददास, कृष्ण दास, छीत स्वामी, गोविन्द स्वामी, चतुर्भुजदास और नन्ददास। इनमे सूरदास का स्थान सर्वोच्च है, और उन्होंने कृष्ण की भक्ति का जनता में प्रसार करने के लिये अपने गीतों द्वारा जो अनुपम कार्य किया, वह भी वस्तुतः अद्वितीय है। ये सब कवि अकबर के समकालीन थे, और इनके भक्ति-गीतों से न केवल हिन्दू अपितु मुसलमान भी बहुत अधिक प्रभावित हुए थे। यही कारण है, कि सम्पूर्ण मुगल काल मे बहुत-से ऐसे कवि होते रहे, जो अपने मधुर गीतों द्वारा जनता में कृष्णभक्ति की भावना का सचार करते रहे।

सिक्ख धर्म—अफगान युग में हिन्दू धर्म में नव-जागृति की जो लहर प्रारम्भ हुई थी, उसमे गुरु नानक का स्थान बहुत महत्त्व का था। नानक की दृष्टि में हिन्दू और मुसलमान एक समान थे, और उनकी शिक्षा को सब लोग समान रूप से ग्रहण कर सकते थे। नानक के अनुयायी सिक्ख (शिष्य) कहाते थे। उनकी शिष्य परम्परा में दस गुरु हुए, जिनमें अन्तिम गुरु गोविन्द सिंह थे। शुरू के सिक्ख गुरुओं का रूप प्रायः उसी ढंग का था, जैसा कि रामानुजाचार्य व रामानन्द आदि की शिष्य परम्परा के आचार्यों का था। पर धीरे-धीरे सिक्ख पन्थ में परिवर्तन आना शुरू हुआ, और वह केवल एक धार्मिक सम्प्रदाय ही न रह कर एक राजनीतिक शक्ति भी बन गया। जहाँगीर के समय

में सिक्खों के गुरु अर्जुनदेव थे। जब राजकुमार खुसरो (जहाँगीर का ज्येष्ठ पुत्र) अपने पिता के विरुद्ध विद्रोह कर लाहौर जा रहा था, तो गुरु अर्जुनदेव ने उसे आश्रय प्रदान किया। इस बात पर जहाँगीर बहुत नाराज हुआ, और जब खुसरो के सहायकों को भयंकर दण्ड दिये गये, तो अर्जुनदेव भी मुगल बादशाह के कोप के शिकार बने। उन पर जुर्माना दिया गया, और जब उन्होने जुर्माना देने से इन्कार किया, तो उन्हें मृत्यु-दण्ड दिया गया। गुरु अर्जुनदेव समझते थे, कि उनके पास जो कुछ भी सम्पत्ति है, वह पन्थ व ईश्वर की है, उसे वे जुर्माना अदा करने के लिये प्रयुक्त करने का कोई अधिकार नहीं रखते। इस घटना ने सिक्ख धर्म के इतिहास में भारी परिवर्तन किया, क्योंकि सिक्ख लोग अपने गुरु की हत्या को सहन नही कर सके। उन्होंने अपने को संगठित करना शुरू किया, और इस प्रकार वे धार्मिक सम्प्रदाय के साथ-साथ एक राजनीतिक शक्ति भी बन गए।

सिक्खों के नवें गुरु तेगबहादुर थे, जो औरंगजेब के समकालीन थे। औरंगजेब किस प्रकार हिन्दू विरोधी नीति का आश्रय लेकर हिन्दुओं पर जजिया लगाने और उनके मन्दिरो को गिरवाने के लिए प्रयत्नशील था, इसका उल्लेख हम पिछले एक अध्याय में कर चुके हैं। गुरु तेगबहादुर ने औरंगजेब की इस नीति का विरोध किया। जब बादशाह को यह बात मालूम हुई, तो उसे बहुत क्रोध आया। गुरु तेगबहादुर को दिल्ली बुलाया गया, और उन पर यह अभियोग लगाया गया, कि उन्होंने बादशाह के विरुद्ध बगावत फैलायी है। तेगबहादुर के सम्मुख दो विकल्प पेश किये गये, या तो वे इस्लाम को स्वीकार कर लें, अन्यथा उन्हे प्राण-दण्ड दिया जाएगा। तेगबहादुर ने दूसरा विकल्प चुना। बडी क्रूरता के साथ दिल्ली मे उनका वध किया गया। गुरु के कत्ल का हाल जानकर सिक्खों मे सनसनी फैल गयी। वे अपने गुरु की हत्या का बदला लेने के लिये उठ खडे हुए। एक छोटे से धार्मिक सम्प्रदाय के लिए यह सुगम नही था, कि वह शक्तिशाली मुगल बादशाह का सामना कर सकता। पर इस समय सिक्खों मे एक महा-पुरुष उत्पन्न हुआ, जिसने उन्हें भली-भाँति संगठित कर एक प्रबल शक्ति के रूप मे परिणत कर दिया। यह महापुरुष गुरु गोविन्द सिंह थे, जो सिक्खों के दसवें व अन्तिम गुरु थे। गोविन्द सिंह ने सिक्खों को एक प्रबल सैन्य शक्ति बना दिया। वह कहा करते थे—'चिडियो से मैं बाज लडाऊँ, तो गुरु गोविन्द सिंह कहाऊँ।' सचमुच उन्होंने पंजाब की चिड़ियो को बाज के साथ लड़ने के योग्य बना दिया। उन्होंने प्रत्येक सिक्ख के लिये पांच ककको का धारण करना आवश्यक कर दिया। पाँच कक्के ये थे—कंघा, कच्छ, कडा, केश और कृपाण। इनका उद्देश्य यह था, कि सिक्ख सिपाहियों की तरह रहें और सैनिक कार्य को गौरव की बात समझें।

गुरु गोविन्दसिंह राजाओं के समान रहते थे। पर मुगल-साम्राज्य के सम्मुख उनकी शक्ति कितनी कम है, इसका भी उन्हे ज्ञान था। इसलिए उन्होंने पंजाब के पहाड़ों का अपना केन्द्र बनाया, और समय-समय पर वहाँ से निकलकर मुगल छावनियों पर आक्रमण करने शुरू किये। मुगलों ने गुरु गोविन्दसिंह व उनके 'खालसा' को कुचल डालने के लिये कोई कसर बाकी नही रखी। गुरु के दोनों लड़के पकड़े गये, और उन्हें इस्लाम स्वीकार करने के लिये कहा गया। पर वे इसके लिये तैयार नहीं हुए। इस पर

उन्हें जीते-जी दीवार में चुनवा दिया गया, पर वे धर्म से डिगे नहीं। औरंगजेब की मृत्यु तक गोविन्दसिंह ने मुगलों के विरुद्ध अपने संघर्ष को जारी रखा। औरंगजेब की मृत्यु के बाद जब मुगल साम्राज्य की शक्ति क्षीण होने लगी, तो सिक्खों को अपने उत्कर्ष का अपूर्व अवसर हाथ लगा। गोविन्दसिंह सिक्खों के अन्तिम गुरु थे। उन्होंने अपने बाद के लिये कोई गुरु निश्चित नहीं किया था। उन्होंने यह व्यवस्था की, कि भविष्य में ग्रन्थ-साहब ही सिक्खों के गुरु का कार्य करें। ग्रन्थ साहब में सिक्ख-गुरुओं की वाणियाँ संगृहीत है। गुरु गोविन्दसिंह ने धार्मिक दृष्टि से जहाँ ग्रन्थ साहब को अपना उत्तराधिकारी नियत किया, वहाँ सिक्खों का सैनिक नेतृत्व उन्होंने बन्दा को सौंप दिया। बन्दा वैरागी सम्प्रदाय का था, तथा युद्ध-विद्या और सैन्य संचालन मे अत्यन्त निपुण था। उसने गोविन्दसिंह के लड़को की हत्या का बदला लेने के लिये सरहिन्द पर हमला किया, और वहाँ के फौजदार को परास्त कर सरहिन्द पर कब्जा कर लिया। इसी नगर में गोविन्दसिंह के पुत्रों को जीते-जी दीवार में चुनवाया गया था। सर्हिद पर कब्जा करने के बाद भी बन्दा बहादुर निरन्तर मुगलों से संघर्ष करता रहा। मुगल बादशाहों को उसके कारण अनेक संकटों का सामना करना पडा। अन्त में सन् १७१६ में बादशाह फर्रुखसियर उसे गिरफ्तार करने में सफल हुआ। बन्दा का बड़ी निर्दयता के साथ वध किया गया, और अन्य भी बहुत-से सिक्खों को कत्ल किया गया। पर इन अत्याचारों से सिक्ख दबे नही। उनकी शक्ति निरन्तर बढती ही गयी। अन्त में नादिरशाह और अहमदशाह अब्दाली के आक्रमणों के कारण जब पंजाब में मुगलों की शासन-शक्ति अस्त-व्यस्त हो गयी, तो सिक्खो ने पंजाब मे अपने अनेक स्वतन्त्र राज्य कायम कर लिये।

भारत के आधुनिक इतिहास मे सिक्ख पन्थ का महत्त्व बहुत अधिक है। अफगान-युग मे जो अनेक सन्त व धर्म-सुधारक उत्पन्न हुए थे, उनमें अकेले गुरु नानक ही ऐसे थे, जिनकी शिष्य परम्परा आगे चलकर एक ऐसे पन्थ के रूप में परिवर्तित हो गयी, जिसमे अपूर्व जीवनी शक्ति है। रामानन्द, वल्लभाचार्य और चैतन्य की शिष्य-परम्परा ने अपने अनुयायियो को चाहे कितनी ही शक्ति प्रदान की हो, पर उसके कारण उनके सम्प्रदायो मे उस ढंग के नवजीवन का संचार नही हुआ, जैसा कि सिक्ख पन्थ मे हुआ। जात-पाँत व ऊँच-नीच के भेद का विरोध आदि बातों पर नानक और रामानन्द एक दृष्टिकोण रखते थे। पर रामानन्द व वल्लभाचार्य आदि भक्तिमार्गी आचार्यों के अनुयायी इनसे ऊपर उठने मे उस अश में सफल नही हुए, जैसे कि नानक के अनुयायी सिक्ख लोग हुए। सिक्ख पन्थ प्राचीन हिन्दू-धर्म का एक ऐसा परिष्कृत रूप है, जिसमे उन बुराइयो को कोई स्थान प्राप्त नही है, जो कि प्राचीन हिन्दू धर्म में देर से विकसित हो रही थी। पर यह बात अफगान-युग में प्रादुर्भूत हुए अन्य हिन्दू-सम्प्रदायों के सम्बन्ध मे नहीं कही जा सकती।

दीने-इलाही—चिरकाल तक देश मे एक साथ निवास करने के कारण हिन्दुओं और मुसलमानों में एक दूसरे के निकट सम्पर्क में आने की जो प्रवृत्ति अफगान-युग में प्रारम्भ हुई थी, मुगल-काल मे वह बहुत अधिक जोर पकड गयी। अकबर धर्म के मामले में बहुत सहिष्णु था, और उसकी सहिष्णुता की नीति का जहाँगीर और शाहजहाँ ने भी अनुसरण किया था। इन मुगल बादशाहों ने हिन्दुओं के साथ वैवाहिक

सम्बन्ध स्थापित किये थे, और इनकी हिन्दू रानियाँ विवाह के बाद भी अपने धर्म पर दृढ़ रही थीं। यह स्वाभाविक था, कि इनका असर मुगल बादशाहों पर पड़ता। अकबर की धार्मिक नीति पर जहाँ उसकी हिन्दू पत्नियों का असर हुआ, वहाँ साथ ही शेख मुबारक और उसके पुत्र अब्दुल फजल और फैजी के विचारों का भी उस पर प्रभाव पड़ा। ये सूफी सम्प्रदाय के थे, और धार्मिक दृष्टि से बहुत उदार विचार रखते थे। इनके संसर्ग से अकबर के विचारों में परिवर्तन आना शुरू हुआ, और इनके परामर्श से अकबर ने अपनी राजधानी फतहपुर सीकरी में एक इबादतखाने (पूजागृह) का निर्माण कराया। प्रति बृहस्पतिवार को यहाँ एक सभा होती थी, जिसमें हिन्दू, जैन, पारसी, यहूदी, ईसाई, शिया, सुन्नी आदि विविध सम्प्रदायों के विद्वान् धार्मिक विषयों पर विचार करते थे। अकबर स्वयं इस सभा मे सभापति का आसन ग्रहण करता था, और विविध धर्माचार्यों के विचारों का ध्यानपूर्वक श्रवण करता था। विविध धर्मों के विद्वानों के विचारों को सुनने के कारण अकबर के धार्मिक विश्वासों मे बहुत परिवर्तन आया, और इस्लाम के प्रति उसका विश्वास शिथिल होने लगा।

जिन विविध आचार्यों के सम्पर्क मे आने के कारण अकबर के धार्मिक विचारों में परिवर्तन आना शुरू हुआ, उनमे से कतिपय के नाम उल्लेखनीय हैं। हिन्दू-धर्म का अकबर के सम्मुख प्रतिपादन करने वाले विद्वानों में पुरुषोत्तम और देवी प्रधान थे। देवी ने ब्रह्मा, विष्णु, महेश, कृष्ण, राम, महामाया आदि के वास्तविक स्वरूप का अकबर को उपदेश दिया, और वह बहुधा उससे धर्मचर्चा किया करता था। जैन-धर्म का अकबर के सम्मुख प्रतिपादन करने वाले आचार्य हीरविजय सूरि, विजयसेनसूरि, भानुचन्द्र उपाध्याय और जिनचन्द्र थे। १५७८ के बाद कोई-न-कोई जैनाचार्य सदा अकबर के दरबार में रहा करता था। हीरविजय के उपदेशों से प्रभावित होकर अकबर ने कुछ निश्चित तिथियों में पशुहिंसा का भी निषेध कर दिया था। पारसी धर्म के आचार्य दस्तूर मेहरजी राना ने अकबर को जरदुष्ट्र के धर्म का उपदेश किया था, और उसी के प्रभाव के कारण अकबर ने सूर्य की पूजा प्रारम्भ की थी, जो पारसियों की उपास्य अग्नि का सबसे ज्वलन्त व प्रत्यक्ष रूप है। ईसाई धर्म से परिचय प्राप्त करने के लिये अकबर ने गोआ से पोर्तुगीज पादरियों को अपने दरबार मे निमन्त्रित किया था। पर इस युग के ईसाई पादरी हिन्दुओ, जैनियों और पारसियो के समान सहिष्णु नहीं थे। उन्होंने अकबर के दरबार मे आकर कुरान और पैगम्बर पर इस ढग से आक्षेप शुरू किये, कि मुसलिम लोग उनसे बहुत नाराज हो गये। सिक्ख गुरुओ के प्रति भी अकबर की बहुत श्रद्धा थी, और वह उनकी वाणियो को बडे आदर के साथ सुनता था।

विविध धर्मों के आचार्यों की शिक्षाओं को श्रवण कर अकबर ने इस बात की कोशिश की, कि एक ऐसे नये धर्म का विकास किया जाए, जिसमे सब धर्मों की अच्छी-अच्छी बातों का समावेश रहे। इस नये धर्म का नाम दीने-इलाही रखा गया। अकबर स्वयं दीने-इलाही का प्रवर्त्तक और गुरु बना। इस धर्म का मुख्य सिद्धान्त यह था, कि ईश्वर एक है, और अकबर उसका पैगम्बर है। मनुष्यो को सत्य-असत्य का निर्णय करते हुए अपनी बुद्धि का प्रयोग करना चाहिए और किसी पर अन्धविश्वास नही रखना चाहिए। दीने-इलाही के अनुयायी माँस-भक्षण से परहेज करते थे, और पशु-हिंसा को पाप मानते

थे। अकबर प्रातःकाल के समय सूर्य नमस्कार करता था, और अग्नि को देवी शक्ति का प्रत्यक्ष रूप समझता था। उसके बहुत-से दरबारी दीने-इलाही के अनुयायी बन गए, पर ऐसा करने में उनका प्रधान हेतु बादशाह को प्रसन्न करना ही था। वे इस नए धर्म के सिद्धान्तों से आकृष्ट होकर इसके अनुयायी नहीं बने थे। यही कारण है, कि यह धर्म देर तक नहीं चल सका, और अकबर के साथ इसकी भी समाप्ति हो गई। यद्यपि दीने-इलाही सम्प्रदाय ने भारत में अपना कोई स्थिर प्रभाव नहीं छोडा, पर वह इस युग की धार्मिक प्रवृत्तियों का मूर्त रूप था। सदियों से एक साथ निवास करते हुए हिन्दू और मुसलमान एक-दूसरे के इतने समीप आ गए थे, कि दीन-इलाही जैसे धर्म का विकास सम्भव हो सका था। यदि जहाँगीर और शाहजहाँ के बाद दारा शिकोह को मुगल साम्राज्य के राजसिंहासन पर आरूढ होने का अवसर मिलता, तो हिन्दू धर्म और इस्लाम के सामजस्य की इस प्रवृत्ति को और अधिक बल मिलता। पर दुर्भाग्य से औरंगजेब के बादशाह बन जाने के कारण यह प्रवृत्ति निर्बल पड गयी, और उसकी हिन्दू-विरोधी नीति के कारण हिन्दू लोग मुगल बादशाहत के खिलाफ उठ खड़े हुए।

धार्मिक सहिष्णुता और समन्वय की प्रवृत्ति—अफगान युग के सत्य-पीर सम्प्रदाय के समान मुगल युग मे भी अनेक ऐसे सम्प्रदायों का प्रादुर्भाव हुआ, जिन्होंने हिन्दुओ और मुसलमानों मे एकता स्थापित करने का प्रयत्न किया। ये सम्प्रदाय सतनामी और नारायणी थे। नारायणी सम्प्रदाय के अनुयायी हिन्दू और मुसलमान दोनो थे, और वे पूर्व की ओर मुख करके दिन मे पाँच बार प्रार्थना करते थे, ईश्वर के नामो मे 'अल्लाह' को भी अन्तर्गत करते थे, और अपने मुर्दों को जलाने के बजाय जमीन में गाडा करते थे। इसी युग के एक साधक प्राणनाथ ने एक नया आन्दोलन चलाया, जिसमे जातिभेद, मूर्तिपूजा और ब्राह्मणो के प्रभुत्व का खंडन किया जाता था। प्राणनाथ गुजरात का निवासी था, और हिन्दू मुसलमान दोनो उसके अनुयायी थे। उससे दीक्षा लेने वाले व्यक्ति को हिन्दू और मुसलमान दोनो के साथ बैठकर भोजन करना पडता था। प्राणनाथ कहता था, कि हिन्दू और मुसलमान सबका एक धर्म व एक ईमान होना चाहिए।

मुगल-युग की ये प्रवृत्तियाँ यदि जोर पकडती रहती, तो भारत में हिन्दू-मुसलिम समस्या उत्पन्न ही न हो पाती। पर औरंगजेब के समय के बाद ये प्रवृत्तियाँ निर्बल होती गयी, और हिन्दुओं व मुसलमानो मे सामंजस्य की प्रक्रिया बहुत कुछ रुक गई। ब्रिटिश युग मे भारत के विविध धर्मों में जो जागरण हुआ, उसके कारण तो यह प्रक्रिया एकदम समाप्त हो गई, और हिन्दू व मुसलमान बहुत कुछ उसी प्रकार दो वर्गों मे विभक्त हो गए, जैसे कि तुर्क-अफगान युग के प्रारम्भ मे थे।

(४) वास्तु कला

जिस प्रकार अफगान-युग मे प्रादुर्भूत हुई धार्मिक जागृति और साहित्यिक उन्नति की प्रक्रिया मुगल युग में भी जारी रही, उसी प्रकार वास्तुकला के क्षेत्र मे प्राचीन भारतीय कला और मुसलिम कला के सम्पर्क से विशाल व सुन्दर इमारतों के निर्माण की जो शैली अफगान-युग में प्रारम्भ हुई थी, मुगलकाल में वह निरन्तर विकास को प्राप्त

करती रही। यही कारण है, कि मुगल-युग की इमारतों पर हिन्दू और मुसलिम कलाओं के सम्मिश्रण का प्रभाव स्पष्ट रूप में दृष्टिगोचर होता है। औरंगजेब को छोड़कर अन्य सब मुसलिम बादशाह वास्तु-कला के प्रेमी थे, और उनके संरक्षण में अनेक सुन्दर इमारतें इस देश में निर्मित हुईं। धार्मिक कट्टरता के कारण औरंगजेब कला का विरोधी था, और उसकी शक्ति या उपयोग निर्माण की बजाय विनाश के लिए अधिक हुआ था। उसने बहुत-से मन्दिरों को भूमिसात् तो किया, पर किसी उत्कृष्ट इमारत के निर्माण की ओर ध्यान देने की आवश्यकता उसने कभी अनुभव नही की। मन्दिरों को गिरवाकर जो अनेक मस्जिदें उसने बनवाईं, वे वास्तु-कला की दृष्टि से अधिक महत्त्व की नहीं हैं।

बाबर—बाबर बहुत कम समय तक भारत में शासन कर सका था। पाँच साल के लगभग के स्वल्प शासन काल में भी उसका ध्यान वास्तु-कला की ओर आकृष्ट हुआ। उसने कान्स्टेन्टिनोपल से शिल्पियों को इस उद्देश्य से भारत निमन्त्रित किया, कि वे यहाँ आकर नई शैली के अनुसार मसजिदों व अन्य इमारतों का निर्माण करें। उन दिनों कान्स्टेन्टिनोपल वास्तु-कला का महत्त्वपूर्ण केन्द्र था, और वहाँ के अनेक शिल्पी अपनी विशिष्ट शैली के अनुसार भवन निर्माण में तत्पर थे। पर भारत की किन्ही भी इमारतों पर कान्स्टेन्टिनोपल की वास्तु-कला का प्रभाव दृष्टिगोचर नही होता। अतः यह कह सकना कठिन है, कि बाबर सुदूर तुर्की से वास्तु-शिल्पियों को भारत बुलाने की अपनी योजना को क्रियान्वित करने में सफल हो सका था। पर इसमे सन्देह नही, कि बाबर ने अनेक सुन्दर इमारतो का निर्माण कराया था, जिनमे इस समय केवल तीन ही विद्यमान है। पानीपत की काबुली बाग मसजिद, सम्भल की जामा मसजिद और आगरा के पुराने (लोदी) किले मे विद्यमान मसजिद बाबर के समय की ही कृतियाँ हैं। पर इनके अतिरिक्त आगरा, धौलपुर, ग्वालियर, बियाना और सीकरी मे भी उसने अनेक इमारतें बनवाई थी, जिनका उल्लेख बाबरनामा मे किया गया है। दुर्भाग्यवश, ये इमारतें अब नष्ट हो चुकी हैं।

हुमायूँ—हुमायूं के समय की केवल दो मसजिदें इस समय विद्यमान हैं। उनमे से एक आगरा मे है, और दूसरी हिसार जिले के फतहाबाद कस्बे मे। इन इमारतों पर पर्शियन वास्तु-कला का प्रभाव स्पष्ट रूप से विद्यमान है। हुमायूं के शासनकाल के मध्य में ही अफगान नेता शेरशाह का दिल्ली पर आधिपत्य स्थापित हो गया था। इस कारण हुमायूं इमारतो के बनने पर विशेष ध्यान नही दे सका। पर इस युग की वास्तु-कला के इतिहास मे शेरशाह का स्थान बहुत महत्त्व का है। दिल्ली के पुराने किले में जो मसजिद है, वह और इस किले की प्राचीर के अनेक भाग शेरशाह की ही कृतियाँ हैं। बिहार के जिले में सहसराम नामक स्थान पर शेरशाह का मकबरा है, जो इण्डो-मुसलिम वास्तु-कला का अत्यन्त उत्कृष्ट उदाहरण है। शाहजहाँ द्वारा निर्मित ताजमहल और सहसराम के इस मकबरे में कई दृष्टियों से समता है।

अकबर—अकबर का शासनकाल जिस प्रकार हिन्दी-साहित्य के लिए सुवर्णीय युग था, वैसे ही वास्तु-कला की दृष्टि से भी वह सुवर्णीय था। अकबर को वास्तु-कला का बहुत शौक था, और जैसा कि अबुल फजल ने लिखा है, पत्थर और मिट्टी के इन 'परिधानों' का आयोजन करने में वह स्वयं भी बहुत दिलचस्पी लेता था। अकबर की

वास्तुकृतियाँ संख्या में बहुत अधिक हैं। कितने ही किलों, प्रासादों, बुर्जों, सरायों, मदरसों और जलाशयों का उसने निर्माण कराया। उसके समय की वास्तु-कला में हिन्दू, जैन, पर्शियन आदि विविध कलाओं का बहुत सुन्दर सम्मिश्रण हुआ है। जिस प्रकार धर्म के मामले में अकबर समन्वय और सामञ्जस्य की नीति का समर्थक था, और हिन्दू धर्म के अनेक तत्त्व उसने अपना लिए थे, वैसे ही वास्तुकला के क्षेत्र में भी उसने समन्वय की नीति को अपनाया, और प्राचीन भारतीय कला का उदारतापूर्वक उपयोग किया। अकबर के समय की सबसे पुरानी इमारत हुमायूं का मकबरा है, जो दिल्ली में अब तक भी विद्यमान है। यह १५६५ में बनकर तैयार हुआ था। कला की दृष्टि से यह भारतीयता के उतने समीप नहीं हैं, जितना कि पर्शियन कला से प्रभावित है। पर इसमें रंगीन टाइलों का प्रयोग नहीं हुआ, जो कि पर्शियन शैली की महत्त्वपूर्ण विशेषता है। उसके बजाय इनमें भारतीय शैली के अनुसार संगमरमर पत्थर का उदारतापूर्वक उपयोग किया गया है। रणथम्बोर की विजय से वापस लौटते हुए अकबर ने १५६९ में फतहपुर सीकरी की नींव डाली, जो बाद मे कुछ समय तक मुगलों की राजधानी भी रहा। यह नगर अब तक भी विद्यमान है, यद्यपि मुगल-युग में इसके विशाल प्रासाद प्राय. गैर-आबाद ही पड़े रहे, और अब भी वे भूतों की नगरी के सदृश प्रतीत होते हैं। फतहपुर सीकरी की इमारतों मे सबसे प्रसिद्ध जामा मसजिद और बुलन्द दरवाजा हैं। बुलन्द दरवाजे का निर्माण अकबर ने दक्षिण की विजय के उपलक्ष मे करवाया था, और निःसन्देह यह भारत का सबसे ऊँचा व विशाल विजय-द्वार है। ऊँचाई में यह १६७ फीट है, और वास्तु-कला की दृष्टि से अत्यन्त उत्कृष्ट है। फतहपुर सीकरी की अन्य इमारतों में राजा बीरबल का प्रसिद्ध सोनहरा मकान, ख्वाबगाह, दीवाने-खास और इबादतखाना विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। यद्यपि ये इमारतें बहुत अधिक विशाल नहीं हैं, पर सौन्दर्य और कला की दृष्टि से ये सचमुच अनुपम हैं। इन्हीं को दृष्टि में रखकर ऐतिहासिक स्मिथ ने फतहपुर सीकरी के विषय में लिखा है, कि यह नगर प्रस्तर द्वारा निर्मित एक काव्य के समान है, जो कि अपनी सानी नहीं रखता। अकबर की इमारतों मे सबसे महत्त्वपूर्ण सिकन्दरा का मकबरा है। इसका निर्माण अकबर ने शुरू कराया था, और जहाँगीर के समय मे यह पूर्ण हुआ। इसे बौद्ध-विहारों के नमूने पर बनाया गया है। शुरू मे इसका जो नक्शा तैयार किया गया था, उनके अनुसार इसका गुम्बज संगमरमर पत्थर का और इसके अन्दर की छत सोने की होनी चाहिए थी। यदि ऐसा कर दिया जाता, तो निःसन्देह बादशाह अकबर का यह मकबरा सौन्दर्य में अद्वितीय हो जाता। पर इसके बिना भी यह अत्यन्त सुन्दर और कलात्मक है, और अकबर जैसे महान् सम्राट् के अनुरूप है। फतहपुर सीकरी के बाद अकबर ने आगरा को अपनी राजधानी बनाया, और वहाँ के निवास के लिए लाल किले का निर्माण कराया, जिसके प्रासाद व दीवाने-आम और दीवाने-खास वस्तुतः दर्शनीय हैं। आगरा के किले के प्रासाद को 'जहाँगीर महल' कहते हैं, जिसे कि हिन्दू वास्तुकला के अनुसार बनाया गया है। फतहपुर सीकरी, आगरा और सिकन्दरा की इन इमारतों के अतिरिक्त अकबर ने इलाहाबाद और लाहौर में भी बहुत-सी इमारतें बनवायी थी। विलियम फिन्च ने लिखा है, कि इलाहाबाद के महल के निर्माण में चालीस साल लगे, और

उसमें पाँच हजार से बीस हजार तक शिल्पी व मजदूर चालीस वर्षों तक निरन्तर काम करते रहे। आगरा के किले के समान लाहौर में भी अकबर ने एक विशाल किले का निर्माण कराया था।

जहाँगीर—जहाँगीर को चित्रकला का बहुत शौक था, और उसने वास्तु-कला की ओर विशेष ध्यान नहीं दिया। यही कारण है, कि उनके समय में अधिक इमारतें नहीं बन पाईं। पर उसकी मलिका नूरजहाँ को वास्तु-कला से बहुत प्रेम था, और उसने अपने पिता इतिमादुद्दौला का जो मकबरा आगरा में बनवाया, वह सौन्दर्य और कला की दृष्टि से वस्तुतः अनुपम है। यह मकबरा संगमरमर से बनाया गया है, और इसकी शैली राजपूत है। उदयपुर में गोलमण्डल नाम का मन्दिर इसी शैली के अनुसार १६०० ई० के लगभग बना था। इतिमादुद्दौल्ला के मकबरे के निर्माण मे इसी मन्दिर का अनुसरण किया गया। जहाँगीर का मकबरा लाहौर में रावी के पार बना हुआ है, जिसका निर्माण भी नूरजहाँ ने कराया था। यह मकबरा भी कला की दृष्टि से अनुपम है। यद्यपि जहाँगीर ने इमारतों के निर्माण मे विशेष दिलचस्पी नहीं दिखाई, पर बागों और उद्यानों का उसे बहुत शौक था। काश्मीर में डल झील के तट पर स्थित सुन्दर उद्यान और अजमेर में अनासागर के घाट उसके प्रकृति-सौन्दर्य प्रेम के ज्वलन्त उदाहरण हैं।

शाहजहाँ—मुगल बादशाहों में वास्तुकला की दृष्टि से शाहजहाँ का स्थान सर्वोच्च है। उस द्वारा निर्मित प्रासाद, दुर्ग, उद्यान, मसजिद आदि आगरा, दिल्ली, लाहौर, काबुल, कान्धार, काश्मीर, अजमेर, अहमदाबाद, मुखलीसपुर आदि कितने ही स्थानो पर अब तक भी विद्यमान हैं। इन सबके निर्माण मे कितना खर्च हुआ होगा, इसका अन्दाज कर सकना सुगम नही है। पर यह निश्चित है कि इनके लिए शाहजहाँ ने करोडो रुपये खर्च किये होगे। शाहजहाँ की वास्तु-कृतियों मे सबसे महत्त्वपूर्ण आगरा का ताजमहल है, जिसे उसने अपनी प्रियतमा मुमताजमहल के चिरविश्राम के लिए बनवाया था। मुमताजमहल की मृत्यु सन् १६३० मे हुई थी, और इसी समय शाहजहाँ ने इस विश्वविख्यात मकबरे का निर्माण शुरू करा दिया था। इसके लिए जहाँ बादशाह ने भारत के कुशल शिल्पियों को नियत किया था, वहाँ साथ ही पर्शिया, अरब, तुर्की आदि से भी अनेक शिल्पियो को आमन्त्रित किया था। ताजमहल के निर्माण का कार्य प्रधानतया उस्ताद ईसा के सुपुर्द था, जिसे १००० रु० मासिक वेतन दिया जाता था। स्पेन के एक पादरी मानरीक ने १६१४ ई० में आगरा की यात्रा की थी। उसने लिखा है, कि ताज की रूपरेखा जरोनियो बरोनियो नामक एक इटालियन शिल्पी ने तैयार की थी। इसी के आधार पर अनेक ऐतिहासिकों ने यह प्रतिपादित किया है, कि ताज की कल्पना यूरोपियन शिल्पियो के दिमाग से उत्पन्न हुई थी। स्मिथ के अनुसार ताजमहल यूरोपियन और एशियन प्रतिभा के सम्मिलित प्रयत्न का परिणाम है। पर बहुसख्यक ऐतिहासिक इस बात को स्वीकृत नही करते। उनका कथन है, कि जरोनियो बरोनियो की मृत्यु १६४० में हो चुकी थी, और पादरी मानरीक को उससे मिलने का अवसर कभी प्राप्त नहीं हुआ था। अतः उसने जो सुनी-सुनायी बात अपने यात्रा-विवरण में लिखी है, उसकी प्रामाणिकता संदिग्ध है। मुसलिम लेखक ताजमहल को

उस्ताद ईसा की कल्पना व प्रतिभा का परिणाम बताते हैं, और सम्भवतः यही बात ठीक भी है। पर यह असम्भव नहीं, कि ताजमहल के निर्माण में कतिपय यूरोपियन शिल्पियों का सहयोग भी प्राप्त रहा हो। इस युग मे बहुत-से यूरोपियन यात्री, पादरी और कलाविज्ञ लोग भारत में आने लगे थे, और मुगल दरबार के साथ उनका घनिष्ठ सम्पर्क था। पर ताजमहल की कला में कोई ऐसा तत्त्व नहीं है, जिसे विदेशी या यूरोपियन समझा जा सके। सहसराम में विद्यमान शेरशाह के मकबरे की शैली ताज से बहुत-कुछ मिलती-जुलती है, और संगमरमर की जिस ढंग की जालियाँ ताज की अनुपम विशेषता है, वे राजपूताने के अनेक पुराने मन्दिरों में भी पाई जाती हैं। पर यह निःसन्दिग्ध है, कि ताजमहल मुगल-युग की वास्तु-कला की सर्वोत्कृष्ट कृति है, और सैकड़ों वर्ष बीत जाने के बाद इस बीसवीं सदी में भी वह संसार भर के कलाप्रेमियों के लिये आश्चर्य की वस्तु है।

आजकल की पुरानी दिल्ली (शाहजहानाबाद) भी शाहजहाँ की ही कृति है। यहाँ उसने लाल किले और जामा मसजिद का निर्माण कराया, जो सौन्दर्य की दृष्टि से अनुपम आकर्षण रखते हैं। लाल किले की मोती मसजिद, दीवाने-आम, दीवानेखास आदि इमारतें शाहजहाँ के सौन्दर्य और कला-प्रेम की परिचायक हैं। यद्यपि विशालता की दृष्टि से ये अकबर के समय की इमारतों का मुकाबला नहीं कर सकती, पर सौन्दर्य की दृष्टि से ये अनुपम हैं, और विविध प्रकार के अलंकारों द्वारा इन्हें इस ढंग से विभूषित कर दिया गया है, कि इन्हे प्रस्तर द्वारा निर्मित आभूषण समझा जा सकता है। शाहजहाँ ने अलंकारमयी वास्तुकला द्वारा पृथ्वी पर बहिश्त (स्वर्ग) को उतारने का स्वप्न लिया था, और इसमें उसे सफलता भी प्राप्त हुई। इसीलिये उसने दिल्ली के लाल किले में बने हुए दीवाने-खास पर पर्शियन भाषा का एक पद उत्कीर्ण करवाया था, जिसका अर्थ है, कि "यदि पृथ्वी पर कहीं बहिश्त है, तो वह यहाँ है, केवल यहाँ है, अन्यत्र कहीं नहीं है।"

औरंगजेब—शाहजहाँ की मृत्यु के बाद मुगल-युग की वास्तु-कला मे ह्रास प्रारम्भ हो गया। औरंगजेब को ललित कलाओं का जरा भी शौक नहीं था, और इस्लाम के आदर्शों का अनुसरण कर वह सादगी में विश्वास रखता था। इसीलिये अपने पूर्वजों के समान उसने किन्हीं विशाल व सुन्दर इमारतों के निर्माण का प्रयत्न नहीं किया। दिल्ली के लाल किले में उसने अपने निजी प्रयोग के लिये संगमरमर की एक मसजिद का निर्माण करवाया था, जो अब तक भी विद्यमान है, और उसके सादे मिजाज का परिचय देती है। काशी में विश्वनाथ के मन्दिर को भूमिसात् करा के उसी के भग्नावशेषों पर उसने एक मसजिद का निर्माण कराया था, जो इस मुगल बादशाह की धर्मान्धता का जीता-जागता प्रमाण है। लाहौर की बादशाही मसजिद भी औरंगजेब की ही कृति है।

औरंगजेब के बाद मुगल-साम्राज्य खण्ड-खण्ड हो गया, और उसके उत्तराधिकारी मुगल बादशाह इतने समृद्ध व वैभवपूर्ण नहीं थे, कि वे वास्तुकला पर ध्यान दे सकते। पर मुगल-साम्राज्य के भग्नावशेष पर जो अनेक हिन्दू व मुसलिम राज्य इस युग में कायम हुए, उनके राजाओं व नवाबों ने भवन-निर्माण की प्रक्रिया को जारी

रखा। अमृतसर का सुवर्ण-मन्दिर (अकाल तख्त और गुरुद्वारा), लखनऊ के इमामबाड़े और हैदराबाद की आलीशान इमारतें इसी युग मे निर्मित हुईं।

मन्दिर और मूर्तियां—जब भारत मे मुसलमानों का शासन भली-भांति स्थापित हो गया, तो इस देश में मूर्तिकला का विकास सम्भव नही रह गया। मुसलिम लोग मूर्तिपूजा के विरोधी थे, और बुतशिकन (मूर्तिभंजक) होना गौरव की बात समझते थे। इस दशा में यह सम्भव नही था, कि भारत के कारीगर नये मन्दिरों का निर्माण करने और उनमें प्रतिष्ठापित की जाने वाली मूर्तियों को गढ़ने मे प्रवृत्त हो सकते। इस युग की मूर्तिकला पत्थर पर विविध आकृतियो या बेलों व फूलो के निर्माण में ही प्रगट हुई, और प्राचीन काल तथा मध्य काल मे जिस ढंग से विशाल मन्दिरों और मूर्तियों का निर्माण होता था, वह अब प्रायः बन्द हो गया।

पर फिर भी अकबर जैसे उदार व सहिष्णु बादशाहों के शासनकाल में और ऐसे प्रदेशों में जहाँ मुसलिम शासन नही था, मुगल युग में भी हिन्दुओं के अनेक मन्दिरों और मूर्तियों का निर्माण सम्भव हो सका। पन्द्रहवी सदी मे मुगलो की सत्ता के स्थापित होने से कुछ समय पूर्व राजस्थान मे महाराणा कुम्भा ने अनेक विशाल मन्दिर बनवाये, जिनमे कुम्भस्वामी विष्णु का मन्दिर बहुत प्रसिद्ध है। इस मन्दिर के अलकरण बहुत उत्कृष्ट ढंग के हैं। महाराणा कुम्भ ने गुजरात विजय के उपलक्ष मे एक विशाल विजय-स्तम्भ का भी निर्माण कराया था, जो कि ऊँचाई मे ११२ फीट है।

भारत मे मुगल सत्ता के स्थापित हो जाने पर सोलहवी सदी मे महाराजा मानसिंह ने वृन्दावन मे गोविन्ददेव का विशाल मन्दिर बनवाया। इसी काल मे महाराजा वीरसिंह देव ने ओरछा मे चतुर्भुज मन्दिर का निर्माण कराया, जिसमे वैष्णव मन्दिरों के शिखर के आगे एक गुम्बद भी बनाया गया है।

(५) चित्रकला और संगीत

चित्रकला—वास्तुकला के समान चित्रकला मे भी मुगल-युग में बहुत उन्नति हुई। मुगलो की चित्रकला का उद्‌भव पर्शिया मे हुआ था। पर पर्शिया के स्रोत से जो चित्रकला मुगलो द्वारा भारत में प्रविष्ट हुई, वह विशुद्ध पर्शियन नही थी। जब मगोल लोगो ने पर्शिया को जीतकर उसे अपने साम्राज्य मे मिला लिया, तो वे अपने साथ एक ऐसी चित्रकला को उस देश मे ले गए, जो बौद्ध, बैक्ट्रियन और मंगोलियन प्रभाव के सम्मिश्रण का परिणाम थी। पर्शिया मे आने पर पर्शियन तत्त्व भी इसमे सम्मिश्रित हो गया और पर्शिया के तैमूर वंशी शासको के सरक्षण मे इसका निरन्तर विकास होता रहा। मुगल विजेता बाबर तैमूर के वश का था। तैमूर के सभी वशज चित्रकला के प्रेमी थे। विशेषतया, हीरात के शासक हुसैन बैकरा के सरक्षण मे इस कला का असाधारण रूप से विकास हुआ। उसके आश्रय मे बिहजाद नाम का विख्यात चित्रकार रहता था, जिसकी गणना ससार के सर्वोत्कृष्ट कलावन्तो मे की जाती है। बिहजाद ने चित्रकला के एक नये सम्प्रदाय का प्रारम्भ किया, जिसमे पर्शियन, चीनी, बौद्ध आदि कलाओं के सर्वोत्कृष्ट तत्त्वों का अत्यन्त सुन्दर रूप से सम्मिश्रण किया गया था। बिहजाद की कला से बाबर भली-भांति परिचित था, और जब उसने भारत में अपना

शासन स्थापित किया, तो इस कला का भारत में भी प्रवेश हुआ। उसके समय के अनेक ग्रन्थों की हस्तलिखित प्रतियों को इस कला के अनुसार चित्रित किये गये चित्रों द्वारा विभूषित किया गया। ऐसी अनेक प्रतियाँ इस समय भी उपलब्ध होती हैं।

बाबर के समान हुमायूँ भी चित्रकला का प्रेमी था। शेरशाह द्वारा परास्त होने के कारण वह भारत छोड़ कर पर्शिया चले जाने के लिए विवश हुआ था। पर्शिया के शाह तहमास्प के पास रहते हुए भी वह अनेक चित्रकारों के सम्पर्क में आया, और उनकी कला से बहुत प्रभावित हुआ। भारत लौटने पर वह सैयद अली तबरीजी और ख्वाजा अब्दुस्समद नामक दो चित्रकारों को अपने साथ ले आया, जो कि बिहजाद द्वारा स्थापित चित्रकला-सम्प्रदाय के अनुयायी थे। इन पर्शियन चित्रकारों को उसने 'दास्ताने अमीर-हमजा' नामक ग्रन्थ को चित्रित करने का कार्य सुपुर्द किया। इन दो चित्रकारों द्वारा चित्रित की गयी वह पुस्तक अब तक भी सुरक्षित दशा में विद्यमान है। हुमायूँ न केवल चित्रकारों का संरक्षक था, अपितु स्वय भी चित्रकार था। उसने अपने पुत्र अकबर को भी इस कला की शिक्षा दी थी।

सैयद अली तबरीजी और ख्वाजा अब्दुस्समद भारत मे ही स्थिर रूप से बस गये थे। हुमायूँ और अकबर के राजदरबार में निवास करते हुए वे भारत के चित्रकारों के सम्पर्क मे भी आये, और इस निकट सम्पर्क के कारण चित्रकला की उस शैली का विकास हुआ, जिसे 'मुगल शैली' कहा जाता है। इसमे बिहजाद की नवीन शैली और भारत की परम्परागत प्राचीन शैली का अत्यन्त सुन्दर रूप से सम्मिश्रण हुआ, और मुगल युग में वह निरन्तर विकास को प्राप्त करती रही। अकबर के शासन-काल में इस शैली की बहुत उन्नति हुई। साहित्यिकों और कवियो के समान चित्रकारो को भी अकबर ने अपने दरबार में आश्रय दिया था। हिन्दू और मुसलमान दोनों ही धर्मों के चित्रकार उसके संरक्षण में रहते हुए अपनी-अपनी कला का चमत्कार प्रदर्शित करने के लिये तत्पर थे। इस युग के प्रमुख चित्रकारो में अब्दुस्समद, सैयद अली तबरीजी, फर्रुखबेग, दसवन्त, बसावन, सांवलदास, ताराचन्द और जगन्नाथ के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। अब्दुस्समद और सैयद अली पर्शियन थे, जिन्हें हुमायूँ अपने साथ भारत लाया था। उन्ही के द्वारा भारत मे बिहजाद की कला का प्रवेश हुआ था। भारतीय चित्रकारों में दसवन्त जाति से कहार था, पर चित्र-कला की उसमे अपूर्व प्रतिभा थी। जब वह बालक ही था, अकबर का ध्यान उसकी प्रतिभा की ओर आकृष्ट हुआ, और उसकी शिक्षा के लिए अब्दुस्समद को नियत किया गया। इस पर्शियन कलाकार के तत्वावधान मे दसवन्त की प्रतिभा का खूब विकास हुआ, और उसने इतनी उन्नति की, कि वह अपने युग के सबसे महान् कलावन्तो में गिना जाने लगा। हिन्दू कला मे बिहजाद-कला के तत्वों का समावेश कर उसने अपनी अनुपम प्रतिभा का परिचय दिया। अकबर के संरक्षण मे जो चित्रकार इस ललितकला की उन्नति करने मे तत्पर थे, उनकी संख्या सैकड़ों में थी। इनमें भी सौ चित्रकार बहुत प्रसिद्ध थे, और सतरह कलाकार तो ऐसे थे, जिन्हें अपनी कला का उस्ताद माना जाता था। यह बात ध्यान देने योग्य है, कि इन सतरह उस्तादों में तेरह हिन्दू थे। अबुल फजल ने इनके सम्बन्ध मे लिखा है, कि ये हिन्दू चित्रकार इतने उच्चकोटि के हैं, कि संसार में मुश्किल से ही कोई उनकी

समकक्षता कर सकता है। अकबर के युग के चित्रकार हस्तलिखित पुस्तकों को चित्रित करने, प्रासादों की दीवारों को विभूषित करने और वस्त्र व कागज पर चित्र बनाने में अपनी कला को अभिव्यक्त करते थे। अकबर के आदेश का पालन कर उन्होंने चंगेज-नामा, रामायण, नलदमयन्ती, कालियदमन आदि विविध प्रसिद्ध पुस्तकों को चित्रों द्वारा विभूषित किया। हुमायूँ द्वारा स्थापित पुस्तकालय में इस प्रकार की सैकड़ो पुस्तकें संगृहीत थी, जिन्हें कि अकबर के आश्रय में रहने वाले चित्रकारो ने विविध प्रकार के सुन्दर व कलात्मक चित्रो से सुशोभित किया था। जब अकबर ने फतहपुर सीकरी और आगरा को अपनी राजधानी बनाया, तो ये चित्रकार भी उसके साथ-साथ वहाँ गये, और वहाँ भी उन्होंने अपने कार्य को जारी रखा। इसमें सन्देह नही, कि अकबर को चित्रकला से अत्यधिक प्रेम था। उसका विचार था, कि चित्रकार अपनी कला द्वारा ईश्वर की शक्ति को अभिव्यक्त करता है। वह अपनी कला द्वारा विविध रंगों से जिस जीवित-जागृत जगत् की सृष्टि करता है, उसमे भगवान् की शक्ति की ही अभिव्यक्ति होती है। अकबर के समय के अनेक मुसलिम धर्माचार्य कला के विरोधी थे, पर चित्र-कारों की कला का चमत्कार देखकर उनकी भी आँखें खुल गयी थी।

अकबर के समान जहाँगीर भी चित्रकला का प्रेमी था। उसके संरक्षण मे जिन चित्रकारो ने बहुत प्रसिद्धि प्राप्त की, उनमे आगा, रजा, अबुल हसन, मुहम्मद नादिर, मुहम्मद मुराद, उस्ताद मन्सूर, बिशनदास, गोवर्धन और मनोहर के नाम उल्लेखनीय हैं। जहाँगीर ने अपने दरबार में बहुत-से चित्रकारों को आश्रय दिया था, और यदि किसी अन्य चित्रकार की कलाकृति को उसके सम्मुख लाया जाता था, तो वह उसे अच्छा ऊंचा मूल्य देकर क्रय कर लेने मे गौरव अनुभव करता था। चित्रकला से उसे इतना अधिक प्रेम था, कि वह प्रत्येक चित्र का ध्यान-पूर्वक निरीक्षण करके उसके गुण-दोषो का विवेचन करता था, और यह पहचान भी रखता था, कि कोई चित्र किस शैली के अनुसार और किस चित्रकार द्वारा निर्मित है।

शाहजहाँ को वास्तु-कला से बहुत प्रेम था, पर चित्रकला का उसे अधिक शौक नहीं था। इसी कारण उसने दरबार के आश्रय में रहने वाले चित्रकारों की संख्या में बहुत कमी कर दी थी, और अनेक सुप्रसिद्ध कलाकार राजाश्रय न मिलने के कारण बेरोजगार हो गये थे। मुगल-दरबार से निराश होकर इन कलावन्तों ने राजपूताने के विविध राजाओ और हिमालय के पार्वत्य प्रदेशो के राजाओं का आश्रय लिया, और वहाँ जाकर चित्रकला की उन शैलियों का विकास किया, जिन्हें 'राजपूत-शैली' और 'पहाडी शैली' कहते हैं। शाहजहाँ के समय मे चित्रकला की मुगल-शैली का ह्रास शुरू हो गया, और उसके स्थान पर राजपूत आदि शैलियाँ उन्नति करने लगीं। पार्सी ब्राउन नामक कलाविज्ञ ने ठीक ही लिखा है, कि मुगल चित्रकला की आत्मा जहाँगीर के साथ ही मृतप्राय हो गयी थी। शाहजहाँ को वास्तु-कला, भवन-निर्माण और मणिमाणिक्य से बहुत अधिक प्रेम था। राजदरबार के शिष्टाचार को वह बहुत महत्त्व देता था। इसलिए कलावन्तों को उसके सम्पर्क में आने का विशेष अवसर नही मिलता था।

मुगल-युग के चित्रकारो का प्रिय विषय राजदरबार का ऐश्वर्य ही था। इसी कारण वे अमीर उमराओं के ऐश्वर्य, रत्न जटित परदों व बहुमूल्य वस्त्राभूषणों को अपने

दो संतानें हुईं, महेन्द्र और संघमित्रा। मोद्गलिपुत्र तिष्य ने इन दोनों को भिक्षुव्रत में दीक्षित किया। भिक्षु बनते समय महेन्द्र की आयु बीस साल की थी।

इस समय में लंका का राजा 'देवताओं का प्रिय' तिष्य था। उसकी अशोक से बड़ी मित्रता था। राजगद्दी पर बैठने पर तिष्य ने अपना एक दूतमण्डल अशोक के पास भेजा, जो बहुत से मणि, रत्न आदि मागध सम्राट् की सेवा में भेंट करने के लिये लाया। इस दूतमंडल का नेता राजा तिष्य का भानजा महाअरिट्ठ था। लंका का दूतमण्डल सात दिन में जहाज द्वारा ताम्रलिप्ति के बंदरगाह पर पहुँचा और उसके बाद सात दिन में पाटलिपुत्र। अशोक ने इस दूतमण्डल का राजकीय रीति से बड़े समारोह के साथ स्वागत किया। पाँच मास तक लंका का दूतमण्डल पाटलिपुत्र में रहा। दूत-मंडल को विदा करते हुए अशोक ने तिष्य के नाम यह संदेश भेजा—"मैं बुद्ध की शरण में चला गया हूँ। मैं धम्म की शरण में चला गया हूँ। मैं संघ की शरण मे चला गया हूँ। मैंने शाक्य-मुनि के धर्म का उपासक होने का व्रत ले लिया है। तुम भी इसी बुद्ध, धर्म और संघरूपी त्रिरत्न का आश्रय लेने के लिए अपने मन को तैयार करो। 'जिन' के उच्चतम धर्म का आश्रय लो। बुद्ध की शरण मे आने का निश्चय करो।"

इधर तो अशोक का यह संदेश लेकर महाअरिट्ठ लंका वापस जा रहा था, उधर भिक्षु महेन्द्र लंका मे धर्मप्रचार के लिए अपने साथियों के साथ जाने को कटिबद्ध था।

लंका पहुँचकर महेन्द्र ने अनुराधपुर से आठ मील पूर्व जिस स्थान को केन्द्र बनाकर प्रचार कार्य प्रारम्भ किया, वह अब भी महिंदतले कहलाता है। अशोक के संदेश के कारण देवताओ का प्रिय राजा तिष्य पहले ही बौद्ध-धर्म के प्रति अनुराग रखता था। महेन्द्र का उपदेश सुनकर अपने चालीस हजार साथियो के साथ राजा तिष्य ने बौद्ध-धर्म को ग्रहण किया। राजकुमारी अनुला ने भी अपनी ५०० सहचरियों के साथ बौद्ध-धर्म में दीक्षित होने की इच्छा प्रगट की, पर उसे निराश होना पड़ा। उसे बताया गया, कि भिक्षुओं को यह अधिकार नही है, कि स्त्रियों को दीक्षा दे सकें। स्त्री को दीक्षा भिक्षुणी ही दे सकती है। इसपर राजा तिष्य ने महाअरिट्ठ के नेतृत्व मे फिर एक प्रतिनिधिमण्डल पाटलिपुत्र भेजा। इसे दो कार्य सुपुर्द किये गये थे। पहला यह कि संघमित्रा (महेन्द्र की बहन) को लंका आने के लिए निमंत्रण दे, ताकि कुमारी अनुला और लंकावासिनी अन्य महिलाएँ बौद्ध-धर्म की दीक्षा ले सकें, और दूसरा यह कि बोधिवृक्ष की एक शाखा को लंका ले आए, ताकि वहाँ उसका आरोपण किया जा सके। यद्यपि अशोक अपनी प्रिय पुत्री से वियुक्त नहीं होना चाहता था, पर बौद्ध-धर्म के प्रचार के लिये उसने संघमित्रा को लंका जाने की अनुमति दे दी। बोधिवृक्ष की शाखा को भेजने का उपक्रम बड़े समारोह के साथ किया गया। बड़े अनुष्ठानों के साथ सुवर्ण के कुठार से बोधिवृक्ष की एक शाखा काटी गयी, और उसे बड़े प्रयत्न से लंका तक सुरक्षित पहुँचाने का आयोजन किया गया, और बडे सम्मान के साथ लंका में बोधिवृक्ष का आरोपण किया गया। अनुराधपुर के महाविहार में यह विशाल वृक्ष अब तक भी विद्यमान है, और संसार के सबसे पुराने वृक्षों में से एक है। राजा

तिष्य ने संघमित्रा के निवास के लिये एक भिक्षुणी-विहार बनवा दिया था। वहाँ राजकुमारी अनुला ने अपनी ५०० सहेलियों के साथ भिक्षुणीव्रत की दीक्षा ली।

दक्षिण भारत में बौद्ध-धर्म—आचार्य मोद्गलिपुत्र तिष्य की योजना के अनुसार जो विविध प्रचारक-मण्डल विभिन्न देशों में बौद्ध-धर्म का प्रचार करने में लिए गये थे, उनमें से चार को दक्षिण भारत में भेजा गया था। अशोक से पूर्व बौद्ध-धर्म का प्रचार मुख्यतया विन्ध्याचल के उत्तर में ही था। लंका के समान दक्षिण भारत में भी अशोक के समय में ही पहले-पहल बुद्ध के अष्टांगिक आर्य-मार्ग का प्रचार हुआ। अशोक ने अपनी धर्मविजय की नीति का अनुसरण करते हुए चोल, पांड्य, केरल, सातियपुत्र और ताम्रपर्णी के पड़ोसी राज्यों में जहाँ अंतमहामात्र नियत किये थे, वहाँ अपने साम्राज्य में भी रठिक-पेतनिक, आंध्र और पुलिंद प्रदेशों में धर्ममहामात्रों की नियुक्ति की थी। ये सब प्रदेश दक्षिण भारत में ही थे। अशोक द्वारा नियुक्त धर्ममहामात्रों और अंतमहामात्रों के अतिरिक्त अब चार प्रचारकमण्डल भी वहाँ गये। इनमें भिक्षु महादेव महिशमण्डल गया। यह उस प्रदेश को सूचित करता है, जहाँ अब मैसूर का राज्य है। वनवास उत्तर कर्णाटक का पुराना नाम है। वहाँ आचार्य रक्षित धर्मप्रचार के लिए गया। अपरान्तक का अभिप्राय कोंकण से है, वहाँ का कार्य योनक धम्मरक्खित के सुपुर्द किया गया था। संभवतः, यह आचार्य यवन-देश का निवासी था, इसीलिए इसे योनक कहा गया है। महारट्ठ (महाराष्ट्र) मे कार्य करने के लिए थेर महाधम्म-रक्खित की नियुक्ति हुई थी। दक्षिण भारत मे बौद्ध-प्रचारको के कार्य का वर्णन महावंश मे विशद रूप से किया गया है।

आंध्र देश और पांड्य आदि तमिल राज्यों मे आचार्य उपगुप्त ने प्रचार का कार्य किन भिक्षुओं को दिया था, यह बौद्ध-अनुश्रुति हमें नही बताती। पर प्रतीत होता है, कि सुदूर दक्षिण के इन प्रदेशों में महेन्द्र और उसके साथियों ने ही कार्य किया था। सातवीं सदी में प्रसिद्ध चीनी यात्री ह्यू नत्सांग जब भारत की यात्रा करते हुए दक्षिण में गया, तो उसने द्रविड़ देश में महेन्द्र के नाम का एक विहार देखा था। यह विहार सम्भवतः, महेन्द्र द्वारा दक्षिण भारत में किये गये प्रचार-कार्य की स्मृति में ही बनवाया गया था।

खोतन में कुमार कुस्तन—पुराने समय में खोतन भारत का ही एक समृद्ध उपनिवेश था। वहाँ बौद्ध-धर्म, भारतीय सभ्यता और संस्कृति का प्रचार था। पिछले दिनों में तुर्किस्तान और विशेषतया खोतन में जो खुदाई हुई है, उससे इस प्रदेश में बौद्ध-मूर्तियों, स्तूपों तथा विहारों के अवशेष प्रभूत मात्रा में उपलब्ध हुए हैं। संस्कृत के लेख भी इस प्रदेश से मिले हैं। इसमें सन्देह नहीं, कि किसी समय यह सारा प्रदेश बृहत्तर भारत का ही अंग था। पाँचवीं सदी में चीनी यात्री फाइयान और सातवीं सदी में ह्यू नत्सांग ने इस प्रदेश की यात्रा की थी। उनके वर्णनों से सूचित होता है, कि उस प्राचीन युग में खोतन के निवासी बौद्ध-धर्म के अनुयायी थे, सारा देश बौद्ध-विहारों और स्तूपों से भरा हुआ था, और वहाँ के अनेक नगर बौद्ध-शिक्षा और सभ्यता के महत्त्वपूर्ण केन्द्र थे।

खोतन में बौद्ध-धर्म और भारतीय सभ्यता का प्रवेश राजा अशोक के समय में

ही हुआ। इसका वर्णन कुछ तिब्बती ग्रन्थों में उल्लिखित है। सम्भवतः, ये तिब्बती ग्रन्थ खोतन की प्राचीन अनुश्रुति के आधार पर ही लिखे गये थे। हम यहाँ बहुत संक्षेप से इस कथा को लिखते हैं—

राज्याभिषेक के तीन साल बाद राजा अशोक के एक पुत्र हुआ। ज्योतिषियों ने बताया, कि इस बालक में प्रभुता के अनेक चिह्न विद्यमान हैं, और यह पिता के जीवनकाल में ही राजा बन जायगा। यह सुनकर अशोक को बड़ी चिन्ता हुई। उसने आज्ञा दी, कि इस बालक का परित्याग कर दिया जाय। परित्याग करने के बाद भी भूमि माता द्वारा बालक का पालन होता रहा। इसीलिए उसका नाम कुस्तन (कु= भूमि है स्तन जिसकी) पड़ गया। उस समय चीन के एक प्रदेश में बोधिसत्व का शासन था। उसके ९९९ पुत्र थे। इसपर बोधिसत्व ने वैश्रवण से प्रार्थना की, कि उसके एक पुत्र और हो जाय, ताकि संख्या पूरी १००० हो जाय। वैश्रवण ने देखा, कि कुस्तन का भविष्य बहुत उज्ज्वल है। वह उसे चीन ले गया और बोधिसत्व के पुत्रों में सम्मिलित कर दिया। एक दिन जब कुस्तन का बोधिसत्व के अन्य पुत्रों के साथ झगड़ा हो रहा था, तो उन्होंने उससे कहा—'तू सम्राट् का पुत्र नहीं है।' यह जानकर कुस्तन को बड़ा कष्ट हुआ। इस बात की सचाई का निश्चय करके उसने राजा से अपने देश का पता लगाने और वहाँ जाने की अनुमति माँगी। इसपर राजा ने कहा—'तू मेरा ही पुत्र है। यह तो तेरा अपना देश है। तुझे दुःखी नहीं होना चाहिए'। पर कुस्तन का इससे भी संतोष नहीं हुआ। उसने पक्का इरादा कर लिया था, कि उसका भी अपना पृथक् राज्य हो। अतः उसने अपने दस हजार साथियों को एकत्र किया, और पश्चिम की तरफ चल पड़ा। इस तरह चलते-चलते वह खोतन के मेस्कर नामक स्थान पर जा पहुँचा।

सम्राट् अशोक के एक मन्त्री का नाम यश था। वह बहुत प्रभावशाली था। धीरे-धीरे वह राजा की आंखों में खटकने लगा। यश को जब यह बात मालूम हुई, तो उसने भी यही निश्चय किया कि भारत छोड़कर अपने लिए नया क्षेत्र ढूँढ़ ले। उसने अपने सात हजार साथियों के साथ भारत छोड़कर सुदूर पश्चिम में नये प्रदेशों का अनुसन्धान प्रारम्भ किया। इस प्रकार वह खोतन मे उथेन नदी के दक्षिण-तट पर जा पहुँचा। अब ऐसा हुआ, कि कुस्तन के अनुयायियों मे से दो व्यापारी घूमते-फिरते तो-ला नाम के प्रदेश में आये। यह प्रदेश उस समय बिल्कुल गैर-आबाद था। इसकी रमणीयता को देखकर उन्होने विचार किया, कि यह प्रदेश कुमार कुस्तन के द्वारा आबाद किये जाने के योग्य है। मन्त्री यश को कुस्तन के बारे मे जब पता लगा, तो उसने यह सन्देश उसके पास भेजा—'तुम राजघराने के हो और मै भी कुलीन घराने का हूँ। अच्छा हो कि हम परस्पर मिल जाएँ और इस उथेन प्रदेश में मिलकर बस जाएँ। तुम राजा बनो और मैं तुम्हारा मन्त्री।' यह विचार कुस्तन को बहुत पसन्द आया। कुस्तन ने अपने चीनी अनुयायियों के साथ और यश ने अपने भारतीय साथियों के साथ परस्पर सहयोग से इस प्रदेश को आबाद किया। इसीलिए तिब्बती अनुश्रुति के अनुसार "खोतन देश आधा चीनी है, और आधा भारतीय। लोगों की भाषा न तो पूरी तरह भारतीय ही है, और न चीनी। वह दोनों का सम्मिश्रण है।

अक्षर बहुत कुछ भारतीय लिपि से मिलते-जुलते हैं, लोगों की आदतें चीन से बहुत कुछ मिलती हैं। धर्म और भाषा भारत से मिलती हैं। खोतन में वर्तमान भाषा का प्रवेश आर्यों (बौद्ध-प्रचारकों) द्वारा हुआ है।" जिस समय कुस्तन ने खोतन में अपने राज्य की स्थापना की, तो वह १६ साल का था और अशोक जीवित था। ज्योतिषियों की यह भविष्यवाणी सत्य हुई, कि कुस्तन अशोक के जीवनकाल में ही राजा बन जाएगा।

इस प्रकार यह स्पष्ट है, कि इस प्राचीन तिब्बती अनुश्रुति के अनुसार खोतन के प्रदेश में राजा अशोक के समय में भारतीयों ने अपना एक उपनिवेश बसाया, जिसमें चीनी लोगों का सहयोग उन्हें प्राप्त था। इसी समय में वहाँ भारतीय सभ्यता और धर्म का प्रवेश हुआ।

हिमवन्त देशों में प्रचार—हिमालय के क्षेत्र मे आचार्य मज्झिम को प्रचार-कार्य करने के लिए नियत किया गया था। महावंश टीका में उसके चार साथियों के भी नाम दिये गये है। ये साथी निम्नलिखित थे, कस्सपगोत, दुन्दुभिसर, सहदेव और मूलकदेव। हम ऊपर लिख चुके हैं, कि साञ्ची के समीप उपलब्ध हुई धातुमंजूषाओं पर हिमवताचार्य के रूप में मज्झिम, कस्सप और दुन्दुभिसर के नाम उत्कीर्ण मिले हैं। हिमालय के सम्पूर्ण प्रदेश में अशोक के समय बौद्ध-धर्म का प्रचार हुआ। महावंश के अनुसार बहुत-से गन्धर्व, यक्ष और कुम्भण्डकों ने बौद्ध-धर्म को स्वीकृत किया। एक यक्ष ने, जिसका नाम पञ्चक था, अपनी पत्नी हारीत के साथ धर्म के प्रथम फल की प्राप्ति की, और अपने ५०० पुत्रों को यह उपदेश दिया, "जैसे तुम अब तक क्रोध करते आये हो, वैसे अब भविष्य मे न करो। क्योंकि सब प्राणी सुख की कामना करने वाले हैं, अतः अब कभी किसी प्राणी का घात न करो। जीवमात्र का कल्याण करो। सब मनुष्य सुख के साथ रहे।"

काश्मीर और गान्धार में आचार्य मज्झन्तिक पृथक् रूप से भी कार्य कर रहा था। उसके कार्य का भी महावंश मे बडे विस्तार के साथ वर्णन है। हिमवन्त के प्रदेश के समान काश्मीर और गान्धार मे भी बौद्ध-धर्म का अशोक के युग में प्रचार हुआ। हिमवन्त प्रदेश में नेपाल की पुरानी राजधानी पाटन या ललितपत्तन राजा अशोक ने ही बसायी थी। पाटन के मध्य व चारों तरफ अशोक ने बहुत-से स्तूप बनवाये थे, जिनमें से पाँच अब तक भी विद्यमान हैं। अशोक की पुत्री चारुमती नेपाल जाकर बस गई थी। उसने अपने पति देवपाल के नाम से वहाँ देवपत्तन नाम की नगरी भी बसाई थी। उसी के समीप एक विशाल बौद्ध-विहार का भी निर्माण कराया गया था, जिसके अवशेष पशुपतिनाथ के मन्दिर के उत्तर में अब तक भी विद्यमान हैं। काश्मीर में अशोक के समय में बहुत-से स्तूप और विहारों का निर्माण हुआ। कल्हणकृत राजतरंगिणी के अनुसार काश्मीर की राजधानी श्रीनगरी को अशोक ने ही बसाया था। 'श्रीविजयेश के टूटे-फूटे किले को हटाकर उसके स्थान पर इस राजा ने सब दोषों से रहित विशुद्ध पत्थरों का एक विशाल किला बनवाया। अशोक ने जेहलम के सारे तट को स्तूपों द्वारा आच्छादित करा दिया था।"

हिमालय के प्रदेशों मे गांधर्व, यक्ष आदि जिन जातियों को बौद्ध-धर्म में दीक्षित

करने का उल्लेख किया गया है, वे सब वहाँ के मूल निवासियों के नाम हैं। ये कोई लोकोत्तर व दैवी सत्ताएँ नहीं थीं।

यवन देशों में प्रचार—भारत के पश्चिम में अंतियोक आदि जिन यवन-राजाओं के राज्य थे, उनमे भी अशोक ने अपनी धर्म-विजय की स्थापना का उद्योग किया था। अंतमहामात्र उन सब देशों में चिकित्सालय, धर्मशाला, कूप, प्याऊ आदि खुलवाकर भारत और उसके धर्म के लिए विशेष आदर का भाव उत्पन्न कर रहे थे। इस दशा में जब आचार्य महारक्खित अपने प्रचारकमंडल के साथ वहाँ कार्य करने के लिए गया, तो उसने अपने लिए मैदान तैयार पाया। इस प्रसंग में महावंश ने लिखा है कि "आचार्य महारक्खित योन देश में गया। वहाँ उसने 'कालकारामसुत्त' का उपदेश दिया। एक लाख सत्तर हजार मनुष्यो ने बुद्धमार्ग के फल को प्राप्त किया और दस हजार स्त्री-पुरुष भिक्खु बने।" इसमें संदेह नहीं, कि अशोक के बाद बहुत समय तक इन पश्चिमी यवन-देशो मे बौद्ध-धर्म का प्रचार रहा। मिस्र के यूनानी राजा टाल्मी (तुरमय) ने अलेक्जेण्ड्रिया के प्रसिद्ध पुस्तकालय मे भारतीय ग्रन्थों के भी अनुवाद की व्यवस्था की थी। जब पैलेस्टाइन में अशोक से लगभग ढाई सौ वर्ष बाद महात्मा ईसा का प्रादुर्भाव हुआ, तो इस पश्चिमी दुनिया में ईसीन तथा थेराथून नाम के विरक्त लोग रहते थे। ये लोग पूर्व की तरफ से पैलेस्टाइन और ईजिप्ट में जाकर बसे थे, और धर्मोपदेश के साथ-साथ चिकित्सा का कार्य भी करते थे। ईसा की शिक्षाओं पर इनका बड़ा प्रभाव था, और स्वयं ईसा इनके सत्संग में रहा था। सम्भवतः, ये लोग आचार्य महारक्खित के ही उत्तराधिकारी थे, जो ईसा के प्रादुर्भाव के समय में इन विदेशी यवन-राज्यो मे बौद्ध-भिक्षुओं (थेरो) का जीवन व्यतीत कर रहे थे। बाद में ईसाई धर्म और इस्लाम के प्रभाव के कारण इन पश्चिमी देशों से बौद्ध-धर्म का सर्वथा लोप हो गया। पर यह निश्चित है, कि उनसे पूर्व इन देशों में बौद्ध-धर्म अपना काफी प्रभाव जमा चुका था। बाद में बौद्ध-धर्म के सदृश शैव और वैष्णव लोग भी यवन-देशों में गये, और वहाँ उन्होंने अपनी अनेक बस्तियाँ कायम कीं।

सुवर्णभूमि में प्रचार—महावंश के अनुसार आचार्य उत्तर और थेर सोण सुवर्णभूमि मे प्रचार के लिए गये थे। उस समय सुवर्णभूमि के राजकुल की यह दशा थी, कि ज्यों ही कोई कुमार उत्पन्न होता, एक राक्षसी उसे खा जाती। जिस समय ये थेर सुवर्णभूमि पहुँचे, तभी रानी ने एक पुत्र को जन्म दिया। उसी समय राक्षसी समुद्र से निकली, और सब लोग भयभीत होकर हाहाकार करने लगे। पर थेरो ने अपने अलौकिक प्रभाव से राजकुमार का भक्षण करने वाली राक्षसी को वश में कर लिया। इस प्रकार सर्वत्र अभय की स्थापना कर इन थेरों ने लोगों को बौद्ध-धर्म का उपदेश दिया। इससे प्रभावित हो बहुत-से लोगो ने बौद्ध-धर्म की दीक्षा ग्रहण कर ली। सम्भवतः, महावंश के इस वर्णन में आलंकारिक रूप से यह उल्लेख है, कि रोगरूपी राक्षसी के आक्रमण के कारण सुवर्णभूमि का कोई राजकुमार जीवित नही रह पाता था। थेर सोण और उत्तर कुशल चिकित्सक भी थे। जब वे सुवर्णभूमि गये, तो इस रोगरूपी राक्षसी ने पुनः आक्रमण किया, पर इस बार इन थेर चिकित्सकों के प्रयत्न से राजकुमार की जान बच गई, और सुवर्णभूमि के निवासियों की बौद्ध-धर्म पर बहुत श्रद्धा हो गई।

सुवर्णभूमि का अभिप्राय दक्षिणी बरमा तथा उसके परे के दक्षिण-पूर्वी एशिया के प्रदेशों से है। आधुनिक बरमा के पेगू-मालमीन के प्रदेशों में अशोक के समय में बौद्ध-प्रचारक गये, और उन्होंने उस प्रक्रम का प्रारम्भ किया, जिससे कुछ ही समय में न केवल सम्पूर्ण बरमा, पर उसके भी पूर्व के बहुत-से देश बौद्ध-धर्म के अनुयायी हो गये।

अशोक के समय में आचार्य मोग्गलिपुत्त तिस्स या उपगुप्त के आयोजन के अनुसार बौद्ध-धर्म का विदेशों में प्रचार करने के लिए जो भारी प्रयत्न प्रारम्भ हुआ, उसका केवल भारतवर्ष के इतिहास में ही नहीं, अपितु संसार के इतिहास में भी बहुत महत्त्व है। बौद्ध-भिक्षु जो उद्योग कर रहे थे, उसे वे 'बुद्ध के शासन' का प्रसार कहते थे। इस कार्य मे वे मगध के सम्राटों से भी बहुत आगे बढ़ गये। मागध-साम्राज्य की अपेक्षा बहुत बड़ा ऐसा धर्म-साम्राज्य उपगुप्त ने बनाया, जो कुछ सदियों तक ही नही, अपितु सहस्राब्दियों तक कायम रहा। दो हजार साल से अधिक समय बीत जाने पर भी यह साम्राज्य अब तक भी आंशिक रूप से कायम है।

सोलहवाँ अध्याय

अशोक के उत्तराधिकारी मौर्य राजा

(१) राजा सुयश कुणाल

२३२ ई० पू० में अशोक का राज्यकाल समाप्त हुआ। उसके अनेक पुत्र थे। शिलालेखों मे उसके केवल एक पुत्र का उल्लेख है, जिसका नाम तीवर था। उसकी माता रानी कारुवाकी के दान का वर्णन भी एक शिलालेख में किया गया है। परन्तु प्राचीन अनुश्रुति से अशोक के अन्य भी अनेक पुत्रों के नाम ज्ञात होते हैं। इनमें महेन्द्र रानी असंधिमित्रा का पुत्र था। कुणाल उसका सबसे बडा लड़का था, जिसे रानी तिष्यरक्षिता की ईर्ष्या का शिकार होना पड़ा था। तिब्बती साहित्य में अशोक के एक पुत्र कुस्तन का उल्लेख है, जिसने खोतन में एक स्वतन्त्र भारतीय उपनिवेश की स्थापना की थी। महेन्द्र भिक्षु होकर लंका में बौद्ध-धर्म का प्रचार करने के लिए चला गया था। राजतरंगिणी के अनुसार अशोक के एक अन्य पुत्र का नाम जालौक था, जिसने अपने पिता की मृत्यु के बाद काश्मीर में अपने स्वतन्त्र राज्य की स्थापना की थी। कुमार तीवर का साहित्यिक अनुश्रुति मे कही उल्लेख नही है। सम्भवतः, अपने पिता से पूर्व ही वह स्वर्गवासी हो गया था।

वायुपुराण के अनुसार अशोक के बाद उसके लडके कुणाल ने राज्य प्राप्त किया। इसी का उपनाम सुयश था। तिष्यरक्षिता के कपटलेख पर आश्रित व अशोक की दन्तमुद्रा से अंकित राजाज्ञा से वह अंधा कर दिया गया था। सम्भवतः, इसीलिए वह राज्यकार्य स्वयं नही कर सकता था। अशोक के समय में भी युवराज के पद पर कुणाल का पुत्र सम्प्रति (संपदि) नियुक्त था, और वही शासन-कार्य संभालता था। कुणाल के समय मे भी राज्य की बागडोर सम्प्रति के ही हाथ में रही। यही कारण है, कि कुछ ग्रन्थों मे अशोक के बाद सम्प्रति को ही मौर्य-सम्राट् लिखा गया है, और कुणाल का नाम बीच में छोड़ दिया गया है।

कुणाल के शासन-काल में ही विशाल मागध-साम्राज्य खण्ड-खण्ड होना शुरू हो गया था। काश्मीर पाटलिपुत्र की अधीनता से मुक्त हो गया, और वहाँ अशोक के एक अन्य पुत्र जालौक ने अपना पृथक् राज्य कायम किया। ऐसा प्रतीत होता है, कि अशोक के शासन के अन्तिम दिनो में ही यवन लोगों ने मागध-साम्राज्य पर आक्रमण करने शुरू कर दिए थे। इनका मुकाबला करने के लिए अशोक ने जालौक को नियत किया था। जालौक यवन लोगों को परास्त करने में तो सफल हुआ, पर जिस शक्तिशाली सेना की सहायता से उसने यवनों को परास्त किया था, उसी के साहाय्य से साम्राज्य के पश्चिमोत्तर-प्रदेश में उसने अपना पृथक् राज्य कायम कर लिया। यह बात

राजतरंगिणी के निम्नलिखित वर्णन से भली-भाँति स्पष्ट हो जाती है—"क्योंकि देश में म्लेच्छ लोग छा गए थे, अतः उनके विनाश के लिए राजा अशोक ने भूतेश को प्रसन्न करके एक पुत्ररत्न को प्राप्त किया। इसका नाम जालौक था। म्लेच्छों से जब सारी वसुधा आक्रान्त हो गई थी, तो जालौक ने उन्हें बाहर निकालकर भूमण्डल को शुद्ध किया और अन्य अनेक देशों को भी विजय किया।"

कल्हण का यह वृत्तान्त स्पष्ट रूप से सूचित करता है, कि अशोक के समय में ही म्लेच्छों या यवनों (ग्रीकों) के आक्रमण शुरू हो गए थे, और उनका मुकाबला करने के लिए जालौक की नियुक्ति हुई थी। बाद में वह काश्मीर तथा समीपवर्ती प्रदेशों पर स्वतन्त्ररूप से राज्य करने लगा। राजतरंगिणी के अनुसार काश्मीर में अशोक के बाद जालौक ही राजा हुआ।

काश्मीर की तरह आन्ध्र भी कुणाल के समय में ही स्वतन्त्र हो गया था। मौर्यों से पूर्व आन्ध्र देश मागध-साम्राज्य के अन्तर्गत नहीं था। सम्भवतः, बिंदुसार ने उसे जीतकर अपने साम्राज्य मे शामिल किया था। अशोक के साम्राज्य मे आन्ध्र की स्थिति अधीनस्थ राज्य की थी। अशोक का मजबूत हाथ हटते ही आन्ध्र देश स्वतन्त्र हो गया, और वहाँ एक नए वंश का प्रारम्भ हुआ, जो भविष्य मे बडा शक्तिशाली और प्रसिद्ध हुआ। आन्ध्र और उसके समीपवर्ती दक्षिणापथ के प्रदेशों में इस नए वंश का संस्थापक सीमुक था, जिसने २३० ई० पू० के लगभग मौर्यों की अधीनता से स्वतन्त्रता प्राप्त की थी।

(२) राजा बंधुपालित दशरथ

कुणाल ने २३२ ई० पू० से २२४ ई० पू० तक कुल आठ साल तक राज्य किया। उसके बाद उसका बडा लडका दशरथ राजगद्दी पर बैठा। एक पुराण के अनुसार कुणाल के उत्तराधिकारी का नाम बंधुपालित था। सम्भवत., बंधुपालित दशरथ का ही विशेषण है। ऐसा प्रतीत होता है, कि दशरथ के शासनकाल मे भी शासन की बागडोर सम्प्रति के ही हाथ में रही। सम्प्रति और दशरथ भाई थे। सम्प्रति अशोक और कुणाल के समयों में युवराज के रूप में शासन का संचालन करता रहा था। अब भी शासन-सूत्र इसी अनुभवी और योग्य शासक के हाथों मे रहा। शायद इसीलिए दशरथ को बंधुपालित विशेषण दिया गया था।

राजा दशरथ के तीन गुहालेख प्राप्त हुए है। ये बिहार की नागार्जुनी पहाड़ी की कृत्रिम गुहाओं मे उत्कीर्ण है। ये गुहामन्दिर दशरथ ने आजीवक-सम्प्रदाय के साधुओं को दान दिए थे, और इन गुहाओ में उसका यही दान उत्कीर्ण किया गया है।

दशरथ के समय में भी मागध-साम्राज्य का पतन जारी रहा। कलिंग इसी काल में स्वतन्त्र हुआ। कलिंग के राजा श्री खारवेल के हाथीगुम्फा शिलालेख से कलिंग देश की प्राचीन इतिहास सम्बन्धी अनेक महत्त्वपूर्ण बातें ज्ञात होती हैं। खारवेल शुंगवंशी पुष्यमित्र का समकालीन था, और वह १७३ ई० पू० में कलिंग के राजसिंहासन पर आरूढ़ हुआ था। उससे पहले कलिंग में दो स्वतन्त्र राजा हो चुके थे। अतः यह अनुमान करना सर्वथा उचित है, कि कलिंग २२३ ई० पू० के लगभग मौर्यों के शासन

से मुक्त हुआ था। कलिंग को अशोक के समय में ही मगध के अधीन किया गया था। उसे फिर से स्वतन्त्र कराने वाले वीर पुरुष का नाम चैत्रराज था। वह ऐलवंश का था। अशोक द्वारा शस्त्रों से स्थापित हुई कलिंग की विजय देर तक स्थिर नहीं रह सकी।

(३) राजा सम्प्रति (चन्द्रगुप्त मौर्य द्वितीय)

मौर्यवंश के इतिहास में सम्प्रति का महत्त्व भी चन्द्रगुप्त और अशोक के ही समान है। दशरथ की मृत्यु के बाद वह स्वयं पाटलिपुत्र के राजसिंहासन पर आरूढ़ हुआ। इससे पहले वह सुदीर्घ समय तक मागध-साम्राज्य का कर्णधार रह चुका था। अशोक के समय मे वह युवराज था। उसी ने अपने अधिकार से अशोक को राजकोष से बौद्धसंघ को दान देने का निषेध कर दिया था। कुणाल और दशरथ के समय में भी शासनसूत्र उसी के हाथों में रहा। यही कारण है, कि अनेक प्राचीन ग्रन्थो में सम्प्रति को ही अशोक का उत्तराधिकारी लिखा गया है। २१६ ई० पू० में दशरथ के बाद सम्प्रति स्वयं मौर्य-साम्राज्य का सम्राट् बना।

जैन-साहित्य मे सम्प्रति का वही स्थान है, जो बौद्ध-साहित्य में अशोक का है। जैन-अनुश्रुति के अनुसार सम्राट् सम्प्रति जैन-धर्म का अनुयायी था, और उसने अपने धर्म का प्रसार करने के लिए बहुत उद्योग किया था। परिशिष्ट पर्व मे लिखा है, कि एक बार रात्रि के समय सम्प्रति के मन में यह विचार पैदा हुआ, कि अनार्य देशो में भी जैन-धर्म का प्रसार हो, और उनमें भी जैन-साधु स्वच्छन्दरूप से विचरण कर सकें। इसलिए उसने इन अनार्य देशों मे धर्म-प्रचार के निमित्त जैन-साधुओ को भेजा। साधु लोगों ने सम्प्रति के राजकीय प्रभाव से शीघ्र ही उन्हें जैन-धर्म का अनुयायी बना लिया। इसी उद्देश्य से सम्प्रति ने बहुत-से लोकोपकारी कार्य भी किए। गरीबों को मुफ्त भोजन बाँटने के लिए अनेक दानशालाएँ खुलवायी गई। इन लोकोपकारी कार्यों से भी जैन-धर्म के प्रसार मे बहुत सहायता मिली। सम्प्रति ने अनार्य देशों में जैन-प्रचारक भेजे थे, इसका उल्लेख अन्य ग्रन्थों मे भी है। एक जैन पुस्तक में लिखा है, कि इस कार्य के लिए सम्प्रति ने अपनी सेना के योद्धाओं को भी साधुओ के वेश में प्रचार के लिए भेजा था। एक ग्रन्थ मे उन देशों में से कतिपय के नाम भी दिए गए हैं, जिनमें सम्प्रति ने जैन-धर्म का प्रचार किया था। ये देश आन्ध्र, द्रविड़, महाराष्ट्र, कुडुक्क आदि थे। इन्हे प्रत्यन्त (सीमावर्ती पड़ोसी राज्य) कहा गया है। आन्ध्र और महाराष्ट्र अशोक के 'विजित' (साम्राज्य) के अन्तर्गत थे, पर सम्प्रति के समय मे वे 'प्रत्यन्त' हो गए थे।

अनेक जैन ग्रन्थों में अशोक के पौत्र और कुणाल के पुत्र का नाम चन्द्रगुप्त लिखा गया है। सम्भवतः, चन्द्रगुप्त सम्प्रति का ही विरुद (उपनाम) था। सम्प्रति को हम चन्द्रगुप्त द्वितीय कह सकते हैं। जैन-ग्रन्थों के अनुसार सम्प्रति (चन्द्रगुप्त द्वितीय) के शासनकाल मे एक भारी दुर्भिक्ष पड़ा था, जो बारह साल तक रहा। सम्प्रति ने राज्य छोड़कर मुनिव्रत ले लिया, और दक्षिण मे जाकर अन्त में उपवास द्वारा प्राणत्याग किया। भद्रबाहुचरित्र के अनुसार यह कथा इस प्रकार है—

अवन्तिदेश में चन्द्रगुप्त नाम का राजा राज्य करता था। इसकी राजधानी उज्जयिनी थी। एक बार राजा चन्द्रगुप्त को रात में सोते हुए भावी अनिष्ट फल के सूचक सोलह स्वप्न दिखायी दिए। प्रातःकाल होते ही राजा को भद्रबाहु स्वामी के आगमन का समाचार मिला। यह स्वामी उज्जयिनी से बाहर एक सुन्दर उद्यान में ठहरे हुए थे। वनपाल ने आकर खबर दी, कि मुनिगण के अग्रणी आचार्य भद्रबाहु अपने मुनिसन्दोह के साथ पधारे हुए हैं। यह जानकर राजा बहुत प्रसन्न हुआ। उसने उसी समय भद्रबाहु को बुला भेजा और अपने स्वप्नों का फल पूछा। स्वप्नों का फल ज्ञात होने पर राजा ने जैन-धर्म की दीक्षा ले ली, और अपने गुरु भद्रबाहु की सेवा के लिए दत्तचित्त होकर तत्पर हो गया। कुछ समय बाद आचार्य भद्रबाहु सेठ जिनदास के घर पर गया। इस घर में एक अकेला बालक पालने पर झूल रहा था। यद्यपि इसकी आयु केवल साठ दिन की थी, तथापि उसने भद्रबाहु को देखकर 'जाओ-जाओ' ऐसा वचन बोलना शुरू किया। इसे सुनते ही त्रिकालज्ञ आचार्य समझ गया, कि शीघ्र ही बारह वर्ष का घोर दुर्भिक्ष पड़ने वाला है। अतएव उन्होंने अपने ५०० मुनियों को लेकर दक्षिण देश में जाने का निश्चय किया। दक्षिण पहुँचकर भद्रबाहु को शीघ्र ही ज्ञात हो गया, कि उनकी आयु बहुत कम रह गई है। अतः वे अपने स्थान पर विशाखाचार्य को नियुक्त कर और स्वयं एकान्त मे रहकर अपने अन्तिम समय की प्रतीक्षा करने लगे। राजा चन्द्रगुप्त अब मुनि हो चुका था, और अपने गुरु के साथ ही दक्षिण में आ गया था। वह आचार्य भद्रबाहु की सेवा मे अन्तिम समय तक रहा। यद्यपि भद्रबाहु ने चन्द्रगुप्त को अपने पास रहने से बहुत मना किया, पर उसने एक न मानी। भद्रबाहु की मृत्यु के बाद चन्द्रगुप्त इसी गुरुगुहा मे रहता रहा, और अन्त मे वही उसने अनशन द्वारा प्राण त्याग किया।

जैन-साहित्य के बहुत-से ग्रन्थों में यह कथा थोड़े-बहुत भेद से पायी जाती है। इसकी पुष्टि श्रवणबेलगोला (मैसूर) मे प्राप्त संस्कृत व कन्नड भाषा के अनेक शिला-लेखों से भी होती हैं। इन शिलालेखो को प्रकाशित करते हुए श्रीयुत राइस ने लिखा है, कि इन स्थानों पर जैनों की आबादी अन्तिम श्रुतकेवली आचार्य भद्रबाहु द्वारा प्रारम्भ हुई थी, और भद्रबाहु की मृत्यु इसी स्थान पर हुई थी। श्रवणबेलगोला मे दो पर्वत हैं, जिनमे से छोटे का नाम चन्द्रगिरि है। स्थानीय अनुश्रुति के अनुसार यह नाम चन्द्रगुप्त नाम के एक महात्मा के नाम पर पड़ा था। इसी पर्वत पर एक गुफा को भद्रबाहु स्वामी की गुफा कहते हैं। वहाँ एक मठ भी है, जिसे चन्द्रगुप्त-वस्ति कहा जाता है। इसमे सन्देह नहीं, कि राजा सम्प्रति (चन्द्रगुप्त द्वितीय) जैन-मुनि होकर अपने गुरु के साथ दक्षिण में श्रवणबेलगोला चला गया था। उसका अन्तित जीवन वहीं व्यतीत हुआ था, और वही उसने जैन-मुनियों की परिपाटी से प्राणत्याग किया था।

जिन प्रभासूरि के अनुसार सम्राट् सम्प्रति ने बहुत-से जैनमठों का भी निर्माण कराया था। ये मठ अनार्य देशों मे भी बनवाए गए थे। निःसन्देह, जैन-धर्म के भारत में दूर-दूर तक फैलाने का श्रेय राजा सम्प्रति को ही है। उसी के समय में जैन-धर्म के लिए वह प्रयत्न हुआ, जो उससे पहले अशोक ने बौद्ध-धर्म के लिए किया था।

(४) राजा शालिशुक

२०७ ई०पू० में राजा संप्रति के राज्यत्याग के बाद शालिशुक पाटलिपुत्र की राजगद्दी पर बैठा था। उसने कुल एक साल तक राज्य किया। पर मौर्य-वंश के इतिहास में शालिशुक के शासन का यह एक साल बड़े महत्त्व का है। चन्द्रगुप्त मौर्य द्वारा स्थापित विशाल मागध-साम्राज्य का वास्तविक पतन इसी एक वर्ष में हुआ। शालिशुक के शासनकाल के सम्बन्ध में वृद्धगार्ग्यसंहिता के युगपुराण से बहुत-सी आवश्यक बातें ज्ञात होती हैं। पहली बात यह है, कि जैन-मुनि बनकर जब संप्रति ने राजगद्दी छोड़ दी, तो राजा कौन बने, इस प्रश्न को लेकर गृहकलह हुआ। शालिशुक संप्रति का पुत्र था। पर प्रतीत होता है, कि उसका कोई बड़ा भाई भी था, और राज-सिंहासन पर वास्तविक अधिकार उसी का था। परन्तु शालिशुक ने उसका घात करके स्वयं राज्य पर अपना अधिकार कर लिया। बारह वर्ष के दुर्भिक्ष के कारण पहले ही देश को घोर संकट का सामना करना पड़ रहा था, अब इस गृह कलह से और भी दुर्दशा हो गई। ऐसा प्रतीत होता है, कि इस गृहकलह के समय मे ही सिंध नदी से परे के वे प्रदेश, जिनमें अफगानिस्तान, गान्धार और हीरात भी शामिल थे, साम्राज्य से पृथक् हो गए, और इनमें वृषसेन नाम के एक व्यक्ति ने अपना स्वतन्त्र राज्य स्थापित कर लिया। वृषसेन भी मौर्य-वंश का था, और संभवतः संप्रति का ही अन्यतम पुत्र था। ग्रीक लेखकों ने इसी को सोफागसेन या सुभागसेन लिखा है। सभवतः, सुभागसेन पहले गांधार देश का 'कुमार' (प्रांतीय शासक) था। पर संप्रति के अंतकाल की अव्यवस्था से लाभ उठाकर स्वतन्त्र हो गया था। तिब्बती बौद्ध-अनुश्रुति में संप्रति का उत्तराधिकारी इसी को लिखा गया है।

राजतरंगिणी के अनुसार काश्मीर का राजा जालौक (अशोक का पुत्र) एक बड़ा विजेता था। उसने कान्यकुब्ज तक विजय यात्रा की थी। राजतरंगिणी के अनुसार जालौक ने बहुत दीर्घ समय तक शासन किया था। अभी उसे राजगद्दी पर बैठे केवल २६ वर्ष ही हुए थे। कोई आश्चर्य नही, कि शालिशुक के समय के गृहकलह से लाभ उठाकर उसे राज्य-विस्तार का अवसर मिल गया हो, और उसने कान्यकुब्ज तक आक्रमण कर विजय प्राप्त की हो।

संप्रति के बाद पारस्परिक गृहकलह के कारण मौर्य-साम्राज्य बहुत शिथिल हो गया था, और उसका केन्द्रीय शासन व्यवस्थितऔर नियमित नही रहा था। यद्यपि शालिशुक को गृहकलह मे सफलता हुई, पर उसकी स्थिति सुरक्षित नहीं थी। संभवतः, राजघराने के षड्यन्त्र निरंतर जारी थे और शालिशुक की हत्या में उनका अंत हुआ। शालिशुक ने केवल एक ही साल राज्य किया। इसी से यह सूचित होता है, कि गृह-कलह में सफलता के बाद भी उसे चैन नही मिली। अपने एक साल के शासन में शालिशुक ने प्रजा पर बड़े अत्याचार किये। उसने राष्ट्र का मर्दन कर डाला। जनता उससे तंग आ गई। मौर्य-वंश के ह्रास में इससे और भी सहायता मिली।

अब तक मौर्य-सम्राट् अशोक की धम्म-विजय की नीति का अनुसरण करते रहे थे। संभवतः, दशरथ और संप्रति ने भी 'धम्म' के लिए पर्याप्त प्रयत्न किया था।

शालिशुक ने अपने पूर्वजों की नीति को नाम के लिये जारी रखा, पर उसका दुरुपयोग करके उसे नाशकारी बना दिया। गार्ग्यसंहिता में इस राजा को, 'धर्म का ढोंग करने-वाला' और 'अधार्मिक' कहा गया है, और यह भी लिखा है, कि इस मूर्ख ने धर्म-विजय को स्थापित करने का यत्न किया। 'विजयं नाम धार्मिकम्' में जो व्यंग्य है, उसे संस्कृत के ज्ञाता भली-भाँति समझ सकते हैं। शालिशुक ने धर्म-विजय की नीति का दुरुपयोग करके अशांति और अव्यवस्था को और भी बढ़ा दिया। इस राजा के राष्ट्रमर्दन तथा धर्म-विजय के ढोंग ने मागध-साम्राज्य को कितनी हानि पहुँचायी होगी, इसका अनुमान कर सकना कठिन नही है।

इसी शालिशुक के एक साल के शासन-काल में यवनों ने फिर पश्चिमी भारत पर आक्रमण किये। चन्द्रगुप्त मौर्य के समकालीन यवन-राजा सैल्यूकस की मृत्यु २८० ई० पू० में हुई थी। उसके बाद उसका लड़का एन्टियोकस सीरिया की राजगद्दी पर बैठा था। २६१ ई० पू० मे उसकी मृत्यु के पश्चात् एन्टियोकस द्वितीय थिओस राजा बना, जो अशोक का समकालीन था। उसके शासनकाल में बैक्ट्रिया और पार्थिया सीरियन साम्राज्य से पृथक् हो गये। बैक्ट्रिया मे डायोडोरस प्रथम ने २५० ई० पू० में तथा पार्थिया में अर्कसस (अरकस) ने २४८ ई० पू० में अपने स्वतन्त्र राज्यों की स्थापना की। बैक्ट्रिया मे डायोडोरस प्रथम के बाद डायोडोरस द्वितीय (२४५ ई० पू०) और यूथीडीमौस (२३२ ई० पू०) राजा हुए। यूथीडीमौस के समय में सीरिया के सम्राट् एन्टियोकस दी ग्रेट ने बैक्ट्रिया पर आक्रमण करने शुरू किये। सीरिया और बैक्ट्रिया के इन युद्धों का अंत २०८ ई० पू० में हुआ, जब कि एन्टियोकस ने बैक्ट्रिया की स्वतन्त्रता को स्वीकार कर लिया।

इसी समय एन्टियोकस दी ग्रेट ने अपनी शक्तिशाली यवन-सेना के साथ हिन्दू-कुश पर्वत को पार कर भारत पर आक्रमण किया। गान्धार के राजा सुभागसेन के साथ उसके युद्ध हुए। पर शीघ्र ही दोनो राजाओ मे संधि हो गई।

सुभागसेन के साथ सधि करके यवन-सेनाओं ने भारत मे आगे बढकर आक्रमण किये। इस समय पाटलिपुत्र के राजसिंहासन पर शालिशुक विराजमान था, जिसने अपने बड़े भाई को मार कर राज्य प्राप्त किया था। गार्ग्यसंहिता के अनुसार यवनों ने न केवल मथुरा, पाँचाल और साकेत को हस्तगत किया, पर मागध-साम्राज्य की राजधानी पाटलिपुत्र या पुष्पपुर पर भी हमला किया। इन आक्रमणों से सारे देश में अव्यवस्था मच गई, और सारी प्रजा व्याकुल हो गई। पर ये यवन देर तक भारत के मध्य देश मे नही ठहर पाए। उनमे परस्पर गृहकलह शुरू हो गये, और अपने अन्दर उठे हुए इन युद्धो के कारण यवनों को शीघ्र ही भारत छोड़ देना पड़ा।

इस प्रकार यवन लोग तो भारत से चले गये, पर भारत मे मौर्य-शासन की जड़ें हिल गईं। आपस के कलह के कारण मौर्यों का शासन पहले ही निर्बल हो चुका था, अब यवनों के आक्रमण से उसकी अवस्था और भी बिगड़ गई। गार्ग्यसंहिता के अनुसार इसके बाद भारत में सात राजा राज्य करने लगे, या मागध-साम्राज्य सात राज्यों में विभक्त हो गया। गांधार, काश्मीर, कलिंग और आंध्र—ये चार राज्य इस

समय तक मागध-साम्राज्य से पृथक् हो चुके थे। अब संभवतः उत्तरापथ में दो अन्य राज्य भी मगध की शक्ति के भग्नावशेष पर कायम हुए।

(५) मौर्य-वंश का अंत

शालिशुक के बाद राजा देववर्मा पाटलिपुत्र के राजसिंहासन पर बैठा। उसने २०५ ई० पू० से १९९ ई० पू० तक राज्य किया। यवनों के आक्रमण उसके समय में भी जारी रहे। २०० ई० पू० में बैक्ट्रिया के राजा डेमेट्रियस (दिमित्र, जो यूथीडीमोस का पुत्र था) ने भारत पर आक्रमण किया, और उत्तरापथ के कुछ प्रदेश पर यवन-राज्य स्थापित कर लिया।

देववर्मा के बाद शतधनुष मगध का राजा बना। इसका शासन-काल १९९ ई० पू० से १९१ ई० पू० तक था। इसके शासन-काल में पश्चिमोत्तर भारत में यवनों ने अपना शासन अच्छी तरह से स्थापित कर लिया था। डेमेट्रियस बड़ा प्रतापी राजा हुआ है। उसका भारतीय राज्य बहुत विस्तृत था। उसने अफगानिस्तान और भारत में अपने नाम से अनेक नये नगर स्थापित किये थे। प्राचीन आर्कोशिया में 'डेमेट्रियस-पोलिस' नाम का एक नगर था। पतंजलिकृत महाभाष्य के अनुसार सौवीर देश में 'दात्तामित्रि' नाम का एक नगर विद्यमान था। यह दात्तामित्रि नगर डेमेट्रियस के नाम पर ही बसा था।

संभवतः, विदर्भ देश शतधनुष के समय में ही मागध-साम्राज्य से स्वतन्त्र हुआ। कालिदासविरचित मालविकाग्निमित्र के अनुसार पुष्यमित्र शुंग से पूर्व विदर्भ में यज्ञसेन नाम का स्वतन्त्र राजा राज्य करता था। वह शायद मौर्य-वंश के इसी ह्रासकाल में स्वतन्त्र हो गया था। बहुत-से प्राचीन गणराज्यों भी इस काल में फिर से स्वतन्त्रता प्राप्त कर ली थी।

१९१ ई० पू० में शतधनुष के बाद बृहद्रथ मगध का राजा बना। यह शतधनुष का भाई था। बृहद्रथ मौर्य वंश का अंतिम राजा था। इसके समय में मगध में फिर एकबार राज्यक्रान्ति हुई। बृहद्रथ का प्रधान सेनापति पुष्यमित्र शुंग था। शक्तिशाली मागध-सेना उसी के अधीन थी। इस सेना की सहायता से पुष्यमित्र ने बृहद्रथ की हत्या करके पाटलिपुत्र के राजसिंहासन पर स्वयं अधिकार कर लिया। रिपुंजय, बालक आदि कितने ही पुराने मागध-सम्राटों के विरुद्ध उनके सेनापतियों ने इसी प्रकार से विद्रोह किया था। मगध में सेना की ही शक्ति प्रधान थी। प्रतापी और विश्वविख्यात मौर्यवंश का अंत भी सेना द्वारा ही हुआ। मौर्यवंश के शासन का अंत १८४ ई० पू० में हुआ था।

(६) मौर्य-साम्राज्य के पतन के कारण

अशोक के बाद शक्तिशाली मागध-साम्राज्य में शिथिलता के चिह्न प्रगट होने लगे थे, और शालिशुक के समय में वह सर्वथा छिन्न-भिन्न हो गया था। इसके क्या कारण थे? पहला कारण अकेन्द्रीयभाव की प्रवृत्ति है। केन्द्रीयभाव और अकेन्द्रीभाव की प्रवृत्तियों में भारत में सदा संघर्ष होता आया है। एक ओर जहाँ अजातशत्रु,

महापद्म नन्द और चन्द्रगुप्त मौर्य जैसे साम्राज्यवादी और महत्त्वाकांक्षी सम्राट् सारे भारत को एकच्छत्र शासन में लाने का उद्योग करते रहे, वहाँ दूसरी और पुराने जनपदों और गणराज्यों में अपनी स्वतन्त्रता को कायम रखने की प्रवृत्ति भी विद्यमान रही। पुराने युग में भी इस देश में बहुत-सी जातियों, अनेक भाषाओं और विभिन्न कानूनों व व्यवहार की सत्ता थी। विविध जनपदों में अपनी पृथक् सत्ता की अनुभूति बहुत प्रबल थी। इस कारण ये जनपद सदा केन्द्रीभूत साम्राज्य के विरुद्ध विद्रोह कर अपनी स्वतन्त्र सत्ता को स्थापित कर लेने के लिए तत्पर रहते थे। सम्राट् की शक्ति के जरा भी निर्बल होने पर, विदेशी आक्रमण, दुर्भिक्ष या ऐसी परिस्थिति किसी भी के उत्पन्न हो जाने पर अकेन्द्रीभाव की ये प्रवृत्तियाँ प्रबल हो उठती थीं। मौर्य-साम्राज्य के पतन का यही प्रधान कारण था।

मगध के सम्राटों ने विविध जनपदों व गणराज्यों के अपने धर्म, व्यवहार, कानून और चरित्र को नष्ट करने का उद्योग नहीं किया। कौटल्य जैसे नीतिकारों ने यही प्रतिपादित किया था कि राजा इन सबके व्यवहार और चरित्र को न केवल नष्ट न करे, पर उन्हें उनमे स्थापित भी रखे, और अपने कानून का भी इस ढंग से निर्माण करे कि इनके कानून से उसका विरोध न हो। इस नीति का यह परिणाम हुआ, कि विविध जनपदों और गणराज्यों में सपनी पृथक् सत्ता की अनुभूति प्रबलता के साथ कायम रही, और मौर्यों की शक्ति के क्षीण होने पर ये राज्य फिर स्वतन्त्र हो गए। यही नीति शुंगों, कण्वों और आंध्रों की रही। गुप्तो ने भी इसी नीति का अनुसरण किया। इसी कारण मालव, लिच्छवि, यौधेय आदि गणराज्य और कलिंग, आंध्र आदि राजतन्त्र जनपद मगध के महत्त्वाकांक्षी सम्राटो से बार-बार परास्त होकर भी फिर-फिर स्वतन्त्र होते रहे।

मौर्य-राजाओं की धर्म-विजय की नीति ने भी उनकी राजनीतिक शक्ति के निर्बल होने में सहायता दी। अशोक ने जिस उदात्त विचारसरणी से इस नीति का अनुसरण किया था, उसके निर्बल उत्तराधिकारी उसका सर्वांश में प्रयोग नही कर सके। राजा संप्रति ने सैनिकों को भी साधुओं के वस्त्र पहनाकर उनसे अपने प्रिय धर्म का प्रचार कराया। राजा शालिशुक धर्म-विजय का ढोंग करता था। मागध-साम्राज्य की सत्ता उसकी अदम्य सेना पर ही आश्रित थी। कम्बोज से बंग तक और काश्मीर से आंध्र तक विस्तीर्ण मागध-सामाज्य को एक सूत्र मे बाँधे रखने वाली शक्ति उसकी सेना ही थी। जब इस सेना के सैनिकों ने साधुओ के पीत वस्त्र धारण कर धर्मप्रचार का कार्य प्रारम्भ कर दिया, तो यवनों और म्लेच्छों का शस्त्र से कैसे मुकाबला किया जा सकता था? धर्म-विजय की नीति से भारतीय धर्म, सभ्यता और संस्कृति के विदेशों में विस्तीर्ण होने मे चाहे कितनी ही सहायता क्यों न मिली हो, पर मगध की सैनिक शक्ति को उसने अवश्य निर्बल किया। यही कारण है, कि भविष्य के विचारकों ने अशोक, शालिशुक आदि का मजाक उड़ाते हुए 'देवानां प्रिय' शब्द का अर्थ ही मूर्ख कर डाला। उन्होंने यह भी लिखा कि राजाओं का काम सिर मुँड़ाकर धर्म-चिन्तन करना नही है, पर दण्ड (प्रचण्ड राजशक्ति) का धारण करना है। भारत में यह कहावत-सी हो गई कि जो ब्राह्मण असंतुष्ट हो, वह नष्ट हो जाता है, और जो

राजा संतुष्ट रहे, वह नष्ट हो जाता है। मगध के मौर्य-राजा जिस प्रकार अपनी राज-शक्ति से संतुष्ट हो, पहले श्रावक और बाद में श्रमण बनकर, बौद्ध-संघ के लिए अपना सर्वस्व निछावर करने के लिए तैयार हो गए थे, वह भारत की प्राचीन राजनीति के सर्वथा विरुद्ध था, और इसीलिए उनके इस रुख ने उनकी शक्ति के क्षीण होने में अवश्यमेव सहायता की। अकेन्द्रीभाव की बलवती प्रवृत्तियाँ, जनपदों व गण-राज्यों में अपनी पृथक् अनुभूति, और धर्मविजय की नीति का दुरुपयोग—ये तीन कारण थे, जिनसे शक्तिशाली विशाल मौर्य-साम्राज्य नष्ट हो गया।

(७) धर्मविजय की नीति

ऐतिहासिकों ने सम्राट् अशोक को संसार के सबसे बड़े महापुरुषों में गिना है। निःसन्देह, अपनी शक्ति की चरम सीमा पर पहुँचकर उसने उस सत्य को अनुभव किया, जिसके समझने की आज भी संसार को आवश्यकता है। शस्त्रों द्वारा विजय में लाखों मनुष्यों की हत्या होती है, लाखों स्त्रियाँ विधवा और बच्चे अनाथ हो जाते हैं। ऐसी विजय स्थिर भी नहीं रहती। ये सत्य हैं, जिन्हें कलिंग विजय के बाद अशोक ने अनुभव किया था। इसके स्थान पर यदि धर्म द्वारा नये-नये देशों की विजय की जाय, तो उससे खून की एक बूंद भी गिराये बिना, जहाँ अपनी शक्ति और प्रभाव का विस्तार होता है, वहाँ ऐसी विजय स्थिर भी रहती है। अशोक ने इसी धर्म-विजय के लिए प्रयत्न किया और उसे अपने उद्देश्य में सफलता भी हुई। चोल, पाण्ड्य, लंका, यवन-राज्य आदि विविध देश भारतीय भाषा, धर्म, सभ्यता और संस्कृति के प्रभाव मे आ गये, और भारत के उस गौरव का प्रारम्भ हुआ, जो संसार के इतिहास में अपना विशिष्ट स्थान रखता है। सिकन्दर व सीजर सदृश विजेताओं का शस्त्रों द्वारा विजित प्रदेशों मे वह प्रभाव नही हुआ, जो अशोक का धर्म द्वारा जीते हुए देशों में हुआ। सिकन्दर का विशाल साम्राज्य उसकी मृत्यु के साथ ही खण्ड-खण्ड हो गया। पर अशोक द्वारा स्थापित धर्म-साम्राज्य सदियों तक कायम रहा। उसके अवशेष अब तक भी जीवित-जागृत रूप में विद्यमान हैं। भारत में ही चन्द्रगुप्त मौर्य की शक्तिशाली सेनाओं ने जिस विशाल साम्राज्य की स्थापना की थी, एक सदी से भी कम समय में उसमें क्षीणता के चिह्न प्रगट होने लग गए थे। पर अशोक द्वारा स्थापित धर्म-साम्राज्य की सदियों तक उन्नति और समृद्धि होती रही।

क्या अच्छा होता, यदि ये धर्मविजयी मौर्य-सम्राट् सैनिक बल की भी उपेक्षा न करते। "वह ब्रह्म-शक्ति है, और यह क्षत्र-शक्ति। शास्त्र और शस्त्र—दोनों के उपयोग से हम अपना उत्कर्ष करते हैं", प्राचीन भारत का यह आदर्श वस्तुतः अत्यन्त ऊँचा और क्रियात्मक है। यदि अन्तियोक, तुरमय आदि यवन-राजाओं के राज्यों में धर्म-विजय की स्थापना करते हुए मौर्य-राजा अपने शस्त्र-बल की उपेक्षा न करते, तो अशोक के अन्तिम काल में ही यवनों के आक्रमण भारत पर प्रारम्भ न हो जाते, और शालिशुक के समय मे मथुरा, साकेत आदि का विजय करते हुए यवन लोग पाटलिपुत्र तक न पहुँच सकते।

सत्रहवां अध्याय

मौर्य कालीन भारत

(१) मौर्य युग की कला

भारत के इतिहास में मौर्य युग का बहुत महत्त्व है। इस काल मे प्रायः सम्पूर्ण भारत एक शासन के अधीन था। देश की राजनीतिक एकता भली-भांति स्थापित थी, और भारत के धार्मिक नेता दूर-दूर तक 'धर्मविजय' स्थापित करने में तत्पर थे। केवल राजनीति और धर्म के क्षेत्रों में ही नहीं, अपितु कला, शासन, शिक्षा, समाज और आर्थिक जीवन आदि सभी क्षेत्रों में इस काल में भारतीयों ने असाधारण उन्नति की, और इस उन्नति का दिग्दर्शन भारत के सांस्कृतिक विकास को समझने के लिए बहुत उपयोगी है।

मौर्य युग के अनेक अवशेष इस समय उपलब्ध होते हैं। उनके अनुशीलन से इस युग की नगर-रचना, मूर्ति-निर्माण कला आदि के सम्बन्ध में अनेक महत्त्वपूर्ण बातों का परिचय मिलता है।

पाटलिपुत्र नगर—मौर्य सम्राटों की राजधानी पाटलिपुत्र एक बहुत ही विशाल नगरी थी। सीरिया के राजा सैल्युकस निकेटर का राजदूत मैगस्थनीज ३०३ ई० पू० में पाटलिपुत्र आया था और कई साल तक वहाँ रहा था। उसने अपने यात्रा-विवरण में इस नगरी का जो वर्णन किया है, उसमें कुछ बातें उल्लेखनीय हैं। उसके अनुसार "भारतवर्ष में जो सबसे बड़ा नगर है, वह प्रेसिआई (प्राच्य देश) में पालिब्रोथा (पाटलिपुत्र) कहलाता है। वह गंगा और ऐरन्नाबोअस (सोन) नदियों के तटपर स्थित है। गंगा सब नदियों में बड़ी है, पर ऐरन्नाबोअस संभवतः भारत में तीसरे नम्बर की नदी है। भारत की नदियों में यद्यपि इसका नम्बर तीसरा है, पर अन्य देशों की बड़ी से बड़ी नदी से भी यह बड़ी है। इस नगरी की बस्ती लम्बाई में ८० स्टेडिया और चौड़ाई मे १५ स्टेडिया तक फैली हुई है (एक मील=सवा पांच स्टेडिया)। यह नगरी समानान्तर चतुर्भुज की शक्ल में बनी है। इसके चारो ओर लकडी की एक प्राचीर (दीवार) है, जिसके बीच में तीर छोड़ने के लिए बहुत से छेद बने हैं। दीवार के साथ चारों तरफ एक खाई है, जो रक्षा के निमित्त और शहर का मैला बहाने के काम आती है। यह खाई गहराई में ४५ फीट और चौड़ाई में ६०० फीट है। शहर के चारो ओर की प्राचीर ५७० बुर्जों से सुशोभित है, और उसमें ६४ द्वार बने हैं।"

हजारों वर्ष बीत जाने पर अब इस वैभवशाली पाटलिपुत्र की कोई इमारत शेष नहीं है। पर पिछले दिनों जो खुदाई पटना के क्षेत्र में हुई है, उससे मौर्यकाल के अनेक अवशेष उपलब्ध हुए हैं। प्राचीन पाटलिपुत्र नगर वर्तमान समय मे गंगा और

प्रथा नहीं थी। उस युग में अरण्यों में आश्रमों की सत्ता अवश्य थी, जिनमें तत्त्वचिन्तक ऋषि-मुनि पुत्र कलत्र के साथ निवास किया करते थे, और ज्ञानपिपासुओं को उपदेश करते थे। पर प्रव्रज्या द्वारा भिक्षुव्रत लेकर हज़ारों भिक्षुओं का विहारों में निवास करना बौद्ध-धर्म द्वारा ही प्रारम्भ हुआ, और उसी के अनुकरण में पौराणिक सम्प्रदायों के मठ संगठित हुए, जिनमें संन्यास लेकर बहुत-से साधु एक साथ निवास करने लगे।

(४) भारत में विद्या और ज्ञान के विकास में भी बौद्धों ने बहुत भाग लिया। संस्कृत व्याकरण में चन्द्रगोमि का व्याकरण अपना विशेष स्थान रखता है, यद्यपि उसने वैदिक संस्कृत का स्पर्श नहीं किया, क्योंकि वह बौद्ध था। काशिकाकार जयादित्य और न्यासकार जिनेन्द्रबुद्धि बौद्ध-धर्म के अनुयायी थे। पाणिनि मुनि की अष्टाध्यायी की इन दोनों टीकाओं का व्याकरण-साहित्य में बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान है। संस्कृत के अत्यन्त प्रसिद्ध कोश 'अमरकोश' का रचयिता अमरसिंह बौद्ध था। आयुर्वेद की रसायन शाखा के विकास में आचार्य नागार्जुन ने बहुत महत्त्वपूर्ण कार्य किया। कालिदास से पूर्व महाकवि अश्वघोष ने 'बुद्धचरित' और 'सौन्दरानन्द' जैसे महाकाव्य, और 'राष्ट्रपाल' व 'सारिपुत्र' जैसे नाटक लिखकर संस्कृत-काव्य की उस धारा को प्रारम्भ किया, जिसे आगे चलकर कालिदास और भवभूति ने बहुत उन्नत किया। हर्ष ने नागानन्द लिखकर बोधिसत्त्व के आदर्श का चित्रण किया। हिन्दी-साहित्य के प्रारम्भ का श्रेय भी बौद्ध विद्वानों को ही प्राप्त है। बौद्ध विद्वानों की सदा यह नीति रही, कि उन्होंने अपने मन्तव्यों का प्रचार करने के लिए ऐसी भाषा का प्रयोग किया, जिसे सर्वसाधारण जनता भलीभाँति समझ सकती थी। बुद्ध ने अपने उपदेश पालि भाषा में दिये थे, इसलिए स्थविरवाद के त्रिपिटक की भाषा पालि ही थी। वज्रयान के विकास होने पर उसके सिद्ध गुरुओं ने एक ऐसी अपभ्रंश भाषा को अपने उपदेशों के लिए प्रयुक्त किया, जो उस समय जनता की भाषा थी, और जो आगे चलकर विकसित होती-होती हिन्दी के रूप में परिवर्तित हो गयी। यही कारण है, कि सरहपा सिद्ध को हिन्दी का आदिकवि माना जाता है। यह वज्रयानी सिद्ध सातवीं सदी में हुआ था। उदाहरण के लिए इसका एक दोहा यहाँ उल्लिखित करना उपयोगी होगा :

जह मन पवन न सञ्चरइ, रवि शशि नाह प्रवेश।
तहि वट चित्त विसाम करु, सरहे कहिअ उवेश॥

(५) भारत की मूर्तिकला और वास्तुकला के विकास में बौद्धों ने बहुत महत्त्वपूर्ण कार्य किया। साञ्ची, भरहुत, गान्धार व मथुरा की कला बौद्धों की ही कृति थी। अजन्ता, बाघ आदि के गुहामन्दिर और उनकी दीवारों पर बनाए गए सुन्दर चित्र बौद्धों द्वारा इस क्षेत्र में किये गए कार्य के उत्कृष्ट उदाहरण हैं। एलोरा, अजन्ता, कार्ला आदि में पहाड़ काटकर बनाये गए भव्य प्रासाद बौद्ध शिल्पियों की ही कृति हैं। बड़े-बड़े चैत्यों, स्तूपों और विहारों के निर्माण में जो कर्तृत्व बौद्धों ने प्रदर्शित किया, वह वस्तुतः अद्भुत था। बौद्धों के प्रयत्न से ही वास्तुकला के ये विविध नमूने भारत में सर्वत्र व्याप्त हो गए, और भारत के जो प्राचीनतम भवन, मूर्तियाँ आदि विकल व खण्डहर रूप में आजकल उपलब्ध होते हैं, वे सब प्रायः बौद्धों द्वारा ही बनवाये गए थे।

(६) अहिंसा, प्राणिमात्र का हित व कल्याण और सदाचारमय जीवन के जो आदर्श बौद्ध-धर्म ने उपस्थित किए थे, वह आज तक भी भारतीयों के जीवन को अनुप्राणित करते हैं। बौद्धों ने अपने धर्म के प्रचार के लिए कभी पाशविक बल का उपयोग नहीं किया। सब प्राणियों के प्रति मैत्रीभावना ही उनकी लोकप्रियता में प्रधान कारण हुई। बौद्धों की इसी भावना का यह परिणाम हुआ, कि इस देश में धार्मिक विद्वेष कभी उस रूप में प्रगट नहीं हुआ, जैसा कि अन्यत्र हुआ था।

(७) महात्मा बुद्ध के सन्देश को विदेशों में दूर-दूर तक फैलाकर बौद्ध-प्रचारकों ने भारतीय भाषा, सभ्यता, संस्कृति और साहित्य को सार्वभौम रूप प्रदान किया। भारत के प्राचीन इतिहास का यह सबसे अधिक उज्ज्वल और गौरवपूर्ण पहलू है। उत्तर-पश्चिम और दक्षिण-पूर्व के सुविस्तृत क्षेत्रों में किस प्रकार बृहत्तर भारत का विकास हुआ था, इस विषय पर हम विशदरूप से प्रकाश डाल चुके हैं। भारतीय संस्कृति का इस ढंग से इतने विशाल क्षेत्र में प्रसार करने का प्रधान श्रेय बौद्धों को ही प्राप्त है, और यही उनकी भारतीय इतिहास को सबसे महत्त्वपूर्ण देन है।

इकतीसवाँ अध्याय

दक्षिणापथ के विविध राज्य और उनके संघर्ष

(१) वातापी का चालुक्य-वंश

दक्षिणापथ मौर्य-साम्राज्य के अन्तर्गत था। जब मौर्य-सम्राटों की शक्ति शिथिल हुई, और भारत के अनेक प्रदेश उनकी अधीनता से मुक्त होकर स्वतन्त्र होने लगे, तो दक्षिणापथ में सातवाहन-वंश ने अपने एक पृथक् राज्य की स्थापना की। कालान्तर मे इस सातवाहन वंश का बहुत उत्कर्ष हुआ, और इसने मगध पर भी अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया। शको के साथ निरन्तर संघर्ष के कारण जब इस राजवंश की शक्ति क्षीण हुई, तो दक्षिणापथ मे अनेक नए राजवंशों का प्रादुर्भाव हुआ, जिनमे वाकाटक, कदम्ब और पल्लव वंशों के नाम विशेषरूप से उल्लेखनीय हैं। वाकाटक-वंश के राजा बडे प्रतापी थे, और उन्होंने विदेशी कुशाणों की शक्ति का क्षय करने मे बहुत अधिक कर्तृत्व प्रदर्शित किया था। इन राजाओ ने अपनी विजयों के उपलक्ष्य मे अनेक अश्वमेध यज्ञों का भी अनुष्ठान किया। पाँचवी सदी के प्रारम्भ मे गुप्तो के उत्कर्ष के कारण इस वंश के राज्य की स्वतन्त्र सत्ता का अन्त हुआ। कदम्ब-वंश का राज्य उत्तरी कनारा बेलगाँव और धारवाड़ के प्रदेशो मे था। प्रतापी गुप्त-सम्राटों ने इसे भी गुप्त-साम्राज्य की अधीनता मे लाने मे सफलता प्राप्त की थी। पल्लव-वंश की राजधानी काञ्ची (काञ्जीवरम्) थी, और सम्राट् समुद्रगुप्त ने उसकी भी विजय की थी। गुप्त-साम्राज्य के क्षीण होने पर उत्तरी भारत के समान दक्षिणापथ में भी अनेक राजवंशों ने स्वतन्त्रतापूर्वक शासन करना प्रारम्भ किया। दक्षिणापथ के इन राज्यो मे चालुक्य और राष्ट्रकूट वंशो द्वारा स्थापित राज्य प्रधान थे। उनके अतिरिक्त देवगिरि के यादव, वारंगल के काकतीय, कोकण के शिलाहार, बनवासी के कदम्ब, तलकाड के गंग और द्वारसमुद्र के होयसल वंशों ने भी इस युग मे दक्षिणापथ के विविध प्रदेशों पर शासन किया। जिस प्रकार उत्तरी भारत मे विविध राजवंशो के प्रतापी व महत्त्वाकांक्षी राजा विजययात्राएँ करने और अन्य राजाओं को जीतकर अपना उत्कर्ष करने के लिए तत्पर रहते थे, वही दशा दक्षिणापथ में भी थी।

पुलकेशी प्रथम—दक्षिणापथ मे चालुक्यवंश के राज्य की स्थापना छठी सदी के मध्य भाग में हुई, जब कि गुप्त-साम्राज्य का क्षय प्रारम्भ हो चुका था। पुरानी अनुश्रुति के अनुसार चालुक्य लोग उत्तरी भारत के निवासी थे, और किसी समय उन्होंने अयोध्या में भी शासन किया था। उनका प्राचीन इतिहास अन्धकार में है, पर यह निश्चित है, कि ५४३ ईस्वी तक पुलकेशी नामक चालुक्य राजा वातापी

(बीजापुर जिले में, बादामी) को राजधानी बना कर अपने पृथक् व स्वतन्त्र राज्य की स्थापना कर चुका था। ऐसा प्रतीत होता है, कि उसने वातापी के समीपवर्ती प्रदेशों को जीत कर अपनी शक्ति का विस्तार किया था, और इसी उपलक्ष्य में अश्वमेध-यज्ञ भी किया था। इस यज्ञ के अनुष्ठान से सूचित होता है, कि वह अच्छा प्रबल और दिग्विजयी राजा था।

कीर्त्तिवर्मा—पुलकेशी प्रथम के बाद उसका पुत्र कीर्तिवर्मा ५६७ ई० के लगभग वातापी के राजसिंहासन पर आरूढ़ हुआ। अपने पिता के समान वह भी प्रतापी और विजेता था। एक उत्कीर्ण लेख के अनुसार उसने मौर्यों, कदम्बों और नलों को परास्त किया, और मगध, बंग, चोल तथा पाड्य देशों में विजययात्राएँ कीं। कदम्बवंश का शासन वातापी के दक्षिण-पूर्व में था, और सम्भवतः मौर्य और नल वंशों के छोटे-छोटे राज्य भी दक्षिणापथ में विद्यमान थे। मगध, बंग, चोल और पाण्ड्य देशों में विजययात्रा करने का यह अभिप्राय है, कि इस युग के अन्य अनेक महत्त्वाकांक्षी राजाओं के समान चालुक्यवंशी कीर्त्तिवर्मा ने भी अनेक राज्यों को अपना अधिपति मानने के लिए विवश किया था।

पुलकेशी द्वितीय—कीर्त्तिवर्मा के बाद उसके पुत्र पुलकेशी को राजा बनना चाहिये था। पर उसके चाचा (कीर्तिवर्मा के भाई) मंगलेश ने बल का प्रयोग करके वातापी की राजगद्दी पर अधिकार कर लिया, और कुछ समय तक अपने अग्रज द्वारा स्थापित राज्य का उपभोग किया। पर इस बीच मे पुलकेशी भी शान्त नही बैठा था। उसने राज्य प्राप्त करने का प्रयत्न जारी रखा, और गृह-युद्ध द्वारा मंगलेश को मारकर वह राजसिंहासन पर आरूढ हो गया।

वातापी के चालुक्यवंश में पुलकेशी द्वितीय सबसे अधिक शक्तिशाली और प्रसिद्ध हुआ है। मंगलेश और पुलकेशी के गृह-कलह के अवसर पर चालुक्य-वंश की शक्ति बहुत क्षीण हो गयी थी, और कीर्त्तिवर्मा द्वारा विजित अनेक प्रदेश फिर से स्वतन्त्र हो गये थे। इतना ही नही, अनेक अन्य राजाओं ने भी चालुक्य-राज्य पर आक्रमण प्रारम्भ कर दिये थे। इस दशा में पुलकेशी द्वितीय ने बहुत धीरता और शक्ति का परिचय दिया। उसने न केवल विद्रोही प्रदेशों को फिर से विजय किया, अपितु अनेक नये प्रदेशों की भी विजय की। राजसिंहासन पर आरूढ़ होने के बाद पुलकेशी द्वितीय ने माइसूर के गंगराजा, उत्तर कोंकण के मौर्यराजा और मलाबार के अनूपराजा को परास्त किया। लाटदेश (दक्षिणी गुजरात), मालवा और गुर्जरों ने भी पुलकेशी द्वितीय के सम्मुख सिर झुकाया, और इस प्रकार उत्तर दिशा मे भी उसने अपनी शक्ति का विस्तार किया। इतना ही नहीं, उत्तर-पूर्व की ओर आगे बढ़कर उसने दक्षिण कोशल और कलिंग को भी परास्त किया। दक्षिण दिशा मे विजययात्रा करते हुए पुलकेशी द्वितीय ने वेंगि (कृष्णा और गोदावरी नदियों के बीच मे स्थित) के राजा को जीता, और फिर पल्लव-बंश के राजा को बुरी तरह परास्त कर वह काञ्ची (काञ्जीवरम्) के समीप तक पहुँच गया। कावेरी नदी को पार कर इस प्रतापी चालुक्य राजा ने चोल, पाण्ड्य और केरल राज्यों को अपनी अधीनता स्वीकृत करने के लिए विवश किया। इन विजयों के कारण पुलकेशी द्वितीय विन्ध्याचल के दक्षिण के सम्पूर्ण दक्षिणी भारत का अधिपति बन गया।

कन्नौज का सम्राट् हर्षवर्धन पुलकेशी द्वितीय का समकालीन था। वह भी उत्तरी भारत में अपने साम्राज्य की स्थापना में तत्पर था। नर्मदा नदी के उत्तर के सब प्रदेश उसकी अधीनता को स्वीकृत करते थे। वस्तुतः, इस समय भारत में दो ही प्रधान राजशक्तियाँ थीं, उत्तर में हर्षवर्धन और दक्षिण में पुलकेशी द्वितीय। यह स्वाभाविक था, कि उनमें संघर्ष होता। नर्मदा नदी के तट पर दक्षिणी और उत्तरी राजशक्तियों में घोर युद्ध हुआ, जिसमें पुलकेशी द्वितीय हर्षवर्धन को परास्त करने में सफल हुआ। हर्षवर्धन के साथ संघर्ष मे विजयी होकर ही पुलकेशी सुदूर दक्षिण की विजय के लिए प्रवृत्त हुआ था, और उसने वेङ्गि और काञ्ची को परास्त करते हुए चोल, पाण्ड्य और केरल राज्यों को भी अपने अधीन किया था।

पर इस युग के अन्य भारतीय राजाओं के समान पुलकेशी द्वितीय भी किसी स्थायी साम्राज्य की नीव डाल सकने मे असमर्थ रहा। पल्लव आदि शक्तिशाली राजवंशो के राजाओ को युद्ध मे परास्त कर उन्हें वह अपना वशवर्ती बनाने में अवश्य सफल हुआ था, पर उसने उनका मूलोच्छेद नही किया था। इसीलिए जब पल्लवराज नरसिंहवर्मा ने अपने राज्य की शक्ति को पुन. संगठित किया, तो वह न केवल चालुक्य-राज्य की अधीनता से मुक्त ही हो गया, अपितु एक शक्तिशाली सेना को साथ लेकर उसने चालुक्यों के राज्य पर भी आक्रमण किया, और युद्ध में पुलकेशी को मारकर वातापी पर अधिकार कर लिया। इस युग की राजनीतिक दशा के स्पष्टीकरण के लिए इस घटना का महत्त्व बहुत अधिक है। जो पल्लववंश शुरू में चालुक्यों द्वारा बुरी तरह परास्त हुआ था, एक नये महत्त्वाकांक्षी राजा के नेतृत्व मे वह इतना अधिक शक्तिशाली हो गया था, कि उसने चालुक्य-साम्राज्य को जड़ से हिला दिया था। इस काल में साम्राज्यो के निर्माण और विनाश सम्राट् के वैयक्तिक शौर्य और योग्यता पर ही आश्रित थे।

अपने उत्कर्ष-काल मे चालुक्य-साम्राज्य इतना विस्तृत और शक्तिशाली था, कि पुलकेशी द्वितीय ने ईरान के शाह खुसरू द्वितीय के पास अपने राजदूत भेजे थे। ये दूत ६५२ ईस्वी में ईरान गये थे। बदले मे खुसरू द्वितीय ने भी अपने दूत पुलकेशी की सेवा मे भेजे। अजन्ता के एक चित्र में एक ईरानी राजदूत के आगमन को अंकित भी किया गया है।

विक्रमादित्य प्रथम (६५५–६८१)—यद्यपि पल्लवराज नरसिंहवर्मा से युद्ध करते हुए पुलकेशी द्वितीय की मृत्यु हो गयी थी, और वातापी पर भी पल्लवों का अधिकार हो गया था, पर इससे चालुक्यों की शक्ति का अन्त नही हो गया। पुलकेशी द्वितीय के बाद उसका पुत्र विक्रमादित्य प्रथम चालुक्यों का अधिपति बना। वह अपने पिता के समान ही वीर और महात्त्वाकांक्षी था। उसने न केवल वातापी को पल्लवों की अधीनता से मुक्त किया, अपितु तेरह वर्षों तक निरन्तर युद्ध करने के बाद पल्लवराज की शक्ति को बुरी तरह से कुचलकर ६५४ ईस्वी में काञ्ची की भी विजय कर ली। काञ्ची को जीतकर उसने चोल, पाण्ड्य और केरल राज्यों पर आक्रमण किया, और उन्हें अपनी अधीनता स्वीकृत करने के लिए विवश किया।

विक्रमादित्य द्वितीय—विक्रमादित्य प्रथम की मृत्यु के बाद उसका पुत्र विनयादित्य

वातापी साम्राज्य का स्वामी बना। उसके समय में चालुक्य-साम्राज्य की शक्ति अक्षुण्ण बनी रही। विनयादित्य के बाद उसका पुत्र विजयादित्य और फिर विक्रमादित्य द्वितीय (७३३-७४४) वातापी के राजसिंहासन पर आरूढ़ हुए। पल्लवों को अपनी अधीनता में रखने के लिए विक्रमादित्य ने अनेक युद्ध किये, और फिर काञ्ची पर कब्जा किया। पर इस प्रतापी राजा के शासन-काल की सबसे महत्त्वपूर्ण घटना अरबों का भारत-आक्रमण है। ७१२ ईस्वी में अरबों ने सिन्ध को जीतकर अपने अधीन कर लिया था, और स्वाभाविक रूप से उनकी यह इच्छा थी, कि भारत में और आगे अपनी शक्ति का विस्तार करें। उन्होंने लाटदेश पर आक्रमण किया, जो इस समय चालुक्य-साम्राज्य के अन्तर्गत था। पर विक्रमादित्य द्वितीय के शौर्य के कारण उन्हें अपने प्रयत्न में सफलता नहीं हुई, और यह प्रतापी चालुक्य-राजा अरब-आक्रमण से अपने साम्राज्य की रक्षा करने में समर्थ रहा।

चालुक्य-शक्ति का अन्त—विक्रमादित्य द्वितीय के बाद ७४४ ईस्वी के लगभग कीर्त्तिवर्मा द्वितीय विशाल चालुक्य-साम्राज्य का स्वामी बना। पर वह अपने पूर्वजों द्वारा स्थापित साम्राज्य को कायम रखने में असमर्थ रहा। दन्तिदुर्ग नामक राष्ट्रकूट नेता ने उसे परास्त कर महाराष्ट्र में एक नये राजवंश की नींव डाली, और धीरे-धीरे राष्ट्रकूटों का यह वंश इतना अधिक शक्तिशाली हो गया, कि उसने चालुक्यों का अन्त कर दक्षिणापथ पर अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया। चालुक्यों के राज्य का अन्त ७५३ ईस्वी के लगभग हुआ। वातापी के चालुक्य राजा न केवल वीर और विजेता थे, अपितु उन्होंने साहित्य, वास्तुकला आदि के संरक्षण व संवर्धन की ओर भी ध्यान दिया। इस क्षेत्र में उनके कर्तृत्व पर हम अगले एक अध्याय में मध्यकाल की संस्कृति पर विचार करते हुए प्रकाश डालेंगे।

(२) मान्यखेट के राष्ट्रकूट

जिन राष्ट्रकूटों ने अपनी शक्ति का विकास कर वातापी के चालुक्य-साम्राज्य की इतिश्री कर दी थी, उनके उद्भव के सम्बन्ध में ऐतिहासिकों में बहुत मतभेद है। उनके मूल निवास के विषय में डा० अल्तेकर ने यह मत प्रतिपादित किया है, कि वे शुरू में कर्णाटक के रहनेवाले थे, और वहीं से मान्यखेट आये थे। प्राचीन भारत में बहुत-से छोटे-छोटे राज्यों की सत्ता थी, और उनमें विविध राजवंशों का शासन होता था। शक्तिशाली राजा व सम्राट् इनको जीतकर अपना वशवर्ती बना लेते थे, पर इनका मूलोच्छेद नहीं करते थे। इसीलिए अवसर पाकर कोई भी राजवंश अपनी शक्ति का उत्कर्ष करने के लिये प्रयत्नशील हो जाता था।

दन्तिदुर्ग—राष्ट्रकूट-वंश के उत्कर्ष का प्रारम्भ दन्तिदुर्ग द्वारा हुआ। पर उससे पहले भी इस वंश के राज्य की सत्ता थी, यद्यपि उस समय इसका राज्य स्वतन्त्र नहीं था। सम्भवतः, वह चालुक्य-साम्राज्य के अन्तर्गत था। दन्तिदुर्ग ने न केवल अपने राज्य को चालुक्यों की अधीनता से मुक्त ही किया, अपितु अपनी राजधानी मान्यखेट (मालखेट) से अन्यत्र जाकर दूर-दूर तक के प्रदेशों की विजय भी की। उत्कीर्ण लेखों में दन्तिदुर्ग द्वारा विजित प्रदेशों में काञ्ची, कोशल, मालवा और लाट को अन्तर्गत

किया गया है। कोशल का अभिप्राय सम्भवतः महाकोशल से है। महाकोशल, मालवा और लाट (गुजरात) को जीतकर वह निःसन्देह दक्षिणापथपति बन गया था, क्योंकि महाराष्ट्र में तो उसका शासन था ही। काञ्ची की विजय के कारण दक्षिणी भारत का पल्लवराज्य भी उसकी अधीनता में आ गया था। जो प्रदेश वातापी के चालुक्य-सम्राटों की अधीनता में थे, प्रायः वे सब अब दन्तिदुर्ग के आधिपत्य में आ गये थे। दक्षिणापथ के क्षेत्र में राष्ट्रकूट-वंश चालुक्यों का उत्तराधिकारी बन गया था।

कृष्णराज—दन्तिदुर्ग के कोई पुत्र नहीं था। अतः उसकी मृत्यु के बाद उसका चाचा कृष्णराज मान्यखेट के राजसिंहासन पर आरूढ़ हुआ। राष्ट्रकूटों द्वारा परास्त होने के बाद भी चालुक्यों की शक्ति का पूर्णरूप से अन्त नहीं हुआ था। उन्होंने एक बार फिर अपने उत्कर्ष का प्रयत्न किया, पर उन्हें सफलता नहीं हुई। चालुक्यों की शक्ति को अविकल रूप से नष्ट करके राष्ट्रकूटराजा कृष्णराज ने कोंकण और वेंगि की भी विजय की। पर कृष्णराज की ख्याति उसकी विजययात्राओं के कारण उतनी नहीं है, जितनी कि उस कैलाशमन्दिर के कारण है, जिसका निर्माण उसने एलोरा में पहाड़ को काटकर कराया था। एलोरा के गुहामन्दिरों में कृष्णराज द्वारा निर्मित कैलाश मन्दिर बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है, और उसकी कीर्ति को चिरस्थायी रखने के लिए पर्याप्त है।

ध्रुव—७७२ ईस्वी में कृष्णराज की मृत्यु होने पर उसका पुत्र गोविन्द राजा बना। वह भोग-विलास में मस्त रहता था, और राज्य-कार्य की उपेक्षा करता था। आठवीं सदी में कोई ऐसा व्यक्ति सफलतापूर्वक राजपद नहीं सम्भाल सकता था, जो 'उद्यतदण्ड' न हो। अतः उसके शासन-काल में भी राज्य का वास्तविक संचालन उसके भाई ध्रुव के हाथों में था। अवसर पाकर ध्रुव स्वयं राजसिंहासन पर आरूढ़ हो गया। उस का शासनकाल ७७६ ईस्वी में शुरू हुआ। इस युग में उत्तरी भारत में दो राज-शक्तियाँ प्रधान थीं, गुर्जरप्रतीहार राजा और मगध के पालवंशी राजा। गुर्जरप्रतीहार राजा वत्सराज और पालराजा धर्मपाल राष्ट्रकूट राजा ध्रुव के समकालीन थे। उत्तर-भारत के ये दोनों राजा प्रतापी और महत्त्वाकांक्षी थे, और इनके राज्यों की दक्षिणी सीमाएँ राष्ट्रकूट राज्य के साथ लगती थीं। अतः यह स्वाभाविक था, कि इनका राष्ट्रकूटों के साथ संघर्ष हो। यह संघर्ष ध्रुव के समय में ही शुरू हो गया था, पर उसके उत्तरा-धिकारियों के शासनकाल में इसने बहुत उग्र रूप धारण कर लिया।

शुरू में ध्रुव की शक्ति अपने भाई गोविन्द के साथ संघर्ष में व्यतीत हुई। अनेक सामन्त राजा और जागीरदार ध्रुव के विरोधी थे, और गोविन्द का पक्ष लेकर युद्ध के लिए तत्पर थे। ध्रुव ने उन सब को परास्त किया, और अपने राज्य में सुव्यवस्था स्थापित कर दक्षिण की ओर आक्रमण किया। माइसूर के गंगवंश को परास्त कर उसने काञ्ची पर हमला किया, और पल्लवराज को एक बार फिर राष्ट्र-कूटों की अधीनता स्वीकृत करने के लिए विवश किया। दक्षिण की विजय के बाद वह उत्तर की ओर बढ़ा। सबसे पूर्व भिन्नमाल के गुर्जरप्रतीहार राजा वत्सराज के साथ उसकी मुठभेड़ हुई। वत्सराज परास्त हो गया। अब ध्रुव ने कन्नौज पर आक्रमण किया। इस समय कन्नौज का राजा इन्द्रायुध था। वह ध्रुव का सामना नहीं कर

सका, और राष्ट्रकूट विजेता की अधीनता को स्वीकृत करने के लिए विवश हुआ। कन्नौज के राज्य को अपना वशवर्ती बनाने के उपलक्ष्य में ध्रुव ने गंगा और यमुना को भी अपने लाञ्छनों (राजचिह्नों) में शामिल कर लिया। इस प्रकार अनेक राज्यों की विजय कर ७९४ ई० में ध्रुव की मृत्यु हुई।

गोविन्द तृतीय—अब ध्रुव का पुत्र गोविन्द तृतीय जगत्तुङ्ग राष्ट्रकूट राज्य का स्वामी बना। वह ध्रुव का ज्येष्ठ पुत्र नहीं था, पर उसकी योग्यता को दृष्टि में रखकर उसके पिता ने उसे ही अपना उत्तराधिकारी नियत किया था। ध्रुव का ज्येष्ठ पुत्र स्तम्भ था, जो गंगवाडी (यह प्रदेश पहले गंगवंश के शासन में था, पर अब राष्ट्रकूटों के अधीन हो गया था) मे अपने पिता के प्रतिनिधि रूप में शासन कर रहा था। उसने अपने छोटे भाई के विरुद्ध विद्रोह कर दिया, पर वह सफल नहीं हो सका। शीघ्र ही गोविन्द तृतीय उसे परास्त करने में समर्थ हुआ। अपने भाई के विरुद्ध आक्रमण करने के अवसर पर ही गोविन्द तृतीय ने वेङ्गि और काञ्ची पर पुनः हमले किये, और इनके राजाओं को अपना वशवर्ती होने के लिए विवश किया। सम्भवतया, ये राजा गोविन्द और स्तम्भ के गृहयुद्ध के कारण उत्पन्न परिस्थिति से लाभ उठाकर स्वतन्त्र हो गये थे।

दक्षिण भारत में अपने शासन को भली-भाँति स्थापित कर गोविन्द तृतीय ने उत्तरी भारत की ओर रुख किया। गोविन्द तृतीय के पिता ध्रुव ने भिन्नमाल के राजा वत्सराज को परास्त कर अपने अधीन कर लिया था। पर ध्रुव की मृत्यु के बाद राष्ट्रकूट राज्य मे जो अव्यवस्था उत्पन्न हो गयी थी, उससे लाभ उठाकर भिन्नमाल के गुर्जरप्रतीहार राजा अपनी शक्ति की पुनः स्थापना के लिए तत्पर हो गये थे। वत्सराज के बाद गुर्जरप्रतीहार वंश का राजा इस समय नागभट था। गोविन्द तृतीय ने उसके साथ युद्ध किया, और ८०७ ईस्वी मे उसे परास्त किया। गुर्जरप्रतीहारों को अपना वशवर्ती बनाकर राष्ट्रकूट राजा ने कन्नौज पर आक्रमण किया। इस समय कन्नौज के राजसिंहासन पर राजा चक्रायुध आरूढ़ था, जो पालवंशी राजा धर्मपाल की सहायता से इन्द्रायुध के स्थान पर कन्नौज का अधिपति बना था। उसकी स्थिति पाल सम्राट् के महासामन्त के सदृश थी, और उसकी अधीनता में अन्य बहुत-से राजा सामन्त के रूप मे शासन करते थे। चक्रायुध गोविन्द तृतीय द्वारा परास्त हुआ, और इस विजय-यात्रा मे राष्ट्रकूट राजा ने हिमालय तक के प्रदेश पर अपना आधिपत्य स्थापित किया। पालवशी राजा धर्मपाल भी गोविन्द तृतीय के सम्मुख असहाय था। कन्नौज के राजा चक्रायुध द्वारा शासित प्रदेश पाल-साम्राज्य के अन्तर्गत थे, पर धर्मपाल में यह शक्ति नही थी, कि वह राष्ट्रकूटआक्रमणों से उनकी रक्षा कर सकता। राष्ट्रकूटों के उत्कर्ष के कारण पालवंश का शासन केवल मगध और बंगाल तक ही सीमित रह गया था। गोविन्द तृतीय के आक्रमणों और विजयों का वर्णन करते हुए पेशवाओं का ख्याल आये बिना नही रहता, जो राष्ट्रकूटों के समान ही दक्षिणापथ के राजा थे, पर जिनके कतिपय वीर पुरुषों ने उत्तरी भारत में हिमालय और सिन्ध नदी तक विजय-यात्राएँ की थी।

जिस समय गोविन्द तृतीय उत्तरी भारत की विजय में तत्पर था, सुदूर दक्षिण के पल्लव, गंग, चोल, पाण्ड्य, केरल आदि वंशों ने उसके विरुद्ध एक शक्तिशाली संघ को संगठित किया, जिसका उद्देश्य दक्षिणी भारत से राष्ट्रकूट आधिपत्य का अन्त करना था। पर यह संघ अपने उद्देश्य में सफल नहीं हुआ। ज्यों ही गोविन्द तृतीय को यह समाचार मिला, उसने तुरन्त दक्षिण की ओर प्रस्थान किया, और इस संघ को नष्ट कर दिया।

अमोघवर्ष—८१४ ईस्वी में गोविन्द तृतीय की मृत्यु हो जाने पर उसका पुत्र अमोघवर्ष मान्यखेट के राजसिंहासन पर आरूढ़ हुआ। पर राष्ट्रकूट-साम्राज्य में उसके विरोधियों की कमी नहीं थी। राजा बनने के समय अमोघवर्ष की आयु कम थी। इस स्थिति से लाभ उठाकर न केवल अनेक अधीनस्थ राजाओं ने स्वतन्त्र होने का प्रयत्न शुरू किया, अपितु विविध राष्ट्रकूट सामन्तों और राजपुरुषों ने भी उसके विरुद्ध षड्यन्त्रों प्रारम्भ कर दिये। अमोघवर्ष का मन्त्री करकराज था। अपने सामन्तों के षड्यन्त्रों के कारण कुछ समय के लिए अमोघवर्ष को राजसिंहासन से भी हाथ धोना पड़ गया था, पर करकराज की सहायता से उसने राजपद पुनः प्राप्त किया। आन्तरिक अव्यवस्था के कारण अमोघवर्ष राष्ट्रकूट-साम्राज्य को अक्षुण्ण रख सकने में असमर्थ रहा, और चालुक्यों ने राष्ट्रकूटों की निर्बलता से लाभ उठाकर एक बार फिर अपने उत्कर्ष के लिए प्रयत्न किया। इसमें उन्हें सफलता भी हुई। चालुक्यों के इस द्वितीय राजवंश के सम्बन्ध में हम इसी अध्याय के अगले प्रकरण में प्रकाश डालेंगे। अमोघवर्ष के शासनकाल में ही कन्नौज के गुर्जरप्रतीहार राजा मिहिरभोज ने अपने विशाल साम्राज्य का निर्माण किया, और उत्तरी भारत से राष्ट्रकूटों के शासन का अन्त कर दिया। गुर्जरप्रतीहार लोग किस प्रकार कन्नौज के स्वामी बने, और उन्होंने किस प्रकार एक विशाल साम्राज्य की स्थापना की, इस पर हम उनतीसवें अध्याय में प्रकाश डाल चुके हैं। यह सर्वथा स्पष्ट है, कि अमोघवर्ष के समय में राष्ट्रकूट साम्राज्य का अपकर्ष प्रारम्भ हो गया था।

अमोघवर्ष ने ८१४ से ८७८ ईस्वी तक शासन किया।

कृष्ण द्वितीय—अमोघवर्ष की मृत्यु के बाद उसका पुत्र कृष्ण द्वितीय ८७८ ईस्वी में सिंहासनारूढ़ हुआ। उसका शासनकाल मुख्यतया चालुक्यों के साथ संघर्ष में व्यतीत हुआ। वेङ्गि और अन्हिलवाड़ा में चालुक्यों के जो दो राजवंश इस समय स्थापित हो गये थे, उन दोनों के साथ ही उसके युद्ध हुए। पर अब राष्ट्रकूटों में इतनी शक्ति नहीं रह गयी थी, कि वे अपने प्रतिस्पर्धी चालुक्यों को पराभूत कर कर सकते। कन्नौज के गुर्जरप्रतीहारों के साथ भी कृष्ण द्वितीय के अनेक युद्ध हुए, पर न गुर्जर-प्रतीहार दक्षिणापथ को अपनी अधीनता में ला सके, और न गोविन्द तृतीय के समान कृष्ण द्वितीय ही हिमालय तक विजय-यात्रा कर सका।

इन्द्र तृतीय—कृष्ण द्वितीय के बाद उसका पौत्र इन्द्र तृतीय राष्ट्रकूट राज्य का स्वामी बना। यद्यपि उसने केवल चार साल (९१४-९१८) तक राज्य किया, पर इस थोड़े-से समय में ही उसने अद्भुत पराक्रम का परिचय दिया। उसका मुख्य कार्य गुर्जरप्रतीहार राजा महीपाल को परास्त करना था। कन्नौज के प्रतापी सम्राट्

मिहिरभोज की मृत्यु ८६० ईस्वी में हो चुकी थी, और उसके बाद निर्भयराज महेन्द्र (८६०-६०७) ने गुर्जरप्रतीहार-साम्राज्य को बहुत कुछ सम्भाले रखा था। पर महेन्द्र के उत्तराधिकारी महीपाल के समय में कन्नौज की घटती कला प्रारम्भ हो गयी थी। इसीलिए राष्ट्रकूट-राजा कृष्ण ने भी उस पर अनेक आक्रमण किये थे। पर इन्द्र तृतीय ने तो कन्नौज की शक्ति को जड़ से हिला दिया। उसने एक बहुत बड़ी सेना लेकर उत्तरी भारत पर आक्रमण किया, और कन्नौज पर चढ़ाई कर इस प्राचीन नगरी का बुरी तरह से सत्यानाश किया। राजा महीपाल उसके सम्मुख असहाय था। इन्द्र ने प्रयाग तक उसका पीछा किया, और राष्ट्रकूट-सेनाओं के घोड़ों ने गंगाजल द्वारा अपनी प्यास को शान्त किया।

गोविन्द चतुर्थ—६१८ ईस्वी के गोविन्द चतुर्थ मान्यखेट के राजसिंहासन पर आरूढ़ हुआ। इन्द्र तृतीय ने राष्ट्रकूटों की शक्ति का पुनरुद्धार करने मे जो सफलता प्राप्त की थी, वह गोविन्द चतुर्थ के निर्बल शासन मे नष्ट हो गयी। वेङ्गि के चालुक्यों ने इस समय बहुत जोर पकड़ा, और उनके आक्रमणों के कारण राष्ट्रकूट-राज्य की शक्ति बहुत क्षीण हो गयी।

कृष्ण तृतीय—गोविन्द चतुर्थ के बाद अमोघवर्ष तृतीय (६३६–६४०) राष्ट्रकूटराज्य का स्वामी बना। उसके शासनकाल की कोई घटना उल्लेखनीय नहीं है। पर उसका उत्तराधिकारी कृष्ण तृतीय (६४०–६६८) बड़ा प्रतापी था। उसने एक बार फिर राष्ट्रकूटों के गौरव को स्थापित किया, और दक्षिण व उत्तर दोनों दिशाओं में अपनी शक्ति का विस्तार किया। उत्तरी भारत पर आक्रमण कर उसने गुर्जरप्रतीहारों से कालिञ्जर और चित्रकूट जीत लिए। पर उसकी विजययात्राओं का क्षेत्र प्रधानतया दक्षिणी भारत था। काञ्ची पर फिर से अपना आधिपत्य स्थापित कर उसने ताञ्जोर की विजय की। ताञ्जोर की विजय को इतना महत्त्वपूर्ण माना गया, कि कृष्ण तृतीय ने 'तजजयुकोण्ड' (ताञ्जोर विजेता) का विरुद धारण किया। चोल, पाण्ड्य और केरल की विजयों के कारण कन्याकुमारी तक उसका साम्राज्य विस्तृत हो गया, और सिंहल द्वीप (लंका) के राजा ने भी उसे प्रसन्न रखने का प्रयत्न किया। इसमे सन्देह नहीं, कि कृष्ण तृतीय एक महान् विजेता था, और उसने एक बार फिर राष्ट्रकूट-शक्ति को उत्कर्ष की चरम सीमा तक पहुँचा दिया था।

राष्ट्रकूटराज्य का अन्त—पर राष्ट्रकूटों का यह उत्कर्ष देर तक कायम नहीं रहा। कृष्ण तृतीय की विजयों का स्वरूप प्रायः वही था, जो यशोधर्मा और हर्षवर्धन की विजयों का था। वह किसी स्थायी साम्राज्य की स्थापना नहीं कर सका। जब तक कृष्ण तृतीय जैसा सुयोग्य और प्रतापी राजा मान्यखेट के राजसिंहासन पर रहा, राष्ट्रकूटों की शक्ति अक्षुण्ण रही। पर उसके मरते ही राष्ट्रकूटसाम्राज्य छिन्न-भिन्न हो गया। कृष्ण तृतीय का उत्तराधिकारी खोट्टिग नित्यवर्ष था। उसके शासनकाल में मालवा के परमार राजा सीयक हर्ष (शासनकाल ६७४ ई० प० तक) ने राष्ट्रकूट राज्य पर आक्रमण किया, और मान्यखेट को बुरी तरह से लूटा। खोट्टिग नित्यवर्ष का उत्तराधिकारी राजा कर्क था। कल्याणी के चालुक्य राजा तैलप द्वितीय ने राष्ट्रकूटों की निर्बलता से लाभ उठाकर कर्क को परास्त किया, और उसके राज्य को अपने

अधिकार में कर लिया। कर्क राष्ट्रकूट वंश का अन्तिम राजा था, और उसके साथ ही इस वंश का अंत हो गया। इसके बाद दक्षिणापथ पर एक बार फिर चालुक्य वंश का आधिपत्य स्थापित हुआ।

इसमें सन्देह नहीं, कि राष्ट्रकूट राजा बड़े प्रतापी थे। उनकी कीर्ति भारत से बाहर भी दूर-दूर तक फैली हुई थी। इसीलिए अनेक अरब यात्रियों ने भी उनका वृत्तान्त लिखा है। ८५१ में सुलेमान नामक लेखक ने अमोघवर्ष को बगदाद के खलीफा, कोन्स्टेन्टिनोपल के रोमन सम्राट् और चीन के सम्राट् के समकक्ष बताया था। यह ठीक है, कि गोविन्द तृतीय जैसे राष्ट्रकूट-राजाओं की गणना उस युग के सबसे शक्तिशाली सम्राटों में की जा सकती है। राष्ट्रकूट राजा सिन्ध के अरब शासकों के साथ मैत्री रखते थे, क्योंकि भिन्नमाल और कन्नौज के शक्तिशाली गुर्जरप्रतीहार राजाओं से दोनों को समानरूप से भय था।

(३) कल्याणी का चालुक्य वंश

राष्ट्रकूटों से पहले दक्षिणापथ में चालुक्यो का आधिपत्य था। उन्ही को परास्त कर राष्ट्रकूटों ने अपनी शक्ति को स्थापित किया था। पर अन्तिम राष्ट्रकूट राजा कर्क का उच्छेद कर चालुक्यों ने एक बार फिर अपनी शक्ति का पुनरुद्धार किया। राष्ट्रकूटो के शासनकाल में चालुक्यो का मूलोन्मूलन नही हो गया था। अपने अपकर्ष के काल मे चालुक्यवश के राजा राष्ट्रकूटो के सामन्त रूप में अपने क्षेत्र में शासन करते रहे थे। जिस राजा तैलप ने कर्क को परास्त कर अपने वश का उत्कर्ष किया, शुरू मे उसकी स्थिति भी सामन्त की ही थी। राष्ट्रकूटों की निर्बलता से लाभ उठाकर तैलप ने न केवल अपने को स्वतन्त्र कर लिया, अपितु शीघ्र ही सारे दक्षिणापथ पर अपना शासन स्थापित कर लिया। पहले चालुक्यवंश की राजधानी वातापी थी, पर इस नये चालुक्य वंश ने कल्याणी को राजधानी बनाकर अपनी शक्ति का विस्तार किया। इसीलिए ये कल्याणी के चालुक्य कहाते हैं।

तैलप—कल्याणी के अपने सामन्त-राज्य को राष्ट्रकूटो की अधीनता से मुक्त कर तैलप ने मान्यखेट पर आक्रमण किया। परमार राजा सीयक हर्ष राष्ट्रकूटों की इस राजधानी को तहस-नहस कर चुका था, पर उसने दक्षिणापथ मे स्थायी रूप से शासन करने का प्रयत्न नही किया था। वह आँधी की तरह आया था, और मान्यखेट को उजाड़ कर आँधी ही की तरह वापस लौट गया था। अब जब तैलप ने उस पर आक्रमण किया, तो राष्ट्रकूट राजा कर्क उसका मुकाबला नही कर सका। राष्ट्रकूट-राज्य का अन्त हो गया, और तैलप के लिए दिग्विजय का मार्ग निष्कण्टक हो गया। विजय-यात्रा करते हुए तैलप ने सबसे पूर्व लाटदेश (दक्षिणी गुजरात) की विजय की, और फिर कन्नड देश को परास्त किया। कन्नड़ के बाद सुदूर दक्षिण मे चोलराज्य पर चढ़ाई की गई। पर तैलप के सबसे महत्त्वपूर्ण युद्ध परमार राजा वाक्पतिराज मुञ्ज के साथ हुए। परमारवंश के महत्त्वाकांक्षी राजा दक्षिणापथ को अपनी विजयो का उपयुक्त क्षेत्र मानते थे। सीयक हर्ष ने भी पहले मान्यखेट को ही अपनी महत्त्वाकाक्षाओं का शिकार बनाया था। वाक्पतिराज मुञ्ज ने छः बार चालुक्य-राज्य पर चढ़ाई की, और छठी

बार उसे बुरी तरह परास्त किया। पर सातवीं बार जब उसने दक्षिणापथ में विजय-यात्रा की, तो गोदावरी के तट पर घनघोर युद्ध हुआ, जिसमें मुञ्ज तैलप के हाथ पड़ गया, और चालुक्यराज ने उसका घात कर अपनी पुरानी पराजयों का प्रतिशोध लिया। इस प्रकार अपने कुल के गौरव का पुनरुद्धार कर २४ वर्ष के शासन के बाद ९९७ ईस्वी में तैलप की मृत्यु हुई।

सत्याश्रय—तैलप की मृत्यु के बाद सत्याश्रय चालुक्य राज्य का स्वामी बना। उसके शासन काल की मुख्य घटना चोल-राज्य के अधिपति राजराज प्रथम की दिग्विजय है। राष्ट्रकूटों के शासन में चोलराज्य अनेक बार प्रतापी विजेताओं द्वारा आक्रांत हुआ था। पर दक्षिणापथ में जब राष्ट्रकूटों की शक्ति क्षीण हुई, तो चोलों को अपने उत्कर्ष का अवसर मिल गया। राजराज प्रथम के रूप में वहाँ एक ऐसे वीर का प्रादुर्भाव हुआ, जिसने चोलशक्ति को बहुत बढ़ाया। चालुक्यराज सत्याश्रय चोलविजेता द्वारा बुरी तरह परास्त हुआ। पर राजराज प्रथम ने दक्षिणापथ में स्थिर रूप से शासन करने का प्रयत्न नहीं किया। अवसर पाकर सत्याश्रय फिर स्वतन्त्र हो गया। वह ९९७ से १००८ तक चालुक्यराज्य का स्वामी रहा।

विक्रमादित्य—सत्याश्रय के बाद कल्याणी के राजसिंहासन पर विक्रमादित्य आरूढ़ हुआ। उसके समय के मालवा के परमारो के साथ चालुक्यो का पुनः संघर्ष हुआ, और वाक्पतिराज मुञ्ज की पराजय व हत्या का प्रतिशोध करने के लिये परमार राजा भोज ने चालुक्य राज्य पर आक्रमण कर उसे परास्त किया। पर बाद में उसने भी विक्रमादित्य से हार खाई। इस राजा का शासनकाल १००७ से १०१६ तक था।

जयसिंह जगदेकमल्ल—विक्रमादित्य की मृत्यु के बाद जयसिंह चालुक्य-राज का स्वामी बना। इसका विरुद्ध 'जगदेकमल्ल' था, जो इसकी वीरता का परिचायक है। उसके समय में परमार राजा भोज के साथ चालुक्यों का संघर्ष जारी रहा। कभी भोज ने जयसिंह को परास्त किया, और कभी जयसिंह ने भोज को। चोलराजा राजेन्द्र से भी जयसिंह के अनेक युद्ध हुए। इनमें भी विजयश्री ने स्थायी रूप से किसी एक का साथ नहीं दिया। २६ वर्ष के शासन के बाद १०४७ ई० में जयसिंह की मृत्यु हुई।

सोमेश्वर प्रथम आहवमल्ल—यह कल्याणी के चालुक्यवंश का सबसे प्रतापशाली राजा था। अपने विरुद 'आहवमल्ल' को सार्थक कर उसने दूर-दूर तक विजययात्राएँ कीं, और चालुक्यों के राज्य को एक विशाल साम्राज्य के रूप में परिवर्तित कर दिया। इस समय चालुक्यो के मुख्य प्रतिस्पर्धी मालवा के परमार और सुदूर दक्षिण के चोल राजा थे। सोमेश्वर ने इन दोनों शत्रुओं के साथ घनघोर युद्ध किये। परमार राजा भोज को परास्त कर उसने परमार राज्य की राजधानी धारानगरी पर कब्जा कर लिया, और भोज को उज्जयिनी मे आश्रय लेने के लिये विवश किया। पर चालुक्यो का मालवा पर यह आधिपत्य देर तक स्थिर नहीं रह सका। कुछ समय बाद भोज ने एक बड़ी सेना को साथ लेकर धारा पर चढ़ाई की, और चालुक्यों के शासन का अन्त कर अपनी राजधानी में पुनः प्रवेश किया। सुदूर दक्षिण के चोल राजा से भी सोमेश्वर के अनेक युद्ध हुए, और कुछ समय के लिये काञ्ची पर भी चालुक्यों

का आधिपत्य हो गया। पल्लववंश की यह पुरानी राजधानी इस समय चोलशक्ति की महत्त्वपूर्ण केन्द्र थी।

पर केवल परमारों और चोलों के साथ हुए युद्धों में ही सोमेश्वर ने अपनी आहवमल्लता का परिचय नहीं दिया। चोलों को परास्त कर उसने उत्तरी भारत की दिग्विजय के लिये प्रस्थान किया। एक शक्तिशाली सेना को साथ लेकर उसने पहले जेजाकभुक्ति के चन्देल राजा को परास्त किया। महमूद गजनवी इस राज्य को भी जीतने में समर्थ हुआ था, पर उसके निर्बल उत्तराधिकारियों के शासनकाल में ग्यारहवीं सदी के उत्तरार्द्ध में कीर्तिवर्मा नामक वीर चन्देल ने अपने पूर्वजों के स्वतन्त्र राज्य का पुनरुद्धार कर लिया था। सोमेश्वर के आक्रमण के समय सम्भवतः कीर्तिवर्मा ही चन्देल राज्य का स्वामी था। चन्देल राज्य को जीतकर सोमेश्वर ने कच्छपघातों को विजय किया, और फिर गंगा-जमुना के उन प्रदेशों पर आक्रमण किया, जो कन्नौज के राज्य के अन्तर्गत थे। अभी कन्नौज पर गहड्वालवंश के प्रतापी राजाओं का आधिपत्य नहीं हुआ था, और वहाँ गुर्जरप्रतीहार वंश का ही शासन कायम था, जोकि इस समय तक बहुत निर्बल हो चुका था। कन्नौज का अधिपति चालुक्यराज सोमेश्वर के सम्मुख नहीं टिक सका, और उसने भागकर उत्तरी पर्वतों की शरण ली। चेदि के कलचूरी राजा कर्णदेव (१०६३-१०९३) ने चालुक्य-आक्रमण का मुकाबला करने में अधिक साहस प्रदर्शित किया, पर उसे भी सोमेश्वर के सम्मुख परास्त होना पड़ा। जिस समय सोमेश्वर स्वयं उत्तरी भारत की विजययात्रा में तत्पर था, उसका पुत्र विक्रमादित्य पूर्वी भारत में अंग, बंग, मगध और मिथिला के प्रदेशों की विजय कर रहा था। विक्रमादित्य ने पूर्व मे और आगे बढ़कर कामरूप (असम) पर भी आक्रमण किया, पर उसे जीतने में उसे सफलता नही हुई। पर यह ध्यान में रखना चाहिये, कि सोमेश्वर और विक्रमादित्य की विजययात्राओं ने किसी स्थायी साम्राज्य की नींव नहीं डाली। वे आँधी की तरह सम्पूर्ण उत्तरी भारत पर छा गये, और वहाँ तहस-नहस मचाकर आँधी के समान ही दक्षिणापथ को लौट गये। इन दिग्विजयों ने केवल देश में उथल-पुथल, अव्यवस्था और अराजकता ही उत्पन्न की, कोई स्थायी परिणाम उनका नहीं हुआ। इसमें सन्देह नही, कि सोमेश्वर एक महान् विजेता था, और अनेक युद्धों मे उसने अपने अनुपम शौर्य का प्रदर्शन किया था। १०६८ में उसकी मृत्यु हुई। जीवन के समान उसकी मृत्यु भी असाधारण थी। एक रोग से पीड़ित होकर जब उसने अनुभव किया, कि उसके लिए रोग से छुटकारा पा सकना संभव नही है, तो तुंगभद्रा नदी में छलांग मारकर उसने अपने शरीर का अन्त कर दिया। इस प्रकार की मृत्यु के लिए जिस साहस की आवश्यकता थी, वही सोमेश्वर के सम्पूर्ण जीवन में उसके युद्धों और संघर्षों में प्रगट हुआ था।

सोमेश्वर द्वितीय भुवनैकमल्ल—अपने पिता की मृत्यु (१०६८ ई०) के बाद सोमेश्वर द्वितीय विशाल चालुक्य राज्य का स्वामी बना। उत्तरी भारत की विजय-यात्राओं में जिस विक्रमादित्य ने अंग, बंग, मगध आदि की विजय कर अद्भुत पराक्रम प्रदर्शित किया था, वह सोमेश्वर प्रथम का कनिष्ठ पुत्र था। पिता की मृत्यु के समय वह सुदूर दक्षिण में चोल राज्य के साथ संघर्ष में व्यापृत था। सोमेश्वर प्रथम की इच्छा थी,

कि उसके बाद उसका सुयोग्य पुत्र विक्रमादित्य ही चालुक्यराज्य का स्वामी बने। पर उसकी अनुपस्थिति से लाभ उठाकर सोमेश्वर द्वितीय ने कल्याणी की राजगद्दी पर कब्जा कर लिया, और विक्रमादित्य ने भी उसे चालुक्य राज्य के न्याय्य राजा के रूप में स्वीकृत किया। पर सोमेश्वर द्वितीय सर्वथा अयोग्य शासक था। उसके असद्व्यवहार से जनता दुखी हो गयी, और चालुक्यों की राजशक्ति क्षीण होने लगी। इस स्थिति में १०७६ ईस्वी में विक्रमादित्य ने उसे राजगद्दी से उतारकर स्वयं कल्याणी के राजसिंहासन पर अधिकार कर लिया।

विक्रमादित्य द्वितीय—इसमें सन्देह नही, कि विक्रमादित्य द्वितीय (यदि वातापी के चालुक्य वंश के राजाओं को भी दृष्टि मे रखें, तो इसे विक्रमादित्य षष्ठ कहना चाहिए) बहुत योग्य व्यक्ति था। अपने पिता सोमेश्वर प्रथम के शासनकाल में वह उसका सहयोगी रहा था, और उसकी विजययात्राओं मे उसने अदभुत शौर्य प्रदर्शित किया था। अब राजा बनकर उसने पूरी आधी सदी (१०७६ से ११२६) तक योग्यतापूर्वक चालुक्य साम्राज्य का शासन किया। अपने पिता सोमेश्वर प्रथम के समान उसने भी दूर-दूर तक विजययात्राएं की, और कलिंग, बंग, मरु (राजस्थान), मालवा, चेर (केरल) और चोल राज्यों को परास्त किया। उसके शासनकाल मे चालुक्य साम्राज्य दक्षिण मे कन्या-कुमारी अन्तरीप से लेकर उत्तर मे बंगाल तक विस्तृत था। काश्मीरी कवि बिल्हण ने 'विक्रमांकदेवचरितम्' लिखकर इस प्रतापी राजा के नाम को अमर कर दिया है। बिल्हण विक्रमादित्य द्वितीय की राजसभा का ही रत्न था। 'मिताक्षरा' का रचयिता विज्ञानेश्वर भी इसी सम्राट् की राजसभा में निवास करता था। 'मिताक्षरा' वर्त्तमान समय मे प्रचलित हिन्दू-कानून का मुख्य आधार है।

सोमेश्वर तृतीय—११२६ ईस्वी मे विक्रमादित्य द्वितीय का पुत्र सोमेश्वर तृतीय कल्याणी के राजसिंहासन पर आरूढ़ हुआ। वह भी प्रतापी और महत्त्वाकाक्षी राजा था। उसने उत्तरी भारत मे विजययात्राएँ कर मगध और नेपाल को अपना वशवर्त्ती बनाया। अंग, बंग, कलिंग पहले ही चालुक्य-साम्राज्य की अधीनता को स्वीकृत करते थे। मगध भी पूर्ववर्त्ती चालुक्य-विजेताओं द्वारा आक्रान्त हो चुका था। सोमेश्वर तृतीय ने अपने कुल की शक्ति को बढ़ाकर नेपाल तक भी आक्रमण किए। सोमेश्वर प्रथम के समय से उत्तरी भारत पर और विशेषतया अंग, बंग तथा कलिंग पर दक्षिणापथ की सेनाओं के जो निरन्तर आक्रमण होते रहे, उन्ही के कारण बहुत-से सैनिक व उनके सरदार इन प्रदेशों में स्थिर रूप से बस गए, और उन्ही से बंगाल मे सेनवंश एव मिथिला में नान्यदेव के वंश के राज्य स्थापित हुए। इसीलिए इन्हे 'कर्णाट' कहा गया है।

चालुक्य वंश का अन्त—सोमेश्वर तृतीय के बाद कल्याणी के चालुक्यवंश का क्षय शुरू हो गया। ११३८ ई० मे सोमेश्वर की मृत्यु हो जाने पर उसका पुत्र जगदेकमल्ल द्वितीय राजा बना। इस राजा के शासनकाल मे चालुक्यों मे निर्बलता के चिह्न प्रगट होने लग गए थे। अन्हिलवाडा के चालुक्यराजा कुमारपाल (११४३-११७१) के जगदेकमल्ल के साथ अनेक युद्ध हुए, जिनमे कुमारपाल विजयी हुआ।

११५१ ईस्वी में जगदेकमल्ल की मृत्यु के बाद तैल ने कल्याणी का राजसिंहासन प्राप्त किया। उसका मन्त्री व सेनापति बिज्जल था, जो कलचूरि-वंश का था। बिज्जल

इतना शक्तिशाली व्यक्ति था, कि उसने राजा तैल को अपने हाथों में कठपुतली के समान बना रखा था। बहुत-से सामन्त राजा उसके प्रभाव में थे। उनकी सहायता से ११५७ ई० के लगभग विज्जल ने तैल को राज्यच्युत कर स्वयं कल्याणी की राजगद्दी पर अधिकार कर लिया, और वासव को अपना मन्त्री नियत किया। भारत के धार्मिक इतिहास में वासव का बहुत अधिक महत्त्व है। वह लिंगायत सम्प्रदाय का प्रवर्त्तक था, जिसका दक्षिणी भारत में बहुत प्रचार हुआ। इस सम्प्रदाय के सम्बन्ध में हम अगले एक अध्याय में विस्तार से लिखेंगे। विज्जल स्वयं जैन था, अतः राजा और मन्त्री में विरोध हो गया, और वासव ने विज्जल की हत्या करा दी। विज्जल के बाद उसके पुत्र सोविदेव ने राज्य प्राप्त किया, और वासव की शक्ति को काबू में लाने में सफलता प्राप्त की। धार्मिक विरोध के कारण विज्जल और सोविदेव के समय में जो अव्यवस्था उत्पन्न हो गयी थी, चालुक्य राजा तैल के पुत्र सोमेश्वर चतुर्थ ने उससे लाभ उठाया, और ११८३ ईस्वी में सोविदेव को परास्त कर चालुक्यकुल के गौरव को फिर के स्थापित किया। पर चालुक्यों की यह शक्ति देर तक स्थिर नहीं रह सकी। विज्जल और सोविदेव के समय में कल्याणी के राज्य में जो अव्यवस्था उत्पन्न हो गयी थी, उसके कारण बहुत-से सामन्त व अधीनस्थ राजा स्वतन्त्र हो गए, और अन्य अनेक राजवंशों के प्रतापी व महत्त्वाकांक्षी राजाओं ने विजययात्राएँ कर अपनी शक्ति का उत्कर्ष शुरू कर दिया। इन प्रतापी राजाओं में देवगिरि के यादव राजा भिल्लम का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। ११८७ ईस्वी में भिल्लम ने चालुक्य राजा सोमेश्वर चतुर्थ को परास्त कर कल्याणी पर अधिकार कर लिया, और इस प्रकार प्रतापी चालुक्य वंश का अन्त हुआ।

(४) वेङ्गि का चालुक्य वंश

प्राचीन समय मे चालुक्यो के अनेक राजवंशों ने दक्षिणापथ व गुजरात में शासन किया था। इनमे से अन्हिलवाड़ा (गुजरात), वातापी और कल्याणी को राजधानी बनाकर शासन करने वाले चालुक्य वंशों का इतिहास हम लिख चुके हैं। पर इन तीन के अतिरिक्त चालुक्यो का एक अन्य वंश भी था, जिसकी राजधानी वेङ्गि थी। यह इतिहास मे 'पूर्वी चालुक्य' के नाम से विख्यात है, क्योंकि इसका राज्य चालुक्यों के मुख्य राजवंश (जिसने कल्याणी को राजधानी बनाकर शासन किया) के राज्य से पूर्व मे स्थित था। इनसे पृथक्त्व प्रदर्शित करने के लिए कल्याणी के राजवंश को 'पश्चिमी चालुक्य-वंश' भी कहा जाता है। इतिहास में वेङ्ग के पूर्वी चालुक्यवंश का बहुत अधिक महत्त्व नहीं है, क्योंकि उसके राजाओ ने न किसी बड़े साम्राज्य के निर्माण में सफलता प्राप्त की, और न दूर-दूर तक विजययात्राएँ ही की। पर क्योंकि कुछ समय तक उसके राजाओं ने भी स्वतन्त्र रूप से राज्य किया, अतः उनके सम्बन्ध मे भी संक्षिप्त रूप से लिखना आवश्यक है।

जिस समय वातापी के प्रसिद्ध चालुक्य-सम्राट् पुलकेशी द्वितीय ने (सातवी सदी के पूर्वार्ध में) दक्षिणापथ में अपने विशाल साम्राज्य की स्थापना की थी, उसने अपने छोटे भाई कुब्ज विष्णुवर्धन को वेङ्गि का शासन करने के लिए नियुक्त किया था। विष्णुवर्धन की स्थिति एक प्रान्तीय शासक के सदृश थी, और वह पुलकेशी द्वितीय की ओर

से ही कृष्णा और गोदावरी नदियों के मध्यवर्ती प्रदेश का शासन करता था। पर उसका पुत्र जयसिंह प्रथम पूर्णतया स्वतन्त्र हो गया, और इस प्रकार पूर्वी चालुक्य-वंश का प्रादुर्भाव हुआ। इस वंश के स्वतन्त्र राज्य का प्रारम्भकाल सातवीं सदी के मध्य भाग में था।

जब तक वातापी में मुख्य चालुक्य वंश की शक्ति कायम रही, वेङ्गि के पूर्वी चालुक्यों को अपने उत्कर्ष का अवसर नहीं मिल सका। पर जब ७५३ ईस्वी के लगभग राष्ट्रकूट दन्तिदुर्ग द्वारा वातापी के चालुक्य-राज्य का अन्त कर दिया गया, तो वेङ्गि के राजवंश में अनेक ऐसे प्रतापी राजा हुए, जिन्होंने राष्ट्रकूटों और अन्य पड़ोसी राजाओं पर आक्रमण करके उनसे साथ युद्ध किए। इनमें विजयादित्य द्वितीय (लगभग ७६६-८४३) और विजयादित्य तृतीय (८४३-८८८) के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इन दोनों राजाओं ने राष्ट्रकूटों के मुकाबले में अपने राज्य की स्वतन्त्र सत्ता को कायम रखने में सफलता प्राप्त की। इनके उत्तराधिकारी चालुक्य राजा भी अपनी स्वतन्त्रता की रक्षा में समर्थ रहे। पर दसवीं सदी के अन्तिम भाग मे वेङ्गि को एक नयी विपत्ति का सामना करना पड़ा, जो चोलराज राजराज प्रथम (९८५-१०१४) के रूप में थी। इस समय तक दक्षिणापथ में राष्ट्रकूटों की शक्ति का अन्त हो चुका था, और कल्याणी को अपनी राजधानी बनाकर चालुक्य एक बार फिर दक्षिणापथपति बन गए थे। राजराज प्रथम ने न केवल कल्याणी के चालुक्य राजा सत्याश्रय को परास्त किया, अपितु वेङ्गि के चालुक्य राजा पर भी आक्रमण किया। इस समय वेङ्गि के राजसिंहासन पर शक्तिवर्मा विराजमान था। उसने चोल-आक्रान्ता का मुकाबला करने के लिए बहुत प्रयत्न किया, और अनेक युद्धों में उसे सफलता भी हुई। पर उसके उत्तराधिकारी विमलादित्य (१०११-१०१८ ई०) ने यही उचित समझा, कि शक्तिशाली चोल सम्राट् की अधीनता स्वीकृत कर ली जाय। राजराज प्रथम ने विमलादित्य के साथ अपनी पुत्री का विवाह कर उसे अपना सम्बन्धी व परम सहायक बना लिया। विमलादित्य के बाद उसका पुत्र विष्णुवर्धन पूर्वी चालुक्य राज्य का स्वामी बना। उसका विवाह भी चोलवंश की ही एक कुमारी के साथ हुआ था। उसका पुत्र राजेन्द्र था, जो कुलोत्तुग के नाम से वेङ्गि का राजा बना। उसका विवाह भी एक चोल राजकुमारी के साथ हुआ, और इन विवाहों के कारण वेङ्गि के चालुक्य कुल और चोलराज्य का सम्बन्ध बहुत अधिक घनिष्ठ हो गया। चोलराजा अधिराजेन्द्र के कोई सन्तान नही थी। वह १०७० ईस्वी में चोल राज्य का स्वामी बना था, और उसी साल उसकी मृत्यु हो गयी थी। इस दशा मे वेङ्गि के चालुक्य राजा राजेन्द्र कुलोत्तुग ने चोल-वंश का राज्य भी प्राप्त कर लिया, क्योंकि वह चोल राजकुमारी का पुत्र था। इस प्रकार चोल राज्य और वेङ्गि का पूर्वी चालुक्य राज्य परस्पर मिलकर एक हो गए, और राजेन्द्र कुलोत्तुंग के वंशज इन दोनों राज्यों पर दो सदी के लगभग तक शासन करते रहे। राजेन्द्र कुलोत्तुग के उत्तराधिकारियों के विषय में हम सुदूर दक्षिण के चोल राज्य का विवरण देते हुए लिखेंगे। १०७० के बाद वेङ्गि के राजवश की अपनी कोई पृथक् सत्ता नहीं रह गयी थी।

कल्याणी के चालुक्य वंश का वृत्तान्त इसी अध्याय में पहले लिखा जा चुका है। दक्षिणापथ के बड़े भाग पर उनका आधिपत्य था, और अनेक प्रतापी चालुक्य राजाओं

ने दक्षिण में चोल, पाण्ड्य और केरल तक व उत्तर में बंग, मगध और नेपाल तक विजय-यात्राएँ की थीं। पर जब बारहवीं सदी के अन्तिम भाग में चालुक्यों की शक्ति क्षीण हुई, तो उनके अनेक सामन्त राजा स्वतन्त्र हो गए, और अपने-अपने क्षेत्र में स्वतन्त्र रूप से शासन करने लगे। जिस प्रकार उत्तरी भारत में गुर्जरप्रतीहार-साम्राज्य के ह्रास-काल में अनेक छोटे-बड़े राजपूत राज्य कायम हुए, वैसे ही दक्षिणी भारत में कल्याणी के चालुक्यों की शक्ति के क्षीण होने पर अनेक सामन्त राजाओं ने स्वतन्त्र होकर अपने पृथक् राज्यों की स्थापना की।

(५) देवगिरि का यादव वंश

देवगिरि का यादव वंश इनमें से एक था। यादववंश भारतीय इतिहास में बहुत प्राचीन है, और वह अपना सम्बन्ध प्राचीन यदुवंशी क्षत्रियों से मानता था। राष्ट्रकूटों और चालुक्यों के उत्कर्ष-काल में यादव वंश के राजा अधीनस्थ सामन्त राजाओं की स्थिति रखते थे। पर जब चालुक्यों की शक्ति क्षीण हुई तो वे स्वतन्त्र हो गए, और वर्त्तमान हैदराबाद के क्षेत्र में स्थित देवगिरि (दौलताबाद) को केन्द्र बनाकर उन्होंने अपने उत्कर्ष का प्रारम्भ किया। ११८७ ईस्वी में देवगिरि के यादवराजा भिल्लम ने अन्तिम चालुक्य राजा सोमेश्वर चतुर्थ को परास्त कर किस प्रकार कल्याणी पर भी अधिकार कर लिया, इसका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। इसमें सन्देह नहीं, कि भिल्लम एक अत्यन्त प्रतापी राजा था, और उसी के कर्तृत्व के कारण यादवों के उत्कर्ष का प्रारम्भ हुआ था।

पर शीघ्र ही भिल्लम को एक नए शत्रु का सामना करना पड़ा। द्वारसमुद्र (माइसूर) में यादव क्षत्रियों के एक अन्य वंश का शासन था, जो होयसाल कहाते थे। चालुक्यों की शक्ति के क्षीण होने पर दक्षिणापथ में जो स्थिति उत्पन्न हो गई थी, होयसालों ने भी उससे लाभ उठाया, और उनके राजा वीर बल्लाल द्वितीय ने उत्तर की ओर अपनी शक्ति का विस्तार करते हुए भिल्लम के राज्य पर भी आक्रमण किया। वीर बल्लाल के साथ युद्ध करते हुए भिल्लम ने वीरगति प्राप्त की, और उसके राज्य पर (जिसमें कल्याणी का प्रदेश भी शामिल था)। होयसालों का अधिकार हो गया। इस प्रकार ११९१ ईस्वी में भिल्लम द्वारा स्थापित यादव राज्य का अन्त हुआ।

पर इस पराजय से यादववंश की शक्ति का मूलोच्छेद नहीं हो गया। भिल्लम का उत्तराधिकारी जैत्रपाल प्रथम था, जिसने अनेक युद्धों द्वारा अपने वंश के गौरव का पुनरुद्धार किया। होयसालों ने कल्याणी और देवगिरि पर स्थायी रूप से शासन का प्रयत्न नहीं किया था, इसलिए जैत्रपाल को फिर से अपने राज्य के उत्कर्ष का अवसर मिल गया। उसका शासनकाल ११९१ से १२१० तक था। अपने पड़ोसी राज्यों से निरन्तर युद्ध करते हुए जैत्रपाल प्रथम ने यादव राज्य की शक्ति को भली-भाँति स्थापित कर लिया।

जैत्रपाल प्रथम का पुत्र सिंघण (१२१०–१२४७) था। वह इस वंश का सबसे प्रतापी राजा हुआ है। ३७ वर्ष के अपने शासनकाल में उसने चारों दिशाओं में बहुत-से

युद्ध किये, और देवगिरि के यादवराज्य को उन्नति की चरम सीमा पर पहुँचा दिया। होयसाल राजा वीर बल्लाल ने उसके पितामह भिल्लम को युद्ध में मारा था, और यादव राज्य को बुरी तरह से आक्रान्त किया था। अपने कुल के इस अपमान का प्रतिशोध करने के लिए उसने द्वारसमुद्र के होयसाल-राज्य पर आक्रमण किया, और वहाँ के राजा वीर बल्लाल द्वितीय को परास्त कर उसके अनेक प्रदेशों पर अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया। होयसाल-राज्य की विजय के बाद सिंघण ने उत्तर दिशा में विजय-यात्रा के लिए प्रस्थान किया। गुजरात पर उसने कई बार आक्रमण किये, और मालवा को अपने अधिकार में लाकर काशी और मथुरा तक विजय-यात्रा की। इतना ही नहीं, उसने कलचूरी-राज्य को परास्त कर अफगान शासकों के साथ भी युद्ध किये, जो इस समय उत्तरी भारत के बड़े भाग को अपने स्वत्व में ला चुके थे। कोल्हापुर के शिलाहार, बनवासी के कदम्ब और पाण्ड्य देश के राजाओं को भी सिंघण ने आक्रान्त किया, और अपनी इन दिग्विजयों के उपलक्ष्य मे कावेरी नदी के तट पर एक विजयस्तम्भ की स्थापना की। इसमें सन्देह नहीं, कि यादवराज सिंघण एक विशाल साम्राज्य का निर्माण करने में सफल हुआ था, और न केवल सम्पूर्ण दक्षिणापथ अपितु कावेरी तक का दक्षिणी भारत और विंध्याचल के उत्तर के भी कतिपय प्रदेश उसकी अधीनता में थे। सिंघण न केवल अनुपम विजेता था, अपितु साथ ही विद्वानों का आश्रयदाता और विद्याप्रेमी भी था। संगीतरत्नाकर का रचयिता सारंगधर उसी के आश्रय में रहता था। प्रसिद्ध ज्योतिषी चांगदेव भी उसकी राजसभा का एक उज्ज्वल रत्न था। भास्कराचार्य द्वारा विरचित सिद्धान्तशिरोमणि तथा ज्योतिष-सम्बन्धी अन्य ग्रन्थों के अध्ययन के लिए उसने एक शिक्षाकेन्द्र की स्थापना भी की थी।

सिंघण के बाद उसके पोते कृष्ण (१२४७–१२६०) ने और फिर कृष्ण के भाई महादेव (१२६०–१२७१) ने देवगिरि के राजसिंहासन को सुशोभित किया। इन राजाओं के समय में भी गुजरात और शिलाहार राज्य के साथ यादवों के युद्ध जारी रहे। इन युद्धों का वृत्तान्त यहाँ लिख सकना सम्भव नहीं है। महादेव के बाद रामचन्द्र (१२७१–१३०९) यादवों का राजा बना। उसके समय में १२९४ ईस्वी में दिल्ली के प्रसिद्ध अफगान विजेता अलाउद्दीन खिलजी ने दक्षिणी भारत में विजय-यात्रा की। इस समय देवगिरि का यादव राज्य दक्षिणापथ की प्रधान राजशक्ति था। अतः स्वाभाविक रूप से अलाउद्दीन का मुख्य संघर्ष यादवराज रामचन्द्र के साथ ही हुआ। अलाउद्दीन जानता था, कि सम्मुख-युद्ध में रामचन्द्र को परास्त कर सकना सुगम नहीं है। अतः उसने छल का प्रयोग किया, और यादवराज के प्रति मैत्रीभाव प्रदर्शित कर उसका आतिथ्य ग्रहण किया। इस प्रकार जब रामचन्द्र असावधान हो गया, तो अलाउद्दीन ने उस पर अकस्मात् हमला कर दिया। इस स्थिति मे यादवों के लिए अपनी स्वतन्त्रता को कायम रख सकना असम्भव हो गया, और रामचन्द्र ने विवश होकर अलाउद्दीन खिलजी के साथ सन्धि कर ली। इस सन्धि के परिणामस्वरूप जो अपार सम्पत्ति अफगान विजेता ने प्राप्त की, उसमें ६०० मन मोती, २०० मन रत्न, १००० मन चाँदी, ४००० रेशमी वस्त्र और इसी प्रकार के अन्य बहुमूल्य उपहार सम्मिलित थे। इसके अतिरिक्त रामचन्द्र ने अलाउद्दीन खिलजी को वार्षिक कर भी देना स्वीकृत

किया। यद्यपि रामचन्द्र परास्त हो गया था, पर उसमें अभी स्वतन्त्रता की भावना अवशिष्ट थी। उसने खिलजी के आधिपत्य का जुआ उतार फेंकने के विचार से वार्षिक कर देना बन्द कर दिया। इस पर अलाउद्दीन ने अपने सेनापति मलिक काफूर को उस पर आक्रमण करने के लिए भेजा। काफूर का सामना करने में रामचन्द्र असमर्थ रहा, और उसे गिरफ्तार करके दिल्ली भेज दिया गया। वहाँ खिलजी सुलतान ने उसका स्वागत किया, और उसे 'रायराया' की उपाधि से विभूषित किया। अलाउद्दीन रामचन्द्र की शक्ति से भली-भाँति परिचित था, और इसीलिए उसे अपना अधीनस्थ राजा बनाकर ही संतुष्ट हो गया। पर यादवों में अपनी स्वतन्त्रता की भावना अभी तक भी विद्यमान थी। इसीलिए रामचन्द्र के बाद उसके पुत्र शंकर ने खिलजी के विरुद्ध विद्रोह किया। एक बार फिर मलिक काफूर देवगिरि पर आक्रमण करने के लिए गया, और उससे लड़ते-लड़ते १३१२ ईस्वी में शंकर ने वीरगति प्राप्त की। १३१६ में जब अलाउद्दीन की मृत्यु हुई, तो रामचन्द्र के जामाता हरपाल के नेतृत्व में यादवों ने एक बार फिर स्वतन्त्र होने का प्रयत्न किया, पर उन्हें सफलता नहीं मिल सकी। हरपाल को गिरफ्तार कर लिया गया, और अपना रोष प्रगट करने के लिए सुलतान मुबारक खाँ ने जीते-जी उसकी खाल खिचवा दी।

इस प्रकार देवगिरि के यादववंश की सत्ता का अन्त हुआ, और उनका प्रदेश दिल्ली के अफगान-साम्राज्य के अन्तर्गत हो गया।

(६) दक्षिणापथ के अन्य राजवंश

दक्षिणापथ में चालुक्यों की शक्ति के क्षीण होने पर जिन अन्य अनेक राजवंशों ने अपने स्वतन्त्र राज्य स्थापित किये, उनमें द्वारसमुद्र के होयसाल, वारंगल के काकतीय, कोंकण के शिलाहार, बनवासी के कदम्ब और तलकाड के गंग उल्लेखनीय हैं। पर इनके विषय में अधिक विस्तार के साथ लिख सकना सम्भव नहीं है। हम इन राजवंशों के सम्बन्ध में अत्यन्त संक्षिप्त रूप से ही परिचय देने का प्रयत्न करेंगे।

द्वारसमुद्र का होयसालवंश—देवगिरि के राजवंश के समान द्वारसमुद्र का होयसालवंश भी यादवकुल का था। इसीलिए इस वंश के राजाओं ने उत्कीर्ण लेखों में अपने को 'यादवकुलतिलक' कहा है। होयसालों के राज्य का क्षेत्र वर्तमान समय के माइसूर प्रदेश में था, और उनकी राजधानी द्वारसमुद्र थी। शुरू में उनकी स्थिति सामन्त राजाओं की थी, जो कभी दक्षिण के चोलों और कभी कल्याणी के चालुक्य राजाओं के आधिपत्य को स्वीकृत करते थे। जब कोई चोल राजा बहुत प्रतापी होता, तो वह होयसालों को अपना वशवर्ती बना लेता, और जब कोई चालुक्य राजा दक्षिण की ओर अपनी शक्ति का प्रसार करने में समर्थ होता, तो वह उन्हें अपने अधीन कर लेता। ग्यारहवीं सदी के पूर्वार्ध में होयसालों ने अपना उत्कर्ष शुरू किया, और धीरे-धीरे इस राजवंश की शक्ति बहुत अधिक बढ़ गयी। १११० ईस्वी मे विट्टिग विष्णु-वर्धन द्वारसमुद्र की राजगद्दी पर आरूढ़ हुआ। वह एक प्रतापी और महत्त्वाकांक्षी राजा था। उसने अपने राज्य को चालुक्यों की अधीनता से मुक्त कर अन्य राज्यों पर आक्रमण भी शुरू किये। सुदूर दक्षिण में चोल, पाण्ड्य और मलाबार के क्षेत्र में उसने

विजय-यात्राएँ कीं, और अपनी शक्ति को प्रदर्शित किया। इसमें सन्देह नहीं, कि उसके शासनकाल में होयसाल-राज्य बहुत शक्तिशाली हो गया था। ११४० में विष्णुवर्धन की मृत्यु हुई।

विष्णुवर्धन का पौत्र वीर बल्लाल होयसाल वंश का सबसे प्रसिद्ध राजा हुआ है। वह बारहवीं सदी के अन्तिम भाग में द्वारसमुद्र के राज्य का स्वामी बना था। इसके समय में कल्याणी के चालुक्यों की शक्ति बहुत क्षीण हो गयी थी, और दक्षिणापथ में उनका स्थान देवगिरि के यादवों ने ले लिया था। ११८७ ईस्वी में यादव राजा भिल्लम ने अन्तिम चालुक्य राजा सोमेश्वर चतुर्थ को परास्त कर किस प्रकार कल्याणी पर अधिकार कर लिया था, इसका उल्लेख हम इसी अध्याय में ऊपर कर चुके हैं। अतः जब वीर बल्लाल ने उत्तर की ओर अपनी शक्ति का विस्तार शुरू किया, तो उसका संघर्ष प्रधानतया यादवराजा भिल्लम के साथ ही हुआ। वीर बल्लाल भिल्लम को परास्त करने में समर्थ हुआ, और भिल्लम ने रणक्षेत्र में ही वीरगति प्राप्त की।

पर होयसालों का यह उत्कर्ष देर तक कायम नही रह सका। प्रतापी यादव राजा सिंघण (१२१०–१२४७) ने अपने पितामह के अपमान और पराजय का प्रतिशोध करने के लिए होयसालों पर आक्रमण किया, और उनके अनेक प्रदेशों को विजय कर लिया। इस समय होयसाल-राज्य के राजसिंहासन पर राजा नरसिंह विराजमान था, जो वीर बल्लाल का पुत्र था। नरसिंह के उत्तराधिकारी होयसाल राजाओं का इतिहास अन्धकार मे हैं। देवगिरि के यादवों के समान होयसालो की स्वतन्त्र सत्ता का अन्त भी अलाउद्दीन खिलजी द्वारा हुआ, जब कि उसके सेनापति मलिक काफूर ने दक्षिणी भारत की विजय करते हुए द्वारसमुद्र पर भी आक्रमण किया और उसे जीत लिया। अफगान सुलतान के इस आक्रमण के समय होयसाल राज्य का राजा वीर बल्लाल तृतीय था। उसे कैद करके दिल्ली ले जाया गया, और उसने अलाउद्दीन का वशवर्ती और करद होना स्वीकार कर लिया। पर जब वह अपने देश को वापस लौटा, तो उसने भी अफगान सुलतान का जुआ उतार फेंकने का प्रयत्न किया, यद्यपि इस में वह सफल नही हो सका।

वारंगल के काकतीय—आधुनिक समय के हैदराबाद क्षेत्र के पूर्वी भाग तेलिंगाना में काकतीय वंश का शासन था, और उसकी राजधानी वारंगल थी। कल्याणी के चालुक्यवंश के उत्कर्ष-काल में काकतीय-वंश के राजा चालुक्यों के सामन्त-रूप में अपने राज्य का शासन करते थे। पर जब बारहवीं सदी में चालुक्यों की शक्ति क्षीण हो गयी, तो प्रोलराज नामक काकतीय राजा ने १११७ ईस्वी के लगभग चालुक्य-आधिपत्य का अन्त कर अपने को स्वतन्त्र कर लिया। प्रोलराज काकतीयों का प्रथम स्वतन्त्र राजा था। उसके वंशजो मे सबसे पराक्रमी गणपति था, जिसने ११९९ से १२६१ तक शासन किया। वह एक महान् विजेता था, और चोल, देवगिरि, कलिंग, और गुजरात आदि की विजय-यात्राएँ कर उसने अपने पराक्रम का परिचय दिया था। चौदहवी सदी के प्रारम्भ मे जब अफगान सुलतान अलाउद्दीन खिलजी का प्रसिद्ध सेनापति मलिक काफूर दक्षिण-विजय के लिए निकला, तो देवगिरि के यादवों और द्वारसमुद्र के होयसालो के समान वारंगल के काकतीयों की भी उसने विजय की।

कोंकण के शिलाहार—इस राजवंश के राजाओं की स्थिति भी पहले सामन्तों के सदृश थी। जिस समय दक्षिणापथ में राष्ट्रकूटों की प्रभुता थी, तब (आठवीं-नवीं सदियों में) शिलाहारों के तीन राज्य उत्तरी कोंकण, दक्षिणी कोंकण और कोल्हापुर में विद्यमान थे। इनमें उत्तरी कोंकण का शिलाहार-राज्य मुख्य था। कोंकण के ये शिलाहार राजा राष्ट्रकूटों के सामन्त थे। पर जब दसवीं सदी के अन्तिम भाग में चालुक्यों के उत्कर्ष के कारण राष्ट्रकूटों की शक्ति क्षीण हुई, तो शिलाहारों ने भी अपनी स्वतन्त्रता की घोषणा कर दी। पर उनकी स्वतन्त्रता देर तक कायम नहीं रह सकी। अन्हिलवाडा के चौलुक्यों ने उन्हें अपनी अधीनता मानने के लिए विवश किया, और बाद में देवगिरि के यादव राजा सिंघण ने उन्हें विजय किया। सिंघण ने न केवल उत्तरी कोंकण को जीता, अपितु कोल्हापुर के शिलाहार वंश को भी उसने अपने अधीन किया। वस्तुतः, शिलाहारों ने बहुत कम समय तक स्वतन्त्रतापूर्वक शासन किया। विविध समयों में वे राष्ट्रकूट, चौलुक्य और यादव वंशों के राजाओं की महत्त्वाकांक्षाओं के शिकार बनते रहे।

बनवासी के कदम्ब—कदम्बवंश के राज्य की स्थापना चौथी सदी ईस्वी में हुई थी, जब कि मयूर शर्मा नामक व्यक्ति ने पल्लव राज्य के विरुद्ध विद्रोह करके कर्णाटक के प्रदेश में अपनी स्वतन्त्र सत्ता स्थापित कर ली थी। इस राज्य की राजधानी बनवासी थी। वातापी के चालुक्य वंश का उत्कर्ष होने पर कदम्बों की शक्ति क्षीण होनी शुरू हुई, और पुलकेशी द्वितीय ने उनकी स्वतन्त्र सत्ता का अन्त कर दिया। पर सामन्त रूप से कदम्ब वंश के राजा चालुक्यों और राष्ट्रकूटों के शासनकाल में भी कायम रहे। जब दसवी सदी के अन्तिम भाग में राष्ट्रकूट-साम्राज्य क्षीण हुआ, तो शिलाहारों के समान कदम्ब भी स्वतन्त्र हो गये, और उनके अनेक छोटे-छोटे राज्य कर्णाटक में स्वतन्त्र रूप से विद्यमान रहे।

तलकाड के गंग—वर्त्तमान माइसूर राज्य के क्षेत्र मे चौथी सदी ईस्वी में दिदिग कोंगरिवर्मा ने गंगराज्य की नींव डाली थी। पाँचवीं सदी में हरिवर्मा नामक एक प्रतापी राजा गंगवंश में हुआ, जिसने कावेरी नदी के तट पर तलवनपुर (तलकाड) को अपनी राजधानी बनाया। इस वंश के राजा भी पड़ोस के शक्तिशाली राजवंशों (पल्लव, राष्ट्रकूट, चालुक्य और चोल) द्वारा निरन्तर आक्रान्त होते रहे। अनेक बार गंग राज्य की स्थिति सामन्त व अधीनस्थ राज्य की-सी हो गयी, पर अवसर पाकर स्वतन्त्रता स्थापित कर लेने में इस वंश के राजाओं ने कभी प्रमाद नहीं किया।

बत्तीसवाँ अध्याय

सुदूर दक्षिण के विविध राज्य

(१) पल्लव-वंश

सुदूर दक्षिण के पल्लव, चोल, पाण्ड्य और केरल राज्य भारतीय इतिहास की मुख्य धारा से प्रायः पृथक् रहे हैं। प्राचीन काल में उत्तरी भारत में जो अनेक सुविस्तृत साम्राज्य स्थापित हुए सुदूर दक्षिण के राज्य उनके अन्तर्गत नहीं थे। मौर्य-साम्राज्य के उत्कर्ष-काल में दक्षिण में भी मौर्यों का शासन था, पर अशोक ने चोल, पाण्ड्य और केरल की गणना अपने 'विजित' मे न कर 'प्रत्यन्त' राज्यों में की है। गुप्त-वंश के प्रतापी राजा समुद्रगुप्त ने पल्लव-राज्य को परास्त कर अपने अधीन किया था, पर कुमारी अन्तरीप तक उसका आधिपत्य नहीं हो सका था। राजनीतिक इतिहास की दृष्टि से सुदूर दक्षिण के ये राज्य उत्तरी भारत से प्रायः पृथक् रहे, यद्यपि दक्षिणापथ के राष्ट्रकूट और चालुक्य राजाओं ने अनेक बार इस क्षेत्र में दूर-दूर तक विजय-यात्राएँ कीं। अनेक प्रतापी चोल-सम्राट् भी दक्षिणापथ को आक्रान्त कर उत्तरी भारत की दक्षिणी सीमा का उल्लंघन करने मे समर्थ हुए। पर इन अपवादों के कारण यह बात खण्डित नहीं होती, कि सुदूर दक्षिण के ये राज्य प्रायः शेष भारत से पृथक् ही रहे। इन राज्यों के निवासी भाषा, नसल आदि की दृष्टि से भी उत्तरी भारत के आर्यों से भिन्न थे। पर बहुत प्राचीन समय से उत्तरी भारत के आर्यों ने सुदूर दक्षिण में अपना प्रसार प्रारम्भ कर दिया था, और वहाँ बसे हुए द्रविड़ लोग उनकी सभ्यता, धर्म और संस्कृति से प्रभावित होने लग गए थे। यही कारण है, कि दक्षिणी भारत के इन राज्यों की जनता धर्म और संस्कृति की दृष्टि से उत्तरी भारत के आर्य-निवासियों से बहुत भिन्न नही थी।

पल्लव वंश—पल्लव वंश के राजाओं का मूल कहाँ से हुआ, इस प्रश्न को लेकर ऐतिहासिकों ने बहुत तर्क-वितर्क किया है। एक मत यह है, कि पल्लव लोग पल्हव या पार्थियन थे, जिन्होंने शकों के कुछ समय बाद भारत में प्रवेश कर उत्तर-पश्चिमी क्षेत्र में अपने स्वतन्त्र राज्य स्थापित किए थे। शक राजा रुद्रदामा का एक अमात्य सौराष्ट्र पर शासन करने के लिए नियुक्त था, जिसका नाम सुविशाख था। वह जाति से पल्हव या पार्थियन था। सम्भवतः, इसी प्रकार के पल्हव अमात्य सातवाहन सम्राटों की ओर से भी नियत किये जाते थे, और उन्हीं मे से किसी ने दक्षिण के पल्लव-राज्य की स्थापना की थी। अब प्रायः ऐतिहासिक लोग पल्लवों का पल्हवों या पार्थियनों से कोई सम्बन्ध नहीं मानते। काशीप्रसाद जायसवाल के अनुसार पल्लव लोग ब्राह्मण थे, क्योंकि वे अपने को द्रोणाचार्य और अश्वत्थामा का वंशज मानते थे।

इतना निश्चित है, कि पल्लव-राज्य की स्थापना उस समय में हुई, जबकि सातवाहन-साम्राज्य खण्ड-खण्ड हो गया था। इस वंश द्वारा शासित प्रदेश पहले सातवाहनों की अधीनता में थे। यह माना जा सकता है, कि पल्लव-राज्य का संस्थापक पहले सातवाहनों द्वारा नियुक्त प्रान्तीय शासक था, और उसने अपने अधिपति की निर्बलता से लाभ उठाकर अपने को स्वतन्त्र कर लिया था। पल्लव वंश की सत्ता का संस्थापक यह पुरुष सम्भवतः बप्पदेव था। कांचीपुरम् में उपलब्ध हुए दो ताम्रपत्रों से इस वंश के प्रारम्भिक इतिहास के विषय में अनेक महत्त्वपूर्ण बातें ज्ञात होती हैं। इन ताम्रपत्रों पर 'स्कन्दवर्मा' नाम के एक राजा के दान पुण्य को उत्कीर्ण किया गया है, जिसे एक लेख में 'युवमहाराज' और दूसरे में 'धम्ममहाराजाधिराज' कहा गया है। इससे सूचित होता है, कि एक दानपत्र उसने तब उत्कीर्ण करवाया था, जब कि वह युवराज था और दूसरा उस समय जब कि वह महाराजाधिराज बन गया था। उसने अग्निष्टोम, वाजपेय और अश्वमेध यज्ञों का अनुष्ठान कर अपनी शक्ति का उत्कर्ष किया, और तुंगभद्रा एवं कृष्णा नदियों द्वारा सिंचित प्रदेश में शासन करते हुए काञ्ची को अपनी राजधानी बनाया।

गुप्त सम्राट् समुद्रगुप्त ने दक्षिणी भारत में विजययात्रा करते हुए पल्लव-राज विष्णुगोप को भी आत्मसमर्पण के लिए विवश किया था। समुद्रगुप्त की यह विजय-यात्रा चौथी सदी के मध्य भाग में हुई थी। कठिनाई यह है, कि पल्लवों के प्रारम्भिक इतिहास को जानने के लिए उत्कीर्ण लेखों के अतिरिक्त अन्य कोई साधन हमारे पास नहीं है। इन लेखों में पल्लव-वंश के राजाओं के अपने शासनकाल की तिथियाँ तो दी हुई हैं, पर इन राजाओं में कौन पहले हुआ और कौन पीछे, यह निर्धारित कर सकना सम्भव नहीं है।

महेन्द्रवर्मा—छठी सदी से पल्लवों का इतिहास अधिक स्पष्ट हो जाता है। इस सदी के अन्तिम भाग मे सिंहविष्णु नाम के राजा ने दूर-दूर तक विजययात्राएँ कर अपनी शक्ति का उत्कर्ष किया, और दक्षिण दिशा में आक्रमण कर उसने चोल और पाण्ड्य राज्यों को जीत लिया। प्रसिद्ध चालुक्य-सम्राट् पुलकेशी द्वितीय के समय में पल्लववंश का राजा महेन्द्रवर्मा प्रथम था, जो सातवीं सदी के शुरू मे हुआ था। पुलकेशी द्वितीय महान् विजेता था, और उसने नर्मदा नदी के दक्षिण में अपने विशाल साम्राज्य का विस्तार किया था। पल्लवराज महेन्द्रवर्मा के साथ उसके अनेक युद्ध हुए, जिनमें पुलकेशी द्वितीय विजयी हुआ। कसक्कुडी ताम्रपत्रों से ज्ञात होता है, कि किसी युद्ध में महेन्द्रवर्मा ने भी पुलकेशी को परास्त किया था। पर इसमें सन्देह नही, कि चालुक्य-सम्राट् पल्लवों के अनेक प्रदेशों को स्थायी रूप से अपनी अधीनता में लाने में समर्थ हुआ था। वेङ्गि को पल्लवों से जीतकर पुलकेशी द्वितीय ने अपने छोटे भाई कुब्ज विष्णुवर्धन को वहाँ का शासक नियुक्त किया था, और इस प्रदेश के चालुक्य शासक ही आगे चलकर 'वेङ्गि के पूर्वी चालुक्य' नाम से विख्यात हुए। पुलकेशी द्वितीय से परास्त हो जाने पर भी महेन्द्रवर्मा काञ्ची में अपनी स्वतन्त्र सत्ता को कायम रखने में समर्थ रहा। पल्लव-वंश के इतिहास में इस राजा का बहुत अधिक महत्त्व है। उसने ब्रह्मा, विष्णु और शिव के बहुत-से मन्दिर अपने राज्य में बनवाये, और 'चैत्यकारी' का विरुद धारण किया।

वह कविता और साहित्य का भी प्रेमी था। 'मत्तविलासप्रहसन' नामक उसकी रचना उसकी काव्यप्रियता की परिचायक है।

नरसिंहवर्मा प्रथम—महेन्द्रवर्मा के बाद उसका पुत्र नरसिंहवर्मा प्रथम काञ्ची के राजसिंहासन पर आरूढ हुआ। वह इस वंश का सबसे अधिक शक्तिशाली राजा था। उसने पल्लवों की सैन्यशक्ति को पुन: संगठित कर उत्तर दिशा में विजययात्रा प्रारम्भ की, और चालुक्यराज पुलकेशी द्वितीय को परास्त कर वातापी पर कब्जा कर लिया। नरसिंहवर्मा की सेना के साथ युद्ध करते हुए ही पुलकेशी ने वीरगति प्राप्त की थी। प्रतापी चालुक्यों को परास्त कर उनकी राजधानी वातापी को जीत लेना नरसिंह-वर्मा के जीवन की सबसे गौरवमय घटना है। इसीलिए उसने 'वातापीकोण्ड' का विरुद भी अपने नाम के साथ जोड़ लिया। सिंहलद्वीप पर आक्रमण करके नरसिंहवर्मा ने अपनी नौसेना की शक्ति का भी परिचय दिया। सिंहल के राजसिंहासन पर किसका अधिकार हो, इस प्रश्न को लेकर वहाँ गृहकलह चल रहा था। राजपद के अन्यतम उम्मीदवार मानवम्म ने नरसिंहवर्मा की शरण ली, और उसकी सहायता के लिए पल्लवराज ने दो बार नौसेना द्वारा सिंहल पर आक्रमण किया। नरसिंहवर्मा का एक विरुद 'महामल्ल' भी था, इसी को लेकर उसने 'महामल्लपुरम्' नामक एक नये नगर की स्थापना की। इस नगर में उसने अनेक विशाल मन्दिरों का निर्माण कराया, जिनमें से धर्मराजरथ-मन्दिर अब तक भी विद्यमान है, और उसके गौरव व महत्ता का साक्षी है।

भारत का पर्यटन करते हुए चीनी यात्री ह्यु एन-त्साग पल्लव राज्य में भी गया था। उसने इस प्रदेश को 'रत्नों का आकर' लिखा है। इस प्रसिद्ध चीनी यात्री के अनुसार काञ्ची में १०० संघाराम थे, जिनमें १००० भिक्षु निवास करते थे। बौद्ध-विहारों के अतिरिक्त अन्य धर्मों के भी ८० मन्दिर और बहुत-से चैत्य वहाँ थे।

परमेश्वरवर्मा—नरसिंहवर्मा के बाद उसका पुत्र महेन्द्रवर्मा द्वितीय और फिर उसका पौत्र परमेश्वरवर्मा पल्लवराज्य के स्वामी बने। परमेश्वरवर्मा का समकालीन चालुक्यराजा विक्रमादित्य प्रथम था, जो पुलकेशी द्वितीय के समान ही वीर और विजेता था। विक्रमादित्य ने न केवल वातापी को पल्लवों की अधीनता से मुक्त किया, अपितु परमेश्वरवर्मा को युद्ध में बुरी तरह परास्त कर काञ्ची पर भी अपना अधिकार कर लिया। पर जिस प्रकार पल्लव लोग वातापी पर स्थायी रूप से शासन नहीं कर सके थे, वैसे ही चालुक्य भी काञ्ची को देर तक अपनी अधीनता में नहीं रख सके। शीघ्र ही परमेश्वरवर्मा ने अपनी सैन्यशक्ति को पुन: संगठित कर लिया, और पेरुवडनल्लुर के युद्ध में चालुक्यराज विक्रमादित्य से अपनी पहली पराजय का बदला लिया।

नरसिंहवर्मा द्वितीय—परमेश्वरवर्मा के प्रताप और पराक्रम से पल्लवों की शक्ति इतनी बढ़ गयी थी, कि जब सातवीं सदी के अन्त में उसकी मृत्यु के बाद नरसिंह-वर्मा द्वितीय काञ्ची के राजसिंहासन पर आरूढ हुआ, तो उसे किसी बड़े युद्ध में जूझने की आवश्यकता नहीं हुई। नरसिंहवर्मा द्वितीय का शासन-काल शांति और व्यवस्था का काल था, और इसीलिए वह अपनी शक्ति को निश्चिन्तता पूर्वक मन्दिरों के निर्माण में लगा सका। काञ्ची (काञ्जीवरम्) के कैलाशनाथ और ऐरावतेश्वर के विशाल

मन्दिर और महाबलिपुरम् के अनेक प्रसिद्ध मन्दिर राजा नरसिंहवर्मा द्वितीय के ही बनवाये हुए हैं।

नन्दिवर्मा—नरसिंहवर्मा का उत्तराधिकारी परमेश्वरवर्मा द्वितीय था। उसके शासनकाल में भी पल्लव राज्य में शान्ति और व्यवस्था कायम रही। पर आठवीं सदी के प्रथम चरण में जब उसकी मृत्यु हो गयी, तो काञ्ची के राजसिंहासन के लिए अनेक राजकुमारों में गृहकलह प्रारम्भ हुआ, जिसमें नन्दिवर्मा सफल हुआ। गृहकलह के काल में वातापी के चालुक्य राजाओं ने फिर पल्लव राज्य पर आक्रमण किया, और उसे जीत कर अपने अधीन कर लिया। पल्लवों को परास्त कर काञ्ची पर अपना आधिपत्य स्थापित करने वाले इस वीर चालुक्य राजा का नाम विक्रमादित्य द्वितीय था। नन्दिवर्मा ने पल्लवों की सैन्यशक्ति को पुनः संगठित किया, और काञ्ची को चालुक्यों की अधीनता से मुक्त किया। निःसन्देह, नन्दिवर्मा बहुत वीर और महत्त्वाकांक्षी राजा था। वह केवल पल्लवों की स्वतन्त्र सत्ता स्थापित करके ही सन्तुष्ट नहीं हो गया, अपितु दक्षिण दिशा में विजय-यात्राएँ करके चोल और पाण्ड्य देशों में भी उसने अपनी शक्ति का परिचय दिया।

पल्लव शक्ति का अन्त—इसमें सन्देह नहीं, कि नन्दिवर्मा पल्लवराज्य की शक्ति को पुनः स्थापित करने में समर्थ हुआ था, पर उसका कार्य देर तक स्थिर नहीं रह सका। उधर दक्षिणापथ में इस समय चालुक्यों का अन्त होकर राष्ट्रकूटों की सत्ता स्थापित हो गयी थी। ये राष्ट्रकूट राजा बड़े प्रतापी और महत्त्वाकांक्षी थे, और उत्तर व दक्षिण दोनों दिशाओं मे अपने साम्राज्य का विस्तार करने के लिए प्रयत्नशील थे। राष्ट्रकूट राजा गोविन्द तृतीय ने दक्षिण की विजय करते हुए काञ्ची पर भी आक्रमण किया, और नवीं सदी के प्रथम चरण में पल्लवों को बुरी तरह से परास्त किया।

पल्लवों को न केवल उत्तर की ओर से किये जाने वाले राष्ट्रकूट आक्रमणों का ही सामना करना था, अपितु चोल-राज्य के राजा भी अपनी शक्ति का विस्तार करने के प्रयत्न में इस समय उत्तर की ओर आक्रमण करने में तत्पर थे। चक्की के इन दो पाटों के बीच मे आकर पल्लव राज्य के लिए अपनी स्वतन्त्र सत्ता को कायम रख सकना सम्भव नहीं रहा। नवी सदी के अन्त मे (६८५ ई० प० के लगभग) चोल राजा आदित्य ने पल्लव राजा अपराजितवर्मा को पराजित कर काञ्ची पर कब्जा कर लिया, और इस प्रकार पल्लव राजवंश की स्वतन्त्र सत्ता का सदा के लिए अन्त कर दिया।

(२) चोल साम्राज्य

वर्तमान समय के तंजोर, त्रिचनापली और पुदुकोटा के प्रदेशों में प्राचीन समय में 'चोलमण्डल' का राज्य था, जिसका क्षेत्र उसके राजा की शक्ति के अनुसार घटता-बढ़ता रहता था। इस राज्य की कोई एक राजधानी नहीं थी। भिन्न-भिन्न समयों में उरयपुर (वर्तमान उरैयूर, त्रिचनापली के पास) तंजोर और गंगैकोण्ड-चोलपुरम् (पुहार) को राजधानी बनाकर इसके विविध राजाओं ने शासन किया। चोलमण्डल का प्राचीन इतिहास स्पष्ट रूप से ज्ञात नहीं है। पल्लव-वंश के राजा उस पर बहुधा

आक्रमण करते रहते थे, और उसे अपने राज्य-विस्तार का उपयुक्त क्षेत्र मानते थे। वातापी के चालुक्य राजा भी दक्षिण दिशा में विजय-यात्रा करते हुए उसे आक्रान्त करते रहे। यही कारण है, कि नवीं सदी के मध्य भाग तक चोलमण्डल के इतिहास का विशेष महत्त्व नहीं है, और वहाँ कोई ऐसा प्रतापी राजा नहीं हुआ, जो कि अपने राज्य के उत्कर्ष में विशेष रूप से समर्थ हुआ हो।

विजयालय—चोलमण्डल की शक्ति का उत्कर्ष राजा विजयालय द्वारा हुआ, जो कि ८६४ ईस्वी के लगभग राजसिंहासन पर आरूढ़ हुआ था। उससे पूर्व चोलों की स्थिति पल्लव-वंश के सामन्तों के सदृश थी। पर विजयालय ने पल्लवों की अधीनता से चोलमण्डल को मुक्त किया, और स्वतन्त्रतापूर्वक शासन करना शुरू किया। उसकी राजधानी तंजोर थी।

आदित्य—८८० ईस्वी के लगभग विजयालय का पुत्र आदित्य चोलमण्डल का स्वामी बना। उसने पल्लव-राजा अपराजितवर्मा को परास्त कर ८६५ ई० के लगभग काञ्ची पर कब्जा कर लिया, और सम्पूर्ण पल्लव-राज्य को अपनी अधीनता में ले लिया। पल्लवो की पराजय के कारण आदित्य के चोल राज्य की उत्तरी सीमा दक्षिणापथपति राष्ट्रकूटों के राज्य की दक्षिणी सीमा के साथ आ लगी। तलकाड के गंग-राज्य पर आक्रमण कर आदित्य ने उसे भी जीत लिया, और गंग-वंश के राजा को अपना सामन्त बनाया।

परान्तक प्रथम (६०८–६४६)—आदित्य की मृत्यु के बाद उसका पुत्र परान्तक चोल राज्य का स्वामी बना। उसने दक्षिण की ओर आक्रमण कर पाण्ड्य राज्य को जीत लिया, और कुमारी अन्तरीप तक अपनी शक्ति का विस्तार किया। वह समुद्र पार कर सिंहलद्वीप (लंका) को भी आक्रान्त करना चाहता था, पर इसमें उसे सफलता नही हुई। जिस समय परान्तक सुदूर दक्षिण के युद्ध में व्यापृत था, काञ्ची के पल्लव-कुल ने अपने लुप्त गौरव की पुनः प्रतिष्ठा का प्रयत्न किया। पर चोलराज ने उसे बुरी तरह से कुचल डाला, और भविष्य में पल्लवों ने फिर कभी अपने उत्कर्ष का प्रयत्न नहीं किया।

यद्यपि परान्तक पल्लवों का पराभव करने में सफल हो गया, पर शीघ्र ही उसे एक नए शत्रु का सामना करना पड़ा। मान्यखेट का राष्ट्रकूट राज्य चोल राज्य के उत्तर मे स्थित था, और वहाँ के राजा चोलों की बढ़ती हुई शक्ति से बहुत चिन्तित थे। राष्ट्रकूट राजा कृष्ण तृतीय (६४०-६६८) ने दक्षिण के इस नये शत्रु का मुकाबला करने के लिये विजय-यात्रा प्रारम्भ की, और काञ्ची को एक बार फिर राष्ट्रकूट-साम्राज्य के अन्तर्गत किया। पर कृष्ण तृतीय केवल काञ्ची की विजय से ही संतुष्ट नही हुआ। उसने दक्षिण दिशा में आगे बढ़कर तञ्जोर पर भी आक्रमण किया, जो इस समय चोल राज्य की राजधानी था। तंजोर को जीतकर उसने 'तंजजयुकोण्ड' की उपाधि धारण की, और कुछ समय के लिए चोल राज्य की स्वतन्त्र सत्ता का अन्त कर दिया। चोलराज परान्तक के पुत्र राजादित्य ने राष्ट्रकूटों से युद्ध करते हुए वीरगति प्राप्त की। राष्ट्रकूटों के उत्कर्ष के कारण दसवीं सदी के मध्य भाग में चोलों की शक्ति बहुत मन्द पड़ गयी थी। यही कारण है, कि परान्तक प्रथम के पश्चात् जिन अनेक

राजाओं ने दसवीं सदी के अन्त तक तंजोर में शासन किया, उनकी स्थिति स्थानीय राजाओं के सदृश थी।

राजराज प्रथम—पर चोलराज्य की यह दुर्दशा देर तक कायम नहीं रही। ९८५ ईस्वी में इस राज्य का स्वामी राजराज प्रथम बना, जो बहुत ही प्रतापी और महत्त्वाकांक्षी था। इस समय तक दक्षिणापथ में राष्ट्रकूटों की शक्ति क्षीण हो चुकी थी, और उनका अन्त कर चालुक्य-वंश ने कल्याणी को राजधानी बनाकर अपनी शक्ति स्थापित कर ली थी। दक्षिणापथ में राज-परिवर्तन के कारण जो स्थिति उत्पन्न हो गयी थी, राजराज प्रथम ने उससे पूरा लाभ उठाया, और अपने राज्य का विस्तार शुरू किया। सबसे पूर्व उसने चोलमण्डल के दक्षिण में स्थित पाण्ड्य और केरल राज्यों पर आक्रमण किए, और उन्हें जीतकर कन्याकुमारी तक अपने राज्य को विस्तृत कर लिया। समुद्र पार कर उसने सिंहलद्वीप में भी विजय-यात्रा की, और उसके उत्तरी प्रदेश को भी अपने राज्य में शामिल किया। पश्चिम दिशा में उसने द्वारसमुद्र के होयसवाल-राज्य की विजय की, और उसके राजा को अपना सामन्त बनाया। पाण्ड्य, केरल और द्वारसमुद्र को जीत लेने के बाद राजराज प्रथम ने उत्तर दिशा में आक्रमण किया, जहाँ अब चालुक्य राजा सत्याश्रय (९९७-१००८) का शासन था। सत्याश्रय को परास्त कर कुछ समय के लिए राजराज ने कल्याणी पर भी कब्जा किया, यद्यपि दक्षिणापथ को स्थायी रूप से अपने आधिपत्य में रखने का यत्न उसने नहीं किया। दक्षिणापथ पर चोलराज का यह आक्रमण एक विजय-यात्रा के अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं था। इसीलिए राजराज के वापस लौट आने पर सत्याश्रय ने दक्षिणापथ पर फिर अधिकार कर लिया। कल्याणी की विजय के बाद राजराज प्रथम ने वेङ्गि के पूर्वी चालुक्य-राज्य पर चढ़ाई की, और उसके राजा शक्तिवर्मा के साथ उसके अनेक युद्ध हुए। शक्तिवर्मा के उत्तराधिकारी विमलादित्य (१०११-१०१८) ने राजराज के आक्रमणों से परेशान होकर उसकी अधीनता स्वीकृत कर ली, और चोलराज ने भी अपनी पुत्री का विवाह विमलादित्य के साथ कर उसे अपना सम्बन्धी और परम सहायक बना लिया।

नौसेना की दृष्टि से भी राजराज प्रथम बहुत शक्तिशाली था। समुद्र पार कर जिस प्रकार उसने सिंहलद्वीप पर आक्रमण किया था, वैसे ही उसने लक्कदीव और मालदीव नामक द्वीपों की भी विजय की। इसमें सन्देह नहीं, कि राजराज प्रथम एक अत्यन्त प्रतापी राजा था, और उसके नेतृत्व में चोल राज्य ने बहुत अधिक उन्नति की। तंजोर में विद्यमान राजराजेश्वर शिवमन्दिर उसके वैभव का सर्वोत्कृष्ट स्मारक है, और उसकी दीवार पर उत्कीर्ण प्रशस्ति ही उसके इतिहास का परिचय प्राप्त करने का मुख्य साधन है। ९८५ से १०१२ ईस्वी तक राजराज प्रथम ने शासन किया। इस काल में चोल राज्य की बहुत उन्नति हुई।

राजेन्द्र प्रथम (१०१२-१०४४)—चोलमण्डल का सबसे प्रतापी राजा राजेन्द्र प्रथम था, और उसके शासनकाल में चोल राज्य उन्नति की चरम सीमा को पहुँच गया था। उसने सिंहल द्वीप पर आक्रमण कर उसे अविकल रूप से अपने अधीन किया, और सम्पूर्ण सिंहल को चोल साम्राज्य में सम्मिलित कर लिया। पाण्ड्य और केरल राज्यों पर उसने चोलों के आधिपत्य को और अधिक दृढ़ किया, और उनका शासन करने के

लिए अपने पुत्र जटावर्मा को नियत किया। इस प्रकार सुदूर दक्षिण के सब प्रदेशों को पूर्ण रूप से अपने शासन में लाकर राजेन्द्र ने दक्षिणापथ की ओर दृष्टि फेरी, और कल्याणी के चालुक्यों के साथ युद्ध शुरू किये। कल्याणी के राजसिंहासन पर इस समय जयसिंह जगदेकमल्ल आरूढ़ था। उसे अनेक बार चोल सेनाओं द्वारा परास्त होना पड़ा। वेङ्गि के चालुक्य राजा इस समय चोलों के निकट सम्बन्धी व परम सहायक थे, अतः उनके साथ युद्ध करने की राजेन्द्र को कोई आवश्यकता नहीं हुई। वे चोलसम्राट् की अपना अधिपत्ति स्वीकृत करते थे। दक्षिणापथ के चालुक्य राजा जयसिंह को परास्त करने के बाद अब राजेन्द्र ने उत्तरी भारत पर हमला किया, और विजय-यात्रा करते-करते गंगा नदी के तट पर पहुँच गया। उत्तरी भारत की विजय-यात्रा में जिन राज्यों को राजेन्द्र ने आक्रान्त किया, उनमें कलिंग, दक्षिण कोशल, दण्डभुक्ति (बालासोर और मिदनापुर,) राढ, पूर्वी बंगाल और गौड़ के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। उत्तर-पूर्वी भारत में इस समय पालवंशी राजा महीपाल का शासन था। राजेन्द्र ने उसे परास्त किया, और गंगा के तट पर पहुँचकर 'गंगैकोण्ड' की उपाधि धारण की। पर उत्तरी भारत में स्थायी रूप से शासन करने का प्रयत्न राजेन्द्र ने नहीं किया। स्थल में अपने साम्राज्य का विस्तार कर चोलराज्य ने समुद्र-पार भी अनेक आक्रमण किये, और पेगू (बरमा में) के राज्य को जीत लिया। निःसन्देह, राजेन्द्र प्रथम अनुपम वीर और विजेता था। उसकी शक्ति केवल स्थल में ही प्रगट नहीं हुई, नौ-सेना द्वारा उसने समुद्र-पार भी विजय-यात्राएँ की।

'गंगैकोण्डचोलपुरम्' नामक नगरी की स्थापना कर राजेन्द्र ने उसे अपनी राजधानी बनाया, और उसे अनेक मन्दिरों व एक विशाल सरोवर से विभूषित किया।

राजाधिराज (१०४४–१०५२)—राजेन्द्र प्रथम की मृत्यु के अनन्तर उसका पुत्र राजाधिराज चोल-साम्राज्य का स्वामी बना। उसकी शक्ति का उपयोग प्रधानतया उन विद्रोहों को शान्त करने में हुआ, जो उसके विशाल साम्राज्य में समय-समय पर होते रहते थे। विशेषतया, पाण्ड्य, केरल और सिंहल के राज्यों ने राजाधिराज के शासन-काल में स्वतन्त्र होने का प्रयत्न किया, पर चोलराज ने उन्हें बुरी तरह से कुचल डाला। सुदूर दक्षिण के प्रदेशों में अपने शासन को सुव्यवस्थित रूप से स्थापित कर राजाधिराज ने कल्याणी के चालुक्य राज्य के साथ संघर्ष शुरू किया। पर इन युद्धों में उसे सफलता नहीं हुई, और चालुक्यों के साथ युद्ध करते हुए रणक्षेत्र में ही उसकी मृत्यु हो गई।

राजेन्द्र द्वितीय (१०५२–१०६३)—राजाधिराज की मृत्यु के बाद उसके छोटे भाई राजेन्द्र द्वितीय ने रणक्षेत्र में ही चोलों के राजमुकुट को अपने सिर पर धारण कर लिया, और चालुक्यराज सोमेश्वर प्रथम आहवमल्ल के साथ संघर्ष को जारी रखा। इन युद्धों में किसकी विजय हुई, यह निश्चित कर सकना सम्भव नहीं है, क्योंकि सोमेश्वर और राजेन्द्र द्वितीय दोनों ने ही अपनी प्रशस्तियों में अपनी विजयों का उल्लेख किया है। सम्भवतः, इन युद्धों में न चालुक्य राजा चोलों को परास्त कर सका, और न राजेन्द्र द्वितीय चालुक्यों को।

वीर राजेन्द्र (१०६३–१०७०)—राजेन्द्र द्वितीय के बाद उसका छोटा भाई वीर राजेन्द्र चोल-साम्राज्य का स्वामी बना। उसके शासनकाल में भी चालुक्यों के

साथ निरन्तर युद्ध होते रहे। वीर राजेन्द्र के शासनकाल में चालुक्यों और चोलों के संघर्ष में चोलों को सफलता मिली, और उसने तुंगभद्रा और कृष्णा नदियों के संगम पर चालुक्यराज सोमेश्वर प्रथम को परास्त किया।

अधिराजेन्द्र (१०७०)—वीर राजेन्द्र के बाद उसका पुत्र अधिराजेन्द्र राजा बना। पर वह चोल-साम्राज्य की शक्ति को अक्षुण्ण रखने में असमर्थ रहा। उसके शासनकाल में सर्वत्र विद्रोह शुरू हो गये, और इन्हीं के विरुद्ध संघर्ष करते हुए अपने राज्य के पहले साल में ही उसकी मृत्यु हो गयी।

कुलोत्तुंग (१०७०–११२२)—अधिराजेन्द्र के कोई सन्तान नहीं थी। इस दशा में चोल-राज्य के राजसिंहासन पर वेङ्गि का चालुक्य राजा राजेन्द्र कुलोत्तुंग आरूढ़ हुआ, जो चोल-राजकुमारी का पुत्र था। कुलोत्तुंग ने चोल-साम्राज्य में व्यवस्था स्थापित रखने के कार्य मे अद्भुत पराक्रम प्रदर्शित किया। पर इस समय अनेक राजवंश प्रबल होने शुरू हो गये थे, और उनके साथ निरन्तर संघर्ष करते रहने के कारण चोल राजा की शक्ति क्षीण होनी प्रारम्भ हो गयी थी। पर कुलोत्तुंग के शासनकाल में चोल राज्य की शक्ति बहुत कुछ कायम रही, यद्यपि इसके लिए उसे निरन्तर युद्धों मे व्यापृत रहना पड़ा।

चोल-राज्य का अन्त—कुलोत्तुंग के उत्तराधिकारी निर्बल थे। वे अपने राज्य को अक्षुण्ण बना रखने में असमर्थ रहे। सुदूर दक्षिण में पाण्ड्य, केरल और सिंहल-राज्यों में विद्रोह की प्रवृत्ति बहुत बढ़ गयी, और वे चोलों की अधीनता से मुक्त हो गये। समुद्र-पार के जिन द्वीपों व प्रदेशो पर राजेन्द्र प्रथम द्वारा आधिपत्य स्थापित किया गया था, उन्होंने भी अब स्वतन्त्रता प्राप्त कर ली। द्वारसमुद्र के होयसाल और इसी प्रकार के अन्य राजवंशों के उत्कर्ष के कारण चोल राज्य अब सर्वथा क्षीण हो गया। चोलों के अनेक सामन्त इस समय निरन्तर विद्रोह के लिए तत्पर रहते थे, और चोल राजवंश के अन्तःपुर व राजदरबार भी षड्यन्त्रों के अड्डे बने हुए थे। इस स्थिति में चोल राजाओं की स्थिति सर्वथा नगण्य हो गयी थी।

(३) पाण्ड्य और केरल

तमिलनाड में जहाँ आजकल मदुरा और तिनेवली के जिले हैं, वहीं प्राचीन समय में पाण्ड्य-राज्य की स्थिति थी। चोलमण्डल के समान पाण्ड्य-राज्य की सीमा भी उसके राजा की शक्ति के अनुसार घटती-बढ़ती रही। इस राज्य की राजधानी मदुरा थी, जो तमिल संस्कृति और साहित्य का सुप्रसिद्ध केन्द्र था। पाण्ड्य-राज्य का प्राचीन राजनीतिक इतिहास अन्धकार में है, यद्यपि साहित्य द्वारा इस राज्य के कतिपय राजाओं के नाम हमे ज्ञात है। छटी सदी के अन्तिम भाग में कडुगोन नामक राजा ने पाण्ड्य-राज्य के उत्कर्ष का सूत्रपात किया। उसके वंश के अरिकेशरी मारवर्मा, कोच्चडयन्, रणधीर, मारवर्मा, राजसिंह प्रथम और नेडुन्जडयन् वरगुण नामक राजा हुए, जिनके शासनकाल में पाण्ड्य राज्य ने अच्छी उन्नति की, और समीप के प्रदेशों को जीतकर अपने राज्य के क्षेत्र को विस्तृत भी किया। ये राजा आठवी सदी में हुए थे। पाण्ड्य देश के बाद के राजाओं में श्रीमार श्रीवल्लभ बहुत प्रसिद्ध हुआ। उसका शासनकाल

लगभग ८१५ से ८३२ ईस्वी तक था। श्रीमार श्रीवल्लभ ने सिंहलद्वीप पर आक्रमण कर उसे अपने अधीन किया, और फिर चोल, पल्लव तथा गंग राजाओं को परास्त किया। नि सन्देह, श्रीवल्लभ इस राज्य का बहुत प्रतापी राजा था, और उसके समय में पाण्ड्य देश एक महत्त्वपूर्ण एव प्रबल राज्य बन गया था।

पर पाण्ड्य राज्य की यह समृद्धि देर तक कायम नही रही। दसवी सदी में चोल राज्य का किस प्रकार उत्कर्ष हुआ, इस पर हम पिछले प्रकरण मे प्रकाश डाल चुके हैं। चोलराज परान्तक प्रथम (९०७–९४९) ने अपने राज्य का विस्तार करते हुए पाण्ड्य देश पर भी आक्रमण किया, और उसे विजय कर लिया। इस समय मदुरा के राजसिंहासन पर मारवर्मा राजसिंह द्वितीय आरूढ था, जो परान्तक द्वारा परास्त हो गया, और मदुरा पर चोलराज का अधिकार हो गया। इसी उपलक्ष मे परान्तक ने 'मदुरैंकोण्ड' की उपाधि भी धारण की थी। चोलो की इस विजय के कारण पाण्ड्य देश की स्थिति एक सामन्त राज्य के सदृश रह गयी, क्योकि बाद के पाण्ड्य-राजा प्रतापी चोल-सम्राटों के विरुद्ध विद्रोह कर स्वतन्त्र होने की शक्ति नही रखते थे। पर इससे यह नहीं समझना चाहिये, कि पाण्ड्य राजाओं ने चोलो का जुआ उतार फेंकने का कभी प्रयत्न ही नहीं किया। दसवी सदी के मध्य मे जब राष्ट्रकूट राजा कृष्ण तृतीय ने चोलों को बुरी तरह से परास्त किया, तो पाण्ड्य राजा ने इस स्थिति से लाभ उठाकर स्वतन्त्र होने का प्रयत्न किया। पर जो प्रतापी राष्ट्रकूट-सम्राट् चोलो को जीतने में समर्थ हुआ था, उसने पाण्ड्य-राज्य को भी अपना वशवर्ती बना लिया, और अपने पुत्र जटावर्मा को वहाँ का शासन करने के लिए नियत किया। इसके बाद भी अनेक बार पाण्ड्य-राज्य ने स्वतन्त्र होने का प्रयत्न किया, पर बारहवी सदी के अन्त तक उसे सफलता प्राप्त नही हुई, और उसकी स्थिति अधीनस्थ राज्य के सदृश ही बनी रही।

बारहवी सदी के अन्त मे जब चोल राज्य निर्बल हो गया, तो पाण्ड्य राज्य को अपने उत्कर्ष का अवसर प्राप्त हुआ, और उसके राजा जटावर्मा कुलशेखर (११९०–१२१६) ने अपने को स्वतन्त्र कर लिया। अब एक बार फिर पाण्ड्य-राज्य का उत्कर्ष-काल प्रारम्भ हुआ, और वह सुदूर दक्षिण की प्रधान राजशक्ति बन गया। जटावर्मा कुलशेखर का उत्तराधिकारी मारवर्मा सुन्दर पाण्ड्य (१२१६–१२३८) था। उसने चोल राज्य पर आक्रमण कर उसे जीत लिया, और तजोर का ध्वस किया। इस समय पासा पलट गया था, और चोल मण्डल की स्थिति अधीनस्थ सामन्त राज्य की रह गयी थी। मारवर्मा के बाद के पाण्ड्य-राजाओं मे जटावर्मा सुन्दर पाण्ड्य (१२५१–१२७२) बहुत प्रसिद्ध हुआ। चोल मण्डल से भी आगे बढकर उसने काञ्ची पर अधिकार कर लिया। दक्षिण भारत के होयसाल, काकतीय आदि राजवशो के अन्य अनेक राज्यो को भी इस प्रतापी राजा ने अपने अधीन किया। तेरहवी सदी इस राज्य के उत्कर्ष की सदी थी, और इसके राजा जहाँ वीर और प्रतापी थे, वहाँ साथ ही मन्दिरो का निर्माण कर अपने राज्य के नगरो को विभूषित करने पर भी वे बहुत ध्यान देते थे। चौदहवीं सदी के प्रारम्भ भाग में जब अलाउद्दीन खिलजी के सेनापति मलिक काफूर ने दक्षिणी भारत की विजय-यात्रा की, तो उसने मदुरा का भी ध्वस किया। इसी समय पाण्ड्य राज्य की स्वतन्त्रता और उत्कर्ष का अन्त हुआ।

तेंतीसवां अध्याय

पूर्व-मध्य युग की सभ्यता और संस्कृति

(१) पूर्व-मध्य युग की विशेषताएँ

छठी शताब्दी में गुप्त-साम्राज्य का क्षय हुआ, और बारहवीं सदी के अन्त तक उत्तरी भारत के बड़े भाग पर मुसलिम आक्रान्ताओं का शासन स्थापित हो गया। सातवीं सदी से बारहवीं सदी तक—छः शताब्दियों को भारत के इतिहास का पूर्व-मध्य-युग कहा जा सकता है। इस युग की मुख्य विशेषताएँ निम्नलिखित थीं :—

(१) इन सदियों में भारत में कोई ऐसी राजनीतिक शक्ति नहीं थी, जो देश के बड़े भाग पर अपना आधिपत्य स्थापित कर एक ऐसे साम्राज्य की नींव डालने में समर्थ होती, जिससे यह देश एक राजनीतिक सूत्र में संगठित रहता। राजनीतिक इतिहास की दृष्टि से यह युग अव्यवस्था का था। इस काल में अनेक ऐसे राजवंशों की सत्ता थी, जिनके राजा निरन्तर आपस में लड़ते रहते थे, और जो अनेक बार दूर-दूर तक विजय-यात्राएँ करके भी किसी स्थिर साम्राज्य की नींव डालने में असमर्थ रहते थे। सातवीं सदी के पूर्वार्ध में स्थाण्वीश्वर और कन्नौज के राजा हर्षवर्धन ने उत्तरी भारत में, और चालुक्य पुलकेशी द्वितीय ने दक्षिणापथ में विशाल साम्राज्यों का निर्माण किया। पर उनकी कृति देर तक स्थिर नहीं रही। आठवीं सदी में उत्तरी भारत में पाल, गुर्जरप्रतीहार, कर्कोट आदि राजवंशों ने और दक्षिणी भारत में राष्ट्रकूट,पल्लव, गंग, चोल, चालुक्य आदि राजवंशों ने शासन किया। यही दशा नवीं, दसवीं, ग्यारहवीं और बारहवीं सदियों में रही। यद्यपि इस काल में शासन करनेवाले राजवंशों में परिवर्तन होता रहा, पर राजनीतिक दशा में कोई अन्तर नहीं आया। कन्नौज में गुर्जरप्रतीहारों का स्थान गहड्वालों ने ले लिया, और दक्षिणापथ में राष्ट्रकूटों का स्थान कल्याणी के चालुक्यों ने। पर गुप्त-साम्राज्य के क्षय के बाद भारत में जो राजनीतिक अव्यवस्था उत्पन्न हो गयी थी, उसमें किसी प्रकार का अन्तर नहीं आया।

(२) प्राचीन बौद्ध-धर्म का स्वरूप इस युग में बहुत परिवर्तित हुआ। मन्त्र-शक्ति और तान्त्रिक क्रियाओं के प्रवेश के कारण बौद्ध-धर्म के रूप में बहुत परिवर्तन आ गया, और वज्रयानी बौद्ध-गुरु मन्त्र-सिद्धियों द्वारा अपने अनुयायियों का कल्याण करने के लिए प्रयत्नशील हुए। पौराणिक हिन्दू-धर्म में भी शाक्त (वाममार्गी) सम्प्रदाय के रूप में एक ऐसे मत का प्रादुर्भाव हुआ, जो वज्रयान से बहुत मिलता-जुलता था। बौद्ध और हिन्दू—दोनों धर्मों में वाममार्ग का प्रवेश इस युग की महत्त्वपूर्ण विशेषता है। इसके कारण भारत के प्राचीन धर्मों की शक्ति और महत्ता में बहुत अन्तर आया, और जीवन को नवस्फूर्ति, सदाचार भावना व उच्च आदर्शों से अनुप्राणित करने का जो

कार्य भारत के प्राचीन धर्म किया करते थे, उनका स्थान अब उन रहस्यमयी क्रियाओं ने ले लिया, जिनकी तह तक पहुँच सकना सर्वसाधारण जनता के लिए सर्वथा असम्भव था। इतना ही नही, भारत के धर्म मे इस समय वह शक्ति भी नहीं रह गयी, जो किसी समय यवन, शक, पार्थियन, कुशाण, हूण आदि विदेशी जातियों को आत्मसात् करने मे समर्थ हुई थी। दसवीं सदी के अन्त में जब महमूद गजनवी ने भारत पर आक्रमण किया, और तुर्क लोग भारत में बसने लगे, तो इस देश के शैव, वैष्णव आदि धर्म उन्हें अपना अनुयायी बनाने में या उन्हें अपने दायरे में ले सकने में असमर्थ रहे। बैक्ट्रिया के जिन यवनों ने दूसरी सदी ई० पू० में भारत में प्रवेश किया था, सभ्यता व संस्कृति की दृष्टि में वे अच्छे उन्नत थे। पर फिर भी उन्होंने भारत के धर्म की दीक्षा ली। मुस्लिम तुर्कों व अफगानों को आत्मसात् करने के विषय में जो असामर्थ्य भारतीयों ने प्रदर्शित किया, उसमे इस्लाम की शक्ति जहाँ कारण थी, वहाँ भारतीय धर्मों का आन्तरिक ह्रास भी उसके लिए उत्तरदायी था।

(३) सामाजिक दृष्टि से इस युग में संकीर्णता उत्पन्न हुई। प्राचीन समय में भारत का सामाजिक संगठन वर्ण-धर्म के सिद्धान्त पर अवश्य आश्रित था, पर उस समय जातिभेद ने उग्र रूप धारण नहीं किया था। मनुष्य अपनी इच्छा के अनुसार शिल्प, व्यवसाय व पेशे का अनुसरण कर सकता था, और कर्म के अनुसार ऊँचे या नीचे वर्ण को भी प्राप्त कर सकता था। विविध वर्णों के लोगों में विवाह-सम्बन्ध भी निषिद्ध नही था, और खान-पान के मामले में भी लोग संकीर्ण विचार नहीं रखते थे। पर मध्यकाल से यह स्थिति बदल गयी, और जातिभेद उस रूप में आ गया, जिसमें कि वह आजकल पाया जाता है। भारतीय समाज के पुराने वर्णों, वर्गों, जनों (कबीलों) और श्रेणियो (व्यवसायी व व्यापारी वर्ग के संगठनों) का जात-पाँत के रूप में परिवर्तित हो जाना इस युग की एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण विशेषता है।

(४) यह सच है, कि इस युग में भी भारत में अनेक कवि, दार्शनिक, स्मृतिकार और विज्ञानवेत्ता हुए। पर साहित्य और ज्ञान के क्षेत्र में इस काल के भारतीयों ने उस असाधारण प्रतिभा का परिचय नहीं दिया, जो प्राचीन काल के विद्वानों ने प्रदर्शित की थी। इस युग के कवि और साहित्यिक वाल्मीकि और कालिदास का मुकाबला नही कर सकते। उनके काव्य में सौन्दर्य अवश्य है, पर उसका प्रधान कारण अलंकार है, स्वाभाविकता नही। इस युग के दार्शनिक सृष्टि के तत्त्वों की गहराई में पहुँचने का उतना प्रयत्न नही करते, जितना कि शब्दजाल द्वारा बाल की खाल उतारने के लिए करते है। यही कारण है, कि मौर्यों और गुप्तों के युग में भारत में जो असाधारण उन्नति हुई थी, उसकी प्रगति इस समय अवरुद्ध हो गयी। गणित, ज्योतिष आदि विज्ञानों के क्षेत्र में भी इस युग में कोई विशेष उन्नति नही हुई।

(२) चीनी यात्री ह्यु एन-त्सांग

इससे पूर्व कि हम मध्यकाल की शासन-व्यवस्था, साहित्य, कला आदि का विवेचन करें : यह उपयोगी होगा कि प्रसिद्ध चीनी यात्री ह्यु एन-त्सांग के सम्बन्ध में कुछ परिचय दिया जाए। यह चीनी यात्री मध्यकाल के आरम्भ में (सातवीं सदी के

पूर्वार्ध में) जब कन्नौज का राजा हर्षवर्धन उत्तरी भारत में सबसे अधिक शक्तिशाली राजा था, भारत की यात्रा के लिए आया था। भारत के सांस्कृतिक इतिहास में इस चीनी यात्री का बहुत अधिक महत्त्व है। इसने अपनी यात्रा का जो विवरण लिखा है, उससे भारत के प्राचीन इतिहास के सम्बन्ध में बहुत-सी महत्त्वपूर्ण बातें ज्ञात होती हैं, और साथ ही यह भी सूचित होता है कि सातवीं सदी में भारत और चीन में कितना घनिष्ठ सम्बन्ध था। ह्य, एन-त्सांग का महत्त्व केवल भारतीय इतिहास में ही नहीं है, अपितु चीन के बौद्ध लोगों में भी उसका नाम अत्यन्त श्रद्धा और आदर के साथ स्मरण किया जाता है। पश्चिमी चीन के सियान नामक स्थान पर उसकी समाधि अब तक भी विद्यमान है, जिस पर ये शब्द अंकित हैं—"यह महापुरुष उत्तर, दक्षिण, पूर्व और पश्चिम सब दिशाओं में गया, और वहाँ के दुर्गम मार्गों को उसने सुगम कर दिया, ताकि बाद के यात्रियों को उन पर आने-जाने में कठिनाई न हो।"

ह्य, एन-त्सांग ६२० ईस्वी के लगभग भारत पहुँचा, और १५ वर्ष तक इस देश में रहा। यहाँ उसने केवल बौद्ध धर्म का ही अनुशीलन नहीं किया, अपितु इस देश के समाज, रीतिरिवाज, ऐतिहासिक अनुश्रुति आदि का भी गम्भीरता से अनुशीलन किया। यही कारण है कि सातवीं सदी के भारत को भलीभाँति समझने के लिए ह्य, एन-त्सांग का भारत वर्णन विश्वकोष का काम देता है। इस चीनी यात्री का कुछ परिचय देना इस काल के इतिहास को समझने के लिए बहुत उपयोगी है।

६०० ईस्वी के लगभग कन्फ्यूसियस के धर्म को मानने वाले एक परिवार में ह्य, एन-त्सांग का जन्म हुआ था। उसके तीन भाई और थे। उम्र में वह सबसे छोटा था। छोटी आयु में ही उसका ध्यान बौद्ध-धर्म की ओर आकृष्ट हुआ, और उसने भिक्षु बनकर इस धर्म का भली-भांति अध्ययन करने का संकल्प किया। बीस वर्ष की आयु में वह भिक्षु हो गया, और चीन के विविध विहारों में जाकर बौद्ध-धर्म का अध्ययन करने लगा। चीन के स्थविरों से जो कुछ भी सीखा जा सकता था, वह सब उसने सीख लिया। पर उसे इससे सन्तोष नहीं हुआ। चीनी भाषा में अनूदित बौद्ध-ग्रन्थों से उसकी जिज्ञासा पूर्ण नहीं हुई। उसने विचार किया कि भारत जाकर बौद्ध-धर्म के मूल ग्रन्थों का अनुशीलन करे, और उन पवित्र तीर्थस्थानों का भी दर्शन करे, जिनसे भगवान् बुद्ध और उनके प्रमुख शिष्यों का सम्बन्ध है। सब समुचित तैयारी कर २९ वर्ष की आयु में ह्य, एन-त्सांग ने चीन से भारत के लिए प्रस्थान किया। इस समय चीन से भारत आने के लिए अनेक मार्ग थे, जिनमें से एक उत्तरी मध्य एशिया से होकर आता था। ह्य, एन-त्सांग ने इसी मार्ग का अवलम्बन किया, और वह तुर्फान, ताशकन्द, समरकन्द और काबुल होता हुआ भारत आया। चीन से भारत पहुँचने में उसे एक साल लगा।

हिन्दुकुश पर्वतमाला को पार कर वह कपिशा की राजधानी में शलोका नामक विहार में रहा। अपना चातुर्मास्य उसने वहीं व्यतीत किया। वहां से अन्य अनेक नगरों और विहारों की यात्रा करता हुआ वह काश्मीर गया। ह्य, एन-त्सांग काश्मीर में दो वर्ष तक रहा। इस युग में भी काश्मीर बौद्ध-धर्म का महत्त्वपूर्ण केन्द्र था। ह्य, एन-त्सांग ने अपने दो साल काश्मीर में बौद्ध-ग्रन्थों के अध्ययन में व्यतीत किए। काश्मीर

से वह पंजाब के अनेक स्थानों का भ्रमण करता हुआ स्थाण्वीश्वर पहुँचा। यहाँ जयगुप्त नाम का एक प्रसिद्ध विद्वान् रहता था। ह्यु एन-त्सांग ने उसके पास कई मास तक अध्ययन किया। वहाँ से वह कन्नौज गया, जो उस समय उत्तरी भारत की प्रधान राजनीतिक शक्ति था। यहीं उसका सम्राट् हर्षवर्धन से परिचय हुआ। कन्नौज से ह्यु एन-त्सांग अयोध्या, प्रयाग, कौशाम्बी, श्रावस्ती, कपिलवस्तु, कुशीनगर, बाराणसी और वैशाली आदि होता हुआ मगध पहुँचा। पाटलिपुत्र उस समय बिलकुल क्षीण हो चुका था। अब से लगभग दो सदी पहले जब फाइयान भारत आया था, तो पाटलिपुत्र में महाप्रतापी गुप्त-सम्राटों का शासन था। यह नगरी न केवल एक विशाल साम्राज्य की राजधानी थी, अपितु ज्ञान, शिक्षा और संस्कृति की भी महत्त्वपूर्ण केन्द्र थी। यही कारण है, कि फाइयान ने पाटलिपुत्र में रहकर ही धर्म और ज्ञान की पिपासा को शांत किया था। पर गुप्तों की शक्ति के क्षीण होने और कन्नौज के मौखरि राजाओं के उत्कर्ष के कारण पाटलिपुत्र का स्थान अब कन्नौज ने ले लिया था। मगध के गुप्त राजा इस समय निर्बल थे, और हर्षवर्धन के सम्मुख उनकी शक्ति सर्वथा मन्द थी। पिछले दिनों की अव्यवस्था और अशांति से पाटलिपुत्र का वैभव भी क्षीणप्राय हो गया था। यही कारण है, कि ह्यु एन-त्सांग पाटलिपुत्र में देर तक नहीं ठहरा। वहां के प्रसिद्ध स्तूपों और विहारों का दर्शन कर वह बोधिवृक्ष के दर्शनों के लिए गया। ह्यु एन-त्सांग ने लिखा है, कि राजा शशांक बौद्ध-धर्म से बड़ा द्वेष रखता था, और शैव-धर्म का कट्टर अनुयायी था। उसने बोधिवृक्ष को कटवा दिया और पटना में बुद्ध के पद-चिह्नों से अंकित पत्थर को, जिसकी बौद्ध लोग पूजा करते थे, गंगा में फेंकवा दिया। ह्यु एन-त्सांग ने बोधिवृक्ष के नीचे उस स्थान के दर्शन कर अपार सन्तोष प्राप्त किया, जहाँ भगवान् बुद्ध को बोध हुआ था। भक्त लोगों ने बोधिवृक्ष का फिर से आरोपण कर दिया था। यहाँ से ह्यु एन-त्सांग नालन्दा गया। इस युग में नालन्दा का विहार शिक्षा और ज्ञान के लिए सबसे बड़ा केन्द्र था। चीनी यात्री ने कुछ समय तक वहाँ रहकर बौद्ध धर्म के विविध ग्रंथों का भली-भाँति अनुशीलन किया। नालन्दा से हिरण्य-देश (मुंगेर), चम्पा, राजमहल, पुण्ड्रवर्धन, कर्णसुवर्ण आदि होता हुआ वह दक्षिणी भारत की ओर मुड़ा। उड़ीसा तथा दक्षिण-कोशल होता हुआ ह्यु एन-त्सांग धनकटक पहुँचा। यहाँ अमरावती के विहार में वह कई महीने तक रहा। अमरावती से वह काँची गया। इसके बाद वह उत्तर-पश्चिम की ओर मुड़ा और वनवासी देश होता हुआ महाराष्ट्र पहुँच गया। दक्षिण के अनेक नगरों और देहातों का भ्रमण करता हुआ ह्यु एन-त्सांग सिंध और मुलतान भी गया। अनेक नवीन स्थानों का अवलोकन करता हुआ वह वहाँ से फिर नालन्दा लौटा। बौद्ध वाङ्मय के जो ग्रन्थ उसने अभी तक नहीं पढ़े थे, उन सबका इस बार उसने अनुशीलन किया।

इन दिनों कामरूप (असम) में भास्करवर्मा का शासन था। वह कन्नौज के सम्राट् की अधीनता स्वीकार करता था। उसने ह्यु एन-त्सांग को असम पधारने के लिए निमन्त्रण दिया। असम में उस समय बौद्ध-धर्म का यथेष्ठ प्रचार नहीं था। अतः अपने गुरु और नालन्दा के प्रधान आचार्य शीलभद्र की आज्ञा से ह्यु एन-त्सांग ने

असम के लिए प्रस्थान किया। भास्करवर्मा ने बड़े आदर के साथ इस प्रसिद्ध विदेशी बौद्ध विद्वान् का स्वागत किया।

इस समय सम्राट् हर्षवर्धन बंगाल में राजमहल मे पड़ाव डाले पड़ा था। जब उसे ज्ञात हुआ, कि ह्यु एन-त्सांग असम में है, तो उसने भास्करवर्मा को यह आदेश दिया कि वह चीनी विद्वान् को साथ लेकर गंगा के मार्ग से कन्नौज आए। हर्षवर्धन ने कन्नौज में एक बौद्ध-महासभा का आयोजन किया था, जिसमें बौद्ध-धर्म के सिद्धान्तों पर विचार करने के लिए दूर-दूर से भिक्षुओं और विद्वानों को आमन्त्रित किया गया था। हर्ष की इच्छा थी, कि ह्यु एन-त्सांग भी इस महासभा में सम्मिलित हो। हर्ष के आदेश से भास्करवर्मा ह्यु एन-त्साग को साथ लेकर कन्नौज आया। वहाँ इस चीनी विद्वान् के पाण्डित्य का बहुत आदर हुआ। बाद मे वह हर्ष के साथ प्रयाग गया, जहाँ सम्राट् ने बहुत दान-पुण्य किया। इस प्रकार पन्द्रह वर्ष के लगभग भारत मे रहकर और इस देश से बहुत-से धर्मग्रन्थों को साथ लेकर ह्यु एन-त्सांग उत्तर-पश्चिम के स्थल मार्ग से चीन को लौट गया। ह्यु एन-त्सांग के भारत-भ्रमण का यही संक्षिप्त वृत्तान्त है।

कन्नौज की जिस महासभा के लिए हर्षवर्धन ने ह्यु एन-त्साग को विशेषरूप से निमन्त्रित किया था, उसमे बीस सामन्त राजा, चार हजार बौद्ध भिक्षु और लगभग तीन हजार जैन व हिन्दू पण्डित सम्मिलित हुए थे। इस महासभा के लिए हर्षवर्धन ने गङ्गा नदी के पश्चिमी तट पर एक विशाल मण्डप और एक चैत्य का निर्माण कराया था, जिसकी ऊँचाई सौ फीट थी। चैत्य के भीतर बुद्ध की एक सुवर्ण-मूर्ति स्थापित कराई गयी थी, जो ऊँचाई मे हर्षवर्धन के बराबर थी। इस मण्डप के पश्चिम की ओर कुछ दूरी पर राजा ने अपने और अपने प्रतिष्ठित अतिथियों के निवास के लिए भवनों का निर्माण कराया था। प्रतिदिन प्रातःकाल के समय बुद्ध की सुवर्णमूर्ति का जुलूस निकाला जाता था। मूर्ति को एक उत्तुंग हाथी पर रखकर हर्ष और भास्करवर्मा उसके साथ रहते थे। इस अवसर पर हर्ष इन्द्र (शक्र) का वेश धारण करता था, और भास्करवर्मा ब्रह्मा का। सामन्त राजा, उच्च राजकर्मचारी, प्रतिष्ठित अतिथि और प्रमुख भिक्षु व पण्डित हाथियों पर आरूढ होकर पीछे-पीछे चलते थे। सौ हाथियों पर तो केवल वे बाजेवाले ही बैठते थे, जो विविध प्रकार के बाजे बजाते हुए जुलूस के साथ-साथ रहते थे। जब यह विशाल जुलूस चैत्य के समीप पहुँच जाता था, तो राजा हर्षवर्धन विविध मणि-माणिक्य से सुशोभित हजारों-लाखों रेशमी वस्त्रों को बुद्ध की मूर्ति पर चढ़ाता था। अन्य बहुमूल्य उपहार भी इस समय बुद्ध की मूर्ति के भेंट किए जाते थे। बुद्ध की प्रतिमा की पूजा के बाद सहभोज होता था, और फिर सब लोग महासभा के अधिवेशन में सम्मिलित होते थे। ह्यु एन-त्सांग को इस सभा मे प्रधान पद प्राप्त था, क्योंकि हर्ष उसे अत्यन्त सम्मान की दृष्टि से देखता था। एक मास तक निरन्तर इसी प्रकार इस सभा के अधिवेशन होते रहे। एक महीना बीत जाने पर किसी व्यक्ति ने चैत्य को आग लगा दी, और जब हर्ष आग को बुझाने के लिए व्यवस्था कर रहा था, एक आततायी ने उसपर आक्रमण किया। पर उसे अपने प्रयत्न में सफलता नहीं हुई, और हर्ष के अंगरक्षकों ने उसे बन्दी बना लिया। पूछने पर उसने बताया, कि ब्राह्मण

पण्डितों ने उसे हर्ष की हत्या के लिए नियुक्त किया था, और उन्होंने ही चैत्य में आग लगवाई थी। हर्ष जिस प्रकार बौद्ध-धर्म के प्रति पक्षपात प्रदर्शित कर रहा था, पण्डित लोग उससे बहुत असन्तुष्ट थे, और इसी कारण उन्होने यह षड्यन्त्र किया था। पाँच सौ ब्राह्मणों को षड्यन्त्र मे शामिल होने के अपराध में दण्ड दिया गया, और जो निरपराध पाये गए उन्हे छोड दिया गया।

कन्नौज की महासभा की समाप्ति पर हर्ष ने प्रयाग के लिए प्रस्थान किया। गङ्गा-यमुना के संगम पर हर पाँचवें साल हर्ष एक महोत्सव किया करता था। सब सामन्त राजा व उच्च राजकर्मचारी इस उत्सव मे भी सम्मिलित होते थे। ह्यु एन-त्सांग इस उत्सव में भी हर्ष के साथ था। उसने अपने यात्रा-विवरण में इसका भी विशद रूप से वर्णन किया है। पाँच वर्षों मे जो धन हर्ष के राज्यकोष में एकत्र होजाता था, उसे वह इस उत्सव मे दान-पुण्य मे व्यय कर देता था। ह्यु एन-त्साग के वर्णन के अनुसार उत्सव के प्रथम दिन बुद्ध की मूर्ति स्थापित की जाती थी, और अत्यन्त बहु-मूल्य रत्न आदि से उसकी पूजा कर इन रत्नों को दान कर दिया जाता था। इसी प्रकार दूसरे दिन आदित्यदेव की और तीसरे दिन ईश्वरदेव की अर्चना की जाती थी। चौथे दिन दस हजार बौद्ध भिक्षुओं को दान-पुण्य किया जाता था। प्रत्येक भिक्षु को सौ सुवर्ण-मुद्राएँ, एक रत्न, वस्त्र और भोजन तथा सुगन्ध आदि प्रदान किये जाते थे। अगले बीस दिन ब्राह्मणो को दानपुण्य दिया जाता था। इसके बाद अगले दस दिन जैन, लोकायत आदि अन्य सम्प्रदायों के लोग दान ग्रहण करते थे। फिर एक मास तक दरिद्र, अनाथ आदि दान प्राप्त करते थे। इस प्रकार दान-पुण्य करते-करते जब राज्य-कोष का सब धन समाप्त हो जाता था, तो हर्ष अपनी वैयक्तिक सम्पत्ति का दान प्रारम्भ करता था। जब वह भी समाप्त हो जाती, तो इस सर्वमेध यज्ञ की इतिश्री होती। इस अवसर पर हर्ष के पास एक वस्त्र तक भी शेष न बचता, और वह अपनी बहन राज्यश्री से एक पुराना वस्त्र माँगकर उसे धारण करता, और बुद्ध भगवान् की पूजा कर आनन्द-निमग्न हो जाता। धर्म के लिए सर्वस्व स्वाहा कर उसे हार्दिक आनन्द अनुभव होता था, और इसी को वह गौरव की बात समझता था।

प्रयाग के जिस सर्वमेध यज्ञ मे ह्यु एन-त्सांग सम्मिलित हुआ, वह हर्ष के जीवन-काल का छठा यज्ञ था। इससे पूर्व वह इसी ढंग के पाँच यज्ञ और कर चुका था। इस प्रकार बार-बार अपने राज्यकोष को खाली कर के हर्ष अपनी शक्ति को कैसे स्थिर रख सका था, यह समझ सकना सुगम बात नहीं है। सम्भवतः, इसीलिए उसके मरते ही उसका राज्य छिन्न-भिन्न हो गया, और अपने बाहुबल से जो विशाल साम्राज्य उसने स्थापित किया था, वह उसकी मृत्यु के बाद कायम नहीं रह सका।

पन्द्रह वर्ष के लगभग भारत मे रहकर और इस देश से बहुत-से धर्म ग्रन्थों को साथ लेकर ह्यु एन-त्साग उत्तर-पश्चिम के स्थल-मार्ग द्वारा चीन को लौट गया। उसने अपना शेष जीवन बौद्ध ग्रंथो को चीनी भाषा मे अनूदित करने में व्यतीत किया। उसने कुल मिलाकर ७४ ग्रन्थो का अनुवाद किया, जिनके सूक्तो (अध्यायों) की संख्या १३३५ थी। उसके समय से चीन के इतिहास मे वह प्रक्रिया शुरू हुई, जिसमे चीन से विविध विद्वान् भारत आकर बौद्ध धर्म का अध्ययन करते थे, और अपने देश को लौटते हुए

बौद्ध ग्रन्थों को बड़ी संख्या में अपने साथ ले जाते थे। ६६६ में सियान में ह्यु एन-त्सांग की मृत्यु हुई, जहां उसकी समाधि अब तक विद्यमान है।

(३) शासन-व्यवस्था

मध्य-युग में भारत बहुत-से छोटे बड़े राज्यों में विभक्त था, जिनकी सीमाएँ राजा के वैयक्तिक शौर्य और शक्ति के अनुसार घटती-बढ़ती रहती थीं। इन राज्यों की शासन-व्यवस्था पर विचार करते हुए इन बातो को ध्यान मे रखना चाहिये—

(१) इस समय भारत के विविध राज्यों में सामन्त-पद्धति का विकास हो गया था। महाराजाधिराज की अधीनता में बहुत-से छोटे-बडे सामन्त राजा होते थे, जो अपने-अपने क्षेत्र मे पृथक् रूप से शासन किया करते थे। इन सामन्त राजाओं की अपनी सेना होती थी, इनका अपना राजकोष होता था, और अपने प्रदेश मे इनकी स्थिति स्वतन्त्र शासक के सदृश रहती थी। यदि महाराजाधिराज निर्बल हो, तो ऐसे सुवर्णीय अवसर का लाभ उठाकर पूर्ण रूप से स्वतन्त्र हो जाने मे ये जरा भी संकोच नही करते थे, और स्वयं विजययात्रा के लिये निकल पड़ते थे। इस युग की सामन्त-पद्धति के स्वरूप को स्पष्ट करने के लिए एक उदाहरण पर्याप्त होगा। पालवंशी सम्राट् धर्मपाल (७६६–८७६) ने जब कन्नौज के राजा इन्द्रायुध या इन्द्रराज को परास्त किया, तो उसने इस राज्य को सीधा अपने शासन मे नही लिया, अपितु आयुध वंश के ही एक कुमार चक्रायुध को कन्नौज के राजसिंहासन पर प्रतिष्ठापित किया। चक्रायुध की स्थिति पाल-सम्राट् धर्मपाल के 'महासामन्त' की थी, और उसकी अधीनता में कुरु, यदु, यवन, अवन्ति, गाधार, कीर, भोज, मत्स्य और मद्र आदि के राजा सामन्त की स्थिति में अपने-अपने प्रदेश का शासन करते थे। स्वयं धर्मपाल इस बात के लिए उत्सुक था, कि कन्नौज के अधीनस्थ सामन्त राजा वहाँ के महासामन्त चक्रायुध का आधिपत्य स्वीकार करें। इस युग के एक उत्कीर्ण लेख के अनुसार सामन्त राजाओं को काँपते हुए राजमुकुटों सहित आदर से झुककर उसे (चक्रायुध को) स्वीकार करना पडा। पंचाल के वृद्धों ने उसके लिए सुवर्ण के अभिषेक-घट खुशी से पकड़े। यह महाप्रतापी चक्रायुध, जिसकी अधीनता मे इतने प्रदेश थे, स्वतन्त्र राजा न होकर धर्मपाल का महासामन्त मात्र था। सामन्त-पद्धति (फ्यूडल सिस्टम) का सबसे बडा दोष यही होता है, कि उसके कारण राज्यलक्ष्मी किसी एक राजवंश मे स्थिर नही रहने पाती, और अकेन्द्रीभाव की प्रवृत्तियो को बल मिलता रहता है। मध्यकाल में विरचित युक्तिकल्पतरु ग्रन्थ के लेखक ने राजा का लक्षण करते हुए यह प्रश्न किया है, कि यह क्या बात है जो चक्रवर्ती सम्राट् भी राजा कहाता है, और किसी ग्राम या जागीर के स्वामी की भी यही संज्ञा होती है। नीतिकार ने इस प्रश्न का यही उत्तर दिया, कि जो कोई भी अपने क्षेत्र मे अपने राजशासन को स्वीकार कराने मे समर्थ हो, उसी को राजा कहा जाना चाहिये। राजा का यह लक्षण सामन्त-पद्धति के राजा पर पूरी तरह से चरितार्थ होता है।

(२) प्राचीन युग के जनपदों का इस काल मे अन्त हो चुका था। सामन्त-पद्धति मे राज्य-शासन का आधार पुर या जनपद के स्थान पर वह राजवंश हो गया, जिनका नृपति एक विशेष प्रदेश का शासक होता था। जिस प्रदेश पर चन्देलों या

कलचूरियो का आधिपत्य था, उसका शासन वहाँ के निवासियों की जानपद-सभा (जिसमें उस प्रदेश के ग्रामों के ग्रामणी सम्मिलित होते हों) के हाथ में न रहकर चन्देल या कलचूरीकुल के लोगों के हाथो में आ गया था। इस युग में एक ऐसी विशिष्ट श्रेणी राजशक्ति का उपभोग करती थी, जिसका सम्बन्ध राज्य के राजवंश के साथ होता था। चन्देल, कलचूरी, गुर्जरप्रतीहार, राष्ट्रकूट, चालुक्य, गंग, परमार आदि जहाँ राजवंशों के नाम हैं, वहाँ साथ ही वे एक विशिष्ट जाति या कुल का भी बोध कराते हैं। गुर्जर-प्रतीहार राज्य की राजशक्ति उन गुर्जरप्रतीहार लोगों मे निहित थी, जिन्होंने अपने नेता के नेतृत्व में कन्नौज को राजधानी बनाकर अपना राज्य स्थापित किया था। यही बात चन्देल, चौहान आदि अन्य वर्गों के विषय में भी कही जा सकती है। भारतीय इतिहास में यह एक नई बात थी, जो सामन्त-पद्धति की परिस्थितियों के कारण ही उत्पन्न हुई थी। इस काल मे राजा अपने कुल के प्रमुख पुरुषों की सहायता से राज्य का शासन करता था, और राजदरबार मे बैठकर राजकार्य का चिन्तन करता था। वस्तुत:, यह युग ऐसे राजाओं का था, जो निरंकुश और स्वेच्छाचारी थे। इसी कारण यदि राजा योग्य होता तो वह प्रजा के हित और कल्याण का सम्पादन करता था। यदि वह अयोग्य और नृशंस होता, तो प्रजा को पीड़ित करता था।

(३) सामन्त पद्धति के कारण यह सम्भव नही रहता, कि राजशक्ति के धारण करनेवाले लोग प्रजा के हित और कल्याण पर ध्यान दे सकें। उनकी सब शक्ति इसी काम में लग जाती है, कि परस्पर युद्ध करके अपने उत्कर्ष के लिए प्रयत्न करते रहें। सर्वसाधारण जनता की दृष्टि से यह पद्धति अराजकता को उत्पन्न करती है। इस स्थिति मे शक्ति और व्यवस्था को स्थापित रखने, जनता का हित और कल्याण सम्पादित करने और परस्पर सहयोग द्वारा सामूहिक उन्नति करने की उत्तरदायिता उन ग्रामसभाओ पर आ गयी, जो भारत में अत्यन्त प्राचीन काल से विद्यमान थीं। बौद्ध, मौर्य, शुङ्ग, सातवाहन आदि के काल मे भी ग्राम-संस्थाएँ अच्छी उन्नत दशा में थी। पर मध्यकाल मे उनका महत्त्व बहुत अधिक बढ गया, और राजवंशों की अराजकता और जनसाधारण के हितों के प्रति उपेक्षावृत्ति को दृष्टि मे रख कर इन ग्राम-संस्थाओं ने ऐसे बहुत-से कार्य अपने हाथ मे ले लिए, जो साधारणतया राजाओ की उत्तरादायिता होते है। इस युग मे ग्राम-संस्थाओं का जिस रूप में विकास हुआ, उसका भारतीय इतिहास मे बहुत अधिक महत्त्व है। मध्यकाल में विकसित हुई ग्राम-संस्थाएँ अफगान और मुगलयुगो में भी कायम रहीं, और ब्रिटिश शासन भी उनका अन्त करने मे समर्थ नही हुआ। यद्यपि मध्यकालीन भारत के विविध राज्यों में लोकतन्त्र शासन का सर्वथा अभाव था, पर ग्राम-संस्थाओं के रूप में इस युग मे भी ऐसी सस्थाएँ विद्यमान थी, जिनके द्वारा जनता अपने साथ सम्बन्ध रखनेवाले मामलों की व्यवस्था स्वयं किया करती थी। इस विषय मे सर चार्ल्स मेटकॉफ का निम्नलिखित उद्धरण बड़े महत्त्व का है—"ग्राम-संस्थाएँ छोटे-छोटे लोकतन्त्र राज्यों का नाम था, जो अपने आप में पूर्ण थी। उन्हें जो कुछ भी चाहिए था, वह उनके अपने अन्दर मौजूद था। अपने से बाहर के साथ उनका सम्बन्ध बहुत कम था। ऐसा प्रतीत होता है, कि जहाँ अन्य कोई नहीं बचा, वहाँ वे बची रहीं। एक राजवंश के बाद दूसरा राजवंश आया। एक क्रान्ति के

बाद दूसरी क्रान्ति हुई—पर ग्राम-संस्थाएँ पूर्ववत् वहीं की वहीं कायम रहीं। मेरी सम्मति में ये ग्राम-संस्थाएँ ही, जिनमें से प्रत्येक एक पृथक् राज्य की तरह है, भारतीय जनता की रक्षा में सबसे अधिक समर्थ रहीं। इन्हीं के कारण सब परिवर्तनों और क्रान्तियों में जनता की रक्षा होती रही। भारतीयों को जो कुछ प्रसन्नता व स्वतन्त्रता आदि प्राप्त हैं, उसमें ये ही सब से अधिक सहायक हैं।"

(४) ग्राम-संस्थाएँ

मध्यकाल की राजकीय अव्यवस्था से सर्वसाधारण जनता की रक्षा करने के लिए ग्राम-संस्थाओं ने महत्त्वपूर्ण कार्य किया था। इस युग के बहुत-से ऐसे अभिलेख मिले हैं, जिनसे इन ग्राम-संस्थाओं के विषय में अनेक उपयोगी बातें ज्ञात होती हैं।

ग्रामसभा—प्रत्येक ग्राम की एक सभा या महासभा होती थी, जो अपने क्षेत्र में शासन का सब कार्य सम्भालती थी। स्थान और काल के भेद से ग्रामसभाओं के संगठन भी भिन्न-भिन्न प्रकार के थे। कुछ ग्रामो की ग्रामसभाओं में वहाँ के सब बालिग (वयस्क) पुरुष सदस्य-रूप से सम्मिलित होते थे। कुछ ग्राम ऐसे भी थे, जिनमें सब वयस्क पुरुषों को ग्रामसभा की सदस्यता का अधिकार नहीं होता था। दक्षिणी भारत के एक उत्कीर्ण लेख के अनुसार एक ग्राम के वयस्क पुरुषों की संख्या ४०० थी, पर उसकी सभा के सदस्य केवल ३०० पुरुष थे। एक अन्य ग्रामसभा के सदस्यों की संख्या ५१२ लिखी गयी है। एक अन्य लेख में एक ऐसे ग्राम का उल्लेख है जिसकी सभा की सदस्य-सख्या १०६० थी। ग्राम-सभा का अधिवेशन या तो मन्दिर में होता था, या किसी वृक्ष की छाया मे। कतिपय ग्राम ऐसे भी थे, जिनमें सभा के लिए पृथक् भवन भी विद्यमान थे।

समितियाँ—ग्राम के शासन का सब अधिकार ग्राम-सभा के हाथों में होता था, जिसके अधिवेशनों की अध्यक्षता ग्रामणी नामक कर्मचारी करता था। पर शासन-कार्य की सुविधा के लिये अनेक समितियो का भी निर्माण किया जाता था, जिन्हे विविध प्रकार के कार्य सुपुर्द रहते थे। ये समितियाँ निम्नलिखित थी—(१) वर्ष भर के लिए नियुक्त समिति, या वर्ष भर तक शासन-कार्य का नियन्त्रण व निरीक्षण करने वाली समिति, (२) दान की व्यवस्था करने वाली समिति, (३) जलाशय की व्यवस्था करने वाली समिति, (४) उद्यानों का प्रबन्ध करने वाली समिति, (५) न्याय की व्यवस्था करने वाली समिति, (६) सुवर्ण और कोष की प्रबन्धकर्त्री समिति, (७) ग्राम के विविध विभागों का निरीक्षण करने वाली समिति, (८) खेतों और मैदानों की व्यवस्था व निरीक्षण करने वाली समिति, (९) मन्दिरो का प्रबन्ध करने वाली समिति, (१०) साधु व विरक्त लोगो की व्यवस्था करने वाली समिति। इन दस समितियो के क्या कार्य होते थे, यह इनके नामों से ही स्पष्ट है।

दक्षिणी भारत के एक अभिलेख में एक ग्राम के सम्बन्ध मे यह लिखा गया है, कि ग्राम तीस भागों में विभक्त था। प्रत्येक भाग के सब वयस्क पुरुष एकत्र होकर उन व्यक्तियों की सूची तैयार करते थे, जो समितियों के सदस्य बनने के लिए उपयुक्त हो। समिति की सदस्यता के लिए यह आवश्यक था, कि सदस्यों की न्यूनतम आयु ३५ वर्ष

और अधिकतम आयु ७० वर्ष की हो। जो पुरुष शिक्षित हों, ईमानदार हों और कुछ सम्पत्ति भी रखते हों, वे ही समितियों की सदस्यता के अधिकारी माने जाते थे। कोई ऐसा व्यक्ति, जिसने किसी समिति के सदस्य-रूप में खर्च किये धन का सही हिसाब न दिया हो, या जिस पर कोई अपराध साबित हो चुका हो, भविष्य के लिए समितियों की सदस्यता का अधिकारी नहीं समझा जाता था, और उसका नाम उस सूची में शामिल नहीं किया जाता था, जो ग्राम के विविध भागों द्वारा तैयार की जाती थी। जब यह सूची तैयार हो जाती थी, तो लाटरी डाल कर एक पुरुष का नाम निकाला जाता था। इस प्रकार ग्राम के तीस भागों से तीस नाम निकलते थे, और विविध समितियों के सदस्य रूप में इन्हीं की नियुक्ति कर दी जाती थी। तीस पुरुषों में से किसे किस समिति का सदस्य बनाया जाय, इस बात का निर्णय उसकी योग्यता और अनुभव के आधार पर किया जाता था। विविध समितियाँ किस ढग से अपने-अपने कार्य करें, इसके नियम भी विशद रूप से बनाये गए थे। ग्राम के सब योग्य वयस्क पुरुषों को समितियों की सदस्यता का अवसर मिल सके, इसके लिए यह नियम बनाया गया था, कि केवल उन्ही पुरुषों को सदस्यता के लिए उपयुक्त व्यक्तियो की सूची में शामिल किया जाय, जो पिछले तीन वर्षों में कभी किसी समिति के सदस्य न रहे हों। इसमें सन्देह नही, कि ग्राम-संस्था की विविध समितियो के सदस्यों की नियुक्ति का यह ढंग बहुत ही उत्तम और निराला था।

ग्राम-संस्थाओं के कार्य—ग्राम-संस्थाओं का स्वरूप छोटे-छोटे राज्यो के समान था। इसीलिए वे प्राय. उन सब कार्यों को करती थीं, जो राज्य किया करते हैं। ग्राम-सस्था की जो अपनी सम्पत्ति हो, उसे बेचना व अमानत रखकर रुपया प्राप्त करना, ग्राम के क्षेत्र में उत्पन्न हुए विविध प्रकार के झगड़ो और अभियोगो का फैसला करना, मण्डी व बाजार का प्रबन्ध करना, टैक्स वसूल करना, ग्राम के लाभ के लिए नये कर लगाना, ग्रामवासियो से ग्राम के हित के लिए काम लेना, जलाशयो, उद्यानो, खेतो, चरागाहो व मैदानों की देख-रेख करना और मार्गों को ठीक हालत में रखना—इस प्रकार के कार्य थे, जो ग्राम-संस्थाओ के सुपुर्द थे। यदि कोई व्यक्ति किसी विशेष उद्देश्य से कुछ धन जमा कराना चाहे, तो ग्राम-सभा के पास जमा करा सकता था, और ग्राम सभा का यह कर्त्तव्य होता था, कि वह उसकी समुचित रूप से व्यवस्था करे, और धन जमा कराने वाले मनुष्य की इच्छा के अनुसार उसके सूद को व उस धन को खर्च करे। दान-पुण्य की रकमें प्रायः ग्राम-सभाओ के पास ही जमा की जाती थी। दुर्भिक्ष आदि प्राकृतिक विपत्तियों के समय ग्राम-सभाओ की उत्तरदायिता बहुत बढ़ जाती थी, और वे इस बात की व्यवस्था करती थी, कि गरीब लोग भूखे न मरने पाएँ। इसके लिए यदि वे आवश्यक समझें, तो रुपया उधार भी देती थी, या अपनी सम्पत्ति को बेच कर व उसकी जमानत पर कर्ज लेकर खर्च चलाती थी। शिक्षा आदि के लिए धन खर्च करना भी उनका महत्त्वपूर्ण कार्य समझा जाता था। शत्रुओं व डाकुओं से ग्राम की रक्षा करना भी ग्राम-संस्थाओं का काम था, और जो लोग इसमें विशेष पराक्रम प्रदर्शित करते थे, उनका वे अनेक प्रकार से सम्मान भी करती थी। विशालय-देव नाम के एक वीर पुरुष ने अपने ग्राम के मन्दिर से मुसलिम आक्रान्ताओं को

निकाल कर बाहर किया था। इस वीर कृत्य के उपलक्ष में ग्रामसभा ने व्यवस्था की थी, कि प्रत्येक किसान अपनी उपज का एक निश्चित भाग नियमित रूप से विशालयदेव को प्रदान किया करे। जो ग्रामवासी देश की रक्षा या इसी प्रकार के किसी अन्य उत्कृष्ट कार्य के लिए अपने जीवन की आहुति दे देते थे, उनके परिवार को ग्रामसभाओं की ओर से ऐसी भूमि प्रदान कर दी जाती थी, जिस पर कोई लगान नहीं लगता था। यदि कोई आदमी ग्राम के विरुद्ध आचरण करे, कोई ऐसा कार्य करे जिससे ग्राम को हानि पहुँचती हो, तो उसे ग्रामद्रोही करार करके दण्ड दिया जाता था। यह दण्ड प्राय: इस प्रकार का होता था, कि वह अन्य ग्रामवासियों की दृष्टि मे गिर जाय और पश्चात्ताप का अनुभव करे। इस प्रकार का एक दण्ड यह था, कि ग्रामद्रोही को भगवान् शिव की मूर्ति को स्पर्श करने का अधिकार नही रहता था। ग्राम के क्षेत्र से राज्य के लिए वसूल किए जाने वाले करो को एकत्र करना ग्राम-संस्था का ही कार्य था। ग्राम-सभा के अधिकारियों का यह कर्त्तव्य था, कि वे राजकीय करो को वसूल करें, उनका सही-सही हिसाब रखें, और एकत्र धन को राजकोष मे पहुँचा दें। यदि कोई अपने इस कर्त्तव्य मे शिथिलता प्रदर्शित करता था, तो वह दण्डनीय होता था।

(५) शासन-व्यवस्था का स्वरूप

दक्षिणी भारत—चोलमण्डल मे बहुत-से ऐसे शिलालेख व ताम्रपत्र उपलब्ध हुए है, जिनसे इस युग की शासन-व्यवस्था की कुछ झाँकी ली जा सकती है।

चोल-राज्य मे शासन की इकाई ग्राम होते थे, जो छोटे-छोटे राज्यों के सदृश थे, और जो अपना शासन स्वयं करते थे। कतिपय ग्राम मिलकर एक समूह का निर्माण करते थे, जिन्हे 'कुर्रम्' कहा जाता था। कुर्रमो का समूह 'नाडु' और नाडुओ के समूह को 'कोट्टम्' या 'बलनाडु' कहते थे। कोट्टम् को हम आजकल का जिला समझ सकते हैं। इसी प्रकार नाडु तहसील और कुर्रम् को परगना कहा जा सकता है। कतिपय कोट्टम् या बलनाडु मिलकर 'मण्डलम्' का निर्माण करते थे। 'चोलमण्डलम्' इसी प्रकार का एक मण्डल था। पर चोलवंश के राजाओ के उत्कर्ष-काल मे चोल-साम्राज्य मे 'चोल-मण्डलम्' के अतिरिक्त अन्य प्रदेश मे सम्मिलित थे, जो दो प्रकार के थे, विजित और सामन्तवर्गीय। राजराज प्रथम और राजेन्द्र सदृश प्रतापी सम्राटों ने चोल-साम्राज्य को बहुत अधिक विस्तृत कर लिया था। इन द्वारा विजय किए हुए अनेक प्रदेशों मे अपने पृथक् राजवंशों का शासन था, जिनकी स्थिति अब सामन्त राजाओं के सदृश हो गयी थी। पाण्ड्य, केरल आदि के ये सामन्त-राज्य भी चोलमण्डलम् के समान कोट्टम्, नाडु आदि में विभक्त थे, और इनके शासन का प्रकार भी प्राय. चोल-मण्डलम् के ही सदृश था। पर राजराज प्रथम (दसवी सदी) के साम्राज्य विस्तार से पूर्व भी अनेक चोल-राजाओं ने चोलमण्डलम् के समीपवर्त्ती प्रदेशों को जीतकर अपने राज्य का विस्तार किया था, और अनेक ऐसे प्रदेश (जिनमे तमिल भाषा का ही प्रचार था) उनके राज्य के अन्तर्गत हो गये थे, जो चोलमण्डलम् के दायरे से बाहर थे। ये प्रदेश चोलों के 'विजित' थे, और इन्हें भी पृथक् मण्डलों मे विभक्त कर दिया गया था। इनका शासन करने के लिए जो शासक चोलराजा की ओर से नियुक्त किए जाते थे, वे

प्राय: राजकुल के ही होते थे। 'विजित' द्वारा निर्मित मण्डल भी कोट्टम्, नाडु, कुर्रम् आदि उपविभागों में विभक्त थे, और उनके शासन में भी स्थानीय सभाओं और संस्थाओं का पर्याप्त स्थान था। जिन सामन्त-राजाओं ने चोल सम्राटों को अपना अधिपति स्वीकार किया था, वे उन्हें नियमित रूप से वार्षिक कर, भेंट-उपहार आदि प्रदान कर संतुष्ट रखते थे। पर चोल-सम्राट् के प्रति उनकी भक्ति का आधार केवल उसकी अपनी शक्ति ही होती थी। यही कारण है, कि सम्राट् की शक्ति के निर्बल होते ही ये सामन्त राजा विद्रोह कर पुन: स्वतन्त्र हो जाने के लिए तत्पर हो जाते थे।

ग्राम के शासन के लिए जिस प्रकार की ग्रामसभाएँ थीं, वैसी ही कुछ सभाओं की सत्ता कुर्रम्, नाडु आदि में भी थी। नाडु की सभा को नाट्टर कहते थे। दक्षिण भारत में उपलब्ध हुए अनेक उत्कीर्ण लेखों में नाडु की सभाओं का उल्लेख है। एक लेख के अनुसार एक नाडु की नाट्टरसभा ने दो आदमियों की नियुक्ति इस प्रयोजन से की, कि वे नाडु में विक्रयार्थ आनेवाले पान के पत्तों पर दलाली वसूल किया करें, और इस प्रकार उन्हें जो आमदनी हो, उससे नाडु के मन्दिर के लिए काम में आने वाले पान प्रदान किया करे। इस काम में कोई प्रमाद न हो, इसकी उत्तरदायिता नाडु के 'पाँच सौ निर्दोष पुरुषों' के ऊपर रखी गयी। ये पाँच सौ निर्दोष पुरुष सम्भवत: नाडु के अन्तर्गत विविध कुर्रमों और ग्रामो के प्रतिनिधि थे, और इनकी सभा को अपने क्षेत्र के शासन मे अनेक प्रकार के उत्तरदायित्व और अधिकार प्राप्त थे। कुछ उत्कीर्ण लेखों के अध्ययन से यह भी सूचित होता है, कि नाडु व अन्य विभागों की सभाओ को न्याय सम्बन्धी अधिकार भी प्राप्त थे, और वे अपने क्षेत्र के सार्वजनिक हित के कार्यों में भी अपना कर्तृत्व प्रदर्शित करती थीं। यदि किसी नदी पर बाँध बाँधने की आवश्यकता हो, सड़क का निर्माण करना हो या इसी ढंग का कोई अन्य काम हो, तो नाडु की सभा अपने क्षेत्र के अन्तर्गत प्रत्येक गाँव से ऐसे कार्य के लिए कर वसूल करने का अधिकार भी रखती थी।

ग्राम, नाडु आदि की स्थानीय सभाओ के कारण सर्वसाधारण जनता को यह अवसर मिलता था, कि वह अपने साथ सम्बन्ध रखनेवाले विषयों की व्यवस्था स्वयं कर सके। इन सभाओं की सत्ता के कारण जनता की स्वतन्त्रता बहुत अंश तक सुरक्षित बनी हुई थी। पर जहाँ तक राज्य के केन्द्रीय शासन का सम्बन्ध है, राजा स्वेच्छाचारी और निरंकुश होते थे। पर राज्यचक्र एक आदमी द्वारा संचालित नहीं हो सकता, इसलिए राजा को अपनी सहायता के लिए मन्त्रियों की नियुक्ति करनी होती थी, और वह उन्ही के परामर्श के अनुसार शासन की व्यवस्था करता था। चोल-राज्य मे उस समय तक कोई राजाज्ञा जारी नहीं की जा सकती थी, जब तक कि उस पर ओलैनायकम् (मुख्य सचिव) के हस्ताक्षर न हो जाएँ। इससे यह अभिप्राय निकलता है, कि प्रत्येक राजाज्ञा की अन्तिम उत्तरदायिता राजा के अतिरिक्त उसके मुख्य सचिव पर भी होती थी।

उत्तरी भारत—गुप्त-साम्राज्य के समान उत्तरी भारत के पाल, आदि वंशों के राज्य भी भुक्ति, विषय, मण्डल, भोग और ग्रामों में विभक्त थे। भुक्ति के शासक की नियुक्ति राजा द्वारा होती थी, और विषय आदि के शासकों को भुक्ति का शासक

नियुक्त करता था। विषयपति (विषय का शासक) को शासन-कार्य में सहायता देने के लिये एक राज्यसभा की सत्ता होती थी, जिसके सम्बन्ध में एक उत्कीर्ण लेख से अनेक महत्त्वपूर्ण बातें ज्ञात होती हैं। इस विषयसभा में निम्नलिखित सदस्य होते थे—(१) नगरश्रेष्ठी—विषय के प्रधान नगर का मुख्य सेठ या जगत्सेठ, (२) सार्थवाह—जो विषय के अन्तर्गत विविध व्यापारी संगठनों का प्रतिनिधित्व करता था, (३) प्रथम कुलिक—जो विविध शिल्पिश्रेणियों का प्रतिनिधि होता था, (४) प्रथम कायस्थ—जो सरकारी कर्मचारियों का प्रतिनिधित्व करता था। पालवंश के राजाओं के अनेक ऐसे उत्कीर्ण लेख मिले हैं, जिनमें इस युग के विविध राजकर्मचारियों के नाम दिये गए हैं। पालवंशी राजा धर्मपाल के खालिमपुर के ताम्रपत्र में राजा द्वारा दान की गयी एक जागीर का उल्लेख है, जिसकी सूचना निम्नलिखित कर्मचारियों को दी गयी थी—(१) राजा—अधीनस्थ सामन्त राजा, (२) राजपुत्र—सामन्त राजाओं के युवराज, (३) राजामात्य, (४) राजनक—विविध जागीरदार, (५) सेनापति (६) विषयपति—विषय नामक विभाग या जिले का शासक (७) भोगपति—विषय के उपविभाग 'भोग' का शासक (८) षष्ठाधिकृत—किसानों द्वारा वसूल किए जाने वाले षड्भाग का प्रधान अधिकारी (९) दण्डशक्ति—सम्भवतः, पुलिस विभाग का अधिकारी (१०) दण्ड-पाशक—पुलिस विभाग का ही अन्य अधिकारी, (११) चौरोद्धारणिक—चोरों को पकड़ने के लिए नियुक्त पुलिस अधिकारी, (१२) दौसाधसाधनिक—सम्भवतः, ग्रामों का व्यवस्थापक, (१३) दूत, (१४) खोल, (१५) गमागमिक, (१६) अभित्वरमान, (१७) हस्तिअश्वगोमहिष-अजाविक अध्यक्ष, (१८) नौकाध्यक्ष, (१९) बलाध्यक्ष, (२०) तटिक—नदी पार उतरने के स्थानों का अधिकारी, (२१) शौल्किक—शुल्क वसूल करने वाला अधिकारी, (२२) गौल्मिक, (२३) तदायुक्त, (२४) विनियुक्त, (२५) ज्येष्ठ कायस्थ, (२६) महामहत्तर, (२७) महत्तर, (२८) दशग्रामिक, (२९) करण—हिसाब रखने वाला।

खालिमपुर के ताम्रपत्र मे जिन कर्मचारियो के नाम आये हैं, उनमें से सब का ठीक-ठीक अभिप्राय स्पष्ट नही है। पर इसमे कोई सन्देह नहीं, कि ये सब राज-कर्मचारी थे, और जागीर के दान की सूचना के लिए ही इनका उल्लेख ताम्रपत्र मे किया गया है। सेन आदि अन्य राजवंशो के उत्कीर्ण लेखो में भी इसी प्रकार से अनेक राजकर्मचारियो के नाम दिए गए हैं, जिनसे मध्ययुग के उत्तरी भारत के राजकर्मचारी-तन्त्र का कुछ धुधला-सा आभास मिल जाता है।

इस प्रसग में यह ध्यान रखना आवश्यक है, कि दक्षिणी भारत के समान उत्तरी भारत में भी ग्रामसभाओं की सत्ता थी, और ग्रामों की जनता अपने साथ सम्बन्ध रखने वाले मामलों की व्यवस्था अपनी ग्रामसभा द्वारा किया करती थी। इसी कारण राजवंशों में निरन्तर युद्ध जारी रहते हुए भी सर्वसाधारण लोगों पर उनका विशेष प्रभाव नहीं होता था।

(६) साहित्य

मध्ययुग में संस्कृत और प्राकृत भाषाओं में अनेक नये ग्रन्थों का निर्माण हुआ, और बहुत-से कवियों ने अपनी साहित्यिक प्रतिभा का परिचय दिया। इस युग के प्रसिद्ध कवि निम्नलिखित थे—

(१) भवभूति—ये प्रसिद्ध नाटककार आठवीं सदी में कान्यकुब्ज-नरेश यशोवर्मा की राजसभा में रहते थे। जब काश्मीर के राजा ललितादित्य ने यशोवर्मा को परास्त किया, तो वह भवभूति को भी अपने साथ काश्मीर ले गया। इन्होंने तीन नाटक लिखे—महावीरचरित, मालतीमाधव और उत्तररामचरित। भवभूति की नाटक-कला उतररामचरित में सौष्ठव की पराकाष्ठा को पहुँच गयी है। अनेक पण्डितों की सम्मति तो यह है, कि इस नाटक में भवभूति कालिदास से भी बढ गए हैं।

(२) बाणभट्ट—ये सम्राट् हर्षवर्धन (सातवीं सदी) के राजपण्डित थे। इनके दो ग्रन्थ बहुत प्रसिद्ध हैं—हर्षचरित और कादम्बरी। हर्षचरित मे बाणभट्ट ने अपने आश्रयदाता हर्षवर्धन का जीवनचरित्र बड़ी सुन्दर शैली मे प्रस्तुत किया है। यह पुस्तक गद्य में है। कादम्बरी संस्कृत-साहित्य का सबसे उत्कृष्ट गद्य काव्य है।

(३) कुमारदास—ये सिंहल देश के निवासी थे। सातवी सदी मे इन्होंने 'जानकीहरण' नाम का महाकाव्य लिखा था।

(४) भारवि—ये सातवी सदी मे हुए, और चालुक्यवशी राजा विष्णुवर्धन की राजसभा में थे। इनका काव्य 'किरातार्जुनीय' बहुत प्रसिद्ध है।

(५) भट्टि—ये भी सातवी सदी मे हुए। इनके भट्टि-काव्य मे राम के चरित्र के वर्णन के साथ-साथ व्याकरण के सिद्धान्त भी प्रतिपादित हैं।

(६) माघ—ये भी सातवी सदी के अन्त में हुए। इनके महाकाव्य 'शिशुपाल-वध' में जहाँ उत्तम कविता है, वहाँ साथ ही प्रगाढ पाण्डित्य भी है।

(७) त्रिविक्रम भट्ट—ये नवी सदी मे हुए। इनका ग्रन्थ 'नलचम्पू' बहुत प्रसिद्ध है। चम्पू उस काव्य को कहते है, जिसमे गद्य और पद्य दोनो हों।

(८) भट्टनारायण—ये सातवी सदी मे हुए। इन द्वारा रचित 'वेणीसंहार' नाटक महाभारत के कथानक को लेकर लिखा गया है।

(९) दण्डी—इनका समय भी सातवीं सदी मे है। इन्होने 'दशकुमारचरित' नाम के एक सुन्दर गद्य-ग्रन्थ की रचना की।

(१०) सुबन्धु—इनका लिखा ग्रन्थ 'वासवदत्ता' बडा ही सुन्दर गद्य-काव्य है। इनका समय भी सातवीं सदी मे माना जाता है।

(११) हर्षवर्धन—बाणभट्ट के आश्रयदाता सम्राट् हर्षवर्धन जहाँ विद्या और काव्य के अत्यन्त प्रेमी थे, वहाँ स्वयं भी उत्कृष्ट कवि थे। उनके लिखे तीन नाटक इस समय मिलते हैं, रत्नावली, प्रियदर्शिका और नागानन्द।

(१२) राजशेखर—ये कन्नौज के गुर्जरप्रतिहारवंशी राजा महेन्द्रपाल की राजसभा में थे। इनका समय दसवीं सदी में है।

इनके अतिरिक्त अन्य भी बहुत-से कवि इस युग में हुए, जिन्होंने अपने काव्य,

नाटक, चम्पू आदि द्वारा संस्कृत-साहित्य के भण्डार को पूर्ण किया। पर गुप्त-युग के संस्कृत-साहित्य मे जो गौरव और उत्कृष्टता है, वह बाद के साहित्य मे नहीं पायी जाती। भवभूति के बाद संस्कृत के कवियों की शैली निरन्तर अधिक-अधिक कृत्रिम होती गयी है। ऐसा प्रतीत होता है, कि इस युग मे संस्कृत की अपेक्षा प्राकृत भाषाओं की अधिक उन्नति हुई। गुप्त-युग के बाद संस्कृत का प्रचार कम होता गया। वह प्रधानतया पण्डितों की ही भाषा रह गयी। इसीलिए उसके लेखको में वह प्रसाद गुण नहीं है, जो गुप्त-युग के कवियों में पाया जाता है। इस काल की कविता में सहज सौन्दर्य का स्थान अलंकार, श्लेष आदि की भूषा ने ले लिया।

इतिहास-सम्बन्धी कुछ ग्रन्थ भी इस युग में लिखे गए। बाणभट्ट द्वारा विरचित हर्षचरित का उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। कन्नौज के राजा यशोवर्मा (आठवीं सदी) के समय में वाक्पतिराज नामक कवि हुए, जिन्होंने 'गउड वहो' नामक एक ग्रन्थ लिखा। यह प्राकृत भाषा में है। राजा यशोवर्मा ने गौड़ (बंगाल) देश पर आक्रमण कर उसकी विजय की थी। उसी का वृत्तान्त इस पुस्तक में दिया गया है। चालुक्यवंशी राजा विक्रमादित्य षष्ठ का वृत्तान्त कवि बिल्हण (बारहवी सदी) ने बडे विस्तार के साथ 'विक्रमाक-देवचरित' नामक ग्रन्थ मे लिखा है। इसी प्रकार पद्मगुप्त (ग्यारहवी सदी) ने मालवा के राजा सिन्धुराज का चरित 'नवसाहसांकचरित' में और बल्लाल ने राजा भोज का चरित 'भोज-प्रबन्ध' में लिखा है। पर इन सबकी अपेक्षा ऐतिहासिक दृष्टि से अत्यधिक महत्त्व का ग्रन्थ राजतरंगिणी है, जिसे कल्हण ने लिखा था। कल्हण का काल बारहवी सदी में है, और उसने राजतरगिणी मे काश्मीर का क्रमबद्ध इतिहास दिया है।

इसी प्रकार कवि जयानक ने 'पृथिवीराजविजय' लिखकर चौहानवंशी राजा पृथिवीराज का और हेमचन्द्र ने 'कुमारपालचरितम्' लिखकर चालुक्यराजा कुमारपाल (बारहवी सदी) के नाम को अमर किया। इनके अतिरिक्त जो अनेक अन्य ऐतिहासिक काव्य इस युग में लिखे गए, उनमें सोमेश्वर का कीर्तिकौमुदी', अरिसिंह का 'सुकृत-संकीर्त्तन', जयसिंह सूरि का 'हम्मीर-मदमर्दन', मेरुतुङ्ग का 'प्रबन्धचिन्तामणि', राज-शेखर का 'चतुर्विंशति प्रबन्ध', नयचन्द्र सूरि का 'हम्मीर महाकाव्य', आनन्द भट्ट का 'बल्लालचरित' और चन्द्रप्रभ सूरि का 'प्रभावकचरित' उल्लेखनीय हैं। ये सब काव्य कतिपय वीर पुरुषों के चरित्र को दृष्टि मे रखकर लिखे गए है, और इनसे जहाँ इन वीरो के सम्बन्ध में ऐतिहासिक ज्ञान प्राप्त करने में सहायता मिलती है, वहाँ साथ ही उनसे काव्य-रस का भी अच्छा आस्वाद मिलता है।

काव्य, नाटक, चम्पू और गद्य के अतिरिक्त इस युग में कथा-साहित्य भी लिखा गया। ग्यारहवी सदी में क्षेमेन्द्र ने बृहत्कथामंजरी और सोमदेव ने कथासरित्सागर की रचना की। इसी प्रकार वेतालपंचविंशति, सिंहासनद्वात्रिंशिका और शुकसप्तति नामक कथा-ग्रन्थों का निर्माण भी इसी युग में हुआ।

साहित्य के विकास के साथ-साथ अलंकारशास्त्र-विषयक अनेक ग्रन्थ भी इस काल में लिखे गए, जिनमें काव्य के विभिन्न रसों का सूक्ष्मतापूर्वक विवेचन किया गया है। छठी सदी में आचार्य भामह ने काव्यालंकार ग्रन्थ की रचना की। बाद में दण्डी,

वामन (आठवी सदी), आनन्दवर्धन (नवीं सदी), अभिनवगुप्त और मम्मट आदि साहित्य-विवेचकों ने साहित्य-शास्त्र का और अधिक विकास किया।

बड़े साहित्य-ग्रन्थों के साथ ही मुक्तक और गेय काव्यों की भी अनेक महत्त्वपूर्ण रचनाएँ इस युग में हुई। भर्तृहरि के श्रृंगारशतक, वैराग्यशतक और नीतिशतक, कवि अमरु का अमरुशतक और जयदेव का गीतगोविन्द इसी युग की कृतियाँ हैं। ये सब अपने ढंग के अनुपम काव्य है।

अनेक महत्त्वपूर्ण व्याकरण-ग्रन्थ भी इस युग मे लिखे गए। सातवी सदी में पाणिनि की अष्टाध्यायी पर काशिकावृत्ति लिखी गयी, जो महाभाष्य के बाद पाणिनि-सूत्रों का सबसे महत्त्वपूर्ण व्याख्या-ग्रन्थ है। इसका लेखक जयादित्य था। भर्तृहरि के वाक्यप्रदीप, महाभाष्यप्रदीपिका और महाभाष्यत्रिपदी नामक व्याकरण-ग्रन्थ भी इसी युग की कृति हैं। पाणिनीय व्याकरण की परम्परा से भिन्न एक अन्य संस्कृत व्याकरण इस समय में लिखा गया, जो 'कातन्त्र' कहाता है। इसका रचयिता शर्ववर्मा था। भारत से बाहर अन्य देशों में इसका बहुत प्रचार हुआ। मध्य एशिया और बालि द्वीप में इसकी पुरानी प्रतियाँ उपलब्ध हुई हैं।

व्याकरण के अतिरिक्त कोश-विषयक अनेक ग्रन्थ भी इस युग में लिखे गए। अमरकोष की रचना गुप्तकाल में हो चुकी थी। वह इतना लोकप्रिय हुआ, कि उस पर पचास के लगभग टीकाएँ इस युग मे लिखी गयी। इनमे ग्यारहवी सदी में लिखित क्षीर-स्वामी की टीका सबसे अधिक प्रसिद्ध है। अभिधानचिंतामणि, अनेकार्थसग्रह, वैजयन्ती, अधिधानरत्नमाला आदि अन्य अनेक कोश-ग्रन्थ भी इस काल मे बने। कामशास्त्र, संगीत, राजनीति आदि विषयों पर भी अनेक पुस्तकें इस युग मे लिखी गयी, और सस्कृत का साहित्य-भण्डार निरन्तर अधिक समृद्ध होता गया।

(७) दर्शन-शास्त्र

दर्शनशास्त्र के विकास की दृष्टि से मध्ययुग का महत्त्व बहुत अधिक है। बौद्ध, जैन और हिन्दू—तीनो प्रकार के दर्शनशास्त्रों का इस युग में चरम विकास हुआ। चौथी सदी मे असंग नामक बौद्ध विद्वान् ने महायानोत्तरतन्त्र सूत्रालंकार आदि ग्रन्थ लिखकर 'क्षणिक विज्ञानवाद' मत का बड़ी योग्यता के साथ प्रतिपादन किया था। पाँचवी सदी में दिङ्नाग ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ प्रमाणसमुच्चय की रचना की। ये दोनों बौद्ध दार्शनिक मध्ययुग से पहले हो चुके थे। पर इस काल मे धर्मकीर्ति और शातरक्षित नामक दार्शनिकों ने बौद्ध-दर्शन को विकास की चरम सीमा पर पहुँचा दिया। धर्मकीर्ति (सातवीं सदी) के ग्रन्थो में प्रमाणवार्त्तिक और प्रमाणविनिश्चय सर्वप्रधान हैं। बौद्ध-संसार मे ये ग्रन्थ बहुत प्रसिद्ध हुए, और तिब्बती आदि अनेक भाषाओं में इनका अनुवाद किया गया। धर्मकीर्त्ति असंग द्वारा प्रतिपादित 'विज्ञानवाद' के अनुयायी थे, और उन्होंने इसी मत को कुछ अंशों मे परिवर्तित व विकसित कर तर्क द्वारा उसका प्रतिपादन किया। धर्मकीर्त्ति के बाद शांतरक्षित, कमलशील और ज्ञानश्री जैसे बौद्ध दार्शनिकों ने दर्शन-शास्त्र का और अधिक विकास किया। यहाँ हमारे लिए यह सम्भव नहीं है, कि इन महान् दार्शनिकों के विचारों का संक्षिप्त रूप से भी निर्देश कर सकें। यद्यपि वज्रयान

के विकास के कारण इस युग में बौद्ध-धर्म का ह्रास हो रहा था, पर दार्शनिक क्षेत्र में अनेक बौद्ध-विद्वान् अत्यन्त योग्यतापूर्वक अपने दार्शनिक सिद्धान्तों के प्रतिपादन और विरोधी सिद्धान्तों के खण्डन में तत्पर थे।

दार्शनिक दृष्टि से बौद्ध-दर्शन को चार प्रधान सम्प्रदायों में विभक्त किया जा सकता है—वैभाषिक, सौत्रान्तिक, योगाचार और माध्यमिक। इन चारों सम्प्रदायों का पक्षपोषण करते हुए जो विशाल साहित्य इस युग में लिखा गया, वह संसार के दार्शनिक साहित्य में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है।

बौद्धों के समान अनेक जैन विद्वानों ने भी इस युग मे अपने दार्शनिक विचारों का प्रतिपादन किया। जैन-दर्शन का प्रारम्भ उमास्वाति और कुन्दकुन्दाचार्य नामक विद्वानो ने किया था, जो पहली सदी ई० पू० में हुए थे। पर इसका विशेष रूप से विकास मध्य युग मे हुआ। जैन दार्शनिकों में सिंहसेन दिवाकर (पाँचवी सदी), समन्तभद्र (सातवी सदी), हरिभद्र (आठवी सदी), भट्ट अकलङ्क (आठवी सदी), विद्यानन्द (नवी सदी), हेमचन्द्र (ग्यारहवी सदी) और मल्लिसेण सूरी (तेरहवीं सदी) के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है।

हिन्दू या आस्तिक दर्शन के सिद्धान्तो का हम पिछले एक अध्याय में उलेख कर चुके हैं। इन आस्तिक दर्शनों पर भी अनेक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ इस युग में लिखे गए, जिनमें अपने मत के प्रतिपादन के साथ-साथ बौद्धों और जैनो का विशेषरूप से खण्डन भी किया गया। इसमे सन्देह नही, कि आस्तिक दर्शनों का विकास इस युग से पूर्ववर्त्ती काल में ही हो गया था, पर उन पर नये-नये और सुविस्तृत ग्रन्थ इसी काल में लिखे गए। बौद्ध-धर्म के विरुद्ध प्रतिक्रिया होकर जब सनातन वैदिक धर्म का पुनरुत्थान हुआ, तो उसके विद्वानों के लिए यह भी आवश्यक हो गया, कि वे बौद्ध विचारधारा का खण्डन कर आस्तिक दर्शन का खण्डन करें। इसीलिए मध्य युग में दर्शनशास्त्रों पर अनेक अत्यन्त उत्कृष्ट ग्रन्थो की रचना हुई।

मीमांसा-दर्शन के कर्त्ता जैमिनि मुनि थे। उन्होंने मीमांसा-सूत्रो की रचना की थी। दूसरी सदी ई० पू० के लगभग उपवर्ष भवदास और शबरस्वामी ने इन सूत्रों पर वृत्तियाँ लिखी, जिनमे मीमांसा के सिद्धान्तों को बहुत विशद रूप दिया गया। शबरस्वामी द्वारा लिखा हुआ शाबरभाष्य (मीमांसासूत्रों पर) मीमासा दर्शन का अत्यन्त प्रामाणिक ग्रन्थ है। आठवीं सदी के पूर्वार्ध में कुमारिल भट्ट ने इस दर्शन को और अधिक विकसित किया, और बौद्ध-दर्शन का खण्डन कर मीमांसा के सिद्धान्तों की सत्यता सिद्ध की। कुमारिल भट्ट के शिष्य मण्डनमिश्र थे, जिन्होंने विधिविवेक और भावनाविवेक नामक ग्रन्थों को लिखकर अपने गुरु की विचारसरणी को और अधिक विकसित किया।

वेदान्तसूत्रों का निर्माण महर्षि बादरायण ने किया था। जिस सिद्धान्त को महर्षि बादरायण ने सूत्र-रूप से लिखा था, मध्ययुग के दार्शनिकों ने उसे बहुत अधिक विकसित किया। इसके लिए उन्होंने वेदान्तसूत्रों (ब्रह्मसूत्रों) पर विस्तृत भाष्य लिखे। वेदान्तदर्शन को विशदरूप से प्रतिपादित करने वाले दार्शनिकों में सर्वोच्च स्थान शंकराचार्य का है, जो आठवीं सदी के उत्तरार्ध में उत्पन्न हुए थे। उनका जन्म केरल

(मलाबार) के एक ब्राह्मण कुल में हुआ था। आचार्य गौड़पाद से शिक्षा प्राप्त कर उन्होंने वेदान्त-दर्शन के प्रतिपादन और बौद्ध-मत के खण्डन में अपनी सब शक्ति को लगा दिया। इस उद्देश्य से उन्होंने कन्याकुमारी से बदरीनाथ तक पर्यटन किया, और स्थान-स्थान पर बौद्धों से शास्त्रार्थ किए। यह संसार मिथ्या है, एकमात्र ब्रह्म ही सत्य सत्ता है, इस विचार को उन्होंने युक्तिपूर्वक प्रतिपादित किया।

शंकराचार्य ने जिस ढंग से वेदान्तसूत्रों की व्याख्या की थी, अन्य अनेक दार्शनिकों ने उसे पसन्द नहीं किया। ब्रह्म के अतिरिक्त जीव की सत्ता को न मानने से ईश्वर-भक्ति का कुछ अर्थ ही नहीं रह जाता। इसलिए वैष्णव आचार्यों ने वेदान्तसूत्रों की इस प्रकार व्याख्या की, जिससे ब्रह्म और जीव की पृथक् सत्ता सिद्ध की गयी।

इन दार्शनिकों में रामानुज (११४० ई०), मध्व (११२७ ई०), निम्बार्क (१२५० ई०) और वल्लभाचार्य (१५०० ई०) के नाम विशेषरूप से उल्लेखनीय है। रामानुज के अनुसार जीव और जगत् ईश्वर के ही दो प्रकार हैं। इसी लिए उनका मत विशिष्टाद्वैत कहाता है। मध्वाचार्य के मत में ईश्वर और जीव दो पृथक् सत्ताएँ हैं। उनके मत को 'द्वैत' कहा जाता है। निम्बार्क जीव और ईश्वर को पारमार्थिक दृष्टि से अभिन्न मानते है, पर व्यावहारिक रूप से उनकी भिन्न सत्ता को स्वीकार करते हैं। इसीलिए उनके मत को द्वैताद्वैत कहते हैं।

शंकराचार्य ने ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य लिखकर वेदान्त दर्शन का प्रतिपादन किया था। नवी सदी में वाचस्पति ने इस भाष्य पर भामती टीका लिखी। वेदान्त के अन्य उत्कृष्ट ग्रन्थों मे श्रीहर्ष (बारहवी सदी) का खण्डनखाद्य, चित्सुखाचार्य (तेरहवी सदी) की तत्त्वदीपिका, विद्यारण्यस्वामी (चौदहवी सदी) की पञ्चदशी और मधुसूदन सरस्वती (सोलहवी सदी) की अद्वैतसिद्धि अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। ये सब ग्रन्थ मध्य युग मे ही लिखे गए थे।

महर्षि गौतम ने जिस न्यायशास्त्र का सूत्र-रूप से प्रतिपादन किया था, उसपर प्राचीन समय मे वात्स्यायन ने भाष्य लिखा। वात्स्यायन को दूसरी सदी ई० पू० के लगभग में हुआ माना जाता है। पर मध्यकाल मे इस दर्शन का असाधारण रूप से विकास हुआ, और अनेक दार्शनिकों ने इस पर उत्कृष्ट ग्रन्थों की रचना की। इन दार्शनिको में उद्योतकर (छठी सदी), वाचस्पति मिश्र (नवीं सदी), जयन्तभट्ट (नवीं सदी) और उदयनाचार्य (दसवी सदी) के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। तेरहवी सदी मे गंगेश उपाध्याय नामक दार्शनिक ने न्यायदर्शन के एक नए सम्प्रदाय का प्रवर्त्तन किया, जिसे 'नव्यन्याय' कहते है। मुसलिम युग मे इस सम्प्रदाय का बहुत विकास हुआ, और इसको प्रतिपादित करने के लिए अनेक ग्रन्थो की रचना की गयी।

इसी प्रकार से साख्य, योग और वैशेषिक दर्शनों पर भी अनेक ग्रन्थ मध्यकाल मे लिखे गए, जिनमें वैशेषिक दर्शन के प्रसिद्ध आचार्य प्रशस्तपाद के पदार्थधर्म-संग्रह पर लिखी हुई व्योमशिखाचार्य (आठवी सदी), उदयनाचार्य (नवी सदी) और श्रीधराचार्य (दसवी सदी) की टीकाएँ, सांख्यदर्शन पर वाचस्पति मिश्र (नवी सदी) द्वारा लिखी हुई तत्त्वकौमुदी और योगदर्शन पर भोज द्वारा लिखित भोजवृत्ति विशेषतया महत्त्वपूर्ण है।

इसमें सन्देह नहीं, कि दर्शनशास्त्र के क्षेत्र में मध्ययुग में बहुत उन्नति हुई। इस युग के भारतीय विचारकों ने प्राचीनकाल में प्रादुर्भूत हुए दार्शनिक सिद्धान्तों को विकसित कर एक ऐसा रूप प्रदान किया, जो संसार के दार्शनिक साहित्य में अपना एक विशिष्ट स्थान रखता है।

(८) वैज्ञानिक उन्नति

गुप्त-युग मे भारत के विभिन्न विद्वानों ने गणित, ज्योतिष आदि विज्ञानों की किस प्रकार उन्नति की थी, इस पर पिछले एक अध्याय में प्रकाश डाला जा चुका है। गुप्त-युग में वैज्ञानिक उन्नति की जो प्रक्रिया शुरू हुई थी, यदि वह मध्यकाल में भी जारी रहती, तो भारत विज्ञान के क्षेत्र में बहुत उन्नत हो जाता। पर फिर भी इस काल में अनेक ऐसे विद्वान् उत्पन्न हुए, जिन्होंने गणित, ज्योतिष और आयुर्वेद पर नये ग्रन्थों की रचना की। इस प्रकरण में हम इन्ही का संक्षिप्त रूप से उल्लेख करेंगे।

सातवीं सदी के पूर्वार्ध में ब्रह्मगुप्त ने 'ब्रह्मस्फुट सिद्धान्त' लिखा, जो ज्योतिष का एक प्रामाणिक ग्रन्थ है। बारहवीं सदी में भास्कराचार्य ने 'सिद्धान्तशिरोमणि' की रचना की, जिसके एक भाग में गणित और दूसरे भाग में ज्योतिष का प्रतिपादन है। मध्यकाल में यूरोप के ज्योतिषी पृथिवी को चपटी मानते थे, पर भास्कराचार्य ने यह सिद्धान्त प्रतिपादित किया, कि पृथिवी चपटी न होकर गोल है। उसने आकर्षणशक्ति के सिद्धान्त का भी सुन्दर रीति से निरूपण किया। मध्ययुग में पाश्चात्य जगत् के लोग इस सिद्धान्त से सर्वथा अपरिचित थे। ज्योतिष का ज्ञान भारत से अरब में गया, और अरब लोगों से यूरोपियन लोगों ने उसे सीखा। बगदाद के अरब खलीफा हारूँ रशीद ने भारत के अनेक ज्योतिषियों को अपनी राजधानी में निमन्त्रित किया था, और उनकी सहायता से अनेक भारतीय ज्योतिष-ग्रन्थों का अनुवाद अरबी भाषा में करवाया था। गणित-विज्ञान में भारतीय लोगों ने न केवल अंकगणित और दशमलव के सिद्धान्त का विकास किया, अपितु त्रिकोणमिति का भी विकास किया। गणित की सहायता से भारतीय ज्योतिषी ग्रहों और राशियो की गणना से भली-भाँति परिचित हो गये थे।

धन्वन्तरि और चरक जैसे पुराने आचार्यों ने आयुर्वेद-शास्त्र के जो ग्रन्थ प्राचीन युग में लिखे थे, उनका जिक्र पहले किया जा चुका है। मध्य युग में आयुर्वेद पर अनेक नये ग्रन्थ लिखे गये। ८०० ईस्वी के लगभग 'अष्टांगहृदय' की और माधवकरण ने 'माधवनिदान' की चरचा की। ये दोनों ग्रन्थ आयुर्वेद मे बहुत ऊँचा स्थान रखते हैं। माधवनिदान में विविध रोगों के निदान (उत्पत्ति का कारण) पर बहुत विशदरूप से विचार किया गया है। ग्यारहवी सदी में चक्रपाणिदत्त नाम के बंगाली वैद्य ने चरक और सुश्रुत के प्राचीन ग्रन्थों पर टीकाएँ लिखीं, और साथ ही 'चिकित्सासारसंग्रह' नामक नये ग्रन्थ की रचना की। बारहवीं सदी के अन्त में 'शारंगधरसंहिता' लिखी गयी, जिसमे विभिन्न विषों और रसों का वैज्ञानिक पद्धति से विवेचन किया गया है। ये सब ग्रन्थ आयुर्वेद में बहुत ऊँचा स्थान रखते हैं, और इनके अध्ययन से ज्ञात होता है, कि मध्यकाल में चिकित्सा-शास्त्र ने बहुत उन्नति कर ली थी। इसी उन्नति का यह परिणाम

था, कि बगदाद के खलीफा हारूँरसीद ने जब ज्योतिषियों को भारत से बुलाया था, तब साथ ही अनेक वैद्यों को भी उसने अपने देश में निमन्त्रित किया था। इनकी सहायता से उसने अनेक वैद्यक ग्रन्थों का अरबी में अनुवाद कराया, और उनसे भारत के चिकित्सा-शास्त्र का ज्ञान अरब लोगों ने प्राप्त किया।

पशुओं की चिकित्सा के विषय पर भी अनेक ग्रन्थ इस युग में लिखे गये। इनमें पालकाप्य द्वारा विरचित गजचिकित्सा, गजायुर्वेद, गजदर्पण, गजपरीक्षा और गजलक्षण, जयदत्तकृत अश्वचिकित्सा, नकुल का शालिहोत्र-शास्त्र और अश्वतन्त्र विशेषरूप से उल्लेखनीय हैं। ये ग्रन्थ इस समय उपलब्ध नहीं होते, यद्यपि अन्य पुस्तकों में इनके उद्धरण दिये गये हैं। सम्राट् अशोक ने विविध देशों में अपनी धर्मविजय की स्थापना के लिए जो चिकित्सालय स्थापित करवाये थे, उनमे न केवल मनुष्यों अपितु पशुओं की चिकित्सा की भी व्यवस्था थी। मध्ययुग के भारतीय चिकित्सक मनुष्यों और पशुओं की चिकित्सा की प्राचीन विधियों का अध्ययन करने के साथ-साथ इन विषयों पर नई पुस्तकों की रचना में भी तत्पर रहे।

गणित, ज्योतिष और आयुर्वेद के अतिरिक्त वास्तुकला आदि पर भी अनेक ग्रन्थ इस युग में लिखे गये। इनमें राजा भोज द्वारा विरचित 'समरांगणसूत्रधार' और 'युक्तिकल्पतरु' विशेष महत्त्व रखते हैं।

(६) शिक्षा के केन्द्र

बौद्ध-युग के भारत में शिक्षा का सर्वप्रधान केन्द्र तक्षशिला था, जहाँ वेद, दर्शन राजनीति शास्त्र, युद्धविद्या आदि की उच्च शिक्षा दीजाती थी। जब भारत की राजशक्ति का प्रधान केन्द्र मगध बन गया, तो काशी या वाराणसी शिक्षा का एक मुख्य केन्द्र बन गया। बौद्ध-धर्म के विस्तार के साथ-साथ भारत के बहुत-से नगरों में विहारो की स्थापना हुई, जिनमे बौद्ध-भिक्षु विद्या के अध्ययन और अध्यापन मे तत्पर रहते थे। मध्यकाल में नालन्दा, विक्रमशिला और उड्यन्तपुर के महाविहारो ने विश्वविद्यालयो का रूप धारण कर लिया, जिनमें न केवल बौद्धों के धार्मिक और दार्शनिक साहित्य का ही अध्यापन होता था, पर साथ ही गणित, ज्योतिष, आयुर्वेद आदि विज्ञानो का भी शिक्षण होता था। केवल भारत के ही नही, अपितु चीन, तिब्बत आदि विदेशों के छात्र व विद्वान् भी इन शिक्षा-केन्द्रों से आकृष्ट होकर इनमें आया करते थे।

मदुरा का संगम—प्राचीनकाल में सुदूर दक्षिण में मदुरा नगरी में भी एक विद्यापीठ था, जिसका नाम संगम था। तक्षशिला के समान इसमें भी बहुत-से संसार-प्रसिद्ध आचार्य रहते थे। यहाँ प्राचीन तमिल साहित्य का विकास हुआ। संगम के आचार्य केवल शिक्षा का कार्य ही नहीं करते थे, अपितु साहित्य की रचना को भी वे बहुत महत्त्व देते थे। इसी काण यहाँ उत्कृष्ट तमिल साहित्य की रचना हुई। इनमें तिरुवल्लुवर का 'कुरल' सबसे प्रसिद्ध है। यह विश्व-साहित्य मे एक अनुपम रत्न गिना जाता है, और इसमें धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष—इन चार विभागों द्वारा मानव-जीवन के लिए उपयोगी सूक्तियों व उपदेशों का प्रतिपादन किया गया है। तमिल साहित्य में इस ग्रन्थ का बहुत ऊँचा व सर्वश्रेष्ठ स्थान है। कुरल के अतिरिक्त 'मणिमेखला' और

'शीलप्पतिकारम्' ग्रन्थों का उल्लेख भी यहाँ आवश्यक है। ये दोनों तमिल भाषा के महाकाव्य हैं, और इनकी रचना भी मदुरा के संगम में ही हुई।

नालन्दा महाविहार—मगध में नालन्दा का महाविहार शिक्षा का बड़ा केन्द्र था। इसकी स्थापना गुप्तवंशी सम्राट् कुमारगुप्त (राज्य-काल ४२५–४५ ई० प०) ने की थी। बाद के अन्य गुप्तवंशी सम्राटों ने भी यहाँ बहुत-सी इमारतें बनवायीं, और नालन्दा के शिक्षकों और विद्यार्थियों के खर्चे के लिए बहुत-सी जायदाद लगा दी। शीघ्र ही, शिक्षा और ज्ञान के केन्द्र के रूप में नालन्दा की ख्याति दूर-दूर तक पहुंच गयी, और देश-विदेश के हजारों विद्यार्थी शिक्षा प्राप्त करने के लिए वहाँ आने लगे। अनेक चीनी विद्वान् उसकी कीर्त्ति सुनकर उसके प्रति आकृष्ट हुए। उन्होंने अपने देश लौट कर जो यात्रा-विवरण लिखे, आज उन्ही से हमें नालन्दा के आचार्यों और शिक्षा-पद्धति आदि के विषय में परिचय मिलता है। प्रसिद्ध चीनी यात्री ह्य ुएन-त्सांग ने नालन्दा का जो विवरण लिखा है, उससे ज्ञात होता है कि यहाँ के आचार्यों और विद्यार्थियों की संख्या मिलकर दस हजार से भी अधिक थी। नालन्दा के शिक्षक अपने ज्ञान और विद्वत्ता के लिए सर्वत्र प्रसिद्ध थे। कई शिक्षक तो ऐसे थे, जिनकी ख्याति दूर-दूर तक फैली हुई थी। इन सब का चरित्र सर्वथा उज्ज्वल और निर्दोष था। सदाचार के सब नियमों का वे पूर्ण तत्परता और सचाई से पालन करते थे। भारत के सब प्रदेशों मे उनका आदर था, और सर्वत्र उनका अनुसरण किया जाता था। इस महाविद्यालय के नियम बड़े कठोर थे, और यहाँ के निवासियों के लिए यह अनिवार्य था कि वे उनका पालन करें।

नालन्दा महाविहार मे प्रवेश पाने के लिए यह आवश्यक था, कि पहले एक परीक्षा को उत्तीर्ण किया जाय। यह परीक्षा 'द्वार-पण्डित' लेता था। महाविहार के प्रवेश द्वार को लाँघने के लिए इस द्वार-पण्डित की परीक्षा मे उत्तीर्ण होना अनिवार्य था। यह परीक्षा बहुत कठिन होती थी। ह्य ुएन-त्सांग के अनुसार २० व ३० फीसदी से अधिक परीक्षार्थी इस परीक्षा को उत्तीर्ण नही कर पाते थे। ह्य ुएन-त्सांग स्वयं बहुत समय तक नालन्दा रहा था। वह यहाँ के ज्ञानमय वातावरण और चरित्र की उच्चता द्वारा बहुत प्रभावित हुआ था। द्वार-पण्डित को पराजित कर जो विद्यार्थी नालन्दा के महाविहार में प्रविष्ट होते थे, उन्हे वहाँ वहुत मेहनत करनी पड़ती थी। चीनी यात्री ह्य ुएन-त्सांग के अनुसार महाविहार में प्रविष्ट होकर भी बहुत-से विद्यार्थी वहाँ परास्त हो जाते थे। जो वहाँ भी विजय करके (परीक्षाओं में उत्तीर्ण होकर) बाहर जाते थे, उनके ज्ञान और पाण्डित्य का सर्वत्र आदर होता था।

इत्सिंग नाम का एक अन्य चीनी यात्री सातवी सदी में भारत आया। उसने ६७१ ई० मे चीन से प्रस्थान किया और ६७३ ई० में वह ताम्रलिप्ति के बन्दरगाह पर पहुँचा। इत्सिंग का मुख्य उद्देश्य भारत आकर बौद्ध-धर्म का उच्च ज्ञान प्राप्त करना और यहाँ से धर्म की प्रामाणिक पुस्तकों को एकत्र कर चीन ले जाना था। अतः उसका अधिकांश समय नालन्दा में ही व्यतीत हुआ। इत्सिंग के विवरण से भी यह प्रमाणित होता है, कि नालन्दा महाविहार में विद्यार्थियों की संख्या हजारों में थी। वहाँ प्रवेश पाने के लिये व्याकरण, हेतु-विद्या (न्याय) और अभिधर्मकोश का ज्ञान

आवश्यक था। महाविहार में शिक्षा के लिए प्रवेश पा चुकने पर विद्यार्थी जहाँ बौद्ध-धर्म के विशाल साहित्य का अध्ययन करते थे, वहाँ साथ ही शब्द-विद्या, चिकित्सा-विज्ञान, सांख्यशास्त्र, तन्त्र, वेद आदि की पढ़ाई की भी वहाँ व्यवस्था थी। महाविहार के खर्च के लिए राज्य द्वारा बहुत-सी भूसम्पत्ति दान दी गई थी। इसकी सब आमदनी इस शिक्षा-केन्द्र के खर्च के लिए काम आती थी।

नालन्दा का पुस्तकालय बड़ा विशाल था। इसकी तीन विशाल इमारतें थीं, जिनके नाम थे—रत्नसागर, रत्नोदधि और रत्नारंजक। रत्नोदधि-भवन नौ मंजिल ऊँचा था। इसमें धर्म-ग्रन्थों का संग्रह किया गया था। अन्य दोनों इमारतें भी इसी प्रकार विशाल और विस्तीर्ण थी।

आठवीं सदी के शुरू में तिब्बत के राजा ने नालन्दा के एक प्रसिद्ध आचार्य शान्तरक्षित को इस उद्देश्य से अपने देश में निमन्त्रित किया, कि वह वहाँ बौद्ध-धर्म की अच्छी तरह स्थापना करे। तिब्बत पहुँचने पर शान्तरक्षित का बड़ी धूमधाम के साथ स्वागत किया गया, और उसे आचार्य बोधिसत्व की उपाधि से विभूषित किया गया शान्तरक्षित के कुछ समय बाद कमलशील नामक एक अन्य आचार्य को नालन्दा से बुलाया गया, और इन दो भारतीय आचार्यों ने तिब्बत में धर्म की स्थापना की। बाद में अतीश नाम के अन्य आचार्य को तिब्बत मे धर्मस्थापना के लिए आमन्त्रित किया गया। यह मगध में ही विद्यमान विक्रमशिला महाविहार का प्रधान आचार्य था।

नालन्दा महाविहार की स्थापना पाँचवी सदी ईस्वी मे हुई थी। ग्यारहवीं सदी तक वह भारत का प्रधान शिक्षा-केन्द्र रहा। इस समय विक्रमशिला नाम के एक अन्य महाविहार की स्थापना हो गयी थी, जिसे पालवंशी राजाओं का संरक्षण प्राप्त था। विक्रमशिला के विकास से नालन्दा की कीर्ति कुछ मन्द पड़ने लगी, और उसमें ह्रास के चिह्न प्रगट होने लगे। बाद में जब मुहम्मद बिन बख्तियार खिलजी ने बिहार पर आक्रमण किया, तो नालन्दा के इस प्राचीन महाविहार का अन्तिम रूप से विनाश हुआ।

विक्रमशिला—नालन्दा के समान विक्रमशिला का महाविहार भी मगध में ही था। इसकी स्थापना पालवंशी राजा धर्मपाल ने नवी सदी मे की थी। धर्मपाल बौद्ध-धर्म का अनुयायी था, और अपने को "परमपरमेश्वर-परमभट्टारक महाराजाधिराज' की उपाधि से विभूषित करता था। धर्मपाल ने विक्रमशिला में एक महाविहार बनवा कर वहाँ अध्यापन के लिए १०८ आचार्यों की नियुक्ति की। इस नये शिक्षणालय को राजवंश की संरक्षा प्राप्त थी। इसके खर्च के लिए अतुल धनराशि राजा धर्मपाल व उसके उत्तराधिकारियों द्वारा दी गयी। परिणाम यह हुआ, कि बहुत-से विद्यार्थी इसमें शिक्षा-ग्रहण करने के लिए आने लगे। चार सदियों तक यह महाविहार कायम रहा, और इस बीच में इसने बड़े-बड़े विद्वान् उत्पन्न किए। विक्रमशिला से जो विद्यार्थी शिक्षा पूर्ण करते थे, उन्हें 'पण्डित' की उपाधि प्रदान की जाती थी। यह उपाधि पालवंशी राजाओं द्वारा उन्हें दी जाती थी।

नालन्दा के समान विक्रमशिला में भी द्वारपण्डित होते थे। यहाँ द्वारपण्डितों की संख्या छः थी। ऐसा प्रतीत होता है, कि विक्रमशिला के महाविहार में छः कालेज

था विद्यालय थे, और इनमें से प्रत्येक का द्वारपण्डित पृथक्-पृथक् होता था। तिब्बती लेखक तारानाथ ने लिखा है, कि विक्रमशिला के दक्षिणी द्वार का द्वारपण्डित प्रज्ञाकर-मति था। इसी प्रकार पूर्वी द्वार का रत्नाकरशान्ति, पश्चिमी द्वार का वागीश्वरकीर्ति, उत्तरी द्वार का नारोपन्त, प्रथम केन्द्रीय द्वार का रत्नवज्र और द्वितीय केन्द्रीय द्वार का द्वारपण्डित ज्ञानश्रीमित्र था। द्वार-पण्डित के पद पर बहुत ही उच्च कोटि के विद्वानों को नियत किया जाता था। प्रत्येक कालेज में शिक्षकों की संख्या १०८ रखी गई थी। इस प्रकार विक्रमशिला में शिक्षकों की कुल संख्या ६४८ थी। वहाँ कितने विद्यार्थी शिक्षा पाते थे, इसका उल्लेख किसी विदेशी यात्री ने नहीं किया। पर विक्रम-शिला का जो सभाभवन था, उसमें ८००० व्यक्ति एक साथ बैठ सकते थे। इससे सूचित होता है, कि इसके विद्यार्थियो की संख्या भी हजारों में थी। महाविहार के बाहर एक धर्मशाला भी बनायी गई थी, ताकि विद्यार्थी प्रविष्ट होने से पहले उसमे निवास कर सकें। महाविहार के चारों ओर एक प्राचीर थी, जैसी कि दुर्गों के चारों ओर हुआ करती थी।

विक्रमशिला में बौद्ध-साहित्य, वैदिक साहित्य और अन्य ज्ञान-विज्ञान की पढ़ाई होती थी। पर यह महाविहार बौद्धों के वज्रयान सम्प्रदाय के अध्ययन का सबसे प्रामाणिक केन्द्र था। इस युग के भारत में तन्त्र-विद्या का बहुत प्रचार हो गया था। बौद्ध और पौराणिक—दोनों धर्मों मे तान्त्रिक साधना को बहुत महत्त्व दिया जाने लगा था। तन्त्रवाद जो इस युग के धर्म का बहुत महत्त्वपूर्ण भाग बन गया, उसका श्रेय प्रधानतया इसी महाविहार को है।

विक्रमशिला में शिक्षा पाए हुए विद्यार्थियों में से अनेको ने विद्वता के क्षेत्र में बड़ी ख्याति प्राप्त की। इनमें रत्नवज्र, आचार्य रत्नकीर्ति, ज्ञानश्रीमित्र, रत्नाकर-शान्ति और दीपङ्कर अतीश के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। अतीश को तिब्बत में बौद्ध-धर्म की पुनः स्थापना के लिए बुलाया गया था, और उसने वहाँ उस व्यवस्था को कायम किया था, जो लामाओ की अधीनता मे अब तक वहाँ विद्यमान है। रत्न-कीर्त्ति अतीश का गुरु था, और ज्ञानश्रीमित्र अतीश का उत्तराधिकारी था। अतीश के तिब्बत चले जाने के बाद ज्ञानश्रीमित्र ही विक्रमशिला महाविहार का प्रधान आचार्य बना था।

उड्यन्तपुर—नालन्दा और विक्रमशिला के समान ही पूर्व-मध्ययुग में एक अन्य महाविहार था, जिसे उड्यन्तपुर कहते थे। इसकी स्थापना पालवंश के प्रवर्त्तक व प्रथम राजा गोपाल द्वारा की गई थी। यह महाविहार उस स्थान पर विद्यमान था, जहाँ आजकल बिहार नामक नगरी है। सम्भवतः, उड्यन्तपुर के महाविहार के कारण ही इस नगर का नाम बिहार पडा, और बाद में सारे प्रान्त का नाम ही बिहार हो गया। गोपाल द्वारा स्थापित होने के बाद उड्यन्तपुर का महाविहार निरन्तर उन्नति करता गया। शुरू मे नालन्दा की ख्याति के कारण इसकी बहुत प्रतिष्ठा नही हुई, और बाद में राजा धर्मपाल द्वारा विक्रमशिला में अन्य महाविहार की स्थापना हो जाने के कारण उड्यन्तपुर का विहार विशेष प्रसिद्ध नहीं रहा। पर बारहवीं सदी मे यह शिक्षा का अच्छा बड़ा केन्द्र हो गया था, और इसमें भी हजारों आचार्य व विद्यार्थी निवास करते

थे। उड्यन्तपुर के विहार का उल्लेख इस काल के अनेक शिलालेखों में भी उपलब्ध होता है।

११९९ ई० प० में जब मुहम्मद बिन बख्तियार खिलजी ने वर्तमान समय के विहार प्रान्त पर आक्रमण किया, तो वहाँ का राजा पालवंशी गोविन्दपाल था। उसकी शक्ति बहुत न्यून थी। मुहम्मद ने इस हमले में देखा, कि उड्यन्तपुर का विहार एक दुर्ग के समान है। उसने उसे घेर लिया और उस पर हमला किया। इस अवसर पर इस महाविहार के आचार्यों और विद्यार्थियों ने भी शस्त्र उठाये, और डटकर मुहम्मद की सेनाओं का मुकाबला किया। जब तक एक भी आचार्य व विद्यार्थी जीवित रहा, उन्होंने उड्यन्तपुर पर अफगानों का अधिकार नही होने दिया। जब महाविहार के सब निवासी लडते-लडते मर गये, तब मुहम्मद का उस पर अधिकार हुआ। वहाँ के विशाल पुस्तकालय को मुहम्मद ने अग्नि के भेंट कर दिया, और भारत के प्राचीन ज्ञान और विज्ञान का यह विशाल भण्डार बात की बात में नष्ट हो गया। विक्रमशिला के महाविहार का अन्त भी इस अफगान आक्रान्ता द्वारा ही हुआ था।

मगध के इन महाविहारों के अतिरिक्त अन्य भी अनेक विहार या महाविहार मध्य युग मे शिक्षा के महत्त्वपूर्ण केन्द्र थे। इनमे श्रीनगर (काश्मीर) के जयेन्द्र विहार और राजविहार, अनुपमपुर (काश्मीर) के रत्नगुप्त विहार और रत्नरश्मि विहार, बंगाल के सोमपुरी विहार और जगद्दल विहार तथा कौशाम्बी और काम्पिल्य के विहार विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। ये सब विहार बौद्धधर्म और संस्कृति के महत्त्वपूर्ण केन्द्र थे। मध्यकाल में ये फलती-फूलती दशा में रहे, और मुसलिम आक्रमणों के समय में ही नष्ट हुए। नालन्दा, विक्रमशिला आदि के अतिरिक्त मध्ययुग में वलभी (काठियावाड़ में) भी शिक्षा का महत्त्वपूर्ण केन्द्र था। चीनी यात्री इत्सिंग के अनुसार नालन्दा के समान यह भी एक विद्याकेन्द्र के रूप मे बहुत प्रसिद्ध था, और यहाँ भी दूर-दूर से विद्यार्थी उच्च शिक्षा ग्रहण करने के लिए आया करते थे।

मध्ययुग मे भारत के विविध प्रदेशों मे जो विभिन्न राजवश शासन करते थे, उनके राजाओ ने भी अपनी राजधानियों मे अनेक शिक्षा-केन्द्र स्थापित किये थे। इस काल के राजाओं ने विद्या और ज्ञान के प्रोत्साहन और संवर्धन मे असाधारण तत्परता प्रदर्शित की। इनमें परमार राजा भोज का नाम विशेषरूप से उल्लेखनीय है। उसने अपनी राजधानी धारा में एक महाविद्यालय की स्थापना की थी, जिसके कारण विद्वानों और साहित्यिकों को बहुत प्रोत्साहन मिला था। परमार वंश में केवल भोज ही नहीं, अपितु मुञ्ज, सिन्धुराज आदि अन्य राजा भी बडे विद्यानुरागी थे। वे स्वयं भी सुकवि और विद्वान् थे। भोज द्वारा स्थापित महाविद्यालय चिरकाल तक स्थिर रहा, पर अन्त मे उसे भी मुसलिम आक्रान्ताओं का कोपभाजन बनना पड़ा। उसे गिराकर एक मसजिद का रूप प्रदान कर दिया गया। पर अब तक भी इस मसजिद में और इसके समीपवर्ती स्थानों पर अनेक ऐसे प्रमाण विद्यमान हैं, जिससे इसका महाविद्यालय होना प्रमाणित होता है। यहीं राजा भोज का एक शिलालेख भी उपलब्ध हुआ है, जिससे इसके मूल रूप के सम्बन्ध में कोई सन्देह नही रह जाता।

परमार वंशी भोज के समान चाहुमान (चौहान) वंशी राजा विग्रहराज चतुर्थ ने

भी अपनी राजधानी अजमेर में एक महाविद्यालय की स्थापना की थी। अफगान आक्रान्ता शहाबुद्दीन गौरी ने इसे भी एक मसजिद के रूप में परिवर्तित कर दिया। कन्नौज, मिथिला, उज्जयिनी, पैठन, मालखेड़, कल्याणी आदि में भी वहाँ के विविध राजाओं ने इसी प्रकार के महाविद्यालय स्थापित किये थे, जिनमें वेदशास्त्र, व्याकरण गणित, ज्योतिष, कला आदि की शिक्षा की व्यवस्था थी। इनका खर्च चलाने के लिए राजाओं की ओर से भरपूर सहायता दी जाती थी। अध्यापकों और विद्यार्थियों का सब व्यय राजकीय सहायता द्वारा ही चलता था।

राजाश्रय से चलने वाले विद्यालयों और महाविद्यालयों के अतिरिक्त तीर्थ और मन्दिर भी मध्ययुग में शिक्षा के महत्त्वपूर्ण केन्द्र थे। वाराणसी, काञ्ची आदि नगरियाँ हिन्दुओ की पवित्र तीर्थ थी, जहाँ बहुत-से पण्डित अध्ययन-अध्यापन के कार्य मे व्यापृत रहा करते थे। बौद्धों के विहार व महाविहार शिक्षा का कार्य करते थे, यह ऊपर लिखा जा चुका है। मध्ययुग में जब बौद्धधर्म का ह्रास हुआ, और भागवत वैष्णव, शैव, शाक्त आदि सम्प्रदायों ने जोर पकडा, तो इन धर्मो के भी विशाल मन्दिर बनवाये गये। ये मन्दिर जहाँ हिन्दू धर्म और संस्कृति के केन्द्र थे, वहाँ साथ ही शिक्षा का कार्य भी इनमे किया जाता था। यद्यपि इनमें प्रधानतया वेदशास्त्रों की शिक्षा दी जाती थी, पर गणित, ज्योतिष, आयुर्वेद आदि का भी इनमे अध्ययन होता था। मध्ययुग में प्रायः सभी मन्दिरो के साथ विद्यालय भी विद्यमान थे।

बडे विद्यालयो या विद्यापीठो के अतिरिक्त नगरों और ग्रामों मे भी बहुत-सी पाठशालाएँ विद्यमान थी, जिनमे ब्राह्मण लोग अध्ययन-अध्यापन के कार्य में व्यापृत रहा करते थे। इन ब्राह्मण-पण्डितो के निर्वाह की व्यवस्था प्रायः स्थानीय लोगो द्वारा ही कर दी जाती थी। पर राजा लोग भी इनका खर्च चलाने के लिए इन्हें कतिपय भूमि प्रदान कर दिया करते थे, जिसे 'अग्रहार' कहते थे। इस भूमि से प्राप्त होने वाली आमदनी से ब्राह्मण-पण्डित निश्चिन्तता के साथ अपना निर्वाह कर सकते थे।

(१०) सामाजिक दशा

भारत मे जाति-भेद का विकास किन परिस्थितियो मे और किस प्रकार हुआ, इस विषय पर हम पहले प्रकाश डाल चुके हैं। मध्य युग मे जाति-भेद ने एक ऐसा रूप धारण कर लिया, कि विभिन्न जाति के लोगों में खान-पान और विवाह का सम्बन्ध होने में अनेक प्रकार की रुकावटें आने लगी। पर यह स्थिति एकदम व अकस्मात् उत्पन्न नही हो गयी, इसका विकास धीरे-धीरे हुआ। वर्तमान समय में सवर्ण लोग शूद्रो के हाथ का बना भोजन खाना उचित नही समझते। पर प्राचीन समय मे यह सिद्धान्त माना जाता था, कि 'शूद्र लोग भोजन बनाएँ, और आर्य लोग उसका सेवन करें।' मध्यकाल में भी शूद्रो के हाथ का भोजन करने मे दोष नही माना जाता था। व्यासस्मृति के अनुसार दास, ग्वाले, नाई आदि के साथ भोजन करने में कोई हानि नही है। पर यह विचार इस युग में उत्पन्न हो गया था, कि शूद्र के साथ तभी भोजन-सम्बन्ध रखा जा सकता है, जब कि परम्परागत रूप से उससे मैत्री-सम्बन्ध हो। खान-पान के सदृश विवाह-सम्बन्ध के मामले में भी जातियों ने धीरे-धीरे संकीर्ण रूप धारण

किया। प्राचीन समय में सवर्ण विवाह को श्रेष्ठ समझते हुए भी अनुलोम (उच्च वर्ण का अपने से निम्नवर्ण की स्त्री के साथ विवाह) विवाह को धर्मानुमोदित स्वीकार किया जाता था। कतिपय परिस्थितियों मे प्रतिलोम विवाह भी विहित था। सातवीं सदी में महाकवि बाण ने पारशव नामक एक ब्राह्मण का उल्लेख किया है, जिसकी माता शूद्रा थी। पारशव के ब्राह्मण पिता ने शूद्र स्त्री से विवाह किया था, और उससे उत्पन्न पुत्र को ब्राह्मण ही माना गया था। बारहवीं सदी तक अनुलोम-विवाह असाधारण नहीं समझे जाते थे। उत्कीर्ण लेखों तक में उनका जिक्र आता है। ब्राह्मण कवि राजशेखर ने क्षत्रिय (चौहान) कन्या अवन्तिसुन्दरी से विवाह किया था। तेरहवी सदी मे 'स्मृति-चन्द्रिका' ने इस प्रकार के विवाहों को कलिकाल के लिए निषिद्ध ठहराया, और बाद में हेमाद्रि, कमलाकर आदि ने यही बात प्रतिपादित की। परिणाम यह हुआ, कि धीरे-धीरे भारत में अन्य जाति में विवाह कर सकना सम्भव नहीं रह गया, और जाति-बन्धन बहुत अधिक दृढ हो गया।

जाति-भेद के अत्यधिक कठोर हो जाने का ही यह परिणाम हुआ, कि जब मध्य-काल में तुर्क व अफगान आक्रान्ताओं ने प्राचीन युग के यवनों, शकों व हूणों के समान भारत में प्रवेश किया, तो भारत का समाज उन्हें आत्मसात् नही कर सका। जाति-भेद के कारण भारत मे जो संकीर्ण मनोवृत्ति इस समय उत्पन्न हो गयी थी, उसे अलबरूनी (दसवी सदी का अन्त) ने इस प्रकार प्रगट किया है, "हिन्दुओं की कट्टरता का शिकार विदेशी जातियाँ होती हैं। वे उन्हें म्लेच्छ और अपवित्र समझते है। वे उनके साथ खान-पान व विवाह का कोई सम्बन्ध नही रखते। उनका विचार है, कि ऐसा करने से हम भ्रष्ट हो जायेंगे।" प्राचीन समय में यवनों, शकों, कुशाणो व हूणों के प्रति भारतीयों की यह मनोवृत्ति नही थी। पर जाति-भेद के विकास के कारण अब दसवी सदी में तुर्कों के प्रति भारतीयो की मनोवृत्ति बहुत बदल गयी थी, और उनके लिए यह सम्भव नही रह गया था, कि वे उन्हें अपने समाज का अंग बना सकें। पर यह दशा भी सर्वत्र एक समय मे ही नही आ गयी थी। बारहवीं सदी के अन्तिम चरण में जब शहाबुद्दीन गौरी ने गुजरात में हार खाई, तो उसकी मुसलिम सेना का बड़ा भाग कैद हो गया। गुजरात के हिन्दुओं ने उन्हें आत्मसात् कर लिया। इसी प्रकार तेरहवी सदी मे जब अहोम जाति ने असम में प्रवेश किया, तो वह भी हिन्दू-समाज का अंग बन गयी। पर इसमे सन्देह नही, कि मध्यकाल मे हिन्दू-समाज में विदेशियों को आत्मसात् करने की शक्ति निरन्तर क्षीण होती जा रही थी, और धीरे-धीरे यह स्थिति आ गयी थी, कि उनके लिए अपने समाज के भी पतित हुए अंग को अपने में मिला सकना सम्भव नही रहा था।

मध्य युग में स्त्रियों की क्या स्थिति थी, इस सम्बन्ध में भी कतिपय बातों का उल्लेख आवश्यक है। हर्षवर्धन की बहन राज्यश्री सुशिक्षित महिला थी, और उसने दिवाकरमित्र नामक बौद्ध-पण्डित से धर्म की शिक्षा ली थी। प्रसिद्ध ज्योतिषी भास्करा-चार्य (बारहवीं सदी) ने अपनी पुत्री लीलावती को गणित का ज्ञान देने के लिए 'लीलावती' नामक पुस्तक लिखी, जो संस्कृत में गणित-विषयक अनुपम पुस्तिका है। कवि राजशेखर की पत्नी अवन्तिसुन्दरी अच्छी विदुषी थी। उसने प्राकृत भाषा के एक

कोश का भी निर्माण किया था। मध्य युग में अनेक स्त्रियों ने संस्कृत-काव्यों की भी रचना की। इन्दुलेखा, विज्जिका, शीला, सुभद्रा, मदालसा आदि कितनी ही कवयित्रियों की रचनाओं का आभास हमें इस युग के अलंकार ग्रन्थों द्वारा मिल जाता है, यद्यपि उनकी रचनाएँ इस समय उपलब्ध नहीं हैं। स्त्रियों में शिक्षा प्रचार होने पर भी समाज में उनकी स्थिति अब निरन्तर हीन होती जाती थी। विधवा-विवाह अब बुरा माना जाने लगा था, और सती प्रथा का भी प्रारम्भ हो गया था। हर्ष की माता विधवा होने पर सती हो गयी थी, और उसकी बहन राज्यश्री भी चितारोहण की तैयारी में थी, जब उसके भाई ने कर्तव्य-ज्ञान कराके उसे सती होने से रोक लिया। भारत के समाज में स्त्रियों की जो हीन स्थिति बाद में हो गयी, उसका प्रारम्भ इस युग मे हो गया था।

जातिभेद के गुण और दोष—भारत में जाति-भेद का विकास विशेष ऐतिहासिक परिस्थितियों का परिणाम है। इसमें सन्देह नहीं, कि किसी समय में इससे बहुत लाभ हुआ। एकतन्त्र सम्राटों के शासनकाल में भी भारत में जाति, जनपद, श्रेणी और निगम आदि संगठनों के कारण जनता में आन्तरिक स्वतन्त्रता और 'स्वशासन' की परम्परा कायम रही। देश के राजसिंहासन पर किस वंश या किस धर्म का राजा विद्यमान है, वह धर्मात्मा या दुरात्मा है, इस बात का असर प्राचीन काल में सर्वसाधारण जनता पर विशेष नही पड़ता था। जनता का प्रत्यक्ष सम्बन्ध उन कानूनों व व्यवहारों से होता था, जिन्हें वे स्वयं अपनी श्रेणियों व निगमों में बनाते थे, या जो उनमें परम्परागत रूप में चले आते थे। प्राचीन भारत में शिल्पियों और व्यापारियों के सगठनों के समान ब्राह्मणों तक के संगठन (निगम) विद्यमान थे। इन संगठनों द्वारा उनकी स्वतन्त्रता पूर्णतया सुरक्षित थी। भारत में अब तक जातियो व विरादरियों की अपनी पंचायतें हैं, उनका अपना चरित्र व व्यवहार है। सामाजिक कानून भी उनके अपने-अपने हैं। क्रियात्मक दृष्टि से वे ऐसे संगठन थे, जो राजनीतिक क्षेत्र को छोडकर अन्य सब दृष्टियों से अपनी स्वतन्त्रता व पृथक् सत्ता रखते थे।

जाति-भेद द्वारा भारत में यह भी प्रवृत्ति थी, कि प्रत्येक शिल्प कुछ विशेष कुलों में ही सुरक्षित रहे। पुत्र अपने पिता से शिल्प का ज्ञान प्राप्त करता था। कुमारावस्था के लोग अपनी ही जाति के किसी आचार्य से अन्तेवासी के रूप मे शिल्प की विशेष शिक्षा प्राप्त करते थे। इसका परिणाम यह था, कि उन कुलो मे शिल्प का विशेष ज्ञान विकसित होता रहता था। प्राचीन भारत में विद्या, विज्ञान, व्यापार, शिल्प आदि सभी क्षेत्रों में जो इतनी अधिक उन्नति हुई, उसका कुछ श्रेय इस जाति-भेद को भी दिया जा सकता है, क्योंकि इसके कारण विभिन्न जातियाँ पृथक् क्षेत्रों में ही विकास व उन्नति के लिए प्रयत्नशील रहती थी। किसी एक क्षेत्र में विशिष्टता प्राप्त कर सकना इस पद्धति द्वारा सम्भव हो जाता था।

पर जाति-भेद के अनेक कुपरिणाम भी हुए। इससे भारतवासियों में संकीर्णता की भावना विकसित हो गयी। ब्राह्मण लोग अन्य जातियों के लोगों के सम्पर्क मे आना अपनी प्रतिष्ठा के विरुद्ध समझने लगे। विद्या और ज्ञान ब्राह्मणों तक ही सीमित रह गये। इसका सबसे बुरा परिणाम यह हुआ, कि सर्वसाधारण शिल्पी व व्यवसायी शिक्षा से प्रायः वंचित हो गये। प्राचीन और मध्य कालों का भारतीय शिल्पी पाश्चात्य जगत्

के शिल्पी से किसी भी तरह कम नही था। पर आधुनिक युग में जब यूरोप का शिल्पी नये ज्ञान और विज्ञान की सहायता से अपने शिल्प की उन्नति करने लगा, तो भारत का शिल्पी अशिक्षित होने के कारण अपनी पुरानी दशा से आगे नहीं बढ़ सका। ब्राह्मण के पास ज्ञान था, और शिल्पी के पास कला (हुनर) थी। पर इन दोनों में किसी प्रकार का सम्पर्क नहीं था। ब्राह्मण का ज्ञान अधिक-अधिक अक्रियात्मक होता गया, वह केवल सिद्धान्त की बातों मे ही लगा रहा। क्रियात्मक जीवन से सम्बन्ध न होने के काण भारत का ब्राह्मण अपने ज्ञान का कोई सांसारिक लाभ नही प्राप्त कर सका। विद्या के प्रकाश के अभाव मे यहाँ का शिल्पी भी उन्नति की दौड़ में पीछे रह गया।

जाति-भेद का अन्य कुपरिणाम इस देश में यह हुआ, कि यहाँ की जनता में एकता की भावना उत्पन्न नही हो पायी। सब देशवासी एक हैं, एक राष्ट्र व एक समाज के अंग है, यह विचार यहाँ पनपने नही पाया। अब तक भी भारत में राष्ट्रीय एकता की जो कमी है, उसका प्रधान उत्तरदायित्व इस जाति-भेद पर ही है।

इसी जाति-भेद के कारण भारतीय जनता का बहुत बडा भाग पददलित दशा मे रहा है। ब्राह्मण और क्षत्रिय जैसे उच्च वर्गों के लोग संख्या मे कम थे। बहुसंख्यक जनता उन जातियों द्वारा निर्मित थी, जिन्हे ब्राह्मण लोग नीची दृष्टि से देखते थे। इन लोगो मे अपनी हीनता की भावना विकसित हो गई, और यह बात राष्ट्रीय दृष्टि से बहुत हानिकारक सिद्ध हुई।

(११) धर्म

बौद्ध धर्म—मौर्य साम्राज्य के पतन के अनन्तर शुग वंश के शासनकाल में प्राचीन सनातन वैदिक धर्म के पुनरुत्थान की जो प्रक्रिया प्रारम्भ हुई थी, गुप्त सम्राटो के शासन में उसे बहुत बल मिला था। समुद्रगुप्त और चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य जैसे प्रतापी सम्राट् 'परमभागवत' और 'परमवैष्णव' थे, और उनके समय मे बौद्ध धर्म का ह्रास होकर वैष्णव और शैव धर्मों की बहुत उन्नति हुई। गुप्त काल के पश्चात् मध्ययुग मे यह प्रक्रिया निरन्तर जारी रही, और तेरहवी सदी के प्रारम्भ तक यह दशा आ गई, कि बौद्ध धर्म का भारत से लोप हो गया।

भारत से बौद्ध धर्म का अन्त मध्ययुग के अन्तिम भाग (तेरहवी सदी के प्रारम्भ) में हुआ। यद्यपि गुप्त-काल मे ही उसका ह्रास शुरू हो चुका था, पर मध्ययुग मे वह भारत के प्रमुख धर्मों मे से एक था। कन्नौज का प्रतापी सम्राट् हर्षवर्धन (सातवी सदी) बौद्ध धर्म का अनुयायी था और उसके राज्य में बौद्ध धर्म ने बहुत उन्नति की थी। पर सातवी सदी में भारत के विभिन्न धर्मों व सम्प्रदायों में समन्वय की प्रवृत्ति प्रारम्भ हो गई थी। यही कारण है कि हर्षवर्धन जैसा बौद्ध राजा भी अन्य धर्मों के आचार्यों को दानपुण्य का उपयुक्त पात्र मानता था। ह्य एनत्साग के यात्रा विवरण के अनुसार सातवी सदी मे पश्चिमी भारत के बौद्ध भिक्षु आलसी, कर्त्तव्यविमूढ और पतित हो गये थे। यही कारण है, जो सातवी सदी में भी भारतीय जनता के हृदय से बौद्ध भिक्षुओं के प्रति वह श्रद्धा नही रह गई थी जो फाइयान के समय में थी। वज्रयान के विकास के कारण बौद्ध भिक्षुओं में लोकहित-सम्पादन की वह भावना भी नहीं रही

थी, जिसके कारण बौद्ध धर्म देश-विदेशों में सर्वत्र प्रसारित हुआ था। वज्रयान के अनुसार बुद्ध "वज्रगुरु" थे, जिन्हें अलौकिक सिद्धियाँ प्राप्त थीं। उनके अनुयायियों का भी यही कर्त्तव्य है कि वे अपने गुरु के समान अलौकिक सिद्धियों को प्राप्त करें, और उनकी प्राप्ति के लिए गुह्य साधनों का प्रयोग करें। प्राणिमात्र के हित और मनुष्यों के कल्याण का जो उच्च आदर्श बुद्ध ने उपस्थित किया था, वह वज्रयान के विकास के अनन्तर बौद्धों की आँखों से ओझल हो गया था। मध्य युग में बौद्ध धर्म के ह्रास का यही प्रधान कारण था। सम्भवतः, हूणों के आक्रमणों ने भी बौद्ध धर्म के ह्रास में सहायता पहुँचाई। गुप्त वंश के शासन काल में हूणों के जो आक्रमण शुरू हुए थे, वे सातवीं सदी तक जारी रहे। सम्पूर्ण उत्तर-पश्चिमी भारत इनसे आक्रान्त रहा। भारत मे आकर हूण भी भारतीय हो गये थे, और उन्होंने भारतीय धर्म और संस्कृति को अपना लिया था। पर हूणों को शैव धर्म अपनी प्रकृति के अधिक अनुकूल प्रतीत हुआ। बौद्ध धर्म को उन्होने नही अपनाया। मध्य युग के अनेक राजपूत वंशो का सम्बन्ध हूणो के साथ था। इन राजपूत राजाओं की बौद्ध धर्म के प्रति जरा भी आस्था नही थी। इसी कारण मध्ययुग मे यह धर्म उत्तर-पश्चिमी और उत्तरी भारत से सर्वथा लुप्त हो गया था और इसके जो भी केन्द्र शेष रहे थे, वे प्रधानतया पूर्वी भारत में ही थे। इस युग में बौद्ध धर्म प्रायः उन्ही प्रदेशों मे रह गया था, जहाँ राजपूत राजवंशों के रूप मे प्रकट हुई नई राजशक्ति का प्रभाव नहीं था।

बंगाल के पाल वंशी राजा बौद्ध धर्म के अनुयायी थे। उनके संरक्षण में पूर्वी भारत मे बौद्ध धर्म न केवल कायम रहा, अपितु वहाँ के अनेक बौद्ध विद्वान् व भिक्षु अपने धर्म के प्रचार के लिए अन्यत्र आते जाते भी रहे। पाल वंशी राजा महीपाल (९७५-१०२६ ई०) और उसका पुत्र नयपाल (१०२६-१०४१ ई०) बड़े प्रतापी थे। उन्होंने अपने साम्राज्य के विस्तार के लिए बहुत प्रयत्न किया था, और बिहार और उसके समीपवर्ती प्रदेशों को भी अपने शासन में ले लिया था। उनके संरक्षण के कारण बिहार में स्थित नालंदा, उड्यन्तपुर और विक्रमशिला के महाविहारों (विश्वविद्यालयों) की बहुत उन्नति हुई। पाल वंश का एक अन्य राजा राजपाल (१०७७-११२०) भी बौद्ध धर्म का परम सहायक था। इन राजाओ के शासन काल में बिहार के नालन्दा आदि महाविहारों में अनेक ऐसे विद्वान् हुए, जिनका बौद्ध-धर्म के इतिहास मे बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान है। इनके ज्ञान और विद्वत्ता से आकृष्ट होकर भारत भर से बौद्ध विद्यार्थी इन महाविहारो में शिक्षा प्राप्त करने के लिए आने लगे। केवल भारत से ही नहीं, अपितु चीन, तिब्बत आदि से भी बहुत-से भिक्षु इन महा-विहारों में आये और उन्होंने अपनी ज्ञानपिपासा को शान्त किया। अनेक बौद्ध विद्वानों को भी इस युग में तिब्बत आदि विदेशों मे धर्म के प्रचार व शिक्षा के लिए आमंत्रित किया गया।

विक्रमशिला और उड्न्तपुर के महाविहारों की स्थापना पाल वंश के राजाओं द्वारा की गई थी, यह हम ऊपर लिख चुके हैं। पर इन राजाओं ने बंगाल मे भी अनेक महाबिहारों की स्थापना की। राजा धर्मपाल (७६६-८०९ ई०) ने वारेन्द्र (राजशाही जिले में) में सोमपुरी नामक एक महाबिहार का निर्माण कराया, जिसके

अवशेष पहाड़पुर नामक स्थान पर उपलब्ध हैं। सोमपुरी का यह महाबिहार ग्यारहवीं सदी तक बहुत उन्नत व समृद्ध दशा में रहा। बौद्ध धर्म के प्रसिद्ध विद्वान् अतीश दीपङ्कर ने यहीं रह कर अनेक ग्रन्थों का तिब्बती भाषा में अनुवाद किया था। ग्यारहवीं सदी में जब राजा रामपाल (९७५–१०२६) ने जगद्दल में एक नये महाबिहार की स्थापना कर दी, तब सोमपुरी के महाबिहार का महत्त्व कम हो गया। विभूतिचन्द्र, दानशील, मोक्षाकर गुप्त, शुभाकर गुप्त आदि कितने ही विद्वान् जगद्दल में हुए, जिन्होंने बौद्ध धर्म पर अनेक दार्शनिक ग्रन्थों की रचना की। सोमपुरी और जगद्दल के अतिरिक्त देवीकोट और पण्डित विहार नाम के दो अन्य विहार भी पाल वंशी राजाओं द्वारा बंगाल में स्थापित किये गये। इन महाबिहारों के कारण मध्ययुग में बौद्ध धर्म बंगाल मे फलता फूलता रहा।

यद्यपि पालवंशी राजाओं के शासन काल में पूर्वी भारत में बौद्ध धर्म ने अच्छी उन्नति की, पर इस युग में महात्मा बुद्ध के अनुयायियों में यह शक्ति नही रह गई थी, कि वे शंकर, रामानुज आदि के मुकाबले मे अपने धर्म का प्रभाव जनता पर स्थिर रख सकते। इसी कारण अब बौद्ध धर्म कतिपय ऐसे महाविहारों में ही केन्द्रित रह गया था, जिन्हें राजाओं की उदारता के कारण अपार धन-सम्पत्ति प्राप्त थी, और जिनमे हजारों भिक्षु निवास करते थे। जब ये महाबिहार मुस्लिम आक्रान्ताओं के कोपभाजन बने, तो बौद्ध पण्डितों और भिक्षुओं के लिए केवल यह मार्ग रह गया कि वे नेपाल, तिब्बत आदि जाकर आश्रय प्राप्त करें।

बिहार-बंगाल के समान काश्मीर भी मध्ययुग मे बौद्ध धर्म का केन्द्र था। वहाँ जयेन्द्र-बिहार (श्रीनगर मे) और राजबिहार (परिहासपुर में) नामक दो महाबिहार थे, जो बौद्ध धर्म और शिक्षा के महत्त्वपूर्ण केन्द्र थे। ग्यारहवी सदी मे इनका महत्त्व कम हो गया, और इनका स्थान रत्नगुप्त बिहार और रत्नश्री बिहार नामक बिहारों ने ले लिया, जो अनुपमपुर नामक नगर में स्थित थे। बारहवीं सदी तक ये दोनो बिहार काश्मीर में बौद्ध धर्म और शिक्षा के प्रधान केन्द्र रहे। दूर-दूर से बहुत-से विद्यार्थी इन महाबिहारो में भी बौद्ध धर्म के अनुशीलन और अध्ययन के लिए आते रहे, और यहाँ के अनेक विद्वान् चीन, तिब्बत, मध्य एशिया आदि में धर्म प्रचार के लिए जाते रहे। ९८० ई० में चीन के सम्राट् ने काश्मीर से दो श्रमणो को अपने देश में इस प्रयोजन से आमन्त्रित किया, कि वे बौद्ध धर्म के संस्कृत ग्रन्थो का चीनी भाषा में अनुवाद करें। इसी प्रकार १००५ ई० में एक अन्य काश्मीरी श्रमण को चीन आमन्त्रित किया गया। वह न केवल बहुत-से बौद्ध ग्रन्थों को चीन ले गया, अपितु बौद्ध वृक्ष की एक शाखा को भी चीन में आरोपित करने के लिए अपने साथ ले गया। इसी प्रकार तिब्बत, मध्य एशिया आदि मे भी अनेक काश्मीरी भिक्षु बौद्ध धर्म के प्रचार के लिए गये। मध्य युग के काश्मीरी विद्वानों में ज्ञानश्रीमित्र, ब्रह्मश्रीज्ञान, सर्वज्ञश्रीरक्षित, शाक्यश्रीभद्र, भव्यराज और शंकरानन्द के नाम उल्लेखनीय हैं। इनके ग्रन्थों का बौद्ध साहित्य में महत्त्वपूर्ण स्थान है।

भारत के मध्यदेश और दक्षिणी भारत में इस काल मे कोई ऐसा प्रदेश नहीं था, जिसे बौद्ध धर्म का केन्द्र कहा जा सके। इन प्रदेशों पर गुर्जरप्रतिहार, चन्देल,

गहड़वाल आदि जिन वंशों ने मध्यकाल में शासन किया, वे बौद्धधर्म के अनुयायी नहीं थे। जनता पर से भी इस काल में बौद्धधर्म के प्रभाव में न्यूनता आ गई थी। पर अब भी मध्यदेश में अनेक ऐसे स्थान थे, जहाँ बौद्ध धर्म भली-भाँति फल-फूल रहा था। सारनाथ मध्यकाल में भी बौद्धधर्म का महत्त्वपूर्ण केन्द्र था। पालवंशी राजा महीपाल (६७५–१०२६) का एक शिलालेख सारनाथ में मिला है, जिसमें इस राजा द्वारा वहाँ के प्राचीन विहारों व स्तूपों के पुनरुद्धार का उल्लेख है। सारनाथ के समान कौशाम्बी में भी बौद्धधर्म का अच्छा प्रचार था। वहाँ के एक निवासी बालादित्य ने ग्यारहवीं सदी के प्रारम्भ में नालन्दा महाविहार (जो अग्नि द्वारा भस्मसात् हो गया था) का जीर्णोद्धार कराया था। पर इन कतिपय अपवादों के अतिरिक्त मध्ययुग में बौद्धधर्म की सत्ता के कोई प्रमाण मध्यदेश और दक्षिणी भारत से प्राप्त नहीं होते। वस्तुतः, शैव और वैष्णव धर्मों के प्रसार के कारण इस युग में बौद्ध धर्म निरन्तर क्षीण होता जा रहा था, और शनैः शनैः उसका अन्त हो गया था।

जैन धर्म—गुजरात और राजपूताना मध्ययुग में जैन धर्म के प्रधान केन्द्र थे। गुर्जर-प्रतीहारों की शक्ति के क्षीण होने पर जो अनेक स्वतंत्र राज्य स्थापित हो गये थे, उनमें से एक अन्हिलबाड़ा के चालुक्यों का भी था। इस 'चालुक्य' राजवंश का संस्थापक मूलराज था, जिसने ६४१ ईस्वी में अन्हिलबाड़ा को राजधानी बना कर अपने स्वतन्त्र राज्य की स्थापना की थी। गुजरात और दक्षिणी राजपूताना के प्रदेश इस राज्य के अन्तर्गत थे। मूलराज जैन धर्म का अनुयायी था और उसने अपनी राजधानी अन्हिलबाड़ा में मूलबस्तिका नाम से एक जैन मन्दिर का निर्माण कराया था। मूलराज के वंश में राजा भीम (१०२१–१०६३) बहुत प्रसिद्ध हुआ। जिस विमलशाह ने आबू पर्वत पर भगवान् आदिनाथ के प्रसिद्ध जैन मन्दिर का निर्माण कराया था, वह भीम का ही अन्यतम मन्त्री था। इस मन्दिर के सम्बन्ध में इसी अध्याय में आगे चलकर विस्तार के साथ लिखा जायेगा। अन्हिलबाड़ा के चालुक्य राजा जयसिंह सिद्धराज (१०६३–११४३) और कुमारपाल (११४३–११७१) जैन धर्म के संरक्षक और जैन विद्वानों के आश्रयदाता थे। प्रसिद्ध जैन विद्वान हेमचन्द्र (१०८८–११७२) कुमारपाल का समकालीन था, और उसकी प्रेरणा से इस चालुक्य राजा ने अपने राज्य में बहुत-से जैन मन्दिरों का निर्माण कराया था। न केवल राजा अपितु गुजरात की जनता भी इस युग में जैन धर्म के प्रति अगाध श्रद्धा रखती थी। काठियावाड़ में शत्रुञ्जय, गिरनार आदि स्थानों पर जो बहुत-से जैन मन्दिर इस समय विद्यमान हैं, उनका निर्माण चालुक्य राजवंश के शासन काल में ही हुआ था।

अन्हिलवाडा के चालुक्यों के समान कल्याणी (दक्षिणापथ) के चालुक्य और द्वारसमुद्र के होयसाल राजा भी जैन धर्म के संरक्षक थे। चालुक्य राजा सत्याश्रय (६६७ ई०) ने प्रसिद्ध जैन आचार्य विमलचन्द्र पण्डितदेव को गुरु धारण किया था, और वह उसी के पथप्रदर्शन में अपने शासन कार्य का संचालन करता था। सत्याश्रय और उसके उत्तराधिकारियों ने जैन विद्वानों और जैन मन्दिरों को बहुत-सी जागीरें प्रदान की थीं। होयसाल वंश के राजा भी जैन धर्म के प्रति अगाध श्रद्धा रखते थे। अनेक शिलालेखों में इन राजाओं द्वारा जैन मन्दिरों को दिये गये दान-पुण्य का उल्लेख

मिलता है। इसमें सन्देह नहीं, कि गुजरात, दक्षिणी राजपूताना और माइसूर के प्रदेशों में मध्य काल में जैन धर्म अच्छी उन्नत दशा में था।

वैष्णव धर्म—भागवत वैष्ण धर्म का प्रादुर्भाव किस प्रकार हुआ, इस विषय पर पहले प्रकाश डाला जा चुका है। गुप्त सम्राटों के शासन काल में इस धर्म की बहुत उन्नति हुई थी, और उस ने भारत के प्रमुख धर्म का स्थान प्राप्त कर लिया था। मध्य युग में जहाँ वैष्णव धर्म का और अधिक प्रसार हुआ, वहाँ साथ ही उसके मन्तव्यों में भी अनेक परिवर्तन हुए। यह धर्म भक्तिमार्ग का पोषक था। कर्मकाण्ड और अनुष्ठानों की अपेक्षा भक्ति और उपासना को इसमें अधिक महत्त्व दिया जाता था। शुंग-काल में ही इस प्रकार के मन्दिरों का निर्माण प्रारम्भ हो गया था, जिनमें वासुदेव कृष्ण की मूर्ति स्थापित की जाती थी। पर मध्य युग में भागवत धर्म की सीधी और सरल भक्ति आडम्बरयुक्त होने लगी। मन्दिरों में स्थापित मूर्तियों के साज-शृंगार को बहुत महत्त्व दिया जाने लगा, और उपास्य देव को सन्तुष्ट करने के लिए नाचने और गाने की प्रथा भी शुरू हुई। अब मन्दिरों में स्थापित मूर्तियाँ केवल उपलक्षण व प्रतीक मात्र ही नही रह गई, अपितु उन्हें जीवित जागृत देवता मानकर उनको स्नान, भोग, साज-शृंगार, वस्त्र आदि द्वारा सन्तुष्ट करने की प्रथा का भी प्रारम्भ हुआ। कृष्ण के सम्बन्ध में जो अनेक प्रकार की गाथाएँ इस समय भारत में प्रचलित हैं, जैसे गोपियों के साथ उनकी क्रीड़ाएँ, राधा का कृष्ण के साथ सम्बन्ध—उन सब का विकास भी इसी युग में हुआ। भागवत पुराण को मध्य युग (दसवी सदी) की ही कृति माना जाता है। भागवत में कृष्ण के जीवनचरित्र का जिस ढंग से वर्णन किया गया है, वह महाभारत में विद्यमान कृष्ण की कथा से बहुत भिन्नता रखता है। कृष्ण की जिस प्रकार की लीलाओं का वर्णन भागवत व ब्रह्मवैवर्त पुराणो मे उपलब्ध है, उसका विकास मध्य युग में ही हुआ था। इसके कारण वैष्णव धर्म ने एक ऐसा रूप इस काल मे प्राप्त कर लिया था, जो कि पुराने भागवत वैष्णव धर्म से बहुत भिन्न था। कृष्ण और राधा के प्रेम को लेकर कवि जयदेव ने गीतगोविन्द नाम का जो काव्य लिखा था, वह वैष्णव धर्म की इस युग की प्रवृत्तियो का परिचायक है। जयदेव राजा लक्ष्मणसेन (बारहवी सदी) के समय में हुए थे, और उन्हें सेन वंश के इस राजा का आश्रय प्राप्त था।

वैष्णव धर्म के विकास में दक्षिणी भारत के आचार्यों और सन्तो ने विशेष रूप से कार्य किया। इन सन्तो को "आलवार" कहते थे। इन्होंने भक्ति रस को प्रवाहित करने के लिए बहुत-से गीतों का निर्माण किया, जो जनता में बहुत लोकप्रिय हुए। दक्षिण के वैष्णवों की दृष्टि में इन गीतों का माहात्म्य वैदिक सूक्तों से किसी भी प्रकार कम नही है। सर्वसाधारण जनता के लिए कठोर तपस्या और याज्ञिक अनुष्ठान की अपेक्षा भक्ति मार्ग का अनुसरण करना अधिक सुगम है। सर्वगुणसम्पन्न उपास्य देव को भक्ति द्वारा सन्तुष्ट कर अभिलषित फल प्राप्त कर लेने का विचार जनता को बहुत अपील करता है। इसीलिए आलवार सन्तों द्वारा प्रवाहित भक्ति-धारा जनता में बहुत लोकप्रिय हुई।

पर वैष्णव सन्तों के भक्ति आन्दोलन को दो प्रबल विरोधियों का सामना

करना पड़ा। कुमारिल भट्ट ने याज्ञिक कर्मकाण्ड के पक्ष में बहुत प्रबलता के साथ आवाज उठाई, और यह प्रतिपादित किया कि याज्ञिक अनुष्ठान ही स्वर्ग और मोक्ष की प्राप्ति के एकमात्र साधन हैं। शंकराचार्य ने अद्वैतवाद के सिद्धान्त का प्रतिपादन कर यह सिद्ध किया कि सत्य सत्ता केवल ब्रह्म है, और जीव तथा प्रकृति की कोई पृथक् व स्वतन्त्र सत्ता है ही नहीं। जगत् मिथ्या और ब्रह्म सत्य है, यह ज्ञान ही मोक्षप्राप्ति का एक मात्र साधन है। जिस प्रकार हजारों साल पुराना घोर अंधकार दीपक के प्रकाश से क्षण भर में दूर हो जाता है, वैसे ही सत्य के ज्ञान द्वारा देर से चला आया अज्ञान क्षण भर में नष्ट हो जाता है। जब ब्रह्म और जीव में अभेद है, तो भक्ति से कोई लाभ नहीं। शंकराचार्य के अगाध पांडित्य और विलक्षण कर्तृत्व के कारण वैष्णवों के भक्ति आन्दोलन को बहुत आघात लगा। इसीलिए दक्षिणी भारत में अनेक ऐसे आचार्यों का प्रादुर्भाव हुआ, जिन्होंने दार्शनिकरीति से जीव और ब्रह्म की पृथक् सत्ता को सिद्ध कर वैष्णव धर्म का पक्षपोषण किया। इन आचार्यों का प्रयत्न था कि भक्ति-मार्ग और भागवत वैष्णव धर्म को सुदृढ दार्शनिक आधार पर स्थापित कर उसे पुष्ट करें।

इस प्रकार के आचार्यों में सर्वप्रथम नाथमुनि या रंगनाथाचार्य थे। वह दक्षिण आरकोट जिले के वीरनारायणपुर के निवासी थे, और उनका समय दसवीं सदी में माना जाता है। नाथमुनि ने न्यायतत्त्व आदि अनेक ग्रन्थ लिखकर जहाँ वैष्णव सिद्धान्तों की दार्शनिक व्याख्या की, वहाँ साथ ही आलवार सन्तो के गीतों को एकत्र कर उन्हें रागबद्ध भी किया, और वैष्णव मन्दिरों में उनके गायन की व्यवस्था की। नाथमुनि द्वारा वैष्णव धर्म के उस सम्प्रदाय का प्रारम्भ हुआ, जिसे 'श्रीवैष्णव' कहा जाता है। कुमारिल भट्ट और मन्डन मिश्र जैसे मीमांसकों ने जिस ढंग से याज्ञिक अनुष्ठानों को मोक्ष के साधन के रूप मे प्रतिपादित किया था, नाथमुनि ने उसका खण्डन किया। नाथमुनि की शिष्य परम्परा मे पुंडरीकाक्ष और राममिश्र नामक आचार्य बहुत प्रसिद्ध हुए, जिनके पश्चात् यमुनाचार्य (नाथमुनि के पौत्र) वैष्णवो के प्रधान आचार्य बने। उन्होंने सिद्धित्रय, आगम-प्रामाण्य, गीतार्थसंग्रह आदि अनेक ग्रन्थों की रचना कर उस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया, जो दर्शन साहित्य में 'विशिष्टाद्वैत' नाम से प्रसिद्ध है। इस सिद्धान्त के मूल प्रवर्त्तक यमुनाचार्य ही थे। उन्होंने यह भी प्रतिपादित किया, कि भक्तियोग के सम्मुख ज्ञानयोग और कर्मयोग की स्थिति कोई महत्त्व नही रखती।

यमुनाचार्य के पश्चात् रामानुज (जन्म वर्ष १०१६) हुए, जो विशिष्टाद्वैत के प्रतिपादक के रूप में प्रसिद्ध हैं। इस सिद्धान्त के अनुसार जीव ब्रह्म का एक विशिष्ट रूप है, जो ब्रह्म से भिन्न है। अपने विशिष्ट रूप में ब्रह्म से पृथक् होने के कारण जीवात्मा के लिए यह सम्भव है, कि वह भक्ति मार्ग का अनुसरण कर सके। अपने सिद्धान्त को प्रतिपादित करते हुए रामानुज ने वेदान्त सार, वेदान्त संग्रह, वेदान्तदीप आदि अनेक ग्रन्थ लिखे, और ब्रह्म सूत्रों तथा भगवद्गीता के भाष्य भी किये। रामानुज की शिष्य-परम्परा में विष्णुचित्त, वरदाचार्य, वेंकटनाथ आदि अनेक आचार्य हुए, जिन्होंने अपने गुरु के मन्तव्यों को तर्कपूर्वक समर्थित किया।

श्रीवैष्णव सम्प्रदाय के अतिरिक्त अन्य भी अनेक सम्प्रदायों का वैष्णव धर्म में विकास हुआ। इनमें निम्बार्काचार्य और मध्वाचार्य द्वारा प्रवर्तित सम्प्रदाय उल्लेखनीय हैं। निम्बार्काचार्य का समय बारहवीं सदी में माना जाता है। वह तेलगू ब्राह्मण थे, पर उनका जीवन प्रधानतया वृन्दावन में व्यतीत हुआ था। उन्होंने भक्ति मार्ग पर बहुत जोर दिया, और यह प्रतिपादित किया कि मनुष्य को उसी ढंग से भगवान् की भक्ति करनी चाहिए, जैसे कि राधा और अन्य गोपियाँ कृष्ण के प्रति भक्ति व प्रेम रखती थीं। उनके मत में जीव और जगत् ब्रह्म से भिन्न भी हैं, और अभिन्न भी। वे अभिन्न इस कारण हैं, क्योंकि वे अपनी सत्ता के लिए पूर्णतया ब्रह्म पर निर्भर होते हैं।

तेरहवीं सदी में मध्वाचार्य हुए, जो दक्षिण कनारा जिले में उत्पन्न हुए थे। उन्होंने जीव को ब्रह्म से सर्वथा भिन्न मानते हुए 'द्वैतवाद' के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। वह जीव और जगत् को ब्रह्म से पृथक् मानते थे और यह प्रतिपादित करते थे कि ब्रह्म सृष्टि का निमित कारण है, उपादान कारण नहीं। मध्वाचार्य ने अपने सिद्धान्त की पुष्टि में ३७ ग्रन्थ लिखे, जिनमें ब्रह्मसूत्र और उपनिषदों पर किये गए उनके भाष्य सर्वप्रधान हैं। अपने मत का प्रचार करते हुए उन्होंने सम्पूर्ण भारत का भ्रमण भी किया।

नाथमुनि, यमुनाचार्य, निम्बार्क और मध्वाचार्य के प्रयत्न से वैष्णवों को वह दार्शनिक आधार प्राप्त हो गया, जिसकी उन्हें आवश्यकता थी। जब जीव ब्रह्म से विशिष्ट या भिन्न है, तो उसके लिए भक्ति ही मोक्ष साधन का सर्वोत्तम मार्ग है। भारत में सर्वत्र इस मत का प्रचार हुआ और बहुत-से लोग वैष्णव मन्दिरों मे भगवान् की मूर्ति की पूजा और भक्ति के लिए प्रवृत्त हुए।

शैव धर्म—लकुलीश द्वारा किस प्रकार शैव धर्म का प्रारम्भ किया गया था, इस विषय पर पिछले एक अध्याय मे प्रकाश डाला जा चुका है। छठी सदी तक शैव धर्म का भारत मे पर्याप्त प्रचार हो चुका था, और कालिदास, भवभूति, सुबन्धु और बाणभट्ट जैसे कवि व साहित्यिक शिव के उपासकों में गिने जा सकते थे। भारत से बाहर कम्बुज आदि देशों में भी इस धर्म का बहुत प्रचार हुआ, और दक्षिण-पूर्वी एशिया के क्षेत्र के बृहत्तर भारत के अनेक प्रदेशों के लोग इसके अनुयायी हुए।

मध्ययुग मे शैव धर्म ही उत्तरी भारत का प्रधान धर्म था। राजपूत वंशों के रूप में जो नई राजशक्तियाँ उत्तरी भारत में प्रगट हुई थीं, उनके प्रायः सभी राजा शैव धर्म के अनुयायी थे। गुर्जरप्रतीहार, राष्ट्रकूट, चन्देल, परमार आदि राजवंशों के राजा प्रायः इसी धर्म को मानने वाले थे। इस कारण इस युग में बहुत-से शैव मन्दिरों का निर्माण हुआ। दक्षिणापथ और सुदूर दक्षिण के भी बहुत-से राजा शैव थे। पूर्वी चालुक्य, पूर्वी गंग, काकतीय, चोल, कलचूरि आदि राजवंशों के बहुसंख्यक राजा भी इसी धर्म को मानने वाले थे। इस प्रकार यह स्पष्ट है, कि मध्ययुग में शैव धर्म का भारत में बहुत अधिक प्रचार था, और इसे ही हम इस युग का प्रधान धर्म समझ सकते हैं। पर सम्पूर्ण भारत में शैव धर्म का स्वरूप एक सदृश नहीं था। जिस प्रकार वैष्णव धर्म में विशिष्टाद्वैत, द्वैत आदि अनेक सम्प्रदाय थे, वैसे ही शैव धर्म में भी

थे। शैव धर्म का एक रूप काश्मीर में था, जो त्रिक, स्पन्द और प्रत्यभिज्ञा नाम से प्रसिद्ध है। इस सम्प्रदाय का प्रवर्तक वसुगुप्त को माना जाता है, जिसके द्वारा 'शिव-सूत्र' प्रकाश में आये थे। यह शिवसूत्र ही काश्मीर के शैव सम्प्रदाय का प्रामाणिक ग्रन्थ था। इस सम्प्रदाय के अनुसार संसार की परम सत्ता शिव है, जो सृष्टि का न केवल निमित्त कारण है, अपितु उपादान कारण भी है। इस दृष्टि से यह शैव मत वेदान्त के अद्वैतवाद से मिलता जुलता है, यद्यपि शैव दार्शनिक संसार को मिथ्या व माया न मानकर यथार्थ रूप से स्वीकार करते हैं। मध्ययुग में काश्मीर के निवासी प्रधानतया शैव धर्म के ही अनुयायी थे, यद्यपि वहाँ बौद्ध धर्म की भी सत्ता थी।

भारत मे शैव धर्म के प्रचार मे शंकराचार्य ने बहुत महत्त्वपूर्ण कार्य किया। उनका जन्म ७८८ ईस्वी में केरल देश में हुआ था। वेदान्त के अद्वैतवाद के प्रवर्तक के रूप में उनका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। पर शंकराचार्य केवल दार्शनिक ही नहीं थे, अपितु शैव धर्म के एक प्रमुख आचार्य भी थे। उन्होंने शिव की स्तुति में अनेक स्तोत्रों की भी रचना की थी। अपने धर्म का प्रचार करते हुए उन्होंने भारत मे दूर-दूर तक यात्राएँ की, और अन्य सम्प्रदायों के आचार्यों व पण्डितों को शास्त्रार्थ में परास्त कर शैव धर्म तथा वेदान्त की उत्कृष्टता प्रतिपादित की। शंकर की इस दिग्विजय का 'शंकरदिग्विजय' नामक महाकाव्य में विस्तार के साथ वर्णन किया गया है। शंकराचार्य बहुत कम समय तक जीवित रहे। युवावस्था में हो उनकी मृत्यु हो गई। पर स्वल्पायु में ही उन्होंने अद्वैत सिद्धान्त और शैव धर्म के लिए जो कार्य कर दिखाया, वह वस्तुतः अद्भुत है। उनके प्रचार का ही यह परिणाम हुआ, कि बौद्ध धर्म के बहुत-से विद्वान् पण्डित उनसे शास्त्रार्थ में परास्त होकर सत्य सनातन वैदिक धर्म के अनुयायी हो गये, और सर्वसाधारण जनता पर बौद्धो के पाण्डित्य का जो सिक्का जमा हुआ था उसका अन्त हो गया। शकराचार्य ने भारत के चारों कोनों पर चार मठों की स्थापना की, जिनमें अब तक भी उनकी शिष्य-परम्परा विद्यमान है। यद्यपि शंकराचार्य शैव धर्म के अनुयायी थे, और उनके शिष्य उन्हे भगवान् शिव का अवतार मानते थे, पर उन्होंने जिस विचारसरणी का प्रतिपादन किया, समन्वय उसका मूल तत्त्व था। पारमार्थिक दृष्टि से जगत् को मिथ्या मानते हुए भी वह व्यवहार में उसकी सत्ता को स्वीकार करते थे, और यह भी प्रतिपादित करते थे कि सब के लिए मोक्षप्राप्ति का एक ही मार्ग सम्भव नही है। प्रत्येक मनुष्य अपनी योग्यता और क्षमता के अनुसार भिन्न-भिन्न मार्गों का अनुसरण कर सकता है। इसी को स्मार्त भावना कहा जाता है, और इसी के कारण शंकराचार्य विविध हिन्दू सम्प्रदायों में एक प्रकार का सामञ्जस्य स्थापित कर सकने मे समर्थ हुए थे। सब कोई उन्हें जगद्गुरु मानते थे, और उन द्वारा स्थापित चारों मठों के मठाधीश अब तक भी 'जगद्गुरु शंकराचार्य' कहाते हैं।

मध्ययुग में बहुत-से शिव-मन्दिरों का निर्माण हुआ। इनमे भगवान् शिव की मूर्ति स्थापित की जाती थी। ये मूर्तियाँ अनेक प्रकार की हैं। शिव के अनेक रूप हैं। वह जगत् का पालन करने वाला है, और अपने भक्तों पर अनुग्रह भी करता है। यह शिव का सौम्य रूप है। शिव सृष्टि का संहार भी करता है। यह उसका उग्र या रौद्र रूप है। वह अनेकविध शिल्पों व विद्याओं का प्रवक्ता भी है। वह उमा या पार्वती का

पति भी है। कृष्ण के समान शिव के सम्बन्ध में भी अनेक कथाएँ पुराणों में विद्यमान हैं। इन सबको लेकर भगवान् शिव की अनेकविध मूर्तियाँ बनायी गई, और उन्हें शिव-मन्दिरों में प्रतिष्ठापित किया गया। इन मूर्तियो का विशद वर्णन कर सकना यहाँ सम्भव नहीं है। पर शिव की सौम्य, उग्र, नटराज आदि रूपों में बहुत प्रकार की मूर्तियाँ मध्ययुग में बनायी गई, और उनके जीवन की विविध कथाओं को लेकर उन्हें शिलाखण्डों पर उत्कीर्ण किया गया। बाद में जब तन्त्रवाद का शैव धर्म में प्रवेश हुआ, तब शिवलिंग भी मन्दिरों मे स्थापित किये गए। वर्तमान समय मे भारत मे जो शैव मन्दिर हैं, उनमें प्रायः शिवलिंग की ही पूजा की जाती है। यह लिंग सृष्टि के उस तत्त्व को सूचित करता है, जिससे सम्पूर्ण चर जगत् का प्रादुर्भाव होता है।

शैव धर्म मे भी अनेक सम्प्रदाय विकसित हुए। इनमे लिंगायत (वीर शैव), शैव-सिद्धान्त और शिवाद्वैत प्रधान हैं। वीर शैव सम्प्रदाय के प्रवर्तक पाँच आचार्य थे, जिनके नाम रेणुक, दारुक, घण्टाकर्ण, धनुकर्ण और विश्वकर्ण थे। ये ही पञ्चाचार्य के नाम से प्रसिद्ध हैं। इन्होंने केदार (हिमालय में), उज्जयिनी, श्रीशैलम्, रम्भापुरी और वाराणसी मे पाँच मठों की स्थापना की, जिन द्वारा लिंगायत सिद्धान्त का भारत मे सर्वत्र प्रचार हुआ। इस सम्प्रदाय के इतिहास में वासव का महत्त्वपूर्ण स्थान है। वासव कलचूरि वंश के प्रतापी राजा बिज्जल (११५६—११६८) का प्रधानमन्त्री था। दक्षिणापथ में वीर शैव या लिंगायत सम्प्रदाय के प्रचार के लिए उसने बहुत काम किया। इस सम्प्रदाय के अनुयायी जहाँ शिवलिंग की पूजा करते हैं, वहाँ शक्तिविशिष्टाद्वैत सिद्धान्त का भी प्रतिपादन करते हैं। इनके अनुसार शिव का स्वरूप सत् चित् और आनन्द है, शक्ति शिव से अभिन्न है, और जीव शिव का ही एक अंश है।

शैव-सिद्धान्त सम्प्रदाय का प्रचार प्रधानतया सुदूर दक्षिण के तमिल प्रदेशो मे हुआ। इसके प्रवर्तको मे माणिक्कवाचकर, अप्पर, सम्बन्धर और सुन्दर सर्वप्रधान हैं। इस सम्प्रदाय के अनुयायी जगत् और जीव की पृथक् सत्ता स्वीकार करते हैं, और शिव को चराचर जगत् का स्वामी मानते हैं। शिवाद्वैत सम्प्रदाय के प्रवर्तक श्रीकण्ठ थे, जो रामानुजाचार्य के समकालीन थे। उनके सिद्धान्त के अनुसार ब्रह्म जगत् का न केवल निमित्त कारण है, अपितु उपादान कारण भी है। शिव की शक्ति ही जगत् के रूप में अभिव्यक्त होती है। ब्रह्म और शिव एक ही सर्वोपरि सत्ता के सूचक हैं।

जिस प्रकार बौद्धों मे वज्रयान सम्प्रदाय प्रकट हुआ, वैसे ही शैवों मे पाशुपत और कापालिक सम्प्रदाय विकसित हुए। वज्रयान के समान शैव धर्म के ये दोनों सम्प्रदाय भी सिद्धियों मे विश्वास रखते थे, और सिद्ध होने के लिए अनेक गुह्य व रहस्यमय अनुष्ठानों का प्रतिपादन करते थे। सातवी सदी में जब ह्यु्एन्त्सांग भारत यात्रा के लिए आया, तो बिलोचिस्तान के प्रदेश में पाशुपत सम्प्रदाय की सत्ता थी। काशी में महेश्वर शिव की एक ताम्रमूर्ति प्रतिष्ठापित थी, जो ऊँचाई में सौ फीट के लगभग थी। उस समय काशी पाशुपत-धर्म का मुख्य केन्द्र था और वहाँ बहुत-से मन्दिरों में पशुपति शिव की पूजा होती थी। वज्रयानी बौद्धों के समान पाशुपत लोग भी यह मानते थे कि साधक को जान बूझ कर वे सब कार्य करने चाहियें, जिन्हें लोग निन्दनीय समझते हैं, ताकि साधक कर्तव्य और अकर्तव्य के विवेक से ऊँचा उठ सके।

कापालिक लोग सिद्धि प्राप्त करने के लिए और भी अधिक उग्र व अद्भुत उपायों का अवलम्बन करते थे। नरमुण्ड के बने कपाल-पात्र में भोजन करना, शव की भस्म को शरीर पर रमाना, निरन्तर मदिरा का पान करना और उसी में प्रतिष्ठित महेश्वर की पूजा करना वे गुह्य सिद्धियों की प्राप्ति का साधन मानते थे। भैरव और उसकी पत्नी चण्डिका इस सम्प्रदाय के प्रमुख उपास्य देव थे। मध्य युग मे इस सम्प्रदाय का बहुत प्रचार हुआ, पर इसने कभी शैव धर्म के प्रमुख सम्प्रदाय की स्थिति प्राप्त नही की। आदि-शंकराचार्य ने इसके विरुद्ध आवाज उठायी थी, और शैव व वैष्णव धर्मों के अन्य आचार्यों के प्रयत्न से यह सम्प्रदाय पौराणिक हिन्दू धर्म में वह महत्त्व नहीं प्राप्त कर सका, जो कि बौद्धों में वज्रयान ने प्राप्त कर लिया था। यही कारण है, कि जनता में प्रचलित शैव सम्प्रदायों के रूप बहुत उत्कृष्ट प्रकार के थे। काश्मीर का शैव सम्प्रदाय तन्त्र-मन्त्र और गुह्य सिद्धियों को महत्त्व न दे कर जप, प्राणायाम, धारणा, ध्यान और समाधि पर बल देता था। उत्तरी भारत के विविध राज्यों, दक्षिणापथ और सुदूर दक्षिण में प्रचलित शैव धर्म का रूप भी ऐसा ही उदात्त था।

शाक्त सम्प्रदाय—वैष्णव और शैव धर्मों के समान शाक्त सम्प्रदाय का भी मध्य युग में प्रसार हुआ। सृष्टि की सबसे अद्भुत और रहस्यमयी शक्ति वह है, जो उत्पादन या प्रजनन करती है। इसी आदि शक्ति की उपासना के लिए शाक्तों ने अनेक प्रकार की गुह्य साधनाओ का प्रतिपादन किया, जिनमें बलि का महत्त्वपूर्ण स्थान है। शाक्त सम्प्रदाय बौद्धों के वज्रयान के समान ही तन्त्र-मन्त्र और गुह्य क्रियाओं में विश्वास रखता है, और शब्द जाल के आडम्बर से ऐसी क्रियाओं को भी प्रोत्साहित करता है, जिन्हें नैतिकता के प्रतिकूल समझा जा सकता है।

पर शाक्त सम्प्रदाय के सभी अनुयायी उन गुह्य क्रियाओं में विश्वास नहीं करते, जिनमें तन्त्र-मन्त्र एवं नैतिकता के विपरीत अनुष्ठानों का अनुसरण किया जाता है। शिव की शक्ति के रूप में जिस उमा या पार्वती की सत्ता पर शैव लोग विश्वास करते थे, धीरे-धीरे उसका महत्त्व बढ़ता गया और लोग यह मानने लगे कि संसार की सृष्टि, स्थिति और प्रलय का मूल कारण यह शक्ति ही है। इसीलिए शक्ति की एक पृथक् देवी के रूप में पूजा प्रारम्भ हुई। धर्माचार्यों ने अनेक रूपों में इस शक्तिरूप देवी की कल्पना की। क्योंकि विवाह से पूर्व उमा कुमारी थी, अतः कन्या या कुमारी के रूप मे उसकी पूजा की जाने लगी। जहाँ शिव का एक कल्याणकारी रूप है, वहाँ सृष्टि का संहार भी वही करता है। शिव के इस भैरव रूप की शक्ति भवानी कहायी, और महिषासुरमर्दिनी, सिंहवाहिनी, दुर्गा, चामुण्डा, काली, कराली आदि रूपों में उसकी कल्पना की गई। इस प्रकार शक्ति की देवी रूप से कल्पना कर उसके माहात्म्य में देवीपुराण, दुर्गासप्तशती आदि अनेक ग्रन्थों का निर्माण किया गया, और देवी के विभिन्न रूपों की पूजा के लिए विविध पूजाविधियों का विकास हुआ। जो देवी दुर्गा के रूप में महिषासुर जैसे असुरों का संहार करती है, सिंह जिसका वाहन है, जिसके हाथों मे खड्ग सदृश अनेक अस्त्र रहते हैं, उसकी पूजा के लिए यदि पशुबलि का भी प्रारम्भ हो, तो इसमें आश्चर्य ही क्या है। मध्य युग में शाक्त सम्प्रदाय बहुत विकसित दशा में था, और देश के विभिन्न स्थानों पर देवी के बहुत-से मन्दिर स्थापित किये गए थे, जिनमें

विविध ढंग से उसकी पूजा की जाती थी। शाक्त लोग विश्व की मूल या 'आद्या' शक्ति की उपासना करते हैं, और यह मानते हैं कि दुर्गा, चामुण्डा, त्रिपुरसुन्दरी आदि सब देवियाँ इसी 'आद्या' शक्ति के विभिन्न रूप हैं। शक्ति की यह पूजा विविध अन्य रूपों मे अन्य सम्प्रदायों में भी पायी जाती है। वैष्णव लोग लक्ष्मी, सीता, राधा आदि के रूप में और बौद्ध लोग तारा आदि के रूप में जिन देवियों की पूजा करते हैं, वे भी शक्ति के ही विविध रूप हैं। पर शाक्त सम्प्रदाय में शक्ति की पूजा का ही प्रमुख स्थान है।

(१२) मध्य युग की कला

गुप्त वंश के शासन काल तक के वास्तु-कला सम्बन्धी जो अवशेष इस समय उपलब्ध हैं, उनका परिचय इस इतिहास में यथास्थान दिया जा चुका है। अब हम मध्यकाल की कला पर संक्षेप के साथ प्रकाश डालेंगे। कला की दृष्टि से मध्ययुग का बहुत महत्त्व है। इस युग की वास्तुकला प्रधानतया बड़े-बड़े मन्दिरों के निर्माण के रूप मे प्रगट हुई थी। इसके दो कारण थे—पौराणिक धर्म ने जो नया रूप इस काल में प्राप्त कर लिया था, उसमे मन्दिरों और उनमें प्रतिस्ठापित की जाने वाली मूर्तियो का बहुत महत्त्व था। भागवत, शैव, शाक्त व अन्य सम्प्रदायों के अनुयायी राजा तथा अन्य समृद्ध लोग अपना यह कर्तव्य समझते थे कि विशाल मन्दिरों का निर्माण कर पुण्य सञ्चय करें। साथ ही, सदियों से भारत में जो अपूर्व समृद्धि चली आ रही थी, उसके कारण इस देश में अपार सम्पत्ति सञ्चित हो गई थी। इस सम्पत्ति का उपयोग अब वास्तुकला के लिए किया गया।

मध्ययुग की वास्तुकला को दो भागों मे बाँटा जा सकता है—आर्य और द्रविड़। उत्तरी भारत में इस युग के जो मन्दिर पाये जाते हैं, वे आर्यकला के अनुसार निर्मित हैं। इन मन्दिरो में मूर्ति की स्थापना के लिए आलय बनाये गए हैं, जिनके सम्मुख खुला स्थान छोडा जाता है जो ऊपर की ओर से छता रहता है। इस स्थान से दर्शनार्थी देवमूर्ति का दर्शन कर सकते हैं। मन्दिर के चारों ओर प्रदक्षिणा के लिए स्थान रहता है, जिसे प्रदक्षिणा-पथ कह सकते हैं। इन मन्दिरों के आलय या गर्भ-गृह की छत ठोस, वक्ररेखात्मक और शिखररूप होती है, जो नीचे की ओर चौड़ी और ऊपर की ओर छोटी होती जाती है। सबसे ऊपर गोल आमलक रहता है, जिस पर कलश व ध्वजदण्ड स्थापित किये जाते हैं। द्रविड़ शैली के मन्दिरों में गर्भगृह का ऊपरी भाग चौकोर तथा अनेक मञ्जिलो वाला होता है। उपरली मञ्जिलें अपने से नीचे की मञ्जिल की तुलना में छोटी होती जाती हैं। इससे इन मन्दिरों की छत की आकृति पिरामिड के सदृश बन जाती है। इस प्रकार आर्य और द्रविड़ वास्तुकला में मुख्य अन्तर मन्दिर के शिखर की रचना में है। साथ ही, द्रविड़ शैली के मन्दिरों में गर्भ-गृह के सम्मुख अनेक स्तम्भों वाला मण्डप भी बनाया जाता है, और मन्दिर के प्रांगण मे प्रवेश के लिए ऐसे विशाल द्वारों की रचना की जाती है, जिनके ऊपर विविध देवी-देवताओं की मूर्तियों से अलङ्कृत ऊँचे गोपुर रहते हैं। दक्षिणी भारत के मन्दिर प्रायः द्रविड़-शैली के हैं।

उत्तरी भारत के मन्दिर—मध्य युग के उत्तरी भारत के बहुत-से मन्दिरों को तुर्क और अफगान आक्रान्ताओं ने नष्ट कर दिया था। तुर्क और अफगान इस्लाम के अनुयायी थे, और मूर्तिपूजा के कट्टर विरोधी थे। अतः उन्हें मन्दिरों से स्वाभाविक विद्वेष था। फिर भी उत्तरी भारत में मध्य युग के अनेक मन्दिर अब तक सुरक्षित रूप में विद्यमान हैं। ये मन्दिर प्रधानतया उड़ीसा, बुन्देलखण्ड, राजस्थान, ग्वालियर और मथुरा में हैं।

उड़ीसा में भुवनेश्वर का लिंगराज मन्दिर, कोणार्क का सूर्य मन्दिर और जगन्नाथपुरी का जगन्नाथ मन्दिर सबसे महत्त्वपूर्ण हैं। इनमें भी कोणार्क का मन्दिर सबसे अधिक प्रसिद्ध है। उसे रथ के आकार का बनाया गया है, जिसे शक्तिशाली घोड़े खींच रहे हैं। रथाकार मन्दिर के पहिये बहुत विशाल हैं, जिन्हें अलंकरणों की प्रचुरता ने अत्यन्त मनोहर व कलात्मक बना दिया है। इस मन्दिर का निर्माण राजा नरसिंह (१२३८ ई०) द्वारा किया गया था, जो उड़ीसा का प्रतापी राजा था, और जिसने दिल्ली के बढ़ते हुए अफगान साम्राज्य का सफलतापूर्वक सामना किया था। मन्दिरों की दृष्टि से उडीसा में भुवनेश्वर अत्यधिक महत्त्व रखता है, जहाँ ऊँचे शिखर वाले तीस मन्दिर है। इनमें लिंगराज का मन्दिर सबसे अधिक प्रसिद्ध है। इसका शिखर ऊँचाई मे १६० फीट है। इसे ग्यारहवी सदी में बना हुआ माना जाता है। भुवनेश्वर के सभी मन्दिर वास्तुकला की दृष्टि से अनुपम है; उनके मण्डप, शिखर, गोपुर आदि सभी अपनी विशेषताएँ रखते हैं। उनका सौन्दर्य और कलात्मकता वर्णनातीत है। पुरी के प्रसिद्ध जगन्नाथ मन्दिर का निर्माण गंगवंश के प्रतापी राजा अनन्त वर्मन् (१०७८ ई०) द्वारा किया गया था। केवल धार्मिक दृष्टि से ही इस मन्दिर का महत्त्व नही है, अपितु वास्तुकला की दृष्टि से भी यह अपना विशेष स्थान रखता है। इसका शिखर २०० फीट ऊँचा है। उडीसा के ये मन्दिर अलंकरणों और मूर्तियों की बहुलता के कारण अनुपम आकर्षण रखते हैं। मन्दिर का कोई भी कोना अलंकरणों से शून्य नही छोडा गया है। अनेक मूर्तियाँ ऐसी है, जिन पर शाक्त सम्प्रदाय का प्रभाव बहुत स्पष्ट है।

बुन्देलखण्ड के मन्दिरो मे खजुराहो के मन्दिर सबसे अधिक प्रसिद्ध हैं। यह स्थान झाँसी से १०० मील के लगभग दक्षिण-पूर्व मे पुरानी छतरपुर रियासत में है। खजुराहो के मन्दिर संख्या में तीस है, जिनमें कुछ मन्दिर शैव सम्प्रदाय के हैं, कुछ वैष्णवों के और कुछ जैनो के हैं। इनका निर्माण ९५० ईस्वी से १०५० ईस्वी तक के मध्यवर्ती काल में हुआ था, जब कि इस क्षेत्र मे जेजाकमुक्ति के चन्देलवंशी राजाओं का शासन था। यहाँ के सबसे सुन्दर और विशाल मन्दिरों का निर्माण राजा धंग (९५०-९९९ ई०) द्वारा कराया गया था। इनमें सबसे सुन्दर और विशाल कन्दर्यनाथ महादेव का मन्दिर है, जो ११६ फीट ऊँचा है। इसमें अनेक शिखर-समूह हैं जो ऊपर की ओर निरन्तर अधिक-अधिक छोटे होते जाते हैं। इसके प्रदक्षिणा-पथ में बहुत-से स्तम्भ अत्यन्त सुन्दर ढंग से निर्मित हैं, और मन्दिर का कोई भी भाग ऐसा नहीं है, जो अत्यन्त मनोहर अलंकरणों से सुसज्जित न हो। इस युग के धर्म मे वाममार्ग और तान्त्रिक तत्त्वों की प्रधानता के कारण इस मन्दिर में बहुत-सी ऐसी मूर्तियाँ भी हैं,

जिनमें काम कला को मूर्तरूप प्रदान किया गया है। मध्य युग से पूर्व भारत की मूर्ति-कला में अश्लीलता का अभाव था। शृङ्गार का प्रदर्शन तब भी मूर्तियों द्वारा किया जाता था, पर अश्लील ढंग से नहीं। खजुराहो, भुवनेश्वर, पुरी आदि में विद्यमान इस युग के मन्दिरों में अश्लील मूर्तियों की प्रचुरता है, जो अपने समय की साम्प्रदायिक प्रवृत्तियों की द्योतक हैं। खजुराहो में शैव, वैष्णव और जैन मन्दिरों का एक साथ होना मध्य युग की धार्मिक सहिष्णुता का भी स्पष्ट प्रमाण है।

राजस्थान में भी मध्य युग के अनेक मन्दिर सुरक्षित दशा में विद्यमान हैं। इनमें सर्वोत्कृष्ट आबू पर्वत पर देलवाड़ा में स्थित दो जैन मन्दिर हैं, जिनमें से एक का निर्माण ग्यारहवीं सदी में विमलशाह नामक वैश्य ने कराया था। दूसरा मन्दिर तेरहवीं सदी के पूर्वार्ध में बना था, और उसका निर्माण कराने वाले व्यक्ति का नाम तेजपाल था। दोनों मन्दिर संगमरमर के हैं, और उनमें अलंकरणों का बाहुल्य है। संगमरमर की बनी विलक्षण जालियाँ, प्रतिमाएँ, बेलबूटे और नक्काशियाँ दर्शक को आश्चर्य में डाल देती हैं। जिस कला ने मुगल काल में आगरा के ताजमहल का निर्माण किया था, उसका अत्यन्त उन्नत और परिष्कृत रूप इन मन्दिरों में दृष्टिगोचर होता है। एक कलाविज्ञ के अनुसार इन मन्दिरों में संगमरमर को इस बारीकी के साथ तराशा गया है, मानो किसी सुनार ने रेती से रेत-रेत कर आभूषण बनाये हों या बुनी हुई जालियाँ और झालरें पथरा गई हों। वस्तुतः, देलवाड़ा के ये मन्दिर कला की दृष्टि से अत्यन्त उत्कृष्ट हैं।

राजस्थान मे अन्यत्र भी अनेक स्थानों पर इस युग के मन्दिर विद्यमान हैं। झालावाड़ में अनेक ऐसे मन्दिर हैं, जो छोटे होते हुए भी अत्यन्त कलात्मक हैं। इनमें शिव मन्दिर सबसे अधिक महत्त्व का है। यह सम्भवतः दसवी सदी मे बना था। झालावाड के ये मन्दिर भग्न दशा मे हैं। कुछ में तो अब केवल स्तम्भ, गर्भगृह और मण्डप ही शेष रह गये हैं। पर इनके पार्श्वों पर पुष्पो, पशुओं और मनुष्यों की आकृतियो की शृंखलाएँ बड़े कलात्मक रूप से उत्कीर्ण की गई हैं, जिन्हें देखकर अजन्ता के गुहामन्दिरो मे उत्कीर्ण मूर्तियों का स्मरण हो आता है। कोटा नगरी के उत्तर की ओर ३० मील के लगभग दूर चम्बल नदी के तट पर भी इस युग के अनेक मन्दिर विद्यमान है, जिनके गोपुर, मण्डप और शिखर कला की दृष्टि से अनुपम हैं। इनके स्तम्भों पर भी विविध प्रकार की प्रतिमाएँ और लता-पुष्पो की मञ्जरियाँ उत्कीर्ण है। कोटा के क्षेत्र मे ही रामगढ के समीप पहाड़ियों के मध्य में एक शिव मन्दिर है, जो सम्भवतः नवीं सदी में निर्मित हुआ था। इसके स्तम्भ भी विविध प्रतिमाओं तथा अलंकरणों से विभूषित हैं। कोटा से लगभग ६० मील दूर विलास नाम की एक उजड़ी हुई नगरी है, जहाँ कितने ही हिन्दू और जैन मन्दिरों के अवशेष विद्यमान हैं। राजस्थान में अन्यत्र भी अनेक स्थानों पर मध्ययुग के बहुत-से मन्दिर भग्न दशा में पाये जाते हैं, जो जीर्ण-शीर्ण दशा में भी अपने विलुप्त गौरव का स्मरण दिलाते हैं। जिस उच्च कला के अनुसार इनका निर्माण किया गया था, वह वस्तुतः अत्यन्त उत्कृष्ट थी।

ग्वालियर के किले मे तीन भव्य मन्दिर हैं, जिनका निर्माण-काल ग्यारहवीं सदी को माना जाता है। इनमें दो सास बहू के मन्दिर कहाते हैं, और एक तेली का

मन्दिर। मध्यप्रदेश का विशाल क्षेत्र भी मध्ययुग के मन्दिरों और उनके भग्नावशेषों से परिपूर्ण है। इन सबका यहाँ उल्लेख कर सकना सम्भव नहीं है। जबलपुर के समीप भेड़ाघाट में चौंसठ योगिनियों का विशाल मन्दिर है, जिसका व्यास ११६ फीट है। रीवा के समीप बैजनाथ नामक गाँव में वैद्यनाथ महादेव का एक मन्दिर है, जो वास्तु-कला की दृष्टि से भुवनेश्वर के मन्दिरों से मिलता जुलता है।

मथुरा में इस समय जो बहुत-से मन्दिर हैं, वे प्रायः मध्ययुग के पश्चात् बने थे। पर मध्ययुग में भी इस पवित्र नगरी में बहुत-से विशाल व कलात्मक मन्दिरों की सत्ता थी, जो तुर्क आक्रान्ताओं के कोप के कारण नष्ट हो गये। महमूद गजनवी के समकालीन लेखक अल-उतबी ने मथुरा के इन मन्दिरों के विषय में लिखा है कि नगर के मध्य में एक अत्यन्त उत्कृष्ट विशाल मन्दिर है, जिसकी न नक्काशी का शब्दों द्वारा वर्णन किया जा सकता है और न सुन्दरता का। यदि कोई इस जैसा मंदिर बनाना चाहे, तो उसे दस करोड़ सुवर्ण दीनारें खर्च करनी होंगी और वह इसे दो सदी से कम समय में नही बना सकेगा। यहाँ जो मूर्तियाँ प्रतिष्ठापित हैं, उनमें से पाँच खालिस सोने की बनी हुई हैं, जिनमे से प्रत्येक ऊँचाई में पाँच गज है। इन मूर्तियों की आँखों में ऐसी मणियाँ लगी हुई हैं, जिनमें से प्रत्येक की कीमत पचास हजार दीनार है। इस मन्दिर में चाँदी की बनी हुई भी बहुत सी मूर्तियाँ थीं, जिनकी संख्या अलउतबी ने दो सौ लिखी है। महमूद गजनवी के आदेश से इस मन्दिर को भूमिसात् कर दिया गया, और उसके सोने, चाँदी, मणि-माणिक्य आदि को गजनी भेज दिया गया। पंजाब, उत्तर-प्रदेश, बिहार और बंगाल में मध्ययुग का जो एक भी मन्दिर इस समय सुरक्षित दशा में विद्यमान नही है, उसका एकमात्र कारण तुर्क आक्रान्ताओं द्वारा उनका विनाश है। गंगा यमुना के क्षेत्र में हरिद्वार, मथुरा, प्रयाग, वाराणसी आदि कितने ही तीर्थ स्थान हैं, जो मन्दिरों से परिपूर्ण हैं। पर इनके वर्तमान मन्दिर मध्ययुग के न होकर अर्वाचीन काल के है। निस्सन्देह, मध्ययुग में इन सब स्थानों पर बहुत-से विशाल व कलात्मक मन्दिरों की सत्ता थी, जो तुर्क, अफगान और मुगल सम्राटों द्वारा ध्वंस कर दिये गए थे। पर काश्मीर, काँगडा, कुमायूँ आदि पार्वत्य प्रदेशों और बंगाल के कतिपय स्थानों पर ऐसे मन्दिर अब भी विद्यमान हैं, जिनका निर्माण मध्ययुग में हुआ था।

काश्मीर के मन्दिर उत्तरी भारत के अन्य मन्दिरों से भिन्न प्रकार के हैं। इनमें न शिखरों की सत्ता है, और न गौपुरो की। इनमें गर्भगृह के ऊपर एक चपटी छत होती है, और इनके स्तम्भों को भी मूर्तियों, प्रतिमाओं व लता-पुष्प मञ्जरियों द्वारा अलंकृत नहीं किया गया। काश्मीर के मन्दिरों में रुद्रेश का मन्दिर सबसे प्राचीन है, जो श्रीनगर से पन्द्रह मील की दूरी पर स्थित है। इसका निर्माण सम्भवतः आठवी सदी में हुआ था। काश्मीर के राजा ललितादित्य (७२५ ई०) और अवन्तिवर्मा (७८५-८८३ ई०) अत्यन्त प्रतापी थे। उन्होंने अपने राज्य को अनेक विशाल व कलात्मक मन्दिरों से विभूषित किया। ललितादित्य द्वारा निर्मित मन्दिरों में मार्तण्ड का मन्दिर अत्यन्त प्रसिद्ध है। यह श्रीनगर से पहलगाँव जाने वाले मार्ग पर मटन नामक स्थान पर स्थित है। यद्यपि अब यह मन्दिर भग्न दशा में है, पर इसके खण्डहर इसके प्राचीन वैभव व गौरव का आभास देने के लिए पर्याप्त है। श्रीनगर के समीप तख्त-सुलेमान नामक

पहाड़ी पर शंकराचार्य का मन्दिर अब तक भी विद्यमान है, जिसका निर्माण सम्भवतः मध्ययुग में ही हुआ था। राजा अवन्तिवर्मा के शासनकाल में अवन्तेश्वर के शैव मन्दिर का और अनन्तस्वामी के वैष्णव मन्दिर का निर्माण किया गया था। ये दोनों मन्दिर भी इस समय जीर्ण-शीर्ण दशा में हैं।

काश्मीर के समान हिमाचल प्रदेश, गढ़वाल और कुमायूँ मे भी मध्य युग के बहुत-से मन्दिरों के भग्नावशेष पाये जाते हैं, यद्यपि कुछ मन्दिर अच्छी दशा में भी हैं। हिमाचल प्रदेश के कांगड़ा जिले में मसरूर नामक स्थान पर अनेक मन्दिर विद्यमान हैं, जो आठवीं सदी के हैं। इसी प्रकार बैजनाथ (कांगड़ा) और चम्बा में नवीं सदी में निर्मित अनेक मन्दिरों की सत्ता है। कुल्लू के बजौरा नामक स्थान पर महादेव का एक मन्दिर है, जिसके अलंकरण अत्यन्त सुन्दर व कलात्मक हैं। यह मन्दिर दसवीं सदी में बना था। अलमोड़ा (कुमायूँ) के क्षेत्र में भी सूर्य और अन्य पौराणिक देवी-देवताओं के बहुत-से मन्दिर जीर्ण-शीर्ण दशा में विद्यमान हैं, जो मध्य युग के हैं। उत्तराखण्ड में बदरीनाथ और केदारनाथ के प्रसिद्ध मन्दिरों का निर्माण भी सम्भवतः इसी युग में हुआ था। हिमालय के सुविस्तृत क्षेत्र में जो अनेक पार्वत्य राज्य मध्यकाल में विद्यमान थे, वे प्रायः तुर्क आक्रमणों से बचे रहे। इसीलिए इस प्रदेश के मन्दिरों का उस ढंग से विनाश नहीं हुआ, जैसा कि उत्तरी भारत के समतल प्रदेशो मे स्थित मन्दिरों का हुआ था।

मध्य युग में बंगाल में भी अनेक भव्य व विशाल मन्दिरों का अवश्य ही निर्माण हुआ होगा। पर वे तुर्क व अफगान आक्रान्ताओ के कोप से नहीं बचे रह सके। पर बर्दवान और बाँकुरा जिलों में कतिपय ऐसे मन्दिर अब भी विद्यमान हैं, जो मध्य युग के हैं। कला की दृष्टि से ये भुवनेश्वर (उड़ीसा) के मन्दिरो के सदृश है, यद्यपि भव्यता और अलंकरण में ये उन से हीन है।

दक्षिणापथ के मन्दिर—मध्य युग के बहुत-से मन्दिर दक्षिणापथ में सुरक्षित दशा में विद्यमान हैं। इस क्षेत्र के मन्दिरों को दो भागो मे बाँटा जा सकता है, कृष्णा और तुंगभद्रा नदियो के मध्यवर्ती प्रदेश के मन्दिर और खानदेश व उसके समीपवर्ती प्रदेशों के मन्दिर। इन दोनों मे कृष्णा-तुंगभद्रा प्रदेश के मन्दिर अधिक पुराने है। ये ऐहोल, पट्टदकल, महाकूटेश्वर और आलमपुर नामक स्थानो पर स्थित है। वास्तुकला की दृष्टि से न ये शुद्ध आर्य (नागर) शैली के है, और न द्रविड शैली के। इनमें दोनो शैलियो का सुन्दर रीति से सम्मिश्रण हुआ है। ऐहोल (जिला बीजापुर) और पट्टदकल (जिला बादामी) मे कुल मिलाकर ७० मन्दिर हैं, जिनमें से अनेक पर्याप्त सुरक्षित दशा मे हैं। इन तथा दक्षिणापथ के अन्य मन्दिरों का विशद रूप से वर्णन कर सकना इस ग्रन्थ मे सम्भव नही है। यहाँ इतना लिखना ही पर्याप्त होगा कि ये मन्दिर प्रधानतया शैव और वैष्णव सम्प्रदायों के है, और इनका निर्माण-काल दसवी और ग्यारहवी सदियों में माना जाता है। अलंकरण और कला की दृष्टि से यद्यपि ये खजुराहो और भुवनेश्वर के मन्दिरो के समकक्ष नही हैं, पर आर्य और द्रविड़ शैलियों के सम्मिश्रण के कारण इनका अपना विशेष महत्त्व है।

अजन्ता के गुहा मन्दिरों का उल्लेख इस ग्रन्थ में पहले किया जा चुका है। यद्यपि

इनका निर्माण गुप्तकाल में प्रारम्भ हो चुका था, पर इनमें से बहुसंख्यक गुहाओं का निर्माण मध्य युग में ही हुआ था।

मध्य युग के गुहा-मन्दिरों में सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण एलोरा में स्थित हैं। यह स्थान आन्ध्र प्रदेश के औरङ्गाबाद नगर से सोलह मील की दूरी पर है। यहाँ एक अच्छी लम्बी पहाड़ी को काट-काट कर मन्दिरों के रूप में परिवर्तित कर दिया गया है। ये मन्दिर संख्या में तीस के लगभग हैं, और इनका सम्बन्ध हिन्दू, बौद्ध और जैन तीन धर्मों के साथ है। ऐलोरा के गुहा-मन्दिरों में सब से विशाल और भव्य कैलाश-मन्दिर है, जिसे प्रसिद्ध राष्ट्रकूट राजा कृष्ण (७६०-७७५ ईस्वी) ने बनवाया था। यह मन्दिर ऊँचाई में १६० फीट है, और एक ही चट्टान को काटकर बनाया गया है। इसमें कहीं भी शिलाओं व पत्थरों को जोड़ा नहीं गया है, और चूने-मसाले व कील आदि का प्रयोग नहीं हुआ है। एक ही चट्टान को काट कर उसी से छत, द्वार, झरोखे खिड़कियाँ, स्तम्भ, तोरण, मण्डप, शिखर, गर्भगृह आदि सब को बना दिया गया है। मनुष्य के परिश्रम, धैर्य और कला का ऐसा उत्कृष्ट उदाहरण अन्यत्र मिल सकना दुर्लभ है। यह बात और भी अधिक अद्भुत है, कि यह मन्दिर दुमंजिला है। बिना किसी भी जोड़ के केवल चट्टान को तरास कर दुमंजली इमारत बना लेना एक ऐसा विलक्षण शिल्प है, जिसे देखकर दर्शक मुग्ध रह जाता है। इस मन्दिर के चारों ओर की पहाड़ियों को काटकर अनेक विश्राम-गृह भी बनाये गए हैं। मन्दिर के स्तम्भों पर अनेक प्रतिमाएँ उत्कीर्ण की गई हैं, द्वारो पर मनोहर लता-पुष्प मञ्जरियाँ बनायी गई हैं, और शिखर को विविध पौराणिक कथाओ को मूर्त रूप देने वाली प्रतिमाओं से विभूषित किया गया है। तोरण के दोनों ओर एक-एक हाथी बनाया गया है। सम्पूर्ण मन्दिर में कला की दृष्टि से कहीं कोई भी दोष या कमी नही है। उत्कीर्ण की हुई मूर्तियाँ सजीव हैं। इस मन्दिर के सम्बन्ध में एक विदेशी कलाविज्ञ की यह सम्मति उल्लेखनीय है—"कैलाश के मन्दिर से बढ़कर संसार भर में कला का कोई भी नमूना नहीं है। एथन्स का पेन्थिओन, रोम का सैण्ट पीटर्स का चर्च, और लन्दन का सैण्ट पॉल का गिरजा बनाना विज्ञान और परिश्रम का कार्य है, पर हम यह जानते है कि इनका निर्माण कैसे प्रारम्भ हुआ, कैसे आगे बढ़ा और कैसे पूर्ण किया गया। चाहे कितने ही मनुष्यों ने काम किया हो, उन्होंने चाहे कितनी ही उमंग से अपना कार्य किया हो और चाहे कितने ही साधन उनके पास हों, पर जब हम यह विचार करते है कि एक ऊँची चट्टान को धीरे-धीरे तरास कर एक ऐसे मन्दिर का रूप प्रदान किया गया, जिसमें बरामदे हैं, सीढ़ियाँ है, अनगिनत प्रतिमाएँ हैं और संगतरासी का इतना अधिक कार्य है, तो हमारा सिर चकराने लगता है, और यह कार्य अविश्वसनीय प्रतीत होने लगता है।" कैलाश-मन्दिर में उत्कीर्ण प्रतिमाओं द्वारा जो पौराणिक कथाएँ अंकित की गई हैं, उनमें शिव-पार्वती का विवाह, इन्द्र-इन्द्राणी की मूर्तियाँ और रावण द्वारा कैलाश का उत्तोलन उल्लेखनीय हैं। रावण का कैलाश-उत्तोलन बहुत ही ओजस्वी व भावपूर्ण कृति है। इस दृश्य में रावण कैलाश को उठा रहा है, भयत्रस्त पार्वती शिव के विशाल भुजदण्ड का सहारा ले रही हैं, उसकी सखियाँ भाग रही हैं, शिव अचल खड़े है और अपने चरणों से कैलाश पर्वत को दबा कर रावण के परिश्रम को विफल कर रहे हैं।

चट्टानों को काटकर बनाये गए मन्दिर दक्षिणापथ में अन्यत्र भी विद्यमान हैं। बम्बई से छः मील दूर धारापुरी नामक द्वीप में दो पहाड़ियों के ऊपर के भाग को काट कर मन्दिर और मूर्तियाँ बनायी गयी हैं। ये ही आजकल एलिफेण्टा केव्स के नाम से प्रसिद्ध हैं। इनका निर्माण आठवीं सदी में हुआ था। ऐलिफैण्टा के गुहा-मन्दिरों में विद्यमान प्रतिमाओं में महेश्वर की त्रिमूर्ति, शिव-ताण्डव और शिव-पार्वती-विवाह की मूर्तियाँ अत्यन्त भव्य और कलात्मक हैं। महेश्वर की मूर्ति के मुखमण्डल पर अपूर्व प्रशान्त गम्भीरता है, और शिवताण्डव नृत्य की मूर्ति में पार्वती के आत्म-समर्पण का भाव अत्यन्त सुन्दर ढंग से प्रदर्शित किया गया है। ऐलिफैण्टा के गुहा-मन्दिरों के सदृश अन्य भी अनेक मन्दिर दक्षिणापथ मे विद्यमान हैं, जो सब मध्य युग की ही कृतियाँ हैं।

विशाल चट्टानों को काट-काट कर मन्दिरों और मूर्तियों को बनाने की परम्परा इस युग में केवल भारत तक ही सीमित नहीं रही। सुदूर दक्षिण-पूर्वी एशिया के बृहत्तर भारत में भी इस युग में इसी शैली के विशाल मन्दिरों और मूर्तियों का निर्माण हुआ, जिनका उल्लेख हम इस इतिहास के एक पिछले अध्याय में कर चुके हैं। इसी काल में अंगकोर वाट और अंगकोर थाम के कलात्मक व विशाल मन्दिर बने, जो मध्ययुग की भारतीय कला के सर्वोत्कृष्ट उदाहरण हैं।

दक्षिणी भारत के मन्दिर—दक्षिणी भारत के मध्ययुग के मन्दिर अधिक सुरक्षित दशा में हैं। वहाँ बुतशिकन (मूर्तिभंजक) मुसलिम आक्रान्ताओं का अधिक प्रकोप नही हुआ था। पल्लव वंश के राजाओं ने सुदूर दक्षिण में अनेक विशाल मन्दिरों का निर्माण कराया था। राजा महेन्द्र वर्मा (६००–६२५ ई०) और उसके पुत्र नरसिंह-वर्मा (६२५–६५० ई०) ने काञ्ची नगरी के सामने समुद्र तट पर विशाल चट्टानों को तरसवा कर जो मन्दिर बनवाये थे, वे 'रथ' कहाते हैं। इन्हें संसार की अद्भुत वस्तुओं में गिना जा सकता है। इस प्रकार के रथ-मन्दिरों मे सप्त रथसमूह 'सात पेगोडा' के नाम से विश्व-विख्यात हैं। इन सप्त-रथों के नाम धर्मराज रथ, भीम रथ आदि हैं। ये मन्दिर एक ही चट्टान को तरास कर बनाये गये हैं, और इनमें कही भी जोड़ नही है। इनमें जो मूर्तियाँ हैं, वे भी अत्यन्त विशाल हैं, और एक ही चट्टान को तरास कर बनायी गई हैं। रथ-मन्दिरों के समान ये मूर्तियाँ भी अत्यन्त आश्चर्यजनक हैं। गंगा को पृथिवी पर अवतरित करने वाले भगीरथ की मूर्ति ९८ फीट लम्बी और ४३ फीट चौडी चट्टान को काट कर बनायी गई है। परिश्रम व साधना के कारण कंकालमात्र अवशिष्ट भगीरथ गंगा को स्वर्ग से भूतल पर लाने के लिए तप कर रहे हैं, और संसार उनकी तपस्या से चमत्कृत है। यह दृश्य बहुत ही भावपूर्ण तथा सजीव है। काञ्ची नगरी के समीप समुद्र तट पर स्थित मामल्लपुरम् में विद्यमान ये रथमंदिर और मूर्तियाँ पल्लव राजाओं की अमर कीर्ति हैं।

सातवीं सदी में पल्लव राजाओं ने मामल्लपुरम् में जिस वास्तुकला का प्रारम्भ किया था, दक्षिणी भारत के अन्य शिल्पियों ने उसका अनुकरण किया। आठवीं सदी में एल्लोरा के गुहामन्दिरों ने अत्यन्त उज्ज्वल व समुन्नत रूप प्राप्त किया, जिसका सर्वोत्कृष्ट उदाहरण कैलाश का मन्दिर है।

पल्लव राजाओं के समय में ही दक्षिणी भारत में ऐसे मन्दिरों का निर्माण प्रारम्भ हुआ, जिन्हें चट्टानों को तराश कर न बना कर चिनाई द्वारा बनवाया जाता था। ऐसे मन्दिरों में नरसिंहवर्मन् द्वितीय (६९५–७२२ ई०) द्वारा बनवाया हुआ वह मन्दिर सर्वप्रथम है, जो मामल्लपुरम् में ही समुद्र तट पर स्थित है। बाद में राजा राजसिंह पल्लव ने अपनी राजधानी काञ्ची (काञ्जीवरम्) में कैलाशनाथ और वैकुण्ठ पेरुमल के सुन्दर कलात्मक मन्दिरों का निर्माण कराया, जो द्रविड़ वास्तुकला के प्रारम्भिक रूप के उत्कृष्ट उदाहरण हैं।

पल्लव वंश के राजाओं के बाद चोल राजाओं ने दसवीं सदी में वास्तुकला के विकास के लिए बहुत काम किया। उन्होंने जो मन्दिर बनवाये, वे सब द्रविड़ वास्तुकला के चरम विकास को सूचित करते हैं। इनमें सर्वश्रेष्ठ राजराज (९८५–१०१२ ई०) द्वारा बनवाया हुआ शिव मन्दिर है, जो तंजोर में अब भी विद्यमान है। इसका विमान या शिखर १४ मंजिल का है, और ऊँचाई में १९० फीट है। इसके ऊपर एक ही शिलाखण्ड का भीमकाय गुम्मद है। तंजोर का यह विशाल शिवमन्दिर नीचे से ऊपर तक मूर्तियो और अलंकरणों से विभूषित है। चोल राजाओं के ये मन्दिर न केवल विशाल है, अपितु साथ ही अत्यन्त भव्य व कलात्मक भी हैं। उन्हें अलंकृत करने के लिए जिस सूक्ष्म तक्षण का उपयोग किया गया है, वह वस्तुतः अनुपम है।

राजराज का उत्तराधिकारी राजेन्द्र चोल प्रथम (१०१२–१०४४) था, जिसने चोल साम्राज्य को उत्कर्ष की चरम सीमा तक पहुँचा दिया था। उसने दिग्विजय करते हुए गंगा तट के प्रदेश को जीत कर अपने अधीन किया था। गंगैकोण्ड चोल-पुरम् नाम से उसने एक नई राजधानी बनायी थी, जहाँ उसने अपने पिता का अनुकरण कर एक विशाल मन्दिर का भी निर्माण कराया था। दुर्भाग्यवश यह मन्दिर इस समय सुरक्षित दशा में नहीं है, पर भग्न व जीर्ण-शीर्ण रूप में भी यह अपने महान् निर्माता के वैभव को स्मरण कराने के लिए पर्याप्त है।

चोल साम्राज्य के ह्रास काल मे भी अनेक मन्दिरों का निर्माण हुआ, जिनमें ऐरावतेश्वर और त्रिभुवनेश्वर के मन्दिर उल्लेखनीय हैं। ये दोनों तंजोर जिले में हैं। चोल युग के परवर्ती भाग की कला की एक महत्त्वपूर्ण विशेषता गोपुरम् को प्रधान रूप से निर्मित करना है। इन मन्दिरों के प्रवेश द्वार पर जो गोपुरम् बनाये गये हैं, वे ऊँचाई में मन्दिर के शिखर की अपेक्षा भी अधिक ऊँचे हैं। साथ ही, इस समय मंदिर के साथ ऐसे विशाल मण्डपों का भी निर्माण शुरू किया गया, जिनमें बहुत-से स्तम्भ होते हैं। मध्ययुग की समाप्ति (१२०० ई०) के बाद दक्षिण मे मदुरा, श्रीरंगम् और रामेश्वरम् आदि में जो विशाल मन्दिर निर्मित हुए, उनमें द्रविड़ वास्तुकला की विशेषताओं का पूर्ण विकास हुआ, और अति विशाल गोपुरम् और मण्डपों का निर्माण किया जाने लगा। मदुरा के एक मण्डप में ९८५ स्तम्भ हैं; जिन सब पर अत्यन्त भव्य नक्काशी की गई है। इस प्रकार के मन्दिरो के निर्माण का सूत्रपात मध्ययुग में ही हो गया था।

द्वारसमुद्र के होयसाल वंशी राजाओं ने भी वास्तुकला के विकास में अच्छा कर्तृत्व प्रदर्शित किया था। माइसूर राज्य में इन राजाओं द्वारा बनवाये हुए अनेक

मन्दिर विद्यमान हैं, जो वर्गाकार न होकर तारक की प्राकृति के हैं। इनकी कुर्सियाँ ५-६ फीट ऊँची हैं, और इनके शिखर पिरामिड के समान होते हुए भी ऊँचाई में बहुत अधिक नहीं हैं। होयसाल राजाओं के मन्दिरों में सबसे प्रसिद्ध होयलेश्वर का मन्दिर है, जो द्वारसमुद्र या हालेविद में स्थित है। इस मन्दिर की कुर्सी या चबूतरा ६ फीट ऊँचा है, जिसे बड़े-बड़े शिलाफलकों द्वारा पाटा गया है। इन पर नीचे से ऊपर तक ग्यारह अलंकरण पट्टिकाएँ हैं, जो लम्बाई में ७०० फीट हैं और सारे मन्दिर को घेरे हुए हैं। इनमें हाथियों, सिंहों और अन्य पशुपक्षियों की प्रतिमाएँ उत्कीर्ण हैं। ये प्रतिमाएँ संख्या में कितनी अधिक हैं, यह इसी से जाना जा सकता है कि सबसे निचली अलंकरण पट्टिका पर दो हजार हाथी बनाये गये हैं जो सब महावतों और भूलों के साथ हैं। इनमें से कोई भी दो हाथी एक दूसरे से नहीं मिलते हैं। शिल्पियों ने कितने धैर्य और परिश्रम से इन्हे उत्कीर्ण किया होगा, इसकी कल्पना सहज मे ही की जा सकती है।

दक्षिण के चालुक्य राजाओं ने भी बहुत-से मन्दिरों का निर्माण कराया था। इनकी शैली न पूर्णतया आर्य (नागर) है, और न द्रविड़। ये उस शैली से निर्मित हैं, जिसे शिल्पशास्त्र के प्राचीन ग्रन्थो में वेसर शैली कहा गया है और जो आर्य तथा द्रविड़ दोनों शैलियों का मिश्रण है।

मूर्तिकला—गुप्त युग में भारत की मूर्तिकला अपने विकास की चरम सीमा को पहुँच गई थी। मध्ययुग में इस कला मे कोई विशेष उन्नति नहीं हुई। शनैः शनैः मूर्तियों के निर्माण में सौन्दर्य और कलात्मकता कम होने लगी, और धार्मिक भावना प्रबलता प्राप्त करने लगी। मध्ययुग में विविध देवी देवताओं की ऐसी प्रतिमाएँ बनायी जाने लगीं, जिनमें देवताओं का सामर्थ्य प्रगट करने के लिए उनके बहुत-से हाथ आदि बनाये गए और उन मे विविध प्रकार के अस्त्र शस्त्र भी रखे गये। यही कारण है कि इस युग की मूर्तियाँ कला की दृष्टि से अधिक उत्कृष्ट नहीं मानी जाती। पर फिर भी इस युग मे अनेक ऐसी प्रतिमाएँ बनी, जो मूर्तिकला की उत्कृष्ट उदाहरण है। श्रवण बेलगोला (माइसूर) की पहाड़ी पर गोमतेश्वर की जो विशाल मूर्ति है, वह दसवीं सदी के अन्त मे निर्मित हुई थी। यह मूर्ति ५७ फीट ऊँची और २६ फीट चौड़ी है, और एक ही शिलाखण्ड को तराश कर बनायी गई है। जिस पत्थर से इसे तराशा गया है वह अत्यन्त कठोर और काले रंग का है। मूर्ति के विविध अङ्ग सुव्यवस्थित और सही अनुपात में हैं। गोमतेश्वर की इस मूर्ति की मुख मुद्रा शान्त व गम्भीर है। उस पर शान्ति और गम्भीरता के साथ-साथ आकर्षक मन्द मुसकान भी है। इसका निर्माण गंग वंश के एक राजा के मन्त्री चामुण्डराय ने कराया था। श्रवण बेलगोला जैनो का एक प्रसिद्ध तीर्थ है, जहाँ प्रतिवर्ष लाखों यात्री इस मूर्ति के दर्शन व पूजा के लिए जाते हैं। निर्माण की कठिनता और कल्पना की विशालता की दृष्टि से यह मूर्ति अद्वितीय है।

मध्ययुग की बहुत-सी मूर्तियाँ खजुराहो, राजस्थान, माइसूर, मद्रास आदि राज्यों के मन्दिरों मे विद्यमान हैं। इनके सम्बन्ध में कतिपय निर्देश इसी प्रकरण में ऊपर दिये भी जा चुके हैं। पर कतिपय मूर्तियाँ ऐसी हैं, जिनका उल्लेख करना यहाँ

उपयोगी होगा। नटराज शिव की बहुत-सी धातु-प्रतिमाएँ दक्षिणी भारत में उपलब्ध हैं, जो कला की दृष्टि से अत्यन्त उत्कृष्ट और भव्य हैं। ताण्डव नृत्य करते हुए शिव का जैसा सजीव अंकन इन मूर्तियों में किया गया है, वह वस्तुतः आश्चर्यजनक है। राजस्थान की मूर्तियों में शाहाबाद (कोटा) में उपलब्ध शेषशायी विष्णु की मूर्ति अद्भुत व मनोहर है।

मध्य युग की बहुसंख्यक प्रतिमाएँ देवी देवताओं के साथ सम्बन्ध रखती हैं। पर कतिपय प्रतिमाएँ ऐसी भी हैं, जिनका धर्म या उपासना के साथ सम्बन्ध नहीं है। भुवनेश्वर से प्राप्त एक मूर्ति मे किसी नारी को पत्र लिखते हुए बनाया गया है। भुवनेश्वर में ही बच्चे को प्यार करती हुई एक नारी की मूर्ति भी मिली है। ये दोनों मूर्तियाँ ग्यारहवीं सदी की हैं। खजुराहो के मन्दिर पर भी एक ऐसी स्त्री की प्रतिमा उत्कीर्ण हैं, जो पत्र लिख रही है।

यह स्वीकार करना होगा कि मध्य युग में मूर्तिकला में प्रगति न हो कर कुछ ह्रास ही हुआ। इसका कारण सम्भवतः यह है, कि इस युग के शिल्पी मूर्तियों का निर्माण करते हुए अपनी प्रतिभा और कल्पना की अपेक्षा शास्त्र-वचनो को अधिक महत्त्व देते थे। शास्त्रों के अनुसार देवताओं के शरीर मानव-शरीर से भिन्न प्रकार के होते हैं। उनके कान मानव कानों से बडे होते हैं, आँखें कानों के समीप तक फैली हुई होती हैं, और हाथ घुटनों से नीचे तक पहुँचते हैं। मध्ययुग के मूर्तिकारों ने देवी-देवताओ की मूर्तियों का निर्माण करते हुए इन्ही धारणाओं को दृष्टि मे रखा, जिसका परिणाम यह हुआ कि इस काल की मूर्तियो में वह आकर्षण व सौन्दर्य नही पाया जाता जो कि गुप्त युग की मूर्तियों में है।

चित्रकला—भारत की प्राचीन चित्रकला का सर्वोत्कृष्ट रूप अजन्ता के गुहा-मन्दिरों की भित्तियों पर दिखायी देता है। मध्य युग में भित्ति-चित्रों की परम्परा में भी ह्रास ही हुआ। जिस प्रकार के दिव्य व मनोरम चित्र अजन्ता की भित्तियों पर चित्रित हैं, वैसे अन्यत्र कही नहीं है। एलोरा के कैलाश मन्दिर व अन्य मन्दिरों की भित्तियो पर जो चित्र हैं, वे नवीं सदी या उससे पूर्व के काल मे ही चित्रित किये गये थे। इनका चित्रण अजन्ता की परम्परा के अनुसार ही हुआ है।

सुदूर दक्षिण के मन्दिरों की भित्तियों को भी अवश्य ही नानाविध चित्रों से विभूषित किया गया था। अनेक मन्दिरों मे इनके चिन्ह अब तक भी उपलब्ध हैं। ऐसा प्रतीत होता है, कि बाद में जब इन मन्दिरों की मुरम्मत की गई, तो पुराने चित्रों को मिटा कर उनके स्थान पर नये चित्र बनाये गये। इसी कारण इन मन्दिरों की भित्तियों पर चित्रों की अनेक सतहे विद्यमान हैं।

मध्ययुग के अनेक ऐसे ग्रंथ इस समय उपलब्ध हैं, जो ताम्रपत्रों, तालपत्रों और कागज पर उत्कीर्ण व लिखित हैं। इन्हें भी अनेकविध चित्रों से विभूषित किया गया है जिनसे इस काल की चित्र कला का कुछ परिचय प्राप्त हो जाता है। पर ऐसी पुस्तकें न केवल संख्या में बहुत कम है, अपितु मध्ययुग के अन्तिम भाग की हैं।

□□